प्राच्यभारतीग्रन्थमाला—२८
Prācyabhāratīgranthamālā—28

योगवासिष्ठ

हिन्दी अनुवाद सहित

डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी

Prācyabhāratīgranthamālā—28

YOGAVĀSIṢṬHA

OF

MAHĀKĀVI VALMĪKI

with Hindi Translation KUSUMALATĀ

BY

Dr. MAHAPRABHULAL GOSWAMI

Volume III

Upaśam Prakaraṇa (from Adhyāya 31-93) and Nirvāṇa Prakaraṇa Pūrvārdha (Adhyāya 1-62)

Tara Book Agency

Varanasi

प्राच्यभारतीग्रन्थमाला—२८

महाकविश्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः

योगवासिष्ठः

डा० श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिविरचितकुसुमलताख्य-
हिन्दीभाषानुवादेन सहितः

तृतीयो भागः

उपशमप्रकरण (अध्याय ३१-९३) एवं
निर्वाणप्रकरणपूर्वार्द्धे १-६२ अध्यायान्तम्

तारा बुक एजेंसी
वाराणसी

भूमिका

इस खण्ड में निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध में अर्जुन को भगवान् के द्वारा प्रदत्त उपदेशों के द्वारा कर्म, भक्ति और ज्ञान की किस प्रकार मोक्ष के प्रति साधनता है इसका उपक्रम करते हुए इन्द्रियार्थोपलम्भ विचार के बाद मोक्षोपाय की दृढ़ता के लिए अर्जुनोपाख्यान को गीता के अनुसार प्रदर्शित किया है अतः द्वितीय भाग की भूमिका में निश्चित अन्य ग्रन्थों का तुलनात्मक समीक्षण छोड़कर गीता का ही कर्म उद्धारित करने की वाच्यता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—हे अर्जुन ! तुम जन्म-मरण आदि छः ऊर्मियों से निर्मुक्त साक्षात् आत्म-स्वरूप ही किसी को मारने वाले नहीं हो।

अर्जुन ! त्वं न हन्ता त्वमभिमानमलं त्यज ।
जरामरणनिर्मुक्तः स्वयमात्मासि तत्वतः ॥ यो० वा० नि० पू० ५३–१

मानव कर्म करते हुए भी यदि अभिमान शून्य रहता है, तो वह हर्ष, शोक, दुःख आदि से लिप्त नहीं होता है।

यस्य नाहङ्कृते भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ यो० वा० नि० पू० ५३–२

इस प्रसङ्ग को देखते हुए यह सामान्य जिज्ञासा होती है कि प्रवृत्ति-कर्म किस प्रकार मोक्ष का साधन हो सकता है और उसको करते हुए भी कैसे राग-द्वेष आदि से लिप्त नहीं होता है।

अतः कर्म, भक्ति और ज्ञान की मोक्षोपायता वर्णन इस भूमिका में विशेष रूप से दिया जा रहा हैं, अन्यथा अर्जुन और श्रीराम की प्रकृति-कर्म की सार्थकता सम्भव नहीं है।

माया से परे अनन्त अनादि चैतन्य परमतत्त्व ही योगवासिष्ठ का प्रतिपाद्यतत्त्व है, उसकी प्राप्ति के साधन का विश्लेषण विविध प्रकरणों के द्वारा किया गया है। मायिक और परिच्छिन्नता का परिचय कर्म और उसके फल की आसक्ति में है। अज्ञान के कारण जीव अभावग्रस्त हो कर्म में तत्पर होता है। अभाव को दूर करने के लिए फल में भी आसक्ति होती है। अतः कर्म करते हुए भी किस प्रकार मानव बन्धन विमुक्त हो सकता है, ऐसी कौन-सी कुशलता है कि बन्धन का कारण कर्म-बन्धन न कर मुक्ति के पथ पर अग्रसर करता है। ससीम से कैसे असीमता को को प्राप्त किया जा सकता है ? किस प्रकार कर्म बन्धनरूपी प्रथम ग्रन्थि शिथिल हो सकती है ?

यज्ञात्मक कर्म-ग्रन्थि के बाद आगे की ग्रन्थिओं का खोलते-खोलते योग, भक्ति और ज्ञान के अन्तराल से बढ़ते हुए वैराग्य की भूमि पर आरूढ हो चरम परम निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। ज्ञान का क्रमिक विकास ही अर्थात् चित्त की झलमल दीप्ति ही मानव को कर्म-बन्धन के परे परिच्छिन्नता से पृथक् करने में सहायक है। "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति सूरयः।" अज्ञान ही बन्धन का मूल हेतु है और ज्ञान के द्वारा उस अज्ञान को प्रकाशित किया जाता है। इसलिए बन्धन से निर्वाण के ज्ञान की शरण में ही जाना पड़ेगा।

बन्धन किस प्रकार दृढ से दृढतर होकर मानव को इन्द्रिय भोग में आबद्ध रखता है और कैसे धीरे-धीरे इससे विमुक्ति होती है। योगवासिष्ठ में गीता के उद्धरणों के द्वारा इस विषय की पुष्टि की गई है, अतः, गीता इसका मूलाधार है—इसे वसिष्ठ ने स्वयं निर्दिष्ट किया है। अर्जुन ने प्रश्न किया था—"अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥"

इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।'

काम ही धीरे-धीरे ज्ञान को आवृत कर संसार में प्रवृत्त करता है। इन्द्रियों के गोचर विषयों के सम्पर्क से अज्ञानी सुख-दुःख का अनुभव करता है। स्नायविक प्रतिक्रिया ही सुख-दुःख के अनुभव की जनक है और सुख-दुःख का अनुभव होते ही विषय का ध्यान आरम्भ होता है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। (गीता २।६२-६३)

यही मोह-जाल के विस्तार का क्रम और उसके द्वारा बन्धन का कौशल है। जब तक मानव अज्ञान के कारण अशुभ इन्द्रिय के राज्य में विचरण करता है, तब तक राग, द्वेष, काम और क्रोध के हाथ से छुटकारा का कोई उपाय नहीं है। प्राकृतिक नियम के अनुसार "इन्द्रियस्येन्द्रियार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। इस दैहिक प्रक्रिया की धारा को परिवर्तित करने तक यह अनिवार्य है। इनके रहने तक सुख में राग और सुख की प्राप्ति के लिए कर्म में प्रवृत्ति भोग और ऐश्वर्य के लिए चित्त की स्वाभाविक गति रहेगी ही। निर्मल ज्ञान के पथ पर चित्त की एकतान गति सम्भव नहीं है। प्रह्लाद के चरित्र से इसी विषय का निरूपण योगवासिष्ठ में किया गया है। भक्त भी भोग के कारण राग-द्वेष की भूमि पर स्थिर रहेगा। भक्त जब प्राणिमात्र में उस निर्मल स्वरूप का दर्शन करेगा और प्राणी भगवान् को चिन्मय स्वरूप में देखेगा, तब वह चिन्मय हो जायेगा।

चिन्मात्रमेव संसारसारः सकलसारताम् ।
गतः स देवः सर्वोऽहं तस्मात् सर्वमवाप्यते ।। यो० वा० नि० प्र० ३१।२०

इस उद्धार के उपाय के प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि "कामात्मा होकर स्वर्ग प्राप्ति के स्थान पर ज्ञानात्मा अर्थात् चिन्मय होकर त्याग परक होना चाहिए। इसके लिए स्वाभाविक गति का ही आश्रयण करना होगा। अस्वाभाविक किसी उपाय के अवलम्बन से किसी भी तरह अविच्छिन्न रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता है। अवसर मिलते ही अज्ञानात्मक चित्त पुनः अपना स्वरूपधारण करेगा वह अपनी शक्ति (assert) का प्रयोग करेगा ही। कण्टक से ही कण्टक का उद्धार किया जाता है, अतः कर्म से ही कर्म बन्धन को शिथिल करना होगा। ब्रह्मात्मिका ज्ञानमूलक प्रवृत्ति से ही प्रवृत्ति का मुख परिवर्तित करना होगा। इस कर्म को यथार्थ या जीवन्मुक्त का सार्वभौम कर्म कहा जा सकता है। इस कर्म को समर्पित, मदर्थ कर्म तमभ्यर्च्य रूप कर्म बुद्धि युक्त कर्म, यज्ञार्थ कर्म कहा जाता है। ज्ञान युक्त कर्म से परम तत्त्व के अन्वेषण में तत्परता होती है और इससे अज्ञान रूपी कल्मष का क्षय होता है, कल्मष का क्षय होने पर दृढव्रत होता है। दृढव्रत होने पर इन्द्रिय ग्राम को अपने वश में लाना पड़ता है, अर्थात् आत्मवश्य विधेयात्मा होता है, आत्म निर्मलता होने पर विषयों के ध्यान का क्रमशः विनाश के राज्य में प्रवेश होता है, और एक भूमि से दूसरी भूमि की प्राप्ति होती है, इस क्रम में बुद्धि के परे जाकर स्थिरता आती है और कार्य का परित्याग होता है, इस प्रकार काम जय होने पर साथ-साथ राग और द्वेष भी निवृत्त हो जाता है, राग-द्वेष की निवृत्ति होने पर अवसाद के स्थान पर प्रसाद—आनन्द का आगमन होता है। "प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते" बुद्धि स्थिर और अशान्त चित्त शान्त हो जाता है। चित्त की प्रसन्नता ही चित्त की स्थिति निबन्धन स्थिति साधन है। इस प्रकार इन्द्रिय के दौरात्म्य से छुटकारा हो जाने पर स्वाराज्य विस्तार की सुविधा मिलने पर दैवयज्ञ आरम्भ कर ज्ञानयज्ञ की भूमिका से उठकर "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविस्वरूप" कर्म के या यज्ञ के सर्वाङ्ग में ब्रह्म स्वरूप दर्शन करते हुए ब्रह्म कर्म समाधि में मग्न हो जाता है। यही कर्म से कर्म निवृत्ति है, रोग की उत्पत्ति का साधन ही उसकी दवा है। कर्म के साथ ज्ञान के योग की आवश्यकता है। यह बुद्धि या ज्ञान असक्त बुद्धि है। दूसरे शब्दों में यह ज्ञान एका बुद्धि, धृतिगृहीत बुद्धि, योगज बुद्धि, भक्तियुक्त बुद्धि या तत्त्वबुद्धि है।

इस प्रकार तामस, राजस बुद्धि क्रमशः सात्त्विक और शुद्ध होकर प्रथम असक्तता, अनन्तर प्रसन्नता में अवसान में समत्व की प्राप्ति होती है। साधक बाह्य स्पर्श में असक्तात्मा होकर आत्मसुख की प्राप्ति करता है। यज्ञ से योग की भूमि में अवतीर्ण हो जाता है।

ब्रह्मबुद्धि, ब्रह्मात्मा, ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मपरायण की स्थिति में वह उपस्थित रहता है। इस समय बाह्य स्पर्श बाहर ही स्थिर रहता है और निष्पाप योगी समाधिरूप महाध्यान में मग्न रहता है। इस प्रकार सदात्मा योगी नियत मानस हो एक अपूर्व शान्ति का सन्धान प्राप्त करता है। गीता के शब्दों में "शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति" अन्तःसुख अन्तराराम, अन्तर्ज्योति से चित्त परिपूर्ण होकर युक्त, युक्ततर और युक्ततम हो जाता है। यह विषयासक्ति, अव्यक्तासक्ति, ब्रह्मासक्ति अर्थात् भक्त्यासक्ति को प्राप्त कर सभी आश्रयों का परित्याग कर चिदाश्रय, मदाश्रय, ब्रह्माश्रय हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचित्त, ब्रह्मात्मक प्राण हो सभी दुःख आपदाओं का, सभी दुःखों का, सभी बाधाओं को पार कर ज्ञान प्रासाद पर आरोहण कर भूतकर्म, देव आत्मा, यज्ञ इन पृथक् भावों से हटकर या इनमें एक सद्रूप ब्रह्म का ही दर्शन करता है, जो अपने को आवृत रूप में रखकर अवस्थित था उसका प्रत्यक्षकर सभी संशयों से मुक्ति हो जाती है रौर भोक्तृत्व कर्तृत्व समाप्त हो जाता है। इस तरह तत्त्व की स्फूर्ति से परमतत्त्व में स्थिति हो जाती है। अर्थात् परमपद की प्राप्ति हो जाती है। गीता के शब्दों में "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"[१]।

मानव जीवन की साधना रहस्यात्मक तत्त्व का अन्वेषण कर ज्योतिर्मय तत्त्व का साक्षात्कार है। इसका रहस्य देदीप्यमान लोक में आरोहण कर परमदेवत्व की उपलब्धि है, यही तत्त्व की स्वरूप स्थिति है, प्राण में प्राणाराम को अन्वेषण कर प्राप्त करना, अविराम गति वेग के मूल में स्थित होकर इसको सुनियन्त्रित परिचालित करने वाले का साक्षात्कार ही साधना है।

इस ब्रह्मतत्त्व का आविष्कार कर्मों के मध्य से ही सर्वत्र परिव्याप्त स्वप्रकाश आत्मतत्त्व की प्राप्ति करनी है। यह जगत्-चक्र अज्ञान विजृम्भित कर्मचक्र है। किन्तु, इसी में जीव की उत्पत्ति, स्थिति और चरमतत्त्व की प्राप्ति है। अन्तःस्यूतज्ञान कर्म में निहित हो ज्ञानात्मक कर्म से सृष्टि और वृद्धि के साथ अन्वेषण कर प्रतिष्ठित करना है—इसकी सूचना जनक प्रह्लादादि के चरित्र से योगवासिष्ठ में दी गई है, "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः"। इसी सर्वगत चेतन ब्रह्मतत्त्व के अनुसन्धान में जीवन को उत्सर्ग करना होगा, मात्र अज्ञानात्मक इद्रिय की प्रवृत्ति से कर्मात्मक जीवन से किसी तत्त्व की प्राप्ति नहीं होकर सांसारिक आवागमन का ही कार्य अक्षुण्ण और प्रशस्त रहेगा। इसीलिए गीता में भी कहा है "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" जिसकी सूचना योगवासिष्ठ में कृष्णार्जुन-संवाद[१] के में वर्णित है। कर्म चरम उत्कर्ष की स्थिति की ज्ञान में परिसमाप्ति है। क्योंकि, जिससे कर्म की उत्पत्ति है वहीं उसकी समाप्ति होनी चाहिए। कर्म ब्रह्म से उत्पन्न है, अतः ब्रह्म में ही समाप्त होता है। कर्म और ज्ञान में आपेक्षिक या सामयिक भेद है। वस्तुतः ज्ञानी के कर्म और अकर्म में कोई भेद नहीं है। अतः स्वभावतः शुद्ध और स्वच्छ मूल से दृष्टि के हटने पर मूल सूत्र के छिन्न होने पर जीव का सहज आनन्द स्वरूप समाप्त होकर दुःख का उदय होता है और यह कर्म की अशुद्धि ही बन्धन की सृष्टि करती है। इसीलिए योगवासिष्ठ आरम्भ से ब्रह्म का पुनः पुनः उपदेश देकर मायिक कर्मों से सावधान होने की भावना को दृढ़ करता है। मूल की दृष्टि ही कर्म करते हुए असक्त भावना को उत्पन्न करती है। ज्ञानयुक्त, विवेकयुक्त कर्म, स्थूल की ओर से दृष्टि का परिवर्तन कर मूल ब्रह्म की ओर दृष्टि प्रदान कर क्रमशः विपर्यय या विपरीत बुद्धि और अस्मृति अर्थात् तत्त्वविस्मृति को हटाकर निर्मलबुद्धि की प्राप्ति से जगत् के प्रति असक्त बुद्धि होने से भोगपरायणता का परित्याग कर योगपरायणता को प्राप्त कराता है, फलतः अनासक्त बुद्धि होती है—मनुष्य जितात्मा विगत स्पृह हो नैष्कर्म्य ज्ञान

१. द्रष्टव्य योगवासिष्ठ ५२-५४ अध्याय पृ. ४७२ से ४८५

को प्राप्त कर मानव-जीवन में धन्य होता है। यही इन्द्रियों का मन के द्वारा नियमन है। ज्ञान के द्वारा ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व समझ कर इन्द्रिय नियमन है। यही सभी कर्मों का मदाश्रय प्राप्ति अर्थात् प्रथम ज्ञानशरण लाभ है।

स्वभाव और अध्यात्मभाव, तत्त्वज्ञान एक ही वस्तु है "स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते"। यह शुद्धभाव अभिमान या स्वामिभाव का परित्याग है, अत: इसको सात्त्विक भाव कहा जाता है। यही अविकृत भाव अर्थात् essential भाव है। इसी स्थिति में स्वभावोत्पन्न गुणों के द्वारा उत्कर्षाभिमुखी कर्म चलता है। गुण विभागस्वरूप सत्त्व के तारतम्य से कर्मविभाग, कर्मविभाग से वर्णविभाग और वर्णविभाग से धर्मविभाग होता है। यह स्वाभाविक वर्णाश्रमोचित कर्म करने से ब्रह्म धर्म में परिणत होता है, यही जीव का श्रेयस्कर और कल्याणकर है। क्योंकि सार्वभौम विराट् वासुदेवात्मक ही सभी वर्ण, आश्रय और तदनुरूप धर्म हैं। सार्वभौम होने के कारण यह कर्म अहंममाभिमानशून्य ब्रह्मात्मक कर्म है।

तीन गुणों में सत्त्वगुण निर्मल और रागद्वेष शून्य है। प्रथम तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के जालों से विमुक्ति सर्वथा असम्भव है। वामन अर्थात् नाटे व्यक्ति के द्वारा चन्द्रमा की प्राप्ति का प्रयास है। किन्तु एकमात्र ऐसा मार्ग भी है जिस पर चलकर लक्ष्य की प्राप्ति और संसारजाल से विमुक्ति सम्भव है। प्रथम श्रवण, मनन और निदिध्यासन अपेक्षित है। अनन्तर ॐ तत्सत् इन द्विविध ब्रह्म की उपासना से राजस, तामस दोषों के प्रक्षालन से सात्त्विकता का सम्पादन होता है। गुणों का दोष सर्वथा विनष्ट हो जाता है। उस ब्रह्म की प्राप्ति ही उसकी माया से विमुक्त करती है और अनावृत तत्त्व का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। समस्त भूतवर्ग ब्रह्ममय हो जाता है। ब्रह्म के साथ संज्ञान होने का होने का साधन योगवासिष्ठ के अनुसार अज्ञानात्मक इन्द्रियों की सहज प्रवृत्तियों की गति के प्रवेश को सर्वमय त्रिगुणातीत ज्ञानात्मक में लगाना है।

प्रथम कर्म को सात्त्विक या सत्त्व प्रधान करने पर सात्त्विक बुद्धि के आश्रयण से ब्रह्माश्रित करना सुगम है किन्तु सभी कर्मों का सम्पादन करते हुए ब्रह्माश्रित होकर शाश्वत परम अव्यय पद को प्राप्त करना है। संसार से उत्तीर्ण और कर्म-बन्धन एवं गुण-बन्धन से मुक्ति का एकमात्र यही राजपथ है। मानवभूमि में आसुरिक प्रकृति की प्रेरणा जैसे सहज और स्वाभाविक है, दैवी प्रकृति की भावना उससे भी अधिक सहज और स्वाभाविक है। इस प्रकृति के साथ जीव की चेष्टा का सम्मिलन होते ही मणिकाञ्चन योग होता है और यह जीव के लिए ज्ञान के विस्तार का साधन है। प्रथम यह ऊर्ध्वस्रोत हीनबल रहता है, इसके बलाधान के लिए विपुल चेष्टा और दृढ़ अभ्यास की आवश्यकता है। इस सत्त्व शक्ति के प्रबल वेग के लिए देह इन्द्रिय परिव्याप्त होकर उस सर्वत्र अनुस्यूत सद्रूप ब्रह्म का अनुस्मरण करना चाहिए। प्रथम चेष्टा में कर्म के प्रबल वेग के साथ स्मरण का दृढ़ सम्बन्ध (close association) स्थापन करने पर यही शनैः शनैः उस अद्वितीय एक भूमि में प्रतिष्ठित कर देता है। तद्भाव भावित होने पर सतत उसी का स्मरण रहता है और जीवन-संग्राम में सफल रहता है। सदा स्मरण के प्रयास से ध्रुवा स्मृति की प्राप्ति होती है और मोह, राग, द्वेष विनष्ट हो जाता है। फलतः स्वयं निर्वेद आ जाता है, निर्वेद आते ही ज्ञान निश्चल और अचल हो ब्रह्म समाधि के योग्य हो जाता है। यह समहित ज्ञान ही अविद्या और अविद्याजनित अज्ञान के नाश का प्रधान अङ्ग है। इस दृढ़ असङ्ग शास्त्र से संसार का सहज में छेदन हो जाता है।

एवं गुरूपासनयैक भक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धी (२)
विवृश्च जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य आत्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥

विद्याकुठार अर्थात् विवेकज्ञानार्जनसाधन की विशेष अवस्था है, यह विभेदकारिण[1] बुद्धि ही मनुष्य को अभेद की भूमि में ले जाने में सहायक होती है। योगवासिष्ठ में विवेक ख्यातिविप्लवा हानोपाय है। यही chaff from the corn,

१. द्रष्टव्य योगवासिष्ठ ५७-५८ अध्याय

dross from the metal, तण्डुल से छिलका, धातु से खाद को हटाने का परम साधन है। इस भ्रमांश और असत्यांश के दूर होने पर परम तत्त्व स्वयंप्रकाश प्रतिष्ठित हो जाता है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ (गीता ५।१६)

तत्परं के राज्य में final unity के राज्य में अर्थात् अद्वय तत्त्व में उपनीत हो बुद्धि या ज्ञान की चरम चरितार्थता है, यही धर्म की परम परिपूर्णता परम सार्थकता है। आध्यात्मिकता की यहीं परिसमाप्ति है।

योगवासिष्ठ की साधनाओं का मूल लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन है, बुद्धि विचार का प्रधान कार्य अद्वितीय एक तत्त्व में पहुँचना है, अनेक में एक का अन्वेषण कर अनेक से बाहर करना "सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते" यह ईक्षण करना ही है। वेद में योगवासिष्ठ, में अध्यात्म और अधिभूत (Subject and object) स्वरूप द्वैतदर्शन को एक तत्त्व में ले जाने के पथ का निर्देशन है। क्रिया विशेष अनेक के मध्य से विधि का धारण कर नैतिक और प्राकृतिक विधि दोनों ही ब्रह्मसम्भूत दोनों ही ब्रह्मा का ही द्विधा भाव मात्र एवं दोनों में नित्य ब्रह्म प्रतिष्ठित है—इस सूत्र को धारण कर साधन के प्रशस्त पथ का प्रदर्शन करना है। यह भेद के मध्य में अभेद को स्थिर करने के लिए इसको योगवासिष्ठ में बहुधाचक्र कहा गया है। एक वृत्त में जिस प्रकार दो मेरु, एक ही वृत्त का केन्द्र और परिधि भिन्न होकर भी जैसे अभिन्न और तद्रूप हैं; इन दो को लेकर साधना और एक लेकर स्थिति है, इस द्वैत राज्य का आश्रयण का ही अद्वैत राज्य में प्रवेश है। Moral law and natural law—नैतिक और प्राकृतिक विधि एक ही विराट् ज्ञान की द्विधा अभिव्यक्ति या प्रतीति है। परा और अपरा दो का प्रदर्शन भी क्षराक्षर रूप में दो पुरुषों का निर्देश होने पर भी भिन्न पुरुष रूप में प्रतिभात होने पर भी एक ही अद्वय पुरुषोत्तम का सद्वय मात्र है। इसलिए साधक को अनेक में एक सूत्र का धारण करना आवश्यक है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों क्षेत्रों में द्वैत में अद्वैत का अन्वेषण करना होगा। प्रथम यह विधि law के रूप में, यह धर्म के रूप में बाद में; प्रकृति और कारण के रूप में; अन्त में पुरुष के रूप में अवगत करना होगा। इन तीनों क्षेत्रों में बुद्धि चरम और परम कारण का अन्वेषण करती है, कर्म में या कर्म की भूमि में अद्वय ब्रह्म law के रूप में, विधि रूप में साधारण धर्म के रूप में अवगत कराती है। शक्ति की भूमि में भावमयी प्रकृति के रूप में प्रकाश प्राप्त करती है और ज्ञान की भूमि में पुरुष रूप में चेतन रूप में अभिव्यक्त होती है Dr. Martineau ने भी कहा है—

"Nature constitutes throughout one intellectual organism, humanity one moral organism; and as God is the informing thought of the one, so is He the spiritual authority of the other. In recoginition of the former we raise the university; as symbol of the other we dedicate the church–neither of which fulfil its essential idea till it places us at an altitude whence the whole domains of knowledge or the one hand of duty on the other can be surveyed in its relations and seen suffused with the Divine and blending light"

बाह्य जगत् के मध्य में सृष्टिराज्य में इस विधि या धर्म को बुद्धि अवलम्बन करा देती है। ज्ञान ही इसका अनुसन्धान देता है, इसका अवलम्बन करने पर प्रकृति की क्रिया जो ज्ञान के द्वारा चालित है और नैतिक या धर्मक्षेत्र में कर्त्तव्य बोध जो गुप्त प्रेम निर्झरिणी से उद्भूत धर्म विवेक के विकास के फलस्वरूप कर्त्तव्य होता है अर्थात् प्रेम में परिणत हो जाता है। यह प्रेम प्रज्ञा का द्वार खोलकर दोनों के मूल विचार और प्रज्ञा दोनों के मूल अद्वय पुरुष का अवलम्बन करा देती है। प्रज्ञा और विवेक के आधार पर उस अद्वय पुरुष की प्राप्ति होने पर स्थूल एवं प्रत्यक्ष कर्म ब्रह्मोद्भव और वह सर्वगत ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित हो जाता है। अद्वय ब्रह्म की अवगति के बाद स्थूल के मध्य में प्रत्यक्ष गोचर कर्म के अन्तराल में पंचावयव पूर्ण पुरुष नित्य विद्यमान है अर्थात् इस

आकार-प्रकार, भावाकार, शक्त्याकार, चेतनाकार, स्वरूपाकार से युक्त होकर सदा वर्तमान है। अतः इस स्थूल के साथ सत्ता के रूप में उसकी स्थिति का ज्ञान होने पर मानव के कर्म ब्रह्म समर्पित हो जाते है। यह सत्य है कि विश्व ज्ञान चालित है; उसी के स्वरूप का विश्व आभास है। साधना के आरम्भ में कर्मभूमि से आरम्भ कर ज्ञान धीरे-धीरे व्यक्त=अभिव्यक्त होता है। प्रथम स्वभाव नियत कर्म स्व का भाव अर्थात् अहं का भाव अहं से ही चालित है, यह दृढ़ता नहीं होती, उस समय ऐसा अवगत होता है कि जीव कर्म कर रहा है और एक अज्ञात शक्ति उसको हठात् कर्म के आकार में परिणत कर रही है। गीता के अनुसार 'बलादिव नियोजितः' की स्थिति है। इस अवस्था में कर्तृत्व-बोध अतिशय क्षीण हो जाता है और क्रमशः तमोगुण के दूर होने पर ऐसा बोध होने लगता है कि बहिर्जगत् में कर्तृत्व के बिना भी अन्तर्जगत् अहं की शक्ति अक्षुण्ण है। इसके अनन्तर जब सत्त्वगुण का उद्रेक होता है तब यह अनुभव करता है कि अन्तः और बाहर एक ही धारक के द्वारा संचालित है। दोनों उसीका अंश (Fragment) है, उससे कोई पृथक् नहीं है। इस स्थिति में विश्वात्मा के साथ आंशिक रूप से मिलकर भी खण्डत्व रह जाता है; किन्तु अभ्यास की दृढ़ता, खण्ड भाव का आवरण हट जाने पर परिपूर्णता, भेदशून्यता के उदय के साथ सर्वमय कर्तृत्व के रूप में सर्वाधिष्ठातृत्व उद्भूत हो जाता है। यह चेतना का क्रम विकास है। जाग्रत् दशा में ऐसा प्रतीत होता है कि आदित्य के वाचक प्रकाश से जगत् प्रकाशित है किंतु स्वप्नावस्था में आन्तःप्रकाश ही सर्वविध प्रकाश है, यह ज्ञान होता है। इस प्रकार इन्द्रिय का प्रकाश, मन का प्रकाश, बुद्धि का प्रकाश और अन्त में आत्मा का प्रकाश-राज्य प्राप्त होता है। साधक एक निरपेक्ष प्रकाश की भूमि में आकर, आन्तर और बाहर एक अखण्ड महाप्रकाश से अभिव्यक्त हो जाता है। फलस्वरूप सभी भ्रम और संशय दूर हो जाते हैं। मनुष्य योगभूमि में पहुँचकर विचार भूमि में जाता है, विचार से ध्यान की भूमि में जाता है और बाद में विचार और ध्यान की भूमि से आत्मा की भूमि में अवतीर्ण होता है। दूसरे शब्दों में जीवन को कर्ममय, विचारमय, ज्ञानमय या आत्ममय प्राप्त करना है। हम इसे तीन स्थल में विभक्त कर सकते हैं, कर्मस्तर, भक्तिस्तर और ज्ञानस्तर। कर्मस्तर में भी अनेक विभाग सम्भव है। शुद्ध सकाम और अशुद्ध सकाम। इसके बाद कर्त्तव्यबोध के बोध में Moral stage अर्थात् धर्मस्तर। इस अवस्था में मानव कर्त्तव्य ज्ञान करके ही कर्म करता है यह यज्ञ है। यह कर्म ही प्रीति या प्रेम से संचालित होकर प्रेमपूर्ण त्याग की अवस्था प्राप्त करता है। प्रीति का भाव आने पर देय मात्र ही शेष रह जाता है। अर्थात् भक्ति भाव में प्रथम आत्मतुष्टि और अनन्तर इस की तुष्टि ही प्रधान लक्ष्य हो जाती है और अन्त में सेव्य-सेवक भाव का तादात्म्य हो जाता है। ज्ञान में भी प्रथम विचार अनन्तर प्रणिधान और ध्यान के बाद स्वरूपस्थिति होती है।

सभी भूमियों में एक विशेष रसास्वादन की अवस्था है। इस रस की प्राप्ति होने पर उस भूमि का उत्कर्ष प्रस्फुटित होता है, रस आनन्द के आकार में परिणत होकर सीमा से परे जीव को ले जाना चाहता है, उस समय सार्वभौम स्वरूप के धारण होने से सङ्कीर्ण भूमि से रहित भूमा के राज्य में अवतीर्ण करता है। कर्म, भक्ति और ज्ञान उस सत्त्व में उपस्थित होकर रस की अभिव्यक्ति होने लगती है। आयास शून्य स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, विघ्न, बाधा, द्वन्द्व की समाप्ति होकर समता, स्वच्छन्दता का स्फुरण होता है, समता से सुख-लाभ और ब्रह्मानन्द रस में यह परिणत होता है। इस रस से वही समाधि होती है जैसी कर्म, विचार और ज्ञान से समाधि होती है।

समाधि एक शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है, वरन् यह एक गम्भीर अनुभूति (absorption into highest concentrated thought) है। यह परम विवेक परम प्रेम और परम ज्ञान का समष्टिभूत कर्म है।

इसीलिए इसके साधन को संयम शब्द से कहा जाता है। इसमें धारणा ध्यान, एवं समाधि ये सभी मिलकर रहते हैं। यह प्रथम परिगृहीत बुद्धि की भूमि में दिखाई देता है, बाद में प्रीतिगृहीत बुद्धि होने पर परिपूर्णता की प्राप्ति होती है। इसलिए इस समाधि के फल में प्रज्ञा का (intuition) का उदय होता है, अतः यह भावना विशेष है। एक दृष्टि से सभी मन की सत् शक्ति इसमें नियोजित होती है। अतः यह मनुष्य को सत्य ज्ञान के राज्य में शुद्धि

भावना की भूमि में अवतीर्ण कराता है। भक्ति भी योग में परिणत होती है और ज्ञान भी योग की संज्ञा का लाभ करता है—जैसा योगवासिष्ठ में बहुधा कहा गया है। पातञ्जल दर्शन में स्वरूप शून्य अर्थमात्र निर्भास शब्द से इसको कहा गया है। इस अवस्था के ज्ञान में जीव को स्मृति, संस्कार आदि कुछ भी कर ज्ञान को विकृत या अन्य प्रकार में अनुरञ्जित नहीं करता है, इसको स्मृति परिशुद्ध ज्ञान असङ्कीर्ण ज्ञान कहा जाता है। इसको ब्रह्मार्पण या ब्रह्महविः शब्दों से गीता में कहा गया है, जब इन्द्रियों की अर्थों में अनुरक्ति नहीं रह जाती है, विश्व ब्रह्माधिष्ठानात्मक एक सार्वभौम सत्य के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तब कर्म समाधि का फल योग समाधि, विचार समाधि, भक्तिसमाधि, विजितेन्द्रिय, लोहे, पत्थर और काञ्चन में समता को प्राप्त करता है। अध्यात्मचेता वह मनुष्य असन्दिग्धरूप में सभी कुछ जानता है। वस्तुतः ज्ञानसमाधि तो अवर्णनीय है। यह एक अद्वय ब्रह्म शरण की प्राप्ति होने से परिच्छिन्न शून्य भूमा की अवस्था है—सभी साधनाओं की परिसमाप्ति है।

इस प्रकार प्रथम सकाम कर्म चित्त के विकास क्रम में जैसे राम ने तीर्थादि का परिभ्रमण किया, सकाम से निष्काम कर्म प्रशस्त होता है, इन्द्रिय जीवन से धर्म जीवन की ओर प्रवृत्ति है। इसके साथ-साथ धीरे-धीरे की बुद्धि का विकास होता है, यह विवेक बुद्धि कर्म को उसमें अनुरञ्जितकर शनैः-शनैः भूमि से पार्थिव लोक से दिव्य विचार लोक में अवतीर्ण करता है।विचार के बाद ध्यान की स्थिति आती है। ध्यान की भूमि में आते ही जीवन में एक शीघ्र परिवर्तन होता है। ध्यान दृढ़ होकर परम के प्रति प्रीति में पर्यवसित होता है। मन भी गुहा प्रविष्ट हो जाता है और गम्भीर से गम्भीर तर्क मार्मिक भूमि में अवतीर्ण होता है। प्रीति भी चरम अवस्था को प्राप्त करती है। तत्त्व पूर्ण प्रकाश के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह परम ज्ञान और जीवन की परिपूर्णता है। विचार की जैसे ध्यान में परिणति है वैसे ही ध्यान की भी ज्ञान में परिणति है। प्रथम अवस्था में ध्यान का आलम्बन बाह्य विषय से रहता है अनन्तर आंतर वृत्ति ही उसका विषय बन जाती है, यह ध्यान मन को निर्विषय बनाती है। भाव वाद की यही चिन्ता धारा पृथक् रह जाता है और भाव की दिशा से जगत् का दर्शन होता है। यह वही स्थिति है जहाँ कवि और उसका अर्थ भी इस नूतन भूमि से अनिर्वचनीय रूप धारण करता है।

विचारणीय है कि ज्ञान का विकास और प्राण का विकास ये दोनों ही रहस्यमय है। इस प्रकार अन्वेषण करने पर भी मूल की उपलब्धि नहीं होती। दोनों ही स्थलों में चैतन्य का ही प्रकाश क्रम है Mode of expression है। दोनों ही चिदाश्रित संकल्पमय है। यहाँ पर 'मत्तः परतरंनान्यत्' यह तत्त्व प्रस्फुटित हो जाता है। जन्म होने पर जड़ के मध्य में आत्मा का विकास और ज्ञान (Mind or soul) मन और बुद्धि के द्वारा आत्मा का विकास है। एक अपरा प्रकृति के मध्य में प्रकाश और दूसरा परावृत्ति के मध्य का प्रकाश। दूसरे शब्दों में ज्ञान क्रिया मिश्रित प्रकृति के मध्य का प्रकाश है और दूसरा शुद्ध सत्त्व ज्ञानमयी प्रकृति के मध्य का प्रकाश एक क्षेत्र का प्रकाश और दूसरा क्षेत्र का प्रकाश। एक दृश्य का प्रकाश है और दूसरा द्रष्टा है। किन्तु दृश्य और द्रष्टा का प्रकाश भिन्न नहीं है। भाव जिस तरह भाषा से अभिव्यक्त होता है वैसे ही वर्ण के मध्य में भी भाव अभिव्यक्त होता है। कर्दम और प्रस्तर (clay and stone) एक ही रूप की अभिव्यक्ति है। शुद्ध चैतन्य प्रथम चिन्मय शक्ति रूप में या शक्ति में आत्म-प्रकाश करता है। अनन्तर शक्ति भावाकार को धारण करती है और भाव विचाराकार और विचार वस्तु का आकार धारण कर प्रकाशित होता है। पहले वस्तु आकार जान को विचाराकार में परिणत करती है। विचार भाव के रूप में और भाव आत्माकार रूप में प्रस्फुटित होता है। यह वही अवस्था है जहाँ सर्वत्र आत्म-दर्शन ही होता है। यही ज्ञानियों का विशिष्ट दर्शन है जो योगवासिष्ठ में पुनः पुनः अभिव्यक्त किया गया है। ब्रह्म रूप में कोई भी वस्तु त्याज्य नहीं है। अर्थ परिवर्तन कर दर्शन मात्र है। यहाँ विरोध नहीं है। मात्र विशदीकरण अर्थात् अर्थ का स्वच्छतम रूप है। भाषा जैसे वर्ण को न छोड़कर समृद्ध होती है वैसे ही ज्ञान इन्द्रियानुभूति या प्रत्यक्ष ज्ञान का बिना त्याग किये ही समृद्ध होती है। ज्ञानावस्था में भी चक्षु से ही वस्तु का दर्शन होता है किन्तु अर्थ भिन्न होता है यह आवरण ही अनावृत ज्ञान है। यह स्व प्रकाश का राज्य किस प्रकार इस स्वरूप को धारण करता है यह बुद्धि से परे है। आत्मा

अपने आलोक में स्वयंप्रकाश, स्वतःप्रकाश है। सभी वस्तु अन्य प्रकाश की सहायता चाहता है। इसलिये वह पर-प्रकाश है। दूसरे प्रकाश की सहायता के बिना प्रकाश हो ही नहीं सकता। परिच्छिन्न प्रकाश दोष दुष्ट है। पूर्ण और भूमा ही परमुखापेक्षी सदा रहता है। यह पूर्ण अहम् इदं द्रष्टा दृश्य के आकार में विभक्त के समान होने पर भी एक दूसरे की सहायता लेने को बाध्य हो जाता है। विषय न रहने पर ज्ञान का प्रकाश नहीं होता है और ज्ञान न रहने पर विषय का प्रकाश नहीं होता है। द्रष्टा दृश्य विभाग रहता है तब तक दूसरे की मुखापेक्षा रहती है, तब तक आलोक और अंधकार एवं असंभावना और विपरीत भावना का अवसर बना रहता है। अविद्या की इन दो ग्रन्थियों के समाप्त होते ही स्वयं प्रकाश अपने आलोक में स्वयं प्रकाशित होकर असत्तापादक और अभानापादक दोनों को समाप्त कर पूर्ण व्यवधानशून्य ज्ञान की भूमि का साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो जाता है। वहाँ संबंध के मूल सूत्र और संबंधातीत अवस्था भी कुछ भी नहीं रह जाती। यही भूमात्व लाभ है। समस्त संबंध का राज्य छुड़ा कर निरपेक्ष पूर्णता के राज्य में प्रवेश होता है। यह सर्व-संबंधातीत परम राज्य का प्रवेश है।

इस ज्ञान से सभी परिच्छेद के परे ज्ञान प्रथम शब्द या ज्ञानमय स्पंद रूप में, ज्ञानमय शक्ति रूप में प्रकाशित होता है। परावाक् रूप में परप्राण रूप में परम तत्त्व की यही प्रथम अभिव्यक्ति है। प्रथम अभिव्यक्ति का पर्व वाक्य या प्राण है। पराशक्ति ही साक्षात् अपरोक्ष का साधन है। यह वाक् और ज्ञान मूलतः एक पदार्थ है। यह वाक् जैसे कर्ण के द्वारा प्रवेश करता है वैसे ही हृदय में भी अभिव्यक्त हो उठता है। उसी को भागवत में—'तेने ब्रह्महृदयादि आवये मुह्यन्ति यत् सूरयः' के द्वारा कहा गया है। वाक्यस्थ होना ही आत्मभाव रूप है। वाक् और ज्ञान का अविनाभाव संबंध है। शब्द या वाक् आदि भूत या आदि प्राण में प्रकाशित परम शक्ति महाभाव रूप होने से पूर्ण रूप से परम पुरुष को हृदय में धारण करने में समर्थ है अर्थात् पूर्ण रूप से उनका प्रकाश करने में समर्थ है। इसीलिए महाभाग रूप महाबुद्धि में ही परम ब्रह्म सर्व प्रकाशक जगत् बीज का आधान करता है, यही उसकी योनि है, जो बीज धारण में समर्थ है। प्राण वाक् या नाद ही परम के साथ साक्षात् संयुक्त है।

मुख्य प्राण या नाद ही साक्षात् उपकरण है। मनन और निदिध्यासन यह दूर से उपकारक है अर्थात् परोक्ष उपकारक है। वह जीवात्मा का शुद्ध साधक और शब्द का परम का धारक है, यह शब्द ध्वनि मात्र नहीं है। वरण चेतनाकारा चैतन्य का रूप या मूर्त्त प्रकाश है। इसको दूसरे शब्दों में ज्ञान रूप कहा जाता है। इसलिए तंत्र में 'शब्द ब्रह्म परं ब्रह्म उभे शाश्वती तनू' यह कहा गया है। "First there was the word and the wood was God" ज्ञानाकार के अनन्तर विचार, तदनन्तर वाक्याकार, वाक्य से विचार में, विचार से केन्द्रीय ज्ञान में, ज्ञान से गंभीर चेतना में शनैः शनैः अवतीर्ण होती है। यह वाक् रूप शब्द ज्ञान क्रिया का मिश्रित रूप है। सूक्ष्म होते-होते आकार में भावाकार में परिणत होता है। इसी प्रकार बैखरी वाणी पश्यन्ती अवस्था में प्राप्त होकर बाद में परावस्था शुद्ध चेतना प्राप्त करती है। इस परम शुद्ध अवस्था में ही परम ज्ञान प्रकाशित होता है। यही योगवासिष्ठ की विभिन्न ज्ञान धारा है।

योगवासिष्ठ में संन्यास और त्यागतत्त्व को अवगत कराने के लिए ज्ञान और साधन तत्त्वों को अतिशय अपूर्वरूप में निरूपित किया गया है। भारतीय आर्य परम्परा की ओर दृष्टिपात करने पर संन्यास ही जीवन की चरम साधना है। इसी तत्त्व के ऊपर मुक्ति और जीवन्मुक्ति प्रतिष्ठित है। विश्लेषण में भंगिमा हो सकती है, किन्तु त्याग और संन्यास को स्वीकार करना ही पड़ेगा। आर्य साधना कर्म से जीवन को आरम्भ करती है और संन्यास में पर्यवसान, अहंकार से जीवन का प्रारम्भ और निरहंकार में समाप्ति। इसी संन्यास तत्त्व की अवगति कराने के लिए 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस उपनिषद् वाक्य की व्याख्या के रूप में मनीषियों के द्वारा सहस्र धाराओं में भारतीय दार्शनिक चिन्तन-धारा प्रवाहित है। कर्म से कर्म निवृत्ति ये कैसे उपलब्ध हो सकती है, इसे जानना आवश्यक है। इसका कर्म के प्रेरक, कारक और फल एवं उसकी सर्वाङ्ग शुद्धि कैसे संभव है, यही तो गीता,

योगवासिष्ठ, रामायण आदि का उपसंहार है। अज्ञान अर्थात् प्राकृतिक गुण के राज्य से उठकर ब्रह्म का पूर्ण परिज्ञान कर ही यथार्थ संन्यासी हो सकता है क्योंकि गुणों के मध्य में रहकर संन्यास हो सकता है पर वह गौण संन्यास होगा। यह सत्य है कि यह संन्यास भी मुक्ति के मार्ग को अनावृत कर देता है परन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार के बिना अज्ञान और उसके संस्कार का सर्वथा विनाश संभव नहीं है। जीवन परिमार्जित होकर अपरिच्छिन्न तत्त्व की अवगति कर जब जीव सभी बाधाओं से विनिर्मुक्त होता है, खण्ड से अखण्ड भूमि में अवतीर्ण होता है, सभी सीमाओं को पार कर जाता है, उस दिन नदी जैसे समुद्र में मिलकर अपना नाम रूप और स्वतंत्रता को छोड़ कर दोनों किनारों से परिमुक्त असीम में मिल जाती है, वैसे ही जीव भी सभी धर्म और अधर्मों का परित्याग कर सर्वात्मभाव से ब्रह्म-तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, उसी दिन वह यथार्थ संन्यास की अवस्था को प्राप्त करता है। प्रतिक्षण मानव संन्यास और त्याग की चर्चा में ही अपने को भुलाये रखता है किन्तु साधारण त्याग अर्थ में संन्यास ग्रहण करने पर निश्चित ही भ्रम के भयंकर आवर्त से वह मुक्त नहीं हो सकता है। यह त्याग द्रव्य, वित्त आदि बाह्य पदार्थों के त्याग के समान उससे दूर नहीं होना है, उसी के मध्य में रहकर उसका अतिक्रमण ही योगवासिष्ठ की भूमिका है। इसे असक्तता, निर्लिप्तता, निरहंकारिता एवं सर्वसंघ विवर्जित अवस्था कहा जा सकता है। ब्रह्म तादात्म्य में कुछ लेना और छोड़ना नहीं है, यह परम ज्ञान की स्थिति है, जहाँ कर्म में अकर्म दर्शन और अकर्म में कर्म दर्शन प्रतिष्ठित रहता है। यह विचित्र अपूर्व अवस्था है जहाँ परिपूर्ण निरहंकार प्रतिष्ठित रहता है और सार्वभौम चिन्मय अद्वय तत्त्व की भूमि में अवतीर्ण होता है। जब तक अहंकार का लेशमात्र भी रहता है तब तक स्वरूप का संधान किसी तरह भी संभव नहीं है। जीव जब तक अहंकार की भूमि में रहता है अर्थात् जब तक गुण के अधिकार में रहता है, जगत् को अज्ञान कल्पित नहीं मानता है; तब तक उसका त्याग चेष्टाजनित त्याग रहता है। वह सहज त्याग नहीं। यह with drawal के समान (उपरति) ही है। अतः काय-क्लेश के भय से त्याग या मोहजनित त्याग नहीं है। इस त्याग से यथार्थ त्याग का जो फल ज्ञान है उसकी प्राप्ति कथमपि संभव नहीं है। मानव कर्म का त्याग करके 'इतः नष्टस्ततो भ्रष्टः' की स्थिति में न आ जाये इसीलिए योगवासिष्ठ का अपूर्व उद्देश्य वस्तुतः एक दुर्विज्ञेय त्याग पदार्थ हैं। क्योंकि त्याग कहते ही ग्रहण के विपरीत जो त्याग उसकी छवि मानव चित्त में परिव्याप्त हो जाती है। इसलिए ग्रहण और त्याग इस द्वन्द्व से बाहर है। इसे मानव सहज में ग्रहण नहीं कर पाता है। विद्वेषमूलक त्याग, त्याग नहीं है यह तो सर्वातिक्रमण मात्र है जो स्वतः होता है, उसका कर्म करना और न करना दोनों ही समान है। तीन प्रकार की त्याग की चर्चा शास्त्रों में दी गई है। जब तक सार्वभौम ब्रह्म का परिज्ञान नहीं होता है और अज्ञान विजृम्भित लोक में ही स्थित रहता है उस समय कर्मत्याग हेय और निन्दनीय है। क्योंकि उस समय कर्मत्याग करने पर देहयात्रा का निर्वाह ही संभव नहीं है। फलतः उन्नति का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायेगा। कर्म स्वभावतः दुष्ट नहीं है। फल और संगत्याग स्वयं में निर्दोष है। दूसरे शब्दों में काम्य और अहंकार संयुक्त कर्म ही दोषदुष्ट है। अर्थात् निरहंकृति की भूमि में अर्थात् परमार्थ दशा में कर्म ही नहीं रह जाता है वह अकर्म हो जाता है। वहाँ कर्म के दुष्ट और अदुष्ट होने का प्रसंग ही नहीं आता है। जिस ज्ञानी ने आत्मा में स्थितिलाभ कर ली है अर्थात् आत्मस्वरूप का बोध कर लिया है उसके कर्म के साथ संश्लेष संभव ही नहीं है। क्योंकि वह तो ब्रह्मस्वरूप ज्ञान में सहज रूप से प्रतिष्ठित होने से 'नैव किञ्चित् करोमि' इस ज्ञान से परिपूर्ण रहता है। आत्मा का निर्लेपत्व (निर्लिप्तता) और असंगतता तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। क्योंकि देह इन्द्रिय आदि के क्षेत्रों के कर्मों के साथ भी उसका कोई संस्पर्श नहीं रहता। कर्मों से न उसकी कोई हानि है और न लाभ जैसे वायु का प्रबल वेग आकाश को प्रकम्पित नहीं कर पाता वैसे ही देह, इन्दिय, प्राण, मन और बुद्धि का कोई भी स्पंदन आत्मा के राज्य में नहीं पहुँच पाता है। इसमें विक्षोभ सृष्टि का प्रश्न ही कहाँ ?
सम्बन्ध के [illegible] सर्वसंबंध विवर्जित है, इसी का समाधान योगवासिष्ठ में कहा जाता है
[illegible] संबंधों का मूलाधार होकर भी वह समस्त संबंधों को अतिक्रा

रहता है; यह तव तक अवगत नहीं हो सकता है; जब तक आत्मलोक में प्रतिष्ठित न हो। देह धारण करने वाला मानव कर्माधिकारी है, इसमें संदेह नहीं; क्योंकि वह प्रकृतिस्थ है; इसलिए व्यक्ति को देहात्मभाव छोड़कर आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना संभव नहीं है। उस समय उसका परम कर्तव्य होता है कि आत्म-शुद्धि के लिए कर्म संपादन करे। अर्थात् आलस्य और तन्द्रा से रहित होकर कर्म करता रहे। यह कर्म ही एक दिन उच्चतर आदर्श के प्रति आकृष्ट कर देता है और वह कर्म-फल का त्याग कर गौण संन्यासी या त्यागी के नाम से विभूषित हो जाता है। यज्ञ, दान और तप ये तीन त्याज्य नहीं हैं। इसका पुनः पुनः उपदेश मिलता है। इन्हीं के द्वारा तो ज्ञान के प्रतिबन्धक पापों का प्रक्षालन कर ज्ञान की उत्पत्ति योग्यतास्वरूप गुणाधान से आत्म विशुद्धि होती है। ज्ञानियों के लिए अन्तःकरण का विशुद्धि यज्ञ, दान और तप से अद्वैत सिद्धान्त में भी विधि बोधित है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि त्याग ही अभिभावना का मूल आधार है। यह त्याग यज्ञ, दान, तप रूप क्रियाओं में वैसे ही अभिव्यक्त है, जैसे निरुपाधिक ब्रह्म के साक्षात्कार में सभी उपाधियों के त्याग रूप महात्याग में या संन्यास में प्रस्फुटित होता है। शक्ति के राज्य में, साधना के राज्य में क्रमिक उत्कर्ष प्राप्ति के राज्य में निम्न भूमि का त्याग कर, अपकर्ष भूमि का त्याग कर उत्कर्ष भूमि की ओर अग्रसर रहता है। त्याग ही संगत्याग और फल त्याग में प्रतिष्ठित हो साधक को परम उत्कृष्टज्ञान की भूमि में अवतीर्ण करता है। कर्म के त्याग के लिए एवं आत्मत्व की प्रतिष्ठा के लिए कर्मतत्त्व का सामान्य ज्ञान अपेक्षित है। कर्म के साथ आत्मा का स्वरूप संबंध जानना ही होगा। कर्म के तीन अंग हैं—प्रेरक, कारक और फल। ये तीनों ही प्रकृति के ही कर्म हैं और अज्ञान विजृम्भित है। अतः अज्ञान की भूमि से ऊपर नहीं उठ सकते। उत्कर्ष के लिए ज्ञानार्जन का पथ उन्मुक्त कर प्राकृत जगत् से हटना पड़ेगा। इस अवस्था में प्रकृति के रजोगुण और तमोगुण अभिभूत होकर प्रदर्शित कर्माङ्ग और ज्ञानाङ्ग दोनों ही शुद्ध सत्त्वमय हो जायेंगे। यह सत्त्व-सम्पत्ति ही ब्रह्म प्राप्ति है। इसे ब्रह्ममय जीवन कहा जा सकता है। किन्तु इस अभ्युदय पथ पर अग्रसर होने लिए धर्म ही मूल भित्ति है। आचरण अनुष्ठान और कमी कर्म का विषय ही धर्म है। सहसा ब्रह्ममय होना एक श्मशान वैराग्य या किसी जीव का ब्रह्मचर्य-व्रत नहीं है। धर्मों के आचरण से सुनियमित सुसंयत और इच्छाशक्ति दृढ़ हो जाती है। आध्यात्मिक शक्ति शीघ्र ही विकसित होने लगती है। शक्ति के विकास के साथ-साथ इन्द्रियादि करण वर्ग भी परिमार्जित होकर सदाचरण और शक्ति के अवधारण में अधिक योग्य हो जाते हैं। यही मानव के Avolution अर्थात द्रुत परिवर्तन करता है। यह वही अवस्था है यहाँ पाशविकता हटकर मानवता की भूमि प्रशस्त हो जाती है। यही मानवता को भूमि दीप्ति की भूमि में ले जाकर चरम परम चैतन्यलोक में पहुँचा देती। गीता के द्वारा 'सर्वगुह्यतमं ज्ञानं' से यही कहा गया है। इस प्रकार प्रथम सत्त्व विशुद्धि जिसे सात्विक कर्म भी कहा जा सकता है। इसे साधुभाव से सत्भाव, सद्भाब से ब्रह्मभाव और अंत में परमभाव की उपलब्धि होती है। अतः कर्म से ही अकर्म की भूमि प्राप्त हो जाती है। अर्थात् की ही अकर्म हो जाता है। कर्मबंधन के द्वार से दूर हटकर मुक्ति के पथ पर अवतीर्ण होता है। यह कर्म बंधन की सृष्टि न कर ब्रह्मसाधन या ब्रह्मसुख की प्राप्ति का साधन होता है। सम्यक् अनुष्ठान तत्परता ही तो संसिद्धि है। जो अद्वैत ज्ञान के बिना संभव ही नहीं है, यही जीवन की द्रुतपरिणति अर्थात् उत्कर्ष का साधन है। इसीलिए अज्ञान धर्मों के अनुष्ठान की अपेक्षा आत्मधर्म की श्रेष्ठता बताते हुए कहा गया है—'श्रेयान् सधर्मः विगुणः'। उपाधिनिर्मुक्त परमधाम में आध्यात्मिक ज्ञान की विमल ज्योति से प्रकाशित व्यक्ति ही दिव्यलोक की प्राप्ति के अनुरूप दिव्य ज्ञान का अधिकारी होता है। इन सभी कर्म का मूल निरहंकार की प्राप्ति है। ज्ञानी भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर कर्मत्याग नहीं कर पाता है। यह भली-भाँति जानता है कि परिपूर्ण (absolute) आत्मा कर्म के द्वारा ह्रास और वृद्धि को नहीं प्राप्त करता है, ऐसी स्थिति में वह गति में ही अगति का तथा कर्म में ही अकर्म का दर्शन करता है। अर्थात् गति-अगति, कर्म-अकर्म दोनों से अतीत अवस्था, आत्म स्वरूप लाभ की अवस्था सहज निर्वेद की अवस्था है जैसे अविशय शून्य आकाश किसी से लिप्त नहीं होता है वैसे ही अहंकार-शून्य आध्यात्मिक जगत् में विचरण करने वाला तत्त्ववेत्ता "नैव किञ्चित् करोमि' को सहज में ही अवगत कर लेता है

क्योंकि सार्वभौम आत्मा की सुसंगता और पराकाष्ठा से पूर्ण परिचित है। ऐसा सहज रूप से अवगत होता है कि काम-क्रोध से मोक्ष-राग, द्वेष से मोक्ष, रजः-तमः से मोक्ष, जरा-मरण से मोक्ष, सांसारिक भूत प्रकृति से मोक्ष, मोक्ष ही है। किन्तु यह मोक्ष विकास-जन्य चेष्टा और यत्न से साध्य है, किन्तु इस मोक्ष से पुनः निम्नभूमि में आना संभव है। मोक्ष इससे बहुत ऊँचा है। वह कभी भी किसी शक्ति से पराभूत नहीं हो सकता है। क्योंकि यह द्वन्द्व समाहारों से ऊपर की अवस्था है और यह सहज तथा स्वतः सिद्ध है। यह अखण्ड और अद्वय स्वरूप है। स्वरूप स्थिति और संन्यास भी यही है। विभूतियोग के मध्य से विश्वरूप दर्शनरूप महाप्रकाश अभिव्यक्त होता है और इस विश्वरूप दर्शन से संगृहीत निर्वेद, अद्वेष्टृत्व, अमानित्व, आध्यात्मिक ज्ञानपरक हो जाता है। फलतः वह समत्वदर्शन परमदर्शन की दृष्टि से परिपूर्ण रहता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विवेक से गुणातीत अवस्था को प्राप्ति होती है और परम वैराग्य से चित्त परिपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार जीवन की चरम परिणति ससीम जीव, असीम दिव्यरूप में अपने को समझकर ब्रह्मात्मक जगत् को मानकर सकलजनहिताय कर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

आभार प्रदर्शन

ग्रन्थ की भूमिका आदि में जिनकी कृतियों का उपयोग किया गया है उसके लेखकों का सादर आभार वहन करता हूँ। अच्युत ग्रन्थमाला के अनुवाद से विशेष सहायता मिली है, अत: मैं उसका ऋणी हूँ।

निकट भविष्य में ही इसके अन्य भाग भी सहृदय पाठकों की सेवा में क्रमशः उपस्थित हो रहे हैं।

इस तृतीय खण्ड की भूमिका में ग्रन्थ की दार्शनिक समीक्षा एवं क्रमिक सोपान परम्परा के क्रम में विकास भूमि पर अवतीर्ण होने का मार्ग प्रदर्शित किया गया है।

तारा प्रेस के अध्यक्ष भ्रातृकल्प श्री रमाशङ्कर पण्ड्या जी को धन्यवाद देना ही पड़ेगा, क्योंकि ये सदा मेरी प्रेरणा के स्रोत का कार्य करते रहे हैं।

इसके अनुवाद के लिए प्रवृत्ति शुभोदय श्री रविप्रकाश पण्ड्या का एकमात्र आग्रह ही है। इस ग्रन्थ के सम्पादक पुराणेतिहासाचार्य पं० कृपासिन्धु शर्मा, प्राचार्य, ब्रह्मर्षि बलदेव संस्कृत विद्यालय, लक्ष्मीकुण्ड ने अर्थानुसंधानपूर्वक अशुद्ध्यादि परिमार्जन का महनीय कार्य कुशलतापूर्वक किया है। इसके प्रेसकॉपी आदि के निर्माण में तीर्थानन्द मिश्र ने सहायता प्रदान की है। अस्तु मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ एवं साधुवाद देता हूँ। मेरे अनुजकल्प डा० शशिकान्त दीक्षित की पत्नी श्रीमती इन्दुमती दीक्षित ने भी पुनः पुनः प्रेरणा दी कि इसका अनुवाद कर हम लोगों के लिए बोधगम्य करायें। अत: इनको हृदय से आशीर्वचन प्रदान करता हूँ।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती कुसुमलता गोस्वामी एवं पुत्री श्रीमती साधना शर्मा ने मुझे गृहकार्यों से निश्चिन्त कर इस ग्रन्थ के सम्पादन के लिए सहयोग प्रदान किया है, वह इस युग की ललनाओं के द्वारा संभव नहीं है। मेरे लिए एक मात्र हितचिन्तक डॉ० श्री महेन्द्र कुमार शर्मा, श्री शैलेन्द्र कुमार शर्मा तथा भ्रातृ-पुत्र डॉ० राधाकान्त गोस्वामी के उज्ज्वल भविष्य के लिए सतत मंगलकामना के साथ इनको आशीर्वचन प्रदान करता हूँ।

सहृदय विद्वज्जन मेरे दोषों पर दृष्टि न देकर रागद्वेष-वैराग्य के साथ गुणग्राहक दृष्टि से ही अध्ययन करेंगे। मेरे जैसे अज्ञजनों से दोष तो पद-पद पर सम्भावित ही है।

कार्तिक पूर्णिमा
(२०४६)

विदुषां वशंवदः
महाप्रभुलाल गोस्वामी

योगवासिष्ठ-कथासार

उपशम प्रकरण

सृष्टि, पालन और संहार के एकमात्र कारण श्रीहरि ही हैं। मैं अजन्मा भगवान् नारायण की शरण में आया हूँ। 'नमो नारायणाय' यह मन्त्र मेरे हृदय-कोश से दूर नहीं होता। श्रीहरि ही दिशा हैं, हरि ही आकाश हैं; वे ही पृथ्वी हैं और वे ही जगत् हैं; अतः मैं भी अप्रमेयात्मा श्रीहरि ही हूँ। पृथ्वी ये मेरे दोनों पैर हैं, आकाश मेरा यह सिर है, तीनों लोक मेरे शरीर हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ मेरी कुक्षि हैं। मैं नील मेघ के भीतरी भाग की भाँति श्यामकान्ति से सुशोभित, गरुड रूपी पर्वत पर आरूढ़ एवं शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण करने वाला साक्षात् विष्णु हूँ। ये ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि और रुद्र आदि देवता बहुसंख्यक मुखों से निकली हुई अनन्त वाणी द्वारा मुझे सर्वेश्वर विष्णु की ही स्तुति करते हैं। मैं अपराजित विष्णु रूप हो गया हूँ, सब प्रकार के द्वन्द्वों से ऊपर उठकर अपनी सर्वोत्कृष्ट महिमा से सम्पन्न हूँ।

इस प्रकार विचार करके भावना द्वारा अपने शरीर को साक्षात् नारायण का स्वरूप बनाकर प्रह्लाद ने उन असुरारि श्रीहरि की पूजा के लिये फिर चिन्तन आरम्भ किया—मैं भावना-दृष्टि से देख रहा हूँ कि ये भगवान् विष्णु दूसरा शरीर धारण करके मेरे भीतर से बाहर आकर खड़े हैं, गरुड की पीठ पर बैठे हैं। मैं शीघ्र ही भावनाभावित समस्त सामग्रियों से सुशोभित मानसिक पूजा द्वारा इनका पूजन आरम्भ करता हूँ। प्रह्लाद ने विविध पूजा-सामग्रियों के सम्भार से युक्त मन के द्वारा कमलापति माधव का पूजन आरम्भ किया। अपने आपको श्रीहरि के चरणों में भेंट कर दिया। जगत् के सारे वैभवों से भव्य प्रतीत होने वाली पूजन सामग्री एवं उच्च कोटि की भक्ति से प्रह्लाद ने अन्तःपुर में अपने स्वामी भगवान् विष्णु का मानसिक पूजन किया।

प्रह्लाद ने देव-मन्दिर में वैभवों से पूजन के उपचारों द्वारा जनार्दन की पूजा की। देवलोक में यह बात फैल गयी कि सारे दैत्य द्वेष छोड़कर भगवान् विष्णु के भक्त हो गये हैं। आश्चर्य में डूबे हुए देवता स्वर्गलोक से भगवान् श्रीहरि के पास गये। वहाँ बैठे हुए भगवान् से उन्होंने दैत्यों का सारा समाचार कह सुनाया। जो दैत्य सदा ही आपके विरोधी रहे, वे ही आपकी भक्ति में कैसे तन्मय हो गये? प्रह्लाद का अन्तिम जन्म है। वे मोक्ष के अधिकारी हो गये हैं। जैसे भूना हुआ बीज अङ्कुर नहीं उत्पन्न कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्म बन्धनकारक नहीं हो सकते। तब से प्रह्लाद के प्रति देवताओं की मित्रता हो गयी। प्रह्लाद इसी प्रकार प्रतिदिन मन, वाणी और क्रिया द्वारा देवाधिदेव भगवान् जनार्दन की पूजा करने लगे।

भक्तों को आह्लाद प्रदान करनेवाले विष्णु पाताल-मार्ग से प्रह्लाद के उस भवन में पधारे, जिसमें वे अपने इष्टदेव की पूजा किया करते थे। प्रह्लाद ने पहले की अपेक्षा दुगुनी वैभवशालिनी सामग्री से पूजा-विधिद्वारा आदर-सत्कारपूर्वक पूजन किया। प्रह्लाद ने विविध प्रकार से भगवान् की स्तुति की। स्तुति-वचनों द्वारा पूजित असुर-विनाशक तथा नीलकमलदल के समान श्याम भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हो भक्त दैत्यराज प्रह्लाद से बोले—जन्म, मरणरूपी दुःख की निवृत्ति के लिए तुम अपना अभीष्ट वर माँग लो। विभो! आप जिस वस्तु को सबसे श्रेष्ठ समझते हों, वही मुझे देने की कृपा कीजिये। निष्पाप प्रह्लाद! ब्रह्मत्व की प्राप्ति न होने तक तुम सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूप फल के लिये विचार परायण बने रहो। आवागमनरूपी संसार का निवारण करने वाले भगवान् ने मुझे ऐसा उपदेश दिया है कि 'तुम विवेक-विचार-संयुक्त होओ। मैं तो केवल शुद्ध चेतन ही हूँ, जो ममताहीन, मननरूप मन के व्यापार

से शून्य, पाँचों इन्द्रियों के भ्रमों से रहित और माया के सम्बन्ध से हीन है। शङ्ख, चक्र और गदा धारण करने वाला तथा सम्पूर्ण सौभाग्यों की चरम सीमा है, जो इस जगत् का पालन करता है। जो कमलरूपी आसन पर विराजमान होते हैं और निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर परम सुख का अनुभव करते हैं, उन ब्रह्मा के रूप में मैं ही सदा इस जगत् में उत्पन्न होता हूँ। मैं ही त्रिनेत्रधारी शिव होकर प्रलयकाल में इस जगत् का संहार करता हूँ। मैं ही इन्द्ररूप से मन्वन्तर के क्रम से प्राप्त हुई इस सम्पूर्ण त्रिलोकी का पालन करता हूँ। यह जो कुछ स्थावर-जंगमरूप जगत् दृष्टि-गोचर हो रहा है, सम्पूर्ण संकल्पों से रहित वह परम शुद्ध चेतन आत्मरूप मैं ही हूँ।

'ॐ' ही जिस सच्चिदानन्द ब्रह्म का सर्वोत्तम नाम है और जो समस्त विकारों से सर्वथा रहित है, वह परमात्मा ही भूतल के समस्त पदार्थों के रूप में विराजमान है। ज्योतिः स्वरूप वह परमात्मा ही सूर्य आदि के अंदर स्थित होकर अपनी सत्ता-स्फूर्ति से उन्हें प्रकाशित करता है। शत्रुवीरों का संहार करने वाले प्रह्लाद परमात्मा का चिन्तन करते-करते निर्विकल्प परमानन्द स्वरूप परमात्मा में समाधिस्थ हो गये। प्रह्लाद को समाधि से जगाने का प्रयत्न किया, परंतु वे नहीं जगे। तब उस राजारहित नगर में बलवान् दैत्य लुटेरों की तरह स्वेच्छानुसार लूट-पाट करने लगे, जिससे उद्विग्न होकर अन्य दैत्य अपनी अभीष्ट दिशाओं में भाग गये। सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और लक्ष्मी आदि पार्षदों के साथ अपने नगर क्षीरसागर से चल पड़े। वे उसी क्षीरसागर के तले के छिद्र से निकलकर प्रह्लाद के नगर में जा पहुँचे। "साधो! अब उठो, शीघ्र उठो और इस विशाल दैत्य-राज्यलक्ष्मी का तथा अपने स्वरूप का स्मरण करो। अनघ! तुम तो जीवन्मुक्त हो, अतः राज्य शासन करते हुए ही उद्वेगरहित होकर अपने इस शरीर को कल्पान्तपर्यन्त कर्मों में प्रेरित करते रहो। तुम इस शरीर का परित्याग मत करो। ये हम लोग हैं। ये पर्वत हैं। ये प्राणी हैं। यह तुम हो। यह जगत् है। यह आकाश है। ये सभी जब प्रलय पर्यन्त रहने वाले हैं, तब तुम भी इस शरीर को कायम रक्खो।

"असुरेश! इस वर्तमान देह की स्थिरता को लोग जीवन कहते हैं और देहान्तर की प्राप्ति के लिये इसके परित्याग को मरण कहा गया है; किंतु महामते! तुम तो इन दोनों ही जन्म-मरण रूप पक्षों से रहित हो, अतएव इस लोक में वस्तुतः न तो तुम्हारा जन्म है और न मरण ही। तुम्हारी बुद्धि तो सर्वदा एकमात्र परमात्मा में ही लीन रहती है, अतएव तुम चित्प्रकाश से संयुक्त हो। इसीलिये सब कुछ तुम्हीं हो। तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष प्रलय काल में उत्पात सूचक वायुओं के बहने पर, प्रलयाग्नि के धधकने यथा पर्वतों के ढह जाने पर भी नित्य परमात्मा में ही स्थित रहता है। दानवाधीश! उठो और तब तक इस सिंहासन पर बैठे रहो, जब तक मैं शीघ्र स्वयं अपने हाथ से ही तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ। साथ ही पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि सुनकर जो ये साध्य, सिद्ध और देवगण यहाँ आये हुए हैं, ये सब-के-सब तुम्हारी मङ्गल कामना करें। यों कहकर कमलनयन भगवान् नारायण ने प्रह्लाद को सिंहासन पर बैठा दिया।

इस प्रकार क्रमशः चलते हुए वे क्षीरसागर के तट पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देवगणों को बिदा कर दिया और स्वयं शेषशय्या पर स्थित हो गये। इस प्रकार शेषशय्या पर विष्णु, स्वर्गलोक में देवताओं सहित इन्द्र और पाताल में दानवराज प्रह्लाद—तीनों संतापरहित होकर स्थित हुए। श्रीराम! प्रह्लाद की ज्ञान प्राप्ति सम्पूर्ण पापों का विनाश करने वाली तथा अमृत के समान शीतल है। उसका वर्णन मैंने तुम्हें सुना दिया। संसार में जो मनुष्य—चाहे वे घोर-से-घोर पातकी ही क्यों न हों—विवेकपूर्वक उसका विचार करेंगे, वे शीघ्र ही परमपद को प्राप्त हो जायँगे। अज्ञान ही पाप कहलाता है और उस अज्ञान का नाश विवेकपूर्वक विचार करने से होता है; इसलिये पाप का समूल विनाश करने वाले विचार का परित्याग नहीं करना चाहिये।

जिस अनासक्त बुद्धि वाले पुरुष की इष्टानिष्ट कर्मों के ग्रहण-त्याग में अपनी कोई इच्छा नहीं रहती अर्थात् जिसकी इच्छा का सर्वथा अभाव हो गया है, ऐसे पुरुष की स्थिति को तुम जीवन्मुक्त-अवस्था—सदेहमुक्ति

समझो। फिर देह का विनाश होने पर पुनर्जन्म से रहित हुई वही जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति कही गयी है। बीज जमता नहीं है। प्रह्लाद के अन्तःकरण में शुद्ध सत्त्वमयी वासना स्थित थी, वह शङ्ख ध्वनि होते ही उद्‌बुद्ध हो उठी। अपनी उसी वासना से प्रह्लाद को बोध प्राप्त हुआ था। श्रीहरि ही समस्त प्राणियों के आत्मा हैं, इसलिये उनके मन में जैसा संकल्प होता है, वह शीघ्र ही उसी रूप में मूर्त हो जाता है; क्योंकि परमात्मा ही सबके कारण हैं। प्रह्लाद अपने पुरुषार्थ से ही क्यों नहीं प्रबुद्ध हुआ? महामनस्वी प्रह्लाद ने जिन-जिन पदार्थों को प्राप्त किया था, वे सभी उसे अपने पुरुषार्थ से ही मिले थे। उनकी प्राप्ति में दूसरा कोई कारण नहीं है। क्योंकि प्रह्लाद ने परम पुरुषार्थ से जो भक्ति की, उसी से भगवान् ने उनको वर दिया; इसलिये भगवान् का वर मिलना भी अपना पुरुषार्थ ही है। जो विष्णु है, वही सबका आत्मा है और जो सबका आत्मा है, वही विष्णु है। यह संसार रूपी मायाचक्र नित्य भ्रमणशील तथा भ्रान्तिदायक है। चित्त को इस चक्र की महानाभि समझो। जब पुरुष प्रयत्नपूर्वक बुद्धि द्वारा इस चित्त को स्तम्भित कर देता है, तब जिसकी नाभि पकड़ ली गयी है, ऐसा यह मायाचक्र शीघ्र ही आगे बढ़ने से रुक जाता है। यह संसार एक महा भयंकर रोग है। चित्त निरोध ही इस रोग की परमोत्तम औषध है। इस औषध के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्न से उस व्याधि की शान्ति नहीं होती। जैसे घड़े के भीतर घटाकाश रहता है, परन्तु घड़े के नष्ट होने पर घटाकाश नहीं रह जाता, उसी तरह यह संसार चित्त के अंदर ही है, अतः चित्त का नाश होने पर संसार भी विनष्ट हो जाता है। इसलिये निश्चयपूर्वक परम प्रयत्न के साथ मन को अविवेक से हटाकर उसे बलात्कार से शास्त्राध्ययन और सत्पुरुषों के सङ्ग में लगाना चाहिये; क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार होने में शुद्ध आत्मा ही प्रधान कारण है।

यह चित्त विषवृक्ष के समान है, जो चिर काल से शरीर रूपी बुरे गड्ढे में उगा हुआ है। आशाएँ ही इसकी विशाल शाखाएँ और विकल्प ही इसके पत्ते हैं। अनेक प्रकार की चिन्ताएँ ही इसकी लंबी-लंबी मञ्जरियाँ हैं। कामोपभोगों के समूह ही इसमें खिले हुए पुष्प हैं। यह जरा-मरण और व्याधि रूपी फलों के भार से झुका हुआ है। इस पर्वताकार अद्‌भुत वृक्ष को तुम निश्शङ्क होकर हठपूर्वक विवेक-विचार रूपी मजबूत आरे से काट डालो। जब तक इस चित्त रूपी पिशाच को—जो अज्ञान रूपी विशाल वट वृक्षों पर विश्राम करने वाला है, तृष्णा-पिशाची जिसकी परिचर्या करती है और जो चेतनरहित सैकड़ों देहधारण करके अपनी कल्पना रूपी अटवी में चिरकाल से भटक रहा है—विवेक, वैराग्य, गुरु-संनिधि, प्रयत्न और मन्त्र आदि स्वतन्त्र उपायों द्वारा जब तक चेतन जीवात्मा के निवास स्थान रूप अपने हृदय से हटाया नहीं जायेगा, तब तक इस जगत् में आत्मसिद्धि की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

चिन्तापरवश उद्दालक मुनि ने वन में स्थित होकर बारंबार ध्यान का अभ्यास किया, परंतु विषय उनके बंदर के समान चञ्चल चित्त को अपनी ओर खींच ले जाते थे; जिससे प्रसन्नता प्रदान करने वाली समाधि-स्थिरता उन्हें न मिल सकी। उनका मन कभी-कभी विषयासक्त हो जाता था; उस अवस्थ में वह अपने हृदयान्तर्वर्ती तमोगुण का त्याग करके भयभीत पक्षी की भाँति वहाँ से भाग निकलता था। कभी वह बाह्य और आभ्यन्तर विषयों के चिन्तन का परित्याग करके तमोगुण में लीन होकर निद्रारूपी लंबे कालतक रहने वाली स्थिति को प्राप्त हो जाता था। धर्मात्मा उद्दालक बहुत अन्वेषण के पश्चात् प्राप्त हुई गन्धमादन की एक-एक रमणीय गुहा में प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने कोमल पत्तों का एक आसन बनाया, जिसके चारों ओर पुष्पों के गुच्छे शोभा पा रहे थे। उस आसन के ऊपर उन्होंने एक सुन्दर मृगचर्म फैला दिया। तत्पश्चात् शुद्ध अन्तःकरण वाले उद्दालक अपने मन की वृत्तियों को सूक्ष्म बनाते हुए उस आसन पर विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने उत्तराभिमुख होकर दोनों एड़ियों से अण्डकोषों को दबाकर ज्ञानी की भाँति सुदृढ़ पद्मासन लगाया। वे विषयों की ओर दौड़ते हुए अपने मनरूपी मृग को वासनाओं से हटाकर निर्विकल्प समाधि में स्थित थे, इसलिए यों विचार करने लगे—"असतस्वरूप मन! मैं अहंकार और वासनाओं से रहित निर्विकल्प चिन्मय ज्योतिःस्वरूप हूँ और तू अहंकार का बीज स्वरूप है। अतः तुझसे मेरा

कोई सम्बन्ध नहीं है। 'अहं' रूप से कौन स्थित है?—इसका मैंने पैर के अँगूठे से लेकर सिर तक सर्वत्र अन्वेषण किया; किंतु यह 'अहं' नामक पदार्थ मुझे कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इस शरीर में यह मांस है, यह रक्त है, ये हड्डियाँ हैं, ये श्वासवायु हैं, फिर यह 'अहं' रूप से स्थित कौन है? देह में स्पन्दनांश तो प्राणवायुओं का है, चेतनांश परमात्मा का है तथा जरा-मरण शरीर के धर्म हैं; फिर यह 'अहं' क्या वस्तु है? रे चित्त! मांस अहं से पृथक् है, रक्त उससे भिन्न है, हड्डियाँ भी दूसरी हैं, चेतनता उससे अन्य है, स्पन्दन भी उससे अलग है; फिर 'अहं' रूप से स्थित पदार्थ कौन है? यह नासिका है, यह जिह्वा है, यह त्वचा है, ये दोनों कान हैं, यह आँख है और यह स्पन्दन है; फिर 'अहं' रूप से स्थित कौन वस्तु है? परमार्थरूप से विचार करने पर न तो मन अहं है न चित्त अहं है और न वासना ही अहं है। आत्मा तो अहं हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो केवल शुद्ध चेतन प्रकाशस्वरूप है। वस्तुतः तो इस जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है। अथवा विनाशशील असत् होने के कारण कोई भी पदार्थ मेरा स्वरूप नहीं है—यही दृष्टि सच्ची है, इससे भिन्न दूसरा कोई क्रम नहीं है।

यह चेतन आत्मा सर्वव्यापक सच्चिदानन्द स्वरूप है, अतः इसका जन्म अथवा मरण नहीं होता। फिर कैसे इसकी मृत्यु हो सकती है अथवा कैसे किसी के द्वारा यह मारा जा सकता है। इसका जीवन से तो कोई प्रयोजन है नहीं; क्योंकि यह सर्वात्मा ही सबका जीवन है। यदि शुद्ध चेतन आत्मा ही सबका जीवन है तो उसे इस जीवन से कब कौन-सी दूसरी अप्राप्त वस्तु प्राप्त होगी, जिसके लिये उसे जीवन की इच्छा हो? देहरूपी वृक्ष को अपना निवास स्थान बनाकर रहने वाली तृष्णारूपी काली नागिनें हृदय में विवेक विचाररूपी गरुड़ का आगमन होते ही न जाने कहाँ लुप्त हो जाती हैं। जब विश्व असत्य सिद्ध हो जाता है, तब उससे उत्पन्न होने वाला सारा-का-सारा भेद-व्यवहार असत्य हो जाता है। इस प्रकार व्यवहार के असत्य हो जाने पर 'अहं'-'त्वं' का भेद-व्यवहार सत्य कैसे रह सकता है। तरङ्ग की भाँति क्षणभङ्गुर एवं विनाशोन्मुख इस देह में जिनकी आस्था सुदृढ़ हो गयी है, उन दुर्बुद्धियों का परमार्थ से पतन हो जाता है; क्योंकि देह आदि समस्त वस्तुएँ सर्वत्र उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के पश्चात् नहीं रहतीं, केवल मध्य में ही इनका प्राकटच दृष्टिगोचर होता है। इसलिये मैं सबसे उत्कृष्ट, केवल—शुद्धस्वरूप, विक्षेपरहित, शान्तरूप, अंशांशीभाव से रहित, अपने आप में परिपूर्ण, निष्क्रिय एवं इच्छारहित ब्रह्मस्वरूप हूँ। स्वच्छता, प्रभावशालिता, सत्ता, सुहृद्वत्ता, सत्यभाषण, यथार्थज्ञान, आनन्दस्वरूपता, शान्ति, सदा मृदुभाषिता, पूर्णता, उदारता, सत्यस्वरूपता, कान्तिमत्ता, एकाग्रता, सर्वात्मकता, निर्भयता और द्वैत के विकल्प का अभाव—ये सभी गुण मुझ आत्मनिष्ठ के हृदय को अत्यन्त प्रिय लगने वाले हैं। चूँकि सर्वरूप परमात्मा में सभी कुछ सर्वदा एवं सर्वथा सम्भव है, इसलिए सभी विषयों के प्रति मेरी इच्छा-अनिच्छा और सुख-दुःख क्षीण हो गये हैं। अब मेरा मोह विनष्ट हो गया है, मन अमनीभाव को प्राप्त हो गया है और चित्त के संकल्प-विकल्प दूर हो गये हैं; अतः मैं शान्त-स्वरूप परमात्मा में रमण कर रहा हूँ। उद्दालक मुनि अपनी विशाल एवं विशुद्ध बुद्धि से निर्णय करके पद्मासन लगाकर बैठ गये। उस समय उनके नेत्र आधे मुदे हुए थे। "जो ॐकार का उच्चारण करता है, उसे परमपद की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि 'ॐ' यह अक्षर परब्रह्म है।" ऐसा निश्चय करके उन्होंने ॐकार का, जिसकी ध्वनि ऊपर को जा रही थी, उसी प्रकार उच्चस्वर से उच्चारण किया, उनके द्वारा उच्चारित प्रणवध्वनि जब तक ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त व्याप्त नहीं हो गयी और जब तक वे सर्वव्यापक, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा के अभिमुख नहीं हो गये, तब तक 'ॐ' का उच्चारण करते रहे। प्रणव के अकार, उकार, मकार और बिन्दु—इस प्रकार साढ़े तीन अंश हैं। उनमें से प्रथम अंश अकार के उच्चस्वर से उच्चरित होने पर जब शरीर के भीतर शब्द के गूंजने के कारण प्राण पूर्णरूप से क्षुब्ध हो उठे, तब प्राणवायु को छोड़ने के क्रम ने जिसे रेचक कहा जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर को रिक्त कर दिया, जैसे महर्षि अगस्त्य ने सागर के जल को पीकर उसे खाली कर दिया था। तत्पश्चात् प्रणव के द्वितीय अंश 'उकार' के उच्चारण के समय ॐकार की समस्थिति होने पर प्राणों का निश्चल कुम्भक नामक क्रम सम्पन्न हुआ। उस समय प्राण न बाहर थे न भीतर, न अधोभाग में थे न ऊर्ध्वभाग में और न दिशाओं में ही भ्रमण कर रहे थे,

बल्कि भलीभाँति स्तम्भित किये गये जल की तरह पूर्णतः शान्त थे। प्रणव के उपशान्तिप्रद तृतीयांश मकार के उच्चारण-काल में प्राण वायु को भीतर ले जाने के कारण प्राणों का पूरक नामक क्रम घटित हुआ। इस तीसरे क्रम में प्राण जीवात्मा में भावना द्वारा भावित अमृत के मध्य में पहुँचकर हिमस्पर्श के समान सुन्दर शीतलता को प्राप्त हो गये।

अनन्तर पद्मासन से बैठे हुए उद्दालक मुनि ने उस भावनामय शरीर में दृढ़ स्थिति करके आलान में बँधे हुए गजराज की तरह अपनी पाँचों इन्द्रियों को देह में निबद्ध कर दिया। फिर वे निर्विकल्प समाधि के लिये तथा शरत्कालीन निर्मल आकाश की तरह अपने स्वभाव को शुद्ध बनाने के हेतु प्रयत्न करने लगे। जब उद्दालक मुनि को उस समाधि से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो गयी, तब वे दृश्य-प्रपञ्च के विकल्पों से रहित होरक उस नित्य अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्मा में तद्रूप हो गये, जो जगत् का अधिष्ठानभूत, शुद्धस्वरूप एवं महान् है।

दृश्य वस्तु है ही नहीं—इस प्रकार की दृढ़ भावना से चित्त जब सर्वथा क्षीण हो जाता है; तब उस सामान्य स्वरूप चेतन की सब में सामान्यभाव से व्यापक स्वतः सिद्ध सत्ता मात्र ही सत्ता,सामान्य अवस्था होती है। जब चैतन्य समस्त दृश्य पदार्थों से रहित होकर परमात्मा में विलीन हो जाता है, तब उसकी निराकार आकाश की भाँति अत्यन्त निर्मल सत्ता-सामान्यता होती है। जब चैतन्य बाह्य एवं आभ्यन्तरसहित यह जो कुछ है, उस सबका अपलाप करके स्थित होता है, तब उसकी सत्ता-सामान्य अवस्था समझनी चाहिये। जब साधक सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च को अपने वास्तविक स्वरूप से स्वप्रकाशात्मक सत्तासामान्यस्वरूप परमात्मा ही अनुभव करता है, तब उसकी सत्ता, सामान्यतावस्था जाननी चाहिये। संसार से वैराग्य, जप-ध्यान के अभ्यास, सत्-शास्त्रों के विचारपूर्वक अध्ययन, पवित्र और तीक्ष्ण बुद्धि, सद्गुरु के उपदेश और यम-नियमों के पालन से परमात्मा की प्राप्तिरूप विशुद्ध परमपद की प्राप्ति होती है अथवा केवल विशुद्ध और तीक्ष्ण प्रज्ञा से ही परमपद मिल जाता है; क्योंकि जो बुद्धि सम्यक् प्रकार से ज्ञानयुक्त, तीक्ष्ण और दोषरहित है, वह सम्पूर्ण सिद्धान्त के बिना भी यथार्थ ज्ञान द्वारा जीव को अविनाशी परमपद की प्राप्ति करा देती है।

जो इस सत्त्वादि गुणों के समाहाररूप दृश्य जड़ संसार को, अनित्य और मिथ्या की भाँति देखता है, उस पुरुष की जो यह परम शान्तिस्वरूप अन्तःशीतलता है, वही समाधि कहलाती है। मन के रहने पर दृश्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है—ऐसा थिश्चय कर कि जो मनसे रहित होकर परम शान्ति को प्राप्त कर चुका है, ऐसा कोई पुरुष तो व्यवहार में लगा रहता है और कोई ध्यान-समाधि में तल्लीन हो जाता है। यदि उनके अन्तःकरण में परम शान्तिरूप शीतलता है तो वे दोनों ही सुखी हैं; क्योंकि जो अन्तःकरण की शीतलता है, वह अनन्त साधनरूप तपस्याओं का फल है। इसलिये जो ज्ञानी व्यवहार परायण है और जिसने ज्ञान प्राप्त करके वन का आश्रय ले लिया है, वे दोनों ही सर्वथा समान हैं; क्योंकि उन दोनों को ही सम्पूर्ण संदेहों से रहित परम पद की प्राप्ति हो गयी है। चित्त में कर्तापन का अभाव समाधान है और उसी मङ्गलमय परमानन्द-पद को चिन्मयभाव जो मन वासनाओं से रहित हो गया है, वह स्थिर कहा गया है; वही ध्यान समाधि है, वही केवल चिन्मयभाव है और वही अविनाशी परम शान्ति है।

शान्त बुद्धि पुरुष सर्व व्यापक आत्मा का साक्षात्कार करते हुए न तो किसी के लिये शोक करता है और न किसी की चिन्ता ही करता है, वही समाहित कहलाता है। आकाश की तरह निर्मल शास्त्र और शिष्टाचार के अनुकूल बाह्य चेष्टाओं का सम्यक् आचरण सम्पन्न हर्ष, अमर्ष आदि विकारों में काष्ठ और मिट्टी के ढेले के समान विकाररहित एवं शान्त स्वभाव वाला भय से नहीं, बल्कि स्वाभाविक ही समस्त प्राणियों को अपने आत्मा के तुल्य और पराये धन को मिट्टी के ढेले के सदृश देखता है, वही यथार्थ देखता है।

हिमालय के शिखर कैलास के मूल देश में हेम जट नामक किरात निवास करते थे। उनके राजा का नाम सुरघु था। वह बलवान् तथा प्रजापालन में दक्ष था। पराक्रम में तो वह सूर्य तुल्य और बल में साक्षात्

मूर्तिमान् वायु के समान था। उसने सोचा "मैं इन दुःखी प्रजा-जनों को कोल्हू में पेरे जाते हुए तिलों की भाँति क्यों बलपूर्वक पीड़ित करता हूँ ? मेरे समान ही इन सभी प्राणियों को भी तो दुःख होता होगा। अतः अब इन्हें और अधिक दण्ड देना व्यर्थ हैं। मैं इन्हें धन-सम्पत्ति प्रदान करूँगा; क्योंकि मेरी तरह सभी लोग धन से आनन्दित होते हैं अथवा निग्रह का अवसर प्राप्त होने पर उसे भी करूँगा।

किसी समय महर्षि माण्डव्य सम्पूर्ण दिशाओं में भ्रमण करते हुए राजा सुरघु के घर पधारे राजा ने उनका पूजन किया और यों पूछा भगवान् ! आप तो सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता हैं और चिर काल से परम पद में विश्राम भी कर चुके हैं; अतः आप मेरे संशय का निवारण कीजिये। अपने प्रजा जनों पर मेरे द्वारा किये गये निग्रह और अनुग्रह से उत्पन्न हुई चिन्ताएँ मुझे बहुत उत्पीडित कर रही हैं, अतः मुने ! जिस प्रकार मेरी बुद्धि के समान समता का उदय हो और विषमता न आने पाये, कृपापूर्वक वैसा ही प्रयत्न कीजिये। महर्षि बोले—सूर्य की किरणों के स्पर्श से कुहरे का विनाश हो जाता है, वैराग्य, श्रवण-मनन-निदिध्यासन रूप अभ्यासादि निजी प्रयत्न से तथा आत्म स्थिति रूप उपाय से मन की यह कायरता पूर्णतया नष्ट हो जाती है। आत्म विषयक विवेक विचार करने से ही मनके भीतरी संताप का शमन होता है। तुम मन-ही-मन विचार करो—ये जो पुत्र, मित्र आदि अपने सम्बन्धी हैं तथा अपने शरीर में रहने वाली इन्द्रियाँ हैं, वे तत्त्वतः कौन हैं और कैसी हैं ? मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ? यह दृश्य जगत् क्या है ? प्राणियों के जन्म-मरण कैसे होते हैं ? यों हृदय में विचार करने से तुम्हें परमोत्कृष्ट महत्ता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार जब परमात्म-तत्त्व का यथार्थ अनुभव कर लेने पर तुम संतुष्ट हो जाओगे। सर्वात्मिका बुद्धि से सब देश में, सब काल में, सभी प्रकारों से सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च का परित्याग कर देता है, उसे सर्वरूप परमात्मा अपने-आप उपलब्ध हो जाते हैं; किंतु जब तक सम्पूर्ण दृश्यों का पूर्णतया त्याग नहीं हो जाता, तब तक परमात्मा का साक्षात्कार होना दुर्लभ है। इसलिये अपने आत्मा का साक्षात्कार करने के लिये सभी विषयों का परित्याग कर देना चाहिये; क्योंकि सब कुछ त्याग देने पर अन्त में जो दृष्टिगोचर होता है, वही परम पद है।

महर्षि माण्डव्य राजा सुरघु को यों उपदेश देकर चले गये। उनके चले जाने पर राजा सुरघु विचार करने लगा—'वस्तुतः स्वयं मैं कौन हूँ ? मैं मेरु पर्वत तो हूँ नहीं और न मेरु गिरि मेरा है। न तो मैं जगत् हूँ और न जगत् मेरा है। मैं पर्वत भी नहीं हूँ, मैं न पृथ्वी और न पृथ्वी मेरी है। यह किरात-मण्डल भी मेरा नहीं है केवल अपने संकेत से ही यह देश मेरा कहा जाता है। लो, मैंने इस संकेत को छोड़ दिया; अतः न तो मैं देश हूँ और न यह देश मेरा है। इस देह में यावन्मात्र जड पदार्थ हैं, वे मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं तो चेतन हूँ। मैं भोग नहीं हूँ और न मैं ही ज्ञानेन्द्रियाँ हूँ; क्योंकि वे जड़ और असत्स्वरूपा हैं। मैं तो सम्पूर्ण विकल्पों से रहित विशुद्ध साक्षी स्वरूप चेतन आत्मा हूँ। जिसकी प्राप्ति के लिये मैं चिर काल से प्रयत्नशील था, उस आत्मा की उपलब्धि तो मुझे आज ही हुई है। जिस विशुद्ध आत्मा का कहीं अन्त नहीं है, वह तत्पदबोध्य असीम आत्मा ही मैं हूँ। वह चेतन आत्मा निर्मल, विषय-दोषों से शून्य, सम्पूर्ण दिङ्मण्डल को परिपूर्ण करने वाला सर्वव्यापक, सूक्ष्म, उत्पत्ति-विनाश-रहित, समस्त आकारों से परे एवं सर्वदा सर्वभाव को प्राप्त है।

गाधिनन्दन विश्वामित्र ने अपने तपोबल से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था, उसी तरह हेमजट नामक किरातों के राजा सुरघु ने निश्चयात्मक ज्ञान के बल से परम पद प्राप्त कर लिया। तभी से राजा सुरघु चिन्ता ज्वर से मुक्त हो गया। वह सर्वदा निग्रह-अनुग्रह रूपी अपने राजोचित कार्यों में अटल बना रहता था।

परिधि नाम का पारसी देश का राजा था वह किरातराज सुरघु का परम मित्र था। राजा परिध के राज्य में महान् अवर्षण हुआ, उस समय बहुत सी जनता भूख गतप्राण होकर विनष्ट हो गयी, प्रजा के उस कष्ट को देखकर राजा परिध को अपार विषाद हुआ। उसने प्रजाजनों को विनाश से बचाने के लिये अनेकों यत्न किये, किंतु वे सब निष्फल सिद्ध हुए। तब उसे राज्य से वैराग्य हो गया। उसने राज्य

का परित्याग कर दिया और मृगचर्मधारी मुनियों की तरह तपस्या करने के लिये जंगल की राह लीं। उसने अपने मन इन्द्रियों का भी दमन कर लिया था; अतः वह वहाँ एक पर्वत की कन्दरा में आसन लगा कर तपस्या में निरत हो गया। उस समय स्वयं सूख कर गिरे हुए पत्ते ही उसके आहार थे। इस प्रकार चिर काल तक वह अग्नि की भाँति सूखे पत्तों को ही भक्षण करता रहा, जिससे तपस्वियों के मध्य में वह 'पर्णाद' नाम से विख्यात हुआ। तभी से वह परिघ जम्बूद्वीप में मुनियों के आश्रमों में राजर्षि श्रेष्ठ पर्णाद के नाम से प्रसिद्ध हो गया। घोर तपस्या और अभ्यास के द्वारा परमात्मा की कृपा से उसे आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई। वह सुख दुःखादि द्वन्दों से परे हो गया। उसकी विषय वासनाएँ नष्ट हो गयीं। उसका मन विक्षेप शून्य और शान्त हो गया तथा वह विषयों की आसक्तियों और आक्षेपों से रहित हो गया। इस प्रकार जीवन्मुक्त होकर वह तत्त्वज्ञानियों तथा तत्त्वजिज्ञासु मुनियों के साथ स्वेच्छानुकूल विरचण करते हुए जीवन्मुक्त मित्र सुरघु के महल में आया। उसने कहा—तुम्हारे दर्शन से आज मेरा चित्त परमानन्द से परिपूर्ण हो गया है। प्रसन्नता एवं गम्भीरतापूर्ण समदृष्टि से जनता के कल्याणार्थ कर्तव्य कर्मों को करते हो न ? तुम्हारे देश में निवास करने वाली जनता शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं से रहित, धैर्य-सम्पन्न और धन्य-धान्य से परिपूर्ण है न ? उसे कोई चिन्ता तो नहीं सताती ? क्या उत्तम फल प्रदान करने वाली एवं अनेक विध फलों के भार से नम्र हुई कल्पलता की भाँति तुम्हारे राज्य की भूमि प्रजाजनों का उनके अभिलषित पदार्थों की पूर्ति द्वारा सदा-सर्वदा पोषण करती है ? इस नियति की गति सर्प की चाल की तरह बड़ी टेढ़ी है। उसने ही आपको और मुझे चिरकाल तक दूर हटाकर आज पुनः मिला दिया है। अहो ! उस नियति के लिये क्या असाध्य है ? आज आपके शुभागमन-जनित पुण्य के संस्पर्श से हम सब तरह से कल्याण के भागी और परम पावन हो गये। जिसका अन्तःकरण चञ्चल होने के कारण विश्राम को नहीं प्राप्त हुआ है, वह चाहे पद्मासन बाँधे चाहे परब्रह्म को अञ्जलि समर्पित करे, उसकी कोई समाधि कैसे लग सकती है। मौन होकर बैठे रहना ही समाधि थोड़े ही है। समाधि तो परमात्मतत्त्व के उस यथार्थ ज्ञान को कहते हैं, जो सम्पूर्ण आशारूपी घास-फूस को भस्म करने के लिये अग्नि स्वरूप है। परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी तीक्ष्ण और अचल परा प्रज्ञा को ही समाधि कहते हैं, जो एकाग्र, सदा-सर्वदा तृप्त और सत्य अर्थ को ग्रहण करने वाली है। जो प्रज्ञा क्षोभरहित, अहंकारशून्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से पृथक् रहने वाली तथा मेरु से भी बढ़कर स्थिरता युक्त है, उसे समाधि कहते हैं। जो मनः स्थिति चिन्ता शून्य, अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त करने वाली, ग्रहणोपादान से रहित तथा सच्चिदानन्द परमात्म भाव से परिपूर्ण है, उसके लिये समाधि शब्द का व्यवहार किया जाता है। जब मन तत्त्व ज्ञान के साथ सदा के लिये अत्यन्त सम्बद्ध हो जाता है, तबसे ज्ञानी महात्मा की समाधि सदा बनी रहती है, उसका कभी विच्छेद नहीं होता।

परिघ ने कहा—तुम्हें परमात्मा के यथार्थ रूप का ज्ञान प्राप्त हो गया है और उस सच्चिदानन्द घन परब्रह्मरूप परम पद की प्राप्ति भी हो चुकी है। इसीलिए तुम्हारा अन्तःकरण परम शान्ति रूप शीतलता से युक्त हो गया है, जिससे तुम अपनी उत्तम बुद्धि से सार-असार का निर्णय करके उसके झमेले से पार हो गये हो तथा तुम्हें इसका भी ज्ञान हो चुका है कि यह जो कुछ दृश्य प्रपञ्च है, वह सारा-का-सारा अखण्ड परब्रह्म परमात्मा ही है। सुरघु बोला-संसार में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जिसे ग्रहण करने के लिए हमारे मन में अभिलाषा हो; क्योंकि यह जितना दृश्य प्रपञ्च है, यह सभी मिथ्या है। त्रिलोकी में जो ये स्त्रियाँ, पर्वत, समुद्र, वनश्रेणियाँ आदि पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये सभी वास्तविकता से शून्य हैं; क्योंकि वास्तव में उन्होंने एक-दूसरे का आदर-सत्कार किया और फिर वे अपने-अपने कार्य में तत्पर होकर अभीष्ट स्थानों को चले गये। ज्ञानी जब चेतन परमात्मा के देदीप्यमान प्रकाश का उदय होता हैं, तब अज्ञानरूपी रात्रि विनष्ट हो जाती है और ज्ञानी की परमान्द को प्राप्त हुई बुद्धि प्रकाशित हो उठती है। वे ही मित्र सच्चे मित्र हैं, वे ही शास्त्र सत्-शास्त्र हैं और वे ही दिन शुभ दिन हैं, जिनके सहयोग से वैराग्यरूपी उल्लास से युक्त परमात्मा विषयक चित्त का अभ्युदय स्पष्टरूव से सिद्ध होता है।

जिसके पाप क्षीण नहीं हुए हैं और जो परमात्मा की प्राप्ति की उपेक्षा करते हैं, वे जन्मरूपी जंगल के गुल्म हैं, दीन हैं और उन्हें चिरकालतक दु:खों के लिये शोक करना पड़ता है ।

जीवात्मा एक बैल के समान है। बुढ़ापे ने इसके शरीर को जर्जरित कर दिया है। यह आशारूपी सैकड़ों पाशों से जकड़ा हुआ है, फिर भी भोगरूपी घास के लिए इसके मन में उत्कृष्ट लालसा भरी है। यह अपनी पीठ पर दु:ख का भारी बोझ लिए हुए जन्म रूपी जंगल में भटक रहा है और सारे शरीर में कुकर्म रूपी कीचड़ लपेटे हुए मोह-जलाशय में लोट रहा है। राग की दन्त पंक्तियाँ इसे चबाये डालती हैं और तृष्णारूपी नाथ से यह खींचा जा रहा है। मन रूपी वणिक् ने इस पर अधिकार जमा रखा है। यह बन्धु-ममतारूपी बन्धन में बँधा होने के कारण चलने-फिरने में असमर्थ हो गया है। पुत्र-कलत्र की ममताजनित जीर्णतारूपी दलदल में यह बुरी तरह फँस गया है। लंबे रास्ते पर चलने के कारण इसका मन टूट गया है और विश्राम न मिलने से यह थक गया है, यह संसार रूपी अरण्य में चक्कर काट रहा है, फिर भी परम शान्ति रूप शीतल छाया इसे नसीब नहीं हुई। बाह्य इन्द्रियाँ इसे आक्रान्त किये हुए हैं, जिससे ऊपर से तो इसका आकार सुन्दर है किन्तु अन्त:करण दीन हो गया है। इसके गले में लटकते हुए कर्मरूपी घंटे का शब्द हो रहा है। यह जन्म-मरण रूपी गाड़ी के बोझ से लदा हुआ अज्ञान के विकट वन में लोट रहा है। अनर्थों में ही सदा निमग्न रहने से दु:खी, दीन और शिथिल अङ्गवाला यह कर्मों के भारी भार से पीड़ित होकर करुण-क्रन्दन कर रहा है। अत: चिरकाल तक उत्तम यत्न का आश्रय लेकर परमात्म-विषयक ज्ञानरूपी बल के सहारे इसका संसाररूपी जलाशय से उद्धार करना चाहिये। परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार होने से जब चित्त विनष्ट हो जाता है, तब जीवात्मा पुन: संसार में कभी जन्म नहीं लेता। 'यह मेरा है, यह मैं हूँ' इस प्रकार के अभिमान को त्याग कर मन से ही विवेकपूर्वक विचार द्वारा संकल्पात्मक मन का छेदन करके यदि परमात्मा का साक्षात्कार न किया जाय तो चित्रलिखित सूर्य के सदृश मिथ्या होते हुए भी इस जगद्-दु:ख का कभी नाश नहीं होता।

शरीर—क्षेत्र और शरीरी—क्षेत्रज्ञ आत्मा का जो विभाग है अर्थात् शरीर जड है और आत्मा चेतन है—ऐसे अनुभव के अभाव में केवल देह ही आत्मा है, ऐसी भावना से उत्पन्न देहाभिमान ही सङ्ग है और वही बन्धन का हेतु कहा जाता है तथा देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न होने के कारण आत्मा का स्वरूप अनन्त है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण संसार परमात्मा का संकल्प होने के कारण परमात्मा का स्वरूप है, तब फिर मैं उसमें से किसकी चाह करूँ और किसको त्याग दूँ—इस प्रकार की धारणा से उत्पन्न होने वाली जीवन्मुक्त की अवस्था को तुम असङ्ग स्थिति समझो। न तो मैं ही हूँ और न दूसरा ही कुछ है; अत: विषयों से उत्पन्न सुख हों अथवा न हों—ऐसा निश्चय करके जिसका अन्त:करण अहंता, ममता और आसक्ति से रहित हो गया है, वह मनुष्य मुक्ति का अधिकारी कहलाता है। जो निष्कर्म भाव की प्रशंसा नहीं करता, किसी भी कर्म में आसक्त नहीं होता, सबमें समभाव रखता है और कर्म फलों की इच्छा से रहित है, वही पुरुष असंसक्त कहा जाता है। केवल परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थिति वाले जिस महात्मा का मन हर्ष, शोक और ईर्ष्या के वशीभूत नहीं होता, वही असक्त है और उसकी 'जीवन्मुक्त' संज्ञा होती है। जो मनुष्य सम्पूर्ण कर्मों और उनके फल आदि का कर्म से नहीं, अपितु केवल मन से भली-भाँति त्याग कर देता है, वर असंसक्त कहलाता है। यह आसक्ति दो प्रकार की कही गयी है—एक वन्द्या अर्थात् प्रशस्त और दूसरी वन्ध्या अर्थात् पुरुषार्थ फल से शून्य। इनमें तत्त्वज्ञ महात्माओं की अपने स्वरूप में आसक्ति वन्द्या है और वन्ध्या आसक्ति सर्वत्र अज्ञानियों की है। जो आसक्ति आत्मतत्त्व के ज्ञान से शून्य, देह आदि असत्य वस्तुओं से उत्पन्न और बारंबार संसार में सुदृढ़ रूप से स्थित है, वह वन्ध्या कही जाती है तथा जो आसक्ति आत्म-तत्त्व के ज्ञानद्वारा यथार्थ विवेक से उत्पन्न हुई है और पुनर्जन्म का कारण नहीं है, उसे लोग वन्द्या कहते हैं। वन्ध्या आसक्ति के वशीभूत होने से मन विषय भोगों में व्यर्थ ही रमणीयता की कल्पना करके उन पर उसी प्रकार टूट

पड़ता है। वन्ध्या आसक्ति के प्रभाव से ब्रह्माण्डरूपी गूलर के फल के अंदर मच्छर की तरह स्फुरित होते हुए देवता स्वर्गलोक में, मनुष्य मृत्युलोक में और नाग तथा असुर पाताल में स्थित हैं।

शून्य आकाश में केवल मन की आसक्ति रूपी रंग से संकल्पपूर्वक जो यह जगद्रूपी चित्र बनाया गया है, वह कभी-भी सत्य नहीं हो सकता। इस संसार में आसक्ति पूर्ण मन से व्यवहार करने वाले मनुष्यों के शरीरों को तृष्णा क्षीण करती रहती है, जैसे विषयासक्त चित्त वाला मनुष्य दुःखों के कारण सूख जाता है। इस भूतल पर यह जो कुछ दुःख समूह दृष्टिगोचर हो रहा है, उस सबकी कल्पना विषयासक्त चित्तवाले मनुष्यों के लिये ही हुई है। जो मन आसक्ति शून्य, सब ओर से शान्त, आकाश के समान निर्मल रूप से स्थित और असत्-सा प्रतीत होते हुए भी सत्रूप से भासमान हो रहा है, वह साधक के लिये सुख का ही हेतु होता है।

कल्याणकामी विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह सर्वत्र स्थित रहते हुए, सबके साथ रहते हुए और सभी न्याययुक्त कर्मों में लगे हुए भी सदा-सर्वदा अपने मन को अनासक्त और सम बनाये रक्खे। उसे चेष्टाओं में, किसी प्रकार की चिन्ताओं में, पदार्थों में, आकाश में, नीचे पाताल में, ऊपर पृथ्वी में, दसो दिशाओं में, लताओं में, बाहर के विशाल विनयभोगों में, इन्द्रिय-वृत्तियों में, अन्तःकरण में, प्राण, मूर्धा और तालु में, भ्रूमध्य में, नासिका के अग्रभाग में, मुख में, दक्षिण नेत्र की कनीनिका में, अन्धकार में, प्रकाश में, इस हृदय रूपी आकाश में, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओं में, शुद्ध सत्त्वगुण में, तमोगुण में, रजोगुण में, त्रिगुणमय पदार्थ-विशेष में, चल-अचल पदार्थों में, सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में, दूर में, समीप में, सामने, नामरूपात्मक किसी पदार्थ में, अपने आत्मा में, शब्द-स्पर्श रूप आदि विषयों में, अज्ञानजनित आनन्द की वृत्तियों में, गमनागमन की चेष्टाओं में और घड़ी, दिन, मास, संवत्, युग आदि काल की कल्पनाओं में आसक्त नहीं करना चाहिये। सर्वत्र दृश्य पदार्थों में अनासक्त होकर जड दृश्य जगत् के आश्रयभूत नित्य विज्ञानानन्दमन परमात्मा में विश्राम करके परमात्मा में ही अमृतमय रस से युक्त मन वाला होकर स्थित रहना चाहिए। इस प्रकार उस परमात्मा में स्थित हुआ जीवात्मा सम्पूर्ण आसक्तियों से रहित होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। फिर तो वह इन समस्त व्यवहारों को करे अथवा न करे; क्योंकि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। जैसे आकाश का मेघों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता, उसी तरह अपने परमात्म स्वरूप में रत हुआ जीवात्मा क्रियाओं को करता हुआ अथवा न करता हुआ भी क्रियाजनित फलों के साथ तनिक भी सम्बद्ध नहीं होता है। और शान्त चैतन्य-घन जीवात्मा को चाहिये कि वह दृश्य संसार के सम्बन्ध का भी परित्याग कर शान्त होकर परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहे। जिसने अपने स्वरूप में विश्राम को प्राप्त कर लिया है, जिसका अन्तःकरण आत्मसाक्षात्कार से सम्पन्न है और जिसकी कर्म तथा उसके फलों में तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है, ऐसा जीवात्मा कर्म करते हुए भी आसक्ति से रहित होने के कारण कर्मजनित फलों से सम्बद्ध नहीं होता।

इस संसार में देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से शून्य एक विशुद्ध चेतन आत्मा ही है; उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। सर्वत्र व्यापक चेतन 'आत्मा' यह नाम केवल व्यवहार के लिये ही कल्पित है, वास्तव में नाम-रूप आदि भेद तो इस चेतन से अत्यन्त दूर ही हैं, अर्थात् यह चेतन आत्मा नाम-रूप आदि उपाधि से रहित है। यह सब जगत् आत्म स्वरूप ही है, उससे भिन्न पृथ्वी, जल आदि कुछ भी नहीं हैं। जैसे छाया और धूप का तथा प्रकाश और अन्धकार का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही शरीर और आत्मा का भी परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। देह और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध-भ्रम भी आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से विनष्ट हो जाता है। वह चेतन आत्मा शुद्ध, अविनाशी, स्वप्रकाश एवं सम्पूर्ण विकारों से रहित है और देह विनाशशील, अनित्य और मल रूप विकार से युक्त है। तुम देह के उत्पन्न होने पर उत्पन्न नहीं होते और देह के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होते; क्योंकि अपने स्वरूप में तुम विकार-रहित और विशुद्ध हुए नित्य स्थित हो। इस विनाशशील देह के नष्ट हो

जाने पर शुद्ध आत्मा का नाश नहीं होता; इसलिये जो देह का विनाश हो जाने पर 'मैं नष्ट हो जाता हूँ' इस प्रकार की भावना से दु:खी होता है, उस अन्धबुद्धि को धिक्कार है।

अहं, भूत आदि तथा तीनों कालों में उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ दृश्य और दर्शन के सम्बन्धों से दिखायी देने वाली मन की कल्पना ही है। इसलिये आत्म साक्षात्कार रूप दृश्य-दर्शन से रहित सुखानुभूति का अवलम्बन करने से संसार का अभाव हो जाता है, आत्म स्वरूप को आवृत करने वाली दृष्टि का विच्छेद हो जाता है और यथार्थ आत्मानुभव प्रकाशित हो जाता है। उसी का अवलम्बन करने पर तुर्यावस्था प्राप्त हो जाती है और उसी के अवलम्बन से मुक्ति हो जाती है। अब मैं तुमसे दूसरी दृष्टि का वर्णन करता हूँ; उसे तुम सुनो। मैं ही आकाश हूँ, मैं ही आदित्य हूँ, मैं ही दिशाएँ हूँ, मैं ही अध: हूँ, मैं ही ऊर्ध्व हूँ, मैं ही दैत्य हूँ, मैं ही देव हूँ, मैं ही लोक हूँ, मैं ही चन्द्रमा आदि की प्रभा हूँ, मैं ही अन्धकार हूँ, मैं ही मेघ हूँ, मैं ही पृथ्वी हूँ, मैं ही समुद्र आदि हूँ एवं रेणु, वायु, अग्नि और यह सारा जगत् भी मैं ही हूँ; तीनों लोकों में सब जगह जो परमात्मा स्थित है, वह मैं ही हूँ। उस सर्वरूप परमात्मा से भिन्न परिच्छिन्न मैं कौन हूँ ? मैं कभी परिच्छिन्न नहीं हो सकता। देह आदि भी मुझसे भिन्न क्या हैं ? एक अद्वितीय वस्तु परमात्मा में द्वैत कैसे हो सकता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत् के आत्म रूप से स्थित हो जाने पर कौन अपना और कौन पराया रहेगा ? तत्त्वज्ञ से भिन्न ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो उसे यदि प्राप्त हो जाय तो वह हर्ष और विषाद से ग्रस्त हो ? यदि उसको ऐसी वस्तु के आ जाने से विषाद दिखायी पड़े तो वह तत्त्वज्ञ ही नहीं है, किंतु मूढ़ ही है; क्योंकि ऐसा पुरुष जगन्मय ही होता है, सच्चिदानन्दमय नहीं।

दो प्रकार की अहंकार-दृष्टियाँ सात्त्विक और अत्यन्त निर्मल हैं। उनकी तत्त्वज्ञान से उत्पत्ति होती है। वे मोक्ष प्रदान करने वाली और परमार्थस्वरूपा हैं। मैं सबसे परे, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और विनाशशील सम्पूर्ण पदार्थों से अतीत हूँ—यह पहली अहंकार-दृष्टि है तथा जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ— यह पहली अहंकार-दृष्टि है। इन दोनों से भिन्न तीसरी अहंकार-दृष्टि यह है—देह मैं हूँ। इस दृष्टि को तुम केवल दु:खदायिनी ही जानो, यह कभी शान्तिदायिनी नहीं होती। अब तुम इन तीनों ही अहंकारों को छोड़ कर सबके शेष में रहने वाले अहं-भावना शून्य पूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप का अवलम्बन करके उसी अवलम्बन योग्य परम तत्त्व में निरत स्थित रहो; क्योंकि इस मिथ्या जगत् में परिपूर्ण और सर्व प्रकाशक आत्मा वास्तव में अखिल प्रपञ्च स्वरूप से मुक्त और समस्त पदार्थों की सत्ता से अतीत ही है।

वास्तव में बर्फ और शुक्लता में परस्पर पार्थक्य नहीं है, उसी प्रकार चित्त और अहंकार की पृथक् कल्पना व्यर्थ ही की जाती है; वास्तव में उनका परस्पर कोई भेद नहीं है। ज्ञान से वासना समूल (अविद्या सहित) नष्ट हो जाती है और परमात्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। अविद्या का अस्तित्व किसी प्रकार नहीं है—इस तरह शास्त्र और युक्ति से दृढ़ निश्चय हो जाने पर अविद्या का तत्क्षण विनाश हो जाता है।

मनुष्य को न राज्य से, न स्वर्ग से, न चन्द्रमा से, न वसन्त से और न कान्ता के कमनीय संसर्ग से ही वैसे उत्तम सुख-शान्ति प्राप्त होते हैं, जैसे आशा त्याग से; क्योंकि आशा का त्याग ही सबसे बढ़-चढ़ कर सुख-शान्ति है। जिस परम निर्वाण रूप मोक्ष के लिये तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ तिनके की तरह कुछ भी काम नहीं देतीं, वह आशा के त्याग से ही प्राप्त होता है। जिसके हृदय में आशा अपना स्थान कभी नहीं जमा सकती, सम्पूर्ण त्रिभुवन को तृण के सदृश समझने वाले उस विरक्त पुरुष की उपमा किससे दी जा सकती है ? यह सम्पूर्ण जगत् परमात्म स्वरूप ही है, यहाँ नाना रूपता है ही नहीं। जगत् को अद्वितीय परमानन्द स्वरूप जानकर धीर महात्मा तनिक भी खिन्न नहीं होते। इन पदार्थों के समूहों का जो यथार्थ--आत्मा से अभिन्न स्वरूप है, उसको जानने से ही पुरुष बुद्धि के परम विश्राम स्वरूप नैराश्य को प्राप्त होता है। जैसे वीर केसरी के पास से मृगी दूर भाग जाती है, उसी प्रकार तीव्र वैराग्य से वीरता को प्राप्त अन्तःकरण से युक्त पुरुष के पास से यह संसार को मोहित करने वाली माया दूर भाग जाती है— फिर उसके पास भी नहीं फटकती।

तत्त्ववेत्ता पुरुष रूप-लावण्य युक्त कामिनी को भी चित्र में लिखित कान्ता की प्रतिमा की तरह ही समझते हैं; क्योंकि जैसे चित्र में चित्रित कामिनी के केश, ओष्ठ आदि अवयव मषी, कुङ्कुम आदि रंग स्वरूप पाँच भूतों को छोड़कर और कुछ भी नहीं होते, उसी प्रकार रूप और लावण्य युक्त जीवित कामिनी के केश, ओष्ठ आदि भी पाँच भूतों के स्वरूप से अतिरिक्त दूसरे कुछ नहीं हैं। इसलिये कान्ता-प्रतिमा और जीवित कान्ता में तत्त्वतः समानता है—इस तत्त्व को जानने वाले विवेकशील विरक्त महात्मा पुरुष का जीवित कान्ता के उपभोग में आग्रह कैसे हो सकता है। जैसे पर-पुरुष में व्यसन (आसक्ति) रखने वाली नारी, घर के काम-काज में व्यग्र रहने पर भी उसी पर-पुरुष-सम्बन्ध रूप रसायन का अपने अंदर आस्वाद लेती रहती है, उसी प्रकार व्यवहार करते हुए भी विशुद्ध परब्रह्म तत्त्व में उत्तम विश्राम को प्राप्त धीर तत्त्वज्ञ पुरुष उस विज्ञानानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में ही मग्न रहता है।

वसिष्ठ जी कहते हैं—राजा जनक सम्पूर्ण चिन्ता रूप ज्वर से तथा अन्तःकरण की व्याकुलता से रहित सदा स्थित रहते हैं। आपके पितामह महाराज दिलीप ने अनेक तरह के उचित सांसारिक कर्मों को सुचारु रूप से करते हुए भी आसक्ति से रहित होकर ही दीर्घ काल तक पृथ्वी का पालन किया। तथा राग आदि दोषों से रहित होने के कारण आत्मज्ञान को प्राप्त तथा सदा जीवन्मुक्त-स्वरूप महाराज मनु ने चिर काल तक प्रजाओं का संरक्षण करते हुए राज्य का पालन किया। विचित्र सैन्य और बाहुबल के प्रयोग से युक्त युद्धों तथा अनेक व्यवहारों को निष्काम भाव से दीर्घ काल तक करते हुए महाराज मान्धाता परम पद को प्राप्त हुए। पाताल के राज्य सिंहासन पर आसीन, सदा त्यागी, सदा अनासक्त राजा बलि यथार्थ रूप से व्यवहार को करते हुए भी जीवन्मुक्त रूप से स्थित हैं। इन्द्र के युद्ध में अपने शरीर का परित्याग करने वाले विशाल-हृदय मानी वृत्रासुर ने प्रशान्त मन होकर ही देवताओं के साथ युद्ध किया। पाताल तक का परिपालन करते समय दानवोचित्त कर्मों का अनासक्त भाव से अनुष्ठान करते हुए भक्त प्रवर प्रह्लाद अविनाशी अनिर्वचनीय परमानन्द स्वरूप परम पद को प्राप्त हुए। समस्त देवताओं के मुख स्वरूप अग्नि क्रिया समूह में तत्पर होते हुए यज्ञिय शोभा का चिर काल तक उपभोग करते हैं तथापि वे मुक्त होकर ही इस त्रिभुवन में निवास करते हैं। जगत् के प्राणि-समूहों के अङ्गों का चिर काल से संचरण कराते हुए भी वायु, जो सदा-सर्वदा सर्वत्र संचरण करने वाले हैं, मुक्त ही स्थित हैं। सूर्य दिवस परम्पराओं का निर्माण करते हैं और यमराज धर्माधर्म-विचारपूर्वक लोगों का नियमन करते हैं। इन पूर्वोक्त महानुभावों के सिवा दूसरे भी सैकड़ों महात्मा यक्ष, राक्षस, मनुष्य और देवता इस त्रिभुवन में मुक्त स्वरूप हुए ही संसार में अनासक्त भाव से विचरण करते हैं। विचित्र आचार-व्यवहारों में स्थित कितने ही पुरुष भीतर शान्ति से युक्त हैं, जब कि कुछ तामसी मूढ़ पुरुष तो मोह में मग्न हुए पत्थर के सदृश बने रहते हैं। कुछ महात्माओं ने परम ज्ञान का सम्पादन करके तपोवन का आश्रय लिया। कुछ तत्त्वज्ञ आकाश में ग्रह, नक्षत्र आदि के आधार भूत ज्योतिश्चक्र के मध्य में स्थित हैं—जैसे बृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सप्तर्षि आदि। तिर्यक् योनियों में भी सदा से कृतबुद्धि महात्मा रहते हैं और देवयोनियों में भी मूर्ख बुद्धि वाले लोग विद्यमान हैं। जिसका अत्यन्त व्यापक स्वरूप है, उस सर्व स्वरूप परमात्मा में सब कुछ सर्व भाव से सर्वत्र सब प्रकार से सदा ही सम्भव है।

यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, अविवेक से स्थिरता को प्राप्त होता है और परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से निश्चय ही न होना ही संसार की स्थिति में कारण है और परमात्मा का यथार्थ ज्ञान ही उस संसार के विनाश में कारण है। यह संसार-सागर ऐसा घोर है कि इससे पार हो जाना अत्यन्त दुष्कर है; युक्ति और प्रयत्न के बिना इसका तरण नहीं किया जा सकता। यह संसाररूपी सागर है इसमें मुग्ध अङ्गनारूपी विस्तृत तरङ्गें हैं। ये स्त्रीरूपी ओठों की शोभारूप पद्मराग मणियों से युक्त, नेत्ररूपी नील-कमलों से परिपूर्ण, स्मितरूपी फेनों से सुशोभित, दाँतरूपी प्रफुल्लित पुष्पों से अलंकृत, केशरूपी इन्द्रनीलमणियों से सुसज्जित, भौंहों के विलासरूपी वायु से आन्दोलित,

नितम्बरूपी पुलिनों से युक्त, कण्ठरूपी शङ्खों से विभूषित, ललाटरूपी मणिसमूहों से सुशोभित, विलासरूपी ग्राहों से संकुल, कटाक्षों की चपलता के कारण अति गहन तथा देहकान्तिरूपी सुवर्ण-वालुका से युक्त हैं। इस प्रकार की अति चञ्चल लहरियों के कारण जो अत्यन्त भयंकर है—ऐसे सागर में निमग्न हुआ पुरुष यदि पार हो जाय तो वह परम पुरुषार्थ ही है। यदि विवेकरूपी नाविक के रहते हुए भी जो मनुष्य इस संसार-सागर से पार नहीं हुआ, उस पुरुष को धिक्कार है। जिसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिसका मन विक्षेप रहित—शान्तियुक्त हो गया है, वह कैवल्य को प्राप्त महापुरुष आनन्द में मग्न हुआ रहता है। शान्त बुद्धि से सम्पन्न ज्ञानी महात्मा अन्तरात्मा में लीन दृष्टि से जनता के व्यवहारों को यन्त्रनिर्मित कठपुतली के खेल के समान देखता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष न भविष्य की परवा करता है, न वर्तमान में किसी पदार्थ में तन्मय होता है, न भूतकालीन वस्तु का स्मरण करता है और सब कुछ करता हुआ भी निर्लेप रहता है। तत्त्वज्ञानी सोता हुआ भी आत्मज्ञान में जागता रहता है और जागता हुआ भी संसार से निःस्पृह तथा उपरत रहता है। वह सब कुछ करता हुआ भी कर्तापन के अभिमान से रहित होने के कारण कुछ भी नहीं करता। सम्पूर्ण संसार की आसक्ति से शून्य और सदा-सर्वदा सम्पूर्ण कामनाओं से रहित तत्त्ववेत्ता महात्मा सब कार्यों को करता हुआ भी समभाव से स्थित रहता है। वह तत्त्वज्ञ पुरुष उदासीन मनुष्य की तरह स्थित रहता है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—शास्त्रों के अध्ययन, सत्पुरुषों के सङ्ग, वैराग्य और अभ्यास से सांसारिक दृश्य पदार्थों में सत्ता का अभाव समझ लेनेपर चिरकालपर्यन्त एकतानतापूर्वक अपने इष्टदेव के ध्यान से और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में स्थिति के लिये तीव्र अभ्यास से प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। सुखपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक आदि प्राणायामों के दृढ़ अभ्यास से तथा एकान्त ध्यानयोग से प्राणवायु निरुद्ध हो जाता है। ॐकार का उच्चारण और ॐकार के अर्थ का चिन्तन करने से बाह्य विषयों के ज्ञान का अभाव हो जानेपर प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। रेचक प्राणायाम का दृढ़ अभ्यास करने से विशाल प्राणवायु के बाह्य आकाश में स्थित हो जाने पर नासिका के छिद्रों को जब प्राणवायु स्पर्श नहीं करता, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। इसी का नाम बाह्यकुम्भक प्राणायाम है। पूरक का दृढ़ अभ्यास करते-करते पर्वत पर मेघों की तरह हृदय में प्राणों के स्थित हो जाने पर जब प्राणों का संचार शान्त हो जाता है, तब प्राण-स्पन्दन रुक जाता है। इसी का नाम आभ्यन्तर-कुम्भक प्राणायाम है। कुम्भ की तरह कुम्भक प्राणायाम के अनन्त-कालतक स्थिर होने पर और अभ्यास से प्राण का निश्चल स्तम्भन हो जानेपर प्राणवायु के स्पन्दन का निरोध हो जाता है। इसी का नाम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है। जिह्वा के द्वारा तालु के मध्यभाग में रहनेवाली घण्टिका को प्रयत्नपूर्वक स्पर्श करने से जब प्राण ऊर्ध्वरन्ध्र में (ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् कपाल-कुहर में, जो सुषुम्णा के ऊपरी भाग का द्वार कहा जाता है) प्रविष्ट हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित होनेपर कोई भी नाम-रूप नहीं रहता, तब अत्यन्त सूक्ष्म चिन्मय आकाशरूप परमात्मा के ध्यान से बाह्याभ्यन्तर सारे विषयों के विलीन हो जाने पर प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। नासिका के अग्रभाग से लेकर बारह अंगुल पर्यन्त निर्मल आकाशभाग में नेत्रों की लक्ष्यभूत संवित् दृष्टि (वृत्तिज्ञान) के शान्त हो जानेपर अर्थात् नेत्र और मन की वृत्ति को रोकने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

योगशास्त्रों में प्रदर्शित पवन-निरोध के अभ्यास से ऊर्ध्वरन्ध्र के (सुषुम्णामार्ग से) तालु के ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें स्थित प्राणवायु जब विलीन हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। भृकुटी के मध्य में चक्षु-इन्द्रिय की वृत्ति के शान्त होने से आज्ञाचक्र में प्राणों के विलीन हो जानेपर जब चिन्मय परमात्मा का अनुभव हो जाता है, तब-प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है। ईश्वर के अनुग्रह से तुरन्त उत्पन्न हुए दृढीभूत तथा समस्त विकल्पांशों से रहित परमात्मज्ञान के हो जाने पर प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। हृदय में स्थित एकमात्र

चिन्मय आकाश स्वरूप परमात्मा के ज्ञान से, विषय-वासना के अभाव से और मन के द्वारा परमात्मा का निरन्तर ध्यान करने से प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

इस जगत् में प्राणियों के दो प्रकार हृदय हैं—एक उपादेय और दूसरा हेय। इयत्तारूप से परिच्छिन्न इस देह में वक्षःस्थल के भीतर शरीर के एक देश में स्थित जो हृदय है; उसे हेय हृदय जानो। चेतनमात्र स्वरूप से स्थित हृदय (परमात्मा) को उपादेय कहा गया है। वह परमात्मा सबके भीतर और बाहर है और भीतर एवं बाहर नहीं भी है। अर्थात् संसार के प्रतीतिकाल में तो परमात्मा उसके भीतर और बाहर—सब जगह परिपूर्ण है और वास्तव में वह संसार के भीतर-बाहर नहीं है; क्योंकि संसार का अत्यन्त अभाव है। परमात्मा में ही यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थों का दर्पण है चेतन परमात्मा ही सभी प्राणियों का हृदय कहा जाता है। जड़ और जीर्ण पत्थर के सदृश देह के अवयव का मांस-खण्डरूप एक अंश वास्तविक हृदय नहीं है। इसलिये चेतनस्वरूप विशुद्ध हृदय—परमात्मा में वासनाओं से रहित होकर बलपूर्वक चित्त को लगाने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। इन पूर्वोक्त उपायों से तथा अन्यान्य अनेक तत्त्वज्ञ आचार्यों के मुख से उपदिष्ट नाना संकल्पों से कल्पित उपायों से प्राणस्पन्द निरुद्ध हो जाता है। ये पूर्वोक्त योगविषयक युक्तियाँ अभ्यास के द्वारा ही श्रेष्ठ साधक के लिये संसार का उच्छेदन करने में बाधारहित उपाय हैं। भ्रू, नासिका, तालु संस्थान तथा कण्ठाग्र-प्रदेश से लेकर बारह अंगुल परिमित प्रदेश में अभ्यास से प्राण लीन हो जाता है। अभ्यास से ही पुरुष आत्माराम, वीतशोक तथा परमात्मा की प्राप्तिरूप भीतरी सुख से पूर्ण होता है। उस परमपदरूप परमात्मा में यह समस्त जगत् विद्यमान है; उससे यह सब उत्पन्न हुआ है, वह समस्त जगत् का स्वरूपभूत है और वह इस जगत् के चारों ओर विद्यमान है। किन्तु वास्तव में उसमें न तो यह दृश्यमान समस्त जगत् विद्यमान है, न यह उससे उत्पन्न हुआ है और न जगत् उसका स्वरूप ही है। वास्तव में इस प्रकार का जगत् है ही नहीं, प्रत्युत वह परमात्मा स्वयं ही अपने आप में स्थित है। जो महाबुद्धिमान् ज्ञानी महात्मा पुरुष सारी सीमाओं के अन्तरूप उस परमपद का अवलम्बन करके स्थित रहता है, वह स्थितप्रज्ञ, तत्त्ववेत्ता, जीवन्मुक्त कहलाता है। जिस महात्मा की समस्त कामोपभोग की निवृत्त हो गयी हैं, जिसका सम्पूर्ण पदार्थों में अनुकूलता और प्रतिकूलता संकल्प निवृत्त हो गया है तथा जिसका अन्तःकरण समस्त व्यवहारों में हर्ष और विषाद से रहित सम हो गया है एवं जिसका मन शान्त हो चुका है, वह महात्मा सब पुरुषों में श्रेष्ठ है।

इस जगत् में आदि और अन्त से रहित प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही है—इस प्रकार का जो दृढ़ निश्चय है, उसी निश्चय को ज्ञानी महात्मागण सम्यक् ज्ञान यानी परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कहते हैं। ये जो घट-पट आदि आकारों से युक्त पदार्थों के सैकड़ों समूह हैं, वे सब परमात्मस्वरूप ही हैं; उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है—इस प्रकार का दृढ़ निश्चय ही परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है। रज्जु का यथार्थ ज्ञान न होने से रज्जु सर्परूप प्रतीत होती है और उसका यथार्थ ज्ञान होने से रज्जु सर्परूप नहीं प्रतीत होती यानी रज्जु रज्जुरूप ही दिखायी पड़ती है। इस मुक्ति में संकल्प से सर्वथा रहित, समस्त विषयों से रहित केवल चिन्मय परमात्मा ही सच्चिदानन्दरूप से विराजमान रहता है; उससे अन्य कुछ भी नहीं रहता। इन तीनों लोकों में यथार्थ आत्मदर्शन इतना ही है कि यह सब जगत् परमात्मा ही है, ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्णता को प्राप्त हो जाय। उस परमात्मा से भिन्न न तो दृश्य जड़ जगत् है और न मन है। ब्रह्म ही यह दृश्य रूप बनकर चेष्टा कर रहा है। समस्त ब्रह्माण्ड एक चिन्मय आकाश-रूप विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही है।

आकाश में दृष्टिदोष से प्रतीत होनेवाला वृक्ष भ्रमवश वृक्षरूप में प्रतीत होता है, वास्तव में वह विशुद्ध आकाशस्वरूप ही है, उससे पृथक् आकाश-वृक्ष नहीं है, वैसे ही चित्त अविद्यमान, जड़ और माया का कार्य होने से निश्चयरूप से असत् ही है, वह परमात्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। जैसे नौका में स्थित अज्ञानी बालक को तटवर्ती वृक्ष और पहाड़ में प्रतीत होनेवाली गति केवल भ्रान्ति से ही दिखायी पड़ती है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य को यह चित्त दिखायी पड़ता है। किन्तु आत्मज्ञानी तत्त्वज्ञ की दृष्टि में वह असन्मय ही है—है ही नहीं। कितने

आश्चर्य की बात है कि यह अत्यन्त चञ्चल मन किसी एक निश्चित विषय में लगाया जानेपर भी क्षणभर भी उसी प्रकार स्थिर नहीं होता, जैसे तरङ्गों के द्वारा बहाया गया पत्ता स्थिर नहीं होता है। मन घट से पट के ऊपर और पट से उत्कट शकट के ऊपर कूद जाता है। यह चित्त विषयों पर उसी प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार वृक्षों के ऊपर बंदर दौड़ता है। इन्द्रियगण, मन के ही अलग-अलग द्वार हैं, अतएव निश्चित ही अधम और जड़ है।

'अज्ञानी चित्त परमपद सर्वत्र व्यापक, सारे पदार्थों में स्थित और सबका स्वरूप है। उसकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्य को सदा-सर्वदा सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। उस समय न तो चित्त रहता ही और न देह ही पृथक् रहता है; किंतु एक महान् प्रकाश स्वरूप, सच्चिदानन्द घन ब्रह्म ही अपने आप में स्थित रहता है। स्वभाव से ही प्रकाशस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, अद्वितीय चेतन परमात्मा ने ही समस्त ब्रह्माण्ड को परिपूर्ण कर रक्खा है। इसलिये उसके सिवा दूसरी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। वही एक और अनेक—सबका प्रकाशक है, समस्तरूप है। उसी परमात्मा ने अपने आप में संकल्प से इस जगत् की रचना की है। ऐसी स्थिति में कौन किसकी कैसे इच्छा करेगा ?

मुनिवर वीतहव्य समस्त वासनाओं को छोड़कर विन्ध्य पर्वत की गुफा में समाधि लगाकर उसमें अचल स्थित हो गये। उस समय महामुनि वीतहव्य सब प्रकार के क्षोभ से शून्य परिपूर्ण चेतन विज्ञान आनन्द से युक्त होने के कारण अत्यन्त सुशोभित हुए। उनका मन अत्यन्त विलीन था; अतएव वे ऐसे भले लगते थे, जैसे प्रशास्त समुद्र भला लगता है। जिस प्रकार ईन्धन के जल जानेपर अग्नि में ज्वालाओं का संचरण शान्त हो जाता है, वैसे ही उन महामुनि का प्राण-संचार क्रमशः भीतर हृदय में ही शान्त हो गया। समाधि में स्थित महामुनि वीतहव्य के दोनों नेत्र ऐसे दिखायी पड़ते थे, जैसे उनकी वृत्ति नासिका के अग्रभाग में दोनों ओर बराबर फैली हुई हो। महाबुद्धि वीतहव्य ने अपने आसन-बन्ध में शरीर, सिर और ग्रीवा को समानरूप से रक्खा था; इसलिये वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे पत्थरपर खोदी गयी या चित्र में लिखी गयी मूर्ति हो। वर्षा के कीचड़ से ढके हुए महामुनि वीतहव्य निमग्न-से प्रतीत होते थे। विन्ध्याद्रि के किसी झरने के निकट गुफा में इस प्रकार की समाधि में स्थित महामुनि वीतहव्य के तीन सौ वर्ष आधे मुहूर्त की तरह व्यतीत हो गये। परमात्मा में स्थित ध्यान-निमग्न उन मुनि ने जीवन्मुक्तता के कारण इतने काल को कुछ भी नहीं समझा और अपने उस शरीर का त्याग भी नहीं किया। तीन सौ वर्ष बीत जाने पर पृथ्वी की गुफा में दबे हुए वे निग्रहानुग्रहसमर्थ तथा परमात्मा को प्राप्त महामुनि स्वयं ही समाधि से जाग गये। महामुनि वीतहव्य ने सम्पूर्ण भूतों में आत्मभाव होने के कारण अनेक लोगों का ब्रह्मरूप से अनुभव किया और वर्तमान समय में कर भी रहे हैं। श्रीराम का जगत् मनोमय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थदशा में सच्चिदानन्द स्वरूप है, महामुनि वीतहव्य का भी वह जगत् मनोमय, भ्रम तुल्य एवं परमार्थ-दशा में सच्चिदानन्द स्वरूप है। जब तक इस प्रकार जगत् को तत्त्वज्ञान द्वारा सच्चिदानन्द रूप नहीं जाना जाता, तब तक वह हृदय में वज्रसार की तरह अत्यन्त दृढ़ रहता है। किंतु यथार्थ रूप से जान लिये जाने पर वह सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है।

महामुनि वीतहव्य धीरे-धीरे प्रणव का उच्चारण करते हुए संकल्प और इच्छाओं से रहित होकर अन्तिम भूमिका को प्राप्त कर अकार, उकार, मकार और अर्ध मात्रा से युक्त पादों के भेद से ॐकार का स्मरण करते हुए ब्रह्म के स्वरूप में संसार का जो अध्यारोप है, उसका बाध कर अर्थात् केवल ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ नहीं है—इस प्रकार निश्चय करके अविनाशी विशुद्ध परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करते थे। कल्पित बाह्य और आभ्यन्तर स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर सम्पूर्ण त्रिलोकी के पदार्थों का भी परित्याग करके वे क्षोभ शून्य आकार वाले महामुनि वीतहव्य नित्य आत्मस्वरूप में ही स्थित थे। वे पूर्ण चन्द्र की तरह परिपूर्ण थे तथा मन्दराचल की तरह स्थिर थे। 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से बोधित जो अद्वैत तत्त्व है और जो वाणी का भी अगोचर है, उस तत्त्व को ये मुनि प्राप्त हो गये। इसके अनन्तर ये मुनि समस्त पदार्थों में व्यापक, समस्त पदार्थों से रहित, निरतिशय समता से पूर्ण, चिन्मय, अतिशय पवित्र परम पद स्वरूप हो गये।

जो चित्र-विचित्र आकाश-गमन आदि क्रिया-कलाप दिखायी पड़ता है, वह प्राणियों और पदार्थों का स्वभाव है। इसलिये वह आत्मतत्त्वज्ञों के लिये वाञ्छनीय नहीं है। आत्मज्ञान से शून्य अमुक्त जीव मणि, औषध आदि द्रव्यों की शक्ति से, पूर्वकृत कर्म की जन्मजात शक्ति से, योगाभ्यास आदि क्रियाओं की शक्ति से और काल की शक्ति से आकाश-गमन आदि सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। इन आकाश-गमन आदि सिद्धियों का होना आत्मज्ञ पुरुष के लिये गौरव का विषय नहीं है; क्योंकि आत्मज्ञानी स्वयं आत्मा को प्राप्त कर अपने आत्मा में ही तृप्त रहता है, अविद्या के कार्य की ओर नहीं दौड़ता। संसार में जो भी पदार्थ हैं, उन सबको आत्मज्ञ अविद्यामय ही मानते हैं। इसलिये अविद्या से रहित तत्त्वज्ञ उनमें कैसे फँस सकता है? जो योगाभ्यास आदि साधनों से अविद्यारूप आकाश-गमन आदि सिद्धियों को भी सुख का साधन बना लेते हैं, वे आत्मतत्त्वज्ञ हैं ही नहीं; क्योंकि आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ अविद्यामय ही हैं। तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, जो कोई भी दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक द्रव्य-कर्मों से शास्त्रोक्त उपाय का अनुष्ठान करता है, वह आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

परमात्मा के स्वरूप में ही सदा संतुष्ट, परम शान्तिस्वरूप, राग और वासना से रहित तथा आकाश के सदृश निर्मल आकार वाला तत्त्वज्ञानी महापुरुष अपने परमात्मस्वरूप में ही स्थित रहता है। अपने जीवन और मरण की आसक्ति से रहित तत्त्वज्ञानी पुरुष अकस्मात् प्राप्त हुए सुख और दुःख से विचलित नहीं होता। उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही; तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता है।

चित्त का विनाश दो प्रकार का होता है—एक सरूप विनाश और दूसरा अरूप विनाश। पहला सरूप विनाश तो जीवन्मुक्त होने से हो जाता है और दूसरा अरूप विनाश विदेह-मुक्त होने पर होता है। इस संसार में चित्त का अस्तित्व दुःख का कारण है और चित्त का विनाश सुख का कारण है। अतः पहले चित्त के अस्तित्व का भूने हुए बीज के समान विनाश करके तदनन्तर चित्त के स्वरूप का भी विनाश कर देना चाहिये। अज्ञान से उत्पन्न हुई वासनाओं से व्याप्त जो जन्म का कारण मन है, उसीको अज्ञानियों का विद्यमान मन समझो। वह विद्यमान मन केवल दुःख का ही कारण होता है। इसलिये जबतक मन का अस्तित्व है, तब तक दुःख का विनाश परमात्मा के स्वरूप में नित्य तृप्त रहती है तथा अपने अभिलषित परमात्मा को प्राप्त करने पर उन महात्माओं का सिद्धियाँ कुछ भी उपकार नहीं करतीं। कैसे हो सकता है। मन जब अस्त हो जाता है, प्राणी का यह संकल्पमय संसार भी अस्त हो जाता है। इस अज्ञानी जीव में ही वासनारूपी अङ्कुरों से दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित इस विद्यमान मन को ही दुःख रूपी वृक्ष का मूल जानो। ये दुःखरूपी वृक्ष समूह के अङ्कुर उन्हीं अज्ञानियों के मन में उत्पन्न होते हैं।

जैसे निःश्वास वायु पर्वतराज को अपने स्वरूप से विचलित नहीं करते, वैसे ही सुख-दुःख रूप दशाएँ जिस धीर पुरुष को सम स्वभाव तथा पूर्णानन्दैकरस परमात्म निष्ठा से विचलित नहीं करतीं, श्रेष्ठ पुरुष उस महात्मा के चित्त को भूने हुए बीज के समान नष्ट हुआ चित्त कहते हैं। 'यह जड देह ही मैं हूँ', 'ये घट आदि सारे पदार्थ मैं नहीं हूँ', इस प्रकार की तुच्छ भावना जिस श्रेष्ठ पुरुष को भीतर से विकार युक्त नहीं करती, विद्वान् लोग उस पुरुष के चित्त को नष्ट कहते हैं। जिस नर रत्न के अंदर विपत्ति, कायरता, उत्साह (हर्ष), मद, बुद्धि की मन्दरता और विवाहादि लौकिक महोत्सव विकार पैदा नहीं करते, विद्वान् लोग उसके चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं। इस लोक में यही चित्त का विनाश है और इसी को भूने हुए बीज के समान विनष्ट चित्त भी कहते हैं। यही जीवन्मुक्त महापुरुष की चित्तनाश-दशा है। जीवन्मुक्त पुरुष का मन मैत्री आदि शुभ गुणों से सम्पन्न, उत्तम वासनाओं से युक्त तथा पुनर्जन्म से शून्य होता है। ब्रह्म की वासना से ओतप्रोत, पुनर्जन्म से रहित जो जीवन्मुक्त पुरुष के मन की सत्ता है, वह सत्व नाम से कही जाती है। जिस प्रकार चन्द्रमा में प्रसन्न किरणें रहती हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त

पुरुष के मन के विनाश में विशुद्ध मैत्री आदि गुण सदा सब तरह से रहते हैं। शान्तिरूप शीतलता के आश्रय जीवन्मुक्त पुरुष के सत्त्वनामक मन के नाश की अवस्था में अनेक गुण-सम्पत्तियाँ प्रकट होती हैं।

अरूप मनोनाश विदेह मुक्त का ही होता है तथा जो अवयवादि विकारों से रहित है, उस परम पवित्र विदेह मुक्ति रूपी निर्मल परम पद में समस्त श्रेष्ठ गुणों का आश्रय रूप मन भी विलीन हो जाता है। विदेह मुक्त महात्माओं की उस सत्त्व-विनाश रूप अरूप चित्त नाश-दशा में किसी भी दृश्य-पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् संकल्प सहित सम्पूर्ण संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। उस अरूप चित्त विनाश-दशा में न गुण है न अवगुण हैं, न शोभा है न अशोभा है, न चञ्चलता है, न अचञ्चलता है, न उदय है न अस्त है, न हर्ष है, न अमर्ष है और न ज्ञान है, न प्रकाश है न अन्धकार है, न संध्या है, न दिन या रात है, न दिशाएँ हैं, न आकाश है, न अध: है और न अनर्थ रूपता है, न कोई वासना है, न किसी प्रकार की रचना है, न इच्छा है न अनिच्छा है, न राग है न भाव है और न अभाव है और न वह पद साध्य ही है। वह परम पद तम और तेज से शून्य, तारे, चन्द्र, सूर्य और वायु से तथा संध्या, रज:कण और सूर्य-कान्ति से रहित शरत्कालीन स्वच्छ आकाश के समान अत्यन्त निर्मल है। वह विशाल पद उन लोगों का आश्रय-स्थान है, जो बुद्धि और संसार-भ्रमण से पार हो गये हैं। सम्पूर्ण दु:खों से रहित, चिन्मय, निष्क्रिय ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण तथा रज और तम से रहित जो परमपद है, उस परमपद में वे चित्त से रहित और आकाश के सदृश सूक्ष्म विदेहमुक्त महात्मा तद्रूप हुए स्थित रहते हैं, वे अपुनरावृत्तिरूप परमगति को प्राप्त हो जाते हैं।

भाव और अभाव का तथा दु:खरूपी रत्नों का खजाना चित्त ही, जो वासनाओं के वश में रहने वाला एक तरह से अनुचर है, शरीर का कारण है। प्रतीत होने के कारण सत् और विनाशशील होने के कारण असत्रूप ये शरीर समूह एकमात्र चित्त से ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे स्वप्न में भ्रम से संसार की प्रतीति सबको स्वयं होती है। जो यह मिथ्या जगत् का स्वरूप दृश्यता को प्राप्त है, वह चित्त से उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मिट्टी से घड़े आदि उत्पन्न होते हैं। अनेक तरह की वृत्तियाँ धारण करने वाले इस चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं—एक प्राण-संचरण और दूसरा दृढ़भावना। जब शरीर की नाड़ियों में प्राण-वायु संचरण करने लगता है, तब वृत्तिमय चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है। किंतु जब शरीर की नाड़ियों में प्राण संचरण नहीं करता, तब वृत्तिज्ञान न होने के कारण उसमें चित्त उत्पन्न नहीं होता। यह प्राण-संचरण रूप जगत् ही चित्त के द्वारा दिखायी पड़ते हैं। जीवात्मा के विषयों के सम्पर्क से रहित होने पर ही उसका परम कल्याण होता है, किंतु प्रकट हुआ जीव ही तत्काल बाह्य विषयों की ओर रागवश चला जाता है और उन विषयों के भोग के अनुभव से चित्त में अनन्त दु:ख उत्पन्न होते हैं। जब जीवात्मा बाह्य विषयों से उदासीन होकर परमात्मा के ज्ञान के जिए प्रयत्नशील होता है, तब वह प्राप्त करने योग्य निर्मल परमपद रूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है जीवात्मा के संकल्प को ही चित्त जानना चाहिए। उसी चित्त ने इस अनर्थ-जल का विस्तार किया है।

चित्त की शान्ति के लिए योगशास्त्र में बतलाये गये प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यानरूप योग युक्तियों के द्वारा प्राण का निरोध करते हैं। विद्वान् लोग प्राण-निरोध को ही चित्तशान्तिरूप फल का दाता; उत्तम समता का हेतु और जीवात्मा की अपने वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा में सुन्दर स्थिति कहते हैं। तीव्र संवेग से आत्मा के द्वारा जिस पदार्थ की भावना की जाती है, तत्काल ही वह जीवात्मा अन्य स्मृतियों को छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है। वासना के अत्यन्त वशीभूत और तद्रूप हुआ वह जीवात्मा जिस किसी को देख लेता है, और वासना के वेगवश अपने स्वरूप को भूल जाता है। फिर वह वास्तविक आत्मज्ञान से रहित जीवात्मा भीतरी वासनाओं के अभिभूत होकर, विष से अभिभूत पुरुष की तरह अनेक मानसिक आपत्तियों से व्याकुल रहता है। जिससे देहादि अनात्मा में आत्मभावना रूप और अवस्तु संसार में वस्तुभावना रूप अयथार्थ ज्ञान होता है, उसको

तुम चित्त जानो। दृढ़ अभ्यास के कारण देह आदि पदार्थों में 'अहम्' 'मम' आदि वासना से ही जन्म, जरा और मरण का कारण अति चञ्चल चित्त उत्पन्न होता है। जब निरन्तर वासना का अभाव होने से मन मनन से रहित हो जाता है, तब मन का अभाव हो जाता है, जो परम उपरति स्वरूप है। जब जगद्रूप वस्तु में किसी पदार्थ की भावना नहीं होती, तब शून्य हृदयाकाश में चित्त कैसे उत्पन्न हो सकता है। आसक्ति से विनाशशील जगद् रूपी वस्तु में वस्तुत्व की भावना करना मात्र ही चित्त का स्वरूप है। बाह्य वस्तुओं के अस्मरण रूप साधन का अवलम्बन करने से जो समस्त दृश्य-जगत् के अभाव की भावना और परमार्थ वस्तु परमात्मा का अनुभव होता है, वह अचित्त कहा जाता है। अत: जिस महामति पुरुष को संस्कार से उत्पन्न विषय-आस्वाद के स्मरण से विषयों में आसक्ति उत्पन्न नहीं होती, उस पुरुष का चित्त अचित्त रूपता को तथा विशुद्ध सत्त्व को प्राप्त कहा जाता है। जिस महापुरुष में पुनर्जन्म की कारण भूता अहंता-ममता रूप वासना का अभाव हो गया है, वह चक्र के भ्रमण-सदृश जगत् के व्यवहार में लगा हुआ भी जीवन्मुक्त और परमात्मा में स्थित है। जिनका चित्त भूने हुए बीज के सदृश पुनर्जन्म से शून्य और विषयानुरक्ति से रहित है, वे महानुभाव जीवन्मुक्त हुए स्थित रहते हैं। जिनका चित्त विशुद्ध सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुका है, ऐसे ज्ञान के पारंगत महात्मा चित्त से रचित कहे जाते हैं। प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में विलीन हो जाते हैं।

वासना और प्राणस्पन्द—दोनों चित्त के कारण हैं। उनमें से किसी एक का लय हो जाने पर दोनों का और उनके कार्य चित्त का विनाश हो जाता है, जैसे विदेहमुक्त ज्ञानी का वासनासहित चित्त और प्राण ब्रह्म में विलीन हो जाता है। वासना और प्राणस्पन्दन—इन दोनों का कारण विषय है; क्योंकि उसी के सम्बन्ध से वे दोनों प्रस्फुरित होते हैं। हृदय में प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों का चिन्तन करके ही प्राणस्पन्दन और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं; इसलिये विषय ही उन दोनों का बीज (कारण) है। जिस प्रकार मूल के उच्छेद से वृक्ष तत्काल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषय चिन्तन का परित्याग करने से प्राणस्पन्दन और वासना—दोनों ही तत्काल समूल नष्ट हो जाते हैं। जीवात्मा ही अपनी धीरता का परित्याग करके अपने संकल्प से विषयरूप-सा बनकर चित्त का बीजरूप हो जाता है। जिस प्रकार तिल तेल से रहित नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मा से रहित कोई भी विषय नहीं है; क्योंकि जीवात्मा सब विषयों में व्यापक है। इसलिये बाहर और भीतर कोई भी पदार्थ जीवात्मा से अलग नहीं है। अपने संकल्प से चेतन जीवात्मा ही प्रस्फुरित होता हुआ स्वयं पदार्थ को देखता है। जिस तरह स्वप्न में अपना मरण और भिन्न देश में स्थित—दोनों अपने संकल्प से ही होते हैं, उसी तरह जाग्रत्कालीन पदार्थ भी जीवात्मा के संकल्प से ही होते हैं। जिस विवेक-अवस्था में अपने पारमार्थिक स्वरूप का अनुभव होता है, वह अपने संकल्प से हुआ स्वस्वरूपानुभव भी जगज्जाल (स्वप्न के सदृश) ही है; क्योंकि सच्चिदानन्द ब्रह्म अनुभव करनेवाला, अनुभव करने योग्य और अनुभव—इन तीनों से ही रहित है; अत: उस अनुभव को जगज्जाल कहना उचित ही है। जैसे बालक को अपने संकल्प से ही प्रेत का और मनुष्यों को स्थाणु में पुरुष का भ्रम होता है, वैसे ही संकल्प से उत्पन्न भ्रम से ही चेतन जीवात्मा की पदार्थरूपता होती है; वास्तव में नहीं। यह भ्रान्तिज्ञान मिथ्या है। वह यथार्थ परमात्मज्ञान से उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार रज्जु और चन्द्र के निर्दोष दर्शन से रज्जु में सर्प-भ्रान्ति और एक चन्द्र में दो चन्द्ररूपों की भ्रान्ति विलीन हो जाती है। पहले देखा हुआ या न देखा हुआ जो पदार्थ इस जीवात्मा को भासता है, विद्वान् को उसे विवेक-वैराग्यरूप प्रयत्न द्वारा मिथ्या समझकर उसका बाघ कर देना चाहिये। इस जड जगत्रूप दृश्य का बाध न करना ही इस बड़े भारी संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ना है। यही बन्धन है तथा इस संसार के सम्बन्ध से रहित होना ही मोक्ष है—यह महात्माओं का अनुभव किया हुआ निश्चय है; क्योंकि इस जड दृश्य जगत् का चिन्तन ही जन्मरूप अनन्त दु:ख का हेतु है और उस दृश्य-चिन्तन से रहित होकर सच्चिदानन्द परमात्मा में स्थित रहना ही पुनर्जन्म रहित अक्षय सुख का हेतु है।

वासना रहित होने के कारण अपनी आत्मा में जब किसी पदार्थ की भावना नहीं रहती और वह परमात्मा के स्वरूप में अचल स्थित रहता है, तब जडता से रहित, विशाल एवं विशुद्ध यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इसलिये ज्ञानवान् फिर कभी संसार में लिप्त नहीं होता। समस्त वासनाओं का अत्यन्त अभाव होने पर निर्विकल्प समाधि से परम आनन्दरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। संसार के चिन्तन से रहित योगी लोग उसी असीम आनन्द में नित्य स्थित रहते हैं। इसलिये संसारचिन्तन से रहित योगी चलते, बैठते, स्पर्श करते और सूँघते हुए भी चिन्मय अक्षय आनन्द से पूर्ण और सुखी कहा जाता है। यह जीवात्मा जिसकी भावना करता है, उसी रूप में तत्काल परिणत हो जाता है। अज्ञान की भूमिकाओं से मुक्त न होने के कारण जीवात्मा दीर्घकाल बीत जानेपर भी अपना वास्तविक स्वरूप नहीं प्राप्त कर पाता। जीवात्मा ब्रह्म का अंश है, अतः एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म ही इस जीवात्मा का कारण कहा जाता है। सत्ता के दो रूप हैं—एक तो अनेक आकारवाली व्यावहारिक सत्ता और दूसरी एक रूपवाली वास्तविक सत्ता। घटादि रूपों के विभाग से जो घटत्व, पटत्व, त्वत्त्व, मत्त्व आदि उपाधिभूत सत्ता कही जाती है, वह नानाकृति व्यवहारिक सत्ता है। जो विभाग से रहित, सत्तारूप से व्याप्त समान भाव से स्थित वास्तविक सत्ता है, वह एकरूपा वास्तविक सत्ता है। जो दृश्यरूप विशेषता से रहित, निर्लेप और केवल सत्-स्वरूप अद्वितीय महान् वास्तविक सत्ता है, उसी को विद्वान् परमपद कहते हैं। वास्तव में सत्ता का रूप नाना आकार के रूप में कभी नहीं है; क्योंकि वह कायम नहीं रहता; अतः वह सत्यरूप नहीं हो सकता। सत्ता का जो विशुद्ध एकरूप वास्तविक स्वरूप है, वह कभी नष्ट नहीं होता और न कभी लुप्त ही होता है। किन्तु जो विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली विभाग कल्पना नानारूपता का कारण देखी जाती है, वह विशुद्ध पदरूपा कैसे हो सकती है।

सत्ता-सामान्य की चरम अवधिरूप कल्पनाओं से और आदि-अन्त से रहित परमपद है, उसका और कोई कारण नहीं है; क्योंकि वही सबका परम कारण है। जिस परमपद में सम्पूर्ण सत्ताएँ विलीन हो जाती हैं, उस निर्विकार परमपद में स्थित पुरुष इस दुःखमय संसार में कभी नहीं आता और वही वास्तव में परम पुरुषार्थी है। वह परमात्मा ही समस्त कारणों का कारण है, उसका कोई दूसरा कारण नहीं है। वही सम्पूर्ण सारों का सार है, उससे बढ़कर दूसरी सारभूत वस्तु नहीं है। जैसे तालाब में तटस्थ वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही उस असीम चिन्मय परमात्मारूप दर्पण में ये सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। उसी आनन्द-समुद्र परब्रह्म से सभी प्रकार के सुख प्रतिबिम्बित होते हैं। उस आनन्दमय परमात्मा में ही सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है, स्थित रहता है, बढ़ता है और विलीन हो जाती है। वह परब्रह्म भारी से भी भारी, हलके से भी हलका, स्थूल से भी स्थूल और सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम है। वह दूर से दूर, निकट से भी निकट, छोटे से भी छोटा और बड़े से भी अत्यन्त बड़ा है तथा सबका प्रकाशक होने से ज्योतियों का ज्योति है। वह सम्पूर्ण वस्तुओं से रहित और सर्ववस्तुरूप है, वही सत् और असत् है, वही दृश्य और अदृश्य है, वह अहंता से रहित और अहंस्वरूप है। उसकी प्राप्ति होने पर चित्त परम शान्त हो जाता है।

जबतक मन विलीन नहीं होता, तबतक वासना का सर्वथा विनाश नहीं होता और जबतक वासना विनष्ट नहीं होती, तबतक चित्त शान्त नहीं होता। जबतक परमात्मा के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक चित्त की शान्ति कहाँ और जबतक चित्त की शान्ति नहीं होती, तबतक परमात्मा के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जबतक वासना का सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक तत्त्वज्ञान कहाँ से होगा और जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक वासना का सर्वथा विनाश नहीं होगा। इसलिये परमात्मा का यथार्थ ज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों ही एक दूसरे के कारण हैं। अतः ये दुस्साध्य हैं, किन्तु असाध्य नहीं। विशेष प्रयत्न करने से ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं। विवेक से युक्त पौरुष प्रयत्न से भोगेच्छा का दूर से ही परित्याग करके इन तीनों साधनों का अवलम्बन करना चाहिए। यदि इन तीनों उपायों का एक साथ प्रयत्नपूर्वक भली प्रकार बार-बार अभ्यास न किया

जाय तो सैकड़ों वर्षोंतक भी परमपद की प्राप्ति सम्भव नहीं । वासनाक्षय, परमात्मा का यथार्थ ज्ञान और मनोनाश—इन तीनों का एक साथ दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय तो ये परमपदरूप फल देते हैं। वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते । समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने ।। (योगवा० उप० ९२।१७) इन तीनों का चिरकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने से अत्यन्त दृढ़ हृदयग्रन्थियाँ निःशेषरूप से टूट जाती हैं ।

यह संसार की दृढ़ स्थिति सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरों से मनुष्यों के द्वारा अभ्यस्त है; अतः चिरकालतक अभ्यास किये बिना वह किसी तरह भी नष्ट नहीं हो सकती । इसलिये चलते-फिरते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, खड़े रहते, जागते, सोते—सभी अवस्थाओं में परम कल्याण के लिये इन तीनों उपायों के अभ्यास में लग जाना चाहिये । तत्त्वज्ञों का मत है कि वासनाओं के परित्याग के समान ही प्राणायाम भी एक उपाय है । इसलिये वासना-परित्याग के साथ-साथ प्राण-निरोध का भी अभ्यास करना आवश्यक है । वासनाओं का भली-भाँति परित्याग करने से चित्त भूने हुए बीज के समान अचित्तरूप हो जाता है और प्राणस्पन्द के निरोध से भी चित्त अचित्तरूप हो जाता है; इसलिये तुम जैसा उचित समझो, वैसा करो । चिरकालतक प्राणायाम के अभ्यास से, योगाभ्यास में कुशल गुरुद्वारा बतायी हुई युक्ति से, स्वस्तिक आदि आसनों की सिद्धि से और उचित भोजन से प्राण-स्पन्दन का निरोध हो जाता है । परमात्मा के स्वरूप का साक्षात् अनुभव होने पर वासना उत्पन्न नहीं होती । आदि, मध्य और अन्त में कभी पृथक् न होनेवाले एकमात्र सत्यस्वरूप परमात्मा को भली-भाँति यथार्थरूप से जान लेना ही ज्ञान है । यह ज्ञान वासना का सर्वथा विनाश कर देता है तथा अनासक्त होकर व्यवहार करने से, संसार का चिन्तन छोड़ने से और शरीर को विनाशशील समझने से वासना उत्पन्न नहीं होती । वासना का विनाश हो जानेपर चित्त विषयों में नहीं भटकता । बुद्धिमान् पुरुष को एकाग्रचित्त से बारम्बार एकान्त में बैठकर प्राणस्पन्द के निरोध के लिये विशेष यत्न करना चाहिये । जिस प्रकार मदमत्त दुष्ट हाथी अङ्कुश के बिना दूसरे उपाय से वश में नहीं होता, उसी प्रकार पवित्र युक्ति के बिना मन वश में नहीं होता । अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, साधु-संगति, वासना का सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दन का निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पाने के लिये निश्चितरूप से दृढ उपाय हैं। अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च । वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।। एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल । (योगवा० उप० ९२।३५-३६) इनसे तत्काल ही चित्तपर विजय प्राप्त हो जाती है । उपर्युक्त इन चार युक्तियों के रहते जो पुरुष हठ से चित्त को वशीभूत करना चाहते हैं, उनके सम्बन्ध में मेरा यही मत है कि वे दीपक का परित्याग करके अञ्जनों से अन्धकार का निवारण करना चाहते हैं ।

विवेकपूर्वक विचार से अपने चित्त का निग्रह करने पर जन्म का फल मिल जाता है । जो विवेकपूर्वक विचारशील है एवं जिसकी एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म के स्वरूप में ही स्थिति है और परमात्मा के स्वरूप में ही जिसको विश्राम प्राप्त हो गया है, उस ज्ञानी महात्मा को संसार के संकल्प-विकल्प विचलित नहीं कर सकते । समस्त संकल्पों की सीमा के अन्त स्वरूप पद में जिस महानुभाव विश्राम को प्राप्त कर लिया है, उन परमात्मा को प्राप्त महात्माओं की दृष्टि में सुवर्णमय सुमेरु पर्वत भी तृण के सदृश है । उन विशाल हृदय महात्माओं की दृष्टि में सारा संसार और एक छोटा-सा तृण, अमृत और विष, कल्प और क्षण समान हैं । जिस जड दृश्य संसार का आदि और अन्त में अस्तित्व नहीं है, उसकी यदि वर्तमान काल में कुछ कालतक सत्ता प्रतीत हो रही है तो वह जीवात्मा का भ्रम ही है । ज्ञानी शरीर, मन, बुद्धि तथा आसक्ति से रहित इन्द्रियों से चाहे कर्म करे या न करे, असङ्ग होने के कारण कर्म से लिप्त नहीं होता । जीवन्मुक्तों के ज्ञान से सम्पन्न, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, परमात्मा के स्वरूप का मनन करने वाला श्रेष्ठ मुनि मान, मद, मात्सर्य और चिन्ताज्वर से रहित होकर स्थित रहता है । प्रचुरतर पदार्थों के सदा रहते हुए भी सब में समानभाव रखने वाला तथा बाहर एवं भीतर इच्छा एवं याचना आदि रूप दीनता से शून्य अन्तःकरण वाला यह महात्मा एक मात्र अपने वर्णाश्रमोचित स्वाभाविक क्रम-प्राप्त न्याययुक्त व्यापार

से पृथक् दूसरा कुछ भी व्यापार नहीं करता। वर्णाश्रमानुसार परम्परा-प्राप्त अपना जो कुछ भी कर्तव्य है, उसका वह ज्ञानी संसर्ग सम्बन्ध अर्थात् आसक्ति, अहंता-ममता से रहित बुद्धि से खेद शून्य हो अनुष्ठान करता हुआ परमात्म स्वरूप अपने आत्मा में रमण करता है। आपत्ति अथवा उत्तम सम्पत्ति के प्राप्त होने पर वह महामति तत्त्वज्ञ अपना सहज स्वभाव नहीं छोड़ता।

निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध

वैराग्य और मुमुक्षु-व्यवहार नामक प्रकरणों के बाद जो उत्पत्ति, स्थिति और उपशम नामक तीन प्रकरणों कहे गये हैं, उनमें यह बताया गया कि उत्पत्ति, स्थिति और लय के बोधक तथा 'नेति-नेति' इत्यादि रूप से प्रपञ्च के निषेधक जो वेदान्त-वाक्य हैं, वे अध्यरोपापवाद-न्याय से परमात्मतत्त्व का ही प्रतिपादन करने वाले हैं। अतः वासनाक्षय और मनोनाशपूर्वक परमात्म ज्ञान के द्वारा परमपुरुषार्थ की प्राप्ति कराने में ही उनका तात्पर्य है। अब 'यत्र नान्यत् पश्यति' (छान्दोग्य० ७।२४।१)—'जहाँ परमात्मा के सिवा दूसरी किसी वस्तु को नहीं देखता', 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तैत्तिरीय० २।४।१)—'जहाँ से वाणी उसे न पाकर लौट आती है', 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' (तैत्तिरीय० २।४।१)—'ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला कभी भयभीत नहीं होता।' 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वम्' (बृहदा० २।५।१९)—'वह यह ब्रह्म अपूर्व है' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध तथा पहले बताये गये समस्त साधनों से प्राप्त होने वाले आत्मज्ञान के फल भूत मोक्ष के स्वरूप का बोध कराने के लिए महर्षि वाल्मीकि निर्वाण-नामक प्रकरण का आरम्भ करते हैं। उपशम प्रकरण के अनन्तर अब इस निर्वाण-प्रकरण का श्रवण करा चाहिए। उसका यथार्थ ज्ञान हो जाने पर यह मोक्ष रूप फल देता है।

परमात्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान से अज्ञान का क्षय तथा वासना का विनाश हो जाने पर शोकशून्य परम पद प्राप्त हो जाता है। देश, काल और वस्तु से रहित एक अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा ही है। उसके सिवा द्वित्वरूप जगत् तो अज्ञान से प्रतीत होता है। वास्तव में परमात्मा के सिवा दूसरी कोई वस्नु नहीं है; क्योंकि जहाँ समस्त पदार्थों से रहित, परम शान्त, समानभाव से प्रकाशित एक सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, वहाँ उस परमात्मा के सिवा दूसरा पदार्थ कैसे रह सकता है। जो सम्पदाएँ हैं, जो प्राणी हैं और जो उनकी इच्छाएँ हैं इम सबके रूप में आदि और अन्त से रहित एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही है, सर्वत्र वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है, दूसरा कुछ नहीं।

जब तक पूर्णता का उदय नहीं होता और जब तक सज्जनों के संसर्ग से अज्ञान का विनाश नहीं होता, तभी तक चित्त आदि पतन की ओर जाते रहते हैं। जब तक सच्चिदानन्द परमात्मा के यथार्थ अनुभव के प्रभाव से यहाँ जगत् की वासना शिथिल नहीं हो जाती, तभी तक चित्त आदि प्रतीत होते हैं। जब तक अज्ञान रूप मूर्खता रहती है, जब तक विषयाभिलाषा से विवशता रहती है एवं जब तक मूर्खतावश मोह का समुद्र बना रहता है, तब तक चित्त आदि की कल्पना रहती है। किन्तु जिसका अन्तःकरण भोगों में आस्था नहीं रखता, जिसको सुशीतल निर्मल निर्वाण परमपद प्राप्त हो चुका है एवं जिसके आशापाश के जाल छिन्न-भिन्न हो गये हैं, उसका चित्तरूप भ्रम नष्ट हो जाता है। मिथ्या भ्रम को उत्पन्न करने वाले अनात्मदर्शन का विनाश तथा परमार्थभूत सच्चिदानन्द परमात्मज्ञान रूप उत्तम सूर्य का उदय होने पर चित्त विनष्ट होकर उसी प्रकार पुनः दिखायी नहीं देता, जिस प्रकार अग्नि में सूखा पत्ता या घी की बूँद गिरने पर पुनः दिखायी नहीं देती। जो कुछ सत्-असत् प्रतीत होता है, वह तुम्हारा संकल्प होने से तुम ही हो और तुम स्वयं प्रकाशरूप हो। वास्तव में जड-पदार्थविशेष तुम नहीं हो और न वह सब तुममें है। तुम्हारा संकल्प होने से वह तुम्हारा स्वरूप भी है और वस्तु से असत् होने के कारण वह नहीं है, तुम अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में नित्य स्थित हो।

श्री वसिष्ठ जी कहते हैं जिस नाना प्रकार के असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और धारण करने वाला चेतन तुम हो। समरूप, आकाश की तरह सौम्य, बड़ी-बड़ी सृष्टि रूपी जल-तरङ्गों से घन प्रकाशमय परमात्म-चैतन्यरूप समुद्र तुम ही हो। रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥ 'जिस नित्यानन्द चिदात्मा में योगी लोग निरन्तर रमण करते हैं, वह परब्रह्म 'राम' पद से कहा जाता है'—ऐसी व्युत्पत्तिवाले 'राम' शब्द के वाच्य भी तुम ही हो। जिस प्रकार अग्नि से उष्णत्व भिन्न नहीं है, कमल से सौगन्ध्य भिन्न नहीं है, कज्जल से कृष्ण रूप भिन्न नहीं है, बरफ से शुक्ल रूप भिन्न नहीं है, ईख से माधुर्य भिन्न नहीं है, तेज से प्रकाश भिन्न नहीं है, चेतन से उसका अनुभव भिन्न नहीं है, चेतन से उसका अनुभव भिन्न नहीं है। अनुभव से 'अहम्' भिन्न नहीं है, 'अहम्' से ज़ीव भिन्न नहीं है, जीव से मन भिन्न नहीं है, मन से इन्द्रिय भिन्न नहीं है, इन्द्रियों से देह भिन्न नहीं है, देह से यह जड़ दृश्य जगत् भिन्न नहीं है, जगत् से भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

यह दृश्यमान जगत् रूपी चक्र चिन्मय परमात्मा ने ही अनादि काल से अपने संकल्प द्वारा प्रवृत्त किया है। वास्तव में तो कुछ भी प्रवृत्त नहीं किया है। यथार्थ से तो यह सब कुछ विभाग रहित अनन्त सच्चिदानन्द रूप आकाश ही अपने आप में स्थित है। उसके सिवा दूसरा और कुछ भी नहीं है। मन, बुद्धि अहंकार तथा इन्द्रिय आदि सब कुछ जडतारहित एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही है। फिर जीवात्मा उस परमात्मा से अलग कैसे रह सकता है, जब भोग-तृष्णारूपी विषय भोगों से तीव्र वैराग्य हो जाता है, तब अज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे गत रात्रि के अन्धकार के नष्ट हो जाने पर रतौंधी भाग जाती है, भली प्रकार से आलोचित अध्यात्मशास्त्र रूपी विचार से तृष्णा विषरूपी महामारी क्षीण हो जाती है। जैसे ही भावाभाव से रहित हुए तुम उस अत्यन्त विस्तृत परम पद रूप अपने ब्रह्म स्वरूप में स्थिर हो।

जिस अज्ञानी पुरुष की अज्ञानवश देह में ही आत्म-भावन उत्पन्न हो जाती है, उस पुरुष को इन्द्रियाँ रोषपूर्वक शत्रु बनकर पराजित कर देती है। किन्तु जिस विवेकी पुरुष की ज्ञानपूर्वक एकमात्र नित्य परमात्मा के स्वरूप में ही स्थिति रहती है, उस निर्दोष पुरुष की इन्द्रियाँ संतोषपूर्वक मित्र बनकर रहती हे, उसका पतन नहीं कर सकती। व्यवहार करते हुए जिस ज्ञानी पुरुष को निन्दनीय भोग्य पदार्थों में दोष-दर्शन के कारण निन्दा के सिवा स्तुति-बुद्धि उत्पन्न होती ही नहीं, वह पुरुष दु:खदायी देह में किसलिये आत्मबुद्धि करेगा ? शरीर जड़ और मिथ्या है तथा आत्मा चेतन और सत्य है। इसी से न आत्मा शरीर का सम्बन्धी है और न शरीर ही आत्मा का सम्बन्धी, अर्थात् परस्पर-विरुद्ध होने के कारण इनका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। समस्त भाव विकारों से नित्यमुक्त एवं निर्लिप्त आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न कभी विनष्ट ही होता है, वह सदा-सर्वदा एकरूप से रहता है।

विभिन्न दृष्टियों से देखने पर भी सद्रूप ब्रह्म कभी असद्रूप नहीं हो सकता, इसी प्रकार सर्वव्यापक जीवात्मा का शरीर के साथ तनिक भी सम्बन्ध सम्भव नहीं होता, देह में स्थित जीवात्मा का भी देहसत्ता के साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। परमात्मा का अच्छी प्रकार साक्षात्कार हो जाने पर परमार्थ सत्यरूप परमात्मा में ही स्थिति हो जाती है और देहात्मबुद्धिरूप अज्ञान-प्रयुक्त भ्रम नष्ट हो जाता है। देह और आत्मा के यथार्थ ज्ञान से देह की असत्ता और आत्मा की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सभी प्राणियों में अविनाशी चेतन रहता ही है, परन्तु जीवात्मा को इसका भली प्रकार ज्ञान न होने के कारण उसमें कायरता आ गयी है। ऐसे अज्ञानी जीवों के शरीर से श्वास उसी प्रकार निकलते रहते हैं, जैसे लोहार की धौंकनी से हवा निकलती है; अत: उनका जीवन व्यर्थ है। अज्ञान ही आपत्तियों का आश्रय स्थान है।

मदरूपी चन्द्र के उदित होने पर मोतियों से वेष्टित तथा रत्नों से सुशोभित स्त्रियाँ क्षुब्ध काम-क्षीर-सागर की तरङ्ग के समान जो दिखायी पड़ती हैं, वह केवल अज्ञान की ही विभूति है। वसन्तु ऋतु में भूमिपर वनखण्डों में पुष्प काम के दास कामियों को जो रमणीय दिखायी पड़ते हैं, उसमें भी अज्ञान ही कारण है। प्रतीति-

रूपी पुष्पों से उज्ज्वल व्यावहारिक सत्तारूपी लता, जिसमें जगत्‌रूपी पल्लव हैं और जो धर्म-अर्थरूपी फल धारण करती है एवं विकसित होती है, इसका कारण भी माया ही है। जिसमें बड़े-बड़े पर्वत ही खम्भे हैं, सूर्य-चन्द्र ही खिड़कियाँ हैं, आकाश ही आच्छदन (छत) है, ऐसा जगत्-त्रयरूपी महल जो खड़ा हो जाता है, वह भी माया की ही महिमा है। अपनी वासनारूपिणी शलाकाओं से निर्मित शरीर के भीतर स्थित इन्द्रिय-समूहरूप पिंजरे में जो जगत् के अन्तर्गत जीवरूपी पक्षी आशारूपी सूत्र से बँधा हुआ है, उसमें भी उसका अज्ञान ही कारण है। सभी शक्तियाँ अज्ञान से विद्यमान हैं। सुदृढ़ संकल्पों से प्राप्त अर्थसमूह से देदीप्यमान जगत् की ब्रह्म में यह कल्पना में भी अज्ञान ही हेतु है। बारंबार प्राप्त होने वाली सम्पत्तियाँ या आपत्तियाँ बाल्ययौवन-जरा-मरण रूपी महान् संताप सुख-दुःख की परम्परा रूप संसार-सागर में गोता लगाना सब अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार की विभूतियाँ हैं।

यह अविद्या का कार्य संसारलता बड़े-बड़े मेरु आदि पर्वतरूप पर्वों से युक्त, ब्रह्माण्डरूपी त्वचा से आवृत्त और जनरूपी पत्र, अंकुर आदि विकासों से युक्त है। ये तीनों लोक इसकी देह हैं। इस अविद्यारूपी लता में प्रतिदिन वृद्धि प्राप्त करने वाले सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु और ज्ञान तो फल हैं और अज्ञान इसका मूल है। जन्म से ही अविद्या उत्पन्न होती है और वह बाद में जन्मान्तर रूप फल प्रदान करती है। जन्म से ही वह संसार के रूप में अपना अस्तित्व प्राप्त करती है और बाद में स्थितिरूप फल प्रदान करती है। वह अविद्या अज्ञान से वृद्धि प्राप्त करती है और बाद में अज्ञान रूप फल देती है। ज्ञान से आत्मा का अनुभव प्राप्त करती और अन्त में आत्मा का अनुभव-रूप फल देती है। वह अविद्यारूपी लता अनेक बार उत्पन्न हो चुकी है और उत्पन्न हो रही है, अनेक बार मर चुकी है और मर भी रही है। वह सर्वदा असत्पदार्थ के सदृश बार-बार प्रतीत होती है तथा नित्य विनष्ट भी होती है। यह अविद्या का कार्य-संसार निश्चय ही महती विषमयी लता है; क्योंकि अविचार से इसका सम्बन्ध होने पर यह तत्क्षण संसाररूपी विष से उत्पन्न होने वाली मूर्च्छा लाती है और विवेकपूर्वक सत्-असत् के विचार से तत्क्षण नष्ट हो जाती है और अविवेकी के लिये स्थित रहती है। दृश्यरूप जगत् के सम्बन्ध से और कल्पनाओं से रहित, परम शान्त, सबका आत्मस्वरूप केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है। उस परमात्मा के संकल्प से कलारूप प्रकृति प्रकट होती है। यह प्रकृति सत्त्व, रज, तम—त्रिगुणमयी है। सत्त्व आदि तीन गुणस्वरूप धर्मों से युक्त प्रकृति ही अविद्या है। यही प्राणियों का संसार है। यह दृश्य-प्रपञ्च इसी अविद्या का कार्य होने से उसी के आश्रित है। ऋषि, मुनि, सिद्ध, दिव्य नाग, विद्याधर, देवता प्रकृति के सात्त्विक, अंशस्वरूप है। प्रकृति का जो शुद्ध सत्त्व-अंश, विद्या है; उस विद्या से अविद्या उत्पन्न होती है, और जिस प्रकार बुद्‌बुद जल में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उस विद्या में यह अविद्या विलीन हो जाती है। विद्या और अविद्या-दृष्टियों की भेद भावना से ही भिन्नता है, वस्तुत: नहीं। विद्या और अविद्या भी एक रूप ही हैं, पृथक् नहीं। वास्तव में तो एक परमात्मा से भिन्न विद्या और अविद्या नाम की कोई वस्तु ही नहीं है; अत: विद्या और अविद्य-दृष्टि का परित्याग करने पर यहाँ जो कुछ अवशिष्ट रहता है, वह परब्रह्म परमात्मा ही वास्तव में विद्यमान है।

परमात्मा के सिवा जो यह स्थावर-जङ्गरूप जगत् प्रतीत होता है, यथार्थ में वह कुछ भी नहीं है; क्योंकि विवेकपूर्वक विचार करने पर जैसे रज्जु में होने वाले सर्पभ्रम किसी भी सर्प की उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार हृदय के भीतर जो यह देह में अहंता और बाह्य विषयों में ममतारूपी सम्बन्ध भी होता है, विवेकपूर्वक विचार करने पर उसकी किसी तरह भी उपलब्धि नहीं होती। जाने बिना ही भ्रम से ब्रह्म ही जगत् के रूप में प्रतीत होता है, ब्रह्म का अच्छी प्रकार ज्ञान हो जाने पर सम्पूर्ण जड-चेतन की अन्तिम सीमारूप ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। अज्ञानी चालक की तरह यह जीवात्मा अज्ञान के कारण चित्तस्वरूप को प्राप्त हुआ है, इसलिए चित्त के चलने पर अपने आपको चलता हुआ देखता है, चित्त के स्थिर होने पर अपने को भी स्थिर देखता है। यह आत्मा इस तरह अज्ञान से इस उपद्रव युक्त चित्त को ही अपना स्वरूप समझता है। स्थावर योनियों में जीवात्मा का चित्त न

तो सुषुप्ति की तरह विलीन ही होता है और न जंगम प्राणियों की तरह चञ्चल ही रहता है; बल्कि मूढ़ मनुष्य की तरह वह बीच की-सी स्थिति में रहता है। उन स्थावर योनियों में जीवात्मा विवेकशून्य और दु:ख का प्रतीकार करने में असमर्थ रहता है; अत: उन स्थावर शरीरों में मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि वहाँ जीवात्मा कर्मेन्द्रियों से, ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों से तथा मानस व्यापारों से शून्य हुआ केवल सत्ता मात्र से स्थित रहता है। बुद्धिपूर्वक विचारने पर यथार्थ वस्तुरूप परमात्मा के साक्षात्कार से चिन्मय सत्ता का जो सब में समान भाव से अनुभव होता है, वही अविनाशी मोक्षपद है। परमात्म तत्त्व को यथार्थत: जान लेने पर वासनाओं का अशेषरूप से अभाव ही सब में समभाव से सत्तारूप मोक्षपद कहा गया है। वास्तव में अविद्या नाम की कोई वस्तु कहीं भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् अखण्ड ब्रह्मस्वरूप ही है, जिस ब्रह्म ने कार्य कारण रूप इस सम्पूर्ण जगत् का निर्माण किया है। 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप नहीं है' इस प्रकार का निश्चय ही अविद्या का स्वरूप है और 'यह जगत् ब्रह्मरूप है' यह निश्चय ही उसका विनाश है।

अज्ञान का दूसरा नाम 'अविद्या' है। वह अन्य असंख्य जन्मों से चला आ रहा है, अतएव वह दृढ़ हो गया है। देह की उत्पत्ति और विनाश में, बाहर-भीतर—सर्वत्र समस्त इन्द्रियाँ उस अविद्या का ही निरन्तर अनुभव करती हैं, इसलिए वह अविद्या दृढ़ हो गयी है; क्योंकि परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान तो किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है। श्री वसिष्ठजी कहते हैं—ब्रह्म ही स्वयं ब्रह्म में तृप्त है, ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है, ब्रह्म ही ब्रह्म में स्फुरित होता है; अत: मैं भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ। क्योंकि घट भी ब्रह्म है, पट भी ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म हूँ, यह विस्तृत जगत् भी ब्रह्मस्वरूप ही है, इसलिए यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त मिथ्या राग-वैराग्य आदि की कल्पना ही नहीं हो सकती है। जिस प्रकार सुवर्ण से आभूषण और जल से तरङ्ग भिन्न नहीं है, वैसे ही प्रकृति ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

'यह देह नहीं हूँ' इस प्रकार जब ज्ञान हो जाता है, तब ब्रह्मभावना उत्पन्न होती है। इसी से देह में अहंभाव मिथ्या सिद्ध हो जाता है। उस समय पुरुष देह से विरक्त हो जाता है। 'मैं एकमत्र ब्रह्मरूप हूँ' इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर ब्रह्मभावना प्रकट होती है। उस अपने वास्तविक रूप का यथार्थ ज्ञान होने पर अज्ञान विलीन हो जाता है। मुझे न दु:ख है न कर्म है, न मोह है न कुछ अभिलषित है। मैं एकरूप, अपने स्वरूप में स्थित, शोकशून्य तथा ब्रह्मस्वरूप हूँ—यह ध्रुव सत्य है। मैं कल्पनाओं से शून्य हूँ, मैं सर्वविध विकारों से रहित और सर्वात्मक हूँ; मैं न त्याग करता हूँ और न कुछ चाहता हूँ: मैं परब्रह्मस्वरूप परमात्मा हूँ, यह ध्रुव सत्य है। जिसमें सब कुछ स्थित है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जो यह सब है, जो सब ओर विद्यमान है एवं जो सबका अद्वितीय आत्मा है, वही परब्रह्म परमात्मा है। पूर्वोक्त निश्चयवाले वे सत्पुरुष जीवन्मुक्त महात्मा सत्यस्वरूप परम शान्त परम पद में स्थित है। वे फूलों से पूर्ण, झूले के-से आन्दोलनों से चञ्चल चित्र-विचित्र वनों की पंक्तियों में एवं मेरु पर्वत की चोटियों के ऊपर विचरण करते हैं। वे अनेक प्रकार के सदाचारों के रूप में इन सभी धर्मों का स्वयं अनुष्ठान करते हैं। इसी प्रकार श्रुति-स्मृति विहित कर्मों का भी वे कर्तव्य-बुद्धि से आचरण करते हैं। उन तत्त्ववेत्ता महा-पुरुषों का मन अत्यन्त कमनीय कञ्चन और कामिनी के प्राप्त होने पर हर्ष और चञ्चलता आदि विकारों को नहीं प्राप्त होता है। वे सुख की प्राप्ति होने पर हर्षित और दु:ख की प्राप्ति होने पर खिन्न नहीं होते थे।

भुशुण्ड ने कहा—मुने ! मैं जो निर्विघ्नतापूर्वक आपका दर्शन कर रहा हूँ, इससे प्रतीत होता है कि चिरकाल से संचित किये गये मेरे पुण्यों का फल आज ही प्रकट हुआ है। मुनिराज ! आज आपके दर्शन से यह घोंसला, यह शाखा, यह मैं और यह कल्पतरु—ये सब-के-सब पवित्र हो गये।

मुनीश्वर ! युगान्तकाल में जब भीषण उपद्रव होने लगते हैं और प्रचण्ड वायु बहने लगती है, उस समय भी यह कल्पवृक्ष सुस्थिर रहता है। यह कभी भी कम्पित नहीं होता। अन्य लोकों में विचरण करनेवाले समस्त

प्राणियों के लिये यह अगम्य है, इसीलिये हमलोग यहाँ सुखपूर्वक निवास करते हैं। ऐसे उत्तम वृक्षपर निवास करनेवाले हमलोगों के निकट भला, आपत्तियाँ कैसे फटक सकती हैं।

मुनिराज ! पहले सृष्टि-रचना का संकल्प हुआ, फिर तीनों लोकों का निर्माण हुआ। उस त्रिलोकी में अवान्तर प्रदेशों का विभाग होने के बाद उनमें सात कुलपर्वतों की स्थापना हुई। उन्हीं प्रदेशों में जम्बूद्वीप की पृथक् स्थापना हुई। ब्रह्माजी ने उस जम्बूद्वीप में ब्राह्मण आदि वर्ण, उनके धर्म और उन वर्णों के लिये योग्य विद्याविशेषों की सृष्टि की। तत्पश्चात् अवनिमण्डल एवं नक्षत्र-चक्र की स्थिति और ध्रुवमण्डल का निर्माण किया। तात ! तदनन्तर चन्द्रमा और सूर्य की उत्पत्ति, इन्द्र और उपेन्द्र की व्यवस्था, हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी का अपहरण, वराहरूपधारी भगवान् द्वारा उसका उद्धार, भूपालों की रचना, मत्स्यरूपधारी भगवान् द्वारा वेदों का लाया जाना, मन्दराचल का उन्मूलन, अमृत के लिये क्षीरसागर का मन्थन, गरुड़ का शैशव, जब कि उनके पंख नहीं जमे थे, और सागरों की उत्पत्ति आदि जो निकटतम सृष्टि की स्मृतियाँ हैं, उन्हें तो मेरी अपेक्षा अल्प आयु वाले योगी भी स्मरण करते हैं; अत: उनमें मेरी क्या आदर-बुद्धि हो सकती है।

मुनिश्रेष्ठ ! हयग्रीव, हिरण्याक्ष, कालनेमि, बल, हिरण्यकशिपु, क्राथ, बलि और प्रह्लाद आदि असुरों में शिवि, न्यङ्कु, पृथु, उलाख्य, वैन्य, नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप और नहुष आदि नरेशों में तथा आत्रेय, व्यास, वाल्मीकि, शुक, वात्स्यायन, उपमन्यु, मणीमङ्कि और भगीरथ आदि महर्षियों में कुछ तो सुदूर भूतकाल में कुछ निकटतम अतीत में और कुछ इसी वर्तमान सृष्टि में उत्पन्न हुए हैं; अत: इनके स्मरण की तो बात ही क्या है। मुनिश्वर ! आप तो ब्रह्मा के पुत्र हैं। आपके भी आठ जन्म हो चुके हैं। इस आठवें जन्म में मेरा आपके साथ समागम होगा—यह मुझे पहले से ही ज्ञात था। यह वर्तमान सृष्टि जैसी है, इसके जैसे आचरण हैं और जैसा इसका अवयव संस्थान एवं दिशा गण है, ठीक इसी तरह की तीन सृष्टियाँ पहले भी हो चुकी हैं, जिनका मुझे भली भाँति स्मरण है। अमृत के लिये, जिसमें मन्दराचल के आकर्षण के प्रयास से देवता और दैत्य व्याकुल हो गये थे—ऐसा यह बारहवाँ समुद्र-मन्थन है, यह भी मुझे स्मरण है। युग-युग में जो एकार्थक, विस्तारयुक्त तथा बहुत से पाठभेदवाले पुराण प्रवृत्त होते हैं, उन सबका भी मुझे स्मरण है। प्रत्येक युग में वेद आदि शास्त्रों के ज्ञाता व्यास आदि महर्षियों द्वारा विरचित महाभारत आदि इतिहास भी मुझे याद है। इनके अतिरिक्त रामायण नाम से प्रसिद्ध जो दूसरा महान् आश्चर्यजनक इतिहास है, जिसकी श्लोक-संख्या एक लाख है, उस ज्ञान-शास्त्र का भी मुझे स्मरण है। उस शास्त्र में बुद्धिमानों के लिये हाथपर रक्खे हुए फल की तरह 'श्रीराम की तरह व्यवहार करना चाहिये, परन्तु रावण के विलासी जीवन का अनुकरण नहीं करना चाहिये' ऐसा ज्ञान बतलाया गया है। उसके निर्माता महर्षि वाल्मीकि हैं। अब उनके द्वारा जगत् में जो (वसिष्ठराम-संवादरूप) दूसरे ज्ञातशास्त्र की रचना की जायगी, उसका भी मुझे ज्ञान है और समयानुसार वह आपको भी ज्ञात हो जायगा।

कभी नष्ट न होनेवाली, संशयों से रहित एक परमात्मदृष्टि ही समस्त ज्ञानों में सबसे उन्नत और सबसे श्रेष्ठ है। परमात्मविषयक विचार समस्त दु:खों का अन्त कर देनेवाला तथा अनादिकाल से चले आते हुए अज्ञान से परिपूर्ण, दु:स्वप्न-तुल्य संसाररूपी भ्रम का विनाश करनेवाला है। समस्त संकल्पों से रहित परमात्मविषयक भावना से अज्ञानरूपी अन्धकार का, उसके कार्यों के साथ, भली प्रकार विनाश हो जाता है किंतु सामान्य बुद्धिवाले प्राणी समस्त कल्पनाओं से अतीत इस परमपद को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? अर्थात् साधारण पुरुषों के लिये वह पद प्राप्त होना कठिन है। इस परत्मविषयक भावना के अनेक भेद हैं। उनमें से सम्पूर्ण दु:खों का विनाश करने वाली प्राण भावना का मैंने आश्रय लिया है, वही यहाँ मेरे जीवन का आधार है।

मुनिराज ! इडा और पिङ्गला नाम की दो अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ इस देह रूपी घर के बीच दाहिने और ायें भाग में स्थित कोष्ठ में यानी कुक्षि में रहती हैं। उनक किसी को भान नहीं होता, वे केवल नासापुट में प्राण-

संचार द्वारा प्रतीत होती हैं। उक्त देह में यन्त्र के सदृश तीन कमल के जोड़ें हैं। वे अस्थि-मांसमय एवं अत्यन्त मृदु हैं। उनमें ऊपर और नीचे दोनों ओर से नालदण्ड लगे हुए हैं और वे सम्पुटित होकर एक दूसरे मिले हुए कोमल सुन्दर दलों से सुशोभित हैं। उन तीन हृदय-कमल यन्त्रों में प्राण की समस्त शक्तियाँ ऊपर और नीचे की ओर उसी प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार चन्द्र-बिम्ब से किरणें फैलती हैं। इन प्राणशक्तियों से ही शीघ्रगति, आगति, विकर्षण, हरण, विहरण, उत्पतन एवं निपतन की क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं।

शरीर में जो कुछ क्रिया या व्यापार होता है, वह सब शक्ति सम्पन्न वायु करती है, जिस प्रकार यन्त्र चालक कठपुतली से नृत्यादि चेष्टा करता है। उसमें ऊर्ध्वगमन और अधोगमन—ये दो प्रकार के संकेत वाले जो वायु प्रसृत होते हैं, वे दोनों श्रेष्ठ वायु प्राण एवं अपान नाम से प्रसिद्ध एवं प्रकट हैं। मैं उनकी गति का सदा अनुसरण करता हुआ स्थित रहता हूँ। उनका स्वरूप सदा शीतल और उष्ण रहता है एवं वे दोनों निरन्तर शरीर के भीतर आकाश-मार्ग की यात्रा करते रहते हैं। उन प्राण और अपान नामक वायुओं की—जो शरीर में सदा संचरण करते हैं तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में सदा समानरूप हैं—गति का अनुसरण करते हुए मेरे दिन सुषुप्ति-अवस्था में स्थित मनुष्य की भाँति व्यतीत हो रहे हैं। हृदय आदि स्थानों में निरन्तर विचरण करने वाले प्राण और अपान वायुओं की गति के तत्त्व को जानकर उसका अनुसरण करने वालाप्रसन्नचित्त पुरुष जन्म-मरणरूपी फाँसी से छूटकर सदा के लिये मुक्त हो जाता है। वह फिर इस संसार में लौटकर नहीं आता।

इस प्राण में स्पन्दन-शक्ति तथा निरन्तर गतिक्रिया रहती है। यह प्राण बाह्य एवं आन्तर सर्वाङ्गों से परिपूर्ण देह में ऊपर के स्थान में—हृदयदेश में स्थित रहता है। अपान वायु में भी निरन्तर स्पन्दशक्ति तथा सततगति रहती है। यह अपान वायु भी बाह्य एवं आन्तर समस्त अङ्गों से परिपूर्ण शरीर में नीचे के स्थान में—नाभिदेश में स्थित रहता है। मुनिवर ! किसी प्रकार के यत्न के बिना प्राणों की हृदय-कमल के कोश से होनेवाली जो स्वभाविक बहिर्मुखता है, विद्वान्लोग उसे 'रेचक' कहते हैं। बारह अंगुल पर्यन्त बाह्य प्रदेश की ओर नीचे गये हुए प्राणों का लौटकर भीतर प्रवेश करते समय जो शरीर के अङ्गों के साथ स्पर्श होता है, उसे 'पूरक' कहते हैं। अपानवायु के शान्त हो जाने पर जब तक हृदय हृदय में प्राणवायु का अभ्युदय नहीं होता, तवतक वह वायु की कुम्भकावस्था (निश्चल स्थिति) रहती है, जिसका योगीलोग अनुभव करते हैं। इसी को आभ्यन्तर कुम्भक कहते हैं। ब्रह्मन् ! मृत्तिका के अन्दर असिद्ध घट की स्थिति के सदृश बाहर थासिका के अग्रभाग से लेकर बराबर सामने बाहर अंगुल पर्यन्त आकाशमें जो आपन वायु की निरन्तर स्थिति है; उसे पण्डित लोग 'बाह्य कुम्भक' कहते हैं। अतः बाहर प्राण-वायु के अस्तंगत होनेपर जबतक अपान-वायु का उद्गम नहीं होता, तबतक एकरूप से स्थित पूर्ण (दूसरा) बाह्य कुम्भक रहता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। प्राण और अपान वायु के स्वभावभूत ये जो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भकादि प्राणायाम हैं; उनका भली प्रकार तत्त्व-रहस्य जानकर निरन्तर उपासना करने वाला पुरुष पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य अपने भीतर बुद्धिपूर्वक सम्यक् प्रकार से इन कुम्भक आदि प्राणायामों का स्मरण करता हुआ जो कुछ करता है या खाता है, उनमें वह कर्तृव्य आदि के अभिमान से तनिक भी ग्रस्त नहीं होता।

इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने वाले पुरुष का मन विषयाकार वृत्तियों के होने पर भी बाह्य विषयों में रमण नहीं करता। जो शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धिबाले महात्मा इस प्राणविषयक दृष्टि का अवलम्बन करके स्थित हैं, उन्होंने प्रापणीय पूर्ण ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लिया और वे ही समस्त खेदों से रहित हैं। बैठते, चलते, सोते और जागते—सदा-सर्वदा पुरुष यदि तत्त्व-रहस्य समझकर प्राणायाम का अभ्यास करें तो वे कभी बन्धन को प्राप्त ही न हों। ब्रह्मन् ! हृदय-कमल से प्राण का अभ्युदय होता है और बाहर अंगुल पर्यन्त प्रदेश में यह प्राण विलीन होकर रहता है। इसी को 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। जिस बारह अंगुल की चरम सीमा के आकाश-प्रदेश से यह आपन उसी के बाद उत्पन्न हो जाता है। यह प्राण-वायु अग्नि-शिखा की भाँति बाह्य आकाश के सम्मुख होकर बहता,

है और अपान-वायु जल की तरह हृदयाकाश के सम्मुख होकर बहता है और अपान-वायु जल की तरह हृदयाकाश के सम्मुख होकर निम्न भाग में बहता है है। चन्द्रमारूप आपन-वायु शरीर को भीतर से परिपक्व कर देता है। प्राणरूपी सूर्य की किरण का अपानरूपी चन्द्रमा के साथ बाह्य-कुम्भक के समय जिस बाह्य-प्रदेश स्थित ब्रह्म से सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्मपद को प्राप्तकर मनुष्य पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता।

जो पुरुष हृदयाकाश में स्थिति प्राणरूप सूर्यदेव को उदय-अस्त, चन्द्रमा-रश्मि और गमनागमन सहित तत्त्व से अनुभव करता है, वही यथार्थ अनुभव करता है। जैसे बाह्य अन्धकार के नष्ट हो जानेपर बाहर के पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार हृदयस्थित अज्ञान के नष्ट हो जाने पर शुद्ध स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। प्राण-वायु के विलीन हो जाने पर और अपान-वायु के उदय के पूर्व बाह्य कुम्भ का चिरकाल तक अभ्यास करने से योगी शोक से रहित हो जाता है। अपान-वायु के विलीन होनेपर और प्राण-वायु के उदय से पूर्व भीतरी कुम्भक का चिरकाल तक अभ्यास करने से योगी शोक से रहित हो जाता है। जिस हृदयवर्ती ब्रह्मरूप स्थान में ये प्राण और अपान दोनों विलीन हो जाते हैं, उस शान्त, आत्म स्वरूप ब्रह्मरूप पद का अवलम्बन करने से योगी अनुतप्त नहीं होता। महर्षे ! जिस चिन्मय परब्रह्म परमात्मा में अपान के साथ प्राण का, प्राण के साथ अपान का तथा उन दोनों के साथ बाह्य एवं आभ्यन्तर देश-काल का विलय हो जाता है, उसी परब्रह्मरूप पद का आप दर्शन कीजिये।

जिस समय अपान के प्राकट्य से पूर्व प्राण विलीन हुआ रहता है, उस समय किसी प्रकार के यत्न के बिना स्वाभाविक सिद्ध हुई जो बाह्य-कुम्भक अवस्था है, उसी को योगी लोग 'परम पद' कहते हैं। उसी प्रकार के यत्न के बिना ही सिद्ध हुआ अन्तःस्थ कुम्भक सर्वातिशायी ब्रह्म रूप परम पद है। यह परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है और यही सदा प्रकाशमय परम विशुद्ध चेतन है। इसको प्राप्त कर मनुष्य शोक से रहित हो जाता है। जो प्राण-विलय का और जो अपान-विनाश का समीप एवं अन्त में रहकर प्रकाशक है तथा जो प्राण और अपान के अंदर रहता है, जिसकी सत्ता-स्फूर्ति से मन मनन करता है, बुद्धि निश्चय करती है, अहंकार अहंता को प्राप्त है, जिस परमात्मा में समस्त पदार्थ विद्यमान हैं, जिससे समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है, जो सब ओर स्थित है, जो सर्वमय है, जो सम्पूर्ण ज्योतियों का प्रकाशक है, जो समस्त पवित्रों का भी परम पवित्र है, जो सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प आदि भावनाओं से रहित है, जहाँ पर प्राण विलीन हो जाता है, जहाँ अपान भी अस्त हो जाता है तथा जहाँ प्राण और अपान दोनों उत्पन्न भी नहीं होते, बाह्य और आभ्यन्तर प्रदेश में स्थित, योगियों द्वारा अनुभूत होने वाले जो दो प्राण और अपान की उत्पत्ति के स्थान हैं, जो प्राण और अपान के विवेक में हेतु है, जो उनके अस्तित्व का ज्ञान कराने वाला है, जो स्वयं रूप रहित है एवं जो प्राणोपासना से प्राप्तव्य है, उस चिन्मय विज्ञानानन्द घन परमात्मा की उपासना करते हैं।

भुशुण्ड ने कहा—मैंने प्राण समाधि के द्वारा पूर्वोक्त रीति से विशुद्ध परमात्मा में यह चित्त-विश्राम रूप परम शान्ति क्रमशः स्वयं प्राप्त की है। मैं इस प्राणायाम का अवलम्बन करके दृढ़ता पूर्वकस्थित हूँ। इसलिये सुमेरु पर्वत के विचलित होने पर भी मैं चलायमान नहीं होता। चलते-बैठते, जागते या सोते अथवा स्वप्न में भी मैं अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति रूप समाधि से विचलित नहीं होता; क्योंकि तपस्वियों में महान् वसिष्ठ जी ! प्राण और अपान के संयम रूप प्राणायाम के अभ्यास से प्राप्त परमात्मा के साक्षात् अनुभव से मैं समस्त शोकों से रहित आदि कारण परम पद को प्राप्त हो गया हूँ। ब्रह्मन् ! महाप्रलय से लेकर प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश को देखता हुआ मैं ज्ञानवान् हुआ आज भी जी रहा हूँ। जो बात बीत चुकी और जो होने वाली है, उसका मैं कभी चिन्तन नहीं करता। उपर्युक्त प्राणायामविषयक दृष्टि का अपने मन से अवलम्बन करके इस कल्प-वृक्ष पर स्थित हूँ। न्याय युक्त जो भी कर्तव्य प्राप्त हो जाते है, उनका फलाभिलाषाओं से रहित होकर केवल सुषुप्ति के समान उपरत बुद्धि से अनुष्ठान करता रहता हूँ। प्राण और अपान के संयोग रूप कुम्भक-काल में प्रकाशित होने वाले परमात्म तत्त्व

का निरन्तर स्मरण करता हुआ मैं अपने आप में स्वयं ही नित्य संतुष्ट रहता हूँ। इसलिये मैं दोषरहित होकर चिर काल से जी रहा हूँ। मैंने आज यह प्राप्त किया और भविष्य में दूसरा सुन्दर पदार्थ प्राप्त करूँगा, इस प्रकार की चिन्ता मुझे कभी नहीं होती। मैं अपने या दूसरे किसी के कार्यों की किसी समय कहीं पर कभी स्तुति और निन्दा नहीं करता। शुभ की प्राप्ति होने पर मेरा मन हर्षित नहीं होता और अशुभ की प्राप्ति होने पर कभी खिन्न नहीं होता; क्योंकि मेरा मन नित्य सम ही रहता है।

मुने ! मेरे मन की चञ्चलता शान्त हो गयी है। मेरा मन शोक से रहित, स्वस्थ, समाहित एवं शान्त हो चुका है। इसलिये मैं विकार-रहित हुआ चिरकाल से जी रहा हूँ। लकड़ी, रमणी, पर्वत, तृण, अग्नि, हिम, आकाश—इन सबको मैं समभाव से देखता हूँ। जरा और मरण आदि से मैं भयभीत नहीं होता एवं राज्य प्राप्ति आदि से हर्षित नहीं होता। इसलिये मैं •अनामय होकर जीवित हूँ। ब्रह्मन् ! यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा है एवं यह दूसरे का है—इस प्रकार की भेद-बुद्धि से मैं रहित हूँ। ग्रहण और विहार करने वाला, बैठने और खड़ा रहने वाला, श्वास तथा निद्रा लेने वाला यह शरीर ही है, आत्मा नहीं— यह मैं अनुभव करता हूँ। मैं इसलिये मैं चिरजीवी हूँ। मैं जो कुछ क्रिया करता हूँ, जो कुछ खाता-पीता हूँ, यह सब अहंता-ममता से रहित हुआ ही करता हूँ। मैं दूसरों पर आक्रमण करने में समर्थ हुआ भी आक्रमण नहीं करता, दूसरों के द्वारा खेद पहुँचाये जाने पर भी दु:खित नहीं होता एवं दरिद्र होने पर भी कुछ नहीं चाहता. इसलिये मैं विकार-रहित हुआ बहुत काल से जी रहा हूँ। मैं आपत्ति काल में भी चलायमान नहीं होता, वरं पर्वत की तरह अचल रहता हूँ। जगत् आकाश, देश-काल, परम्परा क्रिया—इन सबमें चिन्मय रूप से मैं ही हूँ, इस प्रकार की मेरी बुद्धि है; इसलिये मैं विकार-रहित हुआ बहुत काल से स्थित हूँ। ज्ञान के पारंगत ब्रह्मन् ! एक मात्र आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये ही धृष्टतापूर्वक मैंने, जो और जैसा हूँ, वह सब आपसे यथार्थ रूप से बता दिया है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—'ऐश्वर्यपूर्ण पक्षिराज ! यह बड़े हर्ष का विषय है, जो आपने कानों के लिये भूषण स्वरूप यह अत्यन्त आश्चर्यमयी अपनी अलौकिक स्थिति मुझ से कही है। वे महात्मा धन्य हैं, जो ब्रह्माजी के समान स्थिति अत्यन्त दीर्घजीवी आपके दर्शन करते हैं। ये मेरे नेत्र भी धन्य हैं, जो बराबर आपके दर्शन करते हैं। ये मेरे नेत्र भी धन्य हैं, जो बराबर आपके दर्शन कर रहे हैं। अपने मुझ से बुद्धिको पवित्र करने वाला अपना सम्पूर्ण जीवन-वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों ठीक-ठीक कहा है। मैंने सब दिशाओं में भ्रमण किया और देवताओं एवं बड़े-बड़े तत्त्व-वेत्ताओं की ज्ञान आदि विभूतियों को देखा, परंतु इस जगत् में आपके समान दूसरे किसी महान् ज्ञानी को नहीं देखा। इस संसार में भ्रमण करने पर किसी को किसी महान् पुरुष की प्राप्ति हो भी सकती है; परंतु आप-जैसे ज्ञानी महात्माओं का प्राप्त होना तो इस जगत् में कहीं भी सुलभ नहीं है अर्थात् दुर्लभ है। पुण्य-देह एवं विमुक्तात्मा आपका अवलोकन करके मैंने तो आज अत्यन्त कल्याणकार एक बहुत बड़ा कार्य सम्पादन कर लिया है। पक्षिराज ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपनी शुभ गुफा में प्रवेश करो; क्योंकि मध्याह्न-कर्तव्य के लिये मेरा समय हो गया है; अत: मैं भी देवलोक में जा रहा हूँ।'

सत्युग के प्रथम दो शतक जब व्यतीत हो चुके थे, तब मेरु पर्वत के उस कल्पवृक्ष पर भुशुण्ड के साथ मैंने पहले-पहल भेंट की थी। इस सत्ययुग के क्षीण हो जाने पर त्रेतायुग चल रहा है और इस त्रेतायुग के मध्य में आप प्रकट हुए हैं। आज से आठ वर्ष पहले सुमेरु पर्वत के उसी शिखर के ऊपर ज्यों-का-त्यों अजररूपधारी वह भुशुण्ड मुझसे फिर मिला था। इस प्रकार का विचित्र उत्तम भुशुण्ड-वृत्तान्त मैंने तुमसे कहा, इसका श्रवण और विचार करके जैसा उचित समझो, वैसा करो।

इस शरीररूपी घर का—जिसमें हड्डियाँ ही खंभे हैं, मुख आदि नौ दरवाजे हैं और जो रक्त और मांस से लीपा गया है—वास्तव में किसी ने भी इसका निर्माण नहीं किया है। यह शरीर केवल आभासरूप (झलक-

मात्र) ही है—बिना निर्माता के ही अज्ञान से भासित होता है। यह देह प्रतीत होता है, इसलिये इसे सत् कहा गया है और वास्तव में यह नहीं है, इसलिये असत् कहा गया है। जैसे स्वप्नकाल में ही स्वाप्निक पदार्थ सत्-से प्रतीत होते हैं, किंतु जाग्रत्काल में वे असत् हैं—उनका अत्यन्त अभाव है, तथा जैसे मृगतृष्णिका का जल भी मृगतृष्णिका की प्रतीति होने पर ही सत्-सा रहता है, अन्य विचारकाल में वह असत् रहता है, वैसे ही देह की प्रतीति होने पर देह सत्य-सी है और आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर असत्य है, अर्थात् उसका अत्यन्त अभाव है। इसलिए ये शरीर आदि, जो केवल आभासरूप ही हैं, अज्ञानकाल में ही प्रतीत होते हैं।

ये शरीर जिस प्रसार मानसिक संकल्प से उत्पन्न—अतएव सद्रूप और असद्रूप है। यह मेरा धन है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा देश है—इस प्रकार की जो भ्रमजनित प्रतीति होती है, वह भी अज्ञान से ही होती है; क्योंकि धन आदि सब कुछ चित्तजनित संकल्प का ही कार्य है। इस संसार को एक तरह का दीर्घ स्वप्न, दीर्घ चित्तभ्रम या दीर्घ मनोराज्य ही समझना चाहिये। स्वप्न और संकल्पों से (मनोराज्यों से) जैसे एक विलक्षण बिना हुए ही जगत् की प्रतीति होती है, वैसे ही यह व्यावहारिक जगत् की स्थिति भी एक प्रकार से संकल्पजनित एवं विलक्षण (अनिर्वचनीय) ही है; क्योंकि वह बिना हुए ही प्रतीत होती है। पौरुष-प्रयत्न से मन को अन्तर्मुख बनाने पर जब परमात्मा के तत्त्व का यथार्थ साक्षत्कार हो जाता है, तब यह जगदाकार संकल्प चिन्मय परमात्मारूप ही अनुभव होने लगता है; किंतु यदि उसकी विपरीत रूप से भावना की जाय तो विपरीत ही अनुभव होने लगता है। क्योंकि 'यह वह है', 'यह मेरा है' और 'यह मेरा संसार है'—इस प्रकार की भावना करने पर देहादि जगद्रूप संकल्प जो सत्य-सा प्रतीत होता है, वह केवल सुदृढ़ भावना से ही होता है। दिन के व्यवहारकाल में मनुष्य जैसा अभ्यास करता है, वैसा ही स्वप्न में उसे दिखलायी पड़ता है। उसी प्रकार बारंबार जैसी भावना की जाती है, वैसा ही यह संसार दिखलायी देता है। जैसे स्वप्नकाल में थोड़ा-सा समय भी अधिक समय प्रतीत होता है, वैसे ही यह संसार अल्पकालस्थायी और विनाशशील होने पर भी स्थिर प्रतीत होता है।

जैसे सूर्य की किरणों से मरुभूमि में मृगतृष्णा-नदी दिखायी देती है, वैसे ही ये पृथिवी आदि पदार्थ वास्तविक न होने पर भी संकल्प से सत्य-से दिखायी देते हैं। जिस प्रकार नेत्रों के दोष से आकाश में मोरपंख दिखायी देते हैं, वैसे ही बिना हुए ही यह जगत् मन के भ्रम से प्रतीत होता है। किंतु दोषरहित नेत्र से जैसे आकाश में मोरपंख नहीं दिखायी देते, वैसे ही यथार्थ ज्ञान होने पर यह जगत् दिखलायी नहीं पड़ता। जिस प्रकार डरपोक मनुष्य भी अपने कल्पित मनोराज्य के हाथी, बाघ आदि को देखकर भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह समझता है कि यह मेरी कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है, वैसे ही यथार्थ ज्ञानी पुरुष इस संसार को कल्पित समझकर भयभीत नहीं होता; क्योंकि ये भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत् प्रतीतिमात्र ही हैं। वे वास्तव में नहीं हैं, इसलिये सत् नहीं है और उनकी प्रतीति होती है, इसलिये उनको सर्वथा असत् भी नहीं कह सकते; अतएव अन्य कल्पनाओं का अभाव ही परमात्मा का यथार्थ ज्ञान है। इस संसार में व्यवहार करने वाले सभी मनुष्यों को अनेक प्रकार की आपदाएँ स्वाभाविक ही प्राप्त हुआ करती हैं। क्योंकि यह जगत्-समूह वैसे ही उत्पन्न होता है, बढ़ता है और विकसित होता है, जैसे समुद्र में बुद्बुदों का समूह; फिर इस विषय में शोक ही क्या। परमात्मा जो सत्य वस्तु है, वह सदा सत्य ही है और यह दृश्य जो असत्य वस्तु है, वह सदा असत्य ही है; इसलिये मायारूप विकृति के वैचित्र्य से प्रतीयमान इस प्रपञ्च में ऐसी दूसरी कौन वस्तु है, जिसके विषय में शोक किया जाय ?

मनुष्य को विवेक-बुद्धि से आसक्ति और अनासक्ति का परित्याग करके अनायास ही शास्त्र-
·हित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, शास्त्रनिषिद्ध कर्मों का कभी नहीं। अर्थात् उनकी सर्वथा उपेक्षा कर देनी
ये। यह दृश्यमान प्रपञ्च केवल प्रतीतिमात्र है, वास्तव में कुछ नहीं है—यों जिस मनुष्य को भलीभाँति अनुभव
ा है, वह अपने भीतर परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है। अथवा 'मैं और यह सारा प्रपञ्च चैतन्यात्मक

परब्रह्मस्वरूप ही है'—इस प्रकार अनुभव करने पर अनर्थकारी यह व्यर्थ जगद्रूपी आडम्बर प्रतीत नहीं होता। जो कुछ भी आकाश में या स्वर्ग में या इस संसार में सर्वोत्तम परमात्म-वस्तु है, वह एकमात्र राग-द्वेष आदि के विनाश से ही प्राप्त हो जाती है। जो पुरुष शास्त्रों में निपुण, चतुर एवं बुद्धिमान् होकर भी राग-द्वेष आदि से परिपूर्ण हैं, वे संसार में शृगाल के तुल्य हैं। उन्हें धिक्कार है। धन, बन्धुवर्ग, मित्र—ये सब बार-बार आते और जाते रहते हैं; इसलिये उनमें बुद्धिमान् पुरुष क्या अनुराग करेगा। कभी नहीं, उत्पत्ति-विनाशशील भोग-पदार्थों से परिपूर्ण संसार की रचनारूप यह परमेश्वर की माया आसक्त पुरुषों को ही अनर्थ गर्तों में ढकेल देती है। वास्तव में धन, जन और मन सत्य नहीं हैं, किंतु मिथ्या ही दीख पड़ते हैं। क्योंकि आदि और अन्त में सभी पदार्थ असत् हैं और बीच में भी क्षणिक एवं दुःखप्रद हैं; इसलिये बुद्धिमान् पुरुष आकाश-वृक्ष के सदृश कल्पित इस संसार से कैसे प्रेम करेगा।

जब केवल संकल्परूपी नाभि का भली प्रकार अवरोध कर दिया जाता है, तभी यह संसाररूपी चक्र घूमने से रुक जाता है। किंतु संकल्पात्मक मनोरूप नाभि को राग-द्वेष आदि से क्षोभित करने पर यह संसाररूपी चक्र रोकने की चेष्टा करने पर भी वेग के कारण चलता ही रहता है। इसलिये परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन की युक्तियों के द्वारा ज्ञानरूपी बल से चित्तरूपी संसार-चक्र की नाभि का अवश्य अवरोध करना चाहिये। क्योंकि कहीं पर ऐसी कोई वस्तु उपलब्ध है ही नहीं, जो उत्तम बुद्धि तथा सौजन्य से परिपूर्ण शास्त्रसम्मत परम पुरुषार्थ से प्राप्त न की जा सके। प्रज्ञासौजन्ययुक्तेन शास्त्रसंवलितेन च। पौरुषेण न यत्प्राप्तं न तत्क्वचन लभ्यते॥ आधि और व्याधि से निरन्तर दुःखित, अश्रु आदि से क्लिन्न तथा स्वयं विनाशशील इस शरीर में उस प्रकार की भी स्थिरता नहीं रहती, जिस प्रकार की चित्रलिखित पुरुष में रहती है। चित्रित मनुष्य की यदि भलीभाँति रक्षा की जाय तो वह दीर्घकाल तक सुशोभित रहता है; किंतु उसका बिम्बरूप शरीर तो अनेक यत्नों से रक्षित होने पर भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। स्वप्न आदि का शरीर स्वप्नकालीन संकल्प से जनित होने के कारण दीर्घकालीन संकल्प से उत्पन्न होने के कारण दीर्घकाल दुःखों से आक्रान्त रहता है। संकल्प से उत्पन्न होने के कारण दीर्घकाल के दुःखों से आक्रान्त रहता है। संकल्पमय यह शरीर स्वयं भी नहीं है और न आत्मा के साथ इसका सम्बन्ध ही है; अतः इस शरीर के लिये यह अज्ञानी जीव निरर्थक क्लेश का भाजन क्यों बनता है? अर्थात् इसमें एकमात्र अज्ञान ही हेतु है। जिस प्रकार मनोराज्य में उत्पन्न शरीर आदि पदार्थों का क्षय या विनाश हो जाने पर आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती, जिस प्रकार स्वप्न में उत्पन्न पदार्थों का क्षय या विनाश हो जाने पर आत्मा की हानि नहीं होती अथवा जिस प्रकार मृगतृष्णिका-नदी के जल का क्षय या विनाश हो जाने पर वास्तविक जल की कुछ भी हानि नहीं होती, उसी प्रकार एकमात्र संकल्प से उत्पन्न, स्वभावतः विनाशशील इस शरीररूपी यन्त्र का क्षय या विनाश हो जाने पर आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती। अतः शरीर के लिये शोक करना निरर्थक ही है। चित्त के संकल्प से कल्पित तथा दीर्घकालीन स्वप्नमय इस देह के अलंकारों से भूषित या आधि-व्याधि से दूषित हो जाने पर चेतन आत्मा की कुछ भी हानि नहीं है। देह का विनाश होने पर चेतन आत्मा विनष्ट नहीं होता।

अज्ञानरूपी चक्र के ऊपर स्थित हुआ जीवात्मा देह के जन्म-मरणरूपी चक्र को देखता रहता है, वह उत्तरोत्तर अधिक भ्रान्ति को देने वाला, स्वयं भ्रान्तिरूप, पतनोन्मुख स्वरूप से ग्रस्त, भली प्रकार अनर्थ-गर्तों में गिराया गया, हत एवं हन्यमान ही दीख पड़ता है। इसलिये मनुष्य को उत्तम धैर्य का भली प्रकार आश्रय लेकर इस अनादि दृढ़ीभूत भ्रम का परित्याग कर देना चाहिये। मिथ्या अज्ञान के द्वारा एकमात्र संकल्प से उत्पन्न हुआ यह शरीर सत्य-सा होने पर भी वास्तव में असत्य ही है; क्योंकि जो वस्तु अज्ञान से उत्पन्न हुई है, वह किसी समय भी सत्य नहीं हो सकती।

विवेक एवं धैर्य से रहित जिस मूर्ख ने अपने अहंकाररूपी महोत्सव का अवलम्ब किया, उसे तत्काल विनष्ट हुआ ही समझो। जिन बेचारों को अहंकाररूपी पिशाच ने अपने अधीन बना लिया, वे सब नरकरूपी अग्नियों के इन्धन ही बन गये अर्थात् वे नरक की ज्वाला से जलते रहते हैं। पापशून्य 'हा ! हा ! मैं मर गया हूँ', 'मैं जल गया हूँ' इत्यादि जो दुःखवृत्तियाँ हैं, वे अहंकाररूपी पिशाच की ही शक्तियाँ हैं, दूसरे की नहीं। जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश यहाँ किसी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक आत्मा भी अहंकार से लिप्त नहीं होता। प्राणवायु से युक्त यह चञ्चल देहरूपी यन्त्र जो कुछ करता एवं जो कुछ लेता है, वह सब अहंकार की ही चेष्टा है।

जड चित्त का, जो आत्मा से सर्वथा पृथक् है, चेतन आत्मा के साथ कभी सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। चित्त ही आत्मा है—यों अज्ञान से ही प्रतीत होता है। यह जो आत्मा है, वह ज्ञानस्वरूप (चैतन्यरूपी), अविनाशी, सर्वत्र विद्यमान और व्यापक है; जब कि अहंकाररूप चित्त तो मूर्ख और हृदयवर्ती सबसे बडा अज्ञान है। जिस पुरुष का चित्तरूपी वेताल शान्त हो चुका है, ऐसे पुरुष का गुरु, शास्त्र, धन और बन्धु उसी प्रकार उद्धार करने में समर्थ हैं, जिस प्रकार अल्प कीचड़ में फँसे हुए पशु का मनुष्य उद्धार करने में समर्थ हो। इस जगत्रूपी महान् अरण्य में अपने द्वारा ही स्वयं दृढ़ता से धैर्य धारणकर अपना उद्धार कर लेना चाहिये। मनुष्य को उचित है कि विषयरूपी सर्पों का बहिष्कार कर दे, आर्यों के मार्ग का अनुसरण करे और महा वाक्यों के अर्थ का भली प्रकार विचार करके अपनी अद्वितीय आत्मा का ही आश्रय ले। मनुष्य को अपवित्र, तुच्छ, भाग्य रहित तथा दुष्ट आकृति वाले इस शरीर के आराम के लिये विषय भोग में कभी नहीं फँसना चाहिये; क्योंकि उसमें फँसे हुए पुरुषों को चिन्ता रूप क्रूर राक्षसी खा डालती है। जैसे पत्थर का पत्थरपन अथवा जैसे घट का घटपना सामान्य सत्ता स्वरूप परमात्मा से अभिन्न ही है, वैसे ही समष्टि मन आदि भी परमात्मा से अभिन्न ही हैं।

कैलास नामक एक पर्वतों का राजा है। वह अपनी ऊँचाई से स्वर्ग लोक को भी पार गया है और वह उमापति भगवान् श्री शंकर का निवास स्थान है। वहाँ पर स्वयं प्रकाशमान भगवान् महादेव जी रहते हैं। पहले किसी समय उसी पर्वत पर उन देवाधि देव की पूजा करता हुआ मैं गङ्गा जी के किनारे आश्रम बनाकर रहता था। तप के लिये वहाँ पर मैंने दीर्घ काल तक तपस्वियों के आचरण का अनुसरण किया। वहाँ पर मेरे चारों ओर सिद्धों के समूह रहते थे। मैं उनसे विचार-विनिमय करके शास्त्रीय दुरुह तत्त्वों का अनुशीलन करता था। मैंने फूल चुनने के लिये एक डलिया रख छोड़ी थी और अनेक शास्त्रीय पुस्तकें भी जुटा रखी थीं। उस तरह के गुणों से सम्पन्न कैलास वन के कुञ्जों में तपश्चर्या करते हुए मेरा बहुत समय व्यतीत हो गया। इसके अनन्तर किसी एक समय की बात है—श्रावण के कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि थी और रात्रि का प्रथम भाग यानी प्रदोष काल पूजा, जप, ध्यान आदि में व्यतीत हो चुका था। उस समय उस अरण्य में मैंने तत्काल ही उत्पन्न हुआ एक बड़ा तेज देखा। वह तेज सैकड़ों बादलों के तुल्य सफेद एवं असंख्य चन्द्र-बिम्बों के सदृश चमकीला था, उस तेज की चकाचौंध से दिशाओं के समस्त कुञ्ज चमक उठे। उसे देख कर मैंने भीतर की प्रकाशमान दिव्य-दृष्टि से उसके विषय में विचार किया और तदनन्तर फिर बाह्य दृष्टि से विशेष अवयवों के अनुसंधानपूर्वक उसका अवलोकन किया। विचार कर ज्यों ही मैं सामने का शिखर-प्रदेश देखता हूँ, त्यों ही चन्द्र कलाधर महादेव जी उपस्थित हो गये। वहाँ अर्घ्य पात्र लेकर सावधान एवं प्रसन्न मन मैं उन गौरीपति के निकट गया। तदनन्तर चन्द्र-ज्योत्स्ना के समान कोमल, शीतल तथा समस्त संतापों का अपहरण करने वाली उस महादेव जी की दृष्टि का मैं दीर्घकाल तक भाजन बना रहा। पुष्पों के शिखर पर उपविष्ट तीनों लोकों के साक्षी उन देवाधिदेव को मैंने समीप जाकर अर्घ्य, पुष्प तथा पाद्य समर्पण किया। उनके सामने मैंने अनेक मन्दार-पुष्पों की अञ्जलियाँ बिखेर दीं और नानाविध नमस्कार एवं स्तोत्रों से शिव जी का अभ्यर्चन किया। तदनन्तर मैंने शिव जी की पूजा के

सदृश ही पूजा से सखियों से युक्त तथा गणमण्डल से परिवेष्टित भगवती गौरी का उत्तम रीति से पूजन किया। पूजा की समाप्ति होने पर उनकी आज्ञा से पुष्पमय शिखर पर बैठे हुए मुझसे अर्ध चन्द्र की कला धारण करने वाले भगवान् उमापति परिपूर्ण हिमांशु की किरण के सदृश शीतल वाणी से कहने लगे।

भगवान् उमापति ने कहा—ब्रह्मन् ! शान्ति से युक्त, परमात्मा में विश्राम लेने वाली तथा कल्याण करने वाली तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ अपने स्वरूप में अवस्थित तो हैं ? तुम्हारा कल्याण कारी तप निर्विघ्न रूप से बराबर चल रहा है न ? तुमने प्राप्तव्य वस्तु प्राप्त कर ली है न ? और सांसारिक भय शान्त हो रहे हैं न ?

(श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—) रघुनन्दन ! महेश्वर ! देवाधि देव ! त्रिलोचन ! आपकी निरन्तर स्मृति से प्राप्त हुए उत्तम कल्याण से सम्पन्न पुरुषों के लिये इस संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है और न किसी तरह के भय ही हैं। आपके निरन्तर स्मरण से जनित आनन्द के कारण जिनका चित्त चारों ओर से मुग्ध हो गया है, ऐसे पुरुषों को इस जगत्कोश में सभी प्राणी प्रणाम करते हैं। एकमात्र आपके अनुस्मरण में निरन्तर जिनका मन लगा रहता है, ऐसे पुरुष जहाँ स्थित रहते हैं, वे ही देश, वे ही जनपद, वे ही दिशाएँ और वे ही पर्वत प्रशस्ततम हैं। प्रभो ! आपका अनुस्मरण पूर्व-संचित, वर्तमान और भविष्य के पुण्य समूह की वृद्धि करता है। आपका अनुस्मरण ज्ञान रूपी अमृत का एकमात्र आधार भूत कलश है, धृति रूपी ज्योत्स्ना के लिये चन्द्रमा है और मोक्ष रूपी नगर का द्वार है। समस्त भूतों के अधिपते ! आपके निरन्तर चिन्तन रूपी उदार चिन्तामणि से शोभित मैंने समस्त वर्तमान और भविष्य कालीन आपत्तियों को पैर से ठुकरा दिया है।' श्रीराम ! सुप्रसन्न उन भगवान् शंकर जी से यों कह कर फिर नत मस्तक हो मैंने जो कुछ कहा, उसे तुम सुनो ! 'भगवन् ! यद्यपि आपकी अनुकम्पा से मेरे लिये समस्त दिशाएँ अभीष्ट पदार्थों से परिपूर्ण हैं, तथापि देवेश ! मुझे जो एक संदेह है, उसके विषय में आप से निर्णय पूछता हूँ। प्रभो ! वह देवार्चन-विधान किस तरह का है, जो उद्वेग का नाशक, विकार रहित, समस्त पापों का विनाशकारी तथा समस्त कल्याणों का अभिवर्धक है ? उसे प्रसन्न मति से आप मुझसे कहिये।'

श्रीमहादेवजी ने कहा—ब्रह्मज्ञानियों में अग्रगण्य मुनिवर ! मैं तुमसे सर्वश्रेष्ठ वह देवार्चन का विधान कहता हूँ, जिसका अनुष्ठान करने से तत्काल ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। जो आदि और अन्त से रहित, वास्तविक ज्ञान स्वरूप है, वही 'देव' कहा जाता है। सबको सत्ता स्फूर्ति देनेवाला सत्-स्वरूप सच्चिदानन्द घन ब्रह्म ही 'देव' शब्द का वाच्य है, इसलिये उसी की पूजा करनी चाहिये। कौन पूज्य है, इस विषय का तात्त्विक ज्ञान रखने वाले विद्वान् कहते हैं कि एक मात्र निर्गुण निराकार विज्ञानानन्द घन विशुद्ध परमात्मा शिव ही पूज्य है और उसकी पूजन-सामग्री में ज्ञान, समता और शान्ति—ये सबसे श्रेष्ठ पुष्प हैं। महर्षे ! ज्ञान स्वरूप परमात्म देव की ज्ञान, समता और शान्ति रूप पुष्पों से जो पूजा की जाती है, उसी को आप वास्तविक देवार्चन जानिये। परमात्मा ही विज्ञान स्वरूप देव, भगवान् शिव और परम कारण स्वरूप है। अतः ज्ञान रूप पूजन-सामग्री से उसी की सदा-सर्वदा पूजा करनी चाहिये। महर्षे जो परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है, जो आपका—'तत्' पदार्थ का, मेरा तथा समस्त जगत् का स्वरूप भूत है, एवं जो स्वयं परिपूर्ण स्वरूप है, ज्ञान रूप सामग्री से पूजा करने योग्य उस देव का मैंने आप से वर्णन कर दिया। सभी वस्तुओं का समस्त जगत् का, दूसरे का, आपका और मेरा सर्वव्यापी चिन्मय परमात्मा ही पारमार्थिक स्वरूप है, दूसरा नहीं।

श्रीमहादेवजी ने कहा—ब्रह्मन् ! इस रीति से यह संसार समस्त संसार एकमात्र परमात्म स्वरूप ही है। ब्रह्म ही परम आकाश है और यही सबसे बड़ा देव कहा गया है। इस परमदेव का पूजन सबसे कल्याणकर है। उसीसे सब कुछ प्राप्त होता है। यही समस्त जगत्-सृष्टि के आरोप का अधिष्ठान है और उसी में यह सब व्यवस्थित है। स्वाभाविक, आदि-अन्त से रहित, अद्वितीय, अखण्ड नित्य परमानन्द उसी एकमात्र देव के अर्चन से प्राप्त होता है। वह सच्चिदानन्द काल्याण स्वरूप शिव समस्त गुणों से अतीत और सम्पूर्ण संकल्पों से रहित है। देश और

काल आदि परिच्छेदों से रहित, समस्त संसार का प्रकाश करनेवाला विशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा ही देव कहा जाता है। वही परब्रह्म परमात्मा 'ॐ', 'तत्', 'सत्'—इन नामों से कहा गया है। यह स्वभावतः महान्, ध्रुव, सत्यस्वरूप है, सर्वत्र समभाव से व्यापक है; वही महान् चेतन और परमार्थ स्वरूप कहा जाता है। वह परमात्मा सर्व-व्यापी होने से किसी के लिये भी दूर नहीं है; अतः वह किसी के लिये दुष्प्राप्य भी नहीं है। वही यह परमात्मा चिन्मय, सूक्ष्म , सर्वव्यापी और मायारहित है। देव, दानव और गधर्वों तथा पर्वत, समुद्र आदि से युक्त सम्पूर्ण जगत् उस चैतन्य में स्थित होकर कर्मानुसार उसी प्रकार घूमता रहता है, जिस प्रकार जल-भँवर में जल।

चिन्मय परमात्मा ने ही गदा, चक्र आदि आयुधों से युक्त चतुर्भुज विष्णुरूप से समस्त असुर-समूह का उसी प्रकाश विनाश कर दिया था, जिस प्रकार वर्षा ऋतु इन्द्र-धनुष से युक्त मेघरूप से आतप का विनाश कर देती है। चेतन परमात्मा ने ही वृषभ और चन्द्रमा के चिह्नों से युक्त त्रिनेत्र रूप धारण कर गौरी को प्राप्त किया है। चेतन परमात्मा ही भगवान् विष्णु के नाभि-कमल में भ्रमर के समान ध्यान में तल्लीन एवं वेदत्रयीरूपी कमलिनी का महान् सरोवरस्वरूप ब्रह्माजी का रूप धारण करता है। इसी महाचैतन्य परमात्मा के सकाश से सूर्य-चन्द्रमा आदि सदा प्रकाशित होते हैं। निर्मल चेतनरूपी चन्द्रबिम्ब में खरगोश की तरह सम्बन्ध प्राप्त कर यह जगत् में स्थित पदार्थों की शोभा सर्वत्र दिखायी पड़ती है। भद्र ! सुनो। यद्यपि इस देहरूपी वृक्ष में हाथ, पैर आदि अपने अङ्ग ही शाखाएँ हैं और केशों का समूह ही सुन्दर लताओं का समूह है, तथापि यह वृक्ष क्या पर्याप्तरूप से चेतन के सम्बन्ध के बिना किसी तरह शोभित हो सकता है ? चराचर पदार्थों का निर्माण करने वाला भी यह चेतन ही है, दूसरा नहीं। इसलिये एकमात्र चेतन ही अपने संकल्प से जगत्रूप में प्रकट है। ब्रह्मन् ! वस्तुतः इस शरीर में दो प्रकार का सर्वभूतस्वरूप चेतन है—एक तो चञ्चल स्वभाव जीवात्मा और दूसरा निर्विकल्प परम चेतन परमात्मा। वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्प से जीवात्मा के रूप में अपने से भिन्न-सा होकर स्थित है। वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्प से आकाश आदि पाँच भूतों, शब्दादि पाँच विषयों, प्राणापानादि पाँच प्राणों और देश-काल के रूप में परिणत होता है। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही नारायण होकर समुद्र में शयन करता है, ब्रह्मा होकर ब्रह्मलोक में ध्यान स्थित रहता है, हिमालय पर्वतपर पार्वती के सहित महादेवजी का रूप धारण कर निवास करता है और वैकुण्ठ में देवश्रेष्ठ विष्णु का रूप धारणकर रहता है। वह परमात्मा ही सूर्य बनकर दिवस का निर्माण करता है, मेघ बनकर जल बरसाता है, वायु बनकर बहता है। सबका आत्मा, सर्वत्र व्यापक एवं अपनी समस्त संकल्पशक्ति के प्रभाव से सर्व स्वरूप होने के कारण वह चिन्मय ब्रह्म जगत्-रूप हो जाता है। वास्तव में तो वह विज्ञानानन्द परमात्मा आकाश से भी बढ़कर निर्मल और सूक्ष्म है। वह परमात्मा जब-जब जहाँ पर जिस भाव से जिस तरह संकल्प करता है, तब-तब वहाँ वैसा ही बन जाता है।

चेतन जीवात्मा अज्ञान के कारण 'मैं दुःखी हूँ' इस भावना से व्यर्थ ही दुःखी होता है और 'मैं नष्ट हो गया, मैं मर गया' यों भावना करता हुआ रोता रहता है। किंतु जिस प्रकार पत्थर में तेल नहीं रहता, उसी प्रकार शुद्ध चेतन आत्मा में दृश्य, दर्शन और द्रष्टा की त्रिपुटी नहीं रहती। जैसे चन्द्रमा में कालिमा नहीं रहती, वैसे ही शुद्ध आत्मा में कर्ता, कर्म और करण नहीं रहते। जिस प्रकार आकाश में नवीन अङ्कुर का अभाव है, उसी प्रकार आत्मा में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—इन तीनों का अभाव है। जिस प्रकार नन्दन-वन में खैर के वृक्ष का अभाव है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा में मन, मनन और दृश्य विषय का अभाव है। जैसे आकाश में पर्वत का अभाव है, वैसे ही शुद्ध चेतन में मैं-पना, तू-पना और वह-पना आदि नहीं हैं। जैसे काजल में सफेदी नहीं रहती, वैसे ही चेतन में अपनी देह तथा परायी देह का भाव नहीं रहता। वह शुद्ध चेतन आत्मा केवल, निर्विकल्प, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण तेजों को भी प्रकाशित करने वाला, सर्वव्यापक, नित्य शुद्ध, नित्य प्रकाशरूप, मन से रहित, निर्विकार और निरञ्जन है। एक वही घट और पट में, वट और दीवाल में, शकट और वानर में, गदहे और असुर में, सागर

और आकाशादि भूतों में तथा नर और नाग में—सर्वत्र व्यापक होकर स्थित है। वह शुद्ध हुआ भी मलिन-सा, निर्विकल्प हुआ भी सविकल्प-सा, चेतन हुआ भी जड-सा और सर्वव्यापी हुआ भी एकदेशीय-सा प्रतीत होता है।

कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति में तत्परता संकल्प होती है। वह संकल्प मननजनित है। वह मनन चित्त की अशुद्धि के कारण होता है और उन सबका साक्षी आत्मरूप चेतन सर्वविध मलों से रहित है। जिस प्रकार स्फटिक-शिला में अरण्य, पर्वत, नदी आदि का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार अपने स्वरूप में ही स्थित प्रकाशस्वरूप नित्य चेतन के अन्तःकरण में इस जगत् का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस जगत् को अपने संकल्प में धारण करने वाला अद्वितीय, निर्विकार चेतन न उत्पन होता है न विनष्ट होता है, न क्षीण होता है और न बढ़ता ही है। अर्थात् वह सब प्रकार के विकारों से रहित है। असत्स्वरूप यह जगत् अज्ञान के कारण विशाल स्वप्न की तरह आत्मा में ही प्रतीत होता है। किंतु वास्तव में मृगतृष्णिका-जल के सदृश प्रतीत होने वाला यह जगत् तनिक भी सत्य नहीं है। मुने ! यह परम चेतन आत्मा अपने पुर्यष्टक में (मनो बुद्धिरहंकारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम्। इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः॥ (नि० पू० ५१।५०) 'मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ—इन आठों का समूह 'पुर्यष्टक' कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कहा गया है।') ही प्रतिबिम्बित होता है, जैसे स्वच्छ दर्पण में ही प्रतिमा दिखलाई पड़ती है। महर्षे ! अनेक प्रकार की कल्पनाओं से ग्रस्त यह पुर्यष्टकरूप दृश्य समूह शुद्ध चिन्मय आत्मा से ही उत्पन्न होता है, उसी में स्थित और विलीन हो जाता है। इसलिये यह सम्पूर्ण विश्व विशुद्ध चेतन आत्म स्वरूप ही है, दूसरा नहीं—यह जानिये।

ब्रह्मन् ! परमात्मा ने ही शरीररूपी गाड़ी खींचने के लिये मनःशक्ति और प्राण-शक्ति—ये दो सुदृढ़ बैठ उत्पन्न किये हैं। सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्मा के सकाश से ही यह जीव जीवन धारण करता है, जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से घर शोभा देता है। अज्ञान के कारण इस जीव की आधियाँ एवं व्याधियाँ उसी प्रकार उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करती हैं, जिस प्रकार जल का तरङ्गरूप और उस तरङ्गरूप का फेनरूप उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करता है। सर्वशक्तिरूप होनेपर भी वही चेतन जीवात्मा अज्ञान के कारण 'मैं चेतन नहीं हूँ' इस भावना से इस देह में परवशता प्राप्त करता है, किंतु अपने स्वरूप के ज्ञान से मोह-रहित हो जाता है। हृदयरूप कमल पत्र के चेष्टा-रहित हो जानेपर प्राण शान्त हो जाते हैं, जिस प्रकार पंखे के कम्पन शून्य हो जानेपर पवन की शक्तियाँ बिलीन हो जाती हैं। द्विजवर ! जब तक देह में पुर्यष्टक विद्यमान रहता है, तबतक देह जीवित रहती है और जब देह में से पुर्यष्टक विलीन हो जाता है, तब देह में 'मृत' कही जाती है। किंतु जब शरीर का हृदय कमलरूपी यन्त्र सदा चलता रहता है, तब यह जीव अपने संकल्पवश प्रकृति के अधीन हुआ कर्म करता रहता है। पर राग-द्वेष रहित विशुद्ध वासना जिनके हृदय में रहती है, वे अटल एवं एक-रूप रहनेवाले मनुष्य जीवन्मुक्त हैं। हृदय-कमलरूपी यन्त्र के रुक जाने तथा प्राण के शान्त हो जानेपर यह देव पृथ्वीपर लकड़ी और ढेले आदि की भाँति गिर जाती है। मुने ! ज्यों ही हृदयाकाश के वायु में अर्थात् प्राण में यह पुर्यष्टक लीन हो जाता है, त्यों ही मन भी प्राण में ही विलीन हो जाता है। जिस प्रकार घर के लोगों के घर छोड़कर दूर चले जाने पर घर शून्य हो जाता है, उसी प्रकार मन एयं प्राण से शून्य हुआ यह शरीर शवरूप हो जाता है। जिस प्रकार नाना प्रकार के पत्ते उत्पन्न हो-होकर समय पाकर वृक्ष से झड़ जाते हैं—विनष्ट हो जाते हैं। जीवों के ये शरीर और वृक्षों के पत्ते उत्पन्न और नष्ट होते ही रहते हैं, अतः उनके विषय में शोक ही क्या है। चैतन्य समुद्र परमात्मा में ये देह रूपी बुद्बुद कहीं एक प्रकार के तो कहीं दूसरे प्रकार के उत्पन्न होते रहते हैं। बुद्धिमान् जन विनाशशील समझ कर इन पर विश्वास नहीं करते।

जब वह ब्रह्म सत्स्वरूप, अद्वितीय और सर्वशक्तिमान् है, तब उसमे यह भेद और अभेद की कल्पना ही निर्मूल है। जैसे तरङ्ग, कण, कल्लोल और जल-प्रवाह जल से विभक्त नहीं रहते, वैसे ही ब्रह्म का सर्व शक्ति वास्तव में ब्रह्म से विभक्त नहीं रहता। जिस प्रकार फूल, कोंपल, पत्ते आदि लता से वास्तव में भिन्न नहीं हैं,

वैसे ही द्वित्व, एकत्व, जगतत्त्व-पन, मैं-पन आदि भी चेतन से भिन्न नहीं हैं। चेतन का देश, काल, क्रिया आदिरूप जो भेद किया गया है, वह भेद चेतन स्वरूप ही है। 'वास्तव में चेतन में द्वैत (भेद) है ही नहीं, तब उसमें भेद कहाँ से आया ?'—यह प्रश्न ही नहीं बनता; क्योंकि देश, काल और क्रिया की सत्ता एवं नियति आदि शक्तियाँ स्वयं चेतन की सत्ता से ही सत्तायुक्त होकर स्थित हैं, इसलिये वे सब चेतन स्वरूप परमात्मा ही हैं। वही यह चेतन तत्त्व परम ब्रह्म, सत्य, ईश्वर, शिव तथा निराकार, एक परमात्मा आदि अनेक नामों से कहा जाता है। इन नामों एवं रूपों से अतीत जो परमात्मा का स्वरूप है तथा जो सम्पूर्ण मलों से रहित आत्म पदार्थ है, वह वाणी और मन का विषय नहीं है। जो यह संसार दिखायी दे रहा है, वह उस महा चेतन परमात्मा रूपी लता के फल, पल्लव तथा पुष्प आदि रूप ही है, अत: उससे भिन्न नहीं। किंतु अज्ञानी जीव को अपने ही द्वैत संकल्प से एक में ही द्वैत की इसी प्रकार प्रतीति होती है, जैसे पुरुष की वेताल-कल्पना से उसे भयंकर वेताल की प्रतीति होने लगती है।

मुने ! अपने संकल्प से निर्मित मनोराज्य और गन्धर्वनगर की तरह जो वस्तु अपने संकल्प से बनायी गयी है, वह संकल्प के अभाव से नष्ट हो जाती है। केवल दृढ़ संकल्प से जो यह संसाररूपी दु:ख प्राप्त हुआ है, वह केवल संकल्प के अभाव से ही नष्ट हो जायगा, फिर इस विषय में क्लेश ही क्या ? क्योंकि तनिक भी संकल्प करके मनुष्य दु:ख में डूब जाता है और कुछ भी सङ्कल्प न करके वह अविनाशी सुख पाता है। अतः अपने विवेकरूपी पवन से संकल्परूप मेघों का विनाश करके शरत्काल में आकाश-मण्डल की भाँति तुम उत्तम निर्मलता प्राप्त करो। अविवेकरूप प्रबल प्रवाह से उमड़ती हुई उन्मत्त संकल्परूप नदी को तुम मणिमन्त्र से सुखा दो और उसमें बहते हुए अपने-आपको धैर्य देकर मन से रहित हो जाओ एवं अपने-आप अपने संकल्पात्मक कालुष्य का विनाश करके आत्मा की उत्तम विशुद्धता प्राप्त कर अविनाशी आनन्दरूप हो जाओ। यह आत्मा समस्त शक्तियों से परिपूर्ण है, अत: जब कभी वह किसी वस्तु की जैसी भी भावना करता है, अपने संकल्प से रचित उस वस्तु को उसी समय वैसी ही देखता है। यह उत्पन्न हुआ मिथ्यारूप जगत् एकमात्र संकल्पात्मक ही है; अतः केवल संकल्प के अभाव से ही कहीं भी विलीन हो जाता है। इसलिये संकल्परूप जड़ को उखाड़ कर अत्यन्त दृढ़ता को प्राप्त हुई इस तृष्णारूपी करंजलता को आप सुखा डालिये। मैं एक हूँ, मैं परमात्मा हूँ—इस प्रकार की भावना कीजिये। इस भावना से आप परमात्मा ही हो जायँगे।

महर्षे ! चेतन जीवात्मा ने अज्ञान के कारण अपने संकल्प से संसाररूपता प्राप्त की है; किंतु वास्तव में मोहरूपी कलङ्क से रहित वह असंसारी है तथा ब्रह्म से अभिन्न और अद्वैत ब्रह्मरूप है। मैं दृश्य देहादि-स्वरूप हूँ—इस प्रकार मोह को प्राप्त हुआ चेतन जीवात्मा संसार में फँस जाता है; पर वही शुद्ध चिन्मय परमात्मस्वरूप को, जो अपने से अभिन्न है, अनुभव करके संसार के बन्धन से निर्मुक्त हो जाता है। मन से रहित यही चेतन जीवात्मा शान्ति से सुशोभित सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियों से एवं अन्धकार-अज्ञान आदि जडता से रहित तथा विस्तृत आकाश की भाँति परम सुन्दर है। वह दोषरहित जीवात्मा अपने वास्तविक परमात्मस्वरूप में स्थित हो जब तुर्यातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब वह परमपद को प्राप्त होता है, वह परमपद सभी उत्तमोत्तम अवस्थाओं की परम अवधि है, परम मङ्गलरूप होने के कारण समस्त मङ्गलों में प्रधान मङ्गल है। वही एक अखण्ड परम पवित्र चेतनरूप है। वह परमपद जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं और कल्पना से अतीत है। उसीका आपसे मैंने वर्णन किया है। उसी पद में आप सदा स्थित रहें। वह पद ही अविनाशी पूज्य देव है। इस समस्त जगत् का उपादान वही परमदेव है—इस ज्ञान से यह समस्त विश्व चिन्मय ब्रह्मरूप ही है। यह विश्व ब्रह्म के संकल्प से कल्पित होने के कारण प्रतीत होता है; किंतु यथार्थ ज्ञान होने पर वास्तव में इसकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये यह नहीं है। वह परमपद शान्त, शिव एवं वाणी के व्यापार से अतीत है। 'ॐ' इस अक्षर की जो आनन्दमयी तुरीयमात्रा है, वही परमगति है।

मुने ! आप पूर्वोक्त विचार का अवलम्बन करके अपने पारमार्थिक स्वरूप का ही प्रमाणों से शीघ्र निर्धारण करें एवं उसके विपरीत अनर्थरूप देहाभिमान का अवलम्बन न करें। जो इस संसार में जानने योग्य है, उस परमात्मा को तत्त्वज्ञानी ने जान लिया। फिर संसार के भ्रम के साथ उसका कोई प्रयोजन नहीं रहा। अतः उस तत्त्वज्ञानी के लिये कर्तव्य या अकर्तव्य कुछ नहीं रहता, यह मैं जानता हूँ। आप इन शान्तिमय और अशान्तिमय विकल्पों का यदि दलन करते हैं तो आप धीर हैं। यदि वैसा नहीं करते तो आप धीर नहीं हैं। इसलिये आस्था रखकर आप परमात्मदर्शी बन जाइये। ब्रह्मज्ञान के लिए शीघ्र ही उपर्युक्त दृष्टि का आश्रय करके मेरे द्वारा जो कुछ कहा जाय, उसे सुनिये। आत्मज्ञान के प्रयत्न के बिन चुपचाप बैठे रहने से क्या लाभ ? त्रिशूलधारी भगवान् शंकर इस प्रकार कहकर फिर बोले कि 'आप बाह्यदेह में आत्मबुद्धि मत कीजिये; क्योंकि यन्त्र की भाँति प्राण से ही यह शरीर चेष्टा करता है और प्राणवायु से रहित शरीर निश्चेष्ट हो मूक के सदृश स्थित रहता है, किंतु चेतन जीवात्मा आकाश से बढ़कर निर्मल और अव्यक्त है। सत्स्वरूप परमात्मा की सत्ता ही चेतन जीवात्मा के अस्तित्व में कारण है। जीवात्मा के बिना तो प्राण और देह—ये दोनों नष्ट हो जाते हैं और देह-वियोग से प्राणवायु में विलीन हो जाता है; आकाश से भी निर्मल चेतन आत्मा नष्ट नहीं होता। इसलिये संसार-भ्रम से उसका क्या प्रयोजन है ? ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषों से रहित हो जीवात्मा परमशिव परब्रह्म परमात्मा हो जाता है। वह परब्रह्म ही हरि है, वही शिव है, वही हिरण्यगर्भ है, वही चतुर्मुख ब्रह्मा है, वही इन्द्र है; वही वायु, वह्नि, चन्द्र एवं सूर्यरूप है और वही परमेश्वर है। वही सर्वव्यापी परमात्मा, सर्वचेतनों का मूल स्रोत, देवेश, देवभृत्, धाता, देवदेव और स्वर्ग का अधिपति है। जिस तरह पल्लवों का मूलबीज वृक्ष है, उसी तरह सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि का मूल बीज है। वही सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ज्ञानी महात्माओं का वन्दनीय और पूजनीय है; क्योंकि सबका बल और नाम उसी के हैं। वही सर्वात्मक, प्रकाशरूप, समस्त ज्ञानों का एकमात्र उत्पादक और सबको सत्ता देने वाला है। सबका आदि कारण तथा पूजा, नमस्कार, स्तुति और अर्घ्य के योग्य एवं समस्त देवताओं का स्वामी वही परम चेतन परब्रह्म परमात्मतत्त्व है—यह आप जान लें। यही बड़े-बड़े ज्ञातव्य पदार्थों की चरमसीमा है। जरा, शोक एवं भय के विनाशक इस परमात्मा का साक्षात्कार करके मनुष्य फिर संसार में भूने हुए बीज की भाँति जन्म नहीं लेता। तत्त्व से जान लिये जाने पर जो समस्त प्राणियों को अभय कर देता है, जो सबका आदिकारण है और जो अनायास उपासना के योग्य है, आप वही अज, परम एवं परमात्मरूप परमपद हैं।

मुने ! समस्त पदार्थों के भीतर रहने वाले अनुभव स्वरूप एकमात्र विशुद्ध प्रकाशमय परमचेतन परमात्मा को मुनिलोग महादेव रूप परमेश्वर समझते हैं। वह परमचेतन तत्त्व सम्पूर्ण कारणों का कारण है, किंतु वास्तव में उसका कोई कारण नहीं है; वह अपनी सत्ता से समस्त भावों को सत्ता प्रदान करने वाला है, किंतु स्वयं भावना का विषय नहीं है। वह विशुद्ध और अजन्मा है। वही समस्त चेतनों का चेतन, दृश्य विषयों का प्रकाशक और दृश्य-संसार का परम आधार है। उसी को मुनि लोग चक्षु आदि एवं सूर्य आदि प्रकाशकों का प्रकाशक, स्वयं चक्षु-सूर्य आदि प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित न होने वाला, अलौकिक, समस्त बीजों का भी बीज, ज्ञानस्वरूप और विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा कहते हैं। सत्य प्रतीत होने वाला दृश्य संसार और असत्य न प्रतीत होने वाली प्रकृति—इन दोनों का कारण होने से वह चिन्मय परमात्मा तत्स्वरूप है; किंतु वास्तव में वह प्रकृति और संसार से रहित, परमशान्त है। इस महान् चिन्मय परमात्मा में पहले करोड़ों जगद्रूपी मरुमरीचिकाएँ हो चुकी हैं, आगे भी होती रहेंगी और वर्तमान काल में भी हो रही हैं। महान् मेरुपर्वत एवं महान् कल्प आदि काल उस चेतन तत्त्व परमात्मा में समाये हुए हैं। फिर भी वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम है। कर्तापन के अभिमान रहित होने के कारण यह परमात्मा कुछ न करते हुए ही संसार की रचना करता है और यह संसार का उद्धाररूप महान् कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं

करता। जिस परमात्मा के संकल्प में यह समस्त संसार विद्यमान है, जिससे यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है, जो सर्वस्वरूप है, जो सब ओर व्याप्त है एवं जो सर्वमय है; उस सर्वात्मक परमात्मा को बार-बार नमस्कार है।

यस्मिन् सर्वे यतः सर्वे यः सर्वे सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥

महर्षे ! उस समस्त जगत्सत्ता स्वरूप मणि की पिटारी परम चेतन सर्वेश्वर परमात्मा में उनकी शक्तियाँ प्रत्यक्ष आविर्भूत होती रहती हैं। उनसे से परमात्मा की एक शक्ति महाकाशरूप दर्पण के अंदर अपनी सत्ता के प्रतिबिम्ब के सदृश कल्प-निशेषनामक निर्मल कालात्मक शरीर धारण करती है। जैसे घर में दीपक के रहने पर घर भर की क्रियाएँ प्रकाशित हो जाती हैं, वैसे ही साक्षीरूपी उस प्रकाशात्मक, सत्यस्वरूप चेतनतत्त्व के रहने पर ही जगत्रूप चित्त की परम्पराएँ प्रकाशित होती हैं।

उस निराकार, सर्वात्मक, अप्रमेय, परम शान्त, सच्चिदानन्दघन सदाशिव परमात्मा की इच्छा सत्ता, व्योम सत्ता, काल सत्ता तथा नियति-सत्ता और महा सत्ता—ये पाँच सत्तात्मक शक्तियाँ हैं। (तात्पर्य यह है कि 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इस श्रुति के अनुसार सबसे पहले उनकी इच्छा सत्ता अभिव्यक्त हुई। तदनन्तर आकाश की अभिव्यक्ति होने पर आकाश सत्ता, तदनन्तर कालात्मक सूत्र की अभिव्यक्ति होने पर काल सत्ता, सद्रूप के नियत संस्थान वाले भूत एवं भौतिक पदार्थों का आविर्भाव होने पर नियति-सत्ता अभिव्यक्त हुई और तदनन्तर उनमें अनुस्यूत महासत्ता अभिव्यक्त हुई।) इनके सिवा ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति, कर्तृत्व शक्ति और अकर्तृत्व शक्ति आदि परमात्मा की अनेक शक्तियाँ हैं। उन सदा शिव स्वरूप परमात्मा की इन शक्तियों का कोई अन्त नहीं है।

अनन्त असीम आकार वाले सदा शिव रूप परमात्मा की यह चिन्मात्र रूपता ही उसकी शक्ति कही जाती है। एकमात्र कल्पना से ही वह चेतन परमात्मा से भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तव में कुछ भी भेद नहीं है। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि कल्पनाओं से परमात्मा की ये शक्तियाँ उसी प्रकार विविध स्वरूप धारण करती हैं, जैसे समुद्र में तरङ्ग आदि भेद-कल्पनाओं से जल विविध रूप धारण करता है। गमनशील ब्रह्माण्ड रूपी नृत्य-मण्डप में ऋतु, मास आदि काल नियति-क्रम द्वारा महाकाल रूपी नट से उत्तम रीति से शिक्षित हुई उस प्रकार की शक्तिरूपिणी नटियाँ नाचती हैं। यही परा और अपरा एवं नियति कही जाती है। ईश्वर की क्रिया, कृति, इच्छा या काल इत्यादि उसी के नाम हैं। तृण से लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितने चराचर जीव हैं, उनको मर्यादा में रखने वाली नियति कही जाती है। नाटचशास्त्र में प्रसिद्ध स्वेद, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि विकारों से व्याप्त, चिर काल से प्रवृत्त हुए इस संसार नामक नाटक के नाटचों में सारभूत नियति-नटी के विलास में अधिपति होकर देखने वाला सदा उदित स्वभाव यह परमेश्वर अद्वितीय होकर ही स्थित है। वह परमार्थत: उस नटी और नाटच से भिन्न नहीं है।

महर्षे ! उस परमात्म देव के पूजन के जितने क्रम हैं, उन सबमें पहले देहाभिमान को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये। ध्यान ही इस परमात्म देव की पूजा है। इसलिये तीनों भुवनों के आधारभूत इस परमात्म-देव की निम्न प्रकार के ध्यान से सदा पूजा करनी चाहिये। वह चेतन परमात्मा ज्ञान के द्वारा लाखों सूर्यों के समान देदीप्यमान- सूर्य आदि समस्त प्रकाशकों का भी प्रकाशक तथा सबसे परे रहने वाला ज्ञान स्वरूप है। उसका मन से चिन्तन करना चाहिये। इस नियति-नाटक के साक्षी परमात्मा का इतना बड़ा स्वरूप है कि सबसे बड़े असीम आकाश का जो विपुल विस्तार है, वह उसकी गर्दन है; नीचे के आकाश का जो असीम विस्तार है, वह उसका चरण-सरोज है। सीमा-शून्य दिशाओं के किनारों का यह जो विस्तार है, वही उसका भुज-मण्डल है और उसी से वह सुशोभित है; उन हाथों में उसने विविध ब्रह्माण्डों में विद्यमान बड़े-बड़े सत्य आदि लोक रूप श्रेष्ठ आयुधों को ग्रहण कर रक्खा है। उसके हृदय-कोश के एक कोने में अनेक ब्रह्माण्ड-समूह छिपे हुए हैं। वह प्रकाश

स्वरूप एवं तम से परे है और उसके स्वरूप का कहीं पार भी नहीं पाया जा सकता। पूर्वोक्त नियति के नाटक का साक्षी यह परमात्मा ही परम देव है। यही समस्त पदार्थों का आश्रय, सर्व व्यापक, चिन्मय और अनुभव रूप है। सभी सज्जनों द्वारा यही सर्वदा पूजनीय है। यही परम देव परमात्मा घट में, पट में, वट में, दीवाल में, छकड़े में और वानर आदि प्राणियों में समभाव से स्थित है। यही परमात्मा शिव, हर, हरि, ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर और यम स्वरूप है। अनेक प्रकार की घट-पट आदि आकृतियों को लेकर असंख्य पदों से बोधित होने वाली तथा उन आकृतियों को छोड़ने पर एक पद से बोधित होने वाली सत्ता रूप इस जगज्जाल का उत्पादक महाकाल इस परमात्म देवक द्वारपाल है। पर्वतों एवं चौदह भुवनों के असीम विस्तार से युक्त यह ब्रह्माण्ड-मण्डल इस परमात्म देव के किसी एक देहकोश में स्थित होकर उसके अङ्ग का अवयवरूप हो गया है।

महर्षे ! जिसके हजारों कान एवं आँखें हैं, हजारों मस्तक हैं और जो स्वयं हजारों भुजाओं से विभूषित है, ऐसे शान्तस्वभाव महादेव का चिन्तन करना चाहिये। वह परमात्मा सभी जगह दर्शन-शक्ति परिपूर्ण है यानी सर्वत्र देखता है, सब ओर घ्राण-शक्ति से समन्वित है, सर्वतः स्पर्शन-शक्ति से युक्त है, सभी ओर रसन-शक्ति से परिपूर्ण है, सर्वत्र श्रवण-शक्ति से व्याप्त है, सर्वत्र मनन-शक्तिवाला है; तथापि वह सर्वथा संकल्प से रहित है एवं सभी ओर सर्वश्रेष्ठ कल्याणस्वरूप है। उस परमात्मदेव का चिन्तन करना चाहिये। नित्य, सम्पूर्ण जगत् के कर्ता, सबको अपने-अपने संकल्प के अनुसार समस्त पदार्थ प्रदान करनेवाले, सारे प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित और सभी के लिये एकमात्र साध्य, सर्वस्वरूप उस परमात्म देव का चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार ध्यान के द्वारा उस देवाधि-देव की पूजा करनी चाहिये। अनायास प्राप्त होने योग्य, शान्तिमय, अविनाशी, अमृत स्वरूप एकमात्र परमात्म स्वरूप के ज्ञान से सदा इस देव की पूजा की जा सकती है। जो यह हृदय प्रदेश में स्थित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा का निरन्तर अनुभव है, यही श्रेष्ठ ध्यान है और यही परम पूजा कही गयी है। देखते-सुनते, स्पर्श करते, सूँघते-खाते, चलते-सोते, श्वास-प्रश्वास लेते, बोलते, त्याग करते और ग्रहण करते—सभी समय मनुष्य को शुद्ध चिन्मय परमात्मा के ध्यान में ही तत्पर रहना चाहिये। इस परमात्मा के लिये शुद्ध ज्ञान रूप ध्यान ही प्रियतम वस्तु है, अतः ध्यान ही उसके लिये अर्घ्य, पाद्य और पुष्प है। यह परमात्म देव ध्यान से ही प्रसन्न होता है। इस प्रकार आठों पहर ध्यान द्वारा पूजन करने से मनुष्य परम धाम में निवास करता है। यह जो परमात्म देव का उत्तम पूजन मैंने आप से कहा है, यही परम योग है, यही वह उत्तम कर्म है। आत्म रूप वसिष्ठ जी ! जो मनुष्य दुःख और विक्षेप से रहित हो सारे पापों के विनायक एवं परम पवित्र इस ध्यान रूप पूजन को करेगा, उस समस्त बन्धनों से मुक्त और ब्रह्मतत्व को प्राप्त पुरुष की जगत् में सुर एवं असुर वैसे ही वन्दना करेंगे, जैसे वे मेरी वन्दना करते हैं।

महर्षे ! यह ध्यान पवित्र करने वालों को भी पवित्र करने वाला तथा संपूर्ण अज्ञानों का नाशक है। अतः शरीर में स्थित, समस्त ज्ञानों के उत्पादक एवं बोधक परम कल्याणस्वरूप इस परमात्मदेव का अपने अन्तः-करण से नित्य ही ध्यान करना चाहिये। सबके हृदयरूपी गुहा में स्थित, समस्त ज्ञान और ज्ञेय के ज्ञाता, सम्पूर्ण कर्मों के कर्ता और समस्त ज्ञानों के स्मर्ता, सम्पूर्ण प्रकाशों से भी अधिक प्रकाशरूप तथा सर्वव्यापी परम शिव परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। वह परमात्मा मन की मननात्मिका शक्ति में, प्राण एवं अपान के मध्य में तथा हृदय, कण्ठ, तालु और भौं के मध्य में स्थित (व्यापक) है। वह कलाओं की कल्पनाओं से रहित और देह के एक देशभूत सुन्दर हृदय-कमल में विशेषरूप से और सम्पूर्ण देह में समानरूप से स्थित है। वह परमात्मा केवल चेतन और शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। उसका चिन्तन करना चाहिये।

इसके सिवा ध्यान का एक दूसरा प्रकार यह है कि मैं जीवात्मा ही परिच्छेदशून्य आकारवाला, अनन्त-स्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थों से परिपूर्ण, सब वस्तुओं का पूरक एवं अखण्ड अद्वितीय विवस्वरूप परमात्मा हूँ—इस प्रकार

स्वच्छ और अलौकिक भावना करके देवभाव से परिपूर्ण यह जीवात्मा महान् परमात्मा बन जाता है। वह परमात्मा को प्राप्त पुरुष सब में सम रहता है। उसका व्यवहार भी समान होता है। उसका ज्ञान भी सम रहता है। उसका भाव भी सम होता है। उस सौम्य पुरुष का उद्देश्य भी महान् सुन्दर होता है। वह देहपातपर्यन्त अखण्ड तत्त्वज्ञान से युक्त होता हुआ चिरकाल तक निरन्तर परमात्मा का ध्यानरूप पूजत ही करता रहता है। इसलिये मनुष्य को उचित है कि सज्जनों के हृदय में रहने वाली, चन्द्रमा की भाँति शीतल, मधुर-स्वभाव, दृढ़ मैत्री से हृदय प्रदेश में स्थित उस परमात्मदेव की ध्यान रूप पूजा करे। दुष्टों की उपेक्षा, दुखियों पर दया, पुण्यात्माओं के प्रति हृदय की नित्य मुदिता (प्रसन्नता) की भावना से, शुद्ध सामर्थ्य की पद्धति से और ज्ञानरूप ध्यान से उस परमात्मदेव की पूजा करे।

प्रारब्ध से प्राप्त सम्पूर्ण इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों में सर्वदा ही परम समता का आश्रय लेकर नित्य चेतन परमात्मा का ध्यानरूप व्रत करना चाहिये। अनुकूल और प्रतिकूल की प्राप्ति में सम होकर नित्य चिन्मय परमात्मा के ध्यानरूप व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये। यह मैं हूँ और यह से नहीं हूँ—इस प्रकार के भेद को छोड़ देना चाहिये तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार निश्चय करके नित्य चिन्मय परमात्मा के ध्यानरूप व्रत का आचरण करना चाहिये। इस परमात्मा के ध्यानरूप पूजा के विधान में जो द्रव्य-सम्पत्तियाँ बतलायी गयी हैं, वे व एकमात्र समतारूप रस से परिपूर्ण होने के कारण मधुर-रसवती ही हो जाती हैं। रसमयी शक्ति-समता मधुर र अतीन्द्रिय है। उस समता से जो भी दृश्य विषय भावित होगा, वह तत्क्षण ही अमृततुल्य मधुर हो जायेगा। मतारूप अमृत से जो-जो भावित होता है, वह सब परम मधुरता को प्राप्त होता है। ब्रह्मैक्य-दर्शनस्वरूप समता से यं आकाश की तरह विकारशून्य होकर मन के लय होने पर जो स्वाभाविक स्थिति है, वही परमात्मा की ध्यानरूप जा कही जाती है। महात्मा ज्ञानी को पूर्णचन्द्र की भाँति परिपूर्ण, समता के द्वारा समान ज्ञानवान्, एक, चिन्मय, स्वच्छ और स्फटिक-शिला की तरह निर्मल एवं दृढ़ होना चाहिए। जो भीतर आकाश की तरह विशाल और बाहर न्यायत: प्राप्त कार्यों को करने वाला, आसक्ति से रहित एवं परमात्मा के यथार्थ तत्त्व का पूर्णतया ज्ञाता है, वही सच्चा उपासक है। अज्ञानरूप मेघों के नष्ट होने पर स्वप्न में भी जिसमें राग-द्वेष हृदय-विकार नहीं देखे जाते तथा जिसका अहंता-ममतारूप कुहरा शान्त हो चुका है, ऐसे निर्मल आकाश के समान वह तत्त्वज्ञ सुशोभित होता है।

महर्षे ! यथा समय और यथाशक्ति आप जो कुछ भी कर्म करते हैं अथवा नहीं करते, उसी को चिन्मय शिवस्वरूप परमात्मा का अन्त:पूजन समझना चाहिये। इस प्रकार के पूजन से ही साधक अपने पारमार्थिक निरतिशय आनन्दमय स्वरूप का अनुभव करता है। शिव, शान्त, अन्य से प्रकाशित न होने वाला, स्वप्रकाशरूप परमात्मा ही जगत् के रूप में प्रतीत हो रहा है। भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत् में व्यापक, परम विशुद्ध चेतन परमात्मारूप ईश्वर के स्वरूप का वाणी से वर्णन भी नहीं किया जा सकता। इसलिए तुच्छ दृष्टि का परित्याग करके और अपनी अखण्ड दृष्टि का आश्रय लेकर सम, निर्मलमन, शान्त, राग और दोष से रहित तथा शोकरहित बुद्धि से युक्त होकर आप न्यायत: प्राप्त पदार्थों से परमात्मदेव की पूजा करते हुए स्थित रहें।

भगवान् शंकर ने कहा—मुने ! जिस प्रकार स्वप्न में मनुष्य स्वप्न के संसार को देखता है, उसी प्रकार वह जीवात्मा भी परम सूक्ष्म मायामय आकाश में कर्मानुसार शरीरों को देखता है। जैसे आज भी स्वप्न मनुष्य चैतन्यघन आत्मा के सर्वत्र व्यापक होने से स्वप्न में कार्य करता है, वैसे ही देहधारी जीवात्मा भी जाग्रदवस्था में कार्य करता है। जिस तरह शून्यस्वरूप वेताल वास्तविक दृष्टि से असद्रूप है, किंतु भ्रम से सद्रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह समस्त जगत् वास्तव में असत् है, किंतु भ्रम से सद्रूप प्रतीत होता है; इसलिये जगत् का कारण वास्तव में अहंकार ही है। यह संसार वास्तव में सत् नहीं है; न यह कल्पित है न क्षणिक है, न यह कुछ उत्पन्न ही होता है और न कुछ विनष्ट ही होता है। वास्तव में इसका अत्यन्त अभाव है। चेतन जीवात्मा ही सम्पूर्ण प्रपञ्च की संकल्प-

रूप से अपने में उसी प्रकार कल्पना करता है, जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न में नगर का निर्माण और विनाश करता है पर जागने पर वास्तव में उसका स्वप्न के देश और काल से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। इस विनाशशील संसार का वास्तविक स्वरूप तत्त्व से समझ लेने पर इस मायारूप संसार की भेद सत्ता का अभाव हो जाता है। तदनन्तर ज्ञानपूर्वक ध्यान के अभ्यास से कल्याणमय शिवरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। नहीं तो यह जीवात्मा अपने कर्मानुसार देह, इन्द्रिय आदि के संयोग-क्रम से मृगी, लता, कीट, देव, असुर आदि रूप हो जाता है। नित्य, व्यापक, अनन्त, दृढ़ और विश्व में व्याप्त एवं विश्व के कर्ता जिस परब्रह्म में यह जगत् कल्पित है, विवेक होने पर वह जगत् न दूर है, न समीप, न ऊपर न नीचे, न आपका है, न मेरा, न पहले था, न आज है, न प्रातःकाल में है, न सत् है न असत् और न सत् और असत् के मध्य में अर्थात् वास्तव में यह कल्पना मात्र ही है। जैसा आपने पूछा, वैसा ही मैंने उत्तर दे दिया। आपका कल्याण हो। अब हमलोग अपनी अभिलषित दिशा की ओर जा रहे हैं।

आसक्ति से तथा तथा कर्तृत्वाभिमान से रहित एवं न्याययुक्त व्यवहार करने वाले अन्तःकरण से इन्द्रियों के साथ तुम जो कुछ करते हो, वह कर्म कर्म ही नहीं है। जिस तरह प्राप्तिकाल में विषय तुष्टिकारक होता है, उसी तरह उसके बाद दूसरे काल में नहीं होता। इसलिये बालबुद्धि अविवेकी ही क्षणिक सुख देने वाले विषयों में आसक्त होता है, विवेकी नहीं। श्रीराम ! तुम आत्मज्ञानी हो। इसलिये अहंकार तुम्हारा पतन नहीं कर सकता; क्योंकि जिसने निरन्तर असीम सत्यस्वरूप ब्रह्म का स्मरण किया है और जो तत्त्वज्ञानरूप सुमेरु पर्वत के शिखर पर स्थित है, उस पुरुष का पुनर्जन्मरूप पतन नहीं हो सकता। तुम्हारा जो यह समता एवं सत्यतामय स्वभाव मुझे दिखायी देता है, इससे मैं मानता हूँ कि तुम संकल्प-विकल्प और अविद्या से रहित हो, अपने स्वरूप में भलीभाँति स्थित हुए तुम मानो मुझे यह प्रत्यक्ष करा रहे हो कि सागर के समान पूर्ण समता तुममें विद्यमान है। जिस-जिस वस्तु को तुम देख रहे हो, उस-उस वस्तु में समानभाव से सत्तारूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्थित है।

जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुष में संसार की भावना नहीं हो सकती, उसी प्रकार दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध का अभाव होने पर हृदय में जगत् की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। चित्त के संकल्प से उत्पन्न जगत् चित्त के संकल्प का अभाव होने पर उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार जल की चञ्चलता से उत्पन्न तरङ्ग जल की चञ्चलता का अभाव होने पर विलीन हो जाती है। वासना के त्याग से, परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से अथवा प्राणों के निरोध से चित्त के संकल्परहित हो जाने पर जगत् कहाँ से उत्पन्न होगा ? जब चित्त-संकल्प के अभाव से अथवा प्राणों के निरोध से चित्त का विनाश हो जाता है, तब जो बच रहता है, वही परमपद है। जहाँ चित्त का अभाव है, वहाँ वह सारा सुख स्वाभाविक ब्रह्मसुखरूप ही है। वह सुख स्वर्गादि भोगभूमियों में नहीं हो सकता। चित्त का विनाश होने पर जो ब्रह्म विषयक सुख होता है, वह वाणी से भी नहीं कहा जा सकता। वह सुख सब समय एकरस रहता है—न घटता है न बढ़ता है। परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से चित्त का अन्त (अभाव) हो जाता है। बालकल्पित वेताल की तरह अज्ञान से मोह घनरूपता प्राप्त करता है। उस अज्ञान से ही चित्त की सत्ता प्रतीत होती है। ज्ञानी का चित्त नाम से नहीं कहा जाता, किंतु सत्त्व नाम से कहा जाता है। चित्त का स्वरूप वास्तव में किसी भी काल में नहीं है। उसका स्वरूप भ्रान्ति से प्रतीत होता है। इसलिये भ्रान्ति का नाश होने पर उसका विनाश हो जाता है। वह मिथ्या भ्रान्ति तत्त्वज्ञान से शान्त हो जाती है; क्योंकि जो सद् वस्तु है, उसका अभाव कभी नहीं होता। जैसे खरगोश के सींग की सत्ता का अभाव है, वैसे ही विकल्परूप मन आदि का भी अभाव है। वे सब आत्मा में आरोपित हैं। इसलिये उनका परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से विनाश हो जाता है।

प्रेममय होने से स्निग्ध (चिकनी), स्वयम्प्रकाश होने से स्पष्ट, आनन्दमय होने से मृदुल स्पर्शवाली अनन्त होने के कारण महाविस्तार से युक्त, प्रचुर होने से घन, नित्य विकार रहित एक ब्रह्म रूप महती शिला है।

उस महाशिला के भीतर मनःकल्पनाओं से अनन्त वे सभी भुवनादि रूप कमल विराज रहे हैं। यहाँ पर मैंने यह कोई अपूर्व शिला ही दृष्टान्त रूप से आपके समक्ष उपस्थित की है, जिसकी महाकुक्षि के भीतर यह सब जगत् प्रतीत होने के कारण तो है, किंतु वास्तव में नहीं है तुमसे उस चिन्मय ब्रह्म रूप शिला का ही मैंने कथन किया है, जिसके संकल्प में ये सारे जगत् विद्यमान हैं। इस सच्चिदानन्द ब्रह्म में शिला की ज्यों घनता, एक रूपता आदि है। अत्यन्त घनीभूत अङ्गों वाली और पोल से रहित इस सच्चिदानन्दघन रूप शिला के अंदर यह जगत्-समूह कल्पित है। यद्यपि उस चेतन रूप शिला में स्वर्ग, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ विद्यमान प्रतीत होती हैं, तथापि उसमें वस्तुतः तनिक भी अवकाश नहीं है। इस चेतन रूप शिला में घनीभूत अवयवों वाला जगद्रूपी कमल विकसित हो रहा है। वह यद्यपि उससे पृथक्-सा प्रतीत होता है, तथापि वास्तव में उससे पृथक् नहीं है। जैसे पत्थर में चित्रकार की मनःकल्पना से शङ्ख, कमल आदि चित्र निर्मित किये जाते हैं, वैसे ही एकमात्र मन की कल्पना से इस चेतन रूप शिला में भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सारा संसार चित्रित किया गया है। प्राकृत शिला में जैसे पुतली आदि वास्तविक-से प्रतीत होते हैं, पर वास्तविक हैं नहीं; अपितु शिला रूप ही हैं, वैसे ही चेतन शिला में सभी पदार्थ वास्तविक से प्रतीत होने पर भी वास्तविक नहीं हैं, किंतु चिन्मय ब्रह्म ही हैं। भीतर स्थित शङ्ख, कमल आदि आकारों से युक्त शिला अनेक रूप से प्रतीत होती हुई भी जैसे घनीभूत एक शिला ही है, वैसे ही कल्पित आकारों से युक्त होकर अनेक आकृतियों के रूप में प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में घनीभूत एक ब्रह्म ही है। जिस प्रकार पाषाण शिला के भीतर शिल्पी द्वारा लिखित कमल, उस शिलाकोश से अभिन्न होने पर भी, अपने परिच्छिन्न आकार से युक्त होकर उससे भिन्न-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार चेतन के स्वरूप से अभिन्न होने पर भी यह सृष्टि उससे अन्य—परिच्छन्न आकार वाली होकर उससे भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तव में भिन्न नहीं है। वास्तव में ये प्रतीत होने वाले भुवन आदि विकार विकारादि अर्थों से शून्य ब्रह्म रूप ही हैं; क्योंकि ब्रह्म अनन्त है। विकार आदि रूप से ब्रह्म ही अवस्थित है और ब्रह्म ही क्रमशः विकार आदि के रूप में उत्पन्न हुआ है। इस चेतन शिला के भीतर जो ये विकारादि पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं, उन्हें तुम मृगतृष्णा-जल के सदृश समझो। जिस प्रकार रेखाओं एवं उप रेखाओं से युक्त एक ही स्थूल शिला दीखती है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म ही त्रैलोक्य से युक्त प्रसिद्ध जगत् रूप से दीखता है। जैसे इस लौकिक शिला के भीतर सर्वदा स्थित शिल्पी के वासना स्वरूप कमल आदि वास्तव में न उदित होते हैं और न अस्त ही होते हैं, वैसे ही इस चेतन शिला में मनोरूप जगत् की गति भी वास्तव में न उदित होती है और न अस्त ही होती है। जिस तरह शिला के भीतर की रेखा आदि शिला से भिन्न नहीं हैं, किंतु शिलामय ही हैं, उसी तरह कर्तृत्व आदि जगत् चेतन का संकल्प होने से चिन्मय ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, किंतु ब्रह्म रूप हीं हैं।

रघुनन्दन ! देश, काल, क्रिया आदि भी ब्रह्म रूप ही हैं; अतः 'यह अन्य है', 'यह अन्य है' इस प्रकार की कल्पना यहाँ नहीं बन सकती। जिस प्रकार चिन्ता मणि के अन्तर्गत चिन्तकों के अनन्त फल पर्याप्त रूप से रहते हैं, उसी प्रकार परम चेतन परमात्म रूप मणि में अनन्त जगत् रहते हैं। समुद्र में स्थित आवर्त, तरङ्ग आदि रूप जल स्पन्दन के विलास की तरह और शिला के भीतर अङ्कित कमल की तरह यह अद्वितीय चेतन परमात्मा जगद्रूप से नाना प्रतीत होता है। जो वर्तमान-कालिक जगत् है, वह चेतन में एक तरह से शिला में खुदी गयी मूर्ति के सदृश है और जो जगत् वर्तमान काल में नहीं है यानी भूत एवं भविष्यत्कालिक जो जगत् है, वह एक तरह से चेतन शिला में न खोदी गयी मूर्ति के सदृश है। जैसे कमल आदि शब्द और उनके अनेकों अर्थ शिला को छोड़ कर नाना-से प्रतीत होते हैं, वास्तव में शिला से उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है। वैसे ही अद्वय चेतन परमात्मा को छोड़कर ये जगदादि शब्द और उनके अर्थ नाना-से प्रतीत होते हैं; वास्तव में चिन्मय परमात्मा से पृथक् उनका अस्तित्व नहीं है, किंतु वे चिन्मय परमात्मा ही हैं। मरु-मरीचिका मृग की दृष्टि में तो निर्मल जल-राशि ही है, किंतु विवेक-बुद्धि से सम्पन्न विद्वानों को स्थल पर सूर्य की किरणें ही पड़ती हुई दिखायी देती हैं। वहाँ जैसे

सत्स्वरूप किरणें ही असत् जलराशि के रूप में दिखायी पड़ती हैं, वैसे ही सच्चिदानन्द-स्वरूप तुम ही असत् जगद्रूप से प्रतीत होते हो। वास्तव में तो तुम सच्चिदानन्द-स्वरूप हो। जैसे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में उत्पत्ति-विनाश का अभाव है, वैसे ही जगत् में भी उत्पत्ति-विनाश का अभाव है; क्योंकि जिस प्रकार मरुभूमि में सूर्य की किरणें जल रूप से प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगद्रूप से प्रतीत होता है। जैसे सूर्य की धूप से बर्फ गलकर जलरूप ही हो जाता है, वैसे ही मेरु, तृण, गुल्म, मन और जगत् आदि सारे पदार्थ परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से परम विशुद्ध परमात्मा ही हो जाते हैं, यों ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं।

अपने अतिशय परमानन्दमय स्वरूप का अनुभव करने वाले ज्ञानी मुनि, देवतागण, सिद्ध और महर्षि लोग सर्वथा तुरीय पद में स्थित रहते हैं। व्यवहार में लगे हुए जो लोग बाह्य दृश्य विषयों में सत्यता की भावना से रहित हैं, जो पुरुष विषयेन्द्रिय सम्बन्धों का परित्याग करके समाधि में निरत हैं' चित्रलिखित देहधारियों की भाँति जो प्राणों के स्पन्द से रहित हैं और उन्हीं की भाँति जो मनोगति से भी शून्य हैं, वे सब अपने उस परमपद-स्वरूप परमात्मा में—जहाँ मन का एवं दृश्य की आसक्ति का अभाव है—समानभाव से नित्य स्थित हैं। वह विशुद्ध चिन्मय परमात्मा न तो दृष्टि का विषय है और न उपदेश का ही विषय है। वह न तो अत्यन्त समीप है और न दूरवर्ती ही है; किंतु केवल अनुभव से ही प्राप्त और सब जगह समान भाव से स्थित है। शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा न देहस्वरूप है, न इन्द्रिय एवं प्राणरूप है, न चित्तस्वरूप है, न वासनारूप है, न स्पन्दस्वरूप है, न ज्ञानरूप है और न जगद्रूप ही है, बल्कि इन सबसे अति परे महान् श्रेष्ठ है। वह न सद्रूप है, न असद्रूप है और न सत् एवं असत् के मध्यवर्ती ही है। वह न तो शून्यस्वरूप है और न अशून्य-स्वरूप ही है; वह देश, काल एवं वस्तु भी नहीं है, किंतु ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। वह ब्रह्म देह आदि समस्त पदार्थों से रहित है और जिसके रहने पर यह दृश्य जगत् आविर्भाव, तिरोभाव आदिरूप से स्पन्दित होता है वह परमात्मपद ही है। ये हजारों देहरूप घड़े उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं; किंतु बाहर एवं भीतर व्याप्त इस परमात्म स्वरूप आकाश का नाश नहीं होता। (अर्थात् जिस प्रकार घड़ों का नाश होने पर भी घटाकाशका नाश नहीं होता।) आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीराम! उपर्युक्त देहादि सम्पूर्ण जगत् परमात्मरूप ही है, किंतु वह जगत् केवल अज्ञानवश ही परमात्मा से पृथक्-सा प्रतीत होता है। तुम्हें तो अपनी पवित्र बुद्धि से यह ज्ञात ही है कि यह विश्व परमात्मस्वरूप है। स्थावर एवं जङ्गम-स्वरूप जो कुछ यह जगत् दीखता है, वह सब ब्रह्म ही है; किंतु वास्तव में वह ब्रह्म लक्षों और गुणों से, मल से, विकारों से तथा आदि और अन्त से रहित एवं नित्य, शान्त और समस्वरूप है।

विकार तथा आदि और अन्त से रहित यह पूर्ण ब्रह्मतत्त्व पहले भी था, इस समय भी है और भविष्य में भी सदा रहेगा। वास्तव में अविद्या का किंचिन्मात्र भी अस्तित्व नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। 'ब्रह्म' इस शब्द से जो वाच्य एवं वाचक का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है, उसका भी भेद में तात्पर्य नहीं है, किंतु वह समझाने के लिये ही है। तुम और मैं, यह संसार और दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी अथवा अनल आदि और अन्त से रहित ब्रह्म ही है, अविद्या तो वास्तव में है ही नहीं; क्योंकि मुनि लोग 'अविद्या' को भ्रम मात्र और असत् कहते हैं। वास्तव में जो वस्तु है ही नहीं, वह सत्य कैसे समझी जा सकती है। वेद रूप वाणी का रहस्य जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ विद्वानों ने 'यह अविद्या है और यह जीव है इत्यादि कल्पना अज्ञानी जनों को उपदेश देने के लिये ही की है। केवल युक्ति से ही बोध कराकर इस जीव को परमात्मा में नियुक्त किया जा सकता है; क्योंकि जो कार्य युक्ति से सम्पादित होता है, वह सैकड़ों अन्य उपायों से नहीं होता। मैं ब्रह्म हूँ, तीनों जगत् ब्रह्म हैं, तुम ब्रह्म हो और यह दृश्य पृथ्वी भी ब्रह्म ही है; ब्रह्म से पृथक् कोई दूसरी कल्पना ही नहीं है। सोते जागते, चलते फिरते, बैठते, श्वास लेते—सब समय अपने हृदय में 'सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही मैं हूँ' ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि तुम वास्तव में सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित, शान्त, चिन्मय ब्रह्म हो तथा सर्वव्यापी,

अद्वितीय, शुद्ध ज्ञान स्वरूप, आदि और अन्त से रहित, प्रकाशात्मक परम पद स्वरूप हो एवं ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति—ये सब भी अभिन्न, अद्वितीय नित्य परमात्म स्वरूप ही हैं। जैसे मिट्टी से घड़ा पृथक् नहीं है, वैसे ही परमात्मा से प्रकृति पृथक् नहीं है। जैसे वायु और उसका स्पन्दन एक ही पदार्थ हैं और नाम से दोनों भिन्न होते हुए भी वास्तव में भिन्न नहीं हैं, वैसे ही परमात्मा और प्रकृति—ये दोनों एक हैं और नाम से भिन्न होते हुए भी वास्तव में भिन्न नहीं हैं। जैसे अज्ञान से इन दोनों में भेद जान पड़ता है और वह भेद यथार्थ ज्ञान से ही विनष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि परमात्मा के सिवा—उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

इस संसार में विशुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म के सिवा इन्द्रिय, चित्त और घट आदि किसी भी अन्य पदार्थ का पृथक् अस्तित्व नहीं है। अर्थात् एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है। वह चिन्मय परमात्मा ही प्रकृति के अंश से इन्द्रिय आदि एवं घट आदि उत्पन्न हुए हैं। किंतु आदि और अन्त से रहित, विकार-रहित, प्रकाशस्वरूप, शुद्ध चैतन्यमात्र, जगत्-कारणरूप ब्रह्म वास्तव में माया से रहित है। यह अज्ञानी जीवात्मा ही अज्ञान के कारण अपनी भावना के अनुसार संसार का रूप धारण करता है। वह अहंभावना से 'अहंकार', मनन से 'मन', निश्चय की भावना से 'बुद्धि', इन्द्रियों की भावना से 'इन्द्रिय', देह की भावना से 'देह' और घट की भावना से घट बन जाता है। इस प्रकार अपनी भावना के कारण यह जीवात्मा 'पुर्यष्टक' बन जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों को लेकर 'मैं ज्ञाता हूँ', कर्मेन्द्रियों के व्यापारों को लेकर 'मैं कर्ता हूँ', उन ज्ञान-कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से जनित सुख-दु:खों का आश्रय होने से 'मैं भोक्ता हूँ', उदासीन होकर सबका प्रकाशन करने से 'मैं साक्षी हूँ' इत्यादि अभिमान-युक्त जो चैतन्य है, वही 'जीव' कहा गया है। वही जीवात्मा अपनी भावना से समय-समय पर स्वयं ही अनेकरूप हो जाता है। जैसे जल सींचने से बीज के पल्लव आदि आकार होते हैं, वैसे ही भावना के अनुसार उस जीव के भी शरीर आदि, स्थावर आदि एवं जंगम आदि अनेक रूप होते हैं; क्योंकि वह जीवात्मा अज्ञान से यह मान लेता है कि मैं चेतन आत्मा नहीं हूँ, किंतु शरीर आदि हूँ। वासनाओं के वशीभूत हुआ यह जीव कर्मानुसार चिरकाल तक स्वर्ग-नरक में आवागमनों द्वारा जगत् में घूमता ही रहता है। इनमें से कोई तो विशुद्ध जन्म के कारण पहले जन्म में ही परमात्मा को यथार्थ जानकर आदि-अन्त से रहित परमपद परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। कोई बहुत कालतक अनेक योनियों में प्राप्त सुख-दु:खादि भोगों के अनन्तर परमात्मा के यथार्थ ज्ञान द्वारा परमपद को प्राप्त होता है। बाह्य विषयों के ज्ञान में इन्द्रिय-सम्बन्ध ही सदा कारण है और वह इन्द्रियों का सम्बन्ध चित्त से युक्त जीवित पुरुष में ही सम्भव है, मृत पुरुष में कभी नहीं। जब शान पर चढ़े हुए चमकीले नवीन रत्न के समान आँखों के तारे में बाह्य दृश्य पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, तब उस पदार्थ का हृदय में प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण देहाभिमानी जीव के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इस रीति से बाह्य वस्तु जीव द्वारा हृदय में जानी जाती है।

व्यष्टि चेतन जीवात्मा गर्भ में चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रादुर्भाव से सम्पन्न पुर्यष्टकस्वरूप हो जाने पर जिस वस्तु की जिस प्रकार भावना करता है, उसी प्रकार उसे अपनी भावना से तत्काल ही अनुभव करने लगता है। किंतु वास्तव में अद्वितीय, असीम और अवेद्य होने से निर्विकार शुद्ध आत्मा में दूसरे किसी पदार्थ का अस्तित्व है ही नहीं। अत: वह चेतन आत्मा वास्तव में दृश्य के सम्बन्ध से कभी भी मनोरूपता, जीवरूपता अथवा पुर्यष्टकरूपता को नहीं प्राप्त होता। परमात्मा तो वास्तव में विद्या आदि द्वारा नहीं जाना जा सकता और वह सदा विद्यमान होते हुए भी अश्रद्धालु विश्वासहीन पुरुषों के लिये नहीं है। वही 'परमात्मा' इस नाम से कहा गया है तथा वहीं पाँचों इन्द्रिय और छठे मन से अतीत है अर्थात् इनके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। 'उस परमात्मा से चेतन जीव उत्पन्न होता है' इत्यादि मननात्मक कल्पना एकमात्र शिष्यों को समझाने के लिये ही कही गयी है। वास्तव में परमात्मा से भिन्न अन्य कुछ है ही नहीं। जैसे मृगतृष्णा-जल को प्रयत्न से भी किसी ने कहीं नहीं पाया, उसी प्रकार प्रतीत होने पर भी जो अभावरूप पदार्थ हैं, वे प्रयत्न से भी किस तरह पाये जा सकते हैं। क्योंकि

असत् पदार्थ ही सत् प्रतीत होता है। उसकी सत्यता असद्रूप अविद्या से ही है। ज्ञान से तो वस्तु वास्तव में जिस प्रकार की रहती है, वह उसी प्रकार की अनुभूत हो जाती है और भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। ये इन्द्रिय, मन, प्राण आदि आन्तरिक पदार्थ हैं और ये घट आदि बाह्य पदार्थ हैं—ऐसे विचार वाला जीवात्मा जिसकी जैसी भावना कर लेता है, उसे वैसे ही प्रतीति होने लगती है। द्वैत एवं अद्वैतरूप यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार परमात्मा से ही बना है, जैसे ईख के रस से खाँड़ और मिट्टी से महान् घट। खाँड़, घट आदि में—देश, काल आदि से परिच्छिन्न होने के कारण—अवयव-विन्यास, विकार आदि हो सकते हैं; परंतु ब्रह्म तो देश, काल आदि से परिच्छिन्न नहीं है; सुतरां उसमें वे विकार आदि वास्तव में हो ही नहीं सकते। केवल ब्रह्म में जगत् की कल्पनामात्र है। क्योंकि जिस प्रकार भूषण में स्थित सुवर्ण में यानी सुवर्ण के आभूषण में सत्य एवं असत्य रूप सुवर्णत्व और कटकत्व दोनों रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा में भी चेतनता और जड़ता दोनों रहती हैं। तात्पर्य यह कि जैसे स्वर्ण ही आभूषण के रूप में प्रतीत होता है, वैसे ही चेतन ब्रह्म ही जड जगत् के रूप में प्रतीत होता है।

जैसे मनुष्य स्वप्न में शीघ्र ही दीवाल बन कर पट बन जाता है, वैसे ही मरण काल में जीवात्मा दूसरा शरीर अपने आप बन जाता है। स्वप्न में अपने संकल्प से ही जीवात्मा जन्मता मरता है, वास्तव में यह सब मिथ्या है। इस जीव की अपनी वासना ही पाञ्च भौतिक देह होकर उसी प्रकार आगे खड़ी हुई सी रहती है, जिस प्रकार बालक के आगे कल्पित असत्य महान् प्रेत खड़ा हुआ सा रहता है। मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ—इन आठों का समूह पुर्यष्टक कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कहा गया है। जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान से ही मुक्ति होती है और उसी ज्ञान से वह परमात्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान से जो मुक्ति प्राप्त होती है, शास्त्रों में दो प्रकार की बतलायी गयी है—एक जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति। जीवन्मुक्ति ही तुरीयावस्था है। उसके परे तुरीयातीत परम ब्रह्म पद है। यथार्थ ज्ञान होने से यह जीव प्रबोध स्वरूप हो जाता है यानी उत्कृष्ट चैतन्यात्मक ब्रह्म रूप हो जाता है और वह यथार्थ ज्ञान या बोध पुरुष-प्रयत्न से साध्य है। जो जीवात्मा अपने सर्वव्यापी स्वरूप को यथार्थ जान जाता है, वह सच्चिदानन्दमय ही हो जाता है। किंतु जो जीव उपर्युक्त ज्ञान से शून्य है, वह अज्ञानवश शिला की तरह दृढीकृत अपने हृदय में दीर्घतम संसार स्वप्न भ्रान्ति रूप तीव्र भय का अनुभव करता रहता है। जीव के भीतर चिन्मय आत्मा के सिवा दुसरा कुछ भी नहीं है। पर यह अज्ञान के कारण उसी चेतन आत्मा को जड देह के रूप में समझ कर व्यर्थ ही शोक किया करता है। जीवात्मा के भीतर परम ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। अहो ! जहाँ-तहाँ यह जो जगत् प्रतीत होता है, वह माया का ही परिणाम है।

कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा कहे हुए उस शुभ अनासक्ति योग को तुम सुनो, जिसका अवलम्बन करके मनुष्य जीवन्मुक्त महामुनि बन जाता है। उस उपदेश को सुनकर महाराज पाण्डु का पुत्र अर्जुन जीवन्मुक्तरूप सुख से युक्त हुआ अपना जीवन बितायेगा।

एक समय पृथ्वी मृत्युलोक में आये हुए भारस्वरूप पापी प्राणियों से व्याप्त, वन-गुल्मों से संकीर्ण-सी और दीन हो जायगी। उस समय पापी मनुष्यों के भार से पीड़ित यह दीन पृथ्वी शरण पाने के लिये भगवान् विष्णु के समीप उसी तरह जायेगी, जिस तरह लुटेरों से लूटी गयी कातर स्त्री अपने पति के समीप जाती है। तब सम्पूर्ण देवांशों के साथ भगवान् श्रीहरि नर और नारायण के अवताररूप में दो शरीरों से पृथ्वी पर प्रकट होंगे उनमें से श्रीहरि के नारायण स्वरूप का साक्षात् अवतार एक तो 'श्रीवासुदेव' इस नाम से विख्यात होगा और दूसरा अंशावतार नरस्वरूप पाण्डुपुत्र 'अर्जुन' इस नाम से विख्यात होगा। चारों समुद्रों से घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी का अधिपति एवं धर्म का पुत्र 'युधिष्ठिर' इस नाम से प्रसिद्ध होगा। वह पाण्डुपुत्र धर्मज्ञ होगा, उसका चचेरा भाई 'दुर्योधन' नाम से विख्यात होगा और उस दुर्योधन का 'भीम' नामक द्वितीय पाण्डु-पुत्र वैसा ही प्रतिद्वन्द्वी होगा, जैसे सर्प का

प्रतिद्वन्द्वी नकुल । पृथ्वी को अपने-अपने अधिकार में करने के लिये परस्पर युद्ध करने में तत्पर उन दोनों की भयंकर अठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्र में होने वाली महाभारत की लड़ाई में इकठ्ठी होगी । महान् गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन की देह से उन सेनाओं को नष्ट कर श्रीविष्णु भगवान् (श्रीकृष्ण) पृथ्वी को भार से मुक्त कर देंगे । युद्ध के प्रारम्भ में भगवान् विष्णु का अंश अर्जुन प्राकृत भाव में स्थित होकर हर्ष और शोक से युक्त मनुष्य-धर्म वाला बन जायगा । दोनों सेनाओं में पहुँचे हुए और मरने के लिये तैयार अपने बन्धुओं को देखकर वह अर्जुन विषाद को प्राप्त हो जायगा और युद्ध करना अस्वीकार कर देगा । उस समय अर्जुन को उपस्थित कार्य की सिद्धि के लिये श्रीविष्णु भगवान् अपने ज्ञानमय श्रीकृष्णस्वरूप से इस प्रकार उपदेश देंगे—

'यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता । जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है । अनन्त, एकरूप, सत्स्वरूप और आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रभाव शाली परम शुद्ध आत्मा का किससे किस तरह क्या नष्ट होता है ? अर्थात् उसका किसी प्रकार कभी विनाश नहीं होता ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—अर्जुन ! तुम स्वयं जरा-मरण से रहित नित्य चिन्मय आत्मस्वरूप हो । तुम 'मारने वाले' नहीं हो, अतः इस अभिमान रूप दोष का त्याग कर दो । क्योंकि जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मार कर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बँधता है । इसलिये 'अयम्' यानी यह संसार 'सोऽहम्' यानी वह मारने वाला मैं, 'इदम्' यानी यह देह और 'तन्मे' यानी वे बन्धु आदि मेरे हैं— इस तरह की अन्तःकरण में उत्पन्न हुई वृत्ति का त्याग कर दो । क्योंकि भारत ! इसी बुद्धि वृत्ति के कारण 'मैं पापों से युक्त हूँ', 'मैं विनाशशील हूँ' इत्यादि भ्रान्तियों के अधीन होकर तुम चारों ओर सुख-दुःखों से संतप्त हो रहे हो । वास्तव में सम्पूर्ण कर्म अपनी आत्मा के अंश रूप गुणों के द्वारा ही विभागपूर्वक किये जाते हैं; तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा है, वह अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है । महात्मा पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं' नाम की कोई वस्तु नहीं है; फिर तुम्हारे लिये कौन पदार्थ क्लेशकारक है ? अर्थात् कोई नहीं । जैसे विवेकी और लौकिक विषयों का ज्ञाता होने पर भी दुष्ट-प्रकृति पुरुष कहीं शोभा नहीं पाता, वैसे ही ममता रूपी दोष से दूषित मनुष्य कहीं भी शोभा नहीं पाता । जो ममता और अहंकार से रहित, सुख और दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान् है, वह मनुष्य कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता । यह शास्त्र विहित उत्तम क्षात्र-कर्म तुम्हारा स्वकर्म है । वह बन्धु-वधरूप होने पर भी कर्तव्य बुद्धि से किये जाने पर सुख अभ्युदय और कल्याण का जनक है ।'

सङ्ग-त्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, सर्वथा संन्यास तथा ज्ञान और योग का विभाग क्या है ? मेरे मोह की निवृत्ति के लिये यह सब बतलाइये ।

सारे संकल्पों की भली-भाँति शान्ति हो जाने पर सम्पूर्ण वासनाओं और भावनाओं से रहित जो विशुद्ध केवल चेतनतत्त्व है, वही परब्रह्म परमात्मा कहा गया है । संस्कार के द्वारा पवित्र बुद्धिवाले पुरुषों ने उस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के साधन को ही ज्ञान कहा है और उसी को योग कहा है तथा 'सम्पूर्ण संसार ब्रह्म ही है', और 'मैं भी ब्रह्मरूप ही हूँ'—इस प्रकार अपने आपको ब्रह्म में अर्पण कर देने को ब्रह्मार्पण कहा है एवं सम्पूर्ण कर्म-फलों के त्याग को ज्ञानियों ने संन्यास कहा है । संकल्प-समूहों का जो त्याग है, वही असङ्ग (आसक्ति का अभाव) कहा गया है । आसक्ति के अभाव का नाम ही सङ्गत्याग है । सभी संकल्प-विकल्प-समूहों में जो एक

ईश्वर के एकत्व की भावना है, उसी को जीवात्मा का ईश्वर में अर्पण कहा गया है। क्योंकि अज्ञान के कारण ही चेतन परमात्मा में इन जीव और जगत् आदि का नाममात्र ही भेद है। वास्तव में यह नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् ज्ञानस्वरूप है; अत: जगत् एक ब्रह्ममय ही है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। दिशाएँ मैं हूँ, जगत् मैं हूँ, आत्मा मैं हूँ और कर्म भी मैं ही हूँ। काल मैं हूँ, अद्वैत और द्वैत—सब मैं ही हूँ। इसलिये मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे पूजक बनो, मुझको प्रणाम करो। इस प्रकार आत्मा को मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।

आपके पर और अपर—दो रूप किस प्रकार के हैं और परमपदरूप सिद्धि के लिये किस समय किस रूप का आश्रय लेकर मैं स्थित रहूँ?

यह जान लो कि मेरे दो रूप हैं—एक तो सामान्य रूप और दूसरा परम रूप। शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म-धारण करने वाला चतुर्भुज साकारस्वरूप तो मेरा सामान्य रूप है और जो मेरा विकार रहित, अद्वितीय, आदि और अन्त से रहित निर्गुण निराकार स्वरूप है, वह परम रूप है; वही ब्रह्म, शुद्ध आत्मा, परमात्मा आदि शब्दों से कहा जाता है। तुम सम्प्रबुद्ध होकर परम उत्कृष्ट, आदि और अन्त से रहित मेरे उस रूप को जान जाओगे, जिसके ज्ञान से प्राणी इस संसार में फिर उत्पन्न नहीं होता। यदि तुम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हो तो मुझ परमेश्वर की आत्मा को और अपनी आत्मा को एकरसकर अखण्ड परिपूर्णात्मा का तत्काल आश्रय ले लो। 'यह मैं हूँ' और 'यह भी मैं हूँ' इत्यादि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह सब इस आत्मतत्त्व का ही उपदेश मैं तुम्हें देता हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरे उपदेश से तुम भली प्रकार प्रबुद्ध हो चुके हो, ब्रह्मपद में विश्रान्ति पा चुके हो। और सर्वसंकल्पों से भी मुक्त हो चुके हो। अब तुम सत्य एवं अद्वितीय आत्मस्वरूप होकर स्थित रहो एवं सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त और सबको समभाव से देखने वाले तुम आत्मा को सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखो—अर्थात् एक परमात्मा के सिवा और कुछ नहीं है, ऐसा समझो। क्योंकि जो पुरुष 'सब कुछ ब्रह्म ही है' 'मैं भी ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार एकीभाव का आश्रय लेकर सम्पूर्ण भूतों में स्थित परमात्मा को भजता है, वह सब प्रकार से व्यवहार करता हुआ भी पुन: इस संसार में उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् वह परमपद को प्राप्त हो जाता है।

सम्पूर्ण शरीरों के भीतर स्थित जो दृश्य संसार से रहित और सूक्ष्मरूप से व्यापक अनुभवस्वरूप है, वही यह सर्वव्यापी परमात्मा है। बाहर-भीतर प्रकाश करने वाला तेजस्वरूप मैं देहों के भीतर प्रत्यक्ष विद्यमान रहता हुआ भी प्रतीत नहीं होता। जिस तरह हजारों घड़ों के बाहर और भीतर आकाश समभाव से व्यापक है, उसी तरह भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत् में स्थित शरीरों के भी बाहर और भीतर मैं व्यापक हूँ; किंतु लाखों देहों के भीतर समभाव व्याप्त हुआ भी यह परमात्मा सूक्ष्म होने के कारण प्रतीत नहीं होता। ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जितना भी पदार्थ-समूह है, उसमें जो समभाव से नित्य स्थित है, विद्वान् लोग उसे ही नित्य चिन्मय परमात्मा जानते हैं। विनाशशील पदार्थों में साक्षी की भाँति समभाव से स्थित अविनाशी परमात्मा को जो देखता है, वही यथार्थ देखता है। 'समस्त शरीरों में चेतन ही मैं हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ' इस प्रकार जो मैं कहता हूँ, वह अद्वितीय परमात्मा मैं सबका आत्मा हूँ। तुम मुझे इस प्रकार तत्त्वत: जानो। जिस प्रकार पर्वतों का वास्तविक स्वरूप पाषाण ही है, वृक्षों का स्वरूप काष्ठ ही है और तरङ्गों का स्वरूप जल ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का वास्तविक स्वरूप परमात्मा ही है। जो पुरुष परमात्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को परमात्मा में कल्पित देखता है एवं आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है। इसलिये भारत सम्पूर्ण पदार्थ और भूत-प्राणी परम ब्रह्म—इन सबको एकरूप ही जानो, इनमें लेशमात्र भी पृथक्त्व नहीं है। इस प्रकार के उपदेशों को सुनकर और निश्चयपूर्वक भीतर अभय ब्रह्म की भली भाँति भावना करके समबुद्धि महात्मा लोग

जीवन्मुक्त होकर इस संसार में विचरा करते हैं। जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूप से नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

सर्दी, गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये उनको तुम सहन करो। इन्द्रियाँ, इन्द्रियों का विषय-संसर्ग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व या इनसे मिल जो कुछ पदार्थ हैं, वे सब-के-सब एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा से तनिक भी पृथक् नहीं हैं अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है। अतः फिर सुख और दुःख कहाँ ? आदि-अन्त से रहित तथा अवयवहीन परमात्मा में पूर्णता और अपूर्णता कैसे हो सकती है। इसलिये जो पुरुष सुख-दुःख में समान और धीर है, वह अमृतमय ब्रह्मपद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। वास्तव में सभी तरह से सुख-दुःखों का अस्तित्व तनिक भी नहीं है। परमतत्त्व ही सर्वस्वरूप है, इसलिये आत्मस्वरूप संसार की सत्ता कैसे स्थिर होगी ? क्योंकि असत् वस्तु की तो सत्ता है नहीं और सत् का अभाव नहीं है अतएव सुख-दुःख आदि हैं ही नहीं, केवल एक सर्वव्यापी परमात्मा ही है। अर्जुन ! यद्यपि आत्मा दृश्य पदार्थों का साक्षीरूप से साक्षात्कार करने वाला चेतन स्वरूप है और शरीर के अंदर रहता भी है, तथापि वह सुखों से न तो हर्षित होता है और न दुःखों से दुःखित ही। परमात्मा से पृथक् देह आदि कुछ भी नहीं है और न दुःख आदि ही हैं; अतः वास्तव में कौन किसका अनुभव करेगा ? क्योंकि एक परमात्मा के सिवा दूसरी वस्तु है ही नहीं। यह दुःख अज्ञान से उत्पन्न एक प्रकार की भ्रान्ति ही है, अतः परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से वह सर्वथा विनष्ट हो जाता है।

अर्जुन ! तुम मान, मद, शोक, भय, इच्छा, सुख, दुःख—इस सम्पूर्ण असद्रूप जड द्वैत-प्रपञ्च से रहित हो जाओ और एकमात्र अद्वितीय चिन्मय सत्यस्वरूप परमात्मा में तद्रूप हो जाओ। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय और पराजय के ज्ञान से रहित होकर तुम एकमात्र शुद्ध ब्रह्मरूप हो जाओ; क्योंकि तुम ब्रह्मरूप ही हो। तुम जो कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान देते हो और भविष्य में जो कुछ शास्त्रानुकूल अनुष्ठान करोगे, वह सब परमात्म रूप ही है—इस प्रकार के ज्ञान में स्थिर रहो। जो पुरुष अपने अन्तःकरण में जिस पदार्थ का संकल्प करता है, वह निःस्संदेह उसी रूप में बदल जाता है। तुम कर्मों में वासना तथा कर्तापन के अभिमान से रहित हो जाओ। तुम्हारी कर्मों को न करने में आसक्ति न हो और तुम योग में स्थित हुए अनासक्त भाव से शास्त्र विहित कर्तव्य कर्मों का आचरण करो। मूढ़ता, अकर्मण्यता तथा कर्मों में आसक्ति के आश्रय से रहित हुए सबमें समभाव होकर स्थित रहो। जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों को भली-भाँति करता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता।

तुम हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य वस्तु परमात्मा में स्थित, योग-क्षेम को न चाहने वाले और स्वाधीन अन्तःकरण वाले हो जाओ एवं न्याय से प्राप्त शास्त्रोक्त कर्मों को करते हुए पृथ्वी को विभूषित करने वाले आदर्श पुरुष बन जाओ। जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है। किंतु जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है। जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसका विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि प्रारब्धानुसार न्याय से प्राप्त भोगों का त्याग न करे और अप्राप्त भोगों को पाने की इच्छा न करे एवं न्याय से प्राप्त भोगों का शास्त्रानुकूल उपभोग करते हुए भी समभाव से स्थित रहे। जन्मादि विकार स्वभाव वाले अनात्म रूप जड देह में मैं-पन की भावना मत करो, अपितु जन्मादि विकार से रहित सत्य चिन्मय आत्मा में ही आत्मा की भावना करो। देह का नाश होने पर अविनाशी आत्मा का नाश नहीं होता। इसलिये सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित, चित्त रहित पुरुष का पतन नहीं होता। वह कर्मों को करता हुआ भी कुछ नहीं करता; क्योंकि परमात्मा के यथार्थ तात्त्विक ज्ञान का आश्रय लेने वाले आसक्ति रहित महात्मा के हृदय में सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी कहीं कभी कतृत्वाभिमान नहीं होता। यह आत्मा अविनाशी, आदि और अन्त से रहित, अजर कहा गया है; इसलिये 'आत्मा का नाश होता है' यह दु:खदायी दुर्बोध तुम जैसे मनुष्य को नहीं होना चाहिये। उत्तम आत्मज्ञानी लोग 'आत्मा नाशवान् है' इस रूप से आत्मा को नहीं देखते। देहाभिमानी अज्ञानी मनुष्य ही आत्मा में आत्मा को अनात्मरूप से देखते हैं, यानी देह को ही आत्मा मानते हैं तथा यह नष्ट हो गया और यह प्राप्त हो गया—इत्यादि भावनाएँ वन्ध्या-स्त्री के पुत्र के समान मोहजनित भ्रम (असत्) हैं। असत् वस्तु की तो सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों का ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है। नाश रहित तो तुम उसको जानो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्य वर्ग व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाश रहित, अप्रमेय नित्य स्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये भरतवंशी अर्जुन ! तुम युद्ध करो आत्मा एक है और द्वैत है ही नहीं; अतः आत्मा के सिवा दूसरे असत् पदार्थ की उत्पत्ति हो कैसे सकती है ? क्योंकि सत् का नाश नहीं होता, इसलिये यह सद्रूप परमात्मा अविनाशी और अनन्त है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि—इनसे युक्त तन्मात्राओं का जो समूह है, अज्ञान से तत्स्वरूप हुआ ही जीव देहों में स्थित रहता है। वह देह में स्थित जीवात्मा वासना से उसी तरह खींचा जाता है जिस तरह रस्सी से बछड़ा। वह शरीर के अंदर पिंजरे में पक्षी की तरह बैठा रहता है। जब देश और काल से जर्जर हुए शरीर से यह जीव वासना लेकर निकल जाता है, तब इसी को लोग मरना कहते हैं। जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचा को तथा रसना और घ्राण को ग्रहण करके पूर्व शरीर से दूसरे शरीर में चला जाता है। इसका शरीर वासनामय ही है, यानी केवल वासना के अनुसार ही उत्पन्न हुआ है, अन्य किसी दूसरे कारण से नहीं। अत एव वासना का त्याग होने पर लिङ्ग देह विनष्ट हो जाने पर वह जीवात्मा परम पद को प्राप्त हो जाता है। यह वासनामय जीव बासना से परिपुष्ट होकर अज्ञान से अनेक भ्रमों का भार ढोता हुआ कर्मानुसार नाना योनियों में भ्रमण करता है; यही जीवात्मा का जन्म-मरण है।

अनात्म वस्तु देह में आत्म-भावना रूप यह वासना अज्ञान स्वरूप मोह से उत्पन्न हुई है और परमात्मा के यथार्थ अनुभव रूप ज्ञान से यह विनष्ट हो जाती है। तुम पवित्रात्मा हो चुके हो और सत्य वस्तु का विवेक भी तुम्हें हो चुका है। अब तुम 'यह' 'वह' 'मैं' और 'ये लोग' इत्यादि रूप वासना से रहित हो जाओ। क्योंकि दूसरे के अधीन न रहने वाला, संकल्प रहित और अविनाशी जीवात्मा का परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से वासना से छूट जाना ही उसका 'मोक्ष' है। वासना रूप रज्जु के बन्धन से छूटा हुआ पुरुष 'मुक्त' कहा जाता है। अतः तुम वासना से रहित होकर जीते जी ही उस वास्तविक यथार्थ तत्त्व का अनुभव करो। जो वासना से रहित नहीं है,—भले ही वह समस्त धर्मों के परायण क्यों न हो, सर्वज्ञ यानी समस्त सांसारिक विषयों का पण्डित ही क्यों न हो,—फिर भी वह पिंजरे में स्थित पक्षी की भाँति सब ओर से वासना-जाल से बँधा हुआ है। क्योंकि वासना ही बन्धन है और वासना का क्षय ही मोक्ष है।

वासना:निवृत्ति रूप जीवन्मुक्ति के द्वारा तुम आन्तरिक शान्ति प्राप्त कर बन्धुवधप्रयुक्त दु:ख का नि:शेषरूप से परित्याग कर दो। जरा और मरण से रहित, आकाश की तरह विशाल चित्तवाले तथा इष्ट

एवं अनिष्ट विषयों के संकल्पों से रहित होकर तुम वीतराग हो जाओ। सदा से चला आने वाला स्वधर्मरूप कर्म जो समभाव से किया जाता है, वह तो जीवन्मुक्तों के लिये स्वाभाविक ही है और वही जीवन्मुक्तता है। 'यह कर्म मैं छोड़ता हूँ' और 'इस कर्म को मैं अङ्गीकार करता हूँ'—इस प्रकार जो त्याग और ग्रहण का निर्णय है, वह एकमात्र अज्ञानियों के मन का स्वरूप है; ज्ञानियों की तों उनमें सम स्थिति रहती है। जिसकी इन्द्रियाँ कछुए के अङ्गों की भाँति इन्द्रियों के विषयों से हट कर अन्त:करण में स्थिर हो जाती हैं, वही स्थित प्रज्ञ और जीवन्मुक्त है। वास्तव में यह संसार आकाश से भी बढ़ कर वैसे ही शून्य रूप है, जैसे स्वप्न में क्षणमात्र में चित्त में होने वाले तीनों लोकों का नाश और उत्पत्ति—यह तुम जानो। क्योंकि आत्मा, मन और उसका कार्य यह बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूर्ण जगत् स्वप्न की तरह शून्य है (असत् ही हैं)। यह सब चिरकालिक मनोराज्य है, इसलिये अज्ञानी मनुष्यों को इसमें सत्यत्व की प्रतीति होती है। किंतु वह सत्यत्व की प्रतीति तत्त्वज्ञान रूप आलोक से नष्ट हो जाती है। चित्त रूपी चितेरे के चित्र में अवस्थित त्रिभुवन आदि विचित्र मूर्तियाँ आधारभूत भीत के न रहने से बाहर आकार-रहित यानी मिथ्या ही हैं। वास्तव में न तो उन चित्त कल्पित मूर्तियों का अस्तित्व है और न तुम्हारे शरीर का ही अस्तित्व है; इसलिये कौन किससे मारा जाता है? अत: नाश्य-नाशक का मोह छोड़कर तुम निर्मल बनकर ब्रह्म रूप परम पद में स्थित हो जाओ। जैसे एकमात्र चित्त में रहने वाला मनोराज्य रूप चित्र आकार वाला प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में शून्य स्वरूप होने से असत् ही है, वैसे ही यह जगत् भी शून्य रूप है—यह तुम जानो।

अर्जुन! चेतन आकाश स्वरूप ब्रह्म से निर्मित सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्म में ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म विलीन होता है। ब्रह्म में ही ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म का उपभोग किया जाता है और ब्रह्म द्वारा ब्रह्म में ब्रह्म का ही विस्तार हुआ है। जैसे प्रतिबिम्ब अपने आधार दर्पण में प्रतीत होता है, वैसे ही यह जगत् भी अपने आधार ब्रह्म में ही प्रतीत होता है। जब ब्रह्म में प्रतिभासित छेदन-भेदन आदि सम्पूर्ण व्यवहार और उनका विषय जगत्—ये सब ब्रह्म से अभिन्न होकर एकमात्र चिन्मय आकाश स्वरूप ही हैं, तब किस कर्ता या करण से किस प्रकार से किस देश या किस काल में क्या छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। इसलिये बोध से तुम्हारी वासनाओं का अभाव सिद्ध ही है। जो वासना से रहित नहीं है, भले ही वह समस्त शास्त्रीय कर्मों के परायण हो और समस्त सांसारिक विषयों का ज्ञाता हो; फिर भी वह वैसे ही अत्यन्त बद्ध है, जैसे पिंजरे में स्थित सिंह। जिसकी चित्त रूपी भूमि में अणु मात्र भी वासना रूप बीज पड़ा रहता है, उसका संसार रूप जंगल पुन: बढ़ जाता है। जब सत्य स्वरूप परमात्मा का यथार्थ ज्ञान अभ्यास के द्वारा हृदय में दृढ़ हो जाता है, तब वासना पूर्णतया नष्ट हो जाती है और वह फिर उत्पन्न नहीं होती। वासनाओं के पूर्णतया नष्ट हो जानेपर विशुद्ध जीवात्मा सांसारिक सुख-दु:खादि वस्तुओं में वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे पानी में कमल का पत्ता। असंख्य वासनाओं से रहित तुम मुझसे सुने हुए पवित्र उपदेश को भली-भाँति समझकर परमात्मा में चित्त को विलीनकर भय और मोह से रहित एवं शान्त निर्वाण ब्रह्मस्वरूप हुए स्थित रहो।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—अर्जुन! यदि परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से तुम्हारे हृदय में रागादि वृत्तियाँ अशेषरूप से शान्त हो चुकीं तो तुम जान लो कि तुम्हारा सवासनात्मक चित्त भी भीतर शान्त होकर निर्वासनता को प्राप्त हो गया। इस सत्त्वावस्था में सर्वस्वरूप जीवात्मा सम्पूर्ण वासनाओं और विषयों से मुक्त हो जाता है। उस जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप को कोई भी उसी प्रकार नहीं देख सकते, जिस प्रकार भूमि से आकाश में उड़कर दूर-देश में गये हुए पक्षी को। मन-इन्द्रियों के प्रकाशक, शुद्धस्वरूप, संकल्परहित, निर्विषय इस जीवात्मा को मन-इन्द्रियों से दूर समझो। जैसे अग्नि के पर्वतपर पहुँचकर हिमकण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से अविद्या भी नष्ट हो जाती है। नाना प्रकार के आकार और विकारोंवाली यह अविद्या

तभीतक रहती है, जबतक जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप—विशुद्ध विज्ञानानन्दघन परमात्मा को भली-भाँति नहीं जान लेता जो समग्र परमात्मा अपने आप से परिपूर्ण है, समग्र दृश्य संसार से रहित है और वाणी से अतीत है, उस अनुपम परम वस्तु परमात्मा की किसके साथ उपमा दी जा सकती है अर्थात् किसी के साथ नहीं। इसलिये तुम अभीष्ट कामनाओं की निवृत्तिरूप युक्ति से विषयात्मक विष से उत्पन्न महामारीरूप अन्त:करण की वासना को निपुणतापूर्वक दूर कर संसार से तथा सम्पूर्ण भयों से रहित परमात्मास्वरूप ही हो जाओ।

जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित रहता है, जो सम्पूर्ण जगत्स्वरूप हैं, जो सब ओर विद्यमान है और जो सर्वमय है, उसी को नित्य परमात्मा समझो। वह परमात्मा अश्रद्धालु के लिये दूर होता हुआ भी श्रद्धालु के लिये समीप ही है। वह सर्वव्यापी होने से सबमें स्थित है एवं वास्तव में ज्ञान और ज्ञेय से रहित सच्चिदानन्द परमपदस्वरूप है। वही परमपद सबकी पराकाष्ठा है, वही सम्पूर्ण दृष्टियों में सर्वोत्तम दृष्टि है, वही सारी महिमाओं की सर्वोत्तम महिमा है तथा वही गुरुओं का भी गुरु है। वही सबका आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्यस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परम कल्याण है, वही शान्त और मङ्गलमय शिव है, वही परम विद्या है और वही परम स्थिति है। उस परमात्मा में यह जगत् अविचार से ही सत्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में विवेकपूर्वक विचार करने से असत् है। आदि और अन्त से रहित आकाश के समान व्यापक मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ, मुझसे अतिरिक्त यह संसार कुछ भी नहीं है—यों निश्चय करने पर फिर ब्रह्मस्वरूप मुझमें परिमितता नहीं रह सकती। जो पुरुष इस प्रकार के निश्चय से युक्त रहता है, वह बाहर से लोक-शास्त्र की मर्यादा के अनुसार कार्य करने पर भी वास्तव में उत्पत्ति और विनाश से रहित है। जिसका मन सम से-भी-सम ब्रह्म में लीन होकर फिर न उदित होता है और न अस्त होता है एवं जिसकी बुद्धि में मन का अभाव है, वह महात्मा ब्रह्म-रूप ही है। एकमात्र ब्रह्मभावना से अद्वितीय परमपद पर आरूढ हुआ वह महात्मा व्यवहार करता हुआ भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता। व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुष के हृदय में मानापमान से जनित सुख:दुख आदि विकार तनिक भी नहीं होते, वह पुरुष मुक्ति का अधिकारी है।

परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से ही भोग-वासना क्षीण हो जाती है और भोग-वासना का अभाव ही ज्ञानी का उत्तम लक्षण है। ज्ञान और वैराग्य के कारण तत्त्वज्ञ पुरुष को संसार के भोग स्वभाव से ही रुचिकर नहीं होते। यह संसार सर्वात्मस्वरूप परमात्मा ही है—इस प्रकार का जिसके हृदय में दृढ़ अनुभव है, वही जीवन्मुक्त कहा गया है। किंतु यह जीवात्मा जब तक अज्ञान से आवृत रहता है, तब तक दृश्य विषय भोगों में स्थित हुआ संसार का संकल्प करता रहता है। जब अन्त:करण में उत्तम तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है, तब संकल्प-विकल्प का यह क्रम बुझे हुए दीपक की भाँति शान्त हो जाता है। स्वयम्प्रकाश, चैतन्यरूप, सम्पूर्ण पदार्थों का आश्रय और विषयोन्मुखता से रहित शुद्ध चेतन का जो स्वरूप है, उसे ही तुम परमपद जानो। यह संसार संकल्पमय ही है; इसलिये संकल्प नष्ट हो जाने पर संसार भी नष्ट हो जाता है और फिर सच्चिदानन्द परमात्मा ही रह जाता है।

मुनिवरों ने दो तरह के मुनि बतलाये हैं—एक काष्ठतपस्वी और दूसरा जीवन्मुक्त। परमात्मा की भावना से रहित शुष्क क्रिया में बद्धनिश्चय और हठ से सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीत रखने वाला मुनि काष्ठमौनी कहा गया है। इस विनाशशील संसार के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर जो विशुद्धात्मा और परमात्मा में स्थित ज्ञानी महात्मा बाहर न्याययुक्त लौकिक व्यवहार करता हुआ भी भीतर विज्ञानानन्दघन परमात्मा में तृप्त रहता है, वह जीवन्मुक्त मुनि कहा गया है। मौन को चाहने वाले मुनिमों ने मौन के चार भेद बतलाये हैं—वाङ्मौन, इन्द्रियमौन, काष्ठमौन और सुषुप्तमौन। वाणी का निरोध वाङ्मौन, हठपूर्वक विषयों से इन्द्रियों का निग्रह इन्द्रियमौन और सम्पूर्ण चेष्टाओं का त्याग काष्ठमौन कहलाता है। एवं परमात्मा के स्वरूपानुभव में जो जीवन्मुक्त निरन्तर लगा रहता है, उसके मौन को सुषुप्तमौन कहते हैं। काष्ठमौन में वाङ्मौन आदि तीनों मौनों का अन्तर्भाव है और सुषुप्तमौनावस्था में

जो तुर्यावस्था है, वही जीवन्मुक्तों की स्थिति है। ऊपर जो तीन प्रकार का मौन कहा गया है, वह प्रस्फुरित हुए चित्त का चलन ही है। अतएव ये तीनों मौन उपादेय नहीं वरन् त्याज्य हैं। किंतु इन तीनों से भिन्न चौथा जो सुषुप्तमौन है, वह जीवन्मुक्तों की स्थिति है। इसमें स्थित जीवात्मा का पुनर्जन्म नहीं होता। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तियाँ अनुकूल में तो हर्षित नहीं होतीं और प्रतिकूल में घृणा नहीं करतीं। जो विभाग रहित, अभ्यास रहित एवं आदि और अन्त से रहित है तथा जो ध्यान करते हुए या ध्यान न करते हुए सभी अवस्थाओं में समभाव से स्थित है, वही सुषुप्तमौन कहा जाता है। अनेक प्रकार के विभ्रमयुक्त संसार के और परमात्मा के तत्त्व को यथार्थरूप से जानने पर जो संदेहरहित स्थिति होती है, वही सुषुप्त मौन है, जो सर्वशून्य, आलम्बन-रहित, शान्तिस्वरूप, विज्ञानमात्र तथा सत्-असत् से रहित स्थिति है, वह उत्तम सुषुप्त मौन कही गयी है। इस जगत् में विकार-रहित, सर्वात्मक तथा सत्ता-सामान्यस्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ—इस तरह की ज्ञानावस्था को सौषुप्तमौन कहते हैं।

योगवासिष्ठ-विषय-सूची

उपशम-प्रकरणे

निर्वाणप्रकरण पूर्वार्द्ध

●

श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिप्रणीत-
कुसुमलताख्यभाषानुवादालङ्कृतः
आदिकविश्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिविरचितः

योगवासिष्ठः

३१

वसिष्ठ उवाच

अथ दुःखपरीतात्मा हरिणा हतदानवे ।
प्रह्लादश्चिन्तयामास मौनी पातालकोटरे ॥ १ ॥
कोऽन्वस्माकमुपायः स्याद्य एवेहाऽसुराङ्कुरः ।
तीक्ष्णाग्रो जायते तं तं भुङ्क्ते शाखामृगो हरिः ॥ २ ॥
न कदाचन पाताले दैत्या दोर्दण्डशालिनः ।
स्थिरा बभूवुरुद्भिन्नाः पद्मा इव हिमाचले ॥ ३ ॥
उत्पत्योत्पत्य नश्यन्ति भासुराकारघर्घराः ।
क्षीणप्रस्फुरितारम्भास्तरङ्गा इव वारिधेः ॥ ४ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं कष्टं समग्रालोकहारिणः ।
रिपवः प्रौढिमायाता अपूर्वतिमिरभ्रमाः ॥ ५ ॥
तमःप्रपूर्णहृदयाः संकुचत्पत्रसंपदः ।
सुहृदः खेदमायान्ति निशीथकमलाकराः ॥ ६ ॥
तातस्य मलिनैर्नूनं पादपीठोपमर्दकैः ।
सुरैर्विषय आक्रान्तो मृगैरिव महावनम् ॥ ७ ॥
निरुद्यमा गतश्रीका दीनाः प्रकटिताशयाः ।
बान्धवा न विराजन्ते पद्माः प्लुष्टदला इव ॥ ८ ॥
स्फुरन्त्यसुरवीराणां गृहेष्वविरतानिलैः ।
धूसरा भस्मनीहारा धूपधूमभरा इव ॥ ९ ॥
हृतद्वारकपाटासु दैत्यान्तःपुरभित्तिषु ।
प्रभा मरकतस्येव जाता नवयवाङ्कुराः ॥ १० ॥

३१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर पातालगर्त में दानवों का विनाश होने से दुःखसन्तप्त मौनी प्रह्लाद ने विचार किया ॥ १ ॥

मेरे लिए कौन साधन है क्यों कि सम्पत्ति रूपी पल्लवों को उत्पन्न करने में समर्थ असुर रूपी वृक्ष का अङ्कुर रूप तेजस्वी जो भी यहाँ पर पैदा होता है, उसी को श्रीहरि रूपी बन्दर खा डालता है ॥ २ ॥

पाताल में भुजदण्डशाली बलवान् दैत्य कभी-भी अङ्कुरित होकर वैसे ही स्थिर नहीं हुए जैसे हिमालय में विकसित कमल कभी स्थिर नहीं होते ॥ ३ ॥

समुद्र की तरङ्गों के समान प्रखर आकृति और गर्जन वाले सब दैत्य, जिनका तनिक विकसित कार्य नष्ट कर दिया जाता है, उत्पन्न हो-होकर विलीन हो जाते हैं ॥ ४ ॥

महान् कष्ट है, बाहरी और भीतरी सब सम्पत्ति रूपी प्रकाशों को हरने वाले अद्भुत अन्धकार के समान हमारे शत्रु उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके हैं ॥ ५ ॥

हमारे अन्धकारपूर्ण हृदय वाले एवं प्रतिदिन सम्पत्ति रूपी सङ्कुचित पंखुरी वाले मित्र रूपी अर्ध रात्रि के कमलतडाग, खेद को प्राप्त हो रहे हैं ॥ ६ ॥

प्रणाम के समय मेरे पिता जी के चरण-कमल का स्पर्श करने वाले द्वेष से कलुषित देवताओं ने हमारा देश इस प्रकार आक्रान्त कर दिया है जैसे मृग सिंह के वन को आक्रान्त करता है ॥ ७ ॥

अपने हृदयवर्ती महा दुःख को सबके आगे कहने वाले उद्यमरहित, कान्तिहीन तथा दीनहीन हमारे बान्धव ग्रीष्म ऋतु में जिनकी पँखुरियाँ झुलस चुकीं ऐसे कमलों के समान शोभित नहीं होते हैं ॥ ८ ॥

आजकल शूरवीर असुरों के घरों में निरन्तर बहने वाले उत्पात वायुओं से बिखेरे जा रहे भस्मरूपी कुहरे पहले की धूप की धूमराशि के समान प्रतीत हो रहे हैं ॥ ९ ॥

जिनके चौखट और किवाड़ देवता हर ले गये हैं, ऐसी दैत्यों के अन्तःपुर की दीवारों पर समृद्धिकाल की मरकतप्रभा के समान इस समय जौ के अङ्कुर उगे हैं ॥ १० ॥

त्रिलोकीनाभिनलिनीमत्तेभा दानवा अपि ।
देववद्दैन्यमायाताः किमसाध्यमहो विधेः ॥ ११ ॥
मनाक्चलति पर्णेऽपि दृष्टारिभयभीतयः ।
वध्वस्त्रस्यन्ति विध्वस्ता मृग्यो ग्रामगता इव ॥ १२ ॥
आसुरीकर्णपूरार्थं फुल्ला रत्नगुलुच्छकाः ।
नरसिंहकरालूनाः स्थाणुतामागता द्रुमाः ॥ १३ ॥
दिव्याम्बरलतापत्रा रत्नस्तबकदन्तुराः ।
पुनरारोपितास्तत्र नन्दने कल्पपादपाः ॥ १४ ॥
पुरा त्वमरबन्दीनामसुरैः संस्तुतं मुखम् ।
अद्य त्वसुरबन्दीनां सुरैरालोकितं मुखम् ॥ १५ ॥
मन्ये दानमहानद्यः सुरेभकटभित्तिषु ।
प्रवृत्तास्ता भविष्यन्ति शैलसानुष्विवाऽऽपगाः ॥ १६ ॥
अस्माकमिभगण्डेषु दानदाहविभूतयः ।
लसन्ति मरुखण्डेषु संशुष्केष्विव धूलयः ॥ १७ ॥
विकासिसितमन्दारमकरन्दारुणानिलाः ।

पहले सुमेरुरूपी कमलिनी के मर्दन में मदोन्मत्त हाथी के सदृश दानवगण भी आज देवताओं के सदृश दीन हो गये हैं। अहो, भाग्य के लिए क्या असाध्य है ? ॥ ११ ॥

दैत्यों की स्त्रियाँ, जिन्हें शत्रुभय का अनुभव हो चुका है, तनिक पत्तों के फड़कने पर भी वैसे ही डरती हैं जैसे गाँव में गई हुई भयभीत मृगियाँ तनिक पत्ते के फड़कने पर भी डरती हैं ॥ १२ ॥

असुर नारियों के कर्णपूर बनाने के लिए लगाये रत्नों के गुच्छे वाले फूले हुए दिव्य वृक्ष नरसिंह के हाथों से तहस-नहस होकर ठूंठ बन गये हैं ॥ १३ ॥

देवताओं ने उस नन्दन वन में दिव्य वस्त्रों से युक्त लता और पत्ते वाले रत्नों के गुच्छों से लदे हुए कल्पवृक्ष फिर लगा लिये हैं ॥ १४ ॥

पहले देवताओं की बन्दीनारियों के सुन्दर मुख असुरों ने प्रशंसा के साथ देखे थे, लेकिन अब असुरों की बन्दी नारियों के मुख देवताओं द्वारा देखे जाते हैं ॥१५॥

मानो, देवताओं के ऐरावत आदि हाथियों के गण्ड-स्थल में बह रहीं मदधारारूपी महानदियाँ शैलशिखरों पर बह रहीं नदियों के समान हो जायँगी ॥ १६ ॥

मद के दाह से उत्पन्न हुई राख हमारे हाथियों के सूखे हुए गण्डस्थलों में सूखे हुए मरुस्थलों में धूलि के समान प्रतीत होती है ॥ १७ ॥

फूले हुए सफेद मन्दार के पराग युक्त मकरन्दों से रंगे हुए वायु जिनका अंगस्पर्श किये जाने वाले मारे हर्ष

ते मेरुशिखरैस्तुल्या दैत्या दुर्लभतां गताः ॥ १८ ॥
सुरगन्धर्वसुन्दर्यो दानवान्तःपुरोचिताः ।
अद्य मेरौ स्थितिं याता मञ्जर्य इव पादपे ॥ १९ ॥
कष्टं तातपुरन्ध्रीणां शुष्काम्बुरुहनीरसाः ।
विलासाः सुरनारीभिर्भर्त्स्यन्ते लास्यलीलया ॥ २० ॥
पूर्वं यैरेव मत्तातश्चामरैरुपवीजितः ।
सहस्रनयनः स्वर्गे कष्टं तैरेव वीज्यते ॥ २१ ॥
इयमस्माकमप्यापदागता दैन्यदायिनी ।
तस्यैकस्य प्रसादेन दुष्पौरुषगतेर्हरेः ॥ २२ ॥
तद्दोर्वनघनच्छायालब्धविश्रान्तयः सुराः ।
न कदाचन तप्यन्ते हिमाद्रेरिव सानवः ॥ २३ ॥
शौरिशौर्याग्रशिखरसंश्रयेणाऽऽश्रितश्रियः ।
अस्मान् समुपरुन्धन्ति शुनः शाखामृगा इव ॥ २४ ॥
तेनाऽसुरपुरन्ध्रीणां नित्यं मण्डनमण्डने ।
मुखपद्मे स्थितं बाष्पमब्जिनीनां हिमं यथा ॥ २५ ॥

के मेरुशिखरों के तुल्य दैत्य दुर्लभ हो गये हैं ॥ १८ ॥

पहले दानवों के अन्तःपुर में चिरकाल निवास करने वाली देवता और गन्धर्वों की सुन्दरियाँ आज वृक्षपर मञ्जरियों के समान मेरुपर निवास करती हैं ॥ १९ ॥

बहुत कष्ट है कि मेरे पिताजी की पटरानियों के सूखे हुए कमलों की तरह नीरस विलासों की अप्सराएँ नृत्यों में अनुकरण द्वारा भर्त्सना करती हैं ॥ २० ॥

बड़े खेद की बात है, पहले जो चँवर मेरे पिता पर डुलाने गये थे, वे ही चँवर आज स्वर्ग में इन्द्र पर डुलाये जाते हैं ॥ २१ ॥

जिनका पराक्रमस्मरण भी दुःखदायी है, ऐसे उन एकमात्र भगवान् श्रीहरि के प्रसाद से महाप्रतापशाली हम लोगों को भी ये आपत्तियाँ प्राप्त हैं ॥ २२ ॥

उन विष्णु भगवान् की बाहुओं की निविड़ छाया में विश्रान्त देवताओं को कभी सन्ताप वैसे ही प्राप्त नहीं होता जैसे हिमालय में शिखर कभी सन्तप्त नहीं होते ॥ २३ ॥

वैसे ही भगवान् विष्णु के पराक्रमरूपी पर्वत या वृक्ष की चोटी के अवलम्बन से समृद्ध हुए देवता लोग हम बलवानों को भी वैसे ही पाताल में ढकेल रहे हैं जैसे पर्वत या वृक्ष की चोटी पर बैठे हुए बन्दर बलवान् कुत्तों को भी तंग करते हैं ॥ २४ ॥

भगवान् के पराक्रम से अलङ्कारों को भी अलङ्कृत करने वाले असुर नारियों के मुखारविन्द पर कमलिनियों के मुखभूत कमल पर हिम के समान आंसू सदा बने रहते हैं ॥ २५ ॥

शीर्णभिन्नलुठद्भित्तिर्जगज्जरठमण्डपः ।
अयं नीलमणिस्तम्भैस्तद्भुजैरेव धार्यते ॥ २६ ॥
स धर्ता सुरसैन्यस्य मज्जतो विपदर्णवे ।
क्षीरोदोदरमग्नस्य मन्दरस्येव कच्छपः ॥ २७ ॥
एते तातादयः सर्वे तेनैवाऽसुरसत्तमाः ।
पतिताः क्षुब्धकल्पान्तवातेनेव कुलाचलाः ॥ २८ ॥
स एक एव संहारकर्मक्षमभुजानलः ।
सुरसार्थगुरुः श्रीमान् विषमो मधुसूदनः ॥ २९ ॥
दैत्यदोर्दण्डपरशोस्तस्य वीर्येण वीर्यवान् ।
दानवान् बाधते शक्रो बालकानिव मर्कटः ॥ ३० ॥
दुर्जयः पुण्डरीकाक्षः प्रतिमुक्तायुधोऽपि सन् ।
नासौ शस्त्रास्त्रविच्छेदैर्वज्रसारो विदीर्यते ॥ ३१ ॥
अभ्यस्ता बहवस्तेन मिथःप्रेरितपर्वताः ।
भीमाः समरसंरम्भाः सममस्मत्पितामहैः ॥ ३२॥
तासु तास्वतिघोरासु विततास्वरिराजिषु ।

जगद्रूपी जीर्ण-शीर्ण मकान, जिसकी जीर्ण-शीर्ण टूटी-फूटी भित्तियाँ गिर रही हैं, नीलमणि के स्तम्भरूप भगवान् की भुजाओं द्वारा सम्हाला जाता है ॥ २६ ॥

विपत्तिरूपी सागर में डूब रही देवसेना के वह भगवान् वैसे ही धारणकर्ता हैं जैसे क्षीरसागर के मध्य में डूबे हुए मन्दराचल के धारणकर्ता कच्छप भगवान् हैं ॥२७॥

जैसे क्षुब्ध हुआ प्रलयकाल का वायु कुलाचलों को गिराता है वैसे ही उन्होंने ये मेरे पिता आदि सब असुर श्रेष्ठों को गिरा डाले हैं ॥ २८ ॥

केवल एक उन्हीं की भुजारूपी अग्नि हम लोगों का संहार करने में समर्थ है। देवताओं के गुरु श्रीमान् मधुसूदन हम लोगों के द्वारा आक्रान्त नहीं हो सकते हैं ॥२९॥

दैत्यों के बाहुदण्ड के लिए कुठारभूत उन श्रीहरि भगवान् के पराक्रम से पराक्रमशाली होकर इन्द्र दैत्यों को वैसे ही छेड़ रहा है जैसे बन्दर बालकों को छेड़ता है ॥३०॥

यदि भगवान् शस्त्रास्त्र का त्याग कर दें, तो भी उनपर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। वज्र से भी कठिन वे शस्त्रास्त्रों के आघातों से छिन्न-भिन्न नहीं किये जा सकते ॥ ३१ ॥

उन्होंने हमारे बाप-दादों के साथ बहुत से भयङ्कर युद्धकौशलों का, जिनमें परस्पर पर्वत फेंके गये थे, अभ्यास किया है ॥ ३२ ॥

उन अति भीषण और विशाल शत्रुपङ्क्तियों में जो भयभीत नहीं हुआ था, वह इस समय भयभीत होगा,

यो न भीत इदानीं स भयमेष्यति का कथा ॥ ३३ ॥
उपायमेकमेवेमं हरेराक्रमणे स्फुटम् ।
मन्ये तद्व्यतिरेकेण विद्यते न प्रतिक्रिया ॥ ३४ ॥
सर्वात्मना सर्वधिया सर्वसंरम्भरंहसा ।
स एव शरणं देवो गतिरस्तीह नाऽन्यथा ॥ ३५ ॥
न तस्मादधिकः कश्चिदस्ति लोकत्रयान्तरे ।
प्रलयस्थितिसर्गाणां हरिः कारणतां गतः ॥ ३६ ॥
अस्मान्निमेषादारभ्य नारायणमजं सदा ।
संप्रपन्नोऽस्मि सर्वत्र नारायणमयो ह्यमेम् ॥ ३७ ॥
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ।
नाऽपैति मम हृत्कोशादाकाशादिव मारुतः ॥ ३८ ॥
हरिराशा हरिर्व्योम हरिरुर्वी हरिर्जगत् ।
अहं हरिरमेयात्मा जातो विष्णुमयो ह्यहम् ॥ ३९ ॥
अविष्णुः पूजयन् विष्णुं न पूजाफलभाग्भवेत् ।
विष्णुर्भूत्वा यजेद्विष्णुमयं विष्णुरहं स्थितः ॥ ४० ॥

इसकी कथा ही क्या है ? ॥ ३३ ॥

हरि के आक्रमण में स्पष्टतः यही एक उपाय है इसके अतिरिक्त कोई प्रतिक्रिया (उपाय) नहीं है ॥ ३४ ॥

जगत् में सब वस्तुओं के स्वभाव से, सब प्रकार की बुद्धियों से और सब प्रकार के कर्मों के उद्योगों से शरणार्थी लोगों के लिए एकमात्र भगवान् ही शरण हैं, अन्यथा गति नहीं है ॥ ३५ ॥

तीनों लोकों में उन से बढ़कर कोई भी नहीं हैं। सृष्टि, प्रलय और संहार के एकमात्र हेतु हरि ही हैं ॥ ३६ ॥

इस क्षण से मैं सदा अजन्मा नारायण की शरण में प्राप्त हुआ हूँ। सब देश, सब काल और सब वस्तुओं में मैं नारायणमय हूँ ॥ ३७ ॥

सब पुरुषार्थों का साधक 'नमो नारायणाय' यह मन्त्र मेरे हृदयकोश से वैसे ही दूर न हो जैसे आकाश से वायु कभी नहीं हटता ॥ ३८ ॥

हरि दिशा हैं, हरि आकाश हैं, हरि पृथ्वी हैं, हरि जगत् हैं और अप्रमेयात्मा मैं हरि हूँ। मैं भावनावश प्रायः विष्णु हो गया हूँ ॥ ३९ ॥

स्वयं विष्णु हुए बिना विष्णु की पूजा करता हुआ पुरुष पूजा का फल-भागी नहीं होता है। अतः विष्णु बनकर विष्णु की पूजा करनी चाहिये, इसलिए मैं विष्णु रूप से स्थित हूँ, ('नाविष्णुः पूजयेद्विष्णुं' नाशिवः पूजयेच्छिवम्') ॥ ४० ॥

हरिः प्रह्लादनामा यो मत्तो नाऽन्यो हरिः पृथक् ।
इति निश्चयवानन्तर्व्यापकोऽहं च सर्वतः ॥ ४१ ॥
अनन्तमिदमाकाशमापूर्य विनतासुतः ।
कनकाङ्गो ममाऽङ्गानामयमासनतां गतः ॥ ४२ ॥
करशाखैकविश्रान्तसर्वहेतिविहङ्गमाः ।
नखांशुमञ्जरीकीर्णा महामरकतद्रुमाः ॥ ४३ ॥
इमे ते मृदुमन्दारदामदिग्धांसमण्डलाः ।
मन्दराघृष्टकेयूराश्चत्वारो मम बाहवः ॥ ४४ ॥
चलच्छशिकलापूरचारुचामरधारिणी ।
इयं मे पार्श्वगा लक्ष्मीः क्षीरोदकुहरोत्थिता ॥ ४५ ॥
हेलाविलुब्धभुवना त्रैलोक्यतरुमञ्जरी ।
इयं मे पार्श्वगा कीर्तिरचलाऽमलभासिनी ॥ ४६ ॥
अनारतजगज्जालनवनिर्माणकारिणी ।
इयं मे पार्श्वगा माया स्वेन्द्रजालविलासिनी ॥ ४७ ॥
इयं सा हेलयाऽऽक्रान्तत्रैलोक्यतरुखण्डिका ।
जया स्फुरति मे पार्श्वे लता कल्पतरोरिव ॥ ४८ ॥
इमौ मे नित्यशीतोष्णौ देवौ शीतांशुभास्करौ ।
प्रकटीकृतसंसारौ मुखमध्ये विलोचने ॥ ४९ ॥
ममेयमुत्पलश्यामा पीनाम्भोधरसुन्दरी ।
श्यामीकृतककुप्चक्रा देहदीप्तिर्विसर्पिणी ॥ ५० ॥
अयं मम करे शङ्खः पाञ्चजन्यः स्फुरद्ध्वनिः ।
मूर्तं खमिव शब्दात्मा क्षीरोद इव संस्थितः ॥ ५१ ॥
अयं मे कर्णिकाकोशनिलीनब्रह्मषट्पदः ।
पद्मः करतले श्रीमान् स्वनाडीकुहरोद्भवः ॥ ५२ ॥
इयं मे रत्नचित्राङ्गी सुमेरुशिखरोपमा ।
हेमाङ्गदा गदा गुर्वी दैत्यदानवमर्दिनी ॥ ५३ ॥
अयं मे भास्कराकार उद्यदंशुः सुदर्शनः ।
ज्वालाजटिलपर्यन्तपरिपाटलदिक्तटः ॥ ५४ ॥
अयं मे केतुमद्वह्निसुन्दरो ज्वलितोऽसितः ।
कुठारो दैत्यवृक्षाणां नन्दयन्नन्दकः स्थितः ॥ ५५ ॥

जो हरि है वही प्रह्लाद नाम का है। प्रत्यगात्मा से अन्य हरि पृथक् नहीं है ऐसा मन में निश्चय वाला मैं सर्वव्यापक हूँ ॥ ४१ ॥

इस असीम आकाश को व्याप्त करके स्थित यह सुवर्ण के समान वर्ण वाला गरुड है, मेरे अङ्गों का आसन बन गया है ॥ ४२ ॥

जिनके हाथों के अवयवों पर सब चक्र, गदा, खड्ग आदि अस्त्र रूपी पक्षियों की नित्य निवास-स्थल नख कान्ति रूपी मञ्जरियों से व्याप्त मूल प्रदेश कोमल-कोमल मन्दार के फूलों की मालाओं से सुगन्धित एवं मन्दराचल से घिसे बाजूबन्द वाले महामरकत मणि के वृक्ष रूप ये मेरे बाहु हैं ॥ ४३, ४४ ॥

चञ्चल चन्द्रकाला की राशि के समान सुन्दर चंवर धारण करने वाली क्षीरसागर के मध्य से उत्पन्न यह लक्ष्मी मेरे एक बगल में स्थित है ॥ ४५ ॥

अनायास तीनों भुवनों को प्रलोभित करने वाले त्रैलोक्य रूपी वृक्ष की मंजरी के समान विराजमान यह हरि की निर्मल निश्चल कीर्ति मेरे समीप में स्थित है ॥४६॥

निरन्तर अनेक जगतों का नूतन निर्माण करने वाली अपने इन्द्रजाल से शोभित होने वाली यह विष्णु की माया मेरे समीप में स्थित है ॥ ४७ ॥

अनायास त्रैलोक्य की वृक्षराशियों पर विजय प्राप्त करने वाली कल्पवृक्ष की लता के समान यह लक्ष्मी की सखी जया मेरी दूसरी बगल में विराजमान हो रही है ॥ ४८ ॥

नित्य शीतल और नित्य उष्ण संसार को प्रकाशित करने वाले चन्द्रमा और भास्कर ये दो देवगण, मेरे मुँह में मेरे दो लोचन हैं ॥ ४९ ॥

मेरी नील कमल के समान श्यामल, घन मेघ के समान सुन्दर, फैल रही यह देह-कान्ति ने दिशाओं को श्यामल बना रक्खा है ॥ ५० ॥

मूर्तिमान् आकाश के समान शब्द रूप यह पाञ्चजन्य शङ्ख, क्षीरसागर के समान शुभ्र है और जिससे सदा ध्वनि निकलती है, मेरे हाथ में है ॥ ५१ ॥

मेरी नाभि से उत्पन्न हुआ यह सुन्दर कमल है, जिसकी कर्णिका के मध्य में ब्रह्मरूपीभ्रमर छिपा है, मेरी हथेली पर विद्यमान है ॥ ५२ ॥

यह रत्नों से चित्र-विचित्र शरीर वाली, सुमेरु के शिखर के तुल्य, सोने से मढ़ी हुई मेरी भारी गदा दैत्य और दानवों का संहार करती है ॥ ५३ ॥

यह सूर्य के समान चमकीले मेरे सुदर्शन चक्र से सदा किरणें बाहर फूट रही हैं और जो चारों ओर ज्वाला रूपी जटाओं से व्याप्त है इसने चारों ओर दिक्तटों को पाटल के समान रक्त कर दिया है ॥ ५४ ॥

धूमयुक्त अग्नि के समान सुन्दर काला और चमकीला यह दैत्य रूपी वृक्षों के लिए कुठारभूत हैं और देवताओं को आनन्द देने वाला मेरा यह नन्द नामक खड्ग है ॥ ५५ ॥

इदं मे शरधाराणां पुष्करावर्तकोपमम् ।
शार्ङ्गं धनुरहीन्द्राभमिन्द्रकार्मुकसुन्दरम् ।। ५६ ।।
इमान्यहमनन्तानि जगन्ति जठरे चिरम् ।
बिभर्मि जातनष्टानि वर्तमानान्यनेकशः ।। ५७ ।।
इमौ मही मे चरणाविदं मे गगनं शिरः ।
इदं वपुर्मे त्रिजगदिमे मे कुक्षयो दिशः ।। ५८ ।।
साक्षादयमहं विष्णुर्नीलमेघोदरद्युतिः ।
सुपर्णपर्वतारूढः शङ्खचक्रगदाधरः ।। ५९ ।।
एते मत्तः पलायन्ते समग्रा दुष्टचेतसः ।
तार्णास्तरलसंचाराः पवनादिव राशयः ।। ६० ।।
अयं नीलोत्पलश्यामः पीतवासा गदाधरः ।
लक्ष्मीवान् गरुडारूढः स्वयमेवाऽहमच्युतः ।। ६१ ।।
को मामेति विरुद्धात्मा त्रैलोक्यदहनक्षमम् ।
स्वनाशाय ततः क्षुब्धं कालाग्निं शलभो यथा ।। ६२ ।।
इमे मे तैजसीं सृष्टिं ममाऽग्रस्थाः सुरासुराः ।
न शक्नुवन्ति संरोद्धुं चक्षुर्मन्दाः प्रभा इव ।। ६३ ।।
इमं मामीश्वरं विष्णुं ब्रह्मेन्द्राग्निहरादयः ।
स्तुवन्त्यनन्तया वाचा बहुवक्त्रसमुत्थया ।। ६४ ।।
अयं विजृम्भितैश्वर्यो जातोऽहमजिताकृतिः ।
सर्वद्वन्द्वपदातीतो महिम्ना परमेण हि ।। ६५ ।।
त्रिभुवनश्रवनोदरैकमूर्त्ति
प्रसभविभिन्नसमस्तदुष्टसत्वम् ।
घनगिरितृणकाननान्तरस्थं
सकलभयापहरं वपुः प्रणौमि ।। ६६ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
प्रह्लादनिर्वाणे नारायणीकरणं नाम एकत्रिंशः सर्गः ।। ३१ ।।

यह बाण रूपी वृष्टिधाराओं की वृष्टि करने में पुष्करावर्त मेघ के तुल्य और शेषनाग के सदृश विशाल शाङ्र्ग नामक धनुष विविध मणियों से विचित्र होने के कारण इन्द्रधनुष के समान सुन्दर है ।। ५६ ।।

मैं उत्पन्न होकर नष्ट हुए अतीत और वर्तमान इन अनेक जगतों को अपने उदर में चिरकाल तक धारण करता हूँ ।। ५७ ।।

पृथिवी मेरे चरण हैं, आकाश मेरा सिर है, तीनों जगत् मेरा शरीर है, दिशाएँ मेरे उदर हैं ।। ५८ ।।

मैं नील मेघ के मध्य के समान श्यामल कान्ति वाला गरुड रूपी पर्वत पर आरूढ़ तथा शङ्ख-चक्र-गदाधारी साक्षात् विष्णु हूँ ।। ५९ ।।

ये सब दुष्ट चित्त वाले जीव वैसे ही मुझ से भाग रहे हैं जैसे चञ्चल तृण-राशियाँ वायु से उड़ती हैं ।। ६० ।।

यह नील कमल के समान श्यामल कान्ति वाला, पीताम्बरधारी, हाथ में गदा धारण किये हुए, गरुड पर आरूढ़ और लक्ष्मी युक्त मैं स्वयं ही अच्युत हो गया हूँ ।। ६१ ।।

कौन मेरा विरोधी होकर त्रैलोक्य को भस्म करने में समर्थ मेरे प्रति युद्ध के लिए आता है ? जो आता है, वह वैसे ही स्वविनाश के लिए आता है जैसे क्षुब्ध हुई कालाग्नि के प्रति शलभ अपने नाश के आता है ।। ६२ ।।

ये मेरे सामने खड़े हुए सुर और असुर मेरे तेज की ज्वालाओं को वैसे ही नहीं सह सकते जैसे कमजोर नेत्र वाले लोग सूर्य की प्रभा को नहीं सह सकते ।। ६३ ।।

ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, शिव आदि देवता बहुत से मुखों से निर्गत वेद-वाणी से इस ऐश्वर्यशाली विष्णु स्वरूप मेरी स्तुति करते हैं ।। ६४ ।।

विपुल ऐश्वर्य वाला विष्णु की आकृति वाला मैं हूँ और परमार्थ स्वभाव से सब द्वन्द्वों से अतीत हो गया हूँ ।। ६५ ।।

जिसके उदर में त्रिभुवन रूपी भवन स्थित हैं ऐसी मूर्तिवाला, सब दुष्ट प्राणियों को छिन्न-भिन्न करने वाला मेघ, पर्वत, तृण वन आदि सब वस्तुओं के अधिष्ठान रूप से स्थित और सब भयों को दूर करने वाला विराट् रूप परब्रह्मात्मक मैं हूँ । उसे मैं प्रणाम करता हूँ ।। ६६ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में प्रह्लादनिर्वाण में नारायणीकरण नामक कुसुमलता का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ३१ ।।

३२

वसिष्ठ उवाच

प्रह्लाद इति संचिन्त्य कृत्वा नारायणीं तनुम् ।
पुनः संचिन्तयामास पूजार्थमसुरद्विषः ॥ १ ॥
वपुषो वैष्णवादस्मान्मा भून्मूर्तिः परावरा ।
अयं प्राणप्रवाहेण बहिर्विष्णुः स्थितोऽपरः ॥ २ ॥
वैनतेयसमारूढः स्फुरच्छक्तिचतुष्टयः ।
शङ्खचक्रगदापाणिः श्यामलाङ्गश्चतुर्भुजः ॥ ३ ॥
चन्द्रार्कनयनः श्रीमान् कान्तनन्दकनन्दनः ।
पद्मपाणिर्विशालाक्षः शार्ङ्गधन्वा महाद्युतिः ॥ ४ ॥
तदेनं पूजयाम्याशु परिवारसमन्वितम् ।
सपर्यया मनोमय्या सर्वसंभाररम्यया ॥ ५ ॥
तत एनं महादेवं पूजयिष्याम्यहं पुनः ।
पूजया बाह्यसम्भोगमहत्या बहुरत्नया ॥ ६ ॥
प्रह्लाद इति संचिन्त्य सम्भारभरभारिणा ।
मनसा पूजयामास माधवं कमलाभवम् ॥ ७ ॥
रत्नौघपात्रपटलैश्चन्दनादिविलेपनैः ।
धूपैर्दीपैर्विचित्रैश्च नानाविभवभूषणैः ॥ ८ ॥
मन्दारमालावलनैर्हेमाब्जपटलोत्करैः ।
कल्पवृक्षलतागुच्छै रत्नस्तबकमण्डलैः ॥ ९ ॥
पल्लवैर्दिव्यवृक्षाणां नानाकुसुमदामभिः ।
किंकिरातैर्बकैः कुन्दैश्चम्पकैरसितोत्पलैः ॥ १० ॥
कह्लारैः कुमुदैः काशैः खर्ज्जूरैश्चूतकिंशुकैः ।
अशोकैर्मदनैर्बिल्वैः कर्णिकारैः किरातकैः ॥ ११ ॥
कदम्बैर्बकुलैर्निम्बैः सिन्दुवारैः सयूथकैः ।
पारिभद्रैर्गुग्गुलीभिर्बिन्दुकैः पुष्पकोत्करैः ॥ १२ ॥
प्रियङ्गुपटलैः पाटपाटलैर्धातुपाटलैः ।
आम्रैराम्नातकैर्गव्यैर्हरीतकबिभीतकैः ॥ १३ ॥
शालतालतमालानां लताकुसुमपल्लवैः ।
कोमलैः कलिकाजालैः सहकारैः सकुङ्कुमैः ॥ १४ ॥

३२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—प्रह्लाद ने इस प्रकार विचार कर और भावना द्वारा अपने शरीर को नारायणरूप बनाकर भगवान् विष्णु की पूजा के लिए पुनः विचार किया ॥ १ ॥

मुझसे कल्पित इस वैष्णव शरीर से अन्य समष्टिरूप अथवा व्यष्टि देवतारूप मूर्ति न हो, किन्तु यह मद्रूप विष्णु ही है ॥ २ ॥

यह गरुड पर बैठे हुए, क्रिया, ज्ञान, इच्छा, अनुग्रहरूप चार शक्तियों से सम्पन्न, हाथ में शङ्ख, चक्र और गदा लिये हुए, श्यामल शरीर, चतुर्बाहु है ॥ ३ ॥

यह चन्द्र सूर्यरूपी नेत्र वाले, सुन्दर नन्दन नामक खड्ग से अपने भक्तों को प्रसन्न करने वाले, हाथ में कमल लिये हुए, विशाल नेत्र, शाङ्‍र्ग नामक धनुष को धारण किये हुए हैं ॥ ४ ॥

महाकान्ति वाले और संकर्षण, प्रद्युम्न आदि व्यूह और पार्षदों से युक्त हैं, हृदय से पुष्पाञ्जलि भावना द्वारा बाहर आवाहित होकर पूजा की समाप्ति तक अन्य की तरह स्थित हों। इनकी मैं सब सामग्रियों से रमणीय मानसिक पूजा से पूजा करता हूँ ॥ ५ ॥

इन पूजनीय देवाधिदेव की बाहरी उपकरणों से विस्तृत तथा बहुत रत्नों से पूर्ण पूजा से फिर बाह्य पूजा करूँगा ॥ ६ ॥

प्रह्लाद ने ऐसा विचार कर विविध पूजा-सामग्रियों से पूर्ण मन से लक्ष्मी के पति भगवान् विष्णु की पूजा की ॥ ७ ॥

रत्नों के समूहों से जटित विविध पात्रों के प्रान्तों द्वारा किये गये अभिषेकों से, चन्दन आदि के विलेपनों से धूप, दीप और विविध प्रकार के विभव वाले आभूषणों से, मन्दार की मालाओं के वेष्टनों से, सुवर्ण-कमलों की राशियों से, कल्पवृक्ष की लताओं के गुच्छों से, रत्नों के गुच्छों से और कल्पवृक्ष आदि देववृक्षों के पल्लवों से, विविध प्रकार के फूलों की मालाओं से, किंकिरात, अगस्ति, कुन्द, चम्पा, नीलकमल, रक्तकमल, कुईं, काश, खजूर, आम, पलास, अशोक, मैनफल, बिल्व, कनैल, किरातक, कदम्ब, मौलसिरी, नीम, सेन्दुआर, जुही, बकायन, गुगुलि, बिन्दुक आदि फूलों के समूहों से, मेंहदी, पाटल, आम, अमड़ा, गव्य और हर्रे, बहेड़ों के फूलों से, शाल, ताल और तमालों के लता, फूल और पल्लवों से, कोमल-कोमल कलियों से, काश्मीर केसर युक्त आम के बौरों से, केवड़े, कमल और इलायची की मञ्जरियों से, इनके अतिरिक्त, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दर्पण, छत्र, चँवर, आरती, पुष्पाञ्जलि, प्रदक्षिणा, नमस्कार आदि

केतकैः शतपत्रैश्च तथैलामञ्जरीगणैः ।
सर्वसौन्दर्यसंमानैः स्वयमात्मार्पणैरपि ॥ १५ ॥
हरिं परमया भक्त्या जगद्विभवभव्यया ।
मनसा पूजयामास प्रह्लादोऽन्तःपुरे पतिम् ॥ १६ ॥
अथ देवगृहे तस्मिन् बाह्यार्थैः परिपूर्णया ।
पूजया पूजयामास दानवेशो जनार्दनम् ॥ १७ ॥
बहिर्द्रव्यैरनेनैव क्रमेण परमेश्वरम् ।
पुनः पुनः पूजयित्वा तुष्टिमान् दानवोऽभवत् ॥ १८ ॥
ततस्ततःप्रभृत्येव प्रह्लादः परमेश्वरम् ।
तथैव प्रत्यहं भक्त्या पूजयामास पूर्णया ॥ १९ ॥
अथ तस्मिन् पुरे दैत्यास्ततःप्रभृति वैष्णवाः ।
सर्व एवाऽभवन् भव्या राजा ह्याचारकारणम् ॥ २० ॥
जगाम वार्ता गगनं देवलोकमथाऽरिहन् ।
विष्णोर्द्वेषं परित्यज्य भक्ता दैत्याः स्थिता इति ॥ २१ ॥
देवा विस्मयमाजग्मुः शक्राद्याः समरुद्गणाः ।
गृहीता वैष्णवी भक्तिर्दैत्यैः किमिति राघव ! ॥ २२ ॥

सौन्दर्य युक्त सब उपचारों से स्वयं अपने अर्पण द्वारा भी जगत् में जो-जो विभव प्रसिद्ध हैं उपकरण बनाये गये उनसे भव्य भक्ति से प्रह्लाद ने अपने अन्तःपुर में मन से अपने स्वामी भगवान् की पूजा की ॥ ८–१६ ॥

अनन्तर दानवराज प्रह्लाद ने उस देवगृह में बाह्य सामग्री से पूर्ण मन से भगवान् विष्णु की पूजा की ॥१७॥

इसी मानस पूजा में कहे गये क्रम से बाह्य पदार्थों से परमेश्वर की बार-बार पूजा कर दानवराज प्रह्लाद को संतोष हुआ ॥ १८ ॥

अनन्तर तभी से प्रह्लाद प्रतिदिन पूर्वोक्त पूर्ण भक्ति से भगवान् की पूजा करने लगा ॥ १९ ॥

अनन्तर उस नगर में सभी दैत्य विष्णुभक्त और सदाचारी हो गये । राजा आचार का हेतु है ॥ २० ॥

हे शत्रुनाशक ! अनन्तर यह समाचार दूतों द्वारा अन्तरिक्ष और स्वर्ग लोक में पहुँच गया कि दैत्य भगवान् विष्णु का द्वेष करना छोड़कर उनके भक्त बन गये हैं ॥२१॥

हे श्रीराघव ! मरुतों सहित इन्द्र आदि सब देवताओं को आश्चर्य हुआ कि दैत्यों ने किस कारण से विष्णु भगवान् की भक्ति अपनाई है ? ॥ २२ ॥

आश्चर्य से आकुल हुए देवता अमरावती का त्यागकर क्षीरसागर में शेषशय्या पर विराजमान युद्धविजयी श्रीहरि के समीप गये ॥ २३ ॥

क्षीरोदे भोगिभोगस्थं विबुधा विस्मयाकुलाः ।
जग्मुरम्बरमुत्सृज्य हरिमाहवशालिनम् ॥ २३ ॥
तत्रैनं दैत्यवृत्तान्तं कथयामासुरस्य ते ।
पप्रच्छुश्चैनमासीनमपूर्वाश्चर्यविस्मयम् ॥ २४ ॥

विबुधा ऊचुः

किमेतद् भगवन् ! दैत्या विरुद्धा ये सदैव ते ।
ते हि तन्मयतां याता मायेयमिति भाव्यते ॥ २५ ॥
क्व किलाऽत्यन्तदुर्वृत्ता दानवा दलिताद्रयः ।
क्व पाश्चात्यमहाजन्मलभ्या भक्तिर्जनार्दने ॥ २६ ॥
प्राकृतो गुणवान् जात इत्येषा भगवन् ! कथा ।
अकालपुष्पमालेव सुखायोद्वेजनाय च ॥ २७ ॥
नोपपन्नं हि यद्यत्र तत्र तन्न विराजते ।
मध्ये काचकलापस्य महामूल्यो मणिर्यथा ॥ २८ ॥
यो यो यादृग्गुणो जन्तुः स तामेवैति संस्थितिम् ।
सदृशेष्वप्यजेषु श्वा न मध्ये रमते क्वचित् ॥ २९ ॥
न तथा दुःखयन्त्यङ्गे मज्जन्त्यो वज्रसूचयः ।
वैसादृश्येन सम्बद्धा यथैता वस्तुदृष्टयः ॥ ३० ॥

वहाँ पर उन्होंने श्रीहरि के लिए यह वृत्तान्त कहा और शेषशय्यापर बैठे हुए भगवान् से यह अपूर्व अद्भुत आश्चर्य पूछा ॥ २४ ॥

देवताओं ने कहा—भगवन् ! यह क्या बात है, सदा ही आपके विरुद्ध रहने वाले दैत्य आपके भक्त हो गये हैं। यह माया मालूम होती है ॥ २५ ॥

कहाँ तो जिन्होंने आपके भक्तों, देवता और मुनियों के निवासभूत पर्वत तक तोड़-फोड़ डालने वाले और कहाँ अन्तिम उत्तम जन्म में प्राप्त होनेवाली भगवान् जनार्दन में भक्ति ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! पामर पुरुष गुणवान् हो गया, यह कथा औत्पातिकी अकालपुष्पमाला के समान सुख के लिए और उद्वेग के लिए भी है ॥ २७ ॥

जो जहाँ पर उचित न हो वह वहाँ वैसे ही शोभित नहीं होता जैसे काँचों के बीच में बहुमूल्य मणि शोभित नहीं होती ॥ २८ ॥

जो-जो जैसे गुण का प्राणी होता है, वह उसी तामसी, राजसी या सात्त्विक स्थिति को प्राप्त करता है, यही बात उचित है, कुत्ते के सदृश बकरों के बीच में शोभित नहीं होता ॥ २९ ॥

जैसा अनौचित्य से संबद्ध ये वस्तु दृष्टियाँ दुःख देती हैं वैसा शरीर में चुभती हुई वज्र की सुइयाँ दुःख नहीं देती ॥ ३० ॥

यद्यत्र क्रमसंप्राप्तमुपपन्नमनिन्दितम् ।
तदेव राजते तत्र जलेऽम्भोजं न तु स्थले ॥ ३१ ॥
क्वाऽधमः प्राकृतारम्भो हीनकर्मरतिः सदा ।
वराको दानवो हीनजातिर्भक्तिः क्व वैष्णवी ॥ ३२ ॥

कमलिनी परुषोषरभूगता
सुखयतीह यथा न दुराश्रया ।
दितिसुतोऽपि हि माधवभक्तिमान्
इति कथा न तथेश सुखाय नः ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशम-प्रकरणे विबुधवाक्यं नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

जो जहाँ पर क्रम से प्राप्त हो, उचित हो और अनिन्दित हो, वही वहाँ पर शोभित होता है। देखिये न, कमल जल में ही शोभित होता है, स्थल में नहीं ॥ ३१॥

कहाँ तो पामरोचित कार्य करने वाला, सदा निन्दित कर्मों में निरत और तामसयोनि अधम शोचनीय दानव और कहाँ वैष्णवी भक्ति ? ॥ ३२ ॥

कमलिनी सन्तप्त ऊषर भूमि में स्थित है, यह कथा जैसे श्रोताओं को सुख नहीं देती वैसे ही दिति की सन्तति भी भगवान् में भक्ति करती है। यह अधम पुरुष का अवलंबन करने वाली कथा भी हमारे लिए सुखदायी नहीं है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में विबुधवाक्य नामक कुसुमलता का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

३३

वसिष्ठ उवाच

गर्जन्तमतिसंरब्धं सुरलोकमथाऽरिहा ।
उवाच माधवो वाक्यं शिखिवृन्दमिवाऽम्बुदः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

विबुधा मा विषण्णाः स्थ प्रह्लादो भक्तिमानिति ।
पाश्चात्यं जन्म तस्येदं मोक्षार्होऽसावरिन्दमः ॥ २ ॥
अत उत्तरमेतेन गर्भता दनुजन्मना ।
न कर्तव्या प्रदग्धेन बीजेनेवाङ्कुरक्रिया ॥ ३ ॥
गुणवान्निर्गुणो जात इत्यनर्थक्रमं विदुः ।
निर्गुणो गुणवान् जात इत्याहुः सिद्धिदं क्रमम् ॥ ४ ॥
आत्मीयानि विचित्राणि भुवनान्यमरोत्तमाः ।
प्रयात नासुखायैषा प्राह्लादी गुणितेह वः ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा विबुधांस्तत्र क्षीरोदार्णववीचिषु ।
अन्तर्धानं ययौ देवस्तटतापिच्छगुच्छवत् ॥ ६ ॥
सोऽपि संपूजितहरिः सुरौघोऽव्रजदम्बरम् ।
पुनर्मन्दरनिर्धूतात् कणजालमिवाऽर्णवात् ॥ ७ ॥

३३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनुचित देखने से कुपित जोर से चिल्ला कर पूछ रहे देववृन्द से शत्रुओं का विनाश करने वाले भगवान् वैसे ही वाक्य बोले जैसे मयूरों के झुण्ड से बादल बोलता है ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे देववृन्द ! प्रह्लाद भक्तिमान् हो गया है, यह जान कर आप लोग दुःखी न हों ? उसका यह अन्तिम जन्म है ॥ २ ॥

इसके बाद इस दानव को मातृगर्भ में निवास वैसे ही नहीं करना होगा जैसे जला हुआ बीज अङ्कुर पैदा नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

गुणवान् पुरुष गुणहीन होने पर विद्वान् लोग पुरुषार्थ का विघात करने वाला क्रम कहते हैं। निर्गुण के गुणवान् होने पर तो इसे सिद्धिदायक क्रम कहते हैं ॥ ४ ॥

हे देवश्रेष्ठो ! आप लोग अपने-अपने अद्भुत लोकों को जाये। प्रह्लाद की यह भक्ति आदि गुणवत्ता आप लोगों के अमङ्गल के किए नहीं है ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भगवान् देवताओं से यह कह कर वहाँ क्षीरसागर की लहरों में तटवर्ती तापिच्छ वृक्ष के गुच्छों की तरह अन्तर्हित हो गये ॥ ६ ॥

पहले आकाश से आये हुए वे देवता भी स्तुति द्वारा भगवान् की पूजा कर फिर वैसे ही आकाश में चले गये जैसे पहले आकाश से समुद्र में गिरा हुआ जलकणसमूह मन्दराचल से कम्पित सागर से फिर आकाश में चला जाता है ॥ ७ ॥

प्रह्लादं प्रति गीर्वाणास्ततः स्निग्धत्वमाययुः ।
महान्तो यत्र नोद्विग्नास्तत्र विश्वासवन्मनः ॥ ८ ॥
प्रत्यहं पूजयामास देवदेवं जनार्दनम् ।
मनसा कर्मणा वाचा प्रह्लादो भक्तिमानिति ॥ ९ ॥
अथ पूजापरस्याऽस्य समवर्धन्त कालतः ।
विवेकानन्दवैराग्यविभवप्रमुखा गुणाः ॥ १० ॥
नाऽभ्यनन्ददसौ भोगपूगं शुष्कमिव द्रुमम् ।
न चाऽरमत कान्तासु मृगो लोकमहीष्विव ॥ ११ ॥
न रेमे लोकचर्यासु शास्त्रार्थकथनादृते ।
न जायते रतिस्तस्य दृश्ये स्थल इवाऽब्जिनी ॥ १२ ॥
न विशश्राम चेतोऽस्य भोगरोगानुरञ्जने ।
मुक्ताफलमसंश्लिष्टं मुक्ताफल इवाऽमले ॥ १३ ॥
त्यक्तभोगादिकलनं विश्रान्तिमनुपागतम् ।
चेतः केवलमस्याऽऽसीद्दोलायामिव योजितम् ॥ १४ ॥
प्राह्लादीं तां स्थितिं विष्णुर्देवः क्षीरोदमन्दिरात् ।
विवेद सर्वगतया धिया परमकान्तया ॥ १५ ॥
अथ पातालमार्गेण विष्णुराह्लादिताग्रतः ।
पूजादेवगृहं तस्य प्रह्लादस्य समाययौ ॥ १६ ॥
विज्ञायाऽभ्यागतं देवं पूजया द्विगुणेद्धया ।
दैत्येन्द्रः पुण्डरीकाक्षमादरात् पर्यपूजयत् ॥ १७ ॥
पूजागृहगतं देवं प्रत्यक्षावस्थितं हरिम् ।
प्रह्लादः परमप्रीतो गिरा तुष्टाव पुष्टया ॥ १८ ॥

प्रह्लाद उवाच

त्रिभुवनभवनाभिरामकोशं
सकलकलङ्कहरं परं प्रकाशम् ।
अशरणशरणं शरण्यमीशं
हरिमजमच्युतमीश्वरं प्रपद्ये ॥ १९ ॥
कुवलयदलनीलसन्निकाशं
शरदमलाम्बरकोटरोपमानम् ।
भ्रमरतिमिरकज्जलाभं
सरसिजचक्रगदाधरं प्रपद्ये ॥ २० ॥

तब से प्रह्लाद के प्रति देवताओं की मित्रता हो गई। जिस पुरुष या विषय में अपने पूजनीय पिता, आचार्य आदि उद्विग्न नहीं हुए, उसमें बालकों का भी मन विश्वासी हो जाता है ॥ ८ ॥

इस प्रकार के भक्तिमान् प्रह्लाद ने देवाधिदेव भगवान् विष्णु की प्रतिदिन मन, कर्म और वचन से पूजा की ॥९॥

अनन्तर भगवत्पूजा में परायण प्रह्लाद के समय क्रम से विवेक, आनन्द, वैराग्य, विभव आदि गुण बढ़ गये ॥ १० ॥

उसकी भोगों की ओर अभिरुचि वैसे ही न थी जैसे सूखे हुए वृक्ष की ओर किसी का आकर्षण नहीं होता है और वह कान्ताओं में वैसे ही नहीं रमता था जैसे मृग जनाकीर्ण भूमि में प्रसन्न नहीं होता ॥ ११ ॥

शास्त्रार्थकथन के सिवा अशास्त्रीय लोकवृत्तों में वह नहीं रमता था। स्थल में दर्शनयोग्य समाज, उत्सव आदि कौतुकों में उसका वैसे ही प्रेम न था जैसे कमलिनी का प्रेम नहीं होता ॥ १२ ॥

भोगरूपी रोगों के विषयरूपी अपथ्य के सेवन द्वारा अनुकूलाचरण में उसका चित्त वैसे ही स्थिर नहीं होता था जैसे न गूँथा हुआ मोति निर्मल मोति पर स्थिर नहीं रह सकता ॥ १३ ॥

उसके चित्त ने भोग आदि की कल्पना का त्याग कर दिया था, किन्तु विश्रान्ति सुख को वह प्राप्त नहीं हुआ था, फलतः वह झूले में लटकाये हुए की तरह बीच में लम्बमान स्थित रहा ॥ १४ ॥

भगवान् विष्णु ने प्रह्लाद की उस स्थिति को क्षीर-सागर से सबमें विद्यमान अपनी परम रमणीय बुद्धि से जान लिया ॥ १५ ॥

अनन्तर भक्तों को आह्लादित करने वाले भगवान् विष्णु पाताल मार्ग से पूजादेवगृह में प्रह्लाद के सामने आये ॥ १६ ॥

भगवान् पुण्डरीकाक्ष को आया हुआ जानकर दैत्य-राज प्रह्लाद ने दुगुनी सामग्री से देदीप्यमान पूजा से आदरपूर्वक उनकी पूजा की ॥ १७ ॥

परम प्रसन्न हुए प्रह्लाद ने पूजागृह में आये हुए नेत्रों के सामने स्थित भगवान् श्रीहरि की अतिशय हर्ष के विकास को प्राप्त वाणी से स्तुति की ॥ १८ ॥

प्रह्लाद ने कहा :—

मैं त्रिभुवन की सुरक्षित स्थिति के अनुकूल सुन्दर कोश गृहरूप, बाह्य और आभ्यन्तर अन्धकार का विनाश करने वाले, स्वयं ज्योतिस्वरूप, अनाथों के रक्षक, शरण के योग्य, सर्वशक्तिसम्पन्न, रजोगुण से ब्रह्मा स्वरूप सत्त्वगुण से अच्युतस्वरूप और तमोगुण से शिवस्वरूप, सब दुःखों का हरण करने वाले हरि के शरणागत होता हूँ ॥ १९ ॥

नीलकमल और नीलमणि के समान कान्ति वाले,

विमलमलिकलापकोमलाङ्गं
सितदलपङ्कजकुड्मलाभशङ्खम् ।
श्रुतिरणितविरञ्चिचञ्चरीकं
स्वहृदयपद्मदलाश्रयं प्रपद्ये ॥ २१ ॥
सितनखगणतारकावकीर्णं
स्मितधवलाननपीवरेन्दुबिम्बम् ।
हृदयमणिमरीचिजालगङ्गं
हरिशरदम्बरमाततं प्रपद्ये ॥ २२ ॥
अविरलकृतसृष्टिसर्वलीनं
सततमजातमवर्द्धनं विशालम् ।
गुणशतजरठाभिजातदेहं
तरुदलशायिनमर्भकं प्रपद्ये ॥ २३ ॥
नवविकसितपद्मरेणुगौरं
स्फुटकमलावपुषा विभूषिताङ्गम् ।
दिनशमसमयारुणाङ्गरागं
कनकनिभाम्बरसुन्दरं प्रपद्ये ॥ २४ ॥
दितिसुतनलिनीतुषारपातं
सुरनलिनीसततोदितार्कबिम्बम् ।
कमलजनलिनीजलावपूरं
हृदि नलिनीनिलयं विभुं प्रपद्ये ॥ २५ ॥
त्रिभुवननलिनीसितारविन्दं
तिमिरसमानविमोहदीपमग्र्यम् ।
स्फुटतरमजडं चिदात्मत्त्वं
जगदखिलार्तिहरं हरिं प्रपद्ये ॥ २६ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति गुणबहुलाभिर्वाग्भिरभ्यर्चितोऽसौ
हरिरसुरविनाशः श्रीनिषण्णांसदेशः ।
जलद इव मयूरं प्रीतिमान् प्रीयमाणं
कुवलयदनीलः प्रत्युवाचाऽसुरेन्द्रम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे नारायणागमनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥३३॥

शरत्कालीन निर्मल आकाश के मध्यभाग के तुल्य श्यामल, भ्रमर, अन्धकार, काजल और अञ्जन के समान कान्ति वाले, कमल, चक्र और गदा धारण करने वाले आपकी शरण में मैं प्राप्त होता हूँ ॥ २० ॥

जिनका शरीर भौंरों की राशि के समान कोमल है, जिनका शुभ्र शङ्ख सफेद कमल के कुड्मल के समान सुशोभित होता है, श्रुति ही जिनका गुंजन है—ऐसे ब्रह्मा जी जिनके नाभिकमल के भ्रमर हैं एवं जो अपने भक्तों के हृदय-कमल में निवास करते हैं, ऐसे भगवान् की मैं शरण लेता हूँ ॥ २१ ॥

सफेद नखरूपी तारे जिसमें बिखरे हैं, मन्द-मन्द हास से प्रकाशमान मुख ही जिसमें पूर्ण चन्द्रबिम्ब है एवं कौस्तुभमणि की किरणराशि ही जिसमें आकाशगंगा है, इस प्रकार के विस्तृत हरिरूपी शरत्कालिक आकाश की मैं शरण लेता हूँ ॥ २२ ॥

रची गई घनी सृष्टि जिसमें बिना किसी संकोच के निविष्ट है, सत्त्व आदि मायागुणों से होने वाले अनन्त कल्याण गुणगणों से जिनकी चिरन्तन मूर्ति रमणीय है, प्रलयकाल में वटपत्र पर सोने वाले बालकरूप अविनाशी, अज, अविकारी, सर्वव्यापक, भगवान् की शरण में मैं जाता हूँ ॥ २३ ॥

ताजे फूले हुए नाभि कमल के पराग से वक्षःस्थल में पीले वर्ण वाले, प्रकाशमान लक्ष्मी के शरीर से विभूषित वामाङ्ग वाले, सायंकाल के समय के समान अरुण अङ्गराग वाले एवं सुवर्ण के समान चमकदार पीताम्बर से सुन्दर भगवान् की शरण में मैं जाता हूँ ॥ २४ ॥

दैत्यरूपी नलिनी के लिए हिमपातरूप, देवरूपी नलिनी के लिए सदा उदित सूर्य मण्डलरूप, ब्रह्मारूपी नलिनी के तडागरूप एवं हृदयकमल में निवास करने वाले विष्णु की मैं शरण लेता हूँ ॥ २५ ॥

त्रिभुवनरूपी कमलिनी के लिए सूर्यरूप, अन्धकार के सदृश आच्छादक अज्ञान के लिए श्रेष्ठ दीपरूप, नित्य-स्वप्रकाश, अजड, चिदात्मतत्त्वरूप, जगत् की सब पीड़ाओं को दूर करने वाले भगवान् की मैं शरण लेता हूँ ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार विविध गुणों से युक्त स्तुति वचनों से पूजित असुरों का विनाश करने वाले श्रीलक्ष्मीजी से आलिङ्गित कण्ठ वाले नील कमल सदृश श्यामल भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर जैसे मेघ मयूर के प्रति बोलता है वैसे ही दैत्यराज प्रह्लाद के प्रति बोले ॥ २७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में नारायणागमन नामक कुसुमलता का तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

३४

श्रीभगवानुवाच

वरं गुणनिधे दैत्यकुलाचूडामहामणे ।
गृहाणाऽभिमतं भूयो जन्मदुःखोपशान्तये ॥ १ ॥

प्रह्लाद उवाच

सर्वसङ्कल्पफलद ! सर्वलोकान्तरस्थित ! ।
यदुदारतमं वेत्सि तदेवाऽऽदिश मे विभो ! ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

सर्वसंभ्रमसंशान्त्यै परमाय फलाय च ।
ब्रह्मविश्रान्तिपर्यन्तो विचारोऽस्तु तवाऽनघ ! ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा दितिपुत्रेन्द्रं विष्णुरन्तरधीयत ।
कृतघर्घरनिर्ह्रादस्तरङ्गस्तोयधेरिव ॥ ४ ॥

विष्णावन्तर्हिते देवे पूजायां कुसुमाञ्जलिम् ।
पाश्चात्यं दानवस्त्यक्त्वा मणिरत्नपरिष्कृतम् ॥ ५ ॥

पद्मासनस्थोऽतिमुदा ह्युपविश्य वरासने ।
स्तोत्रपाठविधावन्तश्चिन्तयामास चेतसा ॥ ६ ॥

विचारवानेव भवान् भवत्विति भवारिणा ।
देवेनोक्तोऽस्मि तेनाऽन्तः करोम्यात्मविचारणम् ॥ ७ ॥

किमहं नाम तावत् स्यां योऽस्मिन् भुवनडम्बरे ।
वच्मि गच्छामि तिष्ठामि प्रयत्नेनाऽऽहरामि च ॥ ८ ॥

जगत्तावदिदं नाऽहं सवृक्षतृणपर्वतम् ।
यद्बाह्यं जडमत्यन्तं तत्स्यां कथमहं किल ॥ ९ ॥

असन्नभ्युदितो मूकः पवनैः स्फुरितः क्षणम् ।
कालेनाऽल्पेन विलयी देहो नाऽहमचेतनः ॥ १० ॥

जडया कर्णशष्कुल्या कल्प्यमानः क्षणक्षयी ।
शून्याकृतिः शून्यभवः शब्दो नाऽहमचेतनः ॥ ११ ॥

त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्यमप्राप्यमप्यथ ।
चित्प्रसादोयलब्धात्म स्पर्शनं नाऽस्म्यचेतनम् ॥ १२ ॥

३४

श्रीभगवान् ने कहा :—

हे दैत्यकुल के चूड़ामणिस्वरूप ! हे गुणसागर ! पुनः जन्मरूपी दुःख की निवृत्ति के लिए तुम अभीष्ट वर माँगो ॥ १ ॥

प्रह्लाद ने कहा—हे प्रभो ! आप सब सङ्कल्पों का फल देने वाले हैं और सब प्राणियों के हृदय में स्थित हैं, जिस वस्तु को आप सर्वोत्तम समझते हों, उसीको मुझे देने की कृपा करें ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे पापरहित ! सब सन्देहों की निवृत्ति के लिए और मुक्तिरूपी सर्वोत्तम फल के लिए तुम्हारा ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त विचार हो ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—दैत्यराज प्रह्लाद से यह कह कर भगवान् विष्णु वैसे ही अन्तर्हित हो गये जैसे कलकल ध्वनि करके समुद्र की लहर छिप जाती है ॥ ४ ॥

भगवान् विष्णु के अन्तर्हित होनेपर प्रह्लाद ने पूजा में मणि-रत्नों से सुशोभित अन्तिम पुष्पाञ्जलि देकर सुन्दर आसन पर बैठकर, पद्मासन लगाकर स्तोत्रपाठ करने के समय बड़े हर्ष से अपने अन्तःकरण में विचार किया ॥ ५—६ ॥

जन्ममरणरूपी संसार से छुटकारा देनेवाले भगवान् ने तुम विचारवान् ही हो, ऐसा मुझे उपदेश दिया है। इसलिए मैं अपने अन्तःकरण में आत्मविचार करता हूँ ॥ ७ ॥

इस संसाररूपी आडम्बर में बोलता हूँ, चलता हूँ, बैठता हूँ और सब उद्योगों से विषयों का उपभोग करता हूँ, वह मैं कौन हूँ, यही विचार पहले मुझे करना चाहिये ॥ ८ ॥

वृक्ष, तृण, पर्वत आदि से युक्त यह सारा जगत् तो आत्मा नहीं हो सकता है, क्योंकि बाहरी और अत्यन्त जड़ मैं कैसे हो सकता हूँ ॥ ९ ॥

असत् होते हुए भी उदित, जड़ होने के कारण बोलने में असमर्थ, प्राणवायुओं द्वारा केवल अपने संचार के समय में संचलित, थोड़े समय में नष्ट होने वाला यह अचेतन शरीर मैं नहीं हूँ ॥ १० ॥

जड़ कर्णच्छिद्र द्वारा अति दीर्घ, गम्भीर, पद, वाक्य आदि भेदों से कल्पित क्षणभर में नष्ट होने वाला, क्षयी होने के कारण शून्याकार, आकाश से उत्पन्न होने वाला अचेतन शब्द मैं नहीं हूँ ॥ ११ ॥

क्षण में नष्ट होने वाली त्वगिद्रिय से प्राप्त होने वाला और अन्य प्रकार से प्राप्त न होने वाला, चित् के प्रसाद से आत्मस्वरूप को प्राप्त अचेतनस्वरूप स्पर्श भी मैं नहीं हूँ ॥ १२ ॥

बद्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया ।
स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्ठो रसो नाऽहमचेतनः ॥ १३ ॥
दृश्यदर्शनयोर्लीनं क्षयि क्षणविनाशिनोः ।
केवले द्रष्टरि क्षीणं रूपं नाऽहमचेतनम् ॥ १४ ॥
नासया गन्धजडया क्षयिण्या परिकल्पितः ।
पेलवोऽनियताकारो गन्धो नाऽहमचेतनः ॥ १५ ॥
निर्ममोऽमननः शान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः ।
शुद्धचेतन एवाऽहं कलाकलनवर्जितः ॥ १६ ॥
चेत्यवर्जितचिन्मात्रमहमेषोऽवभासकः ।
सबाह्याभ्यन्तरव्यापी निष्कलामलसन्मयः ॥ १७ ॥
अनेन चेतनेनेमे सर्वे घटपटादयः ।
सूर्यान्ता अवभाष्यन्ते दीपेनोत्तमतेजसा ॥ १८ ॥
आ इदानीं स्मृतं सत्यमेतत्तदखिलं मया ।
निर्विकल्पचिदाभास एष आत्माऽस्मि सर्वगः ॥ १९ ॥
अनेनैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियवृत्तयः ।

अनित्य, चञ्चल जिह्वा से संबद्धस्वभाव वाला द्रव्य में रहने वाला, अचेतन तुच्छ रस, जिह्वा के अग्रभाग से लेकर कण्ठ तक आस्वाद का प्रसार वाला भी मैं नहीं हूँ ॥ १३ ॥

क्षण विनाशी पदार्थ और चक्षु इन दोनों के अधीन सिद्धिवाला विनश्वर तथा केवल द्रष्टा में अविद्यमान अचेतन रूप मैं नहीं हूँ ॥ १४ ॥

गन्धवती, जड़, नष्ट होने वाली घ्राणेन्द्रिय द्वारा कल्पित, अनियत आकार वाला अचेतन तुच्छ गन्ध भी मैं नहीं हूँ ॥ १५ ॥

'मम' इस प्रकार के अभिमान से रहित, मन रूप मन के व्यापार से शून्य, माया के सम्बन्ध से रहित, पञ्चेन्द्रियों के भ्रम से शून्य शान्त शुद्ध चेतन ही मैं हूँ ॥ १६ ॥

स्वयं ज्योति, सब का प्रकाशक, बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र व्यापक, अखण्ड निमल, सन्मय मैं चेत्यरहित ही हूँ ॥ १७ ॥

अन्यनिरपेक्ष होने के कारण उत्तम तेज रूप इस चेतन रूप दीपक से ही घट-पट आदि सूर्यपर्यन्त ये सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं ॥ १८ ॥

इस सारे सत्य का मुझे अब स्मरण हो आया है। आकाश आदि विकल्पों से रहित चिद्रूप प्रकाश सर्व व्यापक यह आत्मा मैं हूँ ॥ १९ ॥

तेजसाऽन्तःप्रकाशेन यथाऽग्निकणपङ्क्तयः ॥ २० ॥
अनेनैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियपङ्क्तयः ।
सर्वगेन निदाधेन यथा मरुमरीचिकाः ॥ २१ ॥
अनेनैतत्पदार्थानां वस्तुत्वं प्रतिपाद्यते ।
शुक्लादिगुणवत्त्वं स्वं प्रदीपेनेव वाससाम् ॥ २२ ॥
असावेव हि भूतानां सर्वेषामेव जाग्रताम् ।
सर्वानुभवविताभूमिरात्मा मुकुरवत् स्थितः ॥ २३ ॥
तस्यैकस्याऽविकल्पस्य चिद्दीपस्य प्रसादतः ।
उष्णोऽर्कः शिशिरश्चन्द्रो घनोऽद्रिर्विद्रुतं पयः ॥ २४ ॥
सातत्येनाऽनुभूतानां सर्वेषां च जगत्स्थितौ ।
एतत्कारणमाद्यं तत्कारणं नाऽस्य विद्यते ॥ २५ ॥
सातत्येनाऽनुभूतानां पदार्थानामनेन तत् ।
पदार्थत्वमुदेत्युच्चैः प्रतापेनेव तप्तता ॥ २६ ॥
अनाकारात् कारणाच्च सर्वकारणकारणात् ।
एतस्मादिदमुत्पन्नं जगच्छैत्यं हिमादिव ॥ २७ ॥

अन्तःप्रकाशमान तेज रूप इन विचित्र इन्द्रिय-वृत्तियों का इसी से वैसे ही स्फुरण होता है जैसे भीतर प्रकाशमान तेज से अभिभूत अंगार कण पंक्तियों का स्फुरण होता है ॥ २० ॥

सर्व व्यापक इस चेतन से ये विचित्र इन्द्रिय पंक्तियाँ वैसे ही स्फुरित होती हैं। जैसे ग्रीष्म ऋतु से मरुमरीचिकाओं का (मृगतृष्णाओं का) स्फुरण होता है ॥२१॥

पदार्थों की यह अपनी सत्ता वैसे ही इसी से प्रतिपादित होती है जैसे शस्त्रों का अपना शुक्लादि गुणवत्त्व प्रदीप से प्रतिपादित होता है ॥ २२ ॥

आत्मा चेतन सभी जीवों के सब अनुभवों का वैसा ही विश्रान्ति स्थान है जैसे दर्पण सब प्रतिबिम्बों का विश्रान्ति स्थान है ॥ २३ ॥

उसी एक विकल्परहित चिद्रूपी दीपक के प्रसाद से सूर्य उष्ण, चन्द्रमा ठण्डा, पर्वत ठोस और जल तरल है ॥ २४ ॥

प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत सब पदार्थों की जगत् में उत्पत्ति आदि की व्यवस्था में सद्रूप से सब कार्यों में व्यक्त यही आदि कारण है, इसका कोई कारण नहीं है ॥२५॥

नैरन्तर्य क्रम से अनुभूत सब पदार्थों की सूर्य के अत्यन्त सन्तप्तता उत्पन्न होती है वैसे ही इसी के प्रताप से प्रसिद्ध आकाश आदि पदार्थत्व उत्पन्न होता है ॥ २६ ॥

वस्तुतः निराकार कारणत्व आदि आकार से शून्य

ब्रह्मविष्ण्वन्द्ररुद्राणां कारणानां जगत्स्थितौ ।
एतत्कारणमाद्यं तत्कारणं नाऽस्य विद्यते ॥ २८ ॥
चिच्चेत्यद्रष्टृदृश्यादिनामभिर्वर्जितात्मने ।
स्वयं सकृद्विभाताय मह्यमस्मै नमो नमः ॥ २९ ॥
एतस्मिन् सर्वभूतानि निर्विकल्पचिदात्मनि ।
गुणभूतानि भूतेशे तिष्ठन्ति विविशन्ति च ॥ ३० ॥
यत्किलाऽनेन कलितं चेतनेनान्तरात्मना ।
तत्तद्भवति सर्वत्र नेतरत्सदपि स्थितम् ॥ ३१ ॥
यच्चिता कलितं किञ्चित्तदाप्नोति निजं पदम् ।
यच्चिता कलितं नेह तत्सदप्यन्तमागतम् ॥ ३२ ॥
इमे घटपटाकाराः पदार्थशतपङ्क्तयः ।
जागत्यो विपुलादर्शे ह्यस्मिन् व्योमनि बिम्बिताः ॥३३॥
एतद्वृद्धं वृद्धतरे क्षयि क्षयिणि जायते ।
पदार्थे सदसच्चापि प्रतिबिम्बार्कवत्स्थितम् ॥ ३४ ॥

और अविद्या से कारणभूत सब कारणों के कारण इससे यह दृश्य वैसे ही उत्पन्न हुआ है जैसे बर्फ से शीतलता उत्पन्न होती है ॥ २७ ॥

जगत् में उत्पत्ति आदि की व्यवस्था में कारणभूत ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और रुद्र का यही आदि कारण है। इसका कोई कारण नहीं है ॥ २८ ॥

चित्, चेत्य, द्रष्टा, दृश्य आदि नामों से वर्जित स्वरूप वाले स्वयं नित्य स्वप्रकाश इसे मुझ प्रत्यक् चैतन्य के लिए बार-बार नमस्कार है ॥ २९ ॥

निर्विकल्प चैतन्य स्वरूप सब प्राणियों के अधिष्ठाता इसमें गुणों की तरह अभिन्न सत्ता वाले सब भूत स्थित रहते हैं और प्रवेश भी करते हैं ॥ ३० ॥

इस चेतन अन्तरात्मा ने यह उत्तर क्षण में उत्पन्न हो ऐसा संकल्प किया वही सर्वत्र उत्तर क्षण में उत्पन्न होता है, अन्य नहीं ॥ ३१ ॥

जिस वस्तु को चेतन ने अपनी सत्ता और स्फूर्ति के प्रदान द्वारा उज्जीवित किया, वही अपने व्यवहार पद को प्राप्त होता है और जिसको चेतन ने अपनी सत्ता और स्फूर्ति के प्रदान द्वारा उज्जीवित नहीं किया, वह होते हुए भी सत्त्व रूप नाश को प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

ये घटपटाकार जगत् के सैकड़ों पदार्थ विशाल दर्पण-रूप इस चिदाकाश में प्रतिबिम्बित हैं ॥ ३३ ॥

यह भी विशाल पदार्थ में विशाल, विनष्ट होने वाले पदार्थ में विनाशी और सत्-असत्रूप से वैसे ही स्थित है

अदृश्यं सर्वभूतानां प्राप्यं गलितचेतसाम् ।
एतत्तद्दृश्यते सद्भिः परं व्योमाऽतिनिर्मलम् ॥ ३५ ॥
इयमभ्युदयं याति नानादृश्यसुमञ्जरी ।
आचारचञ्चरीकाढ्या एतस्मात् कारणद्रुमात् ॥ ३६ ॥
अस्मादियमुदेत्युच्चैः संसाररचना चला ।
विचित्रतरुगुल्माढ्या शैलादिव वनावली ॥ ३७ ॥
सर्वेषामविभिन्नोऽसौ त्रैलोक्योदरवर्त्तिनाम् ।
ब्रह्मादीनां तृणान्तानां चिदात्मा संप्रकाशकः ॥ ३८ ॥
एकोऽसावहमाद्यन्तरहितः सर्वगाकृतिः ।
चराचराणां भूतानामन्तः स्वानुभवः स्थितः ॥ ३९ ॥
अस्य तस्य ममेमानि स्थावराणि चराणि च ।
परिसंख्यादिहीनानि शरीराणि बहूनि च ॥ ४० ॥
एकोऽसावनुभूत्यात्मा स्वानुभूतिवशात् स्वयम् ।
सर्वदृग्द्रष्टृदृश्यत्वात् सहस्रकरलोचनः ॥ ४१ ॥

जैसे प्रतिबिम्बित सूर्य में क्षय और वृद्धि प्रतिबिम्बरूप से स्थित सूर्य में ही अध्यस्त होकर अन्यवृत्तितया प्रतीत होते हैं ॥ ३४ ॥

अज्ञानियों के दर्शन के अयोग्य विलीन चित्त वाले महात्माओं को प्राप्त होने योग्य यह अतिशय निर्मल परमाकाश सत्पुरुषों द्वारा देखा जाता है ॥ ३५ ॥

आचार रूपी भौंरों से वेष्टित यह विविध दृश्य रूपी सुन्दर मञ्जरी इसी कारण रूप वृक्ष से उत्पन्न होती है ॥ ३६ ॥

यह चञ्चल विशाल संसार रचना इसी से वैसे ही उत्पन्न होती है जैसे विविध प्रकार के वृक्ष, झाड़ी और लताओं द्वारा वेष्टि वनपंक्ति पर्वत से उत्पन्न होती है ॥ ३७ ॥

तीनों लोकों में ब्रह्मा से लेकर तिनके तक सब पदार्थों का प्रकाशक यह स्वयंज्योति चिदात्मा सबसे अभिन्न है ॥ ३८ ॥

जन्म और विनाशरहित सर्वव्यापाक यह एक मैं सब चराचर भूतों के अन्दर स्वानुभव रूप स्थित हूँ ॥ ३९ ॥

मेरे ये स्थावर और जंगम बहुत शरीर हैं, जिनकी संख्या गणना, काल की इयत्ता और देश की इयत्ता नहीं हो सकती ॥ ४० ॥

अनुभूति स्वरूप अद्वय यह अपनी अनुभूति वश स्वयं सर्वद्रष्टा, सर्वदृश्य और सर्वदर्शन एवं हजारों लोचन और हाथ वाला है ॥ ४१ ॥

एषोऽसावहमाकाशे सूर्यदेहेन चारुणा ।
विहरामीतरेणाऽपि वायुदेहेन वायुना ॥ ४२ ॥
ममैतद्वपुरानीलं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
सर्वसौभाग्यसीमान्तं ह्यस्मिञ्जगति वल्गति ॥ ४३ ॥
अहमस्मिन् समुद्भूतः पद्मासनगतः सदा ।
निर्विकल्पसमाधिस्थः परां निर्वृतिमागतः ॥ ४४ ॥
अहं त्रिनेत्रयाऽऽकृत्या गौरीवक्त्राब्जषट्पदः ।
सर्गान्ते संहरामीदं कूर्मोऽङ्गपटलं यथा ॥ ४५ ॥
अहमिन्द्रेण रूपेण त्रिलोकीमखिलामिमाम् ।
पालयामि क्रमप्राप्तां मठिकामिव तापसः ॥ ४६ ॥
स्त्री पुमानहमेवैतत्कुमारो ह्यहमित्यपि ।
जीर्णोऽहं देहधारित्वाज्जातोऽहं विश्वतोमुखः ॥ ४७ ॥
अहं तृणलतागुल्मजालं रसतया स्थितः ।
उत्थापयामि चिद्भूमेः कूपोऽन्तरलतामिव ॥ ४८ ॥

यह प्रत्यक्ष ईश्वरभूत मैं सुन्दर सूर्यरूप होकर आकाश में विचरण करता हूँ एवं वायु रूप होकर अन्य वायु देह से भी आकाश में विचरण करता हूँ ॥ ४२ ॥

मेरा शङ्ख, चक्र और गदा धारण करने वाला, यह श्यामल शरीर, सब सौभाग्यों की चरम सीमा स्वरूप इस संसार में व्यवहार करता है ॥ ४३ ॥

इस जगत् में सदा पद्मासनासीन होकर निर्विकल्पक समाधि में स्थित परम सुख को प्राप्त ब्रह्मा रूप से मैं उत्पन्न हुआ हूँ ॥ ४४ ॥

मैं तीन नेत्रवाली आकृति से श्रीपार्वती के मुख-कमल का भ्रमर बनकर इस जगत् का प्रलयकाल में वैसे ही संहार करता हूँ जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है ॥ ४५ ॥

इन्द्ररूप से मैं मन्वन्तर क्रम से प्राप्त इस सारे त्रिलोक का वैसे ही पालन करता हूँ जैसे तपस्वी गुरु परम्परा प्राप्त अपने मठ की रक्षा करता है ॥ ४६ ॥

मैं ही स्त्री हूँ, मैं ही पुरुष हूँ, मैं ही कुमार भी हूँ, देहधारी होने से मैं जीर्ण हो गया हूँ और मैं ही सर्वतो-मुख विराट् पुरुष हूँ ॥ ४७ ॥

मैं जीवसाररूप से स्थित होकर तृण, लता, झाड़ी आदि के समूह को चिद्रूप भूमि से इस प्रकार उत्पन्न करता हूँ जैसे जलरूप से स्थित जीर्ण कूप अपने अन्दर लता को उत्पन्न करता है ॥ ४८ ॥

स्वलीलार्थमिदं चारु जगदाडम्बरं ततम् ।
मयाऽभिजातबालेन पङ्कक्रीडनकं यथा ॥ ४९ ॥
मयेदमाप्यते सर्वं सत्ता मां प्राप्य गच्छति ।
मत्परित्यक्तमेतच्च सदप्येव न किञ्चन ॥ ५० ॥
मयि स्फारे चिदादर्शे प्रतिबिम्बं यदागतम् ।
तदस्ति नेतरद्यस्मान्मत्तोऽन्यन्नेह विद्यते ॥ ५१ ॥
कुसुमेष्वहमामोदः पुष्पपत्रेष्वहं छविः ।
छविष्वहं रूपकला रूपेष्वनुभवोऽप्यहम् ॥ ५२ ॥
यद्यत्किञ्चिदिदं दृश्यं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वसङ्कल्परहितं तच्चित्तत्त्वमहं परम् ॥ ५३ ॥
आद्या रसमयी शक्ती रसौघो विस्तृतो यया ।
सा यथा दारुकुड्येषु तथाऽहं सर्ववस्तुषु ॥ ५४ ॥
परमां तामहं सर्वपदार्थान्तरवर्तिताम् ।
उपेत्य संविद्वैचित्र्यं प्रतनोमि स्वयेच्छया ॥ ५५ ॥

सुन्दर बालकरूप मैंने इस सुन्दर जगद्रूपी आडम्बर का मिट्टी के खिलौने के समान अपनी क्रीडा के लिए विस्तार किया है ॥ ४९ ॥

मुझसे कारणरूप से यह जगत् व्याप्त किया जाता है। मुझे ही प्राप्त कर यह सत्ता को प्राप्त करता है। अपने तत्त्वदर्शन द्वारा मुझसे परित्यक्त यह जगत् जीवन्मुक्त व्यवहार में विद्यमान होता हुआ भी कुछ नहीं है ॥ ५० ॥

मुझ विशाल चिद्रूपी दर्पण में प्रतिबिम्ब प्राप्त यह मुझसे पृथक् नहीं है, क्योंकि इस संसार में मुझसे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं ॥ ५१ ॥

मैं फूलों में सुगन्ध हूँ, फूलों की पंखुरियों में कान्ति हूँ, कान्तियों में रूपकला हूँ और रूपों में भी मैं अनुभव हूँ ॥ ५२ ॥

चराचर जगद्रूप में जो कुछ दृश्य है, वह सब सर्व-संकल्परहित परम चिदात्मतत्त्व मैं ही हूँ ॥ ५३ ॥

रसमयी आदि शक्ति जिससे सागर, नदी, तालाब, कूप आदि जलसमूह विस्तृत है, वही जलभूत शक्ति जैसे वृक्षों में शाखा, पल्लव आदि की उत्पत्ति में हेतुरूप से और दीवारों में तिनके, जौ के अङ्कुर आदि की उत्पत्ति में हेतुरूप से फैली है वैसे ही मैं सब वस्तुओं में तत्-तत् कार्यों की उत्पत्ति में हेतुरूप से फैला हूँ ॥ ५४ ॥

मैं अपनी इच्छा से सब पदार्थों की उस परम अन्तर्यामिता को प्राप्त कर ज्ञान वैचित्र्य का विस्तार करता हूँ ॥ ५५ ॥

घृतं यथाऽन्तः पयसो रसशक्तिर्यथा जले ।
चिच्छक्तिः सर्वभावेषु तथाऽन्तरहमास्थितः ॥ ५६ ॥
इदं जगत्त्रिकालस्थं चिति मध्ये च संस्थितम् ।
चेत्योपचाररहितं वस्तुजातमिवाऽवनौ ॥ ५७ ॥
भरिताशेषदिक्कुक्षिस्त्यक्तसङ्कोचविभ्रमः ।
सर्वस्थः सर्वकर्ता च विराट् सम्राडहं स्थितः ॥ ५८ ॥
अपूर्वमनिबद्धेन्द्रमशस्त्रदलितामरम् ।
अप्रार्थितं मे संप्राप्तं जगद्राज्यमिदं ततम् ॥ ५९ ॥
अहो नु विततात्माऽस्मि न माम्यप्यात्मनाऽऽत्मनि ।
कल्पान्तपवनाधूत एकार्णव इवाऽर्णवे ॥ ६० ॥
नाऽऽत्मन्यन्तमवाप्नोमि स्वस्थेऽन्तः स्वदिते स्वयम् ।
क्षीरवारिनिधौ पङ्गुः सरीसृप इव स्फुरन् ॥ ६१ ॥
स्वल्पेयं मठिका ब्राह्मी जगन्नाम्नी सुसङ्कटा ।
गजो विल्व इव स्वाङ्गे न माति विपुलं वपुः ॥ ६२ ॥

चिच्छक्तिरूप मैं सब पदार्थों में वैसे ही स्थित हूँ जैसे दूध के अन्दर घृत रहता है और जल के अन्दर रस-शक्ति रहती है ॥ ५६ ॥

जैसे तृण, काष्ठ, लोष्ठ आदि वस्तुएँ पृथ्वी पर स्थित हैं अतीत, वर्तमान और भविष्य यह जड़ जगत् चिद्रूप मुझमें वैसे ही व्यवस्थित है ॥ ५७ ॥

सब दिशाओं के मध्य को जिसने पूर्ण कर रक्खा है, संकोच भ्रम का जिसने त्याग कर दिया है, सबमें स्थित सबका रचयिता और व्यष्टि भेद से शोभित होने वाला एवं समष्टिरूप से शोभित होने वाला मैं हूँ ॥ ५८ ॥

यह विस्तृत अपूर्व जगद्राज्य, जिसमें इन्द्र का बन्धन नहीं किया गया और अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा देवताओं का संहार नहीं किया गया, बिना प्रार्थना के मुझे प्राप्त हुआ है ॥ ५९ ॥

अहो ! मैं विस्तृत आत्मा वाला हूँ, मैं अपने-आप अपने आत्मा में, कोठिले में धानों की उसी प्रकार नहीं समा रहा हूँ जैसे प्रलय काल की घोर आँधी से उद्वेलित प्रलय सागर पहले के सागर के घेरे में नहीं समाता है ॥ ६० ॥

अन्दर अपने ही निरतिशय आनन्दरूप से स्वाद में आ रहे स्वस्थ आत्मा में मैं वैसे ही अन्त नहीं पाता हूँ जैसे कुण्ठित गतिवाला साँप क्षीरसागर में चलता हुआ उसका अन्त नहीं पाता ॥ ६१ ॥

यह जगन्नामक ब्रह्माण्ड, जिसका भीतर का भाग संकुचित है, बड़ा छोटा है, इसलिए मेरा विशाल शरीर इसमें वैसे ही नहीं समा सकता है जैसे बेल के फल के अन्दर हाथी नहीं समा सकता ॥ ६२ ॥

विरिञ्चिभवनात् पारे तत्त्वान्तेऽप्याहरत् पदम् ।
प्रसरत्येव मे रूपमद्याऽपि न निवर्तते ॥ ६३ ॥
अयं नामाऽहमित्यन्तः कुतो निरवलम्बना ।
अपर्यन्ताकृतेरेषा किलाऽऽसीत् स्वल्पता मम ॥ ६४ ॥
भवानयमयं चाऽहमिति मिथ्यैव विभ्रमः ।
को देहः कोऽप्यदेहो वा को मृतः कश्च जीवति ॥ ६५ ॥
वराकाः पेलवधियो बभूवुर्मे पितामहाः ।
ये साम्राज्यमिदं त्यक्त्वा रेमिरे भवभूमिषु ॥ ६६ ॥
क्वेयं किल महादृष्टिर्भरिता ब्रह्मबृंहिता ।
क्व सरीसृपभोमाशाभीमा राज्यविभूतयः ॥ ६७ ॥
अनन्तानन्दसम्भोगा परोपशमशालिनी ।
शुद्धेयं चिन्मयी दृष्टिर्जयत्यखिलदृष्टिषु ॥ ६८ ॥
सर्वभावान्तरस्थाय चेत्यमुक्तचिदात्मने ।
प्रत्यक्चेतनरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ६९ ॥

ब्रह्माण्डरूप ब्रह्मा के घर से आगे अन्त में भी फैल रहा मेरा स्वरूप आज भी प्रसार को प्राप्त हो रहा है वापिस नहीं होता है ॥ ६३ ॥

यह देह आदि मैं हूँ, इस प्रकार की निराधार यह कल्पना, इतने दिनों तक मेरे हृदय में कहाँ से हुई ? जिसकी आकृति का आर-पार नहीं है, ऐसी मेरी यह स्वल्पता कैसे हुई ? ॥ ६४ ॥

ये आप हैं, यह मैं हूँ, यह मिथ्या भ्रान्ति ही है। कौन शरीर है ? अशरीर भी कौन है ? कौन मरा ? प्राण कौन उनसे वियुक्त हुआ और कौन जीता है ॥ ६५ ॥

मेरे पिता, पितामह आदि सुकोमल मन्दमति थे, इसीलिए इस सामाज्य का त्याग कर भवभूमि में अनुरक्त हुए ॥ ६६ ॥

कहाँ ब्रह्म से बढ़ी हुई पूर्ण यह महा दृष्टि और कहाँ साँपों की भाँति भयंकर आशाओं से भीषण राज्य विभूतियाँ ॥ ६७ ॥

अनन्त आनन्द का भोग प्राप्त यह शुद्ध चिन्मय दृष्टि परम शान्ति देने वाली है, सब दृष्टियों में बढ़कर है ॥ ६८ ॥

सब पदार्थों के अन्दर विद्यमान चेत्यरहित चिदात्मा रूप प्रत्यक् चेतन स्वरूप मेरे लिए बार-बार नमस्कार है ॥ ६९ ॥

जयाम्यहमजो जातो जीर्णसंसारसंसृतिः ।
प्राप्तप्राप्यो महात्माऽयं जीवामि च जयामि च ॥ ७० ॥

इदमुत्तमसाम्राज्यं बोधं संत्यज्य शाश्वतम् ।
न रमेऽहमरम्यासु राज्यदुःखविभूतिषु ॥ ७१ ॥

दारुवारिदृषन्मात्रे लुलितो यो धरातले ।
धिग्वराकमनात्मज्ञं तं कुदानवकीटकम् ॥ ७२ ॥

अविद्यैकात्मभिर्द्रव्यैरविद्यामयमङ्गकम् ।
अज्ञेन संतर्पयता किं नाम गुरुणा कृतम् ॥ ७३ ॥

वर्षाणि कतिचित् प्राप्य जगच्छ्रीमठिकामिमाम् ।
किं नाम प्रापदुचितं हिरण्यकशिपुः किल ॥ ७४ ॥

अनास्वाद्येदमानन्दं जगद्राज्यशतान्यपि ।
समास्वादयता नेह किञ्चिदास्वादितं भवेत् ॥ ७५ ॥

न किञ्चिद्येन संप्राप्तं तेनेदं परमामृतम् ।
संप्राप्याऽन्तः प्रपूर्णेन सर्वं प्राप्तमखण्डितम् ॥ ७६ ॥

संसार सरणि को जीर्ण कर मैं अज हो गया हूँ, चारों ओर से जेतव्य के जय के फलरूप सर्वानर्थनिवृत्ति ो प्राप्त और प्राप्तव्य सब सुखों को प्राप्त कर मेरा ।वन सफल हो गया है अतएव मैं सर्वोत्कृष्ट रूप से राजमान हूँ ॥ ७० ॥

नित्य बोध रूप इस उत्तम साम्राज्य का त्याग कर ।रमणीय राज्य के विविध दुःखों में मुझे आनन्द नहीं मिलता है ॥ ७१ ॥

भूतल पर वनदुर्ग में लड़कियाँ, जलदुर्ग में जल और गिरि दुर्ग में पत्थर विपत्तियों के समय शरण होते हैं, स्वामित्व के अभिमान से सतृष्ण उस अज्ञानी कुदानव रूपी कीड़े के लिए धिक्कार है ॥ ७२ ॥

एकमात्र अविद्यात्मक अन्न-पान आदि पदार्थों से अविद्यामय गर्हित शरीर को तृप्त कर अज्ञानी हमारे पिता ने क्या किया ? ॥ ७३ ॥

कुछ वर्षों तक इस जगद्रूपी सम्पत्ति युक्त छोटे से मठ को पाकर हिरण्यकशिपु ने क्या कश्यप के कुल में में जन्म के अनुरूप परम पुरुषार्थ प्राप्त किया ? ॥ ७४ ॥

इस आत्म रूप आनन्द का आस्वाद न कर यहाँ सैकड़ों जगद्राज्यों का आस्वाद ले रहे पुरुष को कुछ भी आस्वाद नहीं मिला ॥ ७५ ॥

जिसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ, इस परम अमृत को पाकर पूर्ण अन्तःकरण वाले उसको यह सब निरन्तर प्राप्त हो जाता है ॥ ७६ ॥

त्यक्त्वा पदमिदं मूर्खो मितमेति न पण्डितः ।
उष्ट्रो हि त्यक्तसुलतः कण्टकं याति नेतरः ॥ ७७ ॥

परां दृष्टिमिमां त्यक्त्वा दग्धराज्ये रमेत कः ।
कस्त्यक्त्वेक्षुरसं प्राज्ञः कटुनिम्बपयः पिबेत् ॥ ७८ ॥

मूर्खा एव हि ते सर्वे बभूवुर्मे पितामहाः ।
इमां दृष्टिं परित्यज्य रेमिरे राज्यसङ्कटे ॥ ७९ ॥

क्व फुल्ला नन्दनस्थल्यः क्व दग्धमरुभूमयः ।
क्वेमा बोधदृशः शान्ताः क्व भोगेष्वात्मबुद्धयः ॥ ८० ॥

न किञ्चिदपि त्रैलोक्ये यद्राज्यमपि वाञ्छते ।
सर्वमस्त्येव चित्तत्त्वे तत्कस्मान्नाऽनुभूयते ॥ ८१ ॥

चिता सर्वस्थया स्वस्थसमया निर्विकारया ।
सर्वया सर्वदा सर्वं सर्वतः साधु लभ्यते ॥ ८२ ॥

भासिनी तैजसी शक्तिरमृतप्राप्तिरैन्दवी ।
ब्राह्मी महत्ता महती शाक्री त्रैलोक्यराजता ॥ ८३ ॥

इस परम पद का त्याग कर मूर्ख परिमित पदार्थ को प्राप्त करता है पण्डित नहीं। ऊँट ही सुन्दर लता का त्याग कर काँटों की ओर जाता है, अन्य नहीं ॥ ७७ ॥

इस परम दृष्टि का त्याग कर इस गर्हित राज्य में किसको प्रीति होगी ? कौन बुद्धिमान् पुरुष ईख के रस का त्याग कर नीम के पत्तों का कड़वा रस पीयेगा ॥७८॥

सचमुच मेरे पिता, पितामह सब मूर्ख ही रहे, इसी लिए इस दृष्टि का त्याग कर राज्य रूपी विपत्ति में प्रीति की ॥ ७९ ॥

कहाँ फूली हुई नन्दन वन की स्थालियाँ, कहाँ सन्तप्त मरुभूमियाँ, कहाँ शान्त ये ज्ञान दृष्टियाँ और कहाँ भोगायतन शरीर आदि में आत्मबुद्धि ? ॥ ८० ॥

त्रैलोक्य में राज्य को प्राप्त कर कुछ भी सुख नहीं मिलता है। पुरुष फिर भी उसे ही चाहता है, सब कुछ निहित चित्तत्त्व का ज्ञान क्यों नहीं करना ? ॥ ८१ ॥

सब में स्थित स्वस्थ और सम, निर्विकार, सर्वरूप चित् से सदा सब जगह सब सुख के साधन आनन्द से प्राप्त होते हैं ॥ ८२ ॥

तेज की भासन शक्ति, चन्द्रमा की अमृत प्राप्ति, हिरण्यगर्भ की सर्वमान्यता, इन्द्र की सर्वोत्कृष्ट त्रैलोक्यराजता, शिवजी की निरतिशय ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्दशक्तिपूर्णता विष्णु की जयलक्ष्मी, मन की शीघ्रगतिता, वायु की बलवत्ता, अग्नि की दाहकता, जल की आप्यायकता, भृगु आदि मुनियों की महातपःसिद्धि, बृहस्पति की

परमा पूर्णता शार्वी जयलक्ष्मीश्च वैष्णवी ।
मानसी शीघ्रगतिता बलवत्ता च वायवी ॥ ८४॥
आग्नेयी दाहकलना पायसी रसनिर्वृतिः ।
मौनी महातपःसिद्धिर्विद्या बार्हस्पती तथा ॥ ८५ ॥
वैमानिकी व्योमगतिः स्थिरता चाऽपि पार्वती ।
गम्भीरताऽथ सामुद्री मैरवी च महोन्नतिः ॥ ८६ ॥
शमश्रीः सौगती सौम्या मादिरी मदलोलता ।
माधवी पुष्पमयता वार्षिकी घनशब्दिता ॥ ८७ ॥
याक्षी च मायामयता नाभसी लिष्कलङ्कता ।
शीतताऽपि च तौषारी नैदाघी तापतप्तता ॥ ८८ ॥
एताश्चाऽन्यास्तथा बह्वचो देशकालक्रियात्मिकाः ।
नानाकारविकारोत्थास्त्रिकालोदरसंस्थिताः ॥ ८९ ॥
विचित्राः शक्तयः स्वस्थसमया निर्विकारया ।
चिता क्रियन्ते परया कलाकलनयुक्तया ॥ ९० ॥
विकल्पहीना चित्सर्वा पदार्थशतदृष्टिषु ।
सममेवाऽभिपतति प्रभा प्राभाकरी यथा ॥ ९१ ॥

विद्या, विमानों की आकाश गति, पर्वतों की स्थिरता, समुद्र की गम्भीरता, मेरु पर्वत की महोन्नतता, बौद्ध सिद्धान्त में सिद्धशून्यता रूप सर्व उपद्रव शान्ति या ब्रह्मसाक्षात्कार-सम्बन्धिनी सर्वानर्थनिर्वापणशक्ति, मदिरा की मदचञ्चलता, वसन्त ऋतु की पुष्पमयता, वर्षा ऋतु की मेघशब्दता, यक्षों की मायामयता, आकाश की निर्मलता , हिम की शीतलता, ग्रीष्म ऋतु की तापतप्तता ये और इनसे अतिरिक्त अन्यान्य बहुत-सी देश, काल और क्रिया रूप नाना आकार विकारों से उत्पन्न, भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों के अन्दर स्थिति विचित्र शक्तियों का स्वस्थ, सम, निर्विकार परम चैतन्य द्वारा, जो तत्-तत् शक्ति के कार्य के अनुसन्धान से युक्त है, निर्माण किया जाता है ॥ ८३–९० ॥

सब वृत्तियों में प्रविष्ट भी चित् चित्तवृत्ति में स्थित विकल्पों से रहित होकर सैकड़ों पदार्थों में वैसे ही समान रूप से गिरती है । जैसे सूर्य की प्रभा वृत्ति से किये गये स्थाणु, पुरुष इत्यादि विकल्पों से रहित हो सब पदार्थों में समान रूप से गिरती है ।। ९१ ।।

यह निर्मल चित् तीनों कालों में स्थित सारे संसार विशाल दृश्य शोभा को, एक क्षण में वैसे ही प्रथित कर देती है जैसे सूर्य की प्रभा सब दिशाओं के मध्य में स्थित तीनों कालों में चेष्टा से युक्त प्रचुर पदार्थराशि को एक

सर्वाशाकोशविश्रान्तां पदार्थपटलीं महीम् ।
कालत्रयेहाकलितां यथाऽनुभवति क्षणात् ॥ ९२ ॥
तथा समस्तसंसारबृहदृश्यदशाश्रियम् ।
कालत्रयस्थाममला चिच्चेतति तदात्मिका ॥ ९३ ॥
तुल्यकालपरामृष्टा त्रिकालकलनाशता ।
अनन्तभुवनाभोगा परिपूर्णेव शुद्धचित् ॥ ९४ ॥
परामृष्टत्रिकालाया दृष्टानन्तदृशश्रितः ।
समतापरपर्याया पूर्णतैवाऽवशिष्यते ॥ ९५ ॥
तुल्यकालावबुद्धेन स्वादुना कटुनाऽपि चित् ।
समेन समतामेति मधुनिम्बानुभूतिवत् ॥ ९६ ॥
त्यक्तसङ्कल्पकलया सूक्ष्मया चिद्व्यवस्थया ।
सर्वभावानुगतया सत्ताद्वैतैकरूपया ॥ ९७ ॥
विचित्राऽपि पदार्थश्रीरन्योन्यवलितान्तरा ।
तुल्यकालानुभवना साम्येनैवाऽनुभूयते ॥ ९८ ॥
भावेनाऽभावमाश्रित्य भावस्त्यजति दुःखताम् ।
प्रेक्ष्य भावमभावेन भावस्त्यजति दुष्टताम् ॥ ९९ ॥

क्षण में प्रकाशित करती है ॥ ९२-९३ ॥

अखण्ड ही शुद्ध चित् अभिन्न काल से सम्बद्ध होती हुई ही अतीत, अनागत आदि तीनों कालों की सैकड़ों कल्पनाओं से भिन्न के समान और प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान आदि अनन्त प्रमाण, प्रमेय और पुरुषों के भेद से भिन्न कलेवर वाली की तरह प्रतीत होती है ॥ ९४ ॥

जिसे तीनों कालों के परिज्ञान से सम्पन्न और अनन्त वृत्तियों से युक्त चैतन्य की पूर्णता ही, जिसका दूसरा नाम समता है, अवशिष्ट रहती है ॥ ९५ ॥

शहद और नीम आदि प्रत्येक की अनुभूति के समान एक काल में अनुभूत तुल्य रस वाले दो मधुर रसों से और दो कड़वे रसों से भी चित् समता को ही प्राप्त होती है ॥ ९६ ॥

संकल्प कला का त्याग कर सूक्ष्म, सर्वानुगत, एकमात्र सत्ता अद्वैतरूप चिद् व्यवस्था से एक ही समय में अनुभूयमान होती हुई समता से अनुभूत होती है विषमता से नहीं ॥ ९७-९८ ॥

चित्त से अभाव का अवलम्बन कर चित्तरूप भाव शोक, मोह आदि के परिणामरूप दुःखता का तुरन्त त्याग करता है । सर्वदृश्य प्रतिषेधरूप अभाव से परमार्थ सद् अद्वैतानन्द स्वभाव आत्मा का दर्शन कर वह चित्तरूप भाव राग आदि दुष्टता का भी त्याग कर देता है ॥९९॥

कालत्रयमपश्यन्त्या हीनायाश्चेत्यबन्धनैः ।
चितश्चेत्यमुपेक्षिण्याः समतैवाऽवशिष्यते ॥१००॥
याति वाचामगम्यत्वादसत्तामिव शाश्वतीम् ।
नैरात्म्यसिद्धान्तदशामुपयातेव तिष्ठति ॥१०१॥
भवत्यात्मा तथा ब्रह्म न किञ्चिच्चाऽखिलं च वा ।
परमोपशमेऽलीना मोक्षनाम्ना परोच्यते ॥१०२॥
सङ्कल्पकलिता त्वेषा मन्दाभासतया जगत् ।
न सम्यक्पश्यतीदं चिद् दृष्टिः पटलिनी यथा ॥१०३॥
ईहानीहामयैरन्तर्या चिदावलिता मलैः ।
सा हि नोड्डयितुं शक्ता पाशबद्धेव पक्षिणी ॥१०४॥
सङ्कल्पकलनेनैव ये केचन जना इमे ।
पतिता मोहजालेषु विनेत्रा इव पक्षिणः ॥१०५॥
सङ्कल्पजालवलितैर्विषयावटपातिभिः ।
पदवी गतबाधेयं न दृष्टा मत्पितामहैः ॥१०६॥

वर्तमान दृश्य उपेक्षा करने वाले, अतीत चेत्य के वासनारूपी बन्धनों से शून्य और चेत्य के आधारभूत तीनों कालों का दर्शन न करने पर समता ही अवशिष्ट रहती है ॥ १०० ॥

चित् वाणी व्यवहार के अगोचर होने से शाश्वत असत्ता के समान प्राप्त होती है। नैरात्म्यसिद्धान्तदशा को प्राप्त हुई-सी स्थित रहती है ॥ १०१ ॥

स्थित ही शास्त्रीय व्यवहार ये प्रत्यक् होने के कारण आत्मा है तथा बृहत् होने से ब्रह्म है, परमार्थ दृष्टि से तो उसमें वाणियों की प्रवृत्ति का अभाव होने से कुछ भी नहीं है। सब दृश्यों का परम उपशम होने पर उनकी अवधि होने से लय को प्राप्त न हुई वह चित् परम समता 'मोक्ष' नाम से कही जाती है ॥ १०२ ॥

संकल्प से कलित यह चित् पटलरूप अवरण से युक्त दृष्टि के समान मन्दप्रकाश होने के कारण इस जगत् को परमार्थरूप से नहीं देखती है ॥ १०३ ॥

इष्ट-अनिष्ट संकल्परूप मलों से ओतप्रोत चित् सारे आकाश को व्याप्त करने में वैसे ही समर्थ नहीं होती है जैसे जाल में बँधी हुई चिड़िया आकाशमार्ग से उड़ने में समर्थ नहीं होती ॥ १०४ ॥

जो व्यक्ति ये नेत्रविहीन पक्षियों की तरह मोहरूपी जाल में पड़े हैं, वे सब संकल्पकल्पना से ही पड़े हैं ॥ १०५ ॥

विविध संकल्पों से परिवेष्टित विषयरूपी गड्ढों में गिरने वाले मेरे पिता, पितामह आदि पूर्वजों ने यह दुःख-शून्य अपरिच्छिन्न आत्मपदवी नहीं देखी ॥ १०६ ॥

दिनैः कतिपयैरेव स्फुरिता धरणीतले ।
वराकास्तेन ते नष्टा मशकाः कुहरेष्विव ॥१०७॥
यद्यज्ञास्यन्निमे तत्त्वं भोगदुःखार्थिनस्तदा ।
भावाभावान्धकूपेषु नाऽपतिष्यन् हताशयाः ॥१०८॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः ।
धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः ॥१०९॥
ईहितानीहिताकाराः कलनामृगतृष्णिकाः ।
सत्यावबोधमेघेन यस्य शान्ताः स जीवति ॥११०॥
कुतः किलाऽस्याः शुद्धाया अविच्छिन्नामलाकृतेः ।
चन्द्रिकाया रुचः कोष्णाः कलङ्काः कलनाश्रितः ॥१११॥
आत्मनेऽस्तु नमो मह्यमविच्छिन्नचिदात्मने ।
लोकालोकमणे देव चिरेणाऽधिगतोऽस्यहो ॥११२॥
परामृष्टोऽसि लब्धोऽसि प्रोदितोऽसि चिराय च ।
उद्धृतोऽसि विकल्पेभ्यो योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ॥११३॥

अपरिच्छिन्न आत्मपदवी के अदर्शन से गड्ढों में मच्छरों के समान पृथिवीपर सुशोभित हुए वे बेचारे मेरे पिता, पितामह आदि कुछ ही दिनों में नष्ट हो गये ॥ १०७ ॥

भोगरूपी दुःख की चाह वाले दुर्बुद्धि वे लोग यदि आत्मतत्त्व को जान गये होते, तो भाव और अभावरूपी अन्धे कुएँ में न गिरते ॥ १०८ ॥

इच्छा-द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वमोह से सभी जीव छिद्र में छिपे हुए कीड़ों के तुल्य हो गये हैं ॥ १०९ ॥

इष्ट और अनिष्ट कल्पनारूपी मृगतृष्णा सत्यज्ञानरूपी मेघ से (द्वन्द्वताप की शान्ति द्वारा) शान्त हो जाने पर जीवन सार्थक है उसी का शान्त जीवन जीव है ॥ ११० ॥

चाँदनी की मन्दोष्ण एवं कलङ्क युक्त शोभा के समान निरन्तर निर्मल आकारवाली इस शुद्ध चित् की कल्पनाएँ कहाँ से हो सकती हैं ? ॥ १११ ॥

हे लोगों के ज्ञानप्रकाश में मणिस्वरूप हे देव ! आप चिरकाल में प्राप्त अविच्छिन्न चिदात्मरूप मुझ आत्मा के लिए नमस्कार है ॥ ११२ ॥

चिरकाल तक मैंने आपका विचार किया है, आपको प्राप्त किया है, अपने पारमार्थिकरूप से अभिव्यक्त किया है और विकल्पों से आपका उद्धार किया है, आप जो हैं वह हैं आपके लिए नमस्कार है ॥ ११३ ॥

मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं शिवात्मने ।
नमो देवाधिदेवाय पराय परमात्मने ॥११४॥
गतघनपरिपूर्णमिन्दुबिम्बं
गतकलनावरणं स्वमेव रूपम् ।
स्ववपुषि मुदिते स्वयं स्वसंस्थं
स्वयमुदितं स्ववशं स्वयं नमामि ॥११५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रह्लादात्मोपदेशयोगो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

आत्मरूप आप अनन्त के लिए, आत्मरूप आप शिव देवाधिदेव परम परमात्मा के लिए नमस्कार है ॥ ११४ ॥

मेघरूपी आवरण से शून्य परिपूर्ण चन्द्रबिम्ब के समान कलनारूपी आवरण से शून्य अपना ही रूप अनन्दैकरस स्वात्म में स्वयं अपने पारमार्थिकरूप से स्थित, स्वप्रकाश स्वाधीन आनन्दवाला है, उससे अभिन्नरूप मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ११५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में प्रह्लादत्मोपदेशयोग नामक कुसुमलता का चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

३५

प्रह्लद उवाच

ओमित्येकोचिताकारो विकारपरिवर्जितः ।
आत्मैवाऽयमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ॥ १ ॥
मेदोऽस्थिमांसमज्जासृगतीतोऽप्येष चेतनः ।
अन्तरस्थो हि सूर्यादीन् प्रकाशयति दीपकः ॥ २ ॥
उष्णीकरोति दहनं रसयत्यमृतं रसम् ।
इन्द्रियानुभवान् भुङ्क्ते भोगानिव महीपतिः ॥ ३ ॥
तिष्ठन्नपि हि नाऽऽसीनो गच्छन्नपि न गच्छति ।
शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४ ॥
पूर्वमद्य तथेदानीमिहाऽमुत्रोभयत्र च ।
विहितोऽविहितोऽप्येष समः सर्वासु वृत्तिषु ॥ ५ ॥
उद्भवत्यभयो भावं भुवनानि ततस्ततः ।
ब्रह्मादितृणपर्यन्तं जगदावर्तयन् स्थितः ॥ ६ ॥
नित्यस्पन्दमयो नित्यमपि देवात् सदागतेः ।
स्थाणोरप्यक्रियो नित्यमाकाशादप्यलेपकः ॥ ७ ॥

३५

प्रह्लाद ने कहा—'ॐ' ही जिसका स्वानुरूप अभिधान है और विकारों से रहित यह आत्मा ही जो कुछ इस जगतीतल में स्थित है वह सब कुछ है ॥ १ ॥

मेदा, अस्थि, मांस, मज्जा और रक्त आदि रूप देह परिमित यह चेतन नहीं है, किन्तु उससे अतीत है। सूर्य आदि के अन्दर स्थित दीपकरूप यह सूर्य आदि को प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

चिदात्मा ही स्वसत्ता से अग्नि को उष्ण करता है एवं जल को रसरूप से प्रकट करता है। जैसे राजा भोगों को भोगता है वैसे ही वह अन्यान्य इन्द्रियानुभवों का भोग करता है ॥ ३ ॥

सदा निष्क्रिय रहकर भी वह बैठे हुए के समान धावन आदि व्यापार से विरत नहीं है, क्योंकि वायु और सूर्य रूप से सदा गतियुक्त है। कालरूप से सदा चलता हुआ भी कुलाल के चक्र के समान एक तिलभर भी इधर-उधर नहीं जाता, व्यवहार रहित होने पर भी सब व्यवहार में स्थित है, कर्म करता हुआ भी उनके फल से लिप्त नहीं होता है ॥ ४ ॥

पूर्व जन्म में, और इस समय इस लोक में, परलोक में तथा इस लोक की सन्धिरूप स्वप्न में शास्त्र से निहित शुभ कर्म के फलों का भोग करता हुआ और शास्त्रनिषिद्ध अशुभ कार्मों के फलों का भोग करता हुआ भी यह सब भोगवृत्तियों में सम ही रहता है ॥ ५ ॥

समय अर्थात् भयरहित यह आत्मा ही तत् तत् कर्मों के अनुरूप स्वयं होता है और उत्पन्न हुए ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त भोक्ता और भोगों तथा उनके आधार चौदह भुवनों को केवल अपनी सन्निधि से घुमाता रहता है ॥६॥

नित्य स्पन्दसत्ता है, वह सदा चलने वाले देवरूप वायु से भी नित्य स्पन्दमय है। नित्य स्थाणु से भी बढ़कर निष्क्रिय है और नित्य आकाश से भी बढ़कर लेपरहित है ॥ ७ ॥

मनांसि क्षोभयत्येष पल्लावानीव मारुतः ।
वाहयत्यक्षपङ्क्तिं स्वामश्वालीमिव सारथिः ॥ ८ ॥
अतिदुर्विधवद् देहगेहे कर्मरतः सदा ।
सम्राडिवाऽऽत्मनि स्वस्थः संस्थितो भोगभुग् विभुः॥९॥
एष एव सदाऽन्विष्यः स्तुत्यो ध्यातव्य एव तु ।
जरामरणसंमोहादनेनोत्तीर्य गम्यते ॥ १० ॥
सुलभश्चाऽयमत्यन्तं सुजेयश्चाऽऽप्तबन्धुवत् ।
शरीरपद्मकुहरे सर्वेषामेव षट्पदः ॥ ११ ॥
अनाक्रुष्टोऽप्यनाहूतः स्वदेहादेव लभ्यते ।
मनागेवोपहूतोऽपि क्षणाद् भवति सन्मुखः ॥ १२ ॥
नाऽस्य संसेव्यमानस्य सर्वसम्पत्तिशालिनः ।
धनानामीश्वरस्येव स्मयो गर्वो यथा भवेत् ॥ १३ ॥
आमोद इव पुष्पेषु तैलं तिलकणेष्विव ।
रसजातिष्विवाऽऽस्वादो देवो देहेषु संस्थितः ॥ १४ ॥

यह आत्मा मन में क्षोभ वैसे ही पैदा करता है जैसे वायु पल्लवों में हलचल पैदा करता है। वह अपनी इन्द्रियों को तत्-तत् कार्यों में वैसे ही प्रवृत्त करता है जैसे सारथि घोड़ों को हाँकता है ॥ ८ ॥

भोगों का भोग करने वाला विभु आत्मा सम्राट् के समान अपनी आत्मा में स्वस्थ होकर स्थित होकर भी अतिदुर्दशाग्रस्त पुरुष के समान देहरूपी घर में सदा कर्म-निरत रहता है ॥ ९ ॥

इसी की सदा खोज करनी चाहिये, इसी की स्तुति करनी चाहिये और इसी का ध्यान करना चाहिये। खोजे गये इसी से पुरुष जरामरणरूपी संसार से पार होकर परम पद को प्राप्त करता है ॥ १० ॥

सभी के शरीररूपी पद्मगर्भ में भ्रमररूप यह केवल ज्ञान से प्राप्त होने के कारण अत्यन्त सुलभ है। अत्यन्त आप्त बन्धु के समान केवल स्मरणमात्र से ही यह वश में हो जाता है ॥ ११ ॥

यह तो बिना जोर से पुकारे अपने शरीर से ही प्राप्त हो जाता है तथा केवल प्रणव के उच्चारण से थोड़ा स्मरण करने पर क्षणभर में सन्मुख हो जाता है ॥ १२ ॥

सेवन किये जा रहे सर्वसम्पत्तिशाली इसको तनिक भी मान या गर्व वैसे ही नहीं होता जैसे सेवित हो रहे सर्वसम्पत्तिशाली धनी को अभिमान हो सकता है ॥१३॥

फूलों में सुगन्ध के समान, तिलों में तेल के समान और रसों में माधुर्य के समान वह देव सब शरीरों में स्थित है ॥ १४ ॥

अविचारवशादेष हृदयस्थोऽपि चेतनः ।
न ज्ञायते चिराद्दृष्टो दृष्टबन्धुरिवाऽग्रतः ॥ १५ ॥
विचारणापरिज्ञात एतस्मिन् परमेश्वरे ।
अभ्युदेति परानन्दो लब्धे प्रियजने यथा ॥ १६ ॥
अस्मिन् दृष्टे परे बन्धावुद्दामानन्ददायिनि ।
आयान्ति दृष्टयस्तास्ता याभिर्भङ्गो विलीयते ॥ १७ ॥
त्रुट्यन्ते सर्वतः पाशाः क्षीयन्ते सर्वशत्रवः ।
न कृन्तन्ति मनांस्याशा गृहाणीव दुराखवः ॥ १८ ॥
यस्मिन् दृष्टे जगद् दृष्टं श्रुतेऽस्मिन् सकलं श्रुतम् ।
स्पृष्टे चाऽस्मिञ्जगत् स्पृष्टं स्थितेस्मिन् संस्थितं जगत्॥१९॥
एष जागर्ति सुप्तानां प्रहरत्यविवेकिनाम् ।
हरत्यापदमार्तानां वितरत्यमहात्मनाम् ॥ २० ॥
विचरत्येष लोकेषु जीव एव जगत्स्थितौ ।
विलसत्येव भोगेषु प्रस्फुरत्येव वस्तुषु ॥ २१ ॥

सदा हृदय में विद्यमान भी यह चेतन अविचारवश वैसे ही ज्ञात नहीं होता है जैसे चिरकाल से पहले न देखा गया और तत्काल आगे देखा गया पिता आदि बन्धु पहिचान में नहीं आता है ॥ १५ ॥

विचारणा द्वारा इस परमेश्वर के ज्ञात होने पर वैसे परमानन्द होता है जैसे प्रिय बन्धुजन के प्राप्त होने पर परम आनन्द होता है ॥ १६ ॥

अतिशय आनन्द देने वाले इस परमात्मरूप परम बन्धु के दर्शन होने पर मरणादि विच्छेद शून्य वे दृष्टियाँ प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

सब ओर से स्नेह आदि पाश टूट जाते हैं, काम आदि सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और तृष्णाएँ मन को छिन्न-भिन्न वैसे ही नहीं करतीं जैसे दुष्ट चूहे घरों को छिन्न-भिन्न करते हैं ॥ १८ ॥

इस परमात्मा का दर्शन होने पर सारा जगत् दृष्ट होता है, इसके सुनने पर सब सुना जाता है, इसका स्पर्श होने पर सारे जगत् का स्पर्श हो जाता है तथा इसके रहने पर जगत् स्थित होता है ॥ १९ ॥

सोये हुए लोगों के बीच में यह जाग्रत् रहता है, अविवेकियों के ऊपर प्रहार करता है, दुःखियों की आपत्ति दूर करता है और जो महात्मा नहीं हैं, उनको मनोवाञ्छित देता है ॥ २० ॥

जगत् स्थिति में यह आत्मा ही जीव होकर लोकों में विचरण करता है, भोगों में विलास करता है और वस्त्र आभूषण, समाज, उत्सव आदि वस्तुओं में शोभित होता है ॥ २१ ॥

आत्मनाऽऽत्मानमेवाऽतः शान्तेनाऽनुभवन् भवी ।
स्थितः सर्वेषु देहेषु तीक्ष्णत्वं मरिचेष्विव ॥ २२ ॥
चेतनाकलनारूपी सबाह्याभ्यन्तराश्रितः ।
जगत्पदार्थसंभारे सत्तासामान्यमास्थितः ॥ २३ ॥
एष शून्यत्वमाकाशे स्पन्द एष सदागतौ ।
प्रकाशश्चैष तेजस्सु पयस्स्वेष रसः परः ॥ २४ ॥
काठिन्यमवनावेष औष्ण्यमेष हुताशने ।
शैत्यमेष निशानाथे सत्ता चैष जगद्गणे ॥ २५ ॥
मषीपिण्डे यथा कार्ष्ण्यं शैत्यं हिमकणे यथा ।
यथा पुष्पेषु सौगन्ध्यं देहे देहपतिस्तथा ॥ २६ ॥
यथा सर्वगता सत्ता कालः सर्वगतो यथा ।
प्रभुशक्तिर्महीपस्य सर्वदेशगता यथा ।
रूपालोकमनस्कारयुक्तं सत्त्वं तथाऽऽत्मनः ॥ २७ ॥
नित्यः सोऽयं महादेवो देवानामेव बोधकः ।
अहमेवाऽस्मि मे नाऽस्ति कलनाऽपि किलेतरा ॥ २८ ॥

अतः शान्त आत्मा से आत्म का ही अनुभव करता हुआ यह सब देहों में वैसे ही स्थित है जैसे मरिचों में तीक्ष्णता रहती है ॥ २२ ॥

चेतना और कलना रूपी, बाह्य और आभ्यन्तर चेतनोपाधियों में स्थित यह जगत् पदार्थों के संभार में अधिष्ठानसत्ता सामान्य स्वभाव को प्राप्त है ॥ २३ ॥

आकाश में यह शून्यता है, वायु में यह स्पन्दन है, तेज में यह प्रकाश है, जल में यह मधुर रस है ॥ २४ ॥

पृथ्वी में काठिन्य है, अग्नि में यह उष्णता है, चन्द्रमा में यह शीतलता है और सब जगतों में यह सत्ता है ॥ २५ ॥

जैसे मसी-पिण्ड में कालिमा है, जैसे हिमकण में शीतलता है, जैसे पुष्पों में सुगन्ध है वैसे ही देह में आत्मा प्रकाशित होता है ॥ २६ ॥

सत्ता जैसे सर्वगत है, काल जैसे सर्वगत है और राजा की प्रभुशक्ति जैसे सर्वदेश व्याप्त होती है वैसे ही नेत्र आदि के व्यापारों और मानसिक व्यापारों से युक्त जो बाहरी और भीतरी प्रकाश है, वह आत्मा का ही कार्य है यानी वह प्रकाशैक स्वभाव है । सूर्य, चन्द्र आदि सब देवताओं का भी बोधक यह प्रसिद्ध महादेव मैं ही हूँ । मेरी दूसरी कल्पना ही नहीं है ॥ २७-२८ ॥

मुझमें दूसरों से सम्बन्ध वैसे ही नहीं है जैसे अत्यन्त सूक्ष्म रेणु से आकाश में सम्बन्ध नहीं होता, जैसे जल

रेणुनेवाऽणुना व्योम्नि पद्मपत्रमिवाऽम्भसा ।
संभ्रमेणेव पाषाणे संबन्धो मयि नेतरैः ॥ २९ ॥
सुखदुःखश्रियो देहे मा पतन्तु पतन्तु वा ।
तुम्बकोपरि धाराश्च का नः क्षतिरुपस्थिता ॥ ३० ॥
दीपाङ्गातिगतो रज्ज्वा नाऽऽलोको बध्यते यथा ।
तथा नाऽयमहं बद्धः सर्वभावगणातिगः ॥ ३१ ॥
संबन्धः कोऽस्तु नः कामैर्भावाभावैरथेन्द्रियैः ।
केन संबध्यते व्योम केन संबाध्यते मनः ॥ ३२ ॥
शरीरे शतधा याते खण्डना का शरीरिणः ।
कुम्भे भग्ने क्षते क्षीणे कुम्भाकाशस्य का क्षतिः ॥ ३३॥
पिशाचक इवाऽदृश्यो मनो नामोदितं मुधा ।
जडे तस्मिन् क्षते बोधात् का न क्षतिरुपस्थिता ॥ ३४ ॥
सुखदुःखमयी यस्य वासना तन्मनो मम ।
अभवत्पूर्वमद्यैका संपन्नाऽतनुनिर्वृतिः ॥ ३५ ॥
अन्यो भुङ्क्तेऽन्य आदत्तेऽप्यन्यस्याऽनर्थसंकटः ।
अन्यः पश्यत्यहो मौर्ख्यं कस्येयं खलु चक्रिका ॥ ३६ ॥

से कमलदल का सम्बन्ध नहीं होता और जैसे पाषाण में भय, कम्प आदि से सम्बन्ध नहीं होता ॥ २९ ॥

तुम्बी के ऊपर जलधाराओं के समान देह मे सुख-दुःख गिरें अथवा न गिरें उससे तुम्बी के आकाश के समान हम लोगों की कौन-सी हानि है ? ॥ ३० ॥

सब पदार्थों से अतीत यह मैं वैसे ही बद्ध नहीं होता हूँ जैसे दीपक के अङ्गभूत तेल, बत्ती, वर्तन आदि का अतिक्रमण कर निकला हुआ दीपालोक रस्सी से नहीं बाँधा जाता ॥ ३१ ॥

काम, भाव, अभाव और इन्द्रियों से हमारा कौन सम्बन्ध है ? भला आकाश किससे बाँधा जाता है और मन किससे विनष्ट किया जाता है ॥ ३२ ॥

शरीर के सैकड़ों टुकड़े होने पर शरीरी=आत्मा के कौन खण्ड-खण्ड होते हैं, घड़ा चाहे टुटे, टूटे या ध्वस्त हो जाय, पर घटाकाश की क्या क्षति हुई ? ॥ ३३ ॥

अदृश्य पिशाच के समान यह मिथ्या मन उदित है, ज्ञान से जड़ मन का विनाश होनेपर हमारी कौन क्षति हुई ? ॥ ३४ ॥

अज्ञानावस्था में सुख-दुःखमयी वासनामय मेरा मन था, अब मुझे एकमात्र अपरिच्छिन्न सुखविश्रान्ति हो गई है ॥ ३५ ॥

भोग अन्य करता है, ग्रहण अन्य करता है, अनर्थप्राप्ति अन्य को होती है, अन्य देखता है, अहो ! भोक्ता आदि की

भुङ्क्ते प्रकृतिरादत्ते मनो देहस्य संकटः ।
दुष्टात्मा मौर्ख्यमस्तीह न किंचित् केवले क्षतिः ॥ ३७ ॥
न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न च भोगविवर्जने ।
यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत् ॥ ३८ ॥
सुखेषु मम नाऽपेक्षा नोपेक्षा दुःखवृत्तिषु ।
सुखदुःखान्यपायान्तु यान्तु वाऽप्यहमेषु कः ॥ ३९ ॥
वासना विविधा देहे त्वस्तं चोदयमेव वा ।
प्रयान्तु नाऽहमेतासु न चैता मम काश्चन ॥ ४० ॥
एतावन्तमहं कालमज्ञानरिपुणा हृतः ।
हृत्वा विवेकसर्वस्वमेकान्तमवपोथितम् ॥ ४१ ॥
वैष्णवेन प्रसादेन स्वसमुत्थेन चारुणा ।
इदानीं संपरिज्ञाय मयैष परिमोषितः ॥ ४२ ॥
अहङ्कारपिशाचोऽयं शरीरतरुकोटरात् ।
परावबोधमन्त्रेण मयेदानीमपाकृतः ॥ ४३ ॥

एकता के कारण मूर्खता किस जादूगर की चक्की के समान घुमाने की चातुरी है ॥ ३६ ॥

भोग प्रकृति करती है, ग्रहण मन करता है, क्लेश देह प्राप्त होता है, प्रवृत्ति आदि से दुष्ट आत्मा होता है। चार करने पर केवल आत्मा में कुछ भी मौर्ख्य नहीं है, तलिए कोई क्षति नहीं है ॥ ३७ ॥

न भोग भोगने की मेरी आकाङ्क्षा है और न भोगों के याग में मेरी वाञ्छा है, जो आता है वह आवे और जो जाता है वह जावे ॥ ३८ ॥

सुखों की मुझे अपेक्षा नहीं है और दुःखों में मेरी उपेक्षा नहीं है। सुख-दुःख चाहे आवे अथवा जाए इनमें मैं कौन हूँ ॥ ३९ ॥

विविध वासनाएँ मेरे शरीर में चाहे विनष्ट हो चाहे दित हों, न इन वासनाओं में मैं हूँ और न ये मेरी कोई ई ॥ ४० ॥

अत्यन्त विनष्ट हुए विवेकरूपी सर्वस्व को दूर कर इतने समय तक अज्ञानरूपी शत्रु ने मुझे क्लेश पहुँचाया है ॥ ४१ ॥

इस समय उत्पन्न हुए सर्वाङ्गसुन्दर श्रीविष्णुप्रसाद से परम तत्त्व का ज्ञान कर मैंने इसका त्याग कर दिया है ॥ ४२ ॥

परम ज्ञानरूपी मन्त्र से इस अहङ्काररूपी पिशाच को शरीररूपी वृक्ष के खोखले से इस समय मैंने निकाल दिया

निरहङ्कारयक्षोऽयं मच्छरीरमहाद्रुमः ।
पुण्यतामलमायातः प्रफुल्ल इव राजते ॥ ४४ ॥
प्रशान्तमोहदारिद्र्यो दुराशादोषसंक्षये ।
विवेकधनसंभारान् स्थितोऽस्मि परमेश्वरः ॥ ४५ ॥
ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं दृष्टं द्रष्टव्यदृष्टयः ।
तत्प्राप्तमधुना येन नाऽप्राप्तमवशिष्यते ॥ ४६ ॥
दिष्ट्या दूरोज्झितानर्थामपेतविषयोरगाम् ।
संशान्तमोहनीहारां शान्तशामृगतृष्णिकाम् ॥ ४७ ॥
रजोरहितसर्वाशां शीतलोपशमद्रुमाम् ।
प्राप्तोऽस्मि विततां भूमिमुन्नतां पारमार्थिकीम् ॥ ४८ ॥
स्तुत्या प्रणत्या विज्ञप्त्या शमेन नियमेन च ।
लब्धोऽयं भगवानात्मा दृष्टश्चाऽधिगतः स्फुटम् ॥ ४९ ॥
अहङ्कारपदातीतश्चिरात् संस्मृतिमागतः ।
स्वभावाद् भगवानात्मा विष्णोर्ब्रह्म सनातनम् ॥ ५० ॥

है ॥ ४३ ॥

अहङ्काररूपी यक्ष से विहीन यह मेरा शरीररूपी महावृक्ष अत्यन्त पवित्रता को प्राप्त कर प्रफुल्लित वृक्ष के समान सुशोभित हो रहा है ॥ ४४ ॥

दुराशारूपी दोष का नाश होने पर विवेकरूपी धन-समृद्धि को प्राप्त कर मेरी मोहरूपी दरिद्रता नष्ट हो चुकी है, मैं परमेश्वररूप से स्थित हूँ ॥ ४५ ॥

मैंने ज्ञातव्य सब कुछ जान लिया है द्रष्टव्य सब कुछ देख लिया है। इस समय मुझे वह वस्तु प्राप्त है, जिससे कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता है ॥ ४६ ॥

मैं अनर्थों के नाम-निशान से रहित ऊँची और विस्तृत पारमार्थिक भूमि को, प्राप्त किया है जहाँ विषयरूपी साँप नहीं रह गये हैं और आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है ॥ ४७ ॥

मोहरूपी कुहरा नष्ट हो गया है, जिसकी चारों दिशाएँ धूलि से रहित हैं और जिसमें शीतल शान्तिरूपी वृक्ष है उसको प्राप्त कर चुका हूँ ॥ ४८ ॥

भगवान् विष्णु की स्तुति से, प्रणाम से, प्रार्थना से, श्रम और नियम से मैं भगवान् आत्मा को पा चुका हूँ और मैंने इसे भली-भाँति जान लिया है ॥ ४९ ॥

भगवान् विष्णु के अनुग्रह से अहङ्कार शून्य अविनाशी ब्रह्मरूप भगवान् आत्मा, चिर काल से स्मृतिपटल पर आरूढ़ हो गया है ॥ ५० ॥

इन्द्रियोरगगर्तेषु मरणश्वभ्रभूमिषु ।
तृष्णाकरञ्जकुञ्जेषु कामकोलाहलेषु च ॥ ५१ ॥
वासनावनजालेषु जन्मकूपान्तरेषु च ।
दुःखदावाग्निदाहेषु दुःखदावाग्निहारिषु ॥ ५२ ॥
पातोत्पातदशालक्षैर्मज्जनोन्मज्जनभ्रमैः ।
आविर्भावतिरोभावैराशापाशविचेष्टनैः ॥ ५३ ॥
अहं चिरमहङ्कारद्विषा समवमोषितः ।
निशायामल्पवीर्यात्मा पिशाचेनेव जङ्गले ॥ ५४ ॥
स्वयमेव त्वयेदानीं क्रियाशक्त्या स्वयैव हि ।
शौरिणा व्यपदेशेन विवेकश्रीर्विबोधिता ॥ ५५ ॥
प्रबुद्धे भवतीशाने तमहङ्काररराक्षसम् ।
न पश्यामि नभोदीपे ज्वलिते तिमिरं यथा ॥ ५६ ॥
तस्याऽहङ्कारयक्षस्य मनोविवरवासिनः ।
दीपस्येव प्रशान्तस्य न वेद्मि गतिमीश्वरः ॥ ५७ ॥
दृष्ट एव त्वयीशाने पलायनपरायणः ।
संपन्नो मदहङ्कारश्चौरः सूर्योदये यथा ॥ ५८ ॥
असदभ्युत्थिते तस्मिन्नहङ्कारे पिशाचवत् ।
गते तिष्ठाम्यहं स्वस्थो निर्गोनस इव द्रुमः ॥ ५९ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि जगत्यस्मिन् प्रबोधवान् ।
तस्करेणोज्झितोऽस्मीति निर्वृतोऽस्मि चिरोदयम् ॥६०॥
शैत्यमभ्यागतोऽस्म्यन्तः शान्ताशामृगतृष्णिकः ।
प्रावृडम्बुभरस्नातः शान्तदाव इवाऽचलः ॥ ६१ ॥
प्रमार्जितेऽहमित्यस्मिन् पदे स्वार्थविचारतः ।
को मोहः कानि दुःखानि काः कदाशाः क आधयः ॥६२॥
नरकस्वर्गमोक्षादिभ्रमाः सत्यामहङ्कृतौ ।
भित्तावेव प्रवर्तन्ते चित्रेहा न नभस्तले ॥ ६३ ॥
अहङ्कारकलापित्ते चित्ते ज्ञानचमत्कृतिः ।
न राजतेऽशुके म्लाने यथा कुङ्कुमरञ्जना ॥ ६४ ॥
निरहङ्कारजलदे तृष्णासारविवर्जिते ।
भाति चित्तशरद्व्योम्नि स्वच्छता कान्तिशालिनी ॥६५॥

वासना रूपी घोर वनों में, इन्द्रिय रूपी साँपों के अनेक बिल में मरण रूपी बड़े-बड़े गड्ढों में काम के कोलाहल से पूर्ण तृष्णा रूपी करञ्जों की झाँड़ियों में जिनमें दुःख रूपी धधकती वनाग्नियों में तथा दुःखदायी वनाग्नि के सदृश क्रूर परधन-प्राण हरने वाले हैं, अहङ्कार-रूपी शत्रु ने नीचे गिरने और ऊपर चढ़ने के तुल्य लाखों विपत्ति और सम्पत्तियों से, अधोगति और उत्तमगतियों से, आविर्भाव और तिरोभाव से एवं आशा-पाशों की विविध चेष्टाओं द्वारा मुझे ऐसे ही सर्वस्वहरण द्वारा पीड़ित किया, जैसे कि रात्रि के समय अल्प बल वाले पुरुष को जंगल में पिशाच पीड़ित करता है ॥५१-५४ ॥

मैंने इस समय प्रसन्न हुए विष्णु भगवान् के बहाने अपनी ही क्रियाशक्ति से स्वयं विवेक को उद्दीप्त कर लिया है ॥ ५५ ॥

विवेक से परमेश्वर आत्मा के प्रबुद्ध होने पर मैं उस अहङ्काररूपी पिशाच को वैसे ही नहीं देख रहा हूँ जैसे सूर्य के उदित होने पर अन्धकार नहीं दिखाई देता है ॥५६॥

मनरूपी बिल में निवास करनेवाले उस अहङ्काररूपी पिशाच की गति को परमेश्वररूप मैं वैसे ही नहीं जानता हूँ जैसे बुझे हुए दीपक की गति नहीं होती है ॥ ५७ ॥

ईश्वररूपी आपका साक्षात्कार होते ही मेरा अहङ्कार भागने के लिए वैसे ही तत्पर हो गया जैसे सूर्योदय होने पर चोर भागने की तैयारी करता है ॥ ५८ ॥

पिशाच की तरह भ्रान्तिवश मिथ्या उदित अहङ्कार के चले जाने पर मैं भागे हुए अजगर वाले उस बगीचे के समान स्वस्थ होकर बैठा हूँ ॥ ५९ ॥

इस जगत् में ज्ञानवान् मैं अहङ्कार रूपी चोर से छुटकारा पा चुका हूँ और चिरकाल से निर्वृत्त हुआ हूँ यह सोचकर मैं विश्रान्ति को प्राप्त कर रहा हूँ और निर्वाण को प्राप्त कर रहा हूँ ॥ ६० ॥

वर्षा ऋतु की जल-राशि से सींचे गये वनाग्नि की लपटों से रहित पर्वत के समान मैंने हृदय में शीतलता को प्राप्त कर लिया है। मेरी आशा रूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है ॥ ६१ ॥

आत्मतत्त्व के विचार से अहङ्कार के परिमार्जित होने पर कौन मोह है, क्या दुःख है, क्या तुच्छ आशाएँ हैं और कौन मानसिक चिन्ताएँ हैं ॥ ६२ ॥

अहङ्कार के रहते ही नरक, स्वर्ग, मोक्ष आदि भ्रम वैसे ही होते हैं। जैसे चित्र निर्माण की चेष्टा भीत में ही होती है आकाश में नहीं होती ॥ ६३ ॥

चित्त में अहङ्कारावेश रूपी पित्तज उन्माद के रहने पर ज्ञान चमत्कार वैसे ही शोभित नहीं होता है जैसे वस्त्र के मलिन होने पर उसमें कुङ्कुम का रंग शोभित नहीं होता ॥ ६४ ॥

अहङ्कार रूपी मेघ से रहित तृष्णा रूपी मूसलाधार वृष्टि से शून्य चित्त रूपी शरत्कालीन आकाश में आत्मा रूपी चन्द्रमा के प्रकाश से शोभित होने वाली निर्मलता शोभित होती है ॥ ६५ ॥

निरहङ्कारपङ्काय संप्रसन्नान्तराय च ।
महामानन्दसरसे तुभ्यमात्मन्नमो नमः ॥ ६६ ॥
शान्तेन्द्रियोग्रग्राहाय क्षीणचित्तौर्ववह्नये ।
आनन्दाम्बुधये तुभ्यं महामात्मन्नमो नमः ॥ ६७ ॥
गताहङ्कारमेघाय शान्ताशादाववह्नये ।
महामानन्दशैलाय विश्रान्ताय नमो नमः ॥ ६८ ॥
प्रफुल्लानन्दपद्माय शान्तचिन्तामयोर्मये ।
महां सन्मानसायाऽऽत्मंस्तुभ्यमन्तर्नमो नमः ॥ ६९ ॥
संविदाभासपक्षाय पद्मकोटरवासिने ।
सर्वमानसहंसाय स्वात्मनेऽन्तर्नमो नमः ॥ ७० ॥
कलाकलितरूपाय निष्कलायाऽमृतात्मने ।
सदोदिताय पूर्णात्मन् शशिने ते नमो नमः ॥ ७१ ॥
सदोदिताय शान्ताय महाहृद्ध्वान्तहारिणे ।

हे आत्मन् ! अहङ्कार रूपी कीचड़ से रहित अत्यन्त प्रसन्न आनन्द के सरोवर प्रत्यगात्म रूप तुम्हारे लिए बार-बार नमस्कार है ॥ ६६ ॥

हे आत्मन् ! जिसके इन्द्रिय रूपी भयंकर मगर शान्त हो गये हैं, जिसका चित्त रूपी बड़वानल नष्ट हो गया ऐसे आनन्द के सागर प्रत्यगात्म रूप तुम्हारे लिए बार-बार नमस्कार है ॥ ६७ ॥

जिससे अहङ्कार रूप मेघ चला गया है और आशा रूपी वनग्नि जिसमें शान्त हो चुकीं ऐसे निश्चल आनन्द पर्वत रूप प्रत्यगात्म ब्रह्म को पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ६८ ॥

हे आत्मन् ! जिसमें आनन्द रूपी कमल खिले हैं और चिन्ता रूपी लहरें शान्त हो चुकी हैं ऐसे सुन्दर मानसरोवर रूप प्रत्यगात्मभूत तुम्हारे लिए पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ६९ ॥

बुद्धि और उसकी वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जिसके पक्ष है, जो हृदय कमल के मध्य में निवास करता है और जो मानसरोवर में हंस के समान सब के मन का हंस रूप है ऐसे आत्मा के लिए बारबार नमस्कार है ॥ ७० ॥

अमृत कलाओं से जिसने अपने रूप की कल्पना की है, वस्तुतः जो निरवयव है, सदा उदित अमृत रूपी चन्द्र रूप आपके लिए बारबार नमस्कार है ॥ ७१ ॥

सदा उदित, शान्त हृदय के महान् अज्ञान का नाश करने वाले, सर्वव्यापी होने पर भी अदृश्य, चैतन्य रूपी

सर्वगायाऽप्यदृश्याय चित्सूर्याय नमो नमः ॥ ७२ ॥
अस्नेहस्नेहदीपाय वृत्तिनिष्क्रान्तवर्तिने ।
स्वभावाधारधीराय चिद्दीपाय नमो नमः ॥ ७३ ॥
मदनानलसंतप्तं शीतेन मनसा मनः ।
भग्नमन्तर्मया तप्तमयसेव बलादयः ॥ ७४ ॥
इन्द्रियेणेन्द्रियं छित्त्वा छित्त्वा च मनसा मनः ।
अहङ्कृतिमहङ्कृत्या छित्त्वा शेषो जयाम्यहम् ॥ ७५ ॥
भावेनाऽभावमाच्छिद्य हित्वा तृष्णामतृष्णया ।
निष्पिष्य प्रज्ञयाऽप्रज्ञां ज्ञोऽज्ञः सत्योऽसि ते नमः ॥७६॥
मनसा मनसि च्छिन्ने निरहङ्कारतां गते ।
भावेन गलिते भावे स्वच्छस्तिष्ठामि केवलः ॥ ७७ ॥
निर्भावं निरहंकारं निर्मनस्कमनीहितम् ।
केवलं स्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे वपुः ॥ ७८ ॥

सूर्य के लिए पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ७२ ॥

तेल रहित परम प्रेम को उद्दीप्त करने वाले, वृत्ति द्वारा निष्क्रमण रूप बत्ती से सम्पन्न, सब वस्तुओं के स्वभाव के आधाररूप बुद्धिप्रकाशक चैतन्य रूप दीपक लिए बारबार नमस्कार है ॥ ७३ ॥

शम, दम आदि से युक्त मन से कामाग्नि से सन्तप्त मन को मैंने हटात् वैसे ही नष्ट कर दिया है जैसे लोहे के घन वे तपा हुआ लोहा टूट जाता है ॥ ७४ ॥

प्रत्यगात्मोन्मुख चक्षु आदि इन्द्रियों से बाह्य पदार्थोन्मुख इन्द्रियों को नष्ट कर, प्रत्यगात्मोन्मुख मन से बाह्य पदार्थोन्मुख मन का उच्छेद कर और प्रत्यगात्मोन्मुख अहंकार से बाह्य पदार्थोन्मुख अहंकार का उच्छेदकर अवशिष्ट चिन्मात्र मैं सर्वोत्कृष्ट रूप से स्थित हूँ ॥७५॥

श्रद्धा से अश्रद्धा का उच्छेद कर, अतृष्णा से तृष्णा का त्याग कर, ऊहापोहवती बुद्धि से अविचार, सन्देह आदि रूप अप्रज्ञा का विनाश कर ज्ञातृत्वाभिमानशून्य ज्ञान मात्र स्वभाव प्रत्यक् चैतन्य रूप तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥ ७६ ॥

मन से उच्छिन्न मन के निरहङ्कार होने पर तथा ब्रह्माहंभाव से देहादि में अहंभाव के विनष्ट होने पर केवल स्वच्छ चिन्मात्र स्वभाव मैं रहता हूँ ॥ ७७ ॥

भावना में हेतुभूत बुद्धि से रहित, अहंकार रहित, मन रहित, इच्छाहेतुभूत चित्त से शून्य मेरा शरीर एक मात्र प्राणनक्रिया से शुद्ध स्वरूप वाले जीवन्मुक्त आत्मा में ही अवस्थित है ॥ ७८ ॥

हेलानुकम्पितानन्तविश्वेशादतिशायिनी ।
परमोपशमोपेता जातेयं मम निर्वृतिः ॥ ७९ ॥
प्रशान्तमोहवेतालो गताहङ्काररराक्षसः ।
कदाशारूपिकोन्मुक्तो जातोऽस्मि विगतज्वरः ॥ ८० ॥
तृष्णारज्जुगुणं छित्त्वा मच्छरीरकपञ्जरात् ।
न जाने क्व गतोड्डीय दुरहङ्कृतिपक्षिणी ॥ ८१ ॥
उद्धूलिते घनाज्ञानकुलाये कायपादपात् ।
न जाने गत उड्डीय क्वाऽहंभावविहङ्गमः ॥ ८२ ॥
दुराशादीर्घदौरात्म्यधूसराभोगभस्मना ।
भयभोगिहिता दिष्ट्या भूयस्यो वासनाः क्षताः ॥ ८३ ॥
एतावन्तमहं कालं कोऽभूवं चित्रमीदृशम् ।
येनाऽहमेष मिथ्यैव दृढाहङ्कारतां गतः ॥ ८४ ॥
अद्याऽहमस्मि जातोऽयमहमद्य महामतिः ।
अहङ्कारमहाभ्रेण यत्क्षणेनाऽलमुज्झितः ॥ ८५ ॥
दृष्टोऽयमात्मा भगवांस्तथैवाऽधिगतो मया ।
आलब्धश्चाऽनुभूतोऽङ्गं स्वानुभूतौ नियोजिताः ॥ ८६ ॥
गतास्पदं गतमननं गतैषणं
तिरस्कृतं निपुणमहङ्कृतिभ्रमैः ।
निरीहितं व्यपगतरागरञ्जनं
विकौतुकं प्रशममिदं गतं मनः ॥ ८७ ॥
दुरुत्तराः समविषमा महापदः
सुदुःसहाः प्रभवनदीर्घदोषदाः ।
गताः क्षयं समधिगतो महेश्वर-
श्चिदद्वयोऽपगतमचित्त्वमन्तरे ॥ ८८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
ब्रह्मात्मलाभचिन्ता नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

लीला से ही भोग-ऐश्वर्य दान द्वारा अपने अनन्त भक्तों पर अनुग्रह करने वाले ब्रह्मा, विष्णु आदि से भी उत्कृष्ट निरतिशयानन्द परम शान्तिमय विश्रान्ति, मुझे प्राप्त हो गई ॥ ७९ ॥

मेरा मोह रूपी वेताल शान्त हो चुका है, अहङ्कार रूपी राक्षस मुझको छोड़कर गया है और कुत्सित आशा रूपी पिशाचिनी से मैं उन्मुक्त हूँ, मैं सन्तापरहित हूँ ॥ ८० ॥

तृष्णा रूपी रस्सी को तोड़ कर दुरहङ्कार रूपी चिड़िया मेरे शरीर रूपी पञ्जर से उड़कर न जाने कहाँ चली गई है ॥ ८१ ॥

निविड़ अज्ञान रूपी घोंसले के ज्ञानाभ्यासवश चूर-चूर करके उड़ा देने पर अहंभाव रूपी पक्षी मेरे शरीर रूपी वृक्ष से उड़कर न मालूम कहाँ चला गया है ॥८२॥

दुराशाओं से और लम्बे काल से दुष्ट देह आदि में आत्मत्व के अभिमान से मलिन और भयरूपी सर्पों के लिए हितैषी बहुत-सी मेरी दुर्वासनाएँ समाधि से उच्छिन्न हो गई हैं ॥ ८३ ॥

इतने समय तक मैं कौन हुआ ? जिससे यह मिथ्या ही दृढ़ अहंकारता को प्राप्त कर लिया था कैसा आश्चर्य है ॥ ८४ ॥

आज मैं अनुभव में आ रहे निरतिशयानन्द स्वभाव वाला हूँ । मेरी साक्षात्कार वृत्ति अपरिच्छिन्न ब्रह्माकारा है, अहंकार रूपी काले बादल ने मेरा सर्वथा त्याग कर दिया है ॥ ८५ ॥

मैंने भगवान् आत्मा का वाक्य-प्रमाण से दर्शन कर लिया है और उनका मनन से ज्ञान भी कर लिया । समाधि में मन से श्लेषपूर्वक उन्हें पा लिया है और समाधि में उनका अनुभव कर लिया है और शरीर के समान सदा अनुभूति में उनका नियोग भी कर लिया है ॥ ८६ ॥

विषय रहित, मनन और एषणा रहित, अहंकार भ्रमों से सर्वथा मुक्त निश्चेष्ट, रागों के सम्पर्क से रहित और भोगोत्कण्ठा से शून्य मेरा मन कष्टरहित अग्नि के समान शान्ति को प्राप्त है ॥ ८७ ॥

विविध योनियों में जिनको पार नहीं किया जा सकता है ऐसी चिर काल तक एकमात्र दुःखरूप, क्षण-प्रतिक्षण में विचित्र दुःखरूप, असह्य, दुस्तर बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ नष्ट हो गई हैं और चैतन्यघन अद्वितीय पूर्णानन्द आत्मा महेश्वर प्राप्त हो गया है, प्रत्यगात्मा में अज्ञान ज्ञान से बाधित हो चुका है ॥ ८८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में ब्रह्मात्मलाभचिन्ता नामक कुसुमलता का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥

३६

प्रह्लाद उवाच

आत्मा सर्वपदातीतश्चिरात् संस्मृतिमागतः ।
दिष्ट्या लब्धोऽसि भगवन्नमस्तेऽस्तु महात्मने ॥ १ ॥
अभिवन्द्याऽथ चाऽऽलोक्य चिरमालिङ्ग्यसे मया ।
कोऽन्यः स्यात्त्वदृते बन्धुर्भगवन् ! भुवनत्रये ॥ २ ॥
हंसि पासि ददासि त्वं स्तौषि यासि विवल्गसि ।
अयं प्राप्तोऽसि दृष्टोऽसि किं करोषि क्व गच्छसि ॥ ३ ॥
स्वसत्तापूरिताशेषविश्व विश्वजनीन भोः ।
सर्वत्र लक्ष्यसे नित्यमधुना क्व पलायसे ॥ ४ ॥
आवयोरन्तरं भूरिजन्मव्यवहितान्तरम् ।
अदूरमद्य संपन्नं दिष्ट्या दृष्टोऽसि बान्धव ! ॥ ५ ॥
नमस्ते कृतकृत्याय कर्त्रे भर्त्रे नमोऽस्तु ते ।
नमः संसारवृन्ताय नित्याय विमलात्मने ॥ ६ ॥
नमश्चक्राब्जहस्ताय नमश्चन्द्रार्धधारिणे ।
नमो विबुधनाथाय नमस्ते पद्मजन्मने ॥ ७ ॥
वाच्यवाचकदृष्ट्यैव भेदो योऽयमिहाऽऽवयोः ।
असत्या कल्पनैवेषा वीचिवीच्यम्भसोरिव ॥ ८ ॥
त्वमेवाऽनन्तयाऽनन्तवस्तुवैचित्र्यरूपया ।
भावाभावविलासिन्या नित्ययैव विजृम्भसे ॥ ९ ॥
नमो द्रष्ट्रे नमः स्रष्ट्रे नमोऽनन्तविकासिने ।
नमः सर्वस्वभावाय नमस्ते सर्वगात्मने॥ १० ॥
प्रतिजन्म चिरं बह्वधो दीर्घदुःखवता मया ।
त्वया मयोपदिष्टेन दग्धेनाऽपहतौजसा ॥ ११ ॥
आलोकिता लोकदृशो दृष्टा दृष्टान्तदृष्टयः ।
न प्राप्तस्तत्त्वयाऽनेन किंचिदासादितं भवेत् ॥ १२ ॥

३६

प्रह्लाद ने कहा'—हे भगवन् ! सुखोत्कर्ष के स्थानों से भी बढ़ कर आनन्द रूप प्रत्यगात्मा चिर काल से मेरी स्मृति पर आरूढ़ है। तुम भाग्य से मुझे प्राप्त हो। परिच्छिन्न स्वभाव वाले तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥१॥

हे भगवन् ! दर्शन कर प्रणाम कर के चिर काल तक समाधि में क्षीर-नीर की तरह सम्मिलित रूप से मेरे द्वारा आपका आलिङ्गन किया जाता है। तीनों भुवनों में तुम्हारे सिवा मेरा कौन परम प्रिय होगा ? ॥ २ ॥

तुम अभक्तों का नाश करते हो और भक्तों की रक्षा करते हो, आराधित होकर वरदान देते हो, स्तुतिकर्ता आदि के रूप से स्तुति करते हो, गमनकर्ता के रूप से चलते हो और सर्व रूप से व्यवहार करते हो। मैंने तो यह नित्य अपरोक्ष स्वभाव आत्मा पा लिया है और देख लिया है। अब मेरे प्रति क्या करते हो अथवा कहाँ जाते हो ? ॥ ३ ॥

हे विश्वजनीन ! आपने अपनी सत्ता से सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया है, सदा सब जगह आप दिखाई देते हैं। अब इस समय आप कहाँ भाग रहे हैं ॥ ४ ॥

हे बान्धव ! बहुत से जन्मों से व्यवहित अज्ञान हम दोनों का व्यवधायक था। आज उसका नाश होने से अत्यन्त अभेद रूप समीपता उत्पन्न हो गई है। बड़े भाग्य से मैंने आपको देखा है ॥ ५ ॥

कृतकृत्य आपको नमस्कार है, कर्ता आपको नमस्कार है, सबका भरण-पोषण करने वाले हैं आपको बार-बार नमस्कार है। आप संसार रूपी पत्ते के वृन्त रूप, नित्य और निर्मल हैं, आपके लिए नमस्कार है ॥६॥

हाथ में चक्र और कमल धारण करने वाले आपको नमस्कार है। अर्धचन्द्र धारण करने वाले शिव रूप आप को नमस्कार है। देवताओं के अधिपति आपको नमस्कार है। कमलयोनि आपको नमस्कार है ॥ ७ ॥

व्यवहार दृष्टि से हम दोनों का लहर और लहर के जल के समान यह भेद असत्य कल्पना ही है ॥ ८ ॥

भाव और अभावों से विलसित होने वाली, अत्यन्त वस्तुओं की विचित्रता से पूर्ण स्वरूप वाली अत्यन्त कल्पना से आप ही विस्तार को प्राप्त हैं ॥ ९ ॥

द्रष्टा आपको नमस्कार है सृष्टि करने वाले आपको नमस्कार है और अनन्त रूपों से विकास को प्राप्त होने वाले आपके लिए नमस्कार है सर्वव्यापी आपके लिए नमस्कार है ॥ १० ॥

मैंने प्रत्येक जन्म में चिर काल तक ऊपर, नीचे और मध्य लोकों में बहुत से संसार भ्रम देखे यथा उनमें विवेक के अनुकूल दृष्टान्त-दृष्टियाँ देखीं। उस बहिर्लोक के दर्शन से आपने अपने को प्राप्त नहीं किया। तीनों लोकों के दर्शन से तनिक भी पुरुषार्थ रूप प्राप्त नहीं हुआ ॥ ११, १२ ॥

सर्वं मृत्काष्ठपाषाणवारिमात्रमिदं जगत् ।
नेहाऽस्ति त्वदृते देव ! यत्प्राप्तौ नाऽभिवाञ्छति ॥१३॥
देवाऽयमद्य लब्धोऽसि दृष्टोऽस्यधिगतोऽसि च ।
संप्राप्तोऽसि गृहीतोऽसि नमस्तेऽस्तु न मुह्यसि ॥ १४ ॥
योऽक्ष्णोः कनीनिकारश्मिजालप्रोतवपुः स्थितः ।
देव ! दर्शनरूपेण कथं सोऽत्र न दृश्यते ॥ १५ ॥
यस्त्वक्स्पर्शौ स्पृशन् सर्वं गन्धं तैलं तिले यथा ।
स्पर्शमन्तः करोत्येष स कथं नाऽनुभूयते ॥ १६ ॥
यः शब्दश्रवणादन्तः शब्दशक्तिं परामृशन् ।
रोमाञ्चं जनयत्यङ्गे स दूरस्थः कथं भवेत् ॥ १७ ॥
जिह्वापल्लवलग्नानि स्वदितस्याऽग्रतोऽपि च ।
स्वदन्ते यस्य वस्तूनि स्वदते स न कस्य च ॥ १८ ॥
पुष्पगन्धानुपादाय घ्राणहस्तेन देहकम् ।

हे देव ! सारा जगत् मिट्टी, काष्ठ, पत्थर और जलमात्र है । जिसकी प्राप्ति होने पर पुरुषार्थेच्छा पूर्ण होती है, ऐसी वस्तु आपके सिवा इस जगत् में दूसरी नहीं है ॥ १३ ॥

हे देव ! आज यह तुम मुझे मिल गये हो, मैंने देख लिया है और तुम्हारा स्वरूपपरिज्ञान हो गया है । तुम्हारी प्राप्ति हो गई है, तुम्हें मैंने ग्रहण कर लिया है, तुम मोहशून्य हो गये हो, तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥ १४ ॥

हे देव ! अन्तःकरण के चक्षु द्वारा घटादिदेशनिर्गमन में घटावच्छिन्न चैतन्य रूप जो नेत्र की पुतली की किरणों से ओतप्रोत शरीर होकर स्थिति है, वह यहाँ पर दर्शन रूप से कैसे नहीं दिखाई देता है ? ॥ १५ ॥

जो त्वचा और उष्णत्व आदि स्पर्श को स्पार्शन वृत्ति से व्याप्त कर शीत आदि स्पर्श को व्याप्त कर वैसे ही प्रकाशित करता है, जैसे तिल के अन्तर्गत तेल तिल से मिले हुए पुष्पों की सुगन्ध ग्रहण करता है, वह कैसे अनुभूत नहीं होता ? ॥ १६ ॥

जो शब्द सुनने से शब्दशक्ति को प्रकाशित कर शरीर में रोमांच पैदा करता है, वह दूरवर्ती कैसे हो सकता है ॥ १७ ॥

जिह्वा रूपी पल्लव में संलग्न मीठी, खट्टी आदि वस्तुएँ प्रेम के स्वादिष्ट किसको सुख रूप से वह स्फुरित नहीं होता ॥ १८ ॥

हाथ के समान वस्तु के ग्रहण में कारणभूत घ्राणेन्द्रिय

य आलोकयति प्रीत्या कस्याऽसौ न करे स्थितः ॥१९॥
वेदवेदान्तसिद्धान्ततर्कपौराणगीतिभिः ।
यो गीतः स कथं ह्यात्मा विज्ञातो याति विस्मृतिम् ।२०।
सैवेह देहभोगाली सुभगापीयमद्य मे ।
अन्तर्न स्वदते स्वच्छे त्वयि दृष्टे परावरे ॥ २१ ॥
त्वया विमलदीपेन भानुः प्रकटतां गतः ।
त्वया शीततुषारेण चन्द्रः शिशिरतां गतः ॥ २२ ॥
त्वयैते गुरवः शैलास्त्वयैते द्युचरा धृताः ।
त्वयैवेयं धरा धीरा त्वयैवाऽम्बरमम्बरम् ॥ २३ ॥
दिष्ट्या मत्तामसि प्राप्तो दिष्ट्या त्वत्तामहं गतः ।
अहं त्वं त्वमहं देव ! दिष्ट्या भेदोऽस्ति नाऽऽवयोः ॥२४॥
अहं त्वमिति शब्दाभ्यां पर्यायाभ्यां महात्मनः ।
तव वा मम वा शाखासंयुक्ताभ्यां नमो नमः ॥ २५ ॥

से गले में डाली हुई माला के फूलों की सुगन्ध ग्रहण कर माला से अलङ्कृत अपने शरीर को प्रसन्नता से देखने पर वह किसको हाथ में स्थित की तरह स्पष्ट प्रत्यक्ष नहीं है ॥ १९ ॥

वेद-वेदान्त के सिद्धान्त, तर्क, पुराण के गीत आदि से जिनका वर्णन हुआ वह विज्ञात आत्मा कैसे विस्मृत हो सकता है ? ॥ २० ॥

स्वच्छ परब्रह्म परमात्म रूप आपका साक्षात्कार होने पर सुन्दर देह के भोग आज मुझे पहले के समान अच्छे नहीं लगते ॥ २१ ॥

निर्मल दीप रूप तुम से सूर्य प्रकाशित शीतल हिम रूप तुम से चन्द्रमा शीतल है ॥ २२ ॥

ये पर्वत तुम्हारे द्वारा ही भार युक्त हैं, ये वायु आदि आकाशचारी तुम से धारण किये गये हैं, यह पृथिवी तुम्हारे द्वारा ही अचल है और यह आकाश तुम्हारे द्वारा ही अवकाश देने वाला है ॥ २३ ॥

हे देव ! भाग्य से तुम मेरी आत्मस्वरूपता को प्राप्त हो गये हो और भाग्य से मैं त्वत्स्वरूपता को प्राप्त हो गया हूँ । मैं तुम हूँ और तुम मैं हो । बड़े भाग्य की बात है हम लोगों का भेद नहीं रह गया है ॥ २४ ॥

लक्ष्य महात्मा के बोधन में पर्यायरूप, मेरे शाखा के समान एकदेशभूत उपाधि द्वारा भेदकल्पन से संयुक्त त्वम् और अहं शब्दों के लिए पुनः-पुनः नमस्कार है ॥ २५ ॥

नमो मह्यमनन्ताय निरहंकाररूपिणे ।
नमो मह्यमरूपाय नमः समसमात्मने ॥ २६ ॥
मय्यात्मनि समे स्वच्छे साक्षिभूते निराकृतौ ।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने स्वात्मन्येवेह तिष्ठसि ॥ २७ ॥
मनः प्रक्षोभमायाति स्फुरन्तीन्द्रियवृत्तयः ।
शक्तिरुल्लसति स्फारा प्राणापानप्रवाहिनी ॥ २८ ॥
वहन्ति देहयन्त्राणि कृष्टान्याशावरत्रया ।
चर्ममांसास्थिदिग्धानि मनःसारथिमन्ति च ॥ २९ ॥
अयं संविद्वपुरहं न काचिन्न कृतास्पदः ।
देहः पततु वोदेतु यथाभिमतयेच्छया ॥ ३० ॥
चिरादहमहं जातः स्वात्मलाभश्चिरादयम् ।
चिराडुपशमं याति कल्पस्याऽन्ते जगद्यथा ॥ ३१ ॥
चिरात् संसारगामित्वाद्दीर्घे संसारवर्त्मनि ।
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तः कल्पस्याऽन्त इवाऽनलः ।३२।

अनन्त मुझे प्रत्यगात्म रूप के लिए नमस्कार है, अत्यन्त सब स्वरूप के लिए नमस्कार है, अहंकार रहित या रूपरहित मुझ प्रत्यगात्मा के लिए नमस्कार है ॥२६॥

सम, निर्मल, निराकार साक्षिभूत, दिशा, काल आदि से अनवच्छिन्न स्वात्मरूप मुझ प्रत्यक् स्वभाव में आप रहते हैं कभी-भी पराक् स्वभाव में नहीं रहते ॥ २७ ॥

आप से प्रेरित मन क्षुब्ध होता है, आपकी प्रेरणा से चक्षु आदि इन्द्रियों की वृत्तियाँ स्फुरित होती है, प्राण और अपान में प्रवाहित होने वाली प्रचुर शक्ति उल्लासित होती हैं ॥ २८ ॥

आशा रूपी रस्सी से खींचे गये, चर्म, मांस और हड्डियों से व्याप्त एवं मन रूपी सारिथ से युक्त शरीर रूपी यन्त्र आप से प्रेरित होकर चलते हैं ॥ २९ ॥

यह मैं संवित् देह ही हूँ, न तो मैं कोई प्राण न आदि शक्ति हूँ और न देह में स्थित अहङ्कार आदि ही हूँ । देह अपने इच्छानुसार चाहे गिरे चाहे उदित हो, उससे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ ३० ॥

मैं चिर काल से मैं 'मैं' हुआ हूँ, चिर काल से मुझे मेरा स्वरूप लाभ हुआ है । चिर काल से भ्रम वैसे ही शान्ति को प्राप्त होता है जैसे प्रलय के अन्त में प्रलयाग्नि शान्त होती है ॥ ३१ ॥

चिर काल से संसार में भ्रमणशील होने के कारण इतने काल तक दीर्घ संसार मार्ग में थका हुआ मैं इस समय विश्राम को वैसे ही प्राप्त हुआ हूँ जैसे प्रलय के अन्त में प्रलयाग्नि श्रान्त होकर विश्राम को प्राप्त होती है ॥ ३२ ॥

सर्वातीताय सर्वाय तुभ्यं मह्यं नमो नमः ।
तेभ्योऽपि च नमस्तेऽस्तु ये मां त्वां प्रवदन्ति च ॥३३॥
अखिलानन्तसंभोगा न स्पृष्टा दोषवृत्तिभिः ।
जयत्यकृतसंरम्भा साक्षिता परमात्मनः ॥ ३४ ॥
आत्मन् पुष्प इवाऽऽमोदो भस्त्रापिण्ड इवाऽनिलः ।
तिले तैलमिवास्मिंस्त्वं सर्वत्र वपुषि स्थितः ॥ ३५ ॥
हंसि पासि ददासि त्वमवस्फूर्जसि वल्गसि ।
अनहंकृतिरूपोऽपि चित्रेयं तव मायिता ॥ ३६ ॥
जयामीशज्वलद्दीप्तिः सर्वमुन्मीलयञ्जगत् ।
जयाम्युपरतारम्भो जगद् भूयो निमीलयन् ॥ ३७ ॥
परमाणोस्तवैवाऽन्तरिदं संसारमण्डलम् ।
वटत्वं वटधानायां बभूवाऽस्ति भविष्यति ॥ ३८ ॥
हयद्विपरथाकारैर्यद्वत् खे दृश्यतेऽम्बुदः ।
तद्वदालोक्यसे देव ! पदार्थशतविभ्रमैः ॥ ३९ ॥

सबसे परे सर्वरूप त्वत्स्वरूप मेरे लिए नमस्कार है । जो गुरु अथवा वेदान्त तुमको मद्रूप कहते हैं, उनके लिए भी नमस्कार है ॥ ३३ ॥

जिससे अनन्त भोग प्रकाश्य हैं, फिर भी दोषवृत्तियों से स्पृष्ट नहीं है और उदासीन है, ऐसी परमात्मा की साक्षिता सर्वोत्कृष्ट रूप से विद्यमान है ॥ ३४ ॥

हे आत्मन् ! फूलों में सुगन्ध की तरह, धौंकनी में वायु की तरह तथा तिलों में तेल की तरह इस शरीर में सब जगह आप ही साररूप हैं ॥ ३५ ॥

निरहंकार रूप होते हुए आप दुष्टों का नाश करते हैं, सज्जनों की रक्षा करते हैं, भक्तों को वरदान देते हैं, गर्जन करते हैं और व्यवहार करते हैं, यह आपकी मायावत्ता बड़ी विचित्र है ॥ ३६ ॥

चिदात्म रूप से बाहर-भीतर पदार्थों के प्रकाश द्वारा प्रदीप्त मैं जीव रूप से प्रवेश कर नाम रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् की रचना करना तुम्हारे ही स्वरूप से उसे वशीभूत करके पालता हूँ । प्रलय काल में मैं फिर जगत् का उपसंहार तुम्हारे स्वरूप से ही उसका अभिभव करता हूँ ॥ ३७ ॥

परमाणु रूप आपके अन्दर यह संसार-मण्डाल वैसे ही था, है और होगा । जैसे वट के बीज के अन्दर वटता पहले थी, है और होगी ॥ ३८ ॥

हे देव ! आप भी सैकड़ों पदार्थों के रूप से वैसे ही दिखाई देते हैं जैसे आकाश में बादल घोड़े, हाथी और रथों के आकार से दिखाई देता है ॥ ३९ ॥

भावानां भूरिभङ्गानामभावाय भवाय च ।
भव भावविमुक्तात्मा भावाभावबहिष्कृतः ॥ ४० ॥
जहि मानं महाकोपं कालुष्यं क्रूरतां तथा ।
न महान्तो निमज्जन्ति प्राकृते गुणसंकटे ॥ ४१ ॥
प्राक्तनीं दीर्घदौरात्म्यदशां स्मृत्वा पुनः पुनः ।
कोऽहं किं तद्बभूवेति हसन् मुक्ताच्छटासितम् ॥ ४२ ॥
ते प्रयाताः समारम्भा गतास्ते दग्धवासराः ।
येषु चिन्तानलज्वालाजालाकीर्णो भवानभूत् ॥ ४३ ॥
अद्य त्वं देहनगरे राजा स्फारमनोरथः ।
न दुःखैर्गृह्यसे नाऽपि सुखैर्व्योमकरैरिव ॥ ४४ ॥
अद्येन्द्रियदुरश्वांश्च जित्वा जितमनोगजः ।
भोगारिमभितो भङ्क्त्वा साम्राज्यमधितिष्ठसि ॥ ४५ ॥
अपाराम्बरपान्थस्त्वमजस्रास्तमयोदयः ।

बहुत प्रकार के विकारपूर्ण स्वभाव वाले पदार्थों के बाध और निरतिशयानन्द स्वरूप के आविर्भाव के लिए असंगात्मदर्शन से भाव और अभावों से रहित असंगात्मभाव से ही सदा विमुक्तात्मा हो जाओ, फिर बन्धन को प्राप्त मत हो ॥ ४० ॥

मान, महाकोप, कलुषता और कुटिलता का त्याग करें। महापुरुष प्राकृतिक गुण संकट में नहीं गिरते ॥४१॥

मैं कौन हूँ, क्या हो गया, ऐसा विचार कर मोतियों के कणों के समान सफेद हँसीं हँसते हुए अपनी पूर्वजन्मों की दीर्घ दौरात्म्य दशा का बार-बार स्मरण कर उसका त्याग करें ॥ ४२ ॥

ये कार्य बीत चुके, वे दग्ध दिन चले गये, जिनमें आप चिन्ता रूपी अग्नि की अनेक ज्वालाओं से आक्रान्त थे ॥ ४३ ॥

आज आप देह रूपी नगर में विफल मनोरथ वाले राजा के समान स्थित हैं। आप दुःखों से गृहीत वैसे ही नहीं होते जैसे आकाश मुष्टियों से नहीं पकड़ा जाता ॥ ४४ ॥

मन रूपी हाथी पर विजय प्राप्त करने वाले आप आज इन्द्रिय रूपी दुष्ट घोड़ों को जीत कर भोग रूपी शत्रु को चारों ओर से चूर्ण-विचूर्ण कर साम्राज्य सिंहासन पर स्थित हैं ॥ ४५ ॥

अपार आकाश के पथिक आप से निरन्तर जगत् का उदय और अस्त होता है, नित्य बाहर और भीतर प्रकाश करने वाले सूर्य हैं ॥ ४६ ॥

अवभासकरो नित्यं बहिरन्तश्च भास्करः ॥ ४६ ॥
सर्वदैवाऽसि संसुप्तः शक्त्या संबोध्यसे विभो ! ।
भोगालोकनलीलार्थं कामिन्या कामुको यथा ॥ ४७ ॥
दृक्क्षुद्राभिरुपानीतं दूराद् रूपमधु त्वया ।
पीयते स्वीकृतं शक्त्या नेत्रवातायनस्थया ॥ ४८ ॥
ब्रह्माण्डकोटराध्वान्ताः प्राणापानपरैस्त्वया ।
गतागतैर्ब्रह्मपुरे संप्रेक्ष्यन्ते प्रतिक्षणम् ॥ ४९ ॥
देहे पुष्पे त्वमामोदो देहेन्दौ त्वमृतामृतम् ।
रसस्त्वं देहविटपे शैत्यं देहहिमे भवान् ॥ ५० ॥
त्वय्यस्ति विस्मयस्नेहः शरीरक्षीरसर्पिषि ।
त्वमन्तरस्य देहस्य दारुण्यग्निरिव स्थितः ॥ ५१ ॥
त्वमेवाऽनुत्तमास्वादः प्राकाश्यं तेजसामपि ।
अवगन्ताः त्वमर्थानां त्वं भासामवभासकः ॥ ५२ ॥

हे विभो ! आप सर्वदा सुप्त हो, भोक्ता की अदृष्ट शक्ति से भोगालोकन क्रीड़ा के लिए केवल उतने प्रबोध को आप वैसे ही प्राप्त होते हैं जैसे कामिनी द्वारा भोगालोकन लीला के लिए कामुक प्रबोधित होता है ॥४७॥

इन्द्रियवृत्ति रूपी मधुमक्खियों द्वारा दूर से किया गया तथा नेत्र रूपी झरोखे पर बैठी हुई चित्-शक्ति से स्वीकृत रूपादिरूप शहद आपके द्वारा पिया जाता है ॥ ४८ ॥

प्राण और अपान के निरोध में तत्पर योगियों द्वारा अन्य स्थान में संचार आदि के अनुकूल नाना नाडी मार्गों में गमना-गमन द्वारा (संचार द्वारा) अन्य ब्रह्माण्ड में जाने के लिए अथवा अर्चिरादि मार्ग से सूर्य-मण्डल में में जाने के लिए स्वयं ज्योति आपके द्वारा देखे जाते हैं ॥ ४९ ॥

आप देह रूपी फूल में आमोद हैं, देह रूपी चन्द्र में परमार्थ सत्यभूत अमृत हैं, देह रूपी शाखा में रागादि रूपी पल्लवों की उत्पत्ति में निमित्तभूत रस हैं और देह रूपी हिम में शीतलता हैं ॥ ५० ॥

सब प्राणियों के शरीर में गर्व के निमित्तभूत स्नेह शरीर रूप दूध के घृत के सदृश सारभूत आप में ही है। देह के अन्दर आप वैसे ही स्थित हैं जैसे काष्ठ में अग्नि स्थित रहती है ॥ ५१ ॥

आप ही सर्वोत्तम स्वाद स्वरूप है। आप ही सूर्यादि ज्योतियों के भी प्रकाशनिमित्त आप ही पदार्थों के ज्ञाता तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के अवभासक हैं ॥ ५२ ॥

स्पन्दस्त्वं सर्ववायूनां त्वं मनोहस्तिनो मदः ।
प्रज्ञानलशिखायास्त्वं प्राकाश्यं तैक्ष्ण्यमेव च ॥ ५३ ॥
त्वद्वशादियमात्मीया वाचा संप्रविलीयते ।
दीपवत् पुनरन्यत्र समुदेति कुतोऽपि सा ॥ ५४ ॥
त्वयि संसारवर्त्तिन्यः पदार्थावलयस्तथा ।
कटकाङ्गदकेयूरयुक्तयः कनके यथा ॥ ५५ ॥
भवानयमयं चाऽहं त्वं शब्दैरेवमादिभिः ।
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं लीलार्थं स्तौषि वक्षि च ॥ ५६ ॥
मन्दानिलविनुन्नोऽब्दो गजाश्वनरदृष्टिभिः ।
यथा संलक्ष्यते व्योम्नि तथा त्वं भूतदृष्टिभिः ॥ ५७ ॥
यथा हयगजाकारैर्ज्वाला लसति वह्निषु ।
तथैवाऽव्यतिरिक्तैस्त्वं दृश्यसे भुवि सृष्टिषु ॥ ५८ ॥
त्वं ब्रह्माण्डकमुक्तानामच्छिन्नस्तन्तुराततः ।
क्षेत्रं त्वं भूतसस्यानां चिद्रसायनसेवितम् ॥ ५९ ॥

सब वायुओं के स्पन्द रूप आप हैं, मन रूपी हाथी के मद के तुल्य भ्रान्ति के निमित्त आप हैं, ज्ञान रूपी अग्निशिखा के प्रकाश निमित्त और उष्णता निमित्त आप हैं ॥ ५३ ॥

यह आत्मीया वाणी भी आपके उपसंहार से ही दीपक के समान लीन हो जाती है फिर देहान्तर में कहीं से उदित हो जाती है ॥ ५४ ॥

संसार में स्थिति पदार्थ राशियाँ आप में वैसे ही उदित होती हैं जैसे सुवर्ण में कड़ा, बाजूबन्द आदि आविर्भूत होते हैं ॥ ५५ ॥

क्रीड़ा के लिए स्वयं अपने से अपनी आप; यह, तुम, मैं आदि शब्दों से आप ही स्तुति करते हैं और कहते हैं आप से अन्य कोई नहीं है ॥ ५६ ॥

आप विविध जीवों के आकारों से वैसे ही दिखाई देते हैं जैसे मन्द वायु से हिलाया जा रहा मेघ हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि आकारों से दिखाई देता है ॥ ५७ ॥

पृथिवी विविध सृष्टियों में आप अपने से अभिन्न जीवों के आकार से वैसे ही दिखाई देते हैं जैसे अग्नियों में ज्वाला हाथी और घोड़े के आकार से शोभित होती है ॥ ५८ ॥

ब्रह्माण्ड रूपी मोतियों के अविच्छिन्न दीर्घ तन्तु और भूतरूपी धान्यों के चैतन्य रूपी रसायन से सींचे हुए क्षेत्र हैं ॥ ५९ ॥

अनभिव्यक्त असद्रूप असत्प्राय स्रष्टव्य पदार्थों का प्रसिद्ध स्वरूप आप से सृष्टि द्वारा वैसा ही प्रकाशित

असत्तदनभिव्यक्तं पदार्थानां प्रकाश्यते ।
त्वया तत्त्वं यथा पक्त्या मांसानां स्वादवेदनम् ॥ ६० ॥
विद्यमानाऽपि वस्तुश्रीर्न स्थिता त्वयि न स्थिते ।
वनितारूपलावण्यसत्तेव गतचक्षुषः ॥ ६१ ॥
सदपीह न सत्तायै वस्तुना वर्जितं त्वया ।
तृप्तये न स्वलावण्यं मुकुरात् प्रतिबिम्बितम् ॥ ६२ ॥
लुठति त्वां विना देहः काष्ठलोष्टसमः क्षितौ ।
सन्नप्यसन् नगोच्छ्रायः श्यामास्विव रविं विना ॥ ६३ ॥
सुखदुःखक्रमः प्राप्य भवन्तं परिनश्यति ।
प्राकाश्यमासाद्य यथा तमस्तेजोऽथवा हिमम् ॥ ६४ ॥
त्वदालोकनयैवैते स्थितिं यान्ति सुखादयः ।
सूर्यालोकनया प्रातर्वर्णाः शुक्लादयो यथा ॥ ६५ ॥
लब्धात्मानो विनश्यन्ति संबन्धक्षण एव ते ।
ते तमांसीव दीपस्य दृष्टा एव व्रजन्त्यलम् ॥ ६६ ॥

किया जाता है जैसे पाक से मांसों की आस्वादन योग्य स्वादुता प्रकाशित होती है ॥ ६० ॥

आपके स्थित न होने पर विद्यमान भी वस्तु शोभा वैसे ही स्थित नहीं रहती जैसे कि अन्धे के लिए वनिता की विद्यमान भी रूपलावण्य सत्ता विद्यमान नहीं रहती ॥६१॥

वस्तुभूत आप से रहित विद्यमान भी पदार्थ अर्थ क्रिया के लिए वैसे ही समर्थ नहीं होता जैसे दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित अपने मुख का सौन्दर्य कान्ताओं के चुम्बन आदि अर्थ क्रिया प्रयुक्त तृप्ति के लिए पर्याप्त नहीं होता ॥ ६२ ॥

आपके बिना काष्ठ-लोष्ठ के तुल्य यह शरीर पृथिवी पर वैसे ही पड़ा रहता है जैसे अन्धेरी रात में सूर्य के बिना वृक्ष, पर्वत आदि की ऊँचाई विद्यमान होती हुई भी भान न होने के कारण असत्प्राय रहती है ॥ ६३ ॥

आपको प्राप्त कर यह सुख दुःख क्रम वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे सूर्य के प्रकाश को पाकर अन्धकार नष्ट हो जाता है अथवा जैसे सूर्य के तेज को पाकर हिम नष्ट हो जाता है ॥ ६४ ॥

आपके आलोकन से ही ये सुख आदि स्थित को वैसे ही प्राप्त होते हैं। जैसे प्रातःकाल में सूर्य के आलोकन से शुक्ल आदि वर्ण स्थित को प्राप्त होते हैं ॥ ६५ ॥

चूँकि आपके आलोकन से ही उत्पन्न हुए वे सुख आदि चरम साक्षात्कार से दीप्त आपसे सम्बन्ध समय में ही नष्ट हो जाते हैं, आपके द्वारा देखे गये ही वे दूर होते हैं ॥ ६६ ॥

तमस्ता तमसो दीपासत्तायां स्फुटतां गता ।
दीपसंबन्धसमये सा चोत्पद्य विनश्यति ॥ ६७ ॥
तदेवं सुखदुःखश्रीर्दृष्ट्वैव त्वामनामयम् ।
जायते जातमात्रैवं सर्वनाशेन नश्यति ॥ ६८ ॥
भङ्गुरत्वादिह स्थातुं कालं नाऽणुमपि क्षमा ।
निमेषलक्षभागाख्या तन्वी कालकला यथा ॥ ६९ ॥
गान्धर्वी नगरी तन्वी सुखदुःखादिभावना ।
स्फुरति त्वत्प्रसादेन त्वयि दृष्टे विलीयते ॥ ७० ॥
त्वदालोकेक्षणोद्भूता त्वदालोकेक्षणक्षया ।
मृतेव जाता जातेव मृता केनोपलक्ष्यते ॥ ७१ ॥
क्षणमप्यस्थिरं वस्तु कथं कार्यकरं भवेत् ।
तरङ्गैरुत्पलाकारैर्माला कथमवेक्ष्यते ॥ ७२ ॥
यदा वा जातनिर्नष्टं क्रियां वस्तु करिष्यते ।

दीपक के अभाव में स्फुटता को प्राप्त अन्धकार की अन्धकारता दीपक के प्रकाश के संबन्ध के समय अपने धर्मी से वियुक्त होकर नष्ट हो जाती है ॥ ६७ ॥

इस प्रकार सुख-दुःख निर्दोष आपको देखकर ही उत्पन्न होते हैं। पूर्वोक्त रीति से उत्पन्न होते ही बीज भाव के साथ वे नष्ट हो जाते हैं ॥ ६८ ॥

सुख-दुःख भी विषयों के हटने के कारण स्वतः भङ्गुर होने से इस नित्य निरतिशय आनन्द प्रकाश रूप आत्मा में वैसे ही क्षणभर भी रह नहीं सकते जैसे निमेष की लाखवें हिस्से के रूप से प्रसिद्ध अतिसूक्ष्म काल-काला स्वतः ही नष्ट हो जाती है ॥ ६९ ॥

गन्धर्व नगरी के समान मिथ्याभूत भी सुख-दुःख आदि की भावना अज्ञात आपके प्रसाद से सत्य के समान प्रतीत होने पर भी आपका साक्षात्कार होने पर विलीन हो जाती है ॥ ७० ॥

अज्ञात आपके प्रकाश रूप दुष्ट चक्षु से उत्पन्न और सुज्ञात आपके प्रकाश रूप चक्षु से क्षीण यह सुख-दुःखादि की भावना मर कर स्वप्न में फिर उत्पन्न के समान स्वप्न में उत्पन्न होकर जागरण में फिर मरे के समान किसके द्वारा देखी जा सकती है ? ॥ ७१ ॥

क्षण भर भी स्थिर न रहने वाली वस्तु कैसे अर्थ-क्रियाकारी हो सकती है ? कमल बुद्धि से कल्पित आकार वाले तरंगों में माला कैसी देखी जाती है ? ॥ ७२ ॥

जब उत्पन्न होते ही नष्ट हुई वस्तु अर्थक्रिया

तदा रमेत लोकोऽयं मालां कृत्वा तडिद्गणैः ॥ ७३ ॥
इमां सुखादिकां लक्ष्मीं विवेकिजनचेतसि ।
स्थितः सन्नेव गृह्णासि न जहासि समस्थितिम् ॥ ७४ ॥
अविवेकिषु योऽसि त्वं सहजात्मन् ! यदृच्छया ।
तद्रूपकथनेनाऽलं ममाऽनल्पपदास्पद ! ॥ ७५ ॥
निरीहेण निरंशेन निरहङ्कृतिना त्वया ।
सता वाऽप्यसता वाऽपि कर्तृत्वमुररीकृतम् ॥ ७६ ॥
जय प्रोड्डामराकार जय शान्तिपरायण ।
जय सर्वागमातीत जय सर्वागमास्पद ॥ ७७ ॥
जय जात जयाऽजात जय क्षत जयाऽक्षत ।
जय भाव जयाऽभाव जय जेय जयाऽजय ॥ ७८ ॥
उल्लसाम्युपशाम्यामि तिष्ठाम्यधिगतोऽस्मि च ।
जयी जयाय जीवामि नमो मह्यं नमोऽस्तु ते ॥ ७९ ॥

करेगी, तो यह लोक बिजलियों से माला बनाकर आनन्द करेगा ॥ ७३ ॥

यह सुख-दुःख आदि श्री विवेकी जनों के हृदय में स्थित आप ग्रहण करते हैं, किन्तु समस्थिति का त्याग नहीं करते हैं ॥ ७४ ॥

हे सहजात्मन् ! अविवेकियों में सहज रूप में नान वासनाओं के उदय से आप जो हो, हे अनन्तरूपों औ नामों के आस्पद ! उनके स्वरूपक कथन में मेरी वार्ण समर्थ नहीं है ॥ ७५ ॥

निरीह निरवयव, निरहंकार, सद्रूप याअसद्रूप आपने कर्तृता को स्वीकार किया है ॥ ७६ ॥

हे ब्रह्माण्ड आदि अति विस्तृत आकार वाले ! आपकी जय हो, हे शान्ति परायण ! आपकी जय हो, हे भगवन् ! आप सब प्रमाणों से परे हैं, आपकी जय हो; हे भगवन् ! आप सब प्रमाणों से वेद्य हैं आपकी जय हो, हे जात ! आपकी जय हो; हे अजात ! आपकी जय हो, हे क्षत ! हे अक्षत ! आपकी जय हो। हे भाव ! आपकी जय हो, हे अभाव ! आपकी जय हो, हे जय ! आपकी जय हो, हे अजय ! आपकी जय हो ॥ ७७, ७८ ॥

मैं उल्लसित हूँ, निर्माण को प्राप्त कर रहा हूँ, स्थित हूँ, ज्ञाततत्त्व हूँ, आविद्यिकरूप पर विजय पाने के कारण मैं जयी हूँ। प्रारब्धशेष के भी जय के लिए जी रहा हूँ। प्रत्यगात्मरूप मेरे लिए नमस्कार है, ब्रह्मरूप तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥ ७९ ॥

त्वयि स्थिते मयि विगतामयात्मनि
स्वसंस्थितौ व्यपगतरागरञ्जने ।
क्व बन्धनं क्व च विपदः क्व सम्पदो
भवाभवौ क्व शममुपैमि शाश्वतम् ॥ ८० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
आत्मस्तवनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

मेरे दोषरहित आत्माराम रागरञ्जना से शून्य आत्मस्वरूप आपका स्वभाव होने पर मेरा बन्धन कहाँ, विपत्तियाँ कहाँ, सम्पत्तियाँ कहाँ और जन्म-मरण कहाँ ? अतः मैं शाश्वत सुखविश्रान्ति को प्राप्त हूँ ॥ ८० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
आत्मस्तवन नामक कुसुमलता का छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

३७

वसिष्ठ उवाच

इति संचिन्तयन्नेव प्रह्लादः परवीरहा ।
निर्विकल्पपरानन्दसमाधिं समुपाययौ ॥ १ ॥
निर्विकल्पसमाधिस्थश्चित्रार्पित इवाऽचलः ।
शैलादिव समुत्कीर्णो बभौ स्वपदमास्थितः ॥ २ ॥
तथाऽनुतिष्ठतस्तस्य कालो बहुतरो ययौ ।
स्वगृहे भुवनस्थस्य मेरोरिव समुद्विषः ॥ ३ ॥
बोधितोऽप्यसुराधीशैर्नाऽबुध्यत महामतिः ।
अकाले बहुसेकोऽपि बीजकोशादिवाऽङ्कुरः ॥ ४ ॥
एवं वर्षसहस्राणि पीनात्माऽतिष्ठदेकदृक् ।
शान्त एवाऽसुरपुरे मार्तण्ड इव चोपले ॥ ५ ॥
परानन्ददशैकान्तपरिणामितया तया ।
निरानन्दं पराभासमिवाऽऽभासपदं गतः ॥ ६ ॥
एतावताऽथ कालेन तद्रसातलमण्डलम् ।
बभूवाऽराजकं तीक्ष्णमात्स्यन्यायकदर्थितम् ॥ ७ ॥
हिरण्यकशिपौ क्षीणे समाधौ तत्सुते स्थिते ।
न बभूवाऽपरः कश्चिद्राजा दनुसुतालये ॥ ८ ॥
असुरेशार्थिनां तेषां दानवानां समाधितः ।
परेणाऽपि प्रयत्नेन प्रह्लादो न व्यबुध्यत ॥ ९ ॥
न प्रापुर्विकसद्रूपं पतिं तममरारयः ।
लसत्पत्रलताजालं निशि पद्ममिवाऽलयः ॥ १० ॥

३७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—शत्रुनाशक प्रह्लाद ने आत्मा का चिन्तन करते हुए निर्विकल्प परमानन्दपूर्ण समाधि को प्राप्त किया ॥ १ ॥

निर्विकल्प समाधि में स्थित स्वरूप साम्राज्य को प्राप्त प्रह्लाद चित्रलिखित की तरह निश्चल पर्वत से गढ़ कर बनाये हुए के समान शोभित हुआ ॥ २ ॥

अपने घर में समाधि में स्थित प्रह्लाद का भुवन के बीच में स्थित मेरु की तरह स्थित इस प्रकार बहुत समय बीत गया ॥ ३ ॥

असुर श्रेष्ठों द्वारा जगाने पर भी वह महामति समाधि से वैसे ही विचलित नहीं हुआ जैसे बहुत सेक करने पर भी अकाल में बीज से अङ्कुर नहीं निकलता ॥ ४ ॥

इस प्रकार पत्थर पर गढ़े हुए सूर्य के समान निश्चल ब्रह्म स्वरूप वह शान्त असुरपुर में ही हजार वर्ष तक बाह्य दृष्टि शून्य होकर स्थित रहा ॥ ५ ॥

उस परमानन्द स्वरूप भूमा की देश में अत्यन्त परिणति से प्रह्लाद निरानन्द नहीं और परमात्मा भासशून्य मरणावस्था को प्राप्त एक समान प्रतीत हुआ ॥६॥

अनन्तर इस बीच में वह पातालमण्डल अराजक और प्रबल मात्स्यन्याय से पीड़ित हुआ ॥ ७ ॥

हिरण्यकशिपु के मर जाने और उसके पुत्र प्रह्लाद के समाधिस्थ होने पर पाताल में कोई दूसरा राजा न रहा ॥ ८ ॥

असुरों के अधिपति की इच्छा वाले उन दानवों के विशेष प्रयास से भी प्रह्लाद समाधि से प्रबुद्ध नहीं हुआ ॥ ९ ॥

असुरों ने उस स्वामी को समाधि से वैसे ही बोधयुक्त नहीं पाया जैसे रात्रि में भ्रमर जिसकी पंखुरियाँ विकसित हो रही हों ऐसे कमल को नहीं पा सकते ॥१०॥

संविद्वादो न तस्याऽन्तरबोध्यत विचेतसः ।
भुवश्चेष्टाक्रम इव पौरुषो गतभास्वतः ॥ ११ ॥
अथोद्विग्नेषु दैत्येषु गतेष्वभिमतां दिशम् ।
विचरत्सु यथाकाममराजनि पुरे पुरा ॥ १२ ॥
चिराय पातालमभूदभूपालतया तया ।
मात्स्यन्यायविपर्यस्तमस्तं गतगुणक्रमम् ॥ १३ ॥
बलिमुक्ताबलपुरं मर्यादाक्रमवर्जितम् ।
सर्वार्तशेषवनितं परस्परहृताम्बरम् ॥ १४ ॥
प्रलापाक्रन्दपुरुषं विसंस्थानपुरान्तरम् ।
लुठदुद्याननगरं व्यर्थानर्थकदर्थितम् ॥ १५ ॥
चिन्तापरासुरगणं निरन्नफलबान्धवम् ।
अकाण्डोत्पातविवशं ध्वस्ताशामुखमण्डलम् ॥ १६ ॥
सुरार्भकपराभूतं भूतैराक्रान्तमन्तमन्त्यजैः ।
भूतरिक्तमलक्ष्मीकमुच्छिन्नप्रायकोटरम् ॥ १७ ॥
अनियतवनितार्थमन्त्रयुद्धं
हृतधनदारविरावितं समन्तात् ।
कलियुगसमयोद्भटोत्कटाभं
तदसुरमण्डलमाकुलं बभूव ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे असुरमण्डलव्याकुलीभवनं नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

चित्तरहित उसके अन्दर वैसे ही प्रबोध का लेश भी ज्ञात नहीं हुआ जैसे जिससे सूर्य अस्त हो गये हों, ऐसी भूमि के अन्दर सोये हुए पुरुषों की स्नान, दान, गमन, धावन आदि चेष्टाएँ नहीं होती ॥ ११ ॥

अनन्तर उद्विग्न निर्बल दैत्यों के अपने अभीष्ट देशों में चले जाने पर और बलवान् दैत्यों के दस्युओं की भाँति अराजक नगर में यथेच्छ लूट-पाट व्यवहार करने पर अराजकता से सारा पाताल चिरकाल तक बलवानों द्वारा दुर्बलों के उत्पीडन रूप मात्स्यन्याय से अस्त-व्यस्त और मर्यादारहित हो गया ॥ १२, १३ ॥

(मात्स्यन्याय का वर्णन करते हुए कहा गया है) उसमें बलवानों द्वारा दुर्बलों के नगर छीने गये थे, मर्यादा या क्रम का कहीं नाम-निशान न था, वनिताएँ सब लोगों से पीड़ित थीं, नगर का मध्य भाग खण्डहरों में परिणत हो गया था, सब पुरुष प्रलाप और रोदन से आक्रान्त थे, परस्पर एक दूसरे के वस्त्र हरते थे, बगीचे और नगर के वृक्ष ढह गये थे, व्यर्थ अनर्थों से सारा पाताल पीड़ित था, सब के सब असुर चिन्ताग्रस्त थे, अन्न, फल और बन्धु-बान्धवों का अभाव हो गया था, अनवसर के उत्पात से सारा पाताल विवश था, दिशाओं के मुख धूलि से व्याप्त थे, देवताओं के बच्चे भी उसका तिरस्कार करते थे, चण्डाल, कुत्ते, शृगाल, राक्षस, पिशाच आदि तामस प्राणियों से वह आक्रान्त हो गया था, वहाँ के आदि निवासी भद्र प्राणियों से वह शून्य हो गया था, उसकी शोभा नष्ट हो चुकी थी और सब अटारियाँ भग्नप्राय हो चुकी थीं ॥ १४–१७ ॥

वह असुरगण चारों ओर से भयोद्विग्न हो गये थे, उसमें स्त्रियाँ, धन, मन्त्र, तन्निमित्तक युद्ध नियमरहित हो गये थे। धन-सम्पत्ति और स्त्रियाँ हरी गई थीं, उन लोगों के विलाप से वह कोलाहल युक्त था, कलियुग के समय में दूसरों के धन हरने में शूरवीर क्रूर दस्युओं के तुल्य पाताल लोक हो गया था ॥ १८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में असुरमण्डलव्याकुलीभवन नामक कुसुमलता का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

३८

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथाऽखिलजगज्जालक्रमपालनदेवनः ।
क्षीरोदनगरे शेषशय्यासनगतो हरिः ॥ १ ॥
प्रावृण्निद्राव्युपरमे देवार्थमरिसूदनः ।
धिया विलोकयामास कदाचिज्जागतीं गतिम् ॥ २ ॥

३८

श्री वसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर क्षीरसागर रूपी नगर में शेषशय्या रूप सिंहासन पर बैठे हुए अरिमर्दन भगवान् हरि ने समस्त जगतों के नियमों का पालन ही जिनकी क्रीड़ा है, वर्षा ऋतु की निद्रा टूटने पर देवताओं के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए किसी समय अपनी बुद्धि से तीनों लोकों की तात्कालिक स्थिति का निरीक्षण किया ॥ १, २ ॥

त्रिविष्टपं स्वमनसा पार्थिवं चाऽवलोक्य सः ।
आचारमाजगमाऽऽशु पातालमरिपालितम् ॥ ३ ॥
तत्र स्थिरसमाधाने स्थिते प्रह्लाददानवे ।
दृष्ट्वा संपदमिन्द्रस्य पुरे प्रौढिमुपागताम् ॥ ४ ॥
व्यालतल्पतलस्थस्य क्षीरोदार्णवशायिनः ।
शङ्खचक्रगदापाणेर्देहस्याऽन्तरचारिणः ॥ ५ ॥
पद्मासनस्थस्य मनः शरीरेणाऽतिभास्वता ।
इदं संचिन्तयामास त्रैलोक्याब्जमहालिना ॥ ६ ॥
प्रह्लादे पदविश्रान्ते पाताले गतनायके ।
कष्टं सृष्टिरियं प्रायो निर्दैत्यत्वमुपागता ॥ ७ ॥
दैत्याभावे सुरश्रेणी निर्जिगीषुपदं गता ।
शममेष्यत्यदृष्टाब्दपटलेषु सरिद् यथा ॥ ८ ॥
मोक्षाख्यं निर्गतद्वन्द्वं ततो यास्यति तत्पदम् ।
क्षीणाभिमानविरसा लतेव प्रविशुष्कताम् ॥ ९ ॥
देवौघे शान्तिमायाते भुवि यज्ञतपःक्रियाः ।

उन्होंने मन से स्वर्ग का अवलोकन कर, भूलोक के निवासियों के शुभाशुभ आचरण का अवलोकन कर दैत्यों द्वारा पालित पाताल में शीघ्र गये ॥ ३ ॥

पाताल में दानवराज प्रह्लाद के निश्चल समाधि में स्थित होने पर इन्द्र के नगरभूत स्वर्ग में संपत्ति को अतिवृद्धि को प्राप्त हुई देखकर पहले क्षीरसागर में सोये हुए अनन्तर जाग कर शेषशय्या पर स्थित वहाँ पर भी पद्मासन लगाकर बैठे हुए हाथ में शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये हुए भगवान् विष्णु के मन ने त्रिलोक रूपी कमल के महा भ्रमर रूपी अपने देदीप्यमान शरीर से यह विचार किया ॥ ४–६ ॥

प्रह्लाद के समाधि में विश्रान्ति लाभ करने पर और पाताल के नायक रहित होने पर यह सृष्टि प्राय: दैत्य शून्य हो गई है, यह कष्ट की बात है ॥ ७ ॥

दैत्यों के अभाव में निर्जिगीषु पद को प्राप्त देववृन्द वैसे ही रागद्वेष रहित हो जायँगे जैसे अनावृष्टि के समय में नदी सूख जाती है ॥ ८ ॥

अभिमान शून्य होने के कारण स्वर्ग सुख से विमुख देवता रागद्वेषा भाव रूप शम से शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों के उपद्रव से रहित मोक्ष नामक उस परम पद को वैसे ही प्राप्त होंगे। जैसे जल सेक रहित लता शुष्कता को प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

मनुष्यों में भी शम आदि की प्राप्ति होने से पृथिवी में सब यज्ञ आदि क्रियाएँ देवत्व रूप फल से रहित होकर उच्छेद को प्राप्त होंगी। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१०॥

अदेवत्वफलाः सर्वाः शममेष्यन्त्यसंशयम् ॥ १० ॥
क्रियास्वथोपशान्तासु भूर्लोऽस्तमुपैष्यति ।
असंसारप्रसंगोऽथ तस्य नाशे भविष्यति ॥ ११ ॥
आकल्पान्तं त्रिभुवनं यदिदं कल्पितं मया ।
नाशमेष्यत्यकालेन तापे हिमकणो यथा ॥ १२ ॥
किमेवमस्मिन्नाभोगे विलीय क्षयमागते ।
कृतं मयेह भवति स्वलीलाक्षयकारिणा ॥ १३ ॥
ततोऽहमपि शून्येऽस्मिन्नष्टचन्द्रार्कतारके ।
वपुःप्रशान्तिमाधाय स्थितिमेष्यामि तत्पदे ॥ १४ ॥
अकाण्ड एवमेवं हि जगत्युपशमं गते ।
नेह श्रेयो न पश्यामि मन्ये जीवन्तु दानवाः ॥ १५ ॥
दैत्योद्योगेन विबुधास्ततो यज्ञतपःक्रियाः ।
तेन संसारसंस्थानं न संसारक्रमोऽन्यथा ॥ १६ ॥
तस्माद् रसातलं गत्वा यथावत् स्थापयाम्यहम् ।
स्वे क्रमे दानवाधीशमृतुः पुनरिव द्रुमम् ॥ १७ ॥

यज्ञ आदि क्रियाओं के उच्छिन्न होने पर कर्मभूमि व्यर्थ हो जायगी और कर्म के व्यर्थ होने पर संसार का उच्छेद हो जायगा ॥ ११ ॥

प्रलय पर्यन्त रहने वाले मेरे द्वारा निर्मित्त तीनों भुवन, अकाल में ही वैसे ही नाश को प्राप्त हो जायँगे जैसे धूप में हिम-कण नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

इस प्रकार इन जगतों के विलीन होकर नष्ट होने पर अपनी लीला का नाश करने वाले मुझ से क्या उचित किया गया ॥ १३ ॥

चन्द्रमा, सूर्य और तारे से शून्य जगत् में लीला के लिए गृहीत अपने शरीर का उपसंहार कर फिर संसार की अनुत्पत्ति के लिए उस पूर्ण आतमपद में स्थिति को प्राप्त हो जाऊँगा ॥ १४ ॥

इस प्रकार अनवसर में ही जगत् के नष्ट होने पर देव, मनुष्य आदि जीव वर्ग का मैं कल्याण नहीं देखता वह बात नहीं है मैं कल्याण देखता ही हूँ, इसलिए क्रमश: सब को उक्त कल्याण की प्राप्ति के लिए दानव जीवित रहें ॥ १५ ॥

दैत्यों के उद्योग से देवता जिगीषु बनेंगे, देवताओं के कारण यज्ञ, तप आदि क्रियाएँ होंगी, उससे संसार की स्थिति होगी, संसार नियम अन्यथा नहीं होगा ॥ १६ ॥

इसलिए पाताल में जाकर मैं दानवराज प्रह्लाद को अपने कर्म में पूर्ववत् वैसे ही स्थापित करता हूँ जैसे वसन्त आदि ऋतु वृक्ष को फिर पूर्ववत् स्थित करती है ॥ १७ ॥

विना प्रह्लादमथचेदितरं दानवेश्वरम् ।
करोमि तदसौ मन्ये देवानासादयिष्यति ॥ १८ ॥
प्रह्लादस्य त्वयं देहः पश्चिमः पावनो महान् ।
आकल्पमिह वस्तव्यं देहेनाऽनेन तेन च ॥ १९ ॥
एवं हि नियतिर्देवी निश्चिता पारमेश्वरी ।
प्रह्लादेन यथाकल्पं स्थातव्यमिह देहिना ॥ २० ॥
तस्मात्तमेव गत्वा तु दैत्येन्द्रं बोधयाम्यहम् ।
गर्जन् गिरिनदीसुप्तं मयूरमिव वारिदः ॥ २१ ॥
जीवन्मुक्तसमाधिस्थः करोत्वसुरनाथताम् ।
मणिर्मुक्तमनस्कारः प्रतिबिम्बक्रियामिव ॥ २२ ॥
नहि नश्यति सर्गोऽयमेवं सह सुरासुरैः ।
भविष्यति च तद्द्वन्द्वं तन्मे क्रीडा भविष्यति ॥ २३ ॥
सर्गक्षयोदयावेतौ सुसमौ मम यद्यपि ।
तथापीदं यथासंस्थं भवत्वन्येन किं मम ॥ २४ ॥
भावाभावेषु यत्तुल्यं तन्नाशे तत्स्थितौ च वा ।
यः प्रयत्नस्त्वबुद्धित्वात्तद्योगगमनं भवेत् ॥ २५ ॥
तस्मात् प्रयामि पातालं बोधयाम्यसुरेश्वरम् ।
स्थयं यामि न संसारलीलां सम्पादयाम्यहम् ॥ २६ ॥
असुरपुरमवाप्य प्रोद्धताचारघोरं
कमलमिव विवस्वान् दैत्यमुद्बोधयामः ।
जगदिदमखिलं स्वस्थैर्यमभ्यानयामो
घनविधिरिव शैले चञ्चलं मेघजालम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
परमेश्वरवितर्को नाम अष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

मैं प्रह्लाद को छोड़ दूसरे को दानवराज बनाऊँ, तो वह निश्चय देवताओं पर चढ़ाई कर देगा ॥ १८ ॥

प्रह्लाद का तो यह शरीर परम पवित्र और अन्तिम है। इस देह से वह कल्प पर्यन्त रहेगा ॥ १९ ॥

देहधारी प्रह्लाद को कल्पपर्यन्त यहाँ रहना होगा, इस प्रकार की परमेश्वर की नियति देवी निश्चित है॥ २० ॥

इसलिए पाताल में जाकर दैत्यराज प्रह्लाद को वैसे ही जगाता हूँ जैसे गरज रहा मेघ पर्वत नदी के तटपर सोये हुए मयूर को जगाता है ॥ २१ ॥

जीवन्मुक्तों की अनासक्तिरूप समाधि में स्थित प्रह्लाद वैसे ही दानवाधिपत्य को ग्रहण करे जैसे मन की चेष्टा से रहित मणि अपने में संनिहित वस्तु के प्रतिबिम्ब को धारण करती है ॥ २२ ॥

इस प्रकार सुर और असुरों के साथ यह सृष्टि नष्ट नहीं होगी तथा सुर और असुरों का द्वन्द्व युद्ध होगा, यह मेरी क्रीड़ा होगी ॥ २३ ॥

जगत् की सृष्टि और संहार ये दोनों मेरे लिए समान ही हैं तथापि यह पूर्वोक्त सृष्टि के अनुसार हो, अन्य से मेरा क्या मतलब है ॥ २४ ॥

आसक्ति के अभाव से जो गमन यदि प्रयत्न है, वह योग गमन ही है वह अन्य और गमन नहीं है, क्योंकि योग निद्रा से प्राप्त होने वाला सुख गमनयत्न की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति में समान है और गमनप्रयत्न आदि की स्थिति और नाश में समान है ॥ २५ ॥

इसलिए मैं पाताल में जाता हूँ और असुरराज प्रह्लाद को जगाता हूँ। चलता हुआ भी मैं निश्चलता को ही प्राप्त हूँ, मैं अज्ञ के समान संसार-लीला नहीं करता ॥ २६ ॥

यह मर्यादा रहित दस्युओं के अनाचार से भयानक पाताल में जाकर प्रह्लाद को समाधि से वैसे ही जगाते हैं, जैसे वर्षा ऋतु चञ्चल मेघ-राशि को पर्वत पर स्थिर करती है वैसे ही उससे सम्पूर्ण जगत् को स्थिरता को प्राप्त करते हैं ॥ २७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में परमेश्वरवितर्क नामक कुसुमलता का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥

३९

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति संचिन्त्य सर्वात्मा क्षीरोदादात्मकात् पुरात् । चचाल परिवारेण सहसानुरिवाऽचलः ॥ १ ॥

३९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—यह सोच कर सर्वात्मा भगवान् क्षीरसागर रूप अपने नगर से अपने परिवार के साथ वैसे ही चले जैसे अपने शिखरों के साथ पर्वत की तरह चले ॥ १ ॥

क्षीरोदतलरन्ध्रेण तेनैव स्तम्भिताम्भसा ।
प्रह्लादनगरं प्राप शक्रलोकमिवाऽपरम् ॥ २ ॥
हेममन्दिरकोशस्थं ददर्शाऽत्राऽसुरं हरिः ।
अथ शैलगुहालीनं समाधिस्थमिवाऽब्जजम् ॥ ३ ॥
तत्र ते तेजसा दैत्या वैष्णवेनाऽवधूलिताः ।
दूरं ययुर्दिनेशांशुवित्रस्ता इव कौशिकाः ॥ ४ ॥
द्वित्रैः सहाऽसुरैर्मुख्यैः परिवारयुतो हरिः ।
प्रविवेशाऽसुरगृहं तारावानिव खं शशी ॥ ५ ॥
वैनतेयासनस्थोऽसौ लक्ष्मीविधुतचामरः ।
स्वायुधादिपरीवारो देवर्षिमुनिवन्दितः ॥ ६ ॥
महात्मन् संप्रबुद्धयस्वेत्येवं विष्णुरुदाहरन् ।
पाञ्चजन्यं प्रदध्मौ च ध्वनयन् ककुभां गणम् ॥ ७ ॥
महता तेन शब्देन वैष्णवप्राणजन्मना ।
तुल्यकालपरिक्षुब्धकल्पाभ्रार्णवरंहसा ॥ ८ ॥
आसुरीजनता भूमौ पपाताऽऽगतसम्भ्रमा ।

भगवान् उसी क्षीरसागर के तल के छेद से, जिसका जल रोक दिया गया था, द्वितीय इन्द्र नगर के तुल्य प्रह्लाद नगर में गये ॥ २ ॥

यहाँ पहुँचने पर भगवान् श्रीहरि ने प्रह्लाद नगर में सुवर्णमय गृह के अन्दर स्थित असुरराज प्रह्लाद को पर्वत की गुहा में बैठे हुए समाधिस्थ ब्रह्मा के समान देखा ॥ ३ ॥

वहाँ पर विष्णु भगवान् के तेज से वे सबके सब दैत्य धूलि के समान उड़ गये और सूर्य की प्रखर किरणों से भयभीत उल्लुओं की भाँति दूर चले गये ॥ ४ ॥

दो या तीन मुख्य-मुख्य असुरों के साथ परिवार युक्त भगवान् श्रीहरि ने असुर-गृह में वैसे ही प्रवेश किया जैसे तारों से परिवेष्टित चन्द्रमा आकाश में प्रवेश करता है ॥ ५ ॥

भगवान् गरुडरूपी आसन पर बैठे थे, श्री लक्ष्मी जी उन पर चँवर डुला रही थी, शङ्ख, चक्र, गदा, आयुध आदि उनके परिवार थे और देवर्षि और मुनि उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ६ ॥

हे महात्मन् ! जागो, यह कहते हुए और दिङ्मण्डल को मुखरित करते हुए इस प्रकार के विष्णु भगवान् ने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया ॥ ७ ॥

भगवान् विष्णु के बल से उत्पन्न हुए एक साथ क्षुब्ध हुए प्रलय काल के मेघ और सागर के शब्द के समान वेगवाले उस महान् शब्द से, भयजनित मूर्च्छा को प्राप्त

मत्तनीलाभ्रनादेन राजहंसावली यथा ॥ ९ ॥
जहर्ष जनितानन्दा वैष्णवो गतसम्भ्रमा ।
जनता जलदध्वानफुल्लेव कुटजावली ॥ १० ॥
बभूव संप्रबुद्धात्मा दानवेशः शनैः शनैः ।
मेघावसर उत्फुल्लकदम्ब इव कानने ॥ ११ ॥
ब्रह्मरन्ध्रकृतोत्थाना प्राणशक्तिरथाऽसुरम् ।
शनैराक्रमयामास गङ्गा सर्वमिवाऽर्णवम् ॥ १२ ॥
क्षणादाक्रमयामास प्राणश्रीः सर्वतोऽसुरम् ।
उदयानन्तरं सौरी प्रभेव भुवनान्तरम् ॥ १३ ॥
प्राणेषु रन्ध्रनवके प्रवृत्तेष्वथ तस्य चित् ।
चेत्योन्मुखी बभूवाऽन्तः प्राणदर्पणबिम्बिता ॥ १४ ॥
चेतनीयोन्मुखी चेत्यं चिन्मनस्तामुपाययौ ।
द्वित्वं मुकुरसंक्रान्ता मुखश्रीरिव राघव ! ॥ १५ ॥
किञ्चिदङ्कुरिते चित्ते नेत्रे विकसनोन्मुखे ।
शनैर्बभूवतुस्तस्य प्रातर्नीले यथोत्पले ॥ १६ ॥

होकर आसुरी जनता भूमि पर वैसे ही गिर पड़ी, जैसे कि मत्त नील मेघ के शब्द से राज हंसावली भूमि पर गिर पड़ती है ॥ ८, ९ ॥

किन्तु भयरहित वैष्णवी जनता आनन्द को प्राप्त होकर वैसे ही हर्षित हुई जैसे मेघ के शब्द से कुटज वृक्षों की पङ्क्ति खिल उठती है ॥ १० ॥

वर्षा ऋतु में वन में फूले हुए कदम्ब की तरह दानवराज प्रह्लाद शनैः शनैः प्रबुद्ध हुआ ॥ ११ ॥

अनन्तर ब्रह्मरन्ध्र में उदित हुई प्राणशक्ति ने प्रह्लाद को वैसे ही पूर्ण कर दिया जैसे गंगा जी धीरे-धीरे सागर को भर देती है ॥ १२ ॥

क्षणभर में प्राणों ने चारों ओर से प्रह्लाद को वैसे ही पूर्ण कर दिया जैसे उदय के अनन्तर सूर्य की प्रभा भुवन के मध्य को पूर्ण कर देती है ॥ १३ ॥

अनन्तर इन्द्रियों के नौ छिद्रों में प्रवृत्त होनेपर उसकी चेतनाशक्ति लिङ्गदेहरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर विषयोन्मुख हो गई ॥ १४ ॥

हे श्रीराघव ! जैसे दर्पणपर पड़ी हुई मुखश्री द्वित्व को प्राप्त होती है वैसे ही चेतनीय विषयोन्मुखी चित्याकार संस्कार का उद्बोध होने से चेत्य-सी होकर चिज्जड़-उभयतारूप मनस्ता को प्राप्त हुई ॥ १५ ॥

चित्त के कुछ अङ्कुरित होनेपर उसके नेत्र वैसे ही विकसित होने लगे जैसे प्रातःकाल में नील कमल विकसित होने लगते हैं ॥ १६ ॥

प्राणापानपरामृष्टा नाडीविवरसंविदः ।
वातार्तस्येव पद्मस्य स्पन्दोऽस्य समजायत ॥ १७ ॥
निमेषान्तरमात्रेण मनः पीवरतां ययौ ।
तस्मिन् प्राणवशात् पूर्णे तरङ्ग इव वारिणि ॥ १८ ॥
अथाऽसौ विकसन्नेत्रमनःप्राणवपुर्बभौ ।
अर्द्धोदित इवाऽऽदित्ये सरः स्फुरितपङ्कजम् ॥ १९ ॥
अस्मिन्नवसरे यावद् बुध्यस्वेत्यवदद् विभुः ।
प्रबुद्धस्तावदेषोऽभूद् बर्ही घनरवादिव ॥ २० ॥
प्रफुल्लनयनं जातमननं पीवरस्मृतिम् ।
उवाचैनं त्रिलोकेशः पुरा नाभ्यब्जजं यथा ॥ २१ ॥
साधो ! स्मर महालक्ष्मीमात्मीयां स्मर चाऽऽकृतिम् ।
अकाण्ड एव किं देहविरामः क्रियते त्वया ॥ २२ ॥
हेयोपादेयसङ्कल्पविहीनस्य शरीरगैः ।
भावाभावैस्तवाऽर्थः किमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्प्रति ॥ २३ ॥

भीतर प्रविष्ट प्राण और अपान से उद्बोधित चारों ओर से नाडीविवरों में जो संवेदन हुआ उससे वैसे ही स्पन्द हो गया जैसे वायु से प्रेरित कमल में स्पन्द होता है ॥ १७ ॥

केवल एक निमेष में प्राणों से पूर्ण उसमें मन वैसे ही स्थूलता को प्राप्त हो गया जैसे पूर्ण जल में तरङ्ग होती है ॥ १८ ॥

उसके भी नेत्र, मन, प्राण और शरीर वैसे ही विकसित हुए जैसे सूर्य के आधे उदित होने पर तालाब में कमलों में स्फुरण हो जाता है ॥ १९ ॥

इस बीच में ही भगवान् श्रीहरि के द्वारा जागो, यह शब्द कहने पर मेघ के गर्जन से मयूर के समान वह प्रबुद्ध हो गया ॥ २० ॥

कल्प के आदि में जैसे नाभि कमल से उत्पन्न ब्रह्मा से त्रिलोकाधिपति भगवान् कहते हैं वैसे ही मैं प्रह्लाद हूँ, इस प्रत्यभिज्ञा से समन्वित जिसकी पूर्वावस्था की स्मृति दृढ़ हो चुकी थी, कहा ॥ २१ ॥

हे साधो ! तुम महती दैत्यराज्यश्री का और अपनी आकृति का स्मरण करो । तुम देह के विस्मरण से अनवसर में ही देह का अवसान किसलिए कर रहे हो ॥ २२ ॥

हेयोपादेय के संकल्प से रहित तुम्हारे शरीर में स्थित प्रिय और अप्रिय से क्या प्रयोजन है, इसलिए तुम इस समय अवश्य उठो ॥ २३ ॥

स्थातव्यमिह देहेन कल्पं यावदनेन ते ।
वयं हि नियतिं विद्मो यथाभूतामनिन्दिताम् ॥ २४ ॥
जीवन्मुक्तेन भवता राज्य एवेह तिष्ठता ।
क्षेपणीया गतोद्वेगमाकल्पान्तमियं तनुः ॥ २५ ॥
तन्वां कल्पान्तशीर्णायां स्वे महिम्नि त्वयाऽनघ ! ।
वस्तव्यं स्फुटिते कुम्भे कुम्भाकाशेन खे यथा ॥ २६ ॥
कल्पान्तस्थायिनी शुद्धा दृष्टलोकपरावरा ।
इयं तव तनुर्जाता जीवन्मुक्तविलासिनी ॥ २७ ॥
नोदिता द्वादशादित्या न प्रलीनाः शिलोच्चयाः ।
न जगज्ज्वलितं साधो ! तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ २८ ॥
वायुर्वहति नोन्मत्तस्त्रिलोकीभस्मधूसरः ।
लोलामरकपालाङ्कस्तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ २९ ॥
अशोक इव मञ्जर्यः पुष्करावर्तविद्युतः ।
न स्फुरन्ति जगत्कोशे तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३० ॥

तुम्हें कल्पपर्यन्त इस देह से यहां पर रहना होगा। हम तुम्हारे यथार्थ और अगर्हित आयु के नियम को जानते हैं ॥ २४ ॥

यहाँपर राज्यसिंहासनपर ही स्थित हो रहे जीवन्मुक्त-रूप तुमको कल्पतक इस शरीर को बिना किसी उद्वेग के व्यवहार में प्रेरित करना चाहिये ॥ २५ ॥

हे निष्पाप ! इस शरीर के कल्पान्त में विनष्ट होने-पर तुम्हें आत्मभूत निरतिशय महत्ता में वैसे ही निवास करना होगा जैसे घड़े के फूटने पर घटाकाश महाकाश में समा जाता है ॥ २६ ॥

तुम्हारा यह शरीर, जो कल्पन्त तक रहने वाला है, लोक के विविध व्यवहारों को देख चुका है और जीव-न्मुक्ति से सुशोभित है, शुद्ध हो गया है ॥ २७ ॥

हे सज्जनशिरोमणे ! अभी प्रलयकाल में उदित होने वाले बारह सूर्य उदित नहीं हुए हैं, हिमालय आदि पर्वत समाप्त नहीं हुए हैं और जगत् जला नहीं है, तुम व्यर्थ क्यों शरीर का त्याग करते हो ? ॥ २८ ॥

अभी तीनों लोकों की राख से धूसर तथा देवताओं की चञ्चल खोपड़ियाँ जिसकी चिह्नभूत हैं, ऐसी प्रलय-कालीन प्रखर वायु नहीं बह रही है, तुम क्यों शरीर को छोड़ते हो ? ॥ २९ ॥

अशोक के वृक्षों पर मञ्जरियों की तरह इस समय ब्रह्माण्ड में पुष्करावर्तनामक प्रलयकालीन मेघों पर बिज-लियाँ नहीं चमकती हैं फिर तुम व्यर्थ क्यों शरीर का त्याग करते हो ? ॥ ३० ॥

धरासाररणच्छैलाः प्रज्वलज्ज्वलनोज्ज्वलाः ।
ककुभो न विशीर्यन्ते तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३१ ॥
न ब्रह्मविष्णुरुद्राख्यत्रयीशेषमिदं स्थितम् ।
जगज्जरठजीमूतं तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३२ ॥
न चेहाऽद्रिदलश्रेणिमात्रैकानुमितान्तराः ।
दिशो जर्जरतां यातास्तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३३ ॥
स्फुटदद्रीन्द्रटङ्काराः कराः सौरा भ्रमन्ति खे ।
कल्पाभ्राणि न गर्जन्ति तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३४ ॥
अहं भूतावकीर्णासु सालोकासु खगध्वजः ।
विहरामि दशाशासु मा देहमवधीरय ॥ ३५ ॥
इमे वयमिमे शैला भूतानीमान्ययं भवान् ।
इदं जगदिदं व्योम मा देहमवधीरय ॥ ३६ ॥
पीवराज्ञानयोगेन यस्य पर्याकुलं मनः ।

जल रही भूमि के प्रकम्प से विदीर्ण होने के कारण जिसमें पर्वत शब्द कर रहे हों और अग्नि के जलने से जो उज्ज्वल हों ऐसी दिशाएँ विशीर्ण नहीं हुई हैं, व्यर्थ में तुम शरीर का क्यों त्याग करते हो ? ॥ ३१ ॥

जिसमें प्रलय काल के मेघ वृद्धि को प्राप्त हुए हों यह जगत् ऐसा नहीं हुआ है और जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक तीन देवता शेष रह गये हैं, ऐसा नहीं हुआ है; इसलिए तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ॥ ३२ ॥

जिनके भेद का अनुमान लोकालोक पर्वत के शिखरों से होता है जो भूमिरूपी कमल की पँखुरियों के सदृश हैं, यहाँ पर दिशाएँ जर्जरित नहीं हुई हैं, तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ॥ ३३ ॥

आकाश में बारहों आदित्यों को तोड़े जा रहे मेरु के टङ्कार की तरह ध्वनि वाली किरणें नहीं घूमती हैं और प्रलय काल के मेघगर्जन नहीं कर रहे हैं फिर तुम व्यर्थ शरीर का त्याग क्यों करते हो ? ॥ ३४ ॥

गरुड पर सवार मैं अण्डज आदि चार प्रकार के प्राणियों से व्याप्त तथा सूर्य आदि के प्रकाश से युक्त दसों दिशाओं में विहार कर रहा हूँ, तुम शरीर का परित्याग मत करो ॥ ३५ ॥

ये हम लोग हैं, ये पर्वत हैं, ये प्राणी हैं, यह तुम हो, यह जगत् है, यह आकाश है, इसलिए तुम प्रलय पर्यन्त स्थायी शरीर का त्याग मत करो ॥ ३६ ॥

दुःखानि विनिकृन्तन्ति मरणं तस्य राजते ॥ ३७ ॥
कृशोऽतिदुःखी मूढोऽहमेताश्चाऽन्याश्च भावनाः ।
मतिं यस्याऽवलुम्पन्ति मरणं तस्य राजते ॥ ३८ ॥
आशापाशनिबद्धोऽन्तरितश्चेतश्च नीयते ।
यो विलोलमनोवृत्त्या मरणं तस्य राजते ॥ ३९ ॥
यस्य तृष्णाः प्रभञ्जन्ति हृदयं हृतभावनाः ।
प्ररोहमिव गर्धेभ्यो मरणं तस्य राजते ॥ ४० ॥
चित्तवृत्तिलता यस्य तालोत्तालमनोवने ।
फलिता सुखदुःखाभ्यां मरणं तस्य राजते ॥ ४१ ॥
रोमराजीलताजालं यस्येमं देहदुर्द्रुमम् ।
अनर्थौघो हरत्युच्चैर्मरणं तस्य राजते ॥ ४२ ॥
यस्य स्वदेहविपिनमाधिव्याधिदवाग्नयः ।
दहन्ति लोलाङ्गलतं मरणं तस्य राजते ॥ ४३ ॥

जिसके व्याकुल मन को घन अज्ञान के सम्बन्ध से विविध दुःख छिन्न-भिन्न करते हैं, उसका मरना शोभा देता है ॥ ३७ ॥

मैं कृश हूँ, मैं अत्यन्त दुःखी हूँ और मैं मूढ़ हूँ ये या इनसे अन्य भावनाएँ जिसकी मति को नष्ट करती हैं, उसका मरना शोभा देता है ॥ ३८ ॥

भीतर की अनेक आशा रूपी पाशों से जो बँधा है और चञ्चल मनोवृत्ति द्वारा इधर-उधर ले जाया जाता है, उसका मरना शोभा देता है ॥ ३९ ॥

तृष्णाएँ, जिन्होंने विवेक रूपी अङ्कुर को हर लिया, जिसके हृदय को भग्न कर देती हैं, उसका मरना वैसे ही शोभा देता है । जैसे मूढ़ पुरुष महान् फल देने वाले धान के अङ्कुर आदि को उसे खाने वाले पशु आदि के लिए काट देते हैं ॥ ४० ॥

जिसके ताड़ वृक्ष के समान राग आदि की उन्नति से सम्पन्न मन रूपी वन में चित्तवृत्ति रूपी लता सुख-दुःख रूपी फलों से युक्त है, उसका मरना उचित है ॥ ४१ ॥

जिसके रोमराजी रूपी शाखाओं के समूह से सम्पन्न देह रूपी दुष्ट वृक्ष को, काम आदि अनर्थ रूपी जोर की आँधी दूर हर ले जाती है, उसका मरना शोभा देता है ॥ ४२ ॥

जिसके चञ्चल अङ्ग रूपी लता वाले स्वदेह रूपी वन को आधि-व्याधि रूपी वनाग्नियाँ जलाती हैं, उसका मरना उचित है ॥ ४३ ॥

कामकोपात्मका यस्य स्फूर्जन्त्यजगरास्तनौ ।
अन्तःशुष्कद्रुमस्येव मरणं तस्य राजते ॥ ४४ ॥
योऽयं देहपरित्यागस्तल्लोके मरणं स्मृतम् ।
न सता नाऽसता तेन कारणं वेद्यवेदनम् ॥ ४५ ॥
यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वात्मतत्त्वावलोकनात् ।
यथार्थदर्शिनो ज्ञस्य जीवितं तस्य शोभते ॥ ४६ ॥
यस्य नाऽहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
यः समः सर्वभावेषु जीवितं तस्य राजते ॥ ४७ ॥
योऽन्तःशीतलया बुद्धया रागद्वेषविमुक्तया ।
साक्षिवत् पश्यतीदं हि जीवितं तस्य राजते ॥ ४८ ॥
येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता ।
चित्तस्याऽन्तेऽर्पितं चितं जीवितं तस्य शोभते ॥ ४९ ॥
अवस्तुसदृशे वस्तुन्यसक्तं कलनामले ।
येन लीनं कृतं चेतो जीवितं तस्य शोभते ॥ ५० ॥
सत्यां दृष्टिमवष्टभ्य लीलयेयं जगत्क्रिया ।
क्रियतेऽवासनं येन जीवितं तस्य राजते ॥ ५१ ॥
नाऽन्तस्तुष्यति नोद्वेगमेति यो विहरन्नपि ।
हेयोपादेयसंप्राप्तौ जीवितं तस्य शोभते ॥ ५२ ॥
शुद्धपक्षस्य शुद्धस्य हंसौघः सरसो यथा ।
यस्माद्गुणौघो निर्याति जीवितं तस्य शोभते ॥ ५३ ॥
यस्मिन् श्रुतिपथं प्राप्ते दृष्टे स्मृतिमुपागते ।
आनन्दं यान्ति भूतानि जीवितं तस्य शोभते ॥ ५४ ॥
यस्योदयेषु हृदयेन जनाम्बुजानि
जीवालिमन्ति सकलानि विलासवन्ति ।
तस्यैव भाति परिजीवितमक्षयेन्दो-
रापूर्णतेव दनुजेश्वर ! नेतरस्य ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमकरणे प्रह्लादनिर्वाणे नारायणवचनोपन्यासो नाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

कामक्रोधी-रूपी अजगर जिसके शरीर में वैसे ही फुफकारते हैं, जैसे सूखे हुए वृक्ष के खोखले में अजगर फुफकारता है उसका मरना शोभा देता है ॥ ४४ ॥

इस देह का परित्याग है जो लोक में मरण नाम से प्रसिद्ध है। देहत्याग तत्त्वज्ञानी का सत् आत्मा से नहीं किया जा सकता, असत् देह से भी उसका सम्पादन नहीं हो सकता, प्रमाणों द्वारा अवश्य वेदनार्ह आत्मा का ज्ञान ही देह आदि की असत्ता में कारण है, क्योंकि देहादि के सद्भाव की प्रतीति अज्ञान निबन्धन है ॥ ४५ ॥

जिसकी बुद्धि स्वात्मतत्त्व के विचार से उचटती नहीं, उस यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञानी का जीवन शोभित होता है ॥ ४६ ॥

जिसका किसी देह में अहंभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि देह के प्रिय अप्रिय से लिप्त नहीं होती वह सब भावों में और विषयों में सम है उसके मरण संभव न होने से सदा उसका जीवन ही शोभित होता है ॥ ४७ ॥

रागद्वेष से रहित अन्तःशीतल बुद्धि से साक्षी के समान इस जगत् को जो देखता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥ ४८ ॥

असार जानकर हेय और उपादेय का त्याग कर जिसने चित्त के विरामभूत साक्षी में अपने चित्त का समर्पण कर दिया है, उसका जीवन शोभित होता है ॥४९॥

शुक्ति, रजत आदि के सदृश वस्तु के समान भासमान बाह्यार्थ कल्पना रूप में अनासक्त चित्त को ब्रह्म में ही लीन करने वाले का जीवन शोभा देता है ॥ ५० ॥

सत्य दृष्टि का अवलम्बन कर इस जगत्-व्यवहार को वासनारहित लीला से करने वाले का जीवन शोभा देता है ॥ ५१ ॥

जो लोकव्यवहार का सम्बन्ध करता हुआ भी दुःख हेतु पदार्थ की प्राप्ति होने पर न तो उद्वेग को प्राप्त होता है और न सुख हेतु वस्तु की प्राप्ति होने पर मन में प्रसन्न होता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥ ५२ ॥

तालाब से हंसों के समूह के समान जिससे गुणों का समूह चला जाता है, जिसके तत्त्वज्ञानी ही आत्मीय है और स्वयं शुद्ध है, उसका जीवन शोभित होता है ॥५३॥

जिसके गुण आदि के श्रवणगोचर होने पर, दर्शन होने पर और स्मरण होने पर प्राणियों को अतिशय आनन्द होता है, उसका जीवन सफल है ॥ ५४ ॥

हे दनुजेश्वर ! जिसका उदय होने पर जीवरूपी भ्रमर से युक्त जनरूपी कुमुद हृदय से आनन्दित होते हैं, क्षयरोग रहित चन्द्रमा की पूर्णता के समान उसीका जीवन शोभित होता है, अन्य का नहीं ॥ ५५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में प्रह्लादनिर्वाण में नारायणवचनोपन्यास नामक कुसुमलता का उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥

४०

श्रीभगवानुवाच

स्थैर्यं देहस्य दृष्टस्य जीवितं प्रोच्यते जनैः ।
देहान्तरार्थं देहस्य संत्यागो मरणं स्मृतम् ॥ १ ॥
द्वाभ्यां चैवाऽसि पक्षाभ्यामाभ्यां मुक्तो महामते ! ।
किं ते मरणमस्तीह किं वा जीवितमस्ति ते ॥ २ ॥
निदर्शनार्थमेतत्तु मयोक्तमरिमर्दन ! ।
न त्वं जीवसि सर्वज्ञ ! म्रियसे न कदाचन ॥ ३ ॥
देहसंस्थोऽप्यदेहत्वाददेहोऽसि विदेहदृक् ।
व्योमसंस्थोऽप्यसक्तत्वादव्योमेव हि मारुतः ॥ ४ ॥
स्पर्शसंबोधकारित्वाद्देह एवाऽस्ति सुव्रत ! ।
उत्सेधारोधकत्वेन खमुत्सेधस्य कारणम् ॥ ५ ॥
प्रबुद्धो ज्ञातवस्तुत्वाद्देहः क्व शमिनामिह ।
इदं त्वेकं परिच्छिन्नं रूपमज्ञेषु दुःस्थितम् ॥ ६ ॥
सर्वदा सर्वमेवाऽसि चित्प्रकाशः परैकधीः ।
को देहः कोऽप्यदेहस्ते यं गृह्णासि जहासि च ॥ ७ ॥
समुदेतु वसन्तो वा वातु वा प्रलयानिलः ।
भावाभावविहीनस्य किमभ्यागतमात्मनः ॥ ८ ॥
प्रलुठत्स्वपि शैलेषु कल्पाग्निषु दहत्स्वपि ।
वहत्सूत्पातवातेषु स्वात्मन्येव हि तिष्ठति ॥ ९ ॥
सर्वभूतानि तिष्ठन्तु सर्वमेव प्रयातु वा ।
नश्यन्तु वाऽथ वर्धन्तामात्मन्येवाऽभितिष्ठति ॥ १० ॥
क्षीयते न क्षयं प्राप्ते वर्धमाने न वर्धते ।
न स्पन्दते स्पन्दमाने देहेऽस्मिन् परमेश्वरः ॥ ११ ॥
देहस्याऽहमहं देहीति क्षीणे चित्तविभ्रमे ।
त्यजामि न त्यजामीति किं मुधा कलनोदिता ॥ १२ ॥

४०

दृष्ट देह की स्थिरता को लोग जीवन कहते हैं फिर द्वितीय देह के ग्रहण के लिए पूर्व देह का त्याग मरण कहा गया है ॥ १ ॥

हे महामते ! इन दोनों पक्षों से तुम मुक्त हो, यहाँ तुम्हारा क्या मरना है अथवा क्या जीवन है ॥ २ ॥

हे शत्रुतापन ! मैंने दृष्टान्त के लिए यह सब कहा था । हे सर्वज्ञ ! न तो तुम कभी जीवित हो और न कभी मरते हो ॥ ३ ॥

देह दृष्टिशून्य तुम भी देह में स्थित होते हुए भी वैसे ही देहरहित होने के कारण अदेह हो जैसे आकाश में स्थित भी वायु आसङ्गरहित होने के कारण आकाशशून्य होता है ॥ ४ ॥

हे सुव्रत ! देह में शीत, उष्ण आदि स्पर्श के वेदन का निमित्त होने से और अन्यत्र उसके अदर्शन से देह में ही तुम हो । असंग आत्मा स्पर्श के संवेदन में वैसे ही कारण हैं जैसे वृक्ष के बढ़ने में रोधक न होने से आकाश बढ़ने में कारण है ॥ ५ ॥

तुम प्रबुद्ध हो गये हो क्योंकि तत्त्वज्ञान हो गया है । बोध होने पर सर्व द्वैत से रहित पुरुषों का शरीर यहां कहाँ रहता है, यह एक परिच्छिन्न देहरूप यद्यपि असंभाव्य है तथापि अज्ञानियों में ही स्थित है ॥ ६ ॥

प्रकाशक होने के कारण तुम्हारी सब वस्तुओं में समान ही स्थित है । इसलिए एकमात्र परमात्मा में बुद्धि-वृत्तिवाले प्रकाशस्वरूप तुम सब कुछ हो अज्ञानी के समान देहमात्र नहीं हो । कौन वस्तु तुम्हारी देह होगी, जिसका कि तुम अहंबुद्धि से ग्रहण करो और अदेह भी कौन होगी, जिसका कि तुम अनहंबुद्धि से त्याग करो ॥ ७ ॥

चाहे वसन्त ऋतु का उदय हो या प्रलयकाल की घनघोर आँधी हो प्रिय और अप्रिय से शून्य आत्मा को क्या लाभ है ॥ ८ ॥

पर्वतों के ढहने पर प्रलयाग्नियों के धधकने पर और उत्पात वायुओं के बहने पर तत्त्वज्ञानी आत्मा में ही स्थित रहता है ॥ ९ ॥

सब भूत रहें या सब कुछ चला जाय सबका नाश हो जाय या सबकी वृद्धि प्राप्त हों, तत्त्वज्ञानी आत्मनिष्ठ ही रहता है उससे विचलित नहीं होता है ॥ १० ॥

इस देह के विनष्ट होने पर परमात्मा का विनाश नहीं होता है, इसके बढ़ने पर परमात्मा नहीं बढ़ता और इसमें चेष्टा होने पर चेष्टित नहीं होता है ॥ ११ ॥

देह के सम्बन्धी में 'अहं' इस प्रकार तादात्म्याध्यास-रूप 'मैं देही हूँ' तद्धर्म संसर्गाध्यासरूप चित्तभ्रम के नष्ट होने पर मैं त्याग करता हूँ अथवा त्याग नहीं करता, इस प्रकार की निरर्थक कल्पना कैसे उदित हो सकती है ? ॥ १२ ॥

इदं कृत्वा करोमीदमिदं त्यक्त्वेदमित्यलम् ।
इति तत्त्वविदां तात ! संकल्पाः संक्षयं गताः ॥ १३ ॥

प्रबुद्धाः सर्वकर्तारः करिष्यन्तीह किञ्चन ।
न तस्याऽकरणे नित्यमकर्तृत्वपदं गताः ॥ १४ ॥

अकर्तृत्वादभोक्तृत्वमर्थादेव समागतम् ।
संगृहीतं किलाऽनुप्तं केनेह भुवनत्रये ॥ १५ ॥

शान्ते कर्तृत्वभोक्तृत्वे शान्तिरेवेह शिष्यते ।
प्रौढिमभ्यागता सैव मुक्तिरित्युच्यते बुधैः ॥ १६ ॥

प्रबुद्धाश्चिन्मयाः शुद्धाः सर्वमाक्रम्य संस्थिताः ।
किं त्यक्तं परिगृह्णन्तु किं गृहीतं त्यजन्तु वा ॥ १७ ॥

ग्राह्यग्रहकसंबन्धप्रमितावयविक्रमैः ।
हीनः प्रमेयावयवैः किं गृह्णातु जहातु किम् ॥ १८ ॥

ग्राह्यग्राहकसंबन्धे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम् ।

हे तात ! इस कार्य को करके मैं इस कार्य को करता हूँ, इसका त्याग कर इसका त्याग करता हूँ, इस प्रकार के संकल्प तत्त्वज्ञानियों के सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ॥१३॥

ज्ञानी पुरुष इस संसार में सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते हैं। कर्म के न करने के कारण वे सदा अकर्तृ रूप से स्थित रहते हैं ॥ १४ ॥

कर्तृत्व न होने से अनायास अभोक्तृत्व प्राप्त हो जाता है। धान आदि के बीज बोये बिना तीनों लोकों में कौन धान आदि का संग्रह कर सकता है ? ॥ १५ ॥

कर्तृत्व और भोक्तृत्व के शान्त होने पर एकमात्र निर्विक्षेपता ही अवशिष्ट रहती है। कर्तृत्व के मूलोच्छेद से बद्धमूल निर्विक्षेपता ही विद्वानों द्वारा मुक्ति कही जाती है ॥ १६ ॥

ज्ञानवान्, चैतन्यस्वरूप परमात्मस्वरूप के आविर्भाव से सब का तिरस्कार करके स्थित शुद्धात्मा पुरुष पहले प्राप्त न हुए किस ऐहिक फल का ग्रहण करें या पहले से गृहीत किस फल का त्याग करें ? ॥ १७ ॥

ग्राह्य, ग्राहक और तत्संबन्धरूप अज्ञानावस्था में यथार्थ रूप से प्रतीत किया और कारक के संबन्ध से बने हुए अवान्तर वाक्यार्थ रूप अवयविक्रम वाले महावाक्यार्थ के अवयवों से आत्मा किसका ग्रहण करे और किसका त्याग करे ? ॥ १८ ॥

ऐहिक और पारलौकिक इष्ट और अनिष्टों के साधनों के त्याग और उपादान के साधन ग्राह्यग्राहक संबन्ध के

स्थितिमभ्यागता शान्तिर्मोक्षनाम्नाऽभिधीयते ॥ १९ ॥

तत्र स्थिताः सदा शान्तास्त्वादृशाः पुरुषोत्तमाः ।
सुषुप्तावयवस्पन्दसाधर्म्येण चरन्ति हि ॥ २० ॥

परावबोधविश्रान्तवासनो जगति स्थितिम् ।
अर्धसुप्त इवेहेमां त्वं पश्याऽऽत्मस्थया धिया ॥ २१ ॥

न रमन्ते हि रम्येषु स्वात्मन्येव गताशयाः ।
नोद्विजन्तेऽन्यदुःखेषु स्वात्मन्येकरसायनाः ॥ २२ ॥

नित्यप्रबुद्धा गृह्णन्ति कार्याणीमान्यसङ्गिनः ।
मुकुरा इव बिम्बानि यथाप्राप्तान्यवाञ्छया ॥ २३ ॥

जाग्रति स्वात्मनि स्वस्थाः सुप्ताः संसारसंस्थितौ ।
बालवत् प्रविवेपन्ते सुषुप्तसदृशाशयाः ॥ २४ ॥

त्वमजितपदवीमुपागतोऽन्तः
कमलजवासरमेकमेव भुक्त्वा ।

नष्ट होने पर रागादिविक्षेपों की शान्ति उत्पन्न होती है। वही रागादि के मूलोच्छेद से स्थिरता को प्राप्त होकर मोक्ष नाम से कही जाती है ॥ १९ ॥

निर्विक्षेप रूप शान्ति में सदा स्थित तुम्हारे ऐसे शान्त पुरुष गाढ़ निद्रा में सोये हुए पुरुष के अवयवों की चेष्टाओं के समान व्यवहार करते हैं ॥ २० ॥

परब्रह्म के ज्ञान से वासनारहित तुम इस जगत् में आत्मनिष्ठ बुद्धि से अर्धसुप्त के समान इस राज्यपालन आदि व्यवस्था को देखो ॥ २१ ॥

स्वात्मा में ही संलग्न चित्त वाला ज्ञानी पुरुष रमणीय अनात्म पदार्थों में सुख का अनुभव नहीं करता और केवल स्वात्मा में ही जिन्हें रसायन के समान मधुर सुख का आस्वाद करता है, और आत्मा का स्पर्श न करने वाले दुःखों के उपस्थित होने पर उद्विग्न नहीं होता है ॥ २२ ॥

नित्यप्रबुद्ध असंग पुरुष यथाप्राप्त इन कार्यों को जैसे दर्पण बिम्बों को ग्रहण करते हैं वैसे ही अनास्था से ग्रहण करते हैं ॥ २३ ॥

संसारस्थिति में सोये हुए आत्मनिष्ठ पुरुष स्वात्मा में ही जागरूक रहते हैं। सुषुप्त के सदृश आशय वाले वे बालकों की तरह व्यवहार करते हैं ॥ २४ ॥

हे महात्मन् ! अन्तः से अजित भगवान् विष्णु की पदवी को प्राप्त तुम ब्रह्मा के एक दिनतक इस पाताल में

गुणगणकलितामिहैव लक्ष्मीं व्रज परमास्पदमच्युतं महात्मन् ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रह्लादबोधनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

ही विविध गुणों से युक्त राज्यलक्ष्मी का उपभोग कर विदेह कैवल्य नामक अच्युत परमपद को प्राप्त करो ॥२५॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में प्रह्लादबोधन नामक कुसुमलता का चालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

४१

श्रीवसिष्ठ उवाच

जगद्रत्नसमुद्गेन त्रैलोक्याद्भुतदर्शिना ।
इत्युक्ते पद्मनाभेन ज्योत्स्नाशीतलया गिरा ॥ १ ॥
प्रह्लादनामा देहोऽसौ विकाशिनयनाम्बुजः ।
मुदोवाच वचो धीरो गृहीतमननक्रमः ॥ २ ॥

प्रह्लाद उवाच

हिताहितविचारेण राजकार्यशतेन च ।
अत्यहं श्रमितो देव ! क्षणं विश्रामतां गतः ॥ ३ ॥
भगवंस्त्वत्प्रसादेन स्थितिः सम्यगथाऽऽगता ।
समाधावसमाधौ च रूपेणाऽहं समः सदा ॥ ४ ॥
चिरमन्तर्महादेव ! दृष्टोऽस्यमलया धिया ।
पुनर्बहिरयं दृष्ट्या दिष्ट्या देव ! प्रदृश्यसे ॥ ५ ॥
अहमासमनन्तायामस्यां दृष्टौ महेश्वर ! ।
सर्वसङ्कल्पमुक्तायां व्योम व्योम्नीव निर्मले ॥ ६ ॥
न शोकेन न मोहेन न च वैराग्यचिन्तया ।
न देहत्यागकार्येण न संसारभयेन च ॥ ७ ॥
एकस्मिन् विद्यमाने हि कुतः शोकः कुतः क्षतिः ।
कुतो देहः क्व संसारः क्व स्थितिः क्व भयाभये ॥ ८ ॥
यथेच्छयैवाऽमलया केवलं स्वयमुत्थया ।
एवमेवाऽहमवसं वितते पावने पदे ॥ ९ ॥
हा विरक्तोऽस्मि संसारं त्यजामीतीयमीश्वर ! ।
अप्रबुद्धदृशां चिन्ता हर्षशोकविकारदा ॥ १० ॥
देहाभावे न दुःखानि देहे दुःखानि मे मतिः ।
इति चिन्ताविषव्याली मूर्खमेवाऽवलुम्पति ॥ ११ ॥

४१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—प्रलय में जगद्रूपी रत्नों को अपने अन्दर समेट लेने के कारण जगद्रूप रत्नों के सन्दूक रूप और सृष्टिकाल में त्रैलोक्यरूपी अद्भुत पदार्थ का दर्शन करने वाले भगवान् विष्णु के चाँदनी के समान शीतल वाणी से पूर्वोक्त बातें कहा ॥ १ ॥

यह सुनकर प्रह्लाद नामक देह ने, मारे आनन्द के जिसके नेत्रकमल विकसित थे और जिसने मनन ग्रहण कर लिया था, प्रसन्नता से उस में वचन कहे ॥ २ ॥

प्रह्लाद ने कहा—हे देव ! असुरों का क्या हित है और देवताओं का क्या अहित है, इस विचार से सैकड़ों राज्यकार्यों से मैं अत्यन्त थक गया था, इसलिए एक क्षण के लिए मैंने विश्राम लिया ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! आप के प्रसाद से तत्त्वबोध से भलीभाँति स्वरूपावस्थिति मुझे प्राप्त हो गई है। मैं समाधि और असमाधि में तथा सदेह और विदेह मुक्तियों में पारमार्थिक रूप से सदा समान ही हूँ ॥ ४ ॥

हे देव ! निर्मल अखण्ड मानस साक्षात्कार वृत्ति से मैंने चिरकाल तक आप के दर्शन किये हैं। इस समय फिर चर्म-चक्षु से भी बड़े भाग्यवश आप मेरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ ५ ॥

हे महेश्वर ! मैं सब सङ्कल्पों से रहित इस अनन्त अभ्यन्तर दृष्टि से निर्मल आकाश में आकाश की तरह न शोक से, न मोह से, न वैराग्यचिन्ता से, न देहत्याग के कार्य से और न संसारभय से ही स्थित था। भाव यह कि शोक, मोह आदि कारणों से समाधि में मैं स्थित नहीं था, जिससे मेरे देहत्याग का प्रसंग आता ॥ ६, ७ ॥

एक तत्त्ववस्तु के विद्यमान रहने पर कहाँ शोक, कहाँ नाश और कहाँ शरीर होगा ? कहाँ संसार, कहाँ स्थिति और कहाँ भय और अभय होंगे ? ॥ ८ ॥

स्वयं उत्पन्न निर्मल यथेच्छा से ही देहत्याग आदि के सङ्कल्प के बिना ही विस्तृत पावन पद में मैं स्थित हूँ ॥ ९ ॥

हे ईश्वर ! अहो ! मैं विरक्त हूँ, संसार का त्याग करता हूँ, इस प्रकार की अज्ञानियों की चिन्ता हर्षशोक रूपी विकार देनेवाली है ॥ १० ॥

इदं सुखमिदं दुःखमिदं नाऽस्तीदमस्ति मे ।
इति दोलायितं चेतो मूढमेव न पण्डितम् ॥ १२ ॥
अहमन्योऽन्य एवाऽयमित्यज्ञानां तु वासना ।
दूरोदस्तात्मबुद्धीनां जयत्यसुमतामिह ॥ १३ ॥
इदं त्याज्यमिदं ग्राह्यमिति मिथ्या मनोभ्रमः ।
नोन्मत्ततां नयत्यन्तर्ज्ञमज्ञमिव दुर्धियः ॥ १४ ॥
सर्वस्मिन्नात्मनि तते त्वयि तामरसेक्षण ! ।
हेयोपादेयपक्षस्था द्वितीया कलना कुतः ॥ १५ ॥
विज्ञानाभासमखिलं जगत्सदसदुत्थितम् ।
किं हेयं किमुपादेयमिह यत्त्यज्यते न वा ॥ १६ ॥
केवलं स्वस्वभावेन द्रष्टृदृश्ये विचारयन् ।
क्षणं विश्रान्तवानन्तः परमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ १७॥
भावाभावविनिर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः ।
एवमासमहं पूर्वमधुनेत्थं व्यवस्थितः ॥ १८ ॥

देह का अभाव होने पर दुःख नहीं रहते, देह में दुःख रहते हैं, इस प्रकार की चिन्तारूपी विषैली नागिन मूर्ख को ही डंसती है, यही मेरा विश्वास है ॥ ११ ॥

यह सुख है, यह दुःख है, यह मेरा है और यह मेरा नहीं है इस प्रकार दोलायमान चित्त मूढ़ को नष्ट करता है, पण्डित को नहीं ॥ १२ ॥

मैं अन्य हूँ और यह है, इस प्रकार की वासना तत्त्वज्ञान को बहुत दूर फेंकने वाले अज्ञानी जीवों को होती है, तत्त्वज्ञानियों को ऐसी वासना नहीं होती ॥ १३ ॥

यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है इस प्रकार का दुर्बुद्धियों का मिथ्या मनोभ्रम अज्ञानी की तरह ज्ञानी को उन्मत्त नहीं बनाता है ॥ १४ ॥

हे कमलनयन ! सब में आत्मरूप आप के व्याप्त होने पर हेयोपादेय पक्ष में स्थित दूसरी कल्पना कहाँ से हो सकती है ? ॥ १५ ॥

भ्रान्तिज्ञान में भासित होनेवाला यह सारा जगत् सत् और असत् से उत्पन्न हुआ है । वहाँ पर क्या वस्तु हेय और क्या वस्तु उपादेय है, जिसका कि त्याग अथवा ग्रहण किया जाय ॥ १६ ॥

अपने स्वभाव से केवल द्रष्टा और दृश्य का विचारशील असीम परमात्मरूप मैंने अपने से अपने में क्षणभर विश्राम लिया ॥ १७ ॥

मैं प्रिय और अप्रिय से रहित हेयोपादेय से विहीन था । इस समय आप से आज्ञप्त पदार्थों के ग्रहण की योग्यता से स्थित हूँ ॥ १८ ॥

स मयाऽऽत्मीयमापन्नं सर्वमात्माऽऽत्मतां गतः ।
करोम्यहं महादेव ! तुभ्यं यत्परिरोचते ॥ १९ ॥
त्वमयं पुण्डरीकाक्षः पूज्यस्तावज्जगत्त्रये ।
तन्मत्तः प्रकृतिप्राप्तां पूजामादातुमर्हसि ॥ २० ॥
इत्युक्त्वा दानवाधीशः पुरः क्षीरोदशायिनः ।
शैलेन्द्र इव पूर्णेन्दुमर्घपात्रमुपाददे ॥ २१ ॥
सायुधं साप्सरोवृन्दं ससुरं सखगाधिपम् ।
पूजयामास गोविन्दं सत्रैलोक्यमथाऽग्रगम् ॥ २२ ॥
सबाह्याभ्यन्तराभ्रान्तभुवनं भुवनेश्वरम् ।
पूजयित्वाऽथ तिष्ठन्तमुवाच कमलापतिः ॥ २३ ॥

श्रीभगवानुवाच

उत्तिष्ठ दानवाधीश ! सिंहासनमुपाश्रय ।
यावदाश्वभिषेकं ते स्वयमेव ददाम्यहम् ॥ २४ ॥
पाञ्चजन्यरवं श्रुत्वा य इमे समुपागताः ।
सिद्धाः साध्याः सुरौघास्ते कुर्वन्तु तव मङ्गलम् ॥२५ ॥

अपने स्वभाव को प्राप्त मैं मेरे द्वारा स्वकर्तव्यता से प्राप्त किये गये आप से आज्ञप्त आप की इच्छा का वशवर्ती होकर सब कार्य करता हूँ, अपने राग से नहीं ॥ १९ ॥

तीनों जगतों में पूज्य आप ये पुण्डरीकाक्ष हैं, इसलिए मुझ से शास्त्र और लोकप्रसिद्धि से प्राप्त पूजा को आप ग्रहण करें ॥ २० ॥

ऐसा कहकर दानवराज प्रह्लाद ने अर्घपात्र वैसे ही उपस्थित किया जैसे—क्षीरोदशायी भगवान् के आगे शैलराज पूर्ण चन्द्रमा को उपस्थित करता है ॥ २१ ॥

प्रह्लाद ने अपने शङ्ख, चक्र आदि आयुधों से युक्त, अप्सराओं द्वारा परिवेष्टित, देवताओं से परिवृत, पक्षिराज गरुड़ से युक्त, उदर के अन्दर स्थित त्रैलोक्यसहित, अपने सामने स्थित भगवान् विष्णु की पूजा की ॥ २२ ॥

जिनके बाहर रोमकूप आदि में और भीतर वस्ति, उदर, हृदय आदि में लोक घूम रहे थे, ऐसे भगवान् ने पूजा करके खड़े हुए प्रह्लाद से भगवान् ने कहा ॥ २३ ॥

श्रीभगवान् ने कहा:—हे दानवेन्द्र, उठो, सिंहासन पर बैठो, मैं स्वयं अपने हाथों से तुम्हारा शीघ्र राज्याभिषेक करता हूँ ॥ २४ ॥

पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि सनकर और देववृन्द आये हैं वे तुम्हारा

इत्युक्त्वा पुण्डरीकाक्षो दानवं सिंहविष्टरे ।
योजयामास योग्यं तं मेरुशृङ्ग इवाऽम्बुदम् ॥ २६ ॥
अथैनं हरिराहूतैः क्षीरोदाद्यैर्महाब्धिभिः ।
गङ्गादिभिः सरित्पूरैः सर्वतीर्थजलैस्तथा ॥ २७ ॥
सर्वविप्रर्षिसङ्घैश्च सर्वसिद्धगणैः सह ।
पुनर्विद्याधरयुतो लोकपालसमन्वितः ॥ २८ ॥
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा दैत्यराज्ये महासुरम् ।
मरुद्गणैः स्तूयमानं पूर्वं स्वर्गे हरिं यथा ॥ २९ ॥
सुरासुरैः स्तूयमानं स्तूयमानः सुरासुरैः ।
अभिषिक्तमुवाचेदं प्रह्लादं मधुसूदनः ॥ ३० ॥

श्रीभगवानुवाच

यावन्मेरुर्धरा यावद्यावच्चन्द्रार्कमण्डले ।
अखण्डितगुणश्लाघी तावद्राजा भवाऽनघ ! ॥ ३१ ॥
इष्टनिष्टफलं त्यक्त्वा समदर्शनया धिया ।
वीतरागभयक्रोधो राज्यं समनुपालय ॥ ३२ ॥
राज्येऽस्मिन् भोगसम्पूर्णे दृष्टानुत्तमभूमिना ।

ऐसा कह कर भगवान् ने मेरु के शिखर पर मेघों के समान योग्य उस दानव को सिंहासन पर बैठाया ॥ २६ ॥

अनन्तर अप्रमेय भगवान् श्रीहरि ने विद्याधर और लोकपालों से परिवृत होकर बुलाये गये क्षीरोद आदि महासागरों, गङ्गा आदि जल-प्रवाहों और सब तीर्थ के जलों से, सब विप्रर्षियों और सब सिद्धगणों के साथ असुर-राज प्रह्लाद का दैत्यराज के रूप में जैसे कि पहले स्वर्ग में देववृन्दों से स्तूयमान इन्द्र का अभिषेक किया था वैसे ही अभिषेक किया ॥ २७–२९ ॥

सुर और असुरों से स्तूयमान भगवान् श्रीहरि ने राज्य में अभिषिक्त, सुर और असुरों से स्तूयमान प्रह्लाद से यह कहा ॥ ३० ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे अनघ ! तुम जब तक पृथिवी और जब तक चन्द्र-सूर्य मण्डल हैं तब तक अखण्डित गुणों से प्रशंसनीय राजा हो ॥ ३१ ॥

अनुराग, भय और क्रोध से रहित तुम, इष्ट और अनिष्ट फल का त्याग कर समबुद्धि से राज्य का पालन करो ॥ ३२ ॥

तुम निरतिशयानन्द भूमि देख चुके हो, तुम्हें सब भोगों से परिपूर्ण राज्य में अरति रूप उद्विग्नता होनी चाहिये और अपने पिता-पितामहों की भाँति स्वर्ग अथवा भूलोक में उद्विग्नता उत्पन्न नहीं करनी चाहिये ॥३३॥

देश, काल और क्रिया से प्रजा, शत्रु आदि के ऊपर

न गन्तव्यस्त्वयोद्वेगः स्वर्गे मानवकेऽथवा ॥ ३३ ॥
देशकालक्रियाकारैर्यथाप्राप्तासु दृष्टिसु ।
प्रकृतं कार्यमातिष्ठ त्यक्त्वा मानसमास्स्व भो ॥ ३४ ॥
अतिदेहतयेदन्तामामतापरिवर्जितम् ।
भावाभावे समं कार्यं कुर्वन्निह न बाध्यसे ॥ ३५ ॥
दृष्टसंसारपर्यायस्तुलितातुलतत्पदः ।
सर्वं सर्वत्र जानासि किमन्यदुपदिश्यते ॥ ३६ ॥
वीतरागभयक्रोधे त्वयि राजनि राजति ।
नेदानीं दुःखदुर्ग्रन्थिर्नाऽसुरान् दलयिष्यति ॥ ३७ ॥
बाष्पश्रीर्नाऽसुरीकर्णमञ्जरीः प्लावयिष्यति ।
वनराजिमिवोन्मत्ता सरित्तारतरङ्गिणी ॥ ३८ ॥
अद्यप्रभृत्यसंप्राप्तदानवामरसङ्गरम् ।
निर्मन्दराम्भोनिधिवज्जगत्स्वस्थमिव स्थितम् ॥ ३९ ॥
देवासुरकुटुम्बिन्यो भर्तृष्वन्तःपुरेषु च ।
स्वेष्वेव यान्तु विश्वासमपरस्परमाहृताः ॥ ४० ॥

निग्रह, अनुग्रह आदि यथा प्राप्त दृष्टियों में तत्-तत् पुरुषों के अनुरूप अपने ऊपर प्राप्त वध, बन्धन आदि कार्य करो। राग, द्वेष आदि विषमता का त्याग कर रहो ॥ ३४ ॥

देह से अतिरिक्त आत्मा है, इस भाव से लाभ और हानि में समान रूप से इदन्ता और ममता से रहित कार्य कर रहे तुम सुख-दुःखों से पीड़ित नहीं होओगे ॥ ३५ ॥

संसार के व्यवहार को तुम देख चुके हो, तुम्हें अनुपम उस परम पद का भी अनुभव हो चुका है, इसलिए सर्वत्र सब कुछ तुम जानते हो। तुमको अधिक क्या उपदेश दिया जाय ? ॥ ३६ ॥

राग, भय और क्रोध से रहित तुमको राजा होने पर अब असुरों में दुःखरूपी दुर्ग्रन्थि नहीं रहेगी और देवताओं में स्थित वह दुःखदुर्ग्रन्थि मेरे द्वारा असुरों का संहार नहीं करावेगी ॥ ३७ ॥

आंसुओं की धारा असुरनारियों की कर्णमञ्जरियों को वैसे ही प्लावित नहीं करेगी जैसे वर्षा ऋतु में बढ़ी हुई बड़ी-बड़ी तरंगवाली नदी वनस्थली को प्लावित नहीं कर देती है ॥ ३८ ॥

आज से देव-दानवों के युद्ध से वञ्चित जगत् मन्दर-रहित सागर के समान स्वस्थ-सा हो जायगा ॥ ३९ ॥

देवता और असुरों की नारियाँ एक दूसरे के पतियों से बन्दी न होकर अपने ही अन्तःपुरों और पतियों में विश्वास को प्राप्त हों ॥ ४० ॥

भव बहुलनिशानितान्तनिद्रा-
तिमिरमपास्य सदोदिताशयश्रीः ।
दनुसुत ! वनिताविलासरम्यां
चिरमजितामुपभुङ्क्ष्व राज्यलक्ष्मीम् ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रह्लादाभिषेको नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

हे पुत्र ! कृष्णपक्ष की रात्रियों में गाढ़ निद्रा और अन्धकाररूप अज्ञानान्धकार को दूर कर तुम सदा उदित, स्वप्रकाश ब्रह्मात्म स्फूर्ति सम्पन्न होकर असुरों की स्त्रियों के विलासों से रमणीय तथा काम आदि शत्रुओं से अपराजित राज्यश्री का चिरकाल उपभोग करो ॥ ४१ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के देवदूतोक्त मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में प्रह्लाद-अभिषेक नामक कुसुमलता का इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

४२

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा पुण्डरीकाक्षः सनरामरकिन्नरः ।
द्वितीय इव संसारश्चचालाऽसुरमन्दिरात् ॥ १ ॥
प्रह्लादादिविनिर्मुक्तैः पश्चात्पुष्पाञ्जलिव्रजैः ।
पूर्यमाणो विहङ्गेशपाश्चात्याङ्गरुहोत्करैः ॥ २ ॥
क्रमात् क्षीरोदमासाद्य विसृज्य सुरवाहिनीम् ।
भोगिभोगासने तस्थौ श्वेताब्ज इव षट्पदः ॥ ३ ॥
भोगिभोगासने विष्णुः शक्रः स्वर्गे सहाऽमरैः ।
पाताले दानवाधीश इति तस्थुर्गतज्वराः ॥ ४ ॥
एष ते कथिता राम ! निःशेषमलनाशिनी ।
प्राह्लादी बोधसंप्राप्तिरैन्दवद्रवशीतला ॥ ५ ॥
तां तु ये मानवा लोके बहुदुष्कृतिनोऽपि हि ।
धिया विचारयिष्यन्ति ते प्राप्स्यन्त्यचिरात् पदम् ॥६॥
सामान्येन विचारेण क्षयमायाति दुष्कृतम् ।
योगवाक्यविचारेण को न याति परं पदम् ॥ ७ ॥
अज्ञानमुच्यते पापं तद्विचारेण नश्यति ।
पापमूलच्छिदं तस्माद् विचारं न परित्यजेत् ॥ ८ ॥
इमां प्रह्लादसंसिद्धिं प्रविचारयतां नृणाम् ।
सप्तजन्मकृतं पापं क्षयमायात्यसंशयम् ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

परे पदे परिणतं पाञ्चजन्यस्वनैर्मनः ।
कथं प्रबुद्धं भगवन् ! प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ १० ॥

४२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार कहकर सुर, नर और किन्नरों से युक्त होने के कारण दूसरे संसार के समान विस्तृत सुर, नर और किन्नरों के सहित भगवान् पुण्डरीकाक्ष असुरगृह से चले ॥ १ ॥

प्रह्लाद आदि के द्वारा पीछे से छोड़ी गई पक्षिराज गरुड़ के पीछे के परोंपर राशिभूत पुष्पाञ्जलियों से आच्छन्न किये गये ॥ २ ॥

भगवान् क्रम से क्षीरसागर में पहुँचकर अनन्तर सुर-वृन्द को विदाकर जैसे सफेद कमल पर भ्रमर बैठता है वैसे ही शेषशय्या पर स्थित बैठ गये ॥ ३ ॥

इस प्रकार शेषनाग के शरीररूपी आसन पर भगवान् विष्णु, स्वर्ग में देवताओं के साथ इन्द्र और पाताल में असुरराज प्रह्लाद तीनों उद्वेग रहित होकर स्थित हुए ॥४॥

हे श्रीरामचन्द्र ! यह अशेष पापों को दूर करने वाली चन्द्रमा के अमृत के समान शीतल प्रह्लाद की ज्ञानप्राप्ति, मैंने आप से कही ॥ ५ ॥

बड़े पातकी मनुष्य भी उसका संसार में बुद्धिपूर्वक विचार करेंगे, तो शीघ्र परम पद को प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

सामान्य विचार से भी जब पाप का नाश हो जाता है तब वेदान्तवाक्यों के विचार से कौन परम पद को प्राप्त न करेगा ? ॥ ७ ॥

अज्ञान पाप कहा जाता है, वह विचार से नष्ट होता है, इसलिए पाप की जड़ उखाड़ फेंकने वाले विचार का परित्याग नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

प्रह्लाद की सिद्धि विचार कर लोगों के निश्चित ही सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा—हे भगवन् ! महात्मा प्रह्लाद का परम पद में परिणत मन पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि से कैसे प्रबुद्ध हुआ ? अर्थात् मन का विलय होने पर पाञ्चजन्य शङ्ख-ध्वनि का श्रवण ही दुर्लभ है, फिर उससे वह प्रबुद्ध कैसे हुआ ? ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

द्विविधा मुक्तता लोके संभवत्यनघाकृते ।
सदेहैका विदेहाऽन्या विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ११ ॥
असंसक्तमतेर्यस्य त्यागादानेषु कर्मणाम् ।
नैषणा तत्स्थितिं विद्धि त्वं जीवन्मुक्ततामिह ॥ १२ ॥
सैव देहक्षये राम ! पुनर्जननवर्जिता ।
विदेहमुक्तता प्रोक्ता तत्स्था नाऽऽयान्ति दृश्यताम् ॥१३॥
भ्रष्टबीजोपमा भूयोजन्माङ्कुरविवर्जिताः ।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥ १४ ॥
पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी ।
आत्मध्यानमयी नित्यं सुषुप्तस्येव तिष्ठति ॥ १५ ॥
अपि वर्षसहस्रान्ते तयैवाऽन्तरवस्थया ।
सति देहे प्रबुद्धयन्ते जीवन्मुक्ता रघूद्वह ! ॥ १६ ॥
प्रह्लादोऽन्तस्थया शुद्धसत्त्ववासनया स्वया ।
बोधमाप महाबाहो ! शङ्खशब्दावबुद्धया ॥ १७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे निष्पाप आकृति वाले श्रीरामचन्द्र जी ! संसार में दो प्रकार की मुक्ति होती है—एक संदेह मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति। उनका यह विभाग है, उसे आप सुनें ॥ ११ ॥

जिस अनासक्त बुद्धि वाले पुरुष का इष्ट और अनिष्ट कर्मों के त्याग और ग्रहण में राग नहीं रहता है, उसकी स्थिति को आप जीवन्मुक्ति जानें ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! देह धारण में हेतुभूत प्रारब्धशेष का भोग द्वारा क्षय होने पर पुनर्जन्म से रहित विदेहमुक्ति है ॥ १३ ॥

विदेहमुक्ति में स्थित पुरुष भुने हुए बीजों के समान पुनर्जन्मरूपी अङ्कुर से रहित पुरुष देहदृश्यता को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ १४ ॥

जीवन्मुक्त पुरुषों के हृदय में शुद्ध, पवित्र, तृष्णा, कार्पण्य आदि से रहित, आत्मध्यानमयी शुद्धसत्त्वानुपातिनी वासना ऐसे ही रहती है जैसे कि सुषुप्त पुरुष के हृदय में रहती है ॥ १५ ॥

हे रघुकुल श्रेष्ठ ! देहधारणहेतु प्रारब्ध के शेष रहने पर हजारों वर्षों के बाद भी हृदय में स्थित उसी वासना से वे प्रबोध को प्राप्त करते हैं ॥ १६ ॥

हे महाबाहो ! प्रह्लाद हृदय में स्थित अपनी शुद्धसत्त्वमयी वासना से, शङ्खध्वनि से उद्बुद्ध प्रबोध को प्राप्त किया था ॥ १७ ॥

हरिरात्मा हि भूतानां तस्य यत्प्रतिभासते ।
तत्तथैव भवत्याशु सर्वमात्मैव कारणम् ॥ १८ ॥
प्रबोधमेतु प्रह्लादो यदैवेति विचिन्तितम् ।
निमेषाद् वासुदेवेन यदैवैतदुपस्थितम् ॥ १९ ॥
आत्मन्यकारणेनैव भूतानां कारणेन च ।
सृष्ट्यर्थं वपुरात्तं हि वासुदेवमयात्मना ॥ २० ॥
आत्मावलोकनेनाऽऽशु माधवः परिदृश्यते ।
माधवाराधनेनाऽऽशु स्वयमात्माऽवलोक्यते ॥ २१ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य राघवात्माऽऽवलोकने ।
विहराऽऽशु विचारात्मा पदं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥२२॥
दुःखासारवती राम ! संसारप्रावृडातता ।
जाड्यं ददाति परमं विचारार्कमपश्यताम् ॥२३॥
प्रसादादात्मनो विष्णोर्मायियमतिभासुरा ।
प्रबाधते न धीरांस्तु यक्षी मन्त्रवतो यथा ॥ २४ ॥

भगवान् हरि सब प्राणियों की आत्मा हैं, वे सत्यसंकल्प हैं, उनको जैसा भान होता है वह सब शीघ्र वैसा ही हो जाता है ॥ १८ ॥

प्रह्लाद प्रबोध को प्राप्त हो भगवान् वासुदेव के ऐसा विचार करते ही पलक भर में ऐसा हो गया ॥ १९ ॥

स्वयं अकारण शुद्धरूप और भूतों के कारण अव्यक्त हरि ने काम, कर्म आदि निमित्तों से अपने में ही जगत् की सृष्टि के लिए वासुदेवमयरूप से शरीर ग्रहण किया है ॥ २० ॥

आत्मदर्शन से शीघ्र भगवान् का दर्शन हो जाता है और भगवान् की आराधना से शीघ्र अपने-आप आत्मा का दर्शन हो जाता है ॥ २१ ॥

हे श्रीराघव ! इस सृष्टि का अवलम्बन कर आप शीघ्र आत्मदर्शन के लिए प्रयत्न करें। विचारात्मा आप शाश्वत पद को प्राप्त करेंगे ॥ २२ ॥

हे रामचन्द्र ! दुःखरूपी मुसलाधार वृष्टिवाली संसाररूपी वर्षा ऋतु, चारों ओर व्याप्त है और वह विचाररूपी सूर्य को न देख रहे लोगों को परम अज्ञान देती है ॥ २३ ॥

जैसे मन्त्रसिद्ध पुरुषों को पिशाची पीड़ित नहीं कर सकती वैसे ही यह अत्यन्त देदीप्यमान माया विष्णुरूप आत्मा के प्रसाद से धीर पुरुषों को पीड़ित नहीं करती है ॥ २४ ॥

आत्मेच्छयैव घनतां समुपागतान्तरा-
त्मेच्छयैव तनुतामुपयाति काले ।
संसारजालरचनेयमनन्तमाया-
ज्वालेह वातवलयादिव पावकस्य ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रह्लादव्यवस्था नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

वैसे ही संसार जालरचनारूप यह विष्णुमाया आत्मा की इच्छा से वैसे ही देहादिरूप निविड अनर्थता को प्राप्त हुई है जैसे अग्नि की ज्वाला वायु के कारण ही निविडता को प्राप्त करती है और अन्त में क्षीणता को प्राप्त करती है ।। २५ ।।

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के देवदूतोक्त मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में प्रह्लादव्यवस्था नामक कुसुमलता का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ४२ ।।

४३

श्रीराम उवाच

भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! शुद्धैस्त्वद्वचनांशुभिः ।
निर्वृताः स्म शशाङ्कस्य करैरोषधयो यथा ॥ १ ॥
कर्णाभिवाञ्छ्यमानानि पवित्राणि मृदूनि च ।
सुखयन्ति गृहीतानि पुष्पाणीव वचांसि ते ॥ २ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन सर्वमासाद्यते यदि ।
प्रह्लादस्तत्कथं बुद्धो न माधववरं विना ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यद्यद्राघव ! संप्राप्तं प्रह्लादेन महात्मना ।
तत्तदासादितं तेन पौरुषादेव नाऽन्यतः ॥ ४ ॥
आत्मा नारायणश्चैव न भिन्नस्तिलतैलवत् ।
तथैव शौक्लयपटवत् कुसुमामोदवत्तथा ॥ ५ ॥
यो हि विष्णुः स एवाऽऽत्मा यो ह्यात्माऽसौ जनार्दनः ।
विष्ण्वात्मशब्दौ पर्यायौ यथा विटपिपादपौ ॥ ६ ॥
प्रह्लादनामा प्रथममात्मैव स्वयमात्मना ।
स्वयैव परया शक्त्या विष्णुभक्तौ नियोजितः ॥ ७ ॥
प्रह्लादो ह्यात्मनैवेनं वरमर्जितवान् स्वयम् ।
स्वयं विचारगं कृत्वा स्वयं विदितवान् मनः ॥ ८ ॥
कदाचिदात्मनैवाऽऽत्मा स्वयं शक्त्या प्रबुध्यते ।
कदाचिद्विष्णुदेहेन भक्तिलभ्येन बोध्यते ॥ ९ ॥

४३

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे सब धर्मों के ज्ञाता ! हे भगवन् ! स्फटिक के समान शुद्ध आप के वचन रूपी किरणों से हम वैसे ही आह्लादित हुए हैं जैसे चन्द्रमा की किरणों से औषधियाँ आह्लादित होती हैं ।। १ ।।

कानों को भले लगने वाले पवित्र और कोमल आप के वचन हम लोगों द्वारा गृहीत होने पर वैसे ही सुख देते हैं जैसे कर्णभूषण के लिए कानों द्वारा वाञ्छित, गुरु, देवता आदि की प्रसन्नता से पाप दूर करने के कारण पवित्र और कोमल फूल ग्रहण करने पर सुख देते हैं ।। २ ।।

यदि पौरुष प्रयत्न से ही सब कुछ प्राप्त होता है, तो प्रह्लाद भगवान् के वर के बिना भी अपने ही पौरुष से क्यों प्रबुद्ध नहीं हुआ है ? ।। ३ ।।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा–हे श्रीराघव ! महात्मा प्रह्लाद ने जो कुछ प्राप्त किया वह दूसरे से नहीं सब अपने पौरुष से ही उसने प्राप्त किया है ।। ४ ।।

जैसे तिलों के अन्तर्गत और तिलों से निकाला हुआ तेल भिन्न नहीं है जैसे शुक्लता और वस्त्र भिन्न नहीं हैं और जैसे फूलों का सार आमोद है वैसे ही आत्मा और नारायण भिन्न नहीं हैं ।। ५ ।।

जो विष्णु है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही जनार्दन है जैसे विटपी और पादप शब्द पर्याय हैं वैसे ही विष्णु और आत्मशब्द पर्याय हैं ।। ६ ।।

पहले प्रह्लाद नामक आत्मा ही स्वयं अपने द्वारा अपनी परम शक्ति से विष्णुभक्ति में नियोजित हुआ ।। ७ ।।

स्वात्मभूत विष्णु से ही प्रह्लाद ने स्वयं इस वर का उपार्जन किया । अपने मन को स्वयं ही विचारयुक्त बनाकर अपनी आत्मा का ज्ञान उसने स्वयं प्राप्त किया ।। ८ ।।

कभी स्वात्मभूत विष्णु द्वारा ही आत्मा अपने प्रयत्न से किये गये विचार के बल से स्वयं प्रबुद्ध किया जाता है

एकस्तस्मात्समुत्तस्थौ जरावान् रक्तलोचनः ।
काचशृङ्गं हिमापूर्णमिव श्वपचनायकः ॥ १० ॥
भो कटंजेति सहसा वदन् कीरमहीपतिम् ।
इह राजा भवन्तं वा कच्चिद् गेयक्रियाविदम् ॥ ११ ॥
रक्तकण्ठं मानयति रागवानिव कोकिलम् ।
आपूरयति वा कच्चिद् गृहवस्त्रासनार्पणैः ॥ १२ ॥
मधू रसालविटपं फलपुष्पभरैरिव ।
दर्शनेन तवाऽद्याऽहं परां निर्वृतिमागतः ॥ १३ ॥
पद्मं सूर्योदयेनेव चन्द्रोदय इवौषधी ।
आनन्दानामशेषाणां लाभानां महतामपि ॥ १४ ॥
विश्रमाणामनन्तानां सीमान्तो बन्धुदर्शनम् ।
श्वपचे प्रवदत्येवं राजा यावत् तया तया ।
चकार तत्कालजया चेष्टयैवाऽवधीरणम् ॥ १५ ॥
तावद् वातायनगताः कान्ताः प्रकृतयस्तथा ।
श्वपचोऽयमिति ज्ञात्वा म्लानतामलमाययुः ॥ १६ ॥

उनमें से लाल नेत्र वाला और हिम से आच्छन्न पर्वत के कांचमय शृङ्ग के समान वृद्धावस्था से सफेद केशों से आच्छन्न काले शरीर का एक बूढ़ा चाण्डालों का नेता उठा ॥ १० ॥

उसने 'हे कटंज' ! इस पूर्वनाम से कीर देश के अधिपति गवल का सहसा संबोधन करते हुए कहा—जैसे शृङ्गारी पुरुष मधुर कण्ठ वाले कोकिल का सम्मान करता है वैसे ही यहां पर राजा गानविद्या में कुशल मधुर कण्ठ वाले आप का सम्मान करता है क्या ? ॥ ११, १२ ॥

जैसे वसन्त फल और पुष्पों की राशियों से आम के वृक्ष को पूर्ण कर देता है, वैसे ही घर, वस्त्र, आसन आदि के दाने से राजा आप को पूर्ण करता है क्या ? ॥ १३ ॥

आप के दर्शनों से सूर्योदय से कमल के समान तथा चन्द्रमा के उदय से औषधियों के समान मैं परम आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ। बन्धुओं का दर्शन सब आनन्दों की, बड़े-बड़े लाभों की और अनन्त विश्रामों की चरम सीमा है। चाण्डाल के ऐसा कहने पर राजा ने उस काल में उत्पन्न हुई विभिन्न चेष्टाओं से ही उसका तिरस्कार किया ॥ १४, १५ ॥

उसी समय झरोखे में बैठी हुई स्त्रियाँ और अमात्य आदि प्रकृतियाँ यह चाण्डाल है यह जानकर अत्यन्त उदास हुईं ॥ १६ ॥

पद्मास्तुषारप्रावृष्ट्या ग्रामाः सावग्रहा इव ।
दाववन्त इवाऽद्रीन्द्रा नागरा न विरेजिरे ॥ १७ ॥
नृपोऽवधीरयामास तां तां श्वपचसंकथाम् ।
वृक्षाग्रगतमार्जारफेत्कारं मृगराडिव ॥ १८ ॥
सत्वरं प्रविवेशाऽन्तःपुरमाम्लानमानवम् ।
राजहंस इवाऽवर्षे सीदत्सरसिजं सरः ॥ १९ ॥
सर्वावयवविश्रान्तां म्लानतामयमाययौ ।
जानुस्तम्भान्तरमहारन्ध्राग्निरिव दुर्द्रुमः ॥ २० ॥
तत्राऽपश्यदसौ सर्वं विषण्णवदनं जनम् ।
जालं कुङ्कुमपुष्पाणां भुक्तमूलमिवाऽऽखुना ॥ २१ ॥
मन्त्रिणो नागरा नार्यस्ततस्ते तं महीपतिम् ।
नाऽस्प्राक्षुरपि तिष्ठन्तं गृह एव शवं यथा ॥ २२ ॥
भृत्याश्चाऽकृतसत्कारं दूर एनमथाऽत्यजन् ।
दुःखयुक्ता घनस्नेहा अपि बालाः शवं यथा ॥ २३ ॥

वे नागरिक वैसे ही सुशोभित नहीं हुए जैसे तुषार से भरने वाली वृष्टि से कमल शोभित नहीं होते और जैसे उत्पातों से युक्त ग्राम शोभित नहीं होते और जैसे वनाग्नि से भरे हुए पर्वत शोभित नहीं होते हैं ॥ १७ ॥

राजा ने चाण्डाल के संभाषण का वैसे ही तिरस्कार किया जैसे वृक्ष की चोटी पर बैठे हुए बिलाव के फुफकार का सिंह तिरस्कार करता है ॥ १८ ॥

उसने तुरन्त आनन्दरहित अन्तःपुर में वैसे ही प्रवेश किया जैसे राजहंस अवर्षण में जिसके कमल म्लान हो रहे हों ऐसे तालाब में प्रवेश करता है ॥ १९ ॥

जिसके तने के बड़े खोखले में अग्नि लगी हो ऐसा सेमल आदि का वृक्ष जैसे म्लानता को प्राप्त होता है वैसे ही वह सब अवयवों में भींनी हुई म्लानता को प्राप्त हुआ ॥ २० ॥

वहाँ पर चूहे ने जिसकी जड़ खा डाली हो ऐसे कुङ्कुम के फूलों की झाड़ी के समान सब लोगों को उसने उदास देखा ॥ २१ ॥

अनन्तर उन मन्त्री, नगरवासी और नारियों ने उसका स्पर्श वैसे ही नहीं किया जैसे घर में ही स्थित शव का लोग स्पर्श नहीं करते ॥ २२ ॥

भृत्यों ने असत्कृत उसका दूर से वैसे ही त्याग कर दिया जैसे दुःखी अत्यन्त स्नेह वाली ललनाएँ शव का दूर से ही त्याग कर देती हैं ॥ २३ ॥

अनानन्दमुखं श्यामं शरीरश्रीविवर्जितम् ।
दग्धं स्थलमिवैनं ते बह्वमन्यन्त नाऽऽकुलाः ।। २४ ।।
धूमायमानदेहस्य परितापदशावती ।
नाऽढौकताऽस्य जनता पार्श्वमग्निर्गिरेरिव ।। २५ ।।
मन्दोत्साहाः समुद्भूताः सभ्यसंघातवर्जिताः ।
न तदाज्ञाः पदं प्रापुर्भस्मनीवाऽम्बुविप्रुषः ।। २६ ।।
क्रूरकर्मकराकारात् संगताशुभदायिनः ।
तस्माद् विशेषेण जना राक्षसादिव दुद्रुवुः ।। २७ ।।
एक एव बभूवाऽसौ जनमध्यगतोऽपि सन् ।
अर्थादिगुणनिर्मुक्तः परदेश इवाऽध्वगः ।। २८ ।।
भृशमालपतेऽप्यस्मै नाऽऽलापं नागरा ददुः ।
मुक्ताजालयुतायाऽपि कीचकायाऽध्वगा इव ।। २९ ।।
अथ सर्वे वयं दीर्घकालं श्वपचदूषिताः ।
प्रायश्चित्तैर्नन शुद्ध्यामः प्रविशामो हुताशनम् ।। ३० ।।

उसके मुँह पर आनन्द की रेखा भी न थी, शरीर काला पड़ गया था, शोभा ने तो उसका सर्वथा त्याग कर दिया था, वह श्मशान-भूमि के समान था। दुःखी नागरिकों ने उसका कुछ भी सम्मान नहीं किया ।। २४ ।।

उसका शरीर धुएँ के समान मैला था। परितापदशा वाली जनता उसके समीप वैसे ही नहीं गई जैसे पर्वत के शिलामय प्रदेश के समीप अग्नि नहीं जाती ।। २५ ।।

भट आदि के समुदाय से उपेक्षित मन्दोत्साह हुई उसकी आज्ञा, भस्म में जल-बिन्दुओं के समान, आज्ञापन योग्य पुरुष को प्राप्त न कर सकी ।। २६ ।।

क्रूर कार्यकारी आकार वाले तथा संगति से अशुभ फल देने वाले उससे भयभीत होकर लोग विशेषरूप से वैसे ही भागते थे जैसे लोग राक्षस से भयभीत होकर भागते हैं ।। २७ ।।

वह बहुत से लोगों के बीच में रहते हुए भी वैसे ही अकेला ही हुआ जैसे परदेश में धन आदि गुणों से रहित पथिक बहुत बड़े जनसमुदाय के बीच रहता हुआ भी अकेला ही रहता है ।। २८ ।।

वैसे ही खूब पुकार रहे एवं मोतियों के हारों से अलङ्कृत भी उसे नगरवासियों से वैसे ही प्रतिवचन नहीं दिया जैसे पथिक वायु के कारण शब्द कर रहे तथा मोतियों की राशि से युक्त भी कीचक नाम के विशेष बाँसों को वचन नहीं देते हैं ।। २९ ।।

इसके अनन्तर हम सब लोग चिर काल तक चाण्डाल के स्पर्श से दूषित हैं, प्रायश्चित्तों से हमारी शुद्धि होने की नहीं; अतएव हम लोग अग्नि में प्रवेश करते हैं ।। ३० ।।

इति निर्णीय नगरे नागरा मन्त्रिणस्तथा ।
अभितो ज्वालयामासुश्चिताः शुष्केन्धनैधिताः ।। ३१ ।।
ज्वालितास्वभितस्तासु तारकास्विव खे तदा ।
बभूव नगरं सर्वमाक्रन्दपरमानवम् ।। ३२ ।।
करुणारावमुखरैः कलत्रैर्बाष्पवर्षिभिः ।
अवष्टब्धं ज्वलत्कुण्डोपान्तमन्दरुदत्प्रजम् ।। ३३ ।।
अग्निकुण्डप्रविष्टानां मन्त्रिणां भृत्यरोदनैः ।
रुदत्क्रन्दद् दृढतरमरण्यमिव मारुतैः ।। ३४ ।।
चितादीपितविप्रेन्द्रमांसमांसलगन्धया ।
जातनीहारमुत्पातवात्ययाऽवकरोद्धतैः ।। ३५ ।।
वातदीर्घवसागन्धदूरानीतखगोर्जितैः ।
चक्रैर्व्योमाऽभवच्छन्नभास्करं जलदैरिव ।। ३६ ।।
वातोद्धूतचितावह्निप्रज्वलद्व्योममण्डलम् ।
उड्डीनाग्निकणव्राततारासारदिगन्तरम् ।। ३७ ।।

ऐसा निश्चय कर नगर में सब नागरिक तथा मन्त्रियों ने सूखी हुई लकड़ियों से बढ़ाई हुई चिताएँ चारों ओर बनाईं ।। ३१ ।।

तब आकाश में तारों के समान चारों ओर उन चिताओं के प्रज्वलित होने पर सारे नगर के लोग विलाप करने लगे ।। ३२ ।।

करुण विलाप करने वाली और आंसुओं की धारा वर्षा ने वाली नारियों द्वारा नगर व्याप्त था तथा वहाँ जल रहे कुण्डों के आस-पास लोग कि कर्तव्यविमूढ होकर रो रहे थे ।। ३३ ।।

अग्निकुण्डों में प्रविष्ट हुए मन्त्रियों के भृत्यों के रोदन द्वारा सारा नगर वैसे ही खूब आंसू बहा रहा था और विलाप कर रहा था जैसे वायुओं से अरण्य दृढ़तर शब्द करता है ।। ३४ ।।

चिताओं में जले हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणों के मांस से अधिक गन्ध वाली उत्पात की आँधी द्वारा मिट्टी के ढेरों से उठे हुए धूलिकणों से वैसा प्रतीत होता था जैसे उस पर तुषार की वृष्टि हुई हो ।। ३५ ।।

वायु से दूर-दूर तक फैली चर्बी की गन्ध से दूर से लाये गये पक्षियों और पिशाच आदि के मण्डलों से आच्छन्न सूर्य वाला वह नगर बादलों से जिसमें सूर्य आच्छन्न हो ऐसे आकाश के समान हुआ ।। ३६ ।।

वायु से उड़ाई गई चिताओं की अग्नि से उस नगर का आकाशमण्डल जल रहा था तथा उड़े हुए अग्निकणों के संघातरूपी तारों से दिशाएँ कर्बुरित हो गई थी ।।३७।।

४७

श्रीवसिष्ठ उवाच

मुहूर्तद्वितयेनाऽथ गाधिराधिभवभ्रमात् ।
प्रशशामाऽऽकुलीभावो वेलावर्त इवाऽम्बुधेः ॥ १ ॥
मनोनिर्माणसंमोहात्तस्मात्स विरराम ह ।
कल्पान्तसमये ब्रह्मा जगद्विरचनादिव ॥ २ ॥
बोधमाप शनैः शान्तः स्वमेवोन्निद्रधीरिव ।
क्षीबतायां प्रशान्तायां यथा परिणताशयः ॥ ३ ॥
अयं सोऽहमिदं कार्यमिदं नेति ददर्श ह ।
निशाव्यपगमे लोको यथा क्षीणे तमःपटे ॥ ४ ॥
स्मृतस्वरूपोऽथ पदमुद्दध्रे स जलान्तरात् ।
शिशिरान्ते प्रवृत्तास्यं सरोजमिव माधवः ॥ ५ ॥
एतद्वारिककुब्व्योमवतीं वसुमतीमिमाम् ।
अन्यामिव पुनः पश्यन् विस्मयं परमं ययौ ॥ ६ ॥
कोऽहं किमिव पश्यामि किमकार्षमहं किल ।
एवं विचारयंश्चित्रं सभ्रूभङ्गमभूत् क्षणम् ॥ ७ ॥
श्रान्तस्तत्क्षणमात्रेण संभ्रमं दृष्टवानहम् ।
इति विज्ञाय सलिलादुदस्थादुदयार्कवत् ॥ ८ ॥
चिन्तयामास च तटे क्व सा माता क्व सा प्रिया ।
यदाऽहं मृतिमायातो मध्ये मातृमहेलयोः ॥ ९ ॥
बालस्य मातापितरौ नष्टौ किल ममाऽमतेः ।
वातनीतस्य पत्रस्य वल्लीवृक्षमिवाऽसिना ॥ १० ॥
अविवाहोऽस्मि जानामि न स्वरूपमपि स्त्रियः ।
दुष्टायाः क्षोभकारिण्या मदिराया इव द्विजः ॥ ११ ॥
अतिदूरतरीभूताः स्वदेशस्य स्वबान्धवाः ।
के नाम मम येषां ते मध्ये जीवं त्यजाम्यहम् ॥ १२ ॥
तस्मादेतत्समुद्भूतमहं किं नाम दृष्टवान् ।
विविधारम्भसंरम्भ गन्धर्वनगरं यथा ॥ १३ ॥

४७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर श्रीगाधिजी पूर्वोक्त संसार-भ्रम से वैसे ही शान्त हुए जैसे समुद्र का अति-संक्षुब्ध तटवर्ती आवर्त शान्त होता है ॥ १ ॥

मन की रचनारूप मोह से वे वैसे ही विरत हुए जैसे प्रलय के समय ब्रह्माजी जगत् की रचना से विरत होते हैं ॥ २ ॥

निद्रारहित बुद्धि वाले शान्त गाधि धीरे-धीरे पूर्वोक्त गाध्यहंभाव बोध को वैसे ही प्राप्त किया जैसे मदिरा आदि के मद के शान्त होने पर स्वच्छ चित्त पुरुष 'मैं अमुक हूँ' इस बोध को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

जो स्थान के लिए जल में उतरा था वह गाधि मैं हूँ, यह अवशिष्ट स्नान, तर्पण आदि कृत्य मेरा कार्य है यह पहले देखा गया चाण्डालराज्य आदि मेरा कार्य नहीं है यह उन्होंने वैसे ही देखा जैसे कि रात्रि के बीतने पर अन्धकारावरण के क्षीण होने पर लोग देखते हैं ॥ ४ ॥

गाधि ने, जिन्हें अपने स्वरूप का स्मरण हो चुका था, जल से वैसे ही पैर बाहर किया जैसे शिशिर ऋतु के अन्त में वसन्त कमल को, जिस का मुकुलरूपी मुख उत्पन्न हो चुका हो, जल के अन्दर से बाहर करता है ॥ ५ ॥

पूर्वानुभूत जल दिशा और आकाशवाली इस पृथिवी को फिर अन्य-सी देख रहे वे परम विस्मित हुए ॥६॥

मैं कौन हूँ, क्या देखता हूँ, मैंने क्या किया इस प्रकार क्षण भर भ्रूभङ्गपूर्वक अन्दर विचार करते हुए वे स्थित रहे ॥ ७ ॥

थके हुए मैंने उस थकावट से ही क्षणभर में महाभ्रम देखा । ऐसा विचार कर वह जल से वैसे ही बाहर निकले जैसे उदयाचल से सूर्य निकलते हैं ॥ ८ ॥

तट पर उन्होंने विचार किया—मेरी वह माता कहाँ है और वह स्त्री कहाँ है ? जब कि मैंने माता और पत्नी के बीच में मृत्यु को प्राप्त किया ॥ ९ ॥

मुझ मन्दभाग्य के माता और पिता, जब मैं बालक ही था तभी, मृत्यु से वैसे नष्ट हो गये थे जैसे वायु से उड़ाये गये पत्ते का माता-पिता-स्थानीय लताप्रधान वृक्ष तलवार से नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

मैं अविवाहित हूँ, मैं क्षोभकारिणी स्त्री का स्वरूप भी वैसे ही नहीं जानता जैसे ब्राह्मण चित्त में क्षोभ पैदा करने वाली दुष्ट मदिरा के रस को नहीं जानता ॥ ११ ॥

मेरे जन्मभूमि के आत्मीय बन्धुबान्धव मुझ से बहुत दूर हैं, जिनके बीच में मैंने प्राण त्यागे थे, वे न मालूम कौन थे ? ॥ १२ ॥

इसलिए उत्पन्न हुए ये विविध प्रकार के पदार्थ और जन्म आदि का अभिमान गन्धर्वनगर के समान मैंने क्या देखा ? ॥ १३ ॥

प्रमत्ततस्करक्रन्दद्वेल्लद्बालकुमारकम् ।
संत्रस्तनागरापास्तजीविताख्यमसंस्थिति ॥ ३८ ॥
अलक्षितगृहं चौरलुण्ठिताखिलसंचयम् ।
त्यक्तपुत्रकलत्रं तन्मरणव्यग्रनागरम् ॥ ३९ ॥
तस्मिंस्तथा वर्तमाने कष्टे विधिविपर्यये ।
अशेषजनताशेषकल्पान्तसदृशस्थितौ ॥ ४० ॥
राज्यसज्जनसंपर्कपवित्रीकृतधीरधीः ।
गवलश्चिन्तयामास शोकेनाकुलचेतनः ॥ ४१ ॥
मदर्थे हि कदर्थोऽयं देशेऽस्मिन् स्थितिमागतः ।
अकालकल्पान्तमयः सर्वनायकनाशनः ॥ ४२ ॥
किं मे जीवितदुःखेन मरणं मे महोत्सवः ।
लोकनिन्द्यस्य दुर्जन्तोर्जीवितान्मरणं वरम् ॥ ४३ ॥
इति निश्चित्य गवलो ज्वलिते ज्वलने पुनः ।
पतङ्गवदनुद्वेगमकरोदाहुतिं वपुः ॥ ४४ ॥
तस्मिन् बलाद् गवलनाम्नि हुताशराशौ
देहे पतत्यवयवाकुलतां प्रयाते ।
स्वाङ्गावदाहदहनस्फुरणानुरोधा
दन्तर्जले झटिति बोधमवाप गाधिः ॥ ४५ ॥
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमितो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
गाधिवृत्तान्ते राज्यभ्रंशो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

॥ द्वादशो दिवसः ॥

वहाँ पर उन्मत्त चोर, लुटेरों द्वारा आभूषण आदि के हरण के समय बालक और कुमार रो और काँप रहे थे, भयभीत नागरिकों ने अपने जीवन और नाम का त्याग कर दिया था एवं किसी प्रकार की मर्यादा नहीं रह गई थी ॥ ३८ ॥

उस नगर में घर नहीं दिखाई देते थे, चोरों ने सब धनसञ्चय लूट लिया था, लोगों ने अपने पुत्र-कलत्र का त्याग कर दिया था और मरने के लिए सब नगरवासी व्यग्र थे ॥ ३९ ॥

इस प्रकार इस कष्ट कर विधिविपर्यय के, जिससे सारी जनता की पूर्ण प्रलय के समान स्थिति थी, प्रवृत्त होने पर शोक से व्याकुल चित्त वाले गवल ने, राज्य के सज्जनों के संसर्ग से जिस की धीर बुद्धि पवित्र हो गई थी, विचार किया ॥ ४०, ४१ ॥

मेरे ही कारण यह अनर्थ, जो अकालप्रलयमय और सब नेताओं का नाशकारी है, इस देश में उत्पन्न हुआ है ॥ ४२ ॥

मेरे जीवन के क्लेश से क्या प्रयोजन है मेरा मरना ही महोत्सव है। लोकनिन्दनीय दुष्ट जीव का जीवन की अपेक्षा मरण अच्छा है ॥ ४३ ॥

ऐसा विचार कर गवल ने अपने शरीर को पतङ्ग के समान बिना किसी उद्वेग के प्रज्वलित अग्नि में आहुति बना दिया ॥ ४४ ॥

गवल नामक उस देह के निर्वेदवश अग्नि में गिरने और अवयवों से व्याकुल होने पर अपने अङ्गों के दाहवश हिलने-डुलने के कारण जल के अन्दर अघमर्षण कर रहे गाधि ने तुरन्त बोध को प्राप्त किया ॥ ४५ ॥

मुनि महाराज के ऐसा कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलावलम्बी हो गये और सभा मुनिजी को नमस्कार कर सायंकाल की विधि के लिए स्नानार्थ चली गई और दूसरे दिन रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर आ गई ॥ ४६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में राज्यभ्रंश नामक कुसुमलता का छीयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

॥ बारहवाँ दिवस ॥

मृतमात्मानमात्मीये सदने शोच्यतां गतम् ।
पतितं वातवेगेन कन्दरान्तरिव द्रुमम् ॥ २१ ॥
प्राणापानप्रवाहेण मुक्तमन्तमुपागतम् ।
संशान्तावयवस्पन्दं निर्वात इव खण्डकम् ॥ २२ ॥
पाण्डुराननमाम्लानं वृक्षपर्णमिवाऽरसम् ।
शवीभूतमिवाऽग्लानं छिन्ननालमिवाऽम्बुजम् ॥ २३ ॥
विपर्यस्तेक्षणं प्रातर्मग्नतारमिवाऽम्बरम् ।
सावग्रहमिव ग्रामं सर्वतः पांसुधूसरम् ॥ २४ ॥
बाष्पविलिन्नमुखैर्दीनैः करुणाक्रन्दकारिभिः ।
आवृतं बन्धुभिः खिन्नैः कुररैरिव पादपम् ॥ २५ ॥
सेतुभङ्गगलद्वारिह्रियमाणमुखाब्जया ।
नलिन्या समधर्मिण्या भार्यया पादयोः श्रितम् ॥ २६ ॥
ताराक्रन्दरणद्रेफलापालापलुब्धया ।
मात्रा गृहीतं चिबुके नवव्यञ्जनलाञ्छिते ॥ २७ ॥
अन्यैः पार्श्वगतैर्दीनैः स्रवदश्रुमुखैर्जनैः ।

उसने अपने घर पर अपने को वायुवेग से कन्दरा के बीच में गिरे हुए वृक्ष के समान मृत और शोचनीय दशा को प्राप्त हुआ देखा ॥ २१ ॥

उसने अपने को प्राण और अपान वायुओं के प्रवाह से मुक्त, नाश को प्राप्त निर्वात स्थान में गिरे हुए कदली के वृक्ष आदि के समान प्रशान्त अवयवचेष्टा वाला, पीले मुँहावला, वृक्ष के सूखे हुए पत्ते के समान मुरझाया हुआ, शव के समान जिसकी नाल कट गई हो ऐसे कमल के समान कुम्हलाया हुआ, प्रातःकाल जिससे तारे अस्त हो गये ऐसे आकाश के समान अस्त नेत्रवाला देखा। वह अनावृष्टि से उध्वस्त ग्राम के समान चारों ओर धूलि से धूसरित था ॥ २२-२४ ॥

करुण विलाप करने वाले दुःखी दीन बन्धुओं से, जिनका मुँह वाष्पधारा से आर्द्र था, वह ऐसे परिवृत था जैसे कुररनामक पक्षियों से वृक्ष आवृत होता है ॥ २५ ॥

बाँध के टूट जाने से बह रहे जल से जिसका मुखरूपी कमल हरा जा रहा हो, ऐसी कमलिनी के तुल्य भार्या ने उसके चरण पकड़ रक्खे थे ॥ २६ ॥

ऊँचे गूंज रहे (रोदन कर रहे) भौंरों के समान प्रलाप और दीर्घ स्वर के आलाप में आसक्त माँने उसकी ठुड्ढी, जो नूतन मूँछ-दाढ़ी से युक्त थी, पकड़ रक्खी थी ॥ २७ ॥

पास में बैठे हुए दुःखी अश्रुधारा बहा रहे अन्यान्य लोगों से वह परिवेष्टित था जैसे ओस बहा रहे सूखे

श्रितं गलदवश्यायैः शुष्कपर्णैरिव द्रुमम् ॥ २८ ॥
वियोगभीत्या संयोगपरिहारपरैरिव ।
दूरं विप्रसृतैरङ्गैरनात्मीयैरिवाऽऽवृतम् ॥ २९ ॥
परस्परमलग्नाभ्यामोष्ठाभ्यां दशनैः सितैः ।
सविरागमिवाऽऽम्लानैर्हसन्तं स्वात्मजीवितम् ॥ ३० ॥
मौनध्यानमिवाऽऽपन्नं पङ्कादिव विनिर्मितम् ।
अप्रबोधाय संसुप्तं विश्राम्यन्तमिवोच्चकैः ॥ ३१ ॥
बान्धवाक्रन्दसंरम्भकोलाहलगता गिरः ।
स्नेहभावविचारार्थं शृण्वन्तमिव यत्नतः ॥ ३२ ॥
अथ तत्कालकल्लोलप्रलापाकुलचेष्टितैः ।
सोरस्ताडनमूर्च्छोत्थनेत्रवारिवहाप्लुतैः ॥ ३३ ॥
क्रमेण स्वजनैः क्षुब्धैस्ताराक्रन्दादिघर्घरैः ।
निष्कालितममङ्गल्यमपुनर्दर्शनाय वै ॥ ३४ ॥
नीतं श्मशानं मांसान्त्रवसापङ्ककलङ्कितम् ।
शुष्काशुष्करसक्लिन्नं कङ्कालशतसंकुलम् ॥ ३५ ॥

पत्तों से वृक्ष परिवेष्टित होता है ॥ २८ ॥

वियोग के भय से संयोग का त्याग करने के समान दूर हटे हुए हाथ, पैर आदि अङ्गों से अनात्मीय जनों की भाँति वह आवृत था ॥ २९ ॥

परस्पर न सटे हुए ओठों से और कुछ मलिन सफेद दाँतों से अपने जीवन को इतने समय तक वृथा गया इस प्रकार हंस रहा था ॥ ३० ॥

विरक्त पुरुष के समान मौन ध्यान को प्राप्त हुआ-सा, पङ्कसे बनाया हुआ-सा, फिर न जागने के लिए सोया-सा, दीर्घ विश्राम कर रहा-सा था ॥ ३१ ॥

बान्धवों के रोने पीटने के कोलाहल से मिली हुई वाणियों को किसका मेरे प्रति अधिक स्नेह है और किसका कम इस प्रकार विचार करने के लिए वह यत्न से सुन रहा था ॥ ३२ ॥

तदनन्तर उस समय राशिभूत निरन्तर प्रलापों से व्याकुल चेष्टावाले छाती पीटने के साथ मूर्च्छा से उत्पन्न नेत्र के जलप्रवाह से सराबोर दीर्घ विलाप आदि के घर्घर शब्द से पूर्ण दुःखी आत्मीयों से उसका अमङ्गल शव फिर न देखने के लिए घर से बाहर निकाला गया और श्मशान में ले जाया गया ॥ ३३-३४ ॥

वह श्मशान माँस, आँतें और चर्बी के पङ्क से दूषित, सूखे और ताजे खून से तर तथा सैकड़ों कङ्कालों से व्याप्त था ॥ ३५ ॥

गृध्राभ्रच्छन्नसूर्यांशु चिताज्वलननिस्तमः ।
शिवाशिवमुखज्वालाजालपल्लविताविनि ॥ ३६ ॥
वहद्रक्तसरित्स्नातमग्नकङ्कोग्रवायसम् ।
रक्तार्द्रतन्त्रीप्रसरजालाबद्धजरत्खगम् ॥ ३७ ॥
तत्र ते ज्वलने दीप्ते चक्रुस्तं भस्मसाच्छवम् ।
बान्धवाः सलिलापूरं समुद्रा इव वाडवे ॥ ३८ ॥

चित्तिश्चटचटास्फोटैः शवमाशु ददाह सा ।
शुष्केन्धनबृहच्छूनज्वालाजालजटावली ॥ ३९ ॥
अभ्युल्लसत्कटकटारवमुक्तगन्ध-
व्याप्ताम्बुवाहपटलोऽस्थिचयं हुताशः ।
दन्ती सरन्ध्रमिव वेणुवनं समन्ता-
दुद्वान्तमेदुररसं दलयाञ्चकार ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते गाधिविनाशो नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

चील, गीधरूपी मेघों से उसमें सूर्य की किरणें आच्छन्न थीं, चिता की अग्नि से अन्धकार न था, सियारों के मुख से निकली हुई अशुभ ज्वालाओं से उसमें पृथ्वी पल्लव-युक्त-सी प्रतीत होती थी ॥ ३६ ॥

वहाँ पर बह रहीं खून की नदियों में कोई सफेद चील और कौवे स्नान करते थे और कोई डूब गये थे, खून से तर आँतों के समूहरूपी जाल में बूढ़े पक्षी बँधे हुए थे ॥ ३७ ॥

वहाँ पर उन बन्धुओं ने प्रदीप्त अग्नि में जैसे समुद्र बड़वानल में अपने जलप्रवाह को भस्म करते हैं वैसे ही उसे भस्म किया ॥ ३८ ॥

सूखे हुए इन्धनों से खूब बढ़ी हुई ज्वालाराशि रूपी जटाओं से युक्त उस चिता ने चट-चट शब्दों से शव को शीघ्र जला दिया ॥ ३९ ॥

जिसने बढ़ रहे कट-कट शब्दों से और छोड़ी गई दुर्गन्धि से मेघमण्डल को व्याप्त करने वाली अग्नि ने जिस से बढ़े हुए रस निकल चुके थे अस्थियों को वैसे ही विद-लित कर दिया जैसे हाथी सूराखनाले बाँस के समूह को चारों ओर विदलित कर देता है ॥ ४० ॥

इस प्रकार ऋषीप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में गाधिविनाश नामक कुसुमलता का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

४५

वसिष्ठ उवाच

अथाऽपश्यदसौ गाधिः स्वाधिपीवरया धिया ।
अन्तर्जलस्थ एवाऽन्तरात्मनाऽऽत्मनि निर्मले ॥ १ ॥
भूतमण्डलपर्यन्तग्रामोपान्तनिवासिनाम् ।
श्वपचानां स्त्रिया गर्भे स्थितमात्मानमाकुलम् ॥ २ ॥
गर्भवासभराक्रान्तं पीडितं पेलवाङ्गकम् ।
श्वपचीहृदये सुप्तं स्वविष्ठायामिवाऽऽकुलम् ॥ ३ ॥

शनैः पक्वतया काले प्रसूतं मेचकच्छविम् ।
श्वपच्या प्रावृषेवाऽब्दं श्याममावलितं मलैः ॥ ४ ॥
संपन्नं श्वपचागारे शिशुं श्वपचवल्लभम् ।
इतश्चेतश्च गच्छन्तमुत्पीडमिव यामुनम् ॥ ५ ॥
द्वादशाब्ददशां यातं संस्थितं षोडशाब्दिकम् ।
पीवरांसमुदाराङ्गं पयोदमिव मेदुरम् ॥ ६ ॥

४५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इसके बाद जल के भीतर स्थित गाधि ने मानसिक दुःखों से पूर्ण अपनी बुद्धि से निर्मल आत्मा में अन्तरात्मा से अपने को भूतमण्डल-नामक देश की सीमा के गांव के समीप रहने वाले चाण्डालों की स्त्री के गर्भ में स्थित आकुल देखा ॥ १,२॥

गर्भवास के दुःखों से वह पीड़ित था, उसके अङ्ग कोमल थे और वह अपनी विष्ठा के समान चाण्डाली के हृदय में सोया व्याकुल था ॥ ३ ॥

क्रमशः परिपक्व होने के कारण वैसे ही समय पर चाण्डाली से उत्पन्न किया गया वह काली कान्तिवाला तथा मल-मूत्र आदि से वैसे ही वेष्टित था जैसे वर्षा ऋतु काले मेघ को समय पर पैदा करती है ॥ ४ ॥

चाण्डालों के घर में उत्पन्न और चाण्डालों का अत्यन्त प्रिय शिशुरूप इधर-उधर चल रहा वह यमुना-प्रवाह में गिरे हुए कर्णभूषणरूप नील कमल के समान था ॥ ५ ॥

बारह वर्ष की अवस्था को प्राप्त अनन्तर सोलह वर्ष की अवस्था में स्थित, स्थूल कन्धावाला, विशालकाय, उदीयमान मेघ के समान था ॥ ६ ॥

सारमेयपरीवारं विहरन्तं वनाद् वनम् ।
निघ्नन्तं मृगलक्षाणि पौलिन्दीं स्थितिमागतम् ॥ ७ ॥
तमाललतयेवाऽथ श्रितं श्वपचकन्यया ।
स्तनस्तबकशालिन्या नवपल्लवहस्तया ॥ ८ ॥
श्यामया मलिनाकारदशनामलमालया ।
वनपल्लवयाभूरिविलासवलिताङ्ग्या ॥ ९ ॥
विलसन्तं वनान्तेषु तया सह नवेष्टया ।
श्यामलं श्यामया भृङ्गं भृङ्ग्येव कुसुमर्धिषु ॥ १० ॥
वनपर्णलतापत्रे वसन्तं व्यसनातुरम् ।
विन्ध्यकान्तारमाकारमभ्यागममिवोद्भटम् ॥ ११ ॥
विश्रान्तं वनकुञ्जेषु सुप्तं गिरिदरीषु च ।
निलीनं पत्रपुञ्जेषु गुल्मकेषु कृतालयम् ॥ १२ ॥
किंकिरातावतंसाढ्यं यूथिकास्रग्विभूषितम् ।
केतकोत्तंससुभगं सहकारस्रगाकुलम् ॥ १३ ॥

शिकार खेलने के लिए कुत्तों से परिवृत होकर एक वन से दूसरे वन में विहार कर रहा, लाखों मृगों को मार रहा वह व्याधों की अवस्था को प्राप्त था ॥ ७ ॥

अनन्तर तमाल की लता के समान चाण्डालकन्या से उसने विवाह कर लिया था। वह स्तनरूपी स्तवकों से सुशोभित थी, नूतन पल्लव के समान उसके हाथ थे। दन्तधावन न करने के कारण मलिन और स्वाभाविक शुक्लता के कारण निर्मल उसकी दन्तपंक्ति थी और वह स्वयं श्याम थी। नव पल्लवों का अनुकरण करनेवाले बहुत से विलासों से उसके अंग पूर्ण थे ॥ ८, ९ ॥

श्यामवर्ण वाला वह नूतन होने के कारण ही अभीष्ट श्यामवर्ण वाली उसके साथ पुष्पों की समृद्धि से पूर्ण वन-प्रान्तों में वैसे ही विहार करता था जैसे काली भँवरी के साथ काला भौंरा पुष्पों की समृद्धि से पूर्ण वनान्तों में विहार करता है ॥ १० ॥

वन की ताम्बूल लताओं के पत्ते में निवास कर रहा व्यसनों से आतुर वह पुरुष का आकार धारण किये हुए विन्ध्याचल के समान भीषण था ॥ ११ ॥

वह वन के कुञ्जों में विश्राम करता था, पर्वत की गुफाओं में सोता था, पत्तों की ओट में छिपा रहता था, बड़ी-बड़ी झाड़ियों को उसने अपना निवास-स्थान बना रक्खा था ॥ १२ ॥

वह किंकिरात की मञ्जरियों के कर्णभूषणों से अलङ्कृत रहता था, जुही की मालाओं से विभूषित रहता था, केवड़े के कर्णपूरों से बड़ा सुन्दर लगता था और आम के बौरों की माला से आच्छन्न रहता था ॥ १३ ॥

लुलितं पुष्पशय्यासु भ्रान्तमद्रितटीषु च ।
तज्ज्ञं काननकोशेषु बहुज्ञं मृगमारणे ॥ १४ ॥
प्रसूतमथ शैलेषु पुत्रान्निजकुलाङ्कुरान् ।
अत्यन्तविषमोदन्तान् खदिरः कण्टकानिव ॥ १५ ॥
कलत्रवन्तं संपन्नं स्थितं प्रक्षीणयौवनम् ।
शनैर्जर्जरतां यातं वृष्टिहीनमिव स्थलम् ॥ १६ ॥
ततो भूतग्रहग्रामजन्मदेशमुपेत्य तम् ।
संस्थितं मठिकां पर्णैः कृत्वा दूरे मुनीन्द्रवत् ॥ १७ ॥
जराजरठतां यातं स्वदेहसमपुत्रकम् ।
जीर्णप्रायरसश्वभ्रतमालतरुसंनिभम् ॥ १८ ॥
प्रौढं श्वपचगार्हस्थ्यं कुर्वाणं बहुबान्धवम् ।
क्रूरनामार्थवचनं परां वृद्धिमुपागतम् ॥ १९ ॥
अथाऽपश्यदसौ गाधिर्यावत्तस्य कलत्रिणः ।
जरठः श्वपचेभ्यश्च स्वात्मनो भ्रमहारिणः ॥ २० ॥

फूलों की सेजों पर लेटा रहता था, पर्वत के तटों पर घूमता था, वनों के विषयों में असाधारण ज्ञान रखता था और मृगों का शिकार करने में पण्डित था ॥ १४ ॥

अनन्तर उसने वनों में अपने कुल के अङ्कुर रूप श्रवण के भी अयोग्य पुत्रों को वैसे ही उत्पन्न किया जैसे खैर काँटों को पैदा है ॥ १५ ॥

पहले वह स्त्री-पुत्र आदि परिवार वाला हुआ, उसके बाद उसका यौवन क्षीण हो गया, अनन्तर वृष्टिरहित भूमि की तरह धीरे-धीरे जर्जर हो गया ॥ १६ ॥

अनन्तर भूतमण्डल नामक देश की अपनी जन्म-भूमि में आकर दूर में पर्णकुटी बनाकर मुनीश्वर के समान रहने लगा ॥ १७ ॥

वह वृद्धावस्था से अत्यन्त जर्जरता को प्राप्त हो गया, अपने शरीर के समान प्रमाण वाले उसके लड़के थे, वह गड्ढे में उत्पन्न सूखे हुए तमाल वृक्ष के समान था ॥१८॥

वह बड़ा प्रौढ था, चाण्डाल की गृहस्थी कर रहा था, उसके बहुत से बन्धु-बान्धव थे, नाम, कर्म और वचन बड़े क्रूर थे और वह बहुत बड़ी कुटुम्बवृद्धि को प्राप्त था ॥ १९ ॥

अनन्तर अन्य चाण्डालों से वृद्ध, अपने पूर्वोक्त भ्रम का अनुसरण कर रहे कुटुम्बी गाधि ने अपना जितना कुटुम्ब था उसे मृत्यु द्वारा आवृत कर—जैसे वृष्टि-जल

तत्कलत्रमशेषेण नीतमावृत्य मृत्युना ।
आसारसलिलेनाऽऽशु वनपर्णगणो यथा ॥ २१ ॥
प्रलपत्येक एवाऽसावटव्यां दुःखकर्शितः ।
वियूथ इव सारङ्गो विगतास्थोऽश्रुलोचनः ॥ २२ ॥
दिनानि कतिचित्तत्र नीत्वा शोकपरीतधीः ।
जहौ स्वदेशं संशुष्कपद्मं सर इवाऽण्डजः ॥ २३ ॥
विजहार बहून् देशाननास्थश्चिन्तयाऽन्वितः ।
प्रेर्यमाण इवाऽन्येन वातनुन्न इवाऽम्बुदः ॥ २४ ॥
एकदा प्राप कीराणां मण्डले श्रीमतीं पुरीम् ।
खेचरो विहरन् शून्ये सद्विमानमिवाऽम्बरे ॥ २५ ॥
नृत्यद्रत्नांशुकच्छन्नमार्गवृक्षलताङ्गनम् ।
आगुल्फाकीर्णकुसुमं चन्दनागुरुसुन्दरम् ॥ २६ ॥
सामन्तैर्ललनाभिश्च नागरैश्च निरन्तरम् ।
स्वर्गमार्गोपमं राजमार्गमध्यमवाप सः ॥ २७ ॥
मणिरत्नकृतागारं तत्र मङ्गलहस्तिनम् ।

का प्रवाह वन में गिरे हुए सूखे पत्तों को ले जाता है वैसे ही—हरा गया देखा ॥ २०-२१ ॥

दुःख से पीड़ित वह झुण्ड से बिछुड़े हुए मृग के समान एकाकी ही वन में रोता था। उसके नेत्र आँसुओं से भीगे रहते थे और उसका कोई अवलम्ब न था ॥२२॥

शोक से व्याकुल बुद्धि वाले उसने कुछ दिन वहाँ बिता कर वैसे ही स्वदेश का त्याग कर दिया जैसे सूखे कमल वाले सरोवर का हंस आदि त्याग कर देते हैं ॥२३॥

अवलम्बरहित और शोकपीड़ित वह किसी दूसरे के द्वारा प्रेरित हो रहे के समान वायु से उड़ाये गये बादल के सदृश बहुत देशों में भटकता रहा ॥ २४ ॥

एक समय आकाश में सुन्दर विमान के समान आकाश में विचरण करने वाला श्रीमती पुरी में कीर लोगों के जो निवासभूत देश था वहाँ पहुँचा ॥ २५ ॥

वह स्वर्ग मार्ग के तुल्य राजमार्ग के मध्य में—जहाँ पर रत्नों और वस्त्रों से आच्छादित मार्ग स्थित वृक्ष, लताएँ और अङ्गनाएँ नाच रही थीं, टखनों तक फूल बिखरे हुए थे, अधीन राजाओं, ललनाओं और नागरिक लोगों से जो ठसाठस भरा था और चन्दन तथा अगर से सुशोभित था वहाँ पहुँचा ॥ २६-२७ ॥

वहाँ पर उसने चलने से चञ्चल हुए श्रेष्ठ मणियों से देवताओं के मन्दिर वाले सुमेरु पर्वत के, तुल्य श्रेष्ठ रत्नों के झूले से अलङ्कृत मङ्गल हस्ती को देखा ॥ २८ ॥

राजा के मरने पर राजा के लिए वह वैसे ही इधर-

ददर्शाऽमरशैलेन्द्रमिव संचारचञ्चलम् ॥ २८ ॥
मृते राजनि राजार्थं विहरन्तमितस्ततः ।
रत्नज्ञमिव रत्नार्थं चिन्तामणिदिदृक्षया ॥ २९ ॥
तमसौ श्वपचो नागं कौतुकोद्धुरया दृशा ।
चिरमालोकयामास स्पन्दयुक्ताचलोपमम् ॥ ३० ॥
आलोकयन्तमादाय तं करेण स वारणः ।
स्वकटेऽयोजयन्मेरुस्तटेऽर्कमिव सादरम् ॥ ३१ ॥
तस्मिन् कटगते नेदुर्जयदुन्दुभयोऽभितः ।
कल्पाम्बुद इवाऽऽकाशमधिरूढे महार्णवाः ॥ ३२ ॥
पूरिताशो बभौ राजा जयतीति जनस्वनः ।
उदभूत्संप्रबुद्धानां विहगानामिवाऽऽरवः ॥ ३३ ॥
उदभूद् वन्दिवृन्दानां घनकोलाहलस्ततः ।
वेलाविलुलिताम्बूनामम्बुधीनामिव ध्वनिः ॥ ३४ ॥
तं तत्राऽऽवरयामासुर्मण्डनार्थं वराङ्गनाः ।
क्षीरोदगतविभ्रान्ता लहर्य इव मन्दरम् ॥ ३५ ॥

उधर विहार कर रहा थ, जैसे रत्न परीक्षा कुशल पुरुष चिन्तामणि को देखने की इच्छा से रत्न के लिए विहार करे ॥ २९ ॥

उस चाण्डाल ने कौतूहल से विस्फारित दृष्टि से स्पन्दयुक्त पर्वत के समान उस हाथी को बहुत देर तक देखा ॥ ३० ॥

उस हाथी ने देख रहे उस चाण्डाल को अपनी सूँड से पकड़ कर बड़े आदर के साथ उसको अपने गण्डस्थलतट पर वैसे ही चढ़ाया जैसे मेरु अपने तटपर सूर्य को संलग्न करता है ॥ ३१ ॥

उसके गण्डस्थल पर आरूढ़ होने पर चारों ओर विजय के नगारे वैसे ही बजने लगे जैसे प्रलयकाल के मेघ के आकाश में आरूढ़ होने पर सागर गरजते हैं ॥ ३२ ॥

मनोरथों को पूर्ण करने वाला राजा सुशोभित हुआ। अनन्तर जागे हुए पक्षियों की ध्वनि के समान राजा की जय हो, इस प्रकार की दिशाओं को करने वाली जनध्वनि उत्पन्न हुई ॥ ३३ ॥

इसके बाद जलतटों से टकराये सागरों की ध्वनि के समान बन्दि-वृन्दों का तुमुल कोलाहल हुआ ॥ ३४ ॥

क्षीरसागर के मन्थन से जनित क्षोभ से घूम रहीं लहरियों ने सुन्दर-सुन्दर ललनाओं ने अलङ्कृत करने के लिए वैसे ही उसे घेर लिया जैसे मन्दराचल को परिवेष्टित किया था ॥ ३५ ॥

मानिन्यस्तं गुणप्रोतैर्नानारत्नैरपूरयन् ।
नानाप्रभाप्रभातार्का वेला इव तटाचलम् ॥ ३६ ॥

तुषारशिशिरस्पर्शैस्तास्तं हारैरभूषयन् ।
श्यामा वननदीपूरैर्वर्षाः शृङ्गमिवोत्तमम् ॥ ३७ ॥

विचित्रवर्णसौगन्ध्यैः पुष्पैरावलयन् स्त्रियः ।
वनं मधुश्रिय इव तं लोलकरपल्लवाः ॥ ३८ ॥

नानावर्णरसामोदैस्तास्तमाशु विलेपनैः ।
अलेपयन् प्रभाजालैर्नगोऽभ्रमिव धातुभिः ॥ ३९ ॥

रत्नकाञ्चनकान्तोऽसावाददे चित्तमाततम् ।
संध्याभ्रतारेन्दुनदीव्याप्तं मेरुरिवाऽम्बरम् ॥ ४० ॥

भूषितः सविलासाभिर्बालवल्लीभिरावृतः ।
रत्नपुष्पांशुकाकीर्णः कल्पवृक्ष इवाऽऽबभौ ॥ ४१ ॥

तादृशं तमुपाजग्मुः परिवारसमन्विताः ।

उन्होंने सूत्रों में गुँथे हुए रत्नों से उसे वैसे ही परिपूर्ण किया जैसे वेलाएँ, जिनमें सूर्य नाना प्रकार के मणियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण तत्-तत् प्रभाओं से सुशोभित रहता है, अपने तटवर्ती पर्वत को पूरित करती हैं ॥ ३६ ॥

हिम के समान शीतल स्पर्श वाले हारों ने उन युवतियों ने उसे वैसे ही विभूषित किया जैसे वृष्टियाँ जल-प्रवाहों से वनमध्य में स्थित उत्तम शिखर को विभूषित करती हैं ॥ ३७ ॥

विचित्र वर्ण और सुगन्धि वाले फूलों से स्त्रियों ने उसे वैसे ही परिवेष्टित किया जैसे चञ्चल कररूपी पल्लव वाली बसन्त शोभा वन को फूलों से वेष्टित करती है ॥ ३८ ॥

विविध रंग, रस और सुगन्धि वाले विलेपनों से उन्होंने शीघ्र उसका वैसे ही लेप किया जैसे पर्वत मेरु आदि धातुओं की प्रभाराशियों से मेघ को लिप्त करता है ॥ ३९ ॥

रत्न और सुवर्ण के भूषणों से भूषित उसने उनके उदार चित्त को वैसे ही हर लिया जैसे मेरु सन्ध्याकाल के मेघ, तारे, चन्द्रमा और आकाशगंगा से व्याप्त आकाश को ग्रहण करता है ॥ ४० ॥

भाँति-भाँति के विलासों से युक्त ललनारूपी लताओं से परिवेष्टित और मणि और सुवर्ण के आभूषणों से विभूषित वह विलासयुक्त छोटी-छोटी लताओं से व्याप्त

सर्वाः प्रकृतयः फुल्लं मार्गद्रुममिवाऽध्वगाः ॥ ४२ ॥

ता एनमासने सैंहे तत्राऽभिषिषिचुः क्रमात् ।
तस्मिन्नेव गजे शक्रमैरावत इवाऽमराः ॥ ४३ ॥

एवं स श्वपचो राज्यं प्राप कीरपुरान्तरे ।
आरण्यं हरिणं पुष्टमप्राणमिव वायसः ॥ ४४ ॥

कीरीकरतलाम्भोजप्रमृष्टचरणाम्बुजः ।
सर्वाङ्गे कुङ्कुमालेपैः सन्ध्याम्बुधरशोभनः ॥ ४५ ॥

जज्वाल कीरनगरे नागरीगणवानसौ ।
सिंहीगणयुतः सिंहो यथा कुसुमिते वने ॥ ४६ ॥

हरिहतकरिकुम्भोन्मुक्तमुक्ताकलाप-
प्रविरचितशरीरः शान्तचिन्ताविषादः ।
अरमत सह सद्भिस्तत्र भोगैः सरस्यां
रविकरमदतप्तो वारिपूरैरिवेभः ॥ ४७ ॥

रत्नरूपी पुष्प और वस्त्रों से सुशोभित कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हुआ ॥ ४१ ॥

इस प्रकार के उसके पास परिवारयुक्त सब प्रकृतियाँ वैसे ही आईं जैसे फूले हुए मार्ग के वृक्ष के समीप पथिक जाते हैं ॥ ४२ ॥

उन्होंने उसी हाथी पर उसका सिंहासन में वैसे ही अभिषेक किया जैसे देवता ऐरावत हाथी पर इन्द्र का अभिषेक करते हैं ॥ ४३ ॥

उस चाण्डाल ने कीरनगर के मध्य में वैसे ही इस प्रकार राज्य प्राप्त किया जैसे कौवा परिपुष्ट, प्राणविहीन जंगली हरिण को पाता है ॥ ४४ ॥

कीर देश की नारियों के करकमलों से जिसके चरण दबाये जाते थे, सर्वाङ्ग में कुङ्कुम के लेप से जो सन्धाकाल के समान सुन्दर था ॥ ४५ ॥

इस प्रकार का वह नागरिक जनों से युक्त होकर जैसे फूले हुए वन में सिंहिनियों के झुण्ड से युक्त सिंह सुशोभित होता है वैसे ही कीरनगर में सुशोभित हुआ ॥ ४६ ॥

सिंहों से विदीर्ण किये गये हाथियों के कुम्भों से गिरे हुए मोतियों से विभूषित शरीर वाला और चिन्ता एवं विषाद से शून्य वह सज्जनों के साथ भोगों से वैसे ही आनन्द लेता था जैसे तालाब में सूर्य की किरण और मद से सन्तप्त हुआ हाथी जल के प्रवाहों से क्रीड़ा करता है ॥ ४७ ॥

परिविसृतनृपौजाः सर्वदिक्संस्थिताज्ञः
कतिपयदिवसेहासिद्धदेशव्यवस्थः ।
प्रकृतिभिरलमूढाशेषराजन्यभारः
स गवल इति नाम्ना तत्र राजा बभूव ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते श्वपचराज्यलाभो नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

चारों ओर उसकी राज्यशक्ति व्याप्त थी, सब दिशाओं में उसकी आज्ञा चलतीं थी। कुछ दिनों स्वेच्छा से ही उसकी सारी राज्यव्यवस्था सिद्ध हो गई थी। प्रकृतियों ने ही उसके समस्त अधीनस्थ राजाओं का भार वहन किया था, इस प्रकार का वह गवल इस नाम से प्रसिद्ध होकर वहाँ का राजा हुआ ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में श्वपचराज्यलाभ नामक कुसुमलता का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

४६

श्रीवसिष्ठ उवाच

विलासिनीभिर्वलितो मन्त्रिमण्डलपूजितः ।
वन्दितः सर्वसामन्तैश्छत्रचामरलालितः ॥ १ ॥
सिद्धानुशासनः कान्तो ज्ञातराज्यगुणक्रमः ।
वीतशोकभयायासप्रजः प्राप्तमहादशः ॥ २ ॥
विस्मृतात्मस्वभावोऽभूदनिशं स्तवमङ्गलैः ।
आनन्दपूर्णया वृत्त्या भृशं क्षीब इवाऽऽसवैः ॥ ३ ॥
कीरेषु श्वपचो राज्यं वर्षाण्यष्टौ चकार ह ।
आर्यवृत्तमशेषेण तावत्कालं बभार ह ॥ ४ ॥
यदृच्छयैकदाऽथाऽसावतिष्ठत् त्यक्तभूषणः ।
अतमस्तारकेन्द्वर्कतेजोम्भोदमिवाऽम्बरम् ॥ ५ ॥
बह्वमन्यत नो हारकेयूरवलयान्यसौ ।
प्रभुताबृंहितं चेतो नाऽऽहार्यमभिनन्दति ॥ ६ ॥
एक एवाऽजिरं बाह्यं तादृग्वेषः स निर्ययौ ।
मुख्याङ्गणान्नभोभागादस्तं गच्छन्निवांऽशुमान् ॥ ७ ॥
तत्राऽपश्यद् घनं श्यामं पीनं श्वपचपेटकम् ।
गायन्मृदु वसन्तोत्थं कोकिलानामिव व्रजम् ॥ ८ ॥
धुनानं वल्लकीतन्त्रीं करपल्लवलीलया ।
मृदुरेफं रणद्रेफामलिश्रेणिमिव द्रुमम् ॥ ९ ॥

४६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वह विलासवती सुन्दरियों से व्याप्त मन्त्रिमण्डल द्वारा समादृत, सब सामन्तों द्वारा वन्दित, छत्र और चँवरों से लालित था ॥ १ ॥

अप्रतिहत आज्ञा वाला तथा सुन्दर आकृति वाला था, उसे राज्य के सब गुण ज्ञात थे। उसकी प्रजाओं के शोक, भय, क्लेश आदि नष्ट हो गये थे ॥ २ ॥

निरन्तर स्तुति-मङ्गलों से और आनन्दपूर्ण वृत्ति से, आसवों से अत्यन्त उन्मत्त हुए पुरुष के समान वह अपने स्वभाव को भूल गया था ॥ ३ ॥

कीर देश में उस चाण्डाल ने आठ वर्षोंतक राज्य किया। तबतक उसने दया, दाक्षिण्य, शौच आदि सद्वृत्त को पूर्णरूप से धारण किया ॥ ४ ॥

अनन्तर एक समय वह अपनी इच्छा से भूषणरहित अन्धकार, तारे, चन्द्रमा, सूर्य के तेज और मेघों से रहित आकाश के समान स्थित था ॥ ५ ॥

प्रभुता से परिपूर्ण चित्त को कृत्रिम आभूषण आदि भले नहीं लगते अतः वह हार, बाजूबन्द, कड़े आदि आभूषणों का बहुत आदर न करता था ॥ ६ ॥

वह मुख्य जनों से आश्रित भीतर के आँगन से साधारण लोगों से सेवित बाहरी आँगन में पूर्वोक्त वेष से वैसे ही अकेले ही गया जैसे अस्त को प्राप्त सूर्य मुख्य आकाश रूपी आँगन से आकाश के अन्तिम भाग को जाता है ॥ ७ ॥

वहाँ पर उसने वसन्त में उत्पन्न हुए कोकिलों के समूह की नाईं मधुर गा रहे काले और स्थूल देहवाले चाण्डालों के संघ को देखा ॥ ८ ॥

करपल्लव की लीला से वीणा के तारों को मधुर स्वर के साथ वैसे ही बजा रहा था जैसे भ्रमरपंक्ति, जिसके पर शब्द कर रहे हों, वृक्ष को कम्पित करती है ॥ ९ ॥

एकस्तस्मात्समुत्तस्थौ जरावान् रक्तलोचनः ।
काचभृङ्गं हिमापूर्णमिव श्वपचनायकः ॥ १० ॥
भो कटंजेति सहसा वदन् कीरमहीपतिम् ।
इह राजा भवन्तं वा कच्चिद् गेयक्रियाविदम् ॥ ११ ॥
रक्तकण्ठं मानयति रागवानिव कोकिलम् ।
आपूरयति वा कच्चिद् गृहवस्त्रासनार्पणैः ॥ १२ ॥
मधू रसालविटपं फलपुष्पभरैरिव ।
दर्शनेन तवाऽद्याऽहं परां निर्वृतिमागतः ॥ १३ ॥
पद्मं सूर्योदयेनेव चन्द्रोदय इवौषधी ।
आनन्दानामशेषाणां लाभानां महतामपि ॥ १४ ॥
विश्रमाणामनन्तानां सीमान्तो बन्धुदर्शनम् ।
श्वपचे प्रवदत्येवं राजा यावत् तया तया ।
चकार तत्कालजया चेष्टयैवाऽवधीरणम् ॥ १५ ॥
तावद् वातायनगताः कान्ताः प्रकृतयस्तथा ।
श्वपचोऽयमिति ज्ञात्वा म्लानतामलमाययुः ॥ १६ ॥

उनमें से लाल नेत्र वाला और हिम से आच्छन्न पर्वत के कांचमय शृङ्ग के समान वृद्धावस्था से सफेद केशों से आच्छन्न काले शरीर का एक बूढ़ा चाण्डालों का नेता उठा ॥ १० ॥

उसने 'हे कटंज' ! इस पूर्वनाम से कीर देश के अधिपति गवल का सहसा संबोधन करते हुए कहा—जैसे शृङ्गारी पुरुष मधुर कण्ठ वाले कोकिल का सम्मान करता है वैसे ही यहां पर राजा गानविद्या में कुशल मधुर कण्ठ वाले आप का सम्मान करता है क्या ? ॥ ११, १२ ॥

जैसे वसन्त फल और पुष्पों की राशियों से आम के वृक्ष को पूर्ण कर देता है, वैसे ही घर, वस्त्र, आसन आदि के दाने से राजा आप को पूर्ण करता है क्या ? ॥ १३ ॥

आप के दर्शनों से सूर्योदय से कमल के समान तथा चन्द्रमा के उदय से औषधियों के समान मैं परम आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ । बन्धुओं का दर्शन सब आनन्दों की, बड़े-बड़े लाभों की और अनन्त विश्रामों की चरम सीमा है । चाण्डाल के ऐसा कहने पर राजा ने उस काल में उत्पन्न हुई विभिन्न चेष्टाओं से ही उसका तिरस्कार किया ॥ १४, १५ ॥

उसी समय झरोखे में बैठी हुई स्त्रियाँ और अमात्य आदि प्रकृतियाँ यह चाण्डाल है यह जानकर अत्यन्त उदास हुईं ॥ १६ ॥

पद्मास्तुषारप्रावृष्ट्या ग्रामाः सावग्रहा इव ।
दाववन्त इवाऽद्रीन्द्रा नागरा न विरेजिरे ॥ १७ ॥
नृपोऽवधीरयामास तां तां श्वपचसंकथाम् ।
वृक्षाग्रगतमार्जारफेत्कारं मृगराडिव ॥ १८ ॥
सत्वरं प्रविवेशाऽन्तःपुरमाम्लानमानवम् ।
राजहंस इवाऽवर्षे सीदत्सरसिजं सरः ॥ १९ ॥
सर्वावयवविश्रान्तां म्लानतामयमाययौ ।
जानुस्तम्भान्तरमहारन्ध्राग्निरिव द्रुमः ॥ २० ॥
तत्राऽपश्यदसौ सर्वं विषण्णवदनं जनम् ।
जालं कुङ्कुमपुष्पाणां भुक्तमूलमिवाऽऽखुना ॥ २१ ॥
मन्त्रिणो नागरा नार्यस्ततस्ते तं महीपतिम् ।
नाऽस्प्राक्षुरपि तिष्ठन्तं गृह एव शवं यथा ॥ २२ ॥
भृत्याश्चाऽकृतसत्कारं दूर एनमथाऽत्यजन् ।
दुःखयुक्ता घनस्नेहा अपि बालाः शवं यथा ॥ २३ ॥

वे नागरिक वैसे ही सुशोभित नहीं हुए जैसे तुषार से भरने वाली वृष्टि से कमल शोभित नहीं होते और जैसे उत्पातों से युक्त ग्राम शोभित नहीं होते और जैसे वनाग्नि से भरे हुए पर्वत शोभित नहीं होते हैं ॥ १७ ॥

राजा ने चाण्डाल के संभाषण का वैसे ही तिरस्कार किया जैसे वृक्ष की चोटी पर बैठे हुए बिलाव के फ़ुफ़कार का सिंह तिरस्कार करता है ॥ १८ ॥

उसने तुरन्त आनन्दरहित अन्तःपुर में वैसे ही प्रवेश किया जैसे राजहंस अवर्षण में जिसके कमल म्लान हो रहे हों ऐसे तालाब में प्रवेश करता है ॥ १९ ॥

जिसके तने के बड़े खोखले में अग्नि लगी हो ऐसा सेमल आदि का वृक्ष जैसे म्लानता को प्राप्त होता है वैसे ही वह सब अवयवों में भीनी हुई म्लानता को प्राप्त हुआ ॥ २० ॥

वहाँ पर चूहे ने जिसकी जड़ खा डाली हो ऐसे कुङ्कुम के फूलों की झाड़ी के समान सब लोगों को उसने उदास देखा ॥ २१ ॥

अनन्तर उन मन्त्री, नगरवासी और नारियों ने उसका स्पर्श वैसे ही नहीं किया जैसे घर में ही स्थित शव का लोग स्पर्श नहीं करते ॥ २२ ॥

भृत्यों ने असत्कृत उसका दूर से वैसे ही त्याग कर दिया जैसे दुःखी अत्यन्त स्नेह वाली ललनाएँ शव का दूर से ही त्याग कर देती हैं ॥ २३ ॥

अनानन्दमुखं श्यामं शरीरश्रीविवर्जितम् ।
दग्धं स्थलमिवैनं ते बह्वमन्यन्त नाऽऽकुलाः ॥ २४ ॥
धूमायमानदेहस्य परितापदशावती ।
नाऽढौकताऽस्य जनता पार्श्वमग्निर्गिरेरिव ॥ २५ ॥
मन्दोत्साहाः समुद्‌भूताः सभ्यसंघातवर्जिताः ।
न तदाज्ञाः पदं प्रापुर्भस्मनीवाऽम्बुविप्रुषः ॥ २६ ॥
क्रूरकर्मकराकारात् संगताशुभदायिनः ।
तस्माद् विशेषेण जना राक्षसादिव दुद्रुवुः ॥ २७ ॥
एक एव बभूवाऽसौ जनमध्यगतोऽपि सन् ।
अर्थादिगुणनिर्मुक्तः परदेश इवाऽध्वगः ॥ २८ ॥
भृशमालपतेऽप्यस्मै नाऽऽलापं नागरा ददुः ।
मुक्ताजालयुतायाऽपि कीचकायाऽध्वगा इव ॥ २९ ॥
अथ सर्वे वयं दीर्घकालं श्वपचदूषिताः ।
प्रायश्चित्तैर्नर्न शुद्ध्यामः प्रविशामो हुताशनम् ॥ ३० ॥

उसके मुँह पर आनन्द की रेखा भी न थी, शरीर काला पड़ गया था, शोभा ने तो उसका सर्वथा त्याग कर दिया था, वह श्मशान-भूमि के समान था। दुःखी नागरिकों ने उसका कुछ भी सम्मान नहीं किया ॥ २४ ॥

उसका शरीर धुएँ के समान मैला था । परितापदशा वाली जनता उसके समीप वैसे ही नहीं गई जैसे पर्वत के शिलामय प्रदेश के समीप अग्नि नहीं जाती ॥ २५ ॥

भट आदि के समुदाय से उपेक्षित मन्दोत्साह हुई उसकी आज्ञा, भस्म में जल-बिन्दुओं के समान, आज्ञापन योग्य पुरुष को प्राप्त न कर सकी ॥ २६ ॥

क्रूर कार्यकारी आकार वाले तथा संगति से अशुभ फल देने वाले उससे भयभीत होकर लोग विशेषरूप से वैसे ही भागते थे जैसे लोग राक्षस से भयभीत होकर भागते हैं ॥ २७ ॥

वह बहुत से लोगों के बीच में रहते हुए भी वैसे ही अकेला ही हुआ जैसे परदेश में धन आदि गुणों से रहित पथिक बहुत बड़े जनसमुदाय के बीच रहता हुआ भी अकेला ही रहता है ॥ २८ ॥

वैसे ही खूब पुकार रहे एवं मोतियों के हारों से अलङ्कृत भी उसे नगरवासियों से वैसे ही प्रतिवचन नहीं दिया जैसे पथिक वायु के कारण शब्द कर रहे तथा मोतियों की राशि से युक्त भी कीचक नाम के विशेष बाँसों को वचन नहीं देते हैं ॥ २९ ॥

इसके अनन्तर हम सब लोग चिर काल तक चाण्डाल के स्पर्श से दूषित हैं, प्रायश्चित्तों से हमारी शुद्धि होने की नहीं; अतएव हम लोग अग्नि में प्रवेश करते हैं ॥ ३० ॥

इति निर्णीय नगरे नागरा मन्त्रिणस्तथा ।
अभितो ज्वालयामासुश्चिताः शुष्केन्धनैधिताः ॥ ३१ ॥
ज्वालितास्वभितस्तासु तारकास्विव खे तदा ।
बभूव नगरं सर्वमाक्रन्दपरमानवम् ॥ ३२ ॥
करुणारावमुखरैः कलत्रैर्बाष्पवर्षिभिः ।
अवष्टब्धं ज्वलत्कुण्डोपान्तमन्दरुदत्प्रजम् ॥ ३३ ॥
अग्निकुण्डप्रविष्टानां मन्त्रिणां भृत्यरोदनैः ।
रुदत्क्रन्दद् दृढतरमरण्यमिव मारुतैः ॥ ३४ ॥
चितादीपितविप्रेन्द्रमांससमांसलगन्धया ।
जातनीहारमुत्पातवात्ययाऽवकरोद्धतैः ॥ ३५ ॥
वातदीर्घवसागन्धदूरानीतखगोजितैः ।
चक्रैर्व्योमाऽभवच्छन्नभास्करं जलदैरिव ॥ ३६ ॥
वातोद्‌धूतचितावह्निप्रज्वलद्व्योममण्डलम् ।
उड्डीनाग्निकणव्राततारासारदिगन्तरम् ॥ ३७ ॥

ऐसा निश्चय कर नगर में सब नागरिक तथा मन्त्रियों ने सूखी हुई लकड़ियों से बढ़ाई हुई चिताएँ चारों ओर बनाईं ॥ ३१ ॥

तब आकाश में तारों के समान चारों ओर उन चिताओं के प्रज्वलित होने पर सारे नगर के लोग विलाप करने लगे ॥ ३२ ॥

करुण विलाप करने वाली और आंसुओं की धारा वर्षाने वाली नारियों द्वारा नगर व्याप्त था तथा वहाँ जल रहे कुण्डों के आस-पास लोग किं कर्तव्यविमूढ होकर रो रहे थे ॥ ३३ ॥

अग्निकुण्डों में प्रविष्ट हुए मन्त्रियों के भृत्यों के रोदन द्वारा सारा नगर वैसे ही खूब आंसू बहा रहा था और विलाप कर रहा था जैसे वायुओं से अरण्य दृढ़तर शब्द करता है ॥ ३४ ॥

चिताओं में जले हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणों के मांस से अधिक गन्ध वाली उत्पात की आँधी द्वारा मिट्टी के ढेरों से उठे हुए धूलिकणों से वैसा प्रतीत होता था जैसे उस पर तुषार की वृष्टि हुई हो ॥ ३५ ॥

वायु से दूर-दूर तक फैली चर्बी की गन्ध से दूर से लाये गये पक्षियों और पिशाच आदि के मण्डलों से आच्छन्न सूर्य वाला वह नगर बादलों से जिसमें सूर्य आच्छन्न हो ऐसे आकाश के समान हुआ ॥ ३६ ॥

वायु से उड़ाई गई चिताओं की अग्नि से उस नगर का आकाशमण्डल जल रहा था तथा उड़े हुए अग्निकणों के संघातरूपी तारों से दिशाएँ कर्बुरित हो गई थी ॥३७॥

प्रमत्ततस्करक्रन्दद्बालकुमारकम् ।
संत्रस्तनागरापास्तजीविताख्यमसंस्थिति ॥ ३८ ॥
अलक्षितगृहं चौरलुण्ठिताखिलसंचयम् ।
त्यक्तपुत्रकलत्रं तन्मरणव्यग्रनागरम् ॥ ३९ ॥
तस्मिंस्तथा वर्तमाने कष्टे विधिविपर्यये ।
अशेषजनताशेषकल्पान्तसदृशस्थितौ ॥ ४० ॥
राज्यसज्जनसंपर्कपवित्रीकृतधीरधीः ।
गवलश्चिन्तयामास शोकेनाकुलचेतनः ॥ ४१ ॥
मदर्थं हि कदर्थोऽयं देशेऽस्मिन् स्थितिमागतः ।
अकालकल्पान्तमयः सर्वनायकनाशनः ॥ ४२ ॥
किं मे जीवितदुःखेन मरणं मे महोत्सवः ।
लोकनिन्द्यस्य दुर्जन्तोर्जीवितान्मरणं वरम् ॥ ४३ ॥
इति निश्चित्य गवलो ज्वलिते ज्वलने पुनः ।
पतङ्गवदनुद्वेगमकरोदाहुतिं वपुः ॥ ४४ ॥
तस्मिन् बलाद् गवलनाम्नि हुताशराशौ
देहे पतत्यवयवाकुलतां प्रयाते ।
स्वाङ्गावदाहदहनस्फुरणानुरोधा
दन्तर्जले झटिति बोधमवाप गाधिः ॥ ४५ ॥
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
गाधिवृत्तान्ते राज्यभ्रंशो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

॥ द्वादशो दिवसः ॥

वहाँ पर उन्मत्त चोर, लुटेरों द्वारा आभूषण आदि के हरण के समय बालक और कुमार रो और काँप रहे थे, भयभीत नागरिकों ने अपने जीवन और नाम का त्याग कर दिया था एवं किसी प्रकार की मर्यादा नहीं रह गई थी ॥ ३८ ॥

उस नगर में घर नहीं दिखाई देते थे, चोरों ने सब धनसञ्चय लूट लिया था, लोगों ने अपने पुत्र-कलत्र का त्याग कर दिया था और मरने के लिए सब नगरवासी व्यग्र थे ॥ ३९ ॥

इस प्रकार इस कष्ट कर विधिविपर्यय के, जिससे सारी जनता की पूर्ण प्रलय के समान स्थिति थी, प्रवृत्त होने पर शोक से व्याकुल चित्त वाले गवल ने, राज्य के सज्जनों के संसर्ग से जिस की धीर बुद्धि पवित्र हो गई थी, विचार किया ॥ ४०, ४१ ॥

मेरे ही कारण यह अनर्थ, जो अकालप्रलयमय और सब नेताओं का नाशकारी है, इस देश में उत्पन्न हुआ है ॥ ४२ ॥

मेरे जीवन के क्लेश से क्या प्रयोजन है मेरा मरना ही महोत्सव है । लोकनिन्दनीय दुष्ट जीव का जीवन की अपेक्षा मरण अच्छा है ॥ ४३ ॥

ऐसा विचार कर गवल ने अपने शरीर को पतङ्ग के समान बिना किसी उद्वेग के प्रज्वलित अग्नि में आहुति बना दिया ॥ ४४ ॥

गवल नामक उस देह के निर्वेदवश अग्नि में गिरने और अवयवों से व्याकुल होने पर अपने अङ्गों के दाहवश हिलने-डुलने के कारण जल के अन्दर अघमर्षण कर रहे गाधि ने तुरन्त बोध को प्राप्त किया ॥ ४५ ॥

मुनि महाराज के ऐसा कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलावलम्बी हो गये और सभा मुनिजी को नमस्कार कर सायंकाल की विधि के लिए स्नानार्थ चली गई और दूसरे दिन रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर आ गई ॥ ४६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में राज्यभ्रंश नामक कुसुमलता का छीयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

॥ बारहवाँ दिवस ॥

४७

श्रीवसिष्ठ उवाच

मुहूर्तद्वितयेनाऽथ गाधिराधिभवभ्रमात् ।
प्रशशामाऽऽकुलीभावो वेलावर्त इवाऽम्बुधेः ।। १ ।।
मनोनिर्माणसंमोहात्तस्मात्स विरराम ह ।
कल्पान्तसमये ब्रह्मा जगद्विरचनादिव ।। २ ।।
बोधमाप शनैः शान्तः स्वमेवोन्निद्रधीरिव ।
क्षीबतायां प्रशान्तायां यथा परिणताशयः ।। ३ ।।
अयं सोऽहमिदं कार्यमिदं नेति ददर्श ह ।
निशाव्यपगमे लोको यथा क्षीणे तमःपटे ।। ४ ।।
स्मृतस्वरूपोऽथ पदमुद्दध्रे स जलान्तरात् ।
शिशिरान्ते प्रवृत्तास्यं सरोजमिव माधवः ।। ५ ।।
एतद्वारिककुब्व्योमवतीं वसुमतीमिमाम् ।
अन्यामिव पुनः पश्यन् विस्मयं परमं ययौ ।। ६ ।।
कोऽहं किमिव पश्यामि किमकार्षमहं किल ।
एवं विचारयंश्चित्रं सभ्रूभङ्गमभूत् क्षणम् ।। ७ ।।
श्रान्तस्तत्क्षणमात्रेण संभ्रमं दृष्टवानहम् ।
इति विज्ञाय सलिलादुदस्थादुदयार्कवत् ।। ८ ।।
चिन्तयामास च तटे क्व सा माता क्व सा प्रिया ।
यदाऽहं मृतिमायातो मध्ये मातृमहेलयोः ।। ९ ।।
बालस्य मातापितरौ नष्टौ किल ममाऽमतेः ।
वातनीतस्य पत्रस्य वल्लीवृक्षमिवाऽसिना ।। १० ।।
अविवाहोऽस्मि जानामि न स्वरूपमपि स्त्रियः ।
दुष्टायाः क्षोभकारिण्या मदिराया इव द्विजः ।। ११ ।।
अतिदूरतरीभूताः स्वदेशस्य स्वबान्धवाः ।
के नाम मम येषां ते मध्ये जीवं त्यजाम्यहम् ।। १२ ।।
तस्मादेतत्समुद्भूतमहं किं नाम दृष्टवान् ।
विविधारम्भसंरम्भं गन्धर्वनगरं यथा ।। १३ ।।

४७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर श्रीगाधिजी पूर्वोक्त संसार-भ्रम से वैसे ही शान्त हुए जैसे समुद्र का अति-संक्षुब्ध तटवर्ती आवर्त शान्त होता है ।। १ ।।

मन की रचनारूप मोह से वे वैसे ही विरत हुए जैसे प्रलय के समय ब्रह्माजी जगत् की रचना से विरत होते हैं ।। २ ।।

निद्रारहित बुद्धि वाले शान्त गाधि धीरे-धीरे पूर्वोक्त गाध्यहंभाव बोध को वैसे ही प्राप्त किया जैसे मदिरा आदि के मद के शान्त होने पर स्वच्छ चित्त पुरुष 'मैं अमुक हूँ' इस बोध को प्राप्त करता है ।। ३ ।।

जो स्थान के लिए जल में उतरा था वह गाधि मैं हूँ, यह अवशिष्ट स्नान, तर्पण आदि कृत्य मेरा कार्य है यह पहले देखा गया चाण्डालराज्य आदि मेरा कार्य नहीं है यह उन्होंने वैसे ही देखा जैसे कि रात्रि के बीतने पर अन्धकारावरण के क्षीण होने पर लोग देखते हैं ।। ४ ।।

गाधि ने, जिन्हें अपने स्वरूप का स्मरण हो चुका था, जल से वैसे ही पैर बाहर किया जैसे शिशिर ऋतु के अन्त में वसन्त कमल को, जिस का मुकुलरूपी मुख उत्पन्न हो चुका हो, जल के अन्दर से बाहर करता है ।। ५ ।।

पूर्वानुभूत जल दिशा और आकाशवाली इस पृथिवी को फिर अन्य-सी देख रहे वे परम विस्मित हुए ।।६।।

मैं कौन हूँ, क्या देखता हूँ, मैंने क्या किया इस प्रकार क्षण भर भ्रूभङ्गपूर्वक अन्दर विचार करते हुए वे स्थित रहे ।। ७ ।।

थके हुए मैंने उस थकावट से ही क्षणभर में महाभ्रम देखा । ऐसा विचार कर वह जल से वैसे ही बाहर निकले जैसे उदयाचल से सूर्य निकलते हैं ।। ८ ।।

तट पर उन्होंने विचार किया—मेरी वह माता कहाँ है और वह स्त्री कहाँ है ? जब कि मैंने माता और पत्नी के बीच में मृत्यु को प्राप्त किया ।। ९ ।।

मुझ मन्दभाग्य के माता और पिता, जब मैं बालक ही था तभी, मृत्यु से वैसे नष्ट हो गये थे जैसे वायु से उड़ाये गये पत्ते का माता-पिता-स्थानीय लताप्रधान वृक्ष तलवार से नष्ट हो जाता है ।। १० ।।

मैं अविवाहित हूँ, मैं क्षोभकारिणी स्त्री का स्वरूप भी वैसे ही नहीं जानता जैसे ब्राह्मण चित्त में क्षोभ पैदा करने वाली दुष्ट मदिरा के रस को नहीं जानता ।। ११ ।।

मेरे जन्मभूमि के आत्मीय बन्धुबान्धव मुझ से बहुत दूर हैं, जिनके बीच में मैंने प्राण त्यागे थे, वे न मालूम कौन थे ? ।। १२ ।।

इसलिए उत्पन्न हुए ये विविध प्रकार के पदार्थ और जन्म आदि का अभिमान गन्धर्वनगर के समान मैंने क्या देखा ? ।। १३ ।।

तदास्तामेतदेषा हि बन्धुमध्ये मृतस्थितिः ।
मायामोहे मनागस्मिन् न सत्यमुपलभ्यते ॥ १४ ॥
नित्यमेवमनन्तासु भ्रान्तिदृष्टिषु देहिनाम् ।
चेतो भ्रमति शार्दूलो वनराजिष्विवोन्मदः ॥ १५ ॥
अवधार्येति तं चित्ते मोहं गाधिर्निनाय सः ।
दिनानि कतिचित्तस्मिन् स्वक एवाऽऽश्रमे तदा ॥ १६ ॥
एकदा गाधिमगमत्कश्चित्तत्र प्रियोऽतिथिः ।
ब्रह्माणमिव दुर्वासाः स विशश्राम सश्रमः ॥ १७ ॥
परमां तुष्टिमानीतः फलपुष्परसाशनैः ।
सोऽतिथिर्गाधिना तेन वसन्तेनेव पादपः ॥ १८ ॥
मिथो वन्दितसन्ध्यौ तौ कृतजाप्यावुभावपि ।
क्रमाच्छयनमासाद्य तस्थतुर्मृदुपल्लवम् ॥ १९ ॥
ततः प्रावर्तते शान्ता तयोस्तापसयोः कथा ।
स्वव्यापारोचिता पुष्पश्रीरिवर्तुत्वमाशयोः ॥ २० ॥
तं पप्रच्छाऽतिथिं गाधिः प्रसंगपतितं वचः ।

यह बन्धुओं के बीच में मृत स्थिति में रहे इस माया-अनित मोह में यह कुछ भी सत्य दृष्टिगोचर नहीं होता ॥ १४ ॥

यह प्राणियों का चित्त अनन्त भ्रान्तियों में वैसे ही नित्य घूमता है जैसे मदोन्मत्त सिंह वनराजियों में घूमता है ॥ १५ ॥

इस प्रकार गाधि ने चित्त में उस मोह का विचार कर उसी अपने आश्रम में कतिपय दिन बिताये ॥ १६ ॥

वहाँ एक समय गाधि के पास कोई प्रिय अतिथि ब्रह्मा के पास दुर्वासा की तरह आया। श्रान्त हुए उसने वहाँ पर विश्राम लिया ॥ १७ ॥

जैसे वसन्त फल, पुष्प, रस आदि से वृक्ष को परम प्रसन्नता को प्राप्त कराता है वैसे ही गाधि ने फल, पुष्प, रस और भोजन से उस अतिथि को प्रसन्नता को प्राप्त कराया ॥ १८ ॥

एकान्त में दोनों ने सन्ध्यावन्दन और जप किया। दोनों ही क्रम से कोमल पल्लवों के शयनों पर आकर बैठे ॥ १९ ॥

अनन्तर उन दोनों तपस्वियों की अपने तप, ध्यान आदि कर्मों के अनुरूप शान्त रस प्रधान कथा वैसे ही प्रवृत्त हुई जैसे कि भगवान् सूर्य का उत्तर दिशा से सम्बन्ध होने पर वसन्त ऋतु के अनुरूप पुष्पशोभा प्रवृत्त होती है ॥ २० ॥

गाधि ने बात-चीत के प्रसङ्ग में उस अतिथि से पूछा

किं ब्रह्मन् ! सुकृशाङ्गस्त्वं किमिति श्रमवानसि ॥२१॥

अतिथिरुवाच

ममाऽतिकार्श्यश्रमयोर्भगवन् ! शृणु कारणम् ।
कथयामि तथाभूतं वयं नाऽसत्यवादिनः ॥ २२ ॥
अस्त्यस्मिन् वसुधापीठे उत्तराशानिकुञ्जके ।
कीरो नामाऽतिविख्यातः श्रीमाञ्जनपदो महान् ॥ २३ ॥
तत्राऽहमवसं मासं पूज्यमानः पुरे जनैः ।
नानात्मस्वादलोलात्मा चित्तवेतालमोहितः ॥ २४ ॥
एकदैकेन तत्रोक्तं कथाप्रस्तावतः क्वचित् ।
इहाऽभूच्छ्वपचो राजा वर्षाण्यष्टौ द्विजेति मे ॥ २५ ॥
ततो ग्रामेषु तत्पृष्टैः प्रोक्तं सकलजन्तुभिः ।
राजा बभूव श्वपचो वर्षाण्यष्टाविहेति तैः ॥ २६ ॥
सोऽयमन्ते परिज्ञातः प्रविष्टो ज्वलनं जवात् ।
ततो द्विजशतानीह प्रविष्टानि हुताशनम् ॥ २७ ॥
इति तेषां मुखाच्छ्रुत्वा तस्मान्निर्गत्य मण्डलात् ।
प्रयागेऽकरवं शुद्ध्यै प्रायश्चित्तमहं द्विज ! ॥ २८ ॥

हे ब्रह्मन् ! आप क्यों कृश हैं और क्यों थके हैं ? ॥ २१ ॥

अतिथि ने कहा—हे भगवन् ! मेरी अत्यन्त कृशता और श्रम का कारण सुने।

हम लोग असत्यवादी नहीं हैं। वास्तव बात मैं आप से कहता हूँ ॥ २२ ॥

इस भूतल में उत्तर दिशारूपी निकुञ्ज में कीर नाम से विख्यात समृद्ध और विशाल देश है ॥ २३ ॥

उसमें पुरवासी लोगों से आदृत हो रहा और विविध प्रकार के आत्मा को अच्छे लगने वाले भोज्यों में तृष्णा युक्त और चित्तरूपी वेताल से मोहित मैं एक मास रहा ॥ २४ ॥

वहाँ पर कहीं एक समय एक ने कथा के सिलसिले में मुझसे कहा—हे द्विज ! यहाँ पर आठ वर्ष तक चाण्डाल राजा हुआ ॥ २५ ॥

अनन्तर गाँवों में पूछे गये सब लोगों ने आठ वर्ष तक यहाँ पर चाण्डाल राजा हुआ, यह कहा ॥ २६ ॥

वह अन्त में जाना गया और अग्नि में प्रविष्ट हो गया। उससे सैकड़ों ब्राह्मणों ने यहाँ पर अग्नि में प्रवेश किया ॥ २७ ॥

हे विप्र, उनके मुख से यह सुनकर उस देश से बाहर निकल कर मैंने शुद्धि के लिए प्रयाग में प्रायश्चित्त किया ॥ २८ ॥

कृत्वा चान्द्रायणस्याऽन्ते तृतीयस्याऽद्य पारणम् ।
इहाऽहमागतस्तेन श्रान्तोऽस्म्यतिकृशोऽस्मि च ॥ २९ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति श्रुतवता तेन गाधिना स तदा द्विजः ।
भूयः पृष्टोऽप्येतदेव कथयामास नाऽन्यथा ॥ ३० ॥
अथ विस्मयवान् गाधिस्तां नीत्वा तत्र शर्वरीम् ।
जगन्देहमहादीपे रवावुदयमागते ॥ ३१ ॥
कृतप्रातःस्नानविधावापृच्छ्य स्वातिथौ गते ।
इदं संचिन्तयामास विस्मयोद्धुरया धिया ॥ ३२ ॥
यन्मया संभ्रमे दृष्टं सत्यभूतं द्विजेन तत् ।
उक्तं ममेति किं नाम स्यान्मायाशम्बरक्रमः ॥ ३३ ॥
यद्बन्धुमध्ये मरणं मया तद्दृष्टमात्मनः ।
सा मायैव न सन्देहः शेषं पश्यामि तस्य तम् ॥ ३४ ॥
तदात्मश्वपचोदन्तं द्रष्टुं तावदखिन्नधीः ।
भूतमण्डलपर्यन्तग्रामं गच्छामि सत्वरम् ॥ ३५ ॥
इति संचिन्तयन् गन्तुं मण्डलान्तरमादरात् ।

आज तीसरे चान्द्रायण के बाद पारणा कर मैं यहाँ आया हूँ, इसी कारण मैं थका हूँ और अत्यन्त कृश हूँ ॥ २९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जब गाधि ने यह सुना तब उन्होंने ब्राह्मण से फिर पूछा। उन्होंने यही बात कही इससे विपरीत बात नहीं कही ॥ ३० ॥

इसके बाद आश्चर्य को प्राप्त गाधि ने उस रात्रि को वहाँ पर बिताकर जगद्रूपी घर के महाद्वीप स्वरूप सूर्य के उदित होने पर और प्रातःकाल स्नान विधि कर चुकने पर पूछकर अपने अतिथि के चले जाने पर विस्मय से भरी हुई बुद्धि से यह विचार किया ॥ ३१, ३२ ॥

जो बात मैंने भ्रान्तिदशा में देखी वह मेरे अतिथि ने सत्य ही कही। मेरा इस प्रकार का रूप शाम्बरी माया है क्या ? ॥ ३३ ॥

मैंने बन्धुओं के बीच में अपना वह मरण देखा वह तो निःसन्देह माया ही है उसमें सत्यत्व देखा नहीं जा सकता, किन्तु अवशिष्ट जो अतिथि से चान्द्रायण में निमित्तभूत अपना चाण्डाल वृत्तान्त है, उसे मैं देखूँगा ॥ ३४ ॥

मैं अपने उस चाण्डाल वृत्तान्त को देखने से लिए खेदरहित होकर भूतमण्डल देश की सीमा में स्थित ग्राम में शीघ्र जाता हूँ ॥ ३५ ॥

ऐसा विचारशील गाधि मण्डलान्तर को जाने के लिए उद्यत होकर वैसे ही उठे जैसे सूर्य मेरु के पार्श्व भाग को देखने के लिए उद्यत होकर उदित होते हैं ॥ ३६ ॥

उत्तस्थौ भास्करः पार्श्वं मेरोर्द्रष्टुमिवोद्यतः ॥ ३६ ॥
मनोराज्यमपि प्राज्ञा लभन्ते व्यवसायिनः ।
गाधिना स्वप्नसंदृष्टं गत्वा लब्धमखण्डितम् ॥ ३७ ॥
सर्वमध्यवसायेन दुष्प्रापमपि लभ्यते ।
पश्यन् गाधिर्जगन्मायां प्रमेयीकर्तुमुद्यतः ॥ ३८ ॥
विनिर्गत्याऽभवन्मार्गे प्रावृडोघजवेन सः ।
देशानुल्लङ्घयामास बहून् वाततुरङ्गवत् ॥ ३९ ॥
तच्चेदृशनिजाचारं भूतमण्डलमागतः ।
करभः कण्टकार्थ्येकः कारञ्जमिव काननम् ॥ ४० ॥
तत्र संवित्स्थितेनैव सन्निवेशेन वै पुनः ।
अपश्यद् ग्रामकं केचिद् गन्धर्व इव पत्तनम् ॥ ४१ ॥
ददर्श तस्य पर्यन्ते तमेव श्वपचालयम् ।
अधस्ताद्भुवनस्येव पाताले नरकव्रजम् ॥ ४२ ॥
चित्तचिन्तितविस्तारं तन्निवेशमयं परम् ।
गन्धर्ववदसावात्मश्वपचत्वं च दृष्टवान् ॥ ४३ ॥

उद्योगी बुद्धिमान् पुरुष मनोराज्य को भी पा जाते हैं। गाधि ने जाकर स्वप्न में देखा हुआ ज्यों का त्यों पाया ॥ ३७ ॥

उद्योग से दुष्प्राप्य भी सब कुछ प्राप्त होता है। देखिये न, जगन्माया को स्वप्न में देख रहे गाधि उसे नेत्रगोचर करने को तत्पर हुए ॥ ३८ ॥

गाधि घर से निकल कर मार्ग में वर्षा ऋतु के जल-प्रवाह के वेग से त्वरायुक्त हुए उन्होंने वायु ही जिसका वाहन है अर्थात् मेघ के समान बहुत से देशों को लाँघ डाला ॥ ३९ ॥

गाधि एकाकी ही पूर्वोक्त प्रकार के आचार-विचार वाले उक्त भूत-मण्डल नामक देश में वैसे ही पहले गये जैसे काँटों को चाहने वाला अकेला ऊँट बबूर के वन में जाता है ॥ ४० ॥

फिर वहाँ पर स्मृतिपथ में आरूढ हो रहे आकार-प्रकार से गन्धर्वनगर के समान किसी एक गाँव को देखा ॥ ४१ ॥

उस गाँव के छोर पर गाधि ने भुवन के नीचे पाताल में नरक-मण्डल के समान उसी चाण्डाल-गृह को देखा ॥ ४२ ॥

गन्धर्व के समान गाधि ने जिसमें जन्म आदि के विस्तार का चित्त में विचार किया था और जो गृह आदि में प्रचुर आसक्तिवाला था इस तरह का अपना चाण्डालत्व को भी चिह्नों से देखा ॥ ४३ ॥

तेनैव सन्निवेशेन प्राग्दृष्टं श्वपचास्पदम् ।
तस्य कामपि वैराग्यपदवीमनयन्मनः ॥ ४४ ॥

प्रावृडासारलुठितं भित्तिजातयवाङ्कुरम् ।
पर्यस्तच्छादनार्धाङ्कं किंचिदादृष्टतल्पकम् ॥ ४५ ॥

दारिद्र्यं तद्दृढमिव दौर्भाग्यमिव कुड्यमत् ।
भ्रष्टाङ्गमिव दौरात्म्यं दौःस्थित्यमिव खण्डितम् ॥४६॥

गाधिर्दन्तावदलितैर्गवाश्वमहिषास्थिभिः ।
धवलैर्व्याप्तपर्यन्तं साक्ष्यं कर्तुमिव स्थितैः ॥ ४७ ॥

भुक्तं पीतं पुरा तेन येषु खर्परकेषु वै ।
तैरस्पन्दाभ्रसलिलैः पानपूर्णैरिवाऽऽवृतम् ॥ ४८ ॥

ताभिरेवाऽन्त्रतन्त्रीभिः संशुष्काभिर्लतावृतैः ।
तृष्णाभिरिव दीर्घाभिः परितः परिवेष्टितम् ॥ ४९ ॥

चिरमालोकयामास स तदात्मगृहं जवात् ।
प्राक्तनं शुष्कशवतां यातं देहमिवाऽऽत्मवान् ॥ ५० ॥

पहले देखे गये चाण्डाल-गृह ने अपने उसी आकार-प्रकार से गाधि के मन को अपूर्व वैराग्य में पहुँचा दिया ॥ ४४ ॥

वह चाण्डालगृह वर्षा ऋतु की मूसलाधार वृष्टि से छिन्न-भिन्न हो गया था, उसकी दीवारों पर जो अङ्कुर जमे थे, उसका आधा छप्पर अस्त-व्यस्त हो गया था एवं उसमें कुछ-कुछ शयन के भग्नावशेष दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ४५ ॥

वह दारिद्र्य के समान कठोर था, दौर्भाग्य के समान भित्तिमात्रावशिष्ट गृहाकार था, चौर्य आदि दौरात्म्य के समान उसके अवयव शिथिल हो गये थे और दुर्दशा के समान उसका एक भाग खण्डित हो गया था ॥ ४६ ॥

गाधि ने दाँतों से चबाई हुई गाय, घोड़े, भैंस आदि की सफेद हड्डियों से, जो मानो गवाही देने के लिए वहाँ पर पड़ी थी ॥ ४७ ॥

चारों ओर व्याप्त, जिनमें उसने पहले भोजन और पान किया था, वर्षा के निश्चल जल से भरे हुए अतएव ऐसा मालूम पड़ता था आशव आदि से भरे हैं ऐसे खप्परों से आवृत है ॥ ४८ ॥

तृष्णाओं के समान लम्बी-लम्बी सूखी हुई उन्हीं आँतों से लता के समान स्तम्भ आदि के वेष्टनों द्वारा परि-वेष्टित है ॥ ४९ ॥

उस प्राक्तन अपने घर को शुष्क शवप्राय हुए प्राक्तन देह के समान बड़ी त्वरा से चिरकाल तक देखा ॥५०॥

अतिविस्मयमातस्थौ ग्रामकं समुपाययौ ।
उल्लङ्घ्य म्लेच्छनगरमार्यदेशमिवाऽध्वगः ॥ ५१ ॥

तत्राऽपृच्छज्जनं साधो ! कच्चित्स्मरति भो भवान् ।
प्राग्वृत्तमस्य ग्रामस्य पर्यन्ते श्वपचक्रमम् ॥ ५२ ॥

सर्व एव हि धीमन्तश्चिरवृत्तमपि स्फुटम् ।
करस्थमिव पश्यन्ति मयेति सुजनाच्छ्रुतम् ॥ ५३ ॥

अत्र श्वपचमेकान्ते वासिनं वृद्धमुत्तमम् ।
स्मरस्येनं किमुत भो दुःखानामिव देहकम् ॥ ५४ ॥

यदि जानासि भोः साधो ! तन्मे कथय तत्त्वतः ।
पान्थ ! संशयविच्छेदे महत्पुण्यफलं स्मृतम् ॥ ५५ ॥

भूयो भूय इति ग्राम्याः पृष्टा गाधिद्विजन्मना ।
अनल्पस्मयसंरम्भमार्तेनेव चिकित्सकाः ॥ ५६ ॥

ग्राम्या ऊचुः

यथा कथयसि ब्रह्मंस्तत्तथा न तदन्यथा ।
कटंजनामा श्वपच इहाऽभूद् दारुणाकृतिः ॥ ५७ ॥

गाधि को बड़ा आश्चर्य हुआ उसके समीपवर्ती कुग्राम में वैसे ही गये जैसे पथिक म्लेच्छनगर को लाँघकर आर्यों के देश में जाता है ॥ ५१ ॥

वहाँ पर उन्होंने लोगों से पूछा—हे सज्जन, क्या आपको इस गाँव के छोर पर पहले हुए चाण्डालवृत्तान्त का स्मरण है ॥ ५२ ॥

सभी धीमान् पुरुष चिरकाल की घटनाओं को भी हवेली में रक्खे हुए आँवले के समान स्पष्ट रूप से देखते हैं, ऐसा मैंने सज्जन के मुँह से सुना है ॥ ५३ ॥

हे सज्जन, यहाँ पर एकान्त में निवास करने वाले अतिवृद्ध चाण्डाल का जो दुःखों की मूर्ति के समान था, क्या आपको स्मरण है ॥ ५४ ॥

हे साधो, यदि आप उसको जानते हैं, तो यथार्थ रूप से मुझ से कहिये । हे पथिक, सन्देह को निवृत्त करने में बड़ा पुण्य कहा गया है ॥ ५५ ॥

गाधि नाम के ब्राह्मण ने ग्रामीण लोगों से अत्यन्त आश्चर्य और प्रश्नोद्योग के साथ चिकित्सक से पूछता है ॥ ५६ ॥

ग्रामीणों ने कहा—हे ब्रह्मन् ! जैसा आप कहते हैं वह ठीक वैसा ही है, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं है । यहाँ पर क्रूर आकृति वाला कटंज नाम का चाण्डाल उत्पन्न हुआ था ॥ ५७ ॥

पुत्रपौत्रसुहृद्भृत्यबन्धुस्वजनपेटकम् ।
यस्याऽतिविस्तीर्णमभूत् पत्रवृन्दं तरोरिव ॥ ५८ ॥
यस्य वृद्धस्य तत्सर्वं कलत्रं मृत्युराच्छिनत् ।
अद्रेः पुष्पफलोपेतं दावो वनमिवाऽनलः ॥ ५९ ॥
यस्ततो देशमुत्सृज्य ययौ कीरपुरान्तरम् ।
वर्षाण्यष्टावनुद्वेगं तत्र राजा बभूव सः ॥ ६० ॥
यस्तत्राऽर्थं परिज्ञाय जनैर्दूरे निराकृतः ।
यथा राशिरनर्थस्य यथा ग्रामे विषद्रुमः ॥ ६१ ॥
ततो जनेऽग्निं प्रविशत्यात्मना यो हुताशनम् ।
आर्यतामार्यसंसर्गादागतः प्रविवेश ह ॥ ६२ ॥
किं त्वमेव प्रयत्नेन श्वपचं पृच्छसि प्रभो ! ।
किं ते बन्धुरसौ कच्चिदभवस्त्वं स्वतोऽथवा ॥ ६३ ॥
एवं कथयतो ग्राम्यान् गाधिः पृच्छन् पुनः पुनः ।
सर्वेषु तत्र प्रान्तेषु मासमेकमुवास सः ॥ ६४ ॥
यथा तेनाऽनुभूतं तच्छ्वापचं तत् तथैव तैः ।
ग्रामीणैस्तस्य कथितं सर्वैरेवाऽवखण्डितम् ॥ ६५ ॥
अव्याहतं सकलभूतमुखादथत-
दाकर्ण्य सम्यगवलोक्य यथाऽनुभूतम् ।
गाधिः शशाङ्कमलवद्धृदयेऽधिरूढं
गूढाकृतिः परमविस्मयमाजगाम ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते प्रत्यक्षावलोकनं नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

जिसका वृक्ष के पत्र समूह के समान पुत्र, पौत्र, सुहृत, भृत्य और बन्धुबान्धवों का संघ अति विस्तृत हुआ ॥ ५८ ॥

काल ने उस वृद्ध के सारे कुटुम्ब को वैसे ही नष्ट कर दिया जैसे वनाग्नि पर्वत के पुष्प फल से पूर्ण वन को नष्ट कर देती है ॥ ५९ ॥

अनन्तर जो देश का त्याग कर कीरपुर में गया, वहाँ पर वह विना किसी उद्वेग के आठ वर्ष तक राजा हुआ ॥ ६० ॥

यहाँ यथार्थ वृत्त जानकर लोगों ने जैसे लोग अनर्थ की राशि को दूर कर देते हैं और जैसे ग्राम में विषवृक्ष दूर कर देते हैं उसे वैसे ही दूर कर दिया ॥ ६१ ॥

अनन्तर लोगों के अग्नि में प्रवेश करने पर आर्यों के संसर्ग से आर्यता को प्राप्त वह स्वयं अग्नि में प्रविष्ट हुआ ॥ ६२ ॥

हे प्रभो ! आप इतने प्रयास से चाण्डाल को क्यों पूछते हैं, क्या वह आपका बन्धु था या आप स्वयं उसके बन्धु हो गये ? ॥ ६३ ॥

इस प्रकार कहते हुए ग्रामीणों से पुनः-पुनः पूछ रहे गाधि वहाँ पर सब प्रान्तों में पूरा एक महीना रहे ॥६४॥

जिस प्रकार गाधि ने चाडालत्व का अनुभव किया था उसी प्रकार सभी ग्रामीणों से ज्यों-का-त्यों सारा वृत्तान्त कहा ॥ ६५ ॥

सब प्राणियों के मुँह से यथार्थ वचन सुनकर स्वयं भी अवाधित प्रत्यभिज्ञा से जैसा अनुभूत हुआ था वैसा देख कर लज्जा से गूढ़ आकृति वाले गाधि ने चन्द्रमा के कलङ्क के समान अपने हृदय में उत्पन्न परम विस्मय को प्राप्त किया ॥६६॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में प्रत्यक्षावलोकन नामक कुसुमलता का सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४७ ॥

४८

वसिष्ठ उवाच

लुठितं श्वपाचागारे पुनर्विस्मयमाययौ ।
गाधेर्मनो हि नाऽऽयाति तृप्तिमाश्चर्यदर्शने ॥ १ ॥
तत्राऽवलोकयामास स्थानानि सदनानि च ।
कल्पक्षोभविवृत्तानि जगन्तीवाऽम्बुजोद्भवः ॥ २ ॥

४८

वसिष्ठजी ने कहा—चाण्डालों के घर में चिरकाल से आसक्त गाधि का मन फिर आश्चर्य में पड़ गया, क्योंकि अद्भुत दृश्य को देखने से गाधि का मन तृप्त नहीं हुआ ॥ १ ॥

वहाँ गाधि ने प्रलय काल के उपद्रव से नष्ट हुए त्रिलोक को जिस प्रकार ब्रह्मा देखते हैं उसी प्रकार बहुत से स्थानों और घरों को देखा ॥ २ ॥

उवाच स्वात्मनैवेदमरण्ये लुठितालये ।
शुष्कास्थिमालावलिते पिशाचक इव द्रुमे ॥ ३ ॥
इमास्ता मृतमातङ्गदन्तमाला वृतौ कृताः ।
अद्याऽपि संस्थिताः कल्पं प्रति मेरुशिखा इव ॥ ४ ॥
इह तद्वानरीमांसं पक्ववंशाङ्कुरैः सह ।
भुक्तं पुराऽऽसवोन्मत्तैः सह श्वपचबन्धुभिः ॥ ५ ॥
आलिङ्ग्य श्वपचश्यामामिह केसरिचर्मणि ।
सुप्तमापीय मैरेयं तिक्तं गजमदेन च ॥ ६ ॥
कौलेयककुटुम्बिन्यः पिण्याकपलवर्द्धिताः ।
इह बद्धा वरत्राभिर्मृतेभरदकाष्ठके ॥ ७ ॥
इह वारणमुक्तानां ददासीत्पिठरत्रयम् ।
पिनद्धं माहिषेणोग्रचर्मणाऽम्बुदशोभिना ॥ ८ ॥
स्थलीष्वेतासु तास्वत्र सह श्वपचबालकैः ।
चिरं विलुठितं चूतपत्रपुञ्जे पिकैरिव ॥ ९ ॥
अत्र तद्बालनिःश्वासरणद्वंशप्रवृत्तवत् ।

जैसे पिशाच सूखी हड्डियों की मालाओं से परिवेष्टित श्मशान के वृक्ष पर अपने आप कहता है, वैसे ही जंगल में खण्डहर में उसने अपने मन में कहा ॥ ३ ॥

परिखा में खाई में गाड़ी हुई ये मरे हुए हाथियों के दातों की मालाएँ आज भी प्रलय काल को लक्ष्य करके मेरु की चोटियों के समान स्थित हैं ॥ ४ ॥

यहाँ पर पहिले मैंने मद्य पीकर उन्मत्त अपने चाण्डाल भाइयों के साथ बन्दरियों का माँस पके हुए बाँस के अंकुरों के साथ खाया था ॥ ५ ॥

हाथियों के मद से तीखा मद्य पीकर मैं चाण्डाल तरुणी का सिंह-चर्म पर आलिङ्गन कर यहाँ पर सोया था ॥६॥

यहाँ पर मैंने माँस और खल से पुष्ट कुतियाँ मृत हाथियों के दाँत रूपी खूँटों पर रस्सियों से बाँधीं थीं ॥७॥

यहाँ पर हाथियों के मोतियों की तीन थालियों के परिमाण वाला हाथियों के दाँतों का काले मेघ की शोभा को धारण किये हुए भैंस के चर्म से ढका हुआ पात्र था ॥ ८ ॥

ये वे भूमिस्थल हैं जहाँ पर आम के पत्तों पर कोकिलों के समान चाण्डाल-बालकों के साथ चिरकाल तक मैंने धूलि-क्रीड़ा की थी ॥ ९ ॥

यहाँ पर उन बालकों के साँस से बजते हुए बंश के ताल स्वर के समान गान किया था, कुत्ती का रुधिर पीया था और और मुर्दे को सजाने बाली वस्तुओं से

गीतं पीतं शुनीरक्तं साधिता शवभूषितः ॥ १० ॥
अत्र सार्द्धं कुटुम्बेन जन्यत्रेषु कुटुम्बिना ।
नृत्तं तत्कृतमुन्नादं कल्लोलैर्जलधाविव ॥ ११ ॥
अत्रोड्डयनलोलानां काकभासपतत्त्रिणाम् ।
धृतानामन्यदाशार्थं ग्रथितं वंशपञ्जरम् ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवंप्रायाः स्मरन् गाधिः प्राक्तनीः श्वपचक्रियाः ।
विस्मयोत्कम्पितशिरा धातुश्चेष्टां परामृशत् ॥ १३ ॥
चचाल तस्माद्दीर्घेण देशात्कालेन कार्यवित् ।
भूतमण्डलमुत्सृज्य प्राप देशान्तरं क्रमात् ॥ १४ ॥
समुल्लङ्घ्य नदीशैलमण्डलारण्यसन्ततिम् ।
आससाद तुषाराद्रिरत्नं किल जनास्पदम् ॥ १५ ॥
तत्र प्राप महीपालनगरं नगसंनिभम् ।
जगद्भ्रमणखिन्नात्मा स्वर्लोकमिव नारदः ॥ १६ ॥
अथाऽऽत्मनाऽनुभूतानि दृष्टान्यासेवितानि च ।
स्थानानि नगरे पश्यन् पप्रच्छ जनमादृतः ॥ १७ ॥

सब की सजावट की थी ॥ १० ॥

यहाँ पर विवाहों में अपने सब कुटुम्ब वाले मैंने उत्कृष्ट ध्वनि वाला वैसे ही नृत्य किया था जैसे सागर में कल्लोल ध्वनिपूर्वक नृत्य करते हैं ॥ ११ ॥

यहाँ पर दूसरे दिन के भोजन के लिये पकड़े हुए काक, भास आदि उड़ने के कारण चञ्चल पक्षियों का बांस का पिंजड़ा बनाया था ॥ १२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस तरह की पहिले हुई चाण्डालों की क्रियाओं का स्मरण कर गाधि जिनका सर आश्चर्य से काँप रहा था, विधाता की विचित्र लीलाओं का विचार करने लगे ॥ १३ ॥

कर्तव्य को जानने वाले गाधि उस देश से बहुत काल के बाद चले एवं क्रम से भूतमण्डाल नामक देश को छोड़ कर दूसरे देश में पहुँचे ॥ १४ ॥

अनन्तर बहुस-सी नदियों, पर्वतों, देशों तथा जंगलों का उल्लँघन करके हिमालय पर्वतों के मध्य में रत्न के समान श्रेष्ठ पूर्वदृष्टि कीर देश में पहुँचे ॥ १५ ॥

वहाँ पर गाधि रत्नों से समृद्ध पर्वत के समान ऊँचे महलों वाले राजनगर में वैसे ही पहुँचे ॥ १६ ॥

उसके बाद अपने उपभोग में आये हुए अपने महल, देखे हुए दूसरों के मकान और पूर्व में आपने आनन्द के साधनीभूत बगीचों को और नगर के बहुत से स्थानों को देखते हुए गाधि नागरिक लोगों से पूछने लगे ॥ १७ ॥

साधो ! स्मरसि किंचित्त्वमिह श्वपचमीश्वरम् ।
यदि जानासि तत्त्वं मे वर्णयाऽऽशु यथाविधि ॥ १८ ॥
नागरा उचुः
अभूदिहाऽष्टौ वर्षाणि श्वपचो भूमिपो द्विज ! ।
राजत्वमर्पितं यस्य नाम मङ्गलहस्तिना ॥ १९ ॥
अन्ते च संपरिज्ञातः स प्रविष्टो हुताशनम् ।
अद्य द्वादशवर्षाणि समतीतानि तापस ! ॥ २० ॥
यं यं पृच्छत्यसौ गाधिर्जनं जातकुतूहलः ।
तस्य तस्य मुखादेव शृणोत्यास्वादयत्यपि ॥ २१ ॥
अथाऽपश्यत्पुरे तस्मिन्नृपं सबलवाहनम् ।
देवं चक्रधरं विष्णुं मन्दिरान्निर्गतं बहिः ॥ २२ ॥
स दृष्ट्वा स्थगिताकाशं चलरेणुपयोधरैः ।
प्राक्तनीं राजतां स्मृत्वा समुवाचाऽतिविस्मयः ॥ २३ ॥
इमास्ताः कीरकामिन्यः पद्मगर्भोपमत्वचः ।
कनकद्रववर्णिन्यो लोलनीलोत्पलेक्षणाः ॥ २४ ॥
चामरौघा इमे चन्द्रकरसंपिण्डपाण्डुराः ।

हे सज्जनो, क्या आप लोगों को स्मरण है कि यहाँ का राजा चाण्डाल था, यदि आप जानते हैं, तो इस विषय का विविधपूर्वक शीघ्र वर्णन कीजिये ॥ १८ ॥

नागरिक लोगों ने कहा—हे द्विज ! यहाँ आठ वर्ष तक चाण्डाल राजा हुआ, जिसको मंगल हस्तीने राजा बनाया था ॥ १९ ॥

अन्त में स्वरूप ज्ञात होने पर वह अग्नि में जल गया। हे तपस्विन्, आज इस बात को हुए बारह वर्ष बीत गये हैं ॥ २० ॥

इस प्रकार कुतूहल से भरे हुए गाधि जिस-जिस मनुष्य को देखते थे उस-उस मनुष्य से पूछते थे और उसी के मुख से सुनते थे और आस्वादन करते थे ॥२१॥

इसके बाद गाधि ने उस नगर में सेना अश्वादि के सहित राजमहल से बाहर निकले हुए राजा के रूप में चक्रधर भगवान् विष्णु को देखा ॥ २२ ॥

उड़ती हुई धूलि रूपी मेघों द्वारा आकाश को आच्छादित करती हुई सेना को देखकर अपनी पूर्व राज्यावस्था का स्मरण कर अत्यन्त विस्मित हुए गाधि ने कहा ॥ २३ ॥

ये वे ही कीर देश के नृप की कामिनियाँ हैं, जिनकी त्वचाएँ कमल के मध्य भाग की तरह कोमल हैं और जिनका रंग पिघले हुए सुवर्ण की भाँति सुन्दर हैं और जिनके नेत्र चञ्चल नील कमल के सदृश हैं ॥ २४ ॥

ये चन्द्रमा की किरणों की राशि के समान श्वेत,

स्थिरनिर्झरसंकाशाः काशपुष्पचया इव ॥ २५ ॥
कान्ताभिरवधूयन्ते बालव्यजनराजयः ।
इमास्ता वनवल्लीभिर्दोध्यमाना इवर्द्धयः ॥ २६ ॥
इमास्ता मत्तमातङ्गघटा घटितदिक्तटाः ।
संकल्पपादपा मेरोरिव भृङ्गपरम्पराः ॥ २७ ॥
एते ते यमवारीशकुबेरप्रतिमौजसः ।
सामन्ता वासवस्येव लोकपाला महीभृतः ॥ २८ ॥
इमास्ताः सर्ववस्त्वोघाः सर्वाभिमतदास्तताः ।
कल्पवृक्षलताकुञ्जसुन्दर्यो गृहपङ्क्तयः ॥ २९ ॥
इदं तत् कीरजनताराज्यं प्राग्भुक्तमद्य मे ।
आत्मजन्मान्तराचार इव प्रत्यक्षतां गतम् ॥ ३० ॥
सत्यं स्वप्न इवाऽयं मे जाग्रद्भूतः पुनः स्थितः ।
न जाने किंकृतोत्थाना मायेयं प्रविजृम्भते ॥ ३१ ॥
अहो नु खलु दीर्घेण मनोमोहेन वल्गता ।
वैवश्यमुपनीतोऽहं जालेनेव शकुन्तकः ॥ ३२ ॥

निश्चल निर्झर के समान तथा काशों के फूलों की राशि समान चवँरों का समूह सामने है ॥ २५ ॥

मनोहर ललनाएँ इन चँवरों को डुला रही हैं, जैसे वन की लताएँ खिले हुए पुष्पों की समृद्धि को कँपाती हों ॥ २६ ॥

कल्पवृक्ष से युक्त मेरुपर्वत की शिखर परम्परा के समान ये सब दिशाओं के भागों में उन्मत्त हाथियों के जमघट हैं ॥ २७ ॥

ये इन्द्र के यम आदि लोकपालों के समान राजा के यम, वरुण, कुबेर के समान तेजस्वी अधीन देशों के राजा लोग हैं ॥ २८ ॥

ये कल्पवृक्ष की लताओं के कुञ्जों की तरह सुन्दर, सब अभीष्ट वस्तुओं को देनेवाली एवं हर एक वस्तुओं से भरी हुईं घरों की पङ्क्तियाँ विस्तृत हैं ॥ २९ ॥

मेरे द्वारा पहले उपयुक्त यह वही कीरजनता का राज्य है, और जिसका आज अपने पूर्वजन्म के चरित्र की भाँति मुझे प्रत्यक्ष हुआ है ॥ ३० ॥

यह बिलकुल सत्य है कि यह समाचार पहले स्वप्न की तरह देखा गया फिर जाग्रद्भूत होकर सामने खड़ा है, न मालूम किससे, क्यों और किस लिये इस माया का बार बार आविर्भाव होता है ॥ ३१ ॥

अहो कष्ट की बात है। मैं फैल रहे मन के दीर्घ मोह से वैसे ही विवश हो गया हूँ जैसे विस्तार को प्राप्त हो रहे जाल से पक्षी विवश हो जाता है ॥ ३२ ॥

हा धिक्कष्टमबुद्धं मे मनो वासनया हृतम् ।
पश्यति भ्रमजालानि दिततानि शिशोरिव ॥ ३३ ॥
एषा हि माया महती तेन मे चक्रधारिणा ।
दर्शितेत्यधुना साधु मया स्मृतमखण्डितम् ॥ ३४ ॥
तदिदानीं तथा यत्नं करिष्ये गिरिकन्दरे ।
यथा कुसंभ्रमस्याऽस्य जाने जन्म तथा स्थितिम् ॥३५॥
इति संचिन्त्य नगराद् गाधिस्तस्माज्जगाम ह ।
कन्दरं प्राप्य शैलस्य तस्थौ विश्रान्तसिंहवत् ॥ ३६ ॥
तत्र संवत्सरं सार्द्धं पयश्चुलुकभोजनम् ।
तपश्चक्रे महातेजास्तुष्टये शार्ङ्गधन्वनः ॥ ३७ ॥
अथाऽस्य पुण्डरीकाक्षः पयोमूर्तिरुपाययौ ।
प्रसादमुत्पलश्यामः शरदीव महाह्लदः ॥ ३८ ॥
तमाजगाम शैलेन्द्रकन्दरं द्विजमन्दिरम् ।
पयोधरवदच्छाच्छच्छविर्व्योमन्यथाऽवसत् ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

गाधे ! कच्चित्त्वया दृष्टा माया मम गरीयसी ।
दृष्टं त्वया जगज्जालचेष्टितं दैष्टिकात्मकम् ॥ ४० ॥
चित्ताभिगत एतस्मिन् प्राप्ते सम्यगनिन्दितः ।
तपो गिरितटे कुर्वन् किमन्यदभिवाञ्छसि ॥ ४१ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं वदन्तमालोक्य हरिं गाधिर्द्विजोत्तमः ।
अर्चां कुसुमपूरेण पादयोः पर्यपूरयत् ॥ ४२ ॥
दत्त्वाऽर्घ्यं कीर्णकुसुमः प्राणम्याऽऽशु प्रदक्षिणैः ।
विष्णुमाह द्विजो वाक्यमम्भोदमिव चातकः ॥ ४३ ॥

गाधिरुवाच

देव ! यैषा त्वया माया दर्शिताऽतितमोमयी ।
महीं प्रातरिवाऽऽदित्यस्तां मे प्रकटतां नय ॥ ४४ ॥
भ्रमं यं पश्यति मनो वासनामलमालितम् ।
स्वप्नवत् स कथं देव ! जाग्रत्यपि हि दृश्यते ॥ ४५ ॥
मुहूर्तमुपलब्धश्च जलान्तः स्वप्नविभ्रमः ।
कथं प्रत्यक्षतां प्राप्तो ममाऽमलपदास्पद ! ॥ ४६ ॥

अहो ! बड़े खेद की बात है, अप्रबुद्ध और वासना से नष्ट मेरा मन, नन्हें से बालक के मन के समान विस्तृत विविध भ्रमों को देखता है ॥ ३३ ॥

यह बड़ी माया पहले तपस्या से प्रसन्न विष्णु भगवान् ने भली-भाँति मुझे दिखाई है। अब मुझे अच्छी तरह सारे वृतान्त का स्मरण हो गया है ॥ ३४ ॥

अब पर्वत की गुफा में जाकर ऐसा यत्न करूँगा, जिससे इस मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त का और इसकी स्थिति के निमित्त का मुझे ज्ञान हो जाय ॥ ३५ ॥

ऐसा सोचकर गाधि उस नगर से चले गये और पर्वत की गुफा में जाकर थके हुए सिंह की तरह बैठ गये ॥ ३६ ॥

वहाँ उस बड़े भारी तेजस्वी गाधि ने डेढ़ वर्षतक चुल्लूभर पानी पीकर विष्णु भगवान् को प्रसन्न करने के लिए जटिल तपस्या की थी ॥ ३७ ॥

इसके बाद जल की तरह स्वच्छ मूर्तिवाले, कमल नेत्र एवं नील कमल की तरह श्यामवर्ण वाले विष्णु भगवान् शरत् काल में जलस्वरूप एवं नील कमलों से श्यामवर्ण वाले बड़े भारी सरोवर की तरह गाधि पर प्रसन्न हुये ॥ ३८ ॥

गाधि के निवासभूत पर्वतराज की उस गुफा में भगवान् उनके पास आये और आकाश में मेघ के समान विशुद्ध श्यामकान्ति वाले भगवान् वहाँ खड़े हो गये ॥ ३९ ॥

श्रीविष्णु भगवान् ने कहा—हे गाधे ! क्या तुमने मेरी गुरुतर माया को देखा और संसाररूपी भाग्याधीन जाल के कार्य को भी, देखा ? ॥ ४० ॥

हे गाधि ! मनोऽभिलषित इस मायादर्शन के प्राप्त होने पर पर्वत भूमि में तपस्या करके निष्कलङ्क तुम और क्या चाहते हो ? ॥ ४१ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार कह रहे विष्णु भगवान् को दर्शन कर द्विजों में श्रेष्ठ गाधि ने पुष्पों की राशि से भगवान् के चरणों की पूजा की ॥ ४२ ॥

पुष्पों को बिखेर कर गाधि ने अर्घ्य देकर और प्रदक्षिणा के साथ शीघ्र प्रणाम कर श्रीविष्णु भगवान् से वैसे ही यह वाक्य कहा जैसे चातक मेघ से कहता है ॥ ४३ ॥

गाधि ने कहा—यह जो आपने अत्यन्त अन्धकारमय माया दिखाई है, उसको आप जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल में पृथ्वी को प्रकट करते हैं उसी प्रकार प्रकट कीजिये ॥४४॥

हे देव ! वासनारूपी मल से मलिन मन जिस भ्रम को स्वप्न की तरह देखता है, वह जाग्रदवस्था में भी क्यों दिखाई देता है ? ॥ ४५ ॥

हे अविद्यादि मल से रहित प्रतिष्ठा वाले मुझे जल के अन्दर क्षणभर के लिए स्वप्न की तरह उपलब्ध यह भ्रम अधिक काल तक दृष्टिगोचर क्यों हुआ ? ॥ ४६ ॥

दैर्घ्यादैर्घ्येऽस्य कालस्य शरीरस्य भवाभवाः ।
कथमन्तस्थिता न स्युर्मदीयैः श्वपचभ्रमैः ॥ ४७ ॥
श्रीभगवानुवाच
गाधे ! स्वाधिविधूतस्य स्वरूपस्यैतदात्मकम् ।
चेतसोऽदृष्टतत्त्वस्य यत्पश्यत्युरुविभ्रमम् ॥ ४८ ॥
बहिर्न किंचिदप्यस्ति खाद्रयब्ध्युर्वीदिगादिकम् ।
एतत् स्वचित्त एवाऽस्ति पत्रपुञ्जमिवाऽङ्कुरे ॥ ४९ ॥
फलादि स्फारतोमेति यथैव बहिरङ्कुरात् ।
बहिः प्रकटतां याति तथा पृथ्व्यादि चेतसः ॥ ५० ॥
सत्यं पृथ्व्यादि चित्तस्थं न बहिष्ठं कदाचन ।
अङ्कुरस्थः पल्लवस्तु तस्माद् यस्मात् फलश्रियः ॥५१॥
रूपालोकमनस्कारतत्ताकालक्रियात्मकम् ।
कुम्भकारो घटमिव चेतो हन्ति करोति च ॥ ५२ ॥
आबालमेतत् पुरुषैः सर्वैरेवाऽनुभूयते ।

मेरे चाण्डालविषयक मिथ्या ज्ञान से कल्पित समय की दीर्घता एवं अल्पता तथा चाण्डालशरीर का जन्म और नाश मन में ही क्यों न स्थित रहे वे बाहर कैसे स्थित हैं ? ॥ ४७ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे गाधे ! जिस संसाररूपी भ्रम को तुम देखते हो यह सब जिसको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, वासनारूपी व्याधि से जो ग्रस्त है उस मनोभाव को प्राप्त आत्मा का स्वरूप है, बस्तुतः कुछ नहीं है ॥४८॥

आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी; दिशा आदि कुछ भी बाहर नहीं हैं ? ये सब अङ्कुर में पत्तों के समूह की तरह अपने चित्त में ही हैं ॥ ४९ ॥

आकाश आदि पदार्थ भी मनोभाव को प्राप्त आत्मा से उसी प्रकार बाहर प्रकट होते हैं जिस प्रकार अङ्कुर से फल, पुष्प आदि बाहर प्रकट होते हैं ॥ ५० ॥

यह सत्य है कि पूर्वोक्त पृथिवी आदि चित्त में स्थित है बाहर कभी नहीं रहते हैं, यह देखा गया है कि पल्लव अङ्कुर में स्थित है और फल की शोभा पल्लवाधीन है ॥ ५१ ॥

वर्तमान विषय में चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा रूपालोक प्रत्यय, अर्थात् भाती काल में विषय का मन से समर्थन किया जाता है, अतः भावी विषय में मनस्कार प्रत्यय होता है एवं अतीत विषय में तत्ता प्रत्यय होता है, क्योंकि अतीत स्मृति का विषय होता है। अतः तीनों प्रत्ययों के ज्ञापक तीन काल हुए और कालों की व्यञ्जिका सूर्य

स्वप्नभ्रममदावेगरागरोगादिदृष्टिषु ॥ ५३ ॥
चित्ते वृत्तान्तलक्षाणि संस्थितान्यात्तवासने ।
पादपे फलपुष्पाणि मूलाक्रान्तावनाविव ॥ ५४ ॥
त्यक्तावनेर्विटपिनो भूयः पत्राणि नो यथा ।
निर्वासनस्य जीवस्य पुनर्जन्मादि नो तथा ॥ ५५ ॥
यत्राऽनन्तजगज्जालं संस्थितं तेन तेजसा ।
श्वपचत्वं प्रकटितं यदि तद्विस्मयोऽत्र किम् ॥ ५६ ॥
अवबुद्धा श्वपचता प्रतिभासवशात्त्वया ।
यथैवाऽनल्पसंरम्भा विचित्राधिविकारदा ॥ ५७ ॥
तथैवाऽतिथिरायातो भुक्तवान्सुप्तवान्द्विजः ।
कथां कथितवांश्चेति दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ५८ ॥
तथैवोत्थाय गच्छामि प्राप्तोऽहं भूतमण्डलम् ।
इमे भूता इमे ग्रामा दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ५९ ॥

की क्रिया है। इसलिए सब का पर्यवसान क्रिया में ही हुआ। इन क्रियात्मक वस्तुओं का उपसंहार और सृष्टि मन स्वयं ऐसे ही करता है जैसे कि कुम्हार घट का नाश और सृष्टि करता है ॥ ५२ ॥

इस बात का बालक, वृद्ध और वनिताएँ स्वप्न, भ्रम, मद, आवेग, राग, रोग आदि की बुद्धियों में अनुभव करते हैं स्वप्नभ्रमादि सब चित्त के ही धर्म हैं ॥ ५३ ॥

वासनाओं से युक्त चित्त में लाखों वृत्तान्त वैसे ही रहते हैं जैसे जड़ों से पृथिवी को आक्रान्त किये हुए वृक्ष में लाखों फल और पुष्प रहते हैं ॥ ५४ ॥

वासना रहित जीव के जन्म आदि वैसे ही नहीं होते हैं जैसे पृथिवी से उखाड़े गये वृक्ष में पत्ते आदि नहीं रहते ॥ ५५ ॥

जिस चित्त में सदधिष्ठान के अनन्त जगत्-रूपी जाल फँसा है, उस चित्त में यदि चाण्डालत्व प्रकट हो गया, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥ ५६ ॥

जिस प्रकार प्रचुर वेगवाली तथा नाना प्रकार के मानसिक चिन्तारूपी विकारों को पैदा करनेवाली चाण्डालता प्रतिभास के द्वारा (अज्ञान के द्वारा) तुम्हें ज्ञात हुई है उसी तरह 'एक ब्राह्मण अतिथि आया, उसने भोजन किया, वह सोया और उसने कथा कही' यह भी सब तुमने भ्रमात्मक ही देखा है ॥ ५७, ५८ ॥

उसी प्रकार 'मैं उठ कर जाता हूँ, मैंने भूतमण्डल नाम के ग्राम में गया ये भूत हैं, ये ग्राम हैं' यह भी तुमने भ्रमात्मक ही देखा है ॥ ५९ ॥

तथैवेदं कटंजस्य प्राक्तनं लुठितं गृहम् ।
जनैरुक्तं कटंजस्य दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ६० ॥
तथैव कीरनगरं प्राप्तोऽस्मि कथितं च मे ।
कीरैः श्वपचराजत्वं दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ६१ ॥
एवं सर्वं त्वया दृष्टं मोहजालं द्विजोत्तम ! ।
यत्सत्यमिति जानासि यच्चाऽसत्यमवैषि च ॥ ६२ ॥
वासनावलितं चेतः किन्नामाऽन्तर्न पश्यति ।
साधितं दृश्यते स्वप्ने वर्षसाध्यं प्रयोजनम् ॥ ६३ ॥
नाऽतिथिर्न च भूतास्ते न कीरास्ते न तत्पुरम् ।
सर्वमेतन्महाबुद्धे ! व्यामोहाद् दृष्टवानसि ॥ ६४ ॥
गच्छता भवता भूतदेशं पान्थेन कन्दरे ।
कस्मिंश्चिद्विप्र ! विश्रान्तं कुरङ्गेणेव कानने ॥ ६५ ॥
तत्रैव श्रममूढत्वादिदं तद्भूतमण्डलम् ।
इदं तच्छ्वपचागारमिति दृष्टं न सत्यतः ॥ ६६ ॥
तथैव कीरनगरं दृष्टवानसि तत्तथा ।
तदैव चाऽन्यदा वाऽपि मायार्थं हि भवान् द्विज ! ॥६७॥
सर्वदैव समग्रासु विहरन्नसि दृष्टवान् ।
दिक्षु प्रोन्मत्तक इव विभ्रमं मनसा मुने ! ॥ ६८ ॥
तदुत्तिष्ठ निजं कर्म कुर्वंस्तिष्ठोपशान्तधीः ।
न स्वकर्म विना श्रेयः प्राप्नुवन्तीह मानवाः ॥ ६९ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति निगदितवान् स पद्मनाभो
भुवनगतापसवृन्दपूज्यमानः ।
विबुधमुनिगणैः पवित्रहस्तै-
र्वृत उदधिं निजमास्पदं जगाम ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते मायामहत्त्वकथनं नामाऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

उसी प्रकार कटंज नाम के चाण्डाल का यह नष्ट हुआ प्राक्तन घर है, इस प्रकार मनुष्यों से कहे गये कटंज के गृहरूप भ्रम को तुमने देखा ॥ ६० ॥

उसी तरह 'मैंने कीर देश को प्राप्त किया और कीर देश के वासियों ने मुझ से चाण्डाल के राजा होने की कथा कही' यह सब भी तुमने भ्रम ही देखा ॥ ६१ ॥

हे द्विजोत्तम ! इस तरह तुमने यह सब मोहजाल देखा है, जिसको तुम यह सत्य है, इस प्रकार जानते हो और जिसको यह असत्य है, यह भी तुम जानते हो ॥ ६२ ॥

वासनाओं से ओतप्रोत चित्त अपने भीतर क्या नहीं देखता, वर्षभर में सिद्ध होने वाले कार्य को भी स्वप्न में सिद्ध हुआ देखता ॥ ६३ ॥

न अतिथि है, न वे कीर हैं, न वे भूत हैं और न वह नगर है। हे महाबुद्धे ! यह सब तुमने अज्ञान से देखा है ॥ ६४ ॥

तुम भूतदेश और कीरदेश को अभी-भी नहीं गये, किन्तु अतिथि का वाक्य सुनकर भूतदेश को जाते हुए तुमने रास्ते में थकावट के कारण किसी पर्वत की गुफा में विश्राम किया और वहीं श्रम से विमूढ़चित्त होने के कारण स्वप्न की तरह 'यह वह भूतमण्डल है, यह चाण्डाल का घर है', इत्यादि सब तुमने भ्रमात्मक देखा है, परमार्थतः नहीं देखा है ॥ ६५, ६६ ॥

हे द्विज ! उसी तरह कीरनगर भी भ्रमात्मक देखा है और दूसरे दिन अघमर्षण के समय भी सब मायापूर्ण वस्तुएँ देखी हैं ॥ ६७ ॥

हे मुने ! केवल ये ही पूर्वोक्त भ्रम तुमने नहीं देखे प्रत्युत सब कालों में समस्त दिशाओं में महान् उन्मत्त की तरह घूम रहे तुमने मन से विशिष्ट भ्रम देखा है ॥ ६८ ॥

इसलिए उठो और शान्त बुद्धि हो अपना ब्रह्मचर्याश्रमोचित अग्निहोत्रादि एवं स्वाध्यायादि कर्म करो, क्योंकि यहाँ मनुष्य अपने कर्म किये बिना कल्याण को प्राप्त नहीं करते हैं ॥ ६९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—तीनों लोकों के तपस्वियों से पूजित एवं भगवान् के चरणस्पर्शादि से पवित्र हाथों वाले पण्डित और मुनियों के समूह से व्याप्त पद्मनाभ भगवान्, इस प्रकार कह कर अपने स्थान क्षीरसागर को चले गये ॥ ७० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में मायामहत्त्वकथन नामक कुसुमलता का अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

४८

वसिष्ठ उवाच

अथ गाधिर्गते विष्णौ पुनर्भूतादिकं क्रमात् ।
स्वयं मोहविचारार्थं बभ्रामाऽभ्रमिवाऽम्बरे ॥ १ ॥
उपलभ्य तथैवाऽऽत्मवृत्तान्तं जनतस्ततः ।
हरिमाराधयामास पुनरद्रिगुहां गतः ॥ २ ॥
आजगामैनमल्पेन कालेनाऽथ जनार्दनः ।
सकृदाराधनेनैव माधवो याति बन्धुताम् ॥ ३ ॥
उवाच गाधिं भगवान् मयूरमिव वारिदः ।
किं त्वं प्रार्थयसे भूयस्तपसेति प्रसादवान् ॥ ४ ॥

गाधिरुवाच

भ्रान्तोऽस्मि देव ! षण्मासान् भूतकीरजनास्पदम् ।
तत्र व्यभिचरत्यस्मद्वृत्तान्तो न कथास्वपि ॥ ५ ॥
मायया भूतभूर्दृष्टा त्वयेत्युक्तोऽस्मि किं प्रभो ! ।
मोहनाशाय महतां वचो नो मोहवृद्धये ॥ ६ ॥

श्रीभगवानुवाच

काकतालीययोगेन चेतसि श्वपचस्थितिः ।
सर्वेषां भूतकीराणां तवेव प्रतिबिम्बति ॥ ७ ॥
तेनाऽङ्ग तव वृत्तान्तं यथावत् कथयन्ति ते ।
प्रतिभासो हि नाऽऽयाति पुनरप्रतिभासताम् ॥ ८ ॥
केनचिच्छ्वपचेनाऽन्ते ग्रामस्य रचितं गृहम् ।
तत्त्वया दृष्टमाविष्टकाखण्डतां गतम् ॥ ९ ॥
कदाचित् प्रतिभैकैव बहूनामपि जायते ।
काकोलतालस्थितिवद्विचित्रा हि मनोगतिः ॥ १० ॥
तथाहि बहवः स्वप्नमेकं पश्यन्ति मानवाः ।
स्वापभ्रमदमैरेयमदमन्थरचित्तवत् ॥ ११ ॥
एकस्यामेव लीलायां रमन्ते बहुबालकाः ।
एकस्यामेव नीलायां वनस्थल्यामिवैणकाः ॥ १२ ॥

४९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर भगवान् विष्णु के चले जाने पर फिर गाधि स्वयं अपने मोह के विचार के लिए भूतमण्डल आदि देशों में आकाश में मेघ की तरह क्रम से भटके ॥ १ ॥

अनन्तर लोगों के मुँह से अपने चाण्डालत्व आदि के वृत्तान्त को पूर्वानुभूत के समान ही सुनकर और चिह्नों से देखकर फिर पर्वत की गुफा में जाकर उन्होंने श्रीहरि भगवान् की आराधना की ॥ २ ॥

अनन्तर थोड़े ही समय में भगवान् श्रीहरि उनके पास आये । भगवान् एक बार थोड़ीसी आराधना से ही बन्धुता को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

प्रसन्न भगवान् गाधि के प्रति वैसे ही बोले—जैसे मेघ मयूर के प्रति बोलता है । हे गाधि ! तपस्या से तुम फिर क्या चाहते हो ? ॥ ४ ॥

गाधि ने कहा—हे देवदेव ! मैंने छः महीने तक भूतमण्डल और कीरराज्य में भ्रमण किया । वहाँ पर जनप्रवादों में भी मेरे वृत्तान्त में व्यभिचार नहीं आया ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! आपने मुझ से तुमने माया से भूतमण्डल देखा, ऐसा क्यों कहा ? महात्माओं का वचन मोह के नाश के लिए होता है न कि मोह की वृद्धि के लिए ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—गाधे ! काकतालीयन्याय से प्रसिद्ध भूतमण्डल देश के और कीरदेश के लोगों के मन में, तुम्हारे मन की तरह कटंज चाण्डाल की स्थिति अपरोक्षरूप से भ्रान्तिवश प्रतिबिम्बित है ॥ ७ ॥

वे तुम्हारे वृत्तान्त को जैसा का तैसा कहते हैं । बाधक ज्ञान के बिना भ्रम अभ्रमता को प्राप्त नहीं होता ॥ ८ ॥

किसी चाण्डाल द्वारा गाँव के छोरपर बनाया गया मकान, यह पहले मैंने बनाया था इस प्रकार तुम्हारे भ्रान्तिजनित आग्रह का विषयीभूत है और अब ईंटों के टुकड़ों के रूप में परिणत हो गया है, तुमने देखा था ॥ ९ ॥

कभी भ्रान्तिरूप प्रतिभास बहुतों का भी एक-सा ही होता है । कौए की टाड़ के नीचे स्थिति के समान मनोगति बड़ी विचित्र है ॥ १० ॥

देखो न बहुत से लोग एक ही स्वप्न देखते हैं जैसे कि निद्रा के समान भ्रमप्रद मदिरा के मद से मत्तचित्त वाले बहुत से समानरूप से घूम रही-सी दिशाओं को देखते हैं ॥ ११ ॥

एक ही नीली वनस्थली में मृगछौनों के समान बहुत से बालक एक ही बाल आदि से बनाये हुए गृह, महल दुर्ग आदि की भ्रमलीला में खेलते हैं ॥ १२ ॥

बहवस्तुल्यकालं च प्रतिभासेन कर्मणाम् ।
जना यतन्ते स्वफलपाकेऽतिबहुलाकृतौ ॥ १३ ॥
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञानां कालो दातेति या श्रुतिः ।
विप्र ! संकल्पमात्रोऽसौ कालो ह्यात्मनि तिष्ठति ॥१४॥
अमूर्तो भगवान् कालो ब्रह्मैव तमजं विदुः ।
न जहाति न चाऽऽदत्ते किंचित्कस्य कदेति च ॥ १५ ॥
लौकिको यस्त्वयं कालो वर्षकल्पयुगात्मकः ।
संकल्प्यते पदार्थौघैः पदार्थौघश्च तेन तु ॥ १६ ॥
समानप्रतिभासोत्थसंभ्रमं भ्रान्तचेतसः ।
तथा तं दृष्टवन्तस्ते भूतकीरजनोच्चयाः ॥ १७ ॥
स्वव्यापारपरो भूत्वा धियाऽऽत्मानं विचारय ।
साधो ! गतमनोमोहमिहैवाऽऽस्स्व व्रजाम्यहम् ॥ १८ ॥
इत्युक्त्वा भगवान् विष्णुर्जगामाऽन्तर्द्धिमीश्वरः ।
अतिष्ठत् कन्दरे गाधिराधिपीवरया धिया ॥ १९ ॥

वध, बन्धन, पराजय, पलायन आदि विविध आकार वाले अपने प्रारब्धफलपाक की प्राप्ति होने पर भी बहुत से सैनिक आदि लोग एक ही समय एक तरह के जय, लाभ, भोग आदि प्रयोजनों की भ्रान्ति से उनके लोभ से युद्ध आदि द्वारा यत्न करते हैं ॥ १३ ॥

काल प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा का दाता है ऐसा जो लोकप्रवाद है, उसमें विरोध नहीं आता है, क्योंकि प्रतिबन्ध और अनुज्ञा का हेतुभूत काल भी संकल्पमात्र ही है।

जो अकल्पित अखण्डकाल (परमात्मा) है, वह स्वात्मा में स्थित रहता हैं, किसी के लिए न तो प्रतिबन्धक होता है और न किसी को अभ्यनुज्ञा ही देता है ॥ १४ ॥

अमूर्त जो भगवान् काल है, उसे तो पण्डित लोग जन्मादिविकाररहित ब्रह्म ही कहते हैं। वह न तो कभी किसी का कुछ भी त्याग करता है और न कभी किसी का कुछ भी ग्रहण करता है ॥ १५ ॥

वर्ष, कल्प, युगरूप यह लौकिक काल है, वह जन्य मात्र के कालरूप उपाधिजन्य होने के कारण सूर्यक्रिया, चन्द्रपिण्ड आदि पदार्थ समूहों के द्वारा संकल्पित होता है और उस काल द्वारा प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञावश सब पदार्थों के समूह, उनकी क्रिया, फल की व्यवस्था संकल्पित होती है ॥ १६ ॥

उन भ्रान्तचित्तवाले भूतदेश के और कीरदेश के लोगों ने समान प्रतिभास से उत्पन्न भ्रम को वैसे ही देखा ॥१७॥

हे साधो ! अपने वर्ण और आश्रम के आचरण में तत्पर होकर आप बुद्धि से अपने आत्मा का विचार करें तभी मोहरहित होकर यहीं रहिये मैं जाता हूँ ॥ १८ ॥

ऐसा कहकर सबके अधिपति भगवान् विष्णु अन्तर्हित हो गये और चिन्ता से व्याप्त बुद्धि से युक्त गाधि कन्दरा में जा बैठे ॥ १९ ॥

ततः कतिपयेष्वद्रौ मासेष्वतिगतेषु सः ।
पुनराराधयामास पुण्डरीककरं द्विजः ॥ २० ॥
ददर्श चैकदा नाथमागतं प्रणनाम तम् ।
पूजयामास मनसा चोक्तेनोवाच चेश्वरम् ॥ २१ ॥

गाधिरुवाच

भगवन् ! संस्मरंश्चैतामात्मनः श्वपचस्थितिम् ।
इमां संसारमायां च परिमुह्यामि चेतसा ॥ २२ ॥
तदुक्त्वाऽऽस्स्व यथावस्तु महामोहनिवृत्तये ।
एकस्मिन्नेव विमले मां नियोजय कर्मणि ॥ २३ ॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन् ! जगदिदं माया महाशम्बरडम्बरम् ।
सर्वा आश्चर्यकलनाः सम्भवन्तीह विस्मृतेः ॥ २४ ॥
भूतकीरपुरे मोहाद् दृष्टवांस्तत्तथा भवान् ।
इत्येतत्संभवत्येव दृश्यते हि जनैर्भ्रमः ॥ २५ ॥

अनन्तर पर्वत पर कुछ महीनों के बीतने पर वहीं उस गाधि ने पुण्डरीकाक्ष भगवान् की पुनः आराधना की ॥२०॥

एक समय उन्होंने आये हुए प्रभु को देखा, प्रणाम किया, मन, वचन और कर्म से उनकी पूजा की तथा प्रश्न की अनुज्ञा के वाक्य से पूछा ॥ २१ ॥

गाधि ने कहा—हे भगवान् ! अपनी इस चाण्डालस्थिति का चित्त से स्मरण कर रहा और इस जन्म, मरण आदि अनर्थप्रचुर संसारमाया का स्मरण कर मुझे अत्यन्त मोह को प्राप्त हो रहा है ॥ २२ ॥

इसलिए महामोह की निवृत्ति के लिए उपाय कह कर झटपट न चले जायें, किन्तु संशय से उत्पन्न मोह का नाश होने तक स्थित होजाइये और मुझे एक ही निर्मल कर्म में नियुक्त कीजिये ॥ २३ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे ब्रह्मन् ! यह जगत् मायारूपी महाशम्बरासुर का आडम्बर रूप है। इसमें आत्मतत्त्व के आवरण के निमित्तभूत अज्ञान से सब आश्चर्यमय कल्पनाएँ होती हैं ॥ २४ ॥

तुमने भूतमण्डल और कीरनगर में जो वैसा देखा, वह सब संभव ही है, क्योंकि निद्रा आदि में असंभावित पदार्थों का भ्रम लोगों को दिखाई ही देता है ॥ २५ ॥

भूतास्त्वमिव कीराश्च दृष्टवन्तस्तथा भ्रमम् ।
मुधैवेत्यपि सत्याभं समकालादिसंभवात् ॥ २६ ॥
इदं तु शृणु वक्ष्यामि यथाभूतमनिन्दितम् ।
यथैति तनुतां चिन्ता मार्गशीर्षलतेव ते ॥ २७ ॥
योऽसौ कटंजको नाम श्वपचो भूतमण्डले ।
तेनैव सन्निवेशेन स तथैवाऽभवत् पुरा ॥ २८ ॥
तथैव विकलत्रत्वं प्राप्य देशान्तरं गतः ।
बभूव कीरनृपतिः प्रविवेशाऽनलं ततः ॥ २९ ॥
भवतः केवलं चित्ते जलान्तर्वर्तिनस्तदा ।
प्रतिभाता तथाभूता कटंजाचारसंस्थितिः ॥ ३० ॥
द्रष्टाऽनुभूतमप्यर्थं कदाचिद् विस्मरत्यलम् ।
कदाचिदप्यदृष्टं तु चेतः पश्यति दृष्टवत् ॥ ३१ ॥
यथा स्वप्नमनोराज्यधातुसंस्थितिविभ्रमाः ।
जाग्रत्यपि तथैवाऽङ्ग दृश्यन्ते मनसा स्वयम् ॥ ३२ ॥

भूतदेशवासियों और कीरदेशवासियों ने तुम्हारी ही तरह मिथ्या होते हुए भी सत्य की तरह वैसा भ्रम देखा, क्योंकि समान संकल्प से समान काल आदि संभव है ॥ २६ ॥

मैं तुम्हारे चाण्डालनिन्दासम्बन्ध को हटाने वाले यथार्थ विषय को कहूँगा, तुम इसे सुनो, इससे मार्गशीर्ष की लता के समान तुम्हारी चिन्ता नष्ट हो जायेगी ॥२७॥

जो यह कटंज नाम का चाण्डाल भूतमण्डल में पहले हुआ, वह तुम्हारे द्वारा देखे गये उसी आकार-प्रकार से वैसे ही युक्त हुआ जैसे पहले हुआ ॥ २८ ॥

वैसे ही कलत्र रहित होकर दूसरे देश में गया, कीर-देश का अधिपति हुआ और तदनन्तर अग्नि में प्रवेश कर गया ॥ २९ ॥

तब जल के अन्दर डूबे हुए तुम्हारे मन में उस प्रकार की कटंज के आचार की स्थिति भ्रान्ति से केवल प्रति-भासित हुई, क्योंकि ऐसा ही तुम्हारा संकल्प था ॥ ३० ॥

चित्त कभी न देखी गई वस्तु को भी पूर्वदृष्ट के समान वैसे ही देखता है जैसे द्रष्टा पुरुष कभी अनुभूत वस्तु को भी बिलकुल भूल जाता है ॥ ३१ ॥

हे गाधे ! जाग्रत् में भी मन से स्वयं भ्रम वैसे ही देखे जाते हैं जैसे स्वप्न, मनोरथ, संनिपात के भ्रम होते हैं ॥ ३२ ॥

हे गाधे ! अतीत भी कटंज का चरित वर्तमान प्रतिभा को वैसे ही प्राप्त होता है जैसे त्रिकालदर्शी योगी की दृष्टि से भविष्यत् वस्तु भी उसके उत्तर काल में होने

भविष्यद् भूतकालस्थं यथा त्रैकाल्यदर्शिनः ।
प्रतिभामेति गाधे यत् कटंजाचरितं तथा ॥ ३३ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इति मज्जति नाऽऽत्मवान् ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इति मज्जत्यनात्मवान् ॥ ३४ ॥
सर्वमेवाऽहमेवेति तत्त्वज्ञो नाऽवसीदति ।
न गृह्णाति पदार्थेषु विभागानर्थभावनम् ॥ ३५ ॥
तेनाऽसौ भ्रमयोगेषु सुखदुःखविलासिषु ।
न निमज्जति मग्नोऽपि तुम्बीपात्रमिवाऽम्भसि ॥ ३६ ॥
त्वं तावद् वासनाजालग्रस्तचित्तो विचेतनः ।
किञ्चिच्छेषमहाव्याधिरिव न स्वस्थमागतः ॥ ३७ ॥
ज्ञानस्याऽपरिपूर्णत्वान्न शक्नोषि मनोभ्रमम् ।
विनिवारयितुं मेघमसम्यग्यत्नवानिव ॥ ३८ ॥
यदेव ते मनोमात्रे सहसा प्रतिभासते ।
तरुरुच्चजनेनेव तेनैवाऽऽक्रम्यसे क्षणात् ॥ ३९ ॥

वाले दृश्यमान पदार्थों की अपेक्षा भूतकालस्थ होती है ॥ ३३ ॥

यह देह मैं हूँ तथा ये घर-द्वार आदि मेरे हैं, इस प्रकार आत्मज्ञानी निमग्न नहीं होता । यह देह मैं हूँ ये घर-द्वार आदि मेरे हैं, इस प्रकार अनात्मज्ञानी ही निमग्न होता है ॥ ३४ ॥

सब कुछ मैं ही हूँ ऐसी भावना से तत्त्वज्ञानी दुःखी नहीं होता, वह पदार्थों में भेद रूप अनर्थ भावना का ग्रहण नहीं करता है ॥ ३५ ॥

इसी कारण वह सुख, दुःख से युक्त भ्रमों में जल में तुम्बी के समान निमग्न प्राय होता हुआ भी निमग्न नहीं होता ॥ ३६ ॥

वासनाओं से ग्रस्त चित्त वाले, चेतनारहित तुम जिसकी महाव्याधि कुछ शेष रह गई हो, उस रोगी के सदृश हो, तुम भी स्वरूप में अवस्थित आत्मा को वैसे ही प्राप्त नहीं किये हो जैसे कुछ अविशिष्ट महाव्याधि वाला पुरुष स्वास्थ्य को लाभ नहीं करता ॥ ३७ ॥

ज्ञान के परिपूर्ण न होने के कारण तुम मनोभ्रम क निवारण करने के लिए वैसे ही समर्थ नहीं हो जैसे गृह-रचना या गृह-प्रवेश आदि सम्यग् प्रयत्न से रहित पुरुष वृष्टि का निवारण करने में समर्थ नहीं होता ॥ ३८ ॥

तुम्हारे चित्त में जो सहसा प्रतिभासित होता है ऊँचे पुरुष के द्वारा वृक्ष के समान क्षणभर में उसी से तुम आक्रान्त हो जाते हो यानी उसके अभिमान से तिरस्कृत हो जाते हो ॥ ३९ ॥

चित्तं नाभिः किलाऽस्येह मायाचक्रस्य सर्वतः ।
स्थीयते चेत्तदाऽऽक्रम्य तन्न किञ्चित् प्रबाधते ॥ ४० ॥
त्वमुत्तिष्ठ गिरेः कुञ्जे दशवर्षाण्यखिन्नधीः ।
तपः कुरु ततो ज्ञानमनन्तं समवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥
इत्युक्त्वा पुण्डरीकाक्षस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
वाताभ्रवद्दीपकवद्यमुनोत्पीडवत् क्षणात् ॥ ४२ ॥
गाधिर्विवेकवशजं वैराग्यपदमागतः ।
शरत्समयपर्यन्ते वैरस्यमिव पादपः ॥ ४३ ॥
विचित्रं चेष्टितं धातुरसमञ्जसमागतम् ।
भ्रमद्भ्रमभरोन्मुक्तमतिर्मन्दमगर्हयत् ॥ ४४ ॥
जगाम करुणार्द्रात्मा नियमायोत्तमश्रिये ।
विश्रान्त्यै ऋष्यमूकं तु पयोधर इवाऽचलम् ॥ ४५ ॥
निरस्ताशेषसङ्कल्पस्तपस्तत्र चकार ह ।
दश वर्षाणि तेनाऽसावात्मज्ञानमवाप ह ॥ ४६ ॥
अरमत तदनु स्वां प्राप्य सत्तां महात्मा
ह्यपगतभयशोको भोगभूमावनीषु ।
सततमुदितजीवन्मुक्तरूपः प्रशान्तः
सकल इव शशाङ्को घूर्णितापूर्णचेताः ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते गाधेर्ज्ञानप्राप्तिर्नाम एकोनपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस मायाचक्र का मध्यभूत चित्त यहाँ पर चारों ओर घूमता है। यदि पुरुष चित्त का आत्मा में प्रविलापन द्वारा तिरस्कार कर स्थित हो जाय, तो वह मायाचक्र उसे कुछ भी पीड़ा नहीं पहुँचाता है ॥ ४० ॥

तुम उठो, पर्वत के कुञ्ज में दस वर्ष तक अखिन्नबुद्धि होकर चित्तनिरोध का अभ्यास करो। अनन्तर तुम अनन्त ज्ञान को प्राप्त करोगे ॥ ४१ ॥

ऐसा कह कर भगवान् श्रीहरि वायु में लीन मेघ के मांन बुते हुए दीपक की तरह और यमुना की तरङ्ग की रह एक क्षण में वहीं पर अन्तर्हित हो गये ॥ ४२ ॥

गाधि विवेकवश उत्पन्न हुए वैराग्य को वैसे ही प्राप्त किया जैसे शरदृतु के बाद पतझड़ में वृक्ष पत्तों से रहित हो जाता है ॥४३ ॥

घूम रही भ्रमराशि से उन्मुक्त बुद्धि वाले गाधि ने प्राक्तन कर्मरूप दैव की अयोग्य चाण्डालभावप्रदर्शनरूप विचित्र चेष्टा की थोड़ी निन्दा की ॥ ४४ ॥

करुणा से आर्द्र चित्त वाले गाधि कल्याणकारी चित्त-नियमन के अभ्यास के लिए तथा सर्वश्रेष्ठ पद में विश्रान्ति के लिए ऋष्यमूक पर्वत पर गये जैसे सजल मेघ पर्वत पर जाता है ॥ ४५ ॥

सब संकल्पों का त्याग कर गाधि ने वहाँपर दस वर्ष तक तप का संयम किया, उससे उन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त किया ॥ ४६ ॥

आत्मज्ञानप्राप्ति के बाद महात्मा गाधि अपनी पारमार्थिक सत्ता को लाभ कर भय-शोकरहित हो निरन्तर उदित जीवनमुक्तस्वरूपवाले अपरिच्छिन्न स्वानन्द मद से आघूर्णित और पूर्णचित्त षोडश कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा के समान अपरिच्छिन्न ब्रह्माकाश में विहार करने लगे ॥४७॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में गाधिवृत्तान्त में गाधि के ज्ञानप्राप्ति नामक कुसुमलता का ऊनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

५०

वसिष्ठ उवाच

एवमेषाऽतिविितता दुर्ज्ञाना रघुनन्दन ! ।
महामोहमयी माया विषमा पारमात्मिकी ॥ १ ॥
क्व मुहूर्तद्वयस्वप्नसंभ्रमाल्लोकदृष्टता ।
क्वाऽनेकवर्षसंभुक्तश्वपचावनिपभ्रमः ॥ २ ॥
क्व संभ्रमोपलब्धत्वं क्व प्रत्यक्षनिदर्शनम् ।
क्वाऽसत्यत्वमसंदिग्धं क्व सत्यपरिणामिता ॥ ३ ॥

५०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे रघुनन्दन ! इस प्रकार अतिशय विस्तृत यह महामोहमयी विषम माया अचिन्तनीय है, एकमात्र परमात्मा ही इसका आश्रय और विषय है ॥ १ ॥

कहाँ दो मुहूर्त के भ्रम से लोकदर्शन, कहाँ अनेकों वर्षों में भुक्त होनेवाला चाण्डालराज का भ्रम है ॥ २ ॥

कहाँ भ्रमावस्था की प्राप्ति और कहाँ प्रत्यक्ष दर्शन, कहाँ निःसन्देह असत्यता और कहाँ सत्य में परिणत होना है ॥ ३ ॥

अतो वच्मि महाबाहो ! मायेयं विषमाऽन्वहम् ।
असावधानमनसं संयोजयति संकटे ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

एवमस्य कथं ब्रह्मन् ! मायाचक्रस्य रोधनम् ।
कुर्युः प्रवहतो वेगात् सर्वाङ्गच्छेदकारिणः ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्य संसाररूपस्य मायाचक्रस्य राघव ! ।
चित्तं विद्धि महानाभिं भ्रमतो भ्रमदायिनः ॥ ६ ॥
तस्मिन् द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः ।
गृहीतनाभि वहनान्मायाचक्रं निरुध्यते ॥ ७ ॥
अवष्टब्धमनोनाभि मोहचक्रं न गच्छति ।
यथा रज्ज्वां निरुद्धायां कीलकं रज्जुवेष्टितम् ॥ ८ ॥
चक्रयुद्धैकतज्ज्ञोऽसि कस्माज्जानासि नाऽनघ ! ।
चक्रं नाभाववष्टब्धं वशमायाति नाऽन्यथा ॥ ९ ॥

इसलिए मैं कहता हूँ, हे महाबाहो ! यह विषम माया असावधान मनवाले पुरुष को प्रतिदिन संकट में डालती है ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! अधिकारी लोग परिपूर्ण आनन्दस्वरूप आत्मा को परिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप अङ्गच्छेद के हेतु तथा वेग से बह रहे इस मायाचक्र का निरोध कैसे करें ? ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हे राघव ! घूम रहे और भ्रान्ति देनेवाले इस संसाररूपी मायाचक्र की महानाभि अर्थात् पहिये के बीच का भाग स्वरूप चित्त को जानिये ॥ ६ ॥

पुरुष प्रयत्न से बुद्धि द्वारा उस चित्तरूपी महानाभि के अर्थात् पहिये के बीच के हिस्से के रुकने पर पकड़ी गई नाभि वाला मायाचक्र भ्रमण से रुक जाता है ॥ ७ ॥

जैसे रस्सी के रोकने पर रस्सी में लपेटा हुआ काँसे आदि का बनाया हुआ क्रीडाचक्र लट्टू नहीं चलता है वैसे ही रोकी गई नाभि वाला मनरूपी मोहचक्र नहीं चलता ॥ ८ ॥

हे निष्पाप ! आप चक्रयुद्धों में मुख्य तथा उनको रोकने और घुमाने आदि में कुशल हैं, इसलिए आप उक्त दृष्टान्त को क्यों नहीं जानते हैं । नाभि में रोका गया चक्र वश में आता है, अन्यथा नहीं ॥ ९ ॥

हे राघव ! इसलिए प्रयत्नपूर्वक चित्तरूपी नाभि को रोककर संसाररूपी चक्र से आत्मा को जन्मपरम्परा की

चित्तं नाभिमवष्टभ्य तस्माद् यत्नेन राघव ! ।
संसारचक्रं वहनादात्मनः परिरोधय ॥ १० ॥
एतां युक्तिं विना दुःखमनन्तमितमात्मनः ।
अस्यां दृष्टौ क्षणादन्तं गतमेवाऽवलोकय ॥ ११ ॥
चित्ताक्रमणमात्रात्तु परमादौषधादृते ।
प्रयत्नेनाऽपि संसारमहारोगो न शाम्यति ॥ १२ ॥
तस्माद् राघव ! संत्यज्य तीर्थदानतपःक्रियाः ।
श्रेयसे परमायाऽन्तश्चित्तमेव वशं कुरु ॥ १३ ॥
चित्तान्तरेव संसारः कुम्भान्तः कुम्भखं यथा ।
चित्तनाशे न संसारः कुम्भनाशे न कुम्भखम् ॥ १४ ॥
चिरं संसरणाकाशकोटरं चित्तकुम्भखम् ।
विनाश्याऽतुलिताकाशस्वरूपं रूपमाविश ॥ १५ ॥
वर्तमानमनायासं भजद् बाह्यधिया क्षणम् ।
भूतं भविष्यदभजद् याति चित्तमचित्तताम् ॥ १६ ॥

प्राप्ति कराने से रोकिये ॥ १० ॥

इस चित्तनिरोधरूपी उपाय के बिना आत्मा को अनन्त दुःख प्राप्त हुआ है । इस दृष्टि की प्राप्ति होनेपर दुःख को क्षणभर में नष्ट हुआ ही जानिये ॥ ११ ॥

केवल चित्त को वश में करनेरूपी परम ओषधि के बिना यह संसाररूपी महारोग किसी भी प्रयत्न से शान्त नहीं होता है ॥ १२ ॥

इसलिए हे राघव ! तीर्थसेवन, दान, तपस्या आदि कर्मों को छोड़कर परम कल्याण के लिए भीतरी चित्त को ही वश में कीजिये ॥ १३ ॥

चित्त के अन्दर वैसे ही संसार है जैसे घड़े के अन्दर घटाकाश रहता है । चित्त का नाश होनेपर संसार वैसे ही नहीं रहता जैसे घड़े के नष्ट होनेपर घटाकाश नहीं रहता ॥ १४ ॥

आप भी चित्त के नाश से चित्तरूपी घटाकाश का विनाश कर वैसे ही अतुलित ब्रह्माकाश में प्रवेश कीजिये जैसे घटाकाश में रोका गया मच्छर आदि जिसमें दुःख-पूर्वक संसरण है ऐसे आकाशकोटर को भाग्यवश घड़े के विनाश से नष्ट कर, अनुपम महाकाश में प्रवेश कर बन्धनरहित हो सुखी होता है ॥ १५ ॥

बाह्य बुद्धि से वर्तमान क्षण का अनायास सेवन कर रहा और भूत तथा भविष्यत् का सेवन न कर रहा चित्त अचित्तता को प्राप्त होता है । भूत भविष्यत् विषयों के अनुसन्धान के त्याग से ही क्रमशः चित्त का क्षय होता है ॥ १६ ॥

सङ्कल्पांशानुसन्धानवर्जनं चेत् प्रतिक्षणम् ।
करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवाऽसि पावनम् ॥ १७ ॥
यावत्संकल्पकलना तावच्चित्तविभूतयः ।
यावज्जलदविस्तारस्तावत्खजलबिन्दवः ॥ १८ ॥
सचित्तं चेतनं यावत्तावत् संकल्पकल्पनम् ।
सचन्द्रांशु जगद् यावत् तावत् प्रालेयलेशकाः ॥ १९ ॥
चेतनं चित्तरिक्तं चेद्भावितं तत्स्वसंसृतेः ।
आमूलमेव दग्धानि विद्धि मूलानि सिद्धवत् ॥ २० ॥
चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक्चेतनमुच्यते ।
निर्मनस्कस्वभावं तन्न तत्र कलनामलः ॥ २१ ॥
सा सत्यता सा शिवता साऽवस्था पारमात्मिकी ।
सर्वज्ञता सा सा दृष्टिर्न तु यत्र मनः क्षतम् ॥ २२ ॥
मनो यत्र तु तत्राऽऽशास्तत्र दुःखसुखानि च ।
सदा सन्निधिमायान्ति श्मशान इव वायसाः ॥ २३ ॥

यदि आप भावी विषयों के संकल्प का और उसके अंशभूत पदार्थों के अनुसन्धान का प्रत्येक क्षण में सावधानी से त्याग करें तो आप पवित्र अचित्तता को प्राप्त ही हैं ॥ १७ ॥

जब तक संकल्प कल्पना है तब तक चित्त विभूतियाँ रहती हैं तथा जब तक मेघ का विस्तार है तब तक वृष्टि के बिन्दु रहते हैं ॥ १८ ॥

जब तक चेतन चिदात्मरूप चित्तसहित है तब तक संकल्पों की कल्पना अवश्य होगी जब तक जगत् चन्द्रमा के किरणों से युक्त रहेगा तब तक ओस की बूदें अवश्य होंगी ॥ १९ ॥

यदि चेतन चित्त से पृथक् है इस प्रकार की भावना करने पर तो अपने संसार के मूलों को मूलाज्ञान नाश के साथ महासिद्ध के समान जला ही हुआ जानें ॥ २० ॥

चित्त से रहित चेतन प्रत्यक् चेतन आत्मा कहा जाता है। वह स्वभावतः मन रहित है। अतः उसमें कल्पनारूपी मल का संभव नहीं है ॥ २१ ॥

चित्त रहित चेतन स्वरूप ही परमार्थ सत्य है, वही निरतिशय आनन्द रूप है, वही परमात्मस्वभावभूत अवस्था है, वही सर्वावभासक चिद्रूपता है और वही परमार्थ दृष्टि है, किन्तु जिस अवस्था में दुष्ट मन है तब तक वह वैसी नहीं है ॥ २२ ॥

जहाँ पर मन रहता है वहीं पर श्मशान में कौए के समान वैसे सदा विविध आशाएँ और सुख-दुःख समीप में आते हैं ॥ २३ ॥

वस्तुतत्त्वावबोधेन सर्वभावव्यवस्थितेः ।
संसृतिव्रततेर्बीजं सङ्कल्पे नोपजायते ॥ २४ ॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कसन्तताभ्यासयोगतः ।
जागतानामवस्तुत्वं भावानामवगम्यते ॥ २५ ॥
अविवेकादुपाहृत्य चेतः सोद्यमनिश्चयैः ।
बलात्कारेण संयोज्यं शास्त्रसत्पुरुषक्रमैः ॥ २६ ॥
मुख्यं कारणमात्मैव परमात्मावलोकने ।
अगाधे पतितं रत्नं रत्नेनैवाऽवलोक्यते ॥ २७ ॥
स्वानुभूतानि दुःखानि स्वात्मैव त्यक्तुमिच्छति ।
तेनाऽऽत्मैवाऽऽत्मविज्ञाने हेतुरेकः परः स्मृतः ॥ २८ ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
निरस्तमननानन्तसंविन्मात्रपरो भव ॥ २९ ॥
जायमानस्तथा जीवन्म्रियमाणः क्रियारतः ।
स्वात्मन्यमलतां प्राप्ते संविदंशे स्थिरो भव ॥ ३० ॥

ज्ञानियों का मानस संकल्प में आशा आदि सब भावों की व्यवस्थापिका संसार रूपी लता के वासना रूपी बीज ही नहीं उगते, क्योंकि वे तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाते हैं ॥ २४ ॥

शास्त्र और सज्जनसंगति के निरन्तर अभ्यास से जगत् के पदार्थों की अवास्तविकता का ज्ञान होता है॥२५॥

चित्त को अविवेक से हटाकर पुरुषकार के साथ मैं अवश्य ही इसी जन्म में ज्ञान प्राप्त करूँगा, इस तरह के दृढ़ निश्चयों से शास्त्र और सत्संगति में दृढ़तापूर्वक लगाना चाहिये ॥ २६ ॥

परमात्मा के दर्शन में आत्मा ही मुख्य कारण है। अगाध जल में गिरा हुआ रत्न से रत्न ही अर्थात् प्रकाशमान अपने स्वरूप से ही देखा जाता है ॥ २७ ॥

आत्मा ही अपने से अनुभूत दृश्य दुःख को देखने के बाद विवेक से उन्हें छोड़ना चाहता है, अतएव अपनी आत्मा के अवलोकन में दृश्यप्रतिकूल स्वभाववाला आत्मा ही स्वयं एक मुख्य कारण कहा गया है ॥ २८ ॥

बात करते हुए, त्याग करते हुए, ग्रहण करते हुए, आँखें खोलते हुए, बन्द करते हुए आप मनन से अर्थात् मन के व्यापार रहित अनन्त चिन्मात्र में परायण तल्लीन रहें ॥ २९ ॥

उत्पन्न हो रहे, जी रहे, मर रहे तथा अन्य कर्मों में निरत आप शोधन द्वारा निर्मलता को प्राप्त कर संविन्मात्रांशरूप स्वात्मा में स्थिर होयें ॥ ३० ॥

ममेदं तदयं सोऽहमिति संत्यज्य वासनाः ।
एकनिष्ठतयाऽन्तस्थसंविन्मात्रपरो भव ॥ ३१ ॥
वर्तमानभविष्यन्त्योः स्थित्योरादेहमेकधीः ।
स्वसंवित्त्याऽनुसन्धानसमाधानपरो भव ॥ ३२ ॥
बाल्ययौवनवृद्धेषु दुःखेषु च सुखेषु च ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु स्वसंवित्तिपरो भव ॥ ३३ ॥
मलं संवेद्यमुत्सृज्य मनो निर्गलयन् परम् ।
आशापाशमलं छित्त्वा स्वसंवित्तिपरो भव ॥ ३४ ॥
शुभाशुभस्वसङ्केतसंशान्ताशाविषूचिकः ।
नष्टेष्टानिष्टदृष्टिस्त्वं संवित्सारपरो भव ॥ ३५ ॥
सकर्तृकर्मकरणान् स्वास्पर्शानन्तरा स्पृशन् ।
निर्विकल्पनिरालम्बः स्वचिन्मात्रपरो भव ॥ ३६ ॥
जाग्रत्येव हि संसुप्तां भावयन् सुस्थिरां स्थितिम् ।
सर्वमस्मीति संचिन्त्य सत्तैकात्मवपुर्भव ॥ ३७ ॥

यह सन्मुखस्थित वह दूरदेश में स्थित मेरा है, यह प्रत्यभिज्ञायमान देह मैं हूँ, इस प्रकार की वासनाओं का भली-भाँति त्याग कर एकाग्रता से भीतर स्थित संविन्म-मात्र में तत्पर होयें ॥ ३१ ॥

वर्तमान स्थिति बाल्यावस्था और भविष्यत्स्थिति यौवन, राज्य आदि की स्थिति इन दोनों में जब तक देह रहे तब तक एकबुद्धि होकर स्वसंवित् से ध्यान और समाधि में तत्पर रहें ॥ ३२ ॥

बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था में सुखों में, दुःखों में, जाग्रत् अवस्था में, स्वप्नावस्था में और सुषुप्ति अवस्था में स्वसंवित् में चिन्मात्र में तल्लीन रहे ॥ ३३ ॥

बाह्य विषयरूपी मल का त्यागकर मन को खूब गला रहे आप आशापाशरूपी मल को छिन्नभिन्न कर स्वसंवित् परायण हो जाइये ॥ ३४ ॥

अपने संकल्प से किये गये शुभ और अशुभरूप संकेतों में जिनकी आशारूपी विषूचिका शान्त हो गई है, जिनकी यह इष्ट है और यह अनिष्ट है, यह दृष्टि नष्ट हो चुकी है ऐसे आप संवित् रूपी सार-पदार्थ में संलग्न होइये ॥ ३५ ॥

कर्ता, कर्म, बाह्यविषय और करणों-इन्द्रियों के साथ तथा अपना स्पर्श न करने वाले इस प्रकार के संसारों का जैसे मणि अपने अन्दर प्रतिबिम्बों का विस्तार करती है वैसे ही अपने में विस्तार कर विकल्परहित तथा आलम्बनरहित आप स्वचिन्मात्रपरायण होइये ॥ ३६ ॥

जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्त के समान निर्विकल्प तथा अत्यन्त स्थिर स्थिति की भावना कर रहे आप 'मैं सब हूँ' यह विचार एकमात्र सत्तारूप होइये ॥ ३७ ॥

नानानानादशामुक्तो युक्तो मुक्ततया समे ।
समग्रकलनादीपः स्वचिन्मात्रपरो भव ॥ ३८ ॥
आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगत्स्थितौ ।
वज्रस्तम्भवदात्मानमवलम्ब्य स्थिरो भव ॥ ३९ ॥
छित्त्वाऽन्तर्मानसान् पाशानाशारूपानुदारया ।
धिया धैर्यैकधर्मिण्या निर्धर्माधर्मतां व्रज ॥ ४० ॥
समास्वादयतस्तत्त्वं स्वसंवेदनधर्मिणः ।
विषं हालाहलमपि यास्यत्यमृततामथ ॥ ४१ ॥
तदोदेति महामोहः संसृतिभ्रमकारणम् ।
निर्मलाया निरंशायाः संवित्तेश्चाऽमतिर्यदा ॥ ४२ ॥
तदा संक्षीयते मोहः संसारभ्रमकारणम् ।
निर्मलायां निरंशायां स्वसंवित्तौ स्थितिर्यदा ॥ ४३ ॥
स्वरूपमनुयातस्य तीर्णस्याऽऽशामहार्णवम् ।
प्रसरिष्यति ते संवित्सूर्यांशुरिव सर्वतः ॥ ४४ ॥

जाग्रत् और स्वप्नदशा और सुषुप्तिदशा से मुक्त अथवा सृष्टि और प्रलय दशा से मुक्त, मुक्तरूप से सम में ब्रह्म में संलग्न तथा सबकी नानाबुद्धिवृत्तियों के दीप के तुल्य प्रकाशक आप स्वचिन्मात्रपरायण होइये ॥ ३८ ॥

आत्मता और परता का त्याग कर जगत् की स्थिति में द्वैतज्ञानशून्य आप आत्मा का अवलम्बन कर वज्र के स्तम्भ की तरह स्थिर होइये ॥ ३९ ॥

एकमात्र धैर्यधर्म वाली उदार बुद्धि से आशारूप मानसिक जालों का भीतर उच्छेद कर धर्माधर्म रहित होइये ॥ ४० ॥

आत्मज्ञान सम्पन्न एवं तत्त्व का आस्वादन कर रहे पुरुष के लिए हालाहल विष भी अमृत बन जाता है ॥ ४१ ॥

जब निर्मल और अखण्ड चैतन्य का अज्ञान रहने पर संसाररूपी भ्रम का कारणरूप महामोह उदित होता है ॥ ४२ ॥

जब निर्मल और अखण्ड स्वसंवित् में (चित् में) स्थिति होने पर संसारभ्रम का कारणभूत मोह नष्ट हो जाता है ॥ ४३ ॥

अपने स्वरूप को प्राप्त एवं आशारूपी महासागर को पार करने वाले आपकी बुद्धि सूर्य की किरणों के समान चारों ओर फैलेगी ॥ ४४ ॥

स्वभावमालोकयत आनन्दाद्वयसंस्थितेः ।
रसायनमपि स्वादु राम ! प्रतिविषायते ॥ ४५ ॥
तैर्नो भजामहे पुंभिर्ये स्वभावमुपागताः ।
शेषा पुरुषनामानो गर्दभा दीर्घबाहवः ॥ ४६ ॥
पर्वतात् पर्वतं यान्ति पुरोऽद्रेरिव दन्तिनः ।
परां कोटिं प्रयातस्य स्वसंवित्त्युन्नतस्थितेः ॥ ४७ ॥
अदृष्टादृश्यसीम्नोऽन्तः सूर्यादीन्यखिलान्यपि ।
न तेजांस्युपकुर्वन्ति स्वसंविद्दिव्यचक्षुषः ॥ ४८ ॥
अवस्तुतां व्रजन्त्येते माध्याह्ना इव दीपकाः ।
अर्कादयो महालोका विद्ययाऽधिगतात्मनः ॥ ४९ ॥
तेजोंऽशुषु प्रभावेषु बलिष्वपि महत्स्वपि ।
सर्वेषून्नतियुक्तेषु तत्त्वज्ञः परमोन्नतः ॥ ५० ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! अपनी अद्वितीयानन्दस्वरूपता का दर्शन कर अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्म में स्थित पुरुष को स्वादिष्ट अमृत आदि रसायन भी प्रतिकूल विष के समान लगता है ॥ ४५ ॥

जो लोग हमारे प्रत्यगात्मभाव को प्राप्त हैं—पुरुष-जन्म को सार्थक करने से, पुरुषार्थ साधन से तथा सफल पौरुषवाले होने से—उन श्रेष्ठतम पुरुषों के साथ हम सदा मित्रता का सम्बन्ध रखते हैं। अन्य तो पुरुषार्थ के उपयोगी पौरुष से हीन होने के कारण नाममात्र से पुरुष हैं, पुरुषशब्द के अर्थ का उनमें नाम-निशान भी नहीं है, वस्तुतः लम्बी बाहुवाले वे गदहों के समान उपेक्षा के ही पात्र हैं, दर्शन आदि के योग्य भी नहीं है ॥ ४६ ॥

अपनी संवित् से उन्नत स्थितिवाले उत्कर्ष की परम सीमा में पहुँचे हुए तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के सामने योगी आदि पर्वत के सामने एक निकटवर्ती क्षुद्र पर्वत से दूसरे पर्वत पर जाते हैं वैसे ही वे जाते हुए से प्रतीत होते हैं। मेरु के समान सर्वोन्नत दृढ़रूप से विश्रान्त नहीं मालूम पड़ते हैं ॥ ४७ ॥

जिसकी सीमाएँ पहले किसी के द्वारा नहीं देखी गईं, वर्तमान समय में एवं भविष्य में भी देखने योग्य नहीं हैं, ऐसे स्वसंविद् रूपी दिव्य चक्षुवाले तत्त्वज्ञानी के अन्तःकरण का कल्पित सूर्य आदि सभी तेज उपकार नहीं करते हैं। अर्थात् स्वसंवित् से ही उसकी उन्नत स्थिति है ॥ ४८ ॥

विद्या से आत्मतत्त्व के ज्ञान से सम्पन्न तत्त्ववेत्ता के सम्मुख ये महाप्रकाश वाले सूर्य आदि मध्याह्न के दीपकों की तरह अवस्तुस्वरूपता को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

तेज के कार्य प्रकाशनों में, योगसिद्धि के वशित्व आदि प्रभावों में, शारीरिक बलवानों में, ऐश्वर्य, आयु आदि से श्रेष्ठों में तथा वाग्मिता आदि उन्नति से युक्त सब में तत्त्वज्ञानी परम उन्नत है ॥ ५० ॥

भान्तीह भासा यस्याऽर्कवह्नीन्दुमणितारकाः ।
तथा जगति राजन्ते ज्ञातज्ञेया नरोत्तमाः ॥ ५१ ॥
धराविवरकीटेभ्यो गर्दभेभ्योऽपि मानवाः ।
तिर्यग्भ्यश्चाऽप्यतत्त्वज्ञा राम ! तुच्छतराः स्मृताः ॥५२॥
तावत् संमोहवेतालो देही यावदनात्मवान् ।
आत्मज्ञ एव संयुक्तश्चेतनेनेति तद्विदः ॥ ५३ ॥
अनात्मज्ञो हि दुःखेहः प्रस्फुरन्नपि भूतले ।
शव एव भ्रमत्युच्चैरात्मज्ञस्तु सचेतनः ॥ ५४ ॥
दूरादात्मज्ञता याति चित्ते पीवरतां गते ।
आलोकलक्ष्मीरभितो महामेघ इवोत्थिते ॥ ५५ ॥
भोगाभोगतिरस्कारैः कार्श्यं नेयं शनैर्मनः ।
रसापहारैस्तज्ज्ञेन कालेनाऽजीर्णपर्णवत् ॥ ५६ ॥

जिस जगदीश्वर की दीप्ति से सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, मणि और तारा दीप्त होते हैं, उसके तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ पुरुष सुशोभित होते हैं ॥ ५१ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! जिन लोगों को तत्त्वज्ञान नहीं हुआ वे पृथिवी के बिलों में रहने वाले कीड़ों से, गदहों से और पशु-पक्षियों से भी तुच्छ कहे गये हैं ॥ ५२ ॥

जबतक देहधारी सत् भी अज्ञान से आत्मा की असत्ता मानने के कारण अनात्मवान् है तभीतक अज्ञान रूपी वेताल है अतएव वह अचेतन है, आत्मज्ञानी ही चेतन से संयुक्त है, ऐसा विद्वानों का कथन है ॥ ५३ ॥

आत्मतत्त्व को नहीं जानने वाले सब चेष्टाएँ दुःख के लिए ही हैं। वह भूतल में इधर-उधर चलता फिरता हुआ भी शवरूप से ही भ्रमण करता है, केवल आत्मज्ञानी ही सचेतन है ॥ ५४ ॥

चित्त के स्थूल होनेपर आत्मज्ञता, जो थोड़ी बहुत उपार्जित भी हो चुकी हो वैसे ही दूर भाग जाती है जैसे चारों ओर से महान् मेघ के उदित होनेपर प्रकाशशोभा दूर चली जाती है ॥ ५५ ॥

इसलिए मन को प्राप्त भोगों के विषयों के सेवन के तिरस्कार से और अप्राप्त भोगों की अभिलाषा के त्याग के द्वारा समय से अजीर्ण पत्र के समान धीरे-धीरे कृश बनाना चाहिये ॥ ५६ ॥

अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयाऽनया ।
पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ५७ ॥
अहंकारविकारेण ममतामलहेलया ।
इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ५८ ॥
जरामरणदुःखेन व्यर्थमुन्नतिमीयुषा ।
दोषाशीविषकोशेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ५९ ॥
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतेः ।
हेयादेयप्रयत्नेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ६० ॥
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ६१ ॥
दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च ।
आस्थादानेन चारेण चित्ताहिर्याति पीनताम् ॥ ६२ ॥
आगमापायवपुषा विषवैषम्यशंसिना ।
भोगाभोगेन भीमेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ६३ ॥
शरीरदुःश्वभ्रचिरप्ररूढं

अनात्मा में अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि में आत्मभाव से, इस देहमात्र में आस्था से, पुत्र, कलत्र और कुटुम्ब से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

अहंकार के विकास से, ममतारूपी मल में आसक्ति से तथा यह शरीर मेरी आत्मा या भोगस्थान है, इस भाव से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

जरा-मरणरूपी दुःख से पूर्ण, व्यर्थ ही दिन-पर-दिन बढ़े हुए दोषरूपी साँपों के विषरूपी 'इदं मम' इस भाव से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

आधि मानसिक व्यथा और व्याधि शारीरिक व्यथा की अभिवृद्धि से, संसार की रमणीयता, चिरस्थायिता आदि के विश्वास से और यह हेय उपादेय है इस प्रयत्न से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

स्त्री, पुत्र आदि के प्रति स्नेह तथा मणि और स्त्रियों के लाभ से, जो आपाततः रमणीय प्रतीत होता है, उत्पन्न हुए धन के लोभ से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

दुराशा रूपी दुग्ध के पान से, भोगरूपी पवन के बल से, आदर प्रदान से तथा नाना विषयों में संसार से चित्त रूपी सर्प स्थूलता को प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥

विष से जैसी दाह, मूर्च्छा और व्याकुलता होती है वैसी दाह, मूर्च्छा और व्याकुलता को सूचित करने वाले भीषण भोगों के सेवन से, जिसके स्वरूप और स्वभाव आवागमन वाले हैं, ऐसा चित्त स्थूलता को प्राप्त होता

चिन्ताचयोच्चाकृतिमञ्जरीकम् ।
जरामृतिव्याधिफलौघनम्रं
कामोपभोगौघविकासिपुष्पम् ॥ ६४ ॥
विचारसारक्रकचेन चित्त-
विषद्रुमं त्वद्भुतमद्रिकल्पम् ।
आशामहाशाखमशङ्कमेनं
छिन्धि प्रसह्याऽत्र विकल्पपत्रम् ॥ ६५ ॥
मत्तेक्षणं चैकतटोपवेशं
विश्रान्तिसौख्येष्वसमर्थमुग्रम् ।
आलोकनोत्कं सुजनक्रमाब्ज-
खण्डस्य चण्डं सुखदुःखगण्डम् ॥ ६६ ॥
चेतोगजं कायकुकाननस्थं
सुतीक्ष्णया धीकरजाग्रपङ्क्त्या ।
विदारयाऽऽदीर्घविकारदन्तं
क्रियाकरं राघव ! राजसिंह ! ॥ ६७ ॥

है ॥ ६३ ॥

शरीर रूपी बुरे गड्ढे में चिरकाल से उगे हुए इस अद्भुत चित्त रूपी विष वृक्ष को विविध चिन्ताएँ ही जिसमें लम्बी-लम्बी मञ्जरियाँ हैं, जो जरा, मरण और व्याधि रूपी फलों के समूह से लदा है, कमोपभोगों के समूह ही जिसमें खिले हुए फूल हैं, आशा ही बड़ी-बड़ी शाखाएँ हैं, विकल्प ही पत्ते हैं और जो पर्वत के तुल्य अचल है, विचार रूपी मजबूत आरे से उसे शीघ्र ही हठात् निशङ्क काट डालो ॥ ६४—६५ ॥

हे राघव ! हे राजाओं में सिंह ! आप चित्त रूपी हाथी को अत्यन्त चोखी बुद्धि रूपी नखराशियों से चीर डालिये । उक्त चित्तरूपी हाथी के आगम, अनुमानरूपी नेत्र आत्मतत्त्व विवेक में प्रमाद करने वाले हैं, वह एक बहिर्मुखरूप संसार पर्वत तटपर बैठता है, वह अन्तर्मुख विश्रान्ति सुख का अनुभव करने में असमर्थ है, द्वेष, ईर्ष्या आदि से भीषण होने के कारण उग्र है, सज्जनों द्वारा गृहीत होने वाले शम, दम, तितिक्षा आदि रूप कमल वन के अवलोकन में उत्कण्ठित तो है, पर अत्यन्त क्रोधी है, उसके रक्षण में अयोग्य है, सुख और दुःख ही उसके शीतल और गर्म वाष्प वाले मद को बहाने वाले गण्ड-स्थल हैं, वह शरीररूपी भीषण वन में रहता है और बड़े-बड़े काम आदि विकार ही उसके दाँत हैं, वह धैर्य आदि क्रिया का उच्छेदरूप कार्य करता है ॥ ६६-६७ ॥

रतिं गतं नित्यमसत्प्रदेशे
शरीरमांसग्रसनेन पुष्टम् ।
दुष्टक्रियाकर्कशचञ्चुदण्ड-
मेकेक्षणं पुष्टतमोंऽशुकृष्णम् ॥ ६८ ॥
दूरे समुत्सारय भारभूतं
दुश्चेष्टितं कर्कशमारटन्तम् ।
गन्धोद्गतं कायकुलायकोशाद्
दोषोपशान्त्यै निजचित्तकाकम् ॥ ६९ ॥
तृष्णापिशाच्या परिचर्यमाणं
विश्रान्तमज्ञानमहावटेषु ।
भ्रान्तं चिरं देहशतेष्वटव्यां
स्वसंसृतौ चेतनवर्जितेषु ॥ ७० ॥
विवेकवैराग्यगुरुप्रयत्नमन्त्रैः
स्वतन्त्रैः स्वचिदात्मगेहात् ।
नोत्सादयेच्चित्तपिशाचमेनं
यावत् कुतस्तावदिहाऽऽत्मसिद्धिः ॥ ७१ ॥

स्त्रीचिह्न आदि कुत्सित स्थानों में नित्य आसक्ति को प्राप्त, शरीररूपी मांस के ग्रसन के तुल्य अन्तर्भाव के आपादन से पुष्ट, परमर्मभेदनरूपी दुष्कर्म में कठोर चोंच वाले, केवल स्वार्थ में ही दृष्टि रखने वाले, वृद्धि को प्राप्त तामस वृत्तियों से मलिन, वहन करने वाले आत्मा के भारभूत, दुष्ट चेष्टा वाले, कठोर शब्द कर रहे तथा दुर्वासनाओं से आविर्भूत अपने चित्तरूपी श्मशान आदि गर्हित स्थानों में सदा आसक्त, मांस के ग्रसन से पुष्ट शव आदि के मर्मस्थानों को नोचने में कठोर चोंच वाले, एक आंख वाले, गाढ़ अन्धकार के भागों के समान काले, वृक्ष आदि के भारभूत, दुष्ट चेष्टाएँ करने वाले, कर्ण कठोर काँव-काँव शब्द कर रहे, दुर्गन्धि से चले हुए कौए को दोषों की शान्ति के लिए शरीररूपी घोंसले के अन्दर से दूर हटा दें ॥ ६८-६९ ॥

अज्ञानरूपी महान् वटवृक्षों पर बैठे हुए, तृष्णारूपी पिशाचिनी द्वारा सेव्यमान, चित्त के हटने पर चेतन रहित अनन्त कोटि देहरूपी अरण्य में चिरकाल तक भटके हुए दस चित्तरूपी पिशाच को चिदात्मा के गृहभूत हृदय से जबतक विवेक, वैराग्य, गुरुसमीप गमन, पुरुषकार आदि स्वतन्त्र मन्त्रों द्वारा पुरुष नहीं हटाता तब तक यहां पर आत्मसिद्धि कैसे हो सकती है ? ॥ ७०-७१ ॥

शुभाशुभास्यं हतमानवौघं
चिन्ताविषं कायकुकञ्चुकं च ।
अजस्रमच्छश्वसनाशनं च
सर्वस्य नानाभयनाशदं च ॥ ७२ ॥
हृदब्जदुःशाल्मलिकोटरस्थ-
ममोघया चित्खगमन्त्रशक्त्या ।
नीत्वा शमं राम ! मनोमहाहिं
भयं भृशं प्रोज्झ्य भवाऽभयात्मा ॥ ७३ ॥
अमङ्गलाकारधरः शरीर-
शवावलीसन्ततसेवनेन ।
दिगावलीसंभ्रमणश्रमार्तः
श्मशानसेवी वपुषा क्षतेन ॥ ७४ ॥
भोगामिषो दिक्ष्वभिधावमान
उत्कन्धरो धीरविवृद्धगर्धः ।
उड्डीय वै गच्छति चित्तगृध्रो
देहद्रुमात् तन्निपुणं जयस्ते ॥ ७५ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! शुभ और अशुभ रूप दो दाढ़ वाले चित्तरूपी सर्प को जो एक-दो नहीं अनेकानेक मनुष्यों की हत्या कर चुका है, चिन्ता ही जिसका विष है, शरीर ही गर्हित केंचुल है, निरन्तर श्रम आदि दोषों से रहित प्राणवायु ही जिसका भोजन है, जो सबको विविध भय और मृत्यु देता है एवं हृदयकमलरूपी सेमर के पेड़ के खोखले में रहता है, चिदेकरस ब्रह्मरूपी गरुड के बोधक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि मन्त्रों के अमोघ प्रभाव से मूलज्ञान के साथ नष्ट कर भय को सर्वथा मिटा कर निर्भय ही जाये ॥ ७२-७३ ॥

शरीररूप शवराशियों के निरन्तर अनुसन्धान से अमङ्गल आकार को धारण करनेवाला, नाना दिशाओं में भ्रमण से उत्पन्न श्रम से पीडित, अपमान, व्यय, शोक, भय आदि से क्षत-विक्षत शरीर से सुषुप्ति में श्मशान-वृक्ष के तुल्य सुप्त देह का अर्थात् शवों के भक्षण से कौए, चील आदि के प्रहार से क्षत-विक्षत शरीर करने वाले एवं श्मशान वृक्ष का सेवन करने वाला, भोगों की अभिलाषावश दिशाओं में इधर-उधर दौड़ रहा, ऊपर को गर्दन किया हुआ एवं अधीर और बढ़ी-चढ़ी अभिलाषावाला चित्तरूपी गृध्र यदि आपके देहवृक्ष से उड़कर चला जाय, तो आपकी विजय है ॥ ७४-७५ ॥

भ्रान्तं वनान्तेषु दिगन्तरेषु
फलार्थिनं चञ्चलमाकुलाङ्गम् ।
जन्मावनेर्जन्ममहीं प्रयातं
संसारबन्धं जनतां हसन्तम् ॥ ७६ ॥
द्रुमेऽक्षिनासाकुसुमे भुजादि-
शाखे विलोलाङ्गुलिजालपत्रे ।
समुल्लसन्तं परिमारयाऽन्त-
र्मनोमहामर्कटमङ्ग सिद्धयै ॥ ७७ ॥
अभ्युत्थितं सत्फलसंक्षयाय
लसन्मुखासङ्गितडित्प्रकाशम् ।
वर्षन्तमासारमनर्थसार्थ-
मान्दोलितं वासनवात्ययाऽन्तः ॥ ७८ ॥
सङ्कल्पसङ्कल्पनवर्जनोग्र-
मन्त्र प्रभावाद्धृदयाम्बरस्थम् ।
सोत्साहमुत्सादय चित्तमेघं
बृहत्फलं प्राप्य भवाऽलमाद्यः ॥ ७९ ॥

फल चाहने वाले, चञ्चल तथा व्याकुल अङ्ग-प्रत्यङ्ग वाले मनरूपी महामर्कट को, जो वनप्रान्तों में दिशाओं के मध्यों से खूब भटका है, एक जन्मरूपी भूमि से दूसरी जन्मरूपी भूमि में गया है, जनता और उसके संसारबन्धन का अपनी चेष्टाओं द्वारा अनुकरण कर रहा है तथा आँख और नाक जिसके फूल हैं, भुजा आदि जिसकी शाखाएँ हैं और चञ्चल अङ्गुलियाँ जिसके पत्ते हैं, ऐसे देहरूपी वृक्ष पर उल्लास को प्राप्त हो रहा है। उसे सिद्धि के लिए चारों ओर से घेर कर भीतर ही भीतर मार डाले ॥७६-७७॥

परमार्थ सुखरूप सत्फल के अथवा मेघपक्ष में पकी हुई फसल के नाश के लिए असमय के उपस्थित हुए, हृदयरूपी आकाश में स्थित चित्तरूपी मेघ का, जिसके मुख सदृश बहिर्मुखवृत्ति के अग्रभाग में प्रतिबिम्बन द्वारा बिजली के समान चिदाभास प्रकाश संक्रान्त है, जो अनर्थ समूहरूपी मूसलाधार वृष्टि कर रहा है, वासनारूपी आंधी ने जिसे भीतर चक्कर में डाल रक्खा है, संकल्पों के बार-बार समर्थनों के त्यागरूप अचूक मन्त्रों के प्रभाव से उत्साहपूर्वक उच्छेद कर जीवन्मुक्तिरूप महान् पद नित्य मुक्तात्मा हो जाइये ॥ ७८-७९ ॥

जिसकी आत्मा ही उपादान कारण है ऐसी कल्प की आदि सृष्टि से लेकर आजतक की गयी पुण्य-पाप कर्मों से निरन्तर गांठ देने से मजबूत बनायी गयी मन्त्रों द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं हुई, अग्नि से जलायी न गयी आत्मा

ग्रन्थीकृतं कर्मभिरात्मसृष्टे-
र्मन्त्रैरभेद्यं ज्वलनैरदग्धम् ।
पीडां परामात्मनि कल्पयन्तं
समस्तजात्यन्तरदीर्घदाम ॥ ८० ॥
संप्रोतनिःसंख्यशरीरमालं
बलादसंकल्पनमात्रशस्त्रैः ।
छित्त्वा स्वयं राघव चित्तपाशं
यथासुखं त्वं विहराऽस्तशङ्कः ॥ ८१ ॥
फूत्कारदग्धाखिलपान्थलोक-
मत्यन्तदुष्प्रापपरप्रबोधम् ।
आशीविषं शोषितलोकखण्डं
व्यात्त्यामिषोद्धूतशरीरदण्डम् ॥ ८२ ॥
आमन्थरं देहगुहासु सुप्तं
संकल्पघोराजगरं जवेन ।
अकामनानाममहानलेन
बलेन दग्ध्वा विभवो भव त्वम् ॥ ८३ ॥

में महती पीड़ा की कल्पना कर रहे, अतएव सब नाना योनियों के विविध जन्मों के क्रमशः बन्धन के लिए लम्बी रस्सी के समान स्थित चित्तरूपी जाल को, जिसमें असंख्य शरीर पङ्क्तियां गूंथी गई हैं, असंकल्परूप शस्त्रों से जबर्दस्ती काटकर आप स्वयं पुनर्जन्मशङ्कारहित होकर सुखपूर्वक विहार करें ॥ ८०-८१ ॥

आप जिसने क्रोध आदि रूप सविष (विषैले) फुफकार से दक्षिण-उत्तर मार्ग से जाने वाले जीवों को जला डालने वाले संकल्परूपी भयङ्कर अजगर को जिसके कारण परतत्त्व का बोध तो अत्यन्त दुर्लभ है, जो अत्यन्त विषैला है, अतएव अपने विष से जिसने सब भुवनों को संतप्त कर दिया है, तृष्णारूपी मुँह को खोलकर विषयरूपी भोग्य वस्तुओं के लिए चार प्रकार के शरीररूपी दण्ड को जिसने कँपाया है, जो मोक्ष के उद्योग में आलसी होने के कारण मन्दगति वाला है और देहरूपी गुहा में सोया है, शीघ्र परम वैराग्य नामक महा अग्नि से जबर्दस्ती भस्म करके आप अपने स्वरूप में पूर्णानन्दवैभव वाले हो जाइये ॥ ८२-८३ ॥

वैराग्य से संकल्प पर विजय पाने से चित्तशुद्धि होने पर उसी प्रकार ज्ञान और समाधि के क्रम से चित्त पर विजय भी हो जाती है, ऐसा कहते हैं—'चित्तेन' इत्यादि से ।

चित्तेन चेतः शममाशु नीत्वा
शुद्धेन घोरास्त्रमिवाऽस्त्रयुक्त्या ।
चिराय साधो ! त्यज चञ्चलत्वं
विमर्कटो वृक्ष इवाऽक्षतश्रीः ॥ ८४ ॥

अमलमिति च कृत्वा चेतसा वीतशङ्क-
मुपशमितमनोऽन्तः सर्वमादेहमेव ।
तृणलवलघुपश्यँल्लीलया हेयदृष्ट्या
पिब विहर रमस्व प्राप्तसंसारपारः ॥ ८५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
राघवाशयविनियोगो नाम पञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५० ॥

हे सज्जन ! जैसे अस्त्र के प्रयोग से घोर अस्त्र का शमन किया जाता है वैसे ही शुद्ध चित्त से चित्त का शीघ्र शमन कर आप बन्दर से छुटकारा पाये हुए जिसकी शोभा नष्ट-भ्रष्ट नहीं हुई ऐसे वृक्ष के समान चिरकाल-तक चञ्चलता का त्याग करें ॥ ८४ ॥

तत्त्वावबोध से प्रत्यगात्मा में उपशम को प्राप्त मन को राग आदि मलों से शून्य बनाकर निर्मल चित्त से स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहपर्यन्त सब दृश्य समूह को हेयदृष्टि से तिनके के टुकड़े से भी तुच्छ समझकर संसार से पार हुए आप लोकसंग्रह के लिए सोम आदि का पान करें, ऋत्विक् आदि के साथ यज्ञों में विहार करें तथा शास्त्र अविरुद्ध लौकिक विषय में रमण करें। उससे आपको पुनर्बन्धनप्राप्ति नहीं होगी ॥ ८५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में राघवाशयविनियोग नामक कुसुमलता का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

५१

वसिष्ठ उवाच

परिदीर्घासु तन्वीषु सुतीक्ष्णासु सितासु च ।
क्षुरधारोपमानासु चित्तवृत्तिषु तिष्ठ मा ॥ १ ॥
कालेन महता क्षेत्रे जातेयं बुद्धिवल्लरी ।
वृद्धिं विवेकसेकेन नय तां नयकोविद ! ॥ २ ॥
यावन्म्लायति नो कायलतिका कालभास्वता ।
भूतलेऽपतितां तावदेनामुद्धृत्य धारय ॥ ३ ॥
मद्वाक्यार्थैकतत्त्वज्ञ मद्वाक्यार्थैकभावनात् ।
सुखमाप्नोषि सर्पारिर्यथाऽभ्ररवभावनात् ॥ ४ ॥
उद्दालकवदालूनं विशीर्णं भूतपञ्चकम् ।
कृत्वा कृत्वा धिया धीरधीरयाऽन्तर्विचारय ॥ ५ ॥

५१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—(ऐहिक, पारलौकिक और दूरस्थित विषयों में आसक्ति होने के कारण) बड़े लम्बे, (वासना प्रचुर होने के कारण) अत्यन्त महीन, (प्रमाद कर रहे पुरुष के तुरन्त ही समाधिसुख के विच्छेद के हेतु होने के कारण) अत्यन्त तीक्ष्ण, (आत्मा के प्रतिबिम्ब के ग्रहण में योग्यतारूप निर्मलता होने के कारण) सफेद छुरे की धार के तुल्य चित्त के चरितों में आप प्रमादवश विश्वस्त मत रहें ॥ १ ॥

हे नीतिशास्त्र विशारद ! सत्कुलरूपी खेत में उत्पन्न देहरूपी लता में चित्तशुद्धि, श्रवण आदि उपायों से यह परमात्मज्ञानरूप आपकी बुद्धिलता चिरकाल में उत्पन्न हुई है। इसे आप विवेकरूपी जल के सेक से बढ़ायें ॥ २ ॥

कालरूपी सूर्य से यह देहरूपी लता जबतक मुरझाती नहीं तबतक पृथ्वी पर न गिरी हुई इस देहलता का गुरु-शुश्रूषा, श्रवण आदि से उद्धार कर बुद्धिरूपी लता का पालन करें ॥ ३ ॥

मेरे वाक्यों के अर्थों की एकमात्र भावना से आप भी वैसे ही सुख को प्राप्त होते हैं वैसे ही आप मेरे वाक्यार्थों के एकमात्र तत्त्वज्ञ हैं जैसे मयूर मेघ के गर्जन की भावना से सुख को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

देह आदि के आरम्भक और बाह्य प्रपञ्च के आरम्भक पाँच महाभूतों को उद्दालक मुनि के समान छिन्न-भिन्न और मूलाविद्या के तहस-नहस होने से शिथिल कर उनके अधिष्ठानभूत सन्मात्र के अन्वेषण में धीरों से भी धीर बुद्धि से मन में विचार करें ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

केन क्रमेण भगवन्! मुनिनोद्दालकेन तत् ।
भूतपञ्चकमालूनं कृत्वाऽन्तः प्रविचारितम् ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम ! यथा पूर्वं भूतवृन्दविचारणात् ।
उद्दालकेन संप्राप्ता परमा दृष्टिरक्षता ॥ ७ ॥
जगज्जीर्णगृहस्याऽस्य कोणे कस्मिंश्चिदातते ।
भूमेरनिलदिग्नाम्नि भूभृद्भ्राण्डसमाकुले ॥ ८ ॥
गन्धमादनशैलेन्द्रनाम्नि काचित् किल स्थली ।
विद्यते कीर्णकुसुमा द्रुमकर्पूरकेसरा ॥ ९ ॥
विचित्रवर्णविहगा नानावल्लीविलासिनी ।
वनेचरव्याप्ततटी पुष्पकेसरभासिनी ॥ १० ॥
क्वचित् स्फीतमहारत्ना क्वचिल्लोलाम्बुजोत्पला ।
क्वचिन्नीहारकबरी सरसीदर्पणा क्वचित् ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! उद्दालक मुनि ने किस क्रम से उन पञ्चमहाभूतों को छिन्न-भिन्न कर अपने अन्तःकरण में विचार किया था ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्र ! प्राचीन काल में उद्दालक मुनि ने पञ्च महाभूतों के विचार से अकुण्ठित जिस तरह परम दृष्टि प्राप्त की थी ? उसे आप सुने ॥ ७ ॥

इस जगत्‌रूपी जीर्ण-शीर्ण घर के किसी विस्तृत कोने में, जो पर्वतरूपी उल्टे करके रक्के हुए बर्तनों से भरा है और जिसका नाम है भूमि की आग्नेयी दिशा में खूब फूल बिखरे हुए एवं फूले हुए तेड़ ही कपूर के तुल्य सफेद पराग और केसरों से चारों ओर से व्याप्त होने के कारण उसके कर्पूर-केसर से व्याप्त गन्धमादन नाम के शैलराज पर एक अद्‌भुत भूमिभाग है ॥ ८—९ ॥

उस पर भांति-भाँति के पक्षि रहते हैं, नाना प्रकार की लताएँ सुशोभित रहती हैं, उसके तट वनेचरों के झुण्डों से भरे रहते हैं, फूलों के केसरों से उसकी शोभा कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है ॥ १० ॥

उसके किसी प्रदेश पर विशाल महारत्न हैं तो कहीं पर चञ्चल कमल खिले हैं, कहींपर सरोवररूपी दर्पण उसकी शोभा बढ़ाये रहते हैं, तो कहींपर कुहरारूपी केशों से वह व्याप्त रहता है ॥ ११ ॥

उस गन्धमादन पर्वत के भूमिभागपर किसी एक उठे हुए शिखरपर, जिसमें सीधे वृक्ष हैं, टखनों तक फूल

तत्र कस्मिंश्चिदुदिते सानौ सरलपादपे ।
आगुल्फाकीर्णकुसुमे स्निग्धच्छायमहाद्रुमे ॥ १२ ॥
उद्दालको नाम मुनिर्मौनी मानी महामतिः ।
अप्राप्तयौवनः पूर्वमुवासोद्दामतापसः ॥ १३ ॥
प्रथमं तु बभूवाऽसावल्पप्रज्ञोऽविचारवान् ।
अप्राप्तपदविश्रान्तिरप्रबुद्धः शुभाशयः ॥ १४ ॥
ततः क्रमेण तपसा शास्त्रार्थनियमैः क्रमैः ।
विवेक आजगामैनं नवर्तुरिव भूतलम् ॥ १५ ॥
अथेमं चिन्तयामास संसारामयभीरुधीः ।
एकान्त एव निवसन् कदाचित् कान्तमानसः ॥ १६ ॥
किं तत् प्राप्यं प्रधानं स्याद् यद्विश्रान्तौ न शोच्यते ।
यत् प्राप्य जन्मना भूयः सम्बन्धो नोपजायते ॥ १७ ॥
कदाऽहं त्यक्तमनने पदे परमपावने ।
चिरं विश्रान्तिमेष्यामि मेरुशृङ्ग इवाऽम्बुदः ॥ १८ ॥

बिखरे रहते हैं ओर घनी ठण्ढी छायावाले महावृक्ष हैं ॥ १२ ॥

वहाँ पहले उद्दालक नाम के एक मौनी मुनि रहते थे। वे यत्न से मैं अवश्य पुरुषार्थ का साधन करूँगा ऐसा अभिमान रखते थे और शास्त्र, अनुमान आदि प्रमाण में कुशल थे। उनका मन महा उदार था और वे बड़े तपस्वी थे। अभी उन्हें युवावस्था प्राप्त नहीं हुई थी ॥ १३ ॥

पहले तो वे अल्प प्रज्ञा वाले, अविचारवान्, परम पद में विश्रान्ति को अप्राप्त, अप्रबुद्ध तथा प्रबोध के अनुकूल पुण्यपूर्ण अन्तःकरण वाले थे ॥ १४ ॥

अनन्तर क्रमशः तपस्या से शास्त्रार्थ के नियमों से अभ्यासपरिपाक के क्रमों से वैसे ही उन्हें विवेक प्राप्त हुआ जैसे भूतल को वसन्त ऋतु प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

अनन्तर एकान्त में ही निवास कर रहे, संसाररूपी रोग से भयभीत बुद्धि वाले, पवित्र मन वाले उन्होंने किसी समय इस प्रकार विचार किया ॥ १६ ॥

जिसमें विश्रान्ति होने पर फिर शोक नहीं होता तथा जिसे प्राप्त करके फिर जन्म से सम्बन्ध नहीं होता ऐसा प्राप्त करने योग्य पुरुषार्थों में से प्रधान पुरुषार्थ क्या है ? ॥ १७ ॥

मैं परम पावन पद में, जिसमें मन के व्यापारों का त्याग हो चुका, चिरकालतक कब वैसे ही विश्रान्ति को प्राप्त करूँगा ? जैसे मेरुपर्वत के शिखरपर मेघ चिरकाल-तक विश्राम को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

कदा शममुपैष्यन्ति ममाऽन्तर्भोगसंविदः ।
आलोलकल्लोलरवा ऊर्मयोऽम्बुनिधाविव ॥ १९ ॥
इदं कृत्वेदमप्यन्यत् कर्तव्यमिति कल्पनाम् ।
कदाऽन्तर्विहसिष्यामि पदविश्रान्तया धिया ॥ २० ॥
कदा विकल्पजालं मे न लगिष्यति चेतसि ।
स्थितमप्युज्झितासङ्गं पयः पद्मदले यथा ॥ २१ ॥
कदा बहुलकल्लोलां नावा परमया धिया ।
परितीर्णो भविष्यामि मत्तां तृष्णातरङ्गिणीम् ॥ २२ ॥
कदेमां जागतैर्भूतैः क्रियमाणामसन्मयीम् ।
क्रियामपहसिष्यामि बाललीलामिवाऽऽकुलाम् ॥ २३ ॥
कदा विकल्पपर्यस्तं मनो दोलावदोलनम् ।
शममेष्यति मे शान्तवातौजस इव भ्रमः ॥ २४ ॥
कदोदितवपुर्भासा विहसञ्जागतीर्गतीः ।
अन्तः संतोषमेष्यामि विराडात्मेव पूर्णधीः ॥ २५ ॥

मेरे अन्दर भोगतृष्णाएँ, जिनकी ध्वनि अशान्त कल्लोलों की ध्वनि के समान गंभीर है वैसे ही कब शान्त होंगी जैसे चञ्चल अशान्त कल्लोलों की ध्वनि के समान ध्वनिवाली तरङ्गे समुद्र में शान्त हो जाती है ।। १९ ।।

मुझे यह कार्य करके यह भी दूसरा कार्य कर्तव्य है, इस कल्पना का मैं परमपद में विश्रान्त बुद्धि से अपने अन्दर कब उपहास करूँगा ? ।। २० ।।

केवल आभास से मेरे चित्त में स्थित होते हुए भी उपेक्षा करने के कारण सम्बन्ध रहित विविध विकल्प मेरे चित्त में वैसे ही कब न लगेंगे जैसे कमल के पत्ते में स्थित भी जल स्पर्श न होने के कारण कमल के पत्ते में नहीं लगता ? ।। २१ ।।

मैं बहुत-सी बड़ी-बड़ी तरङ्गों से भरी हुई तथा अविवेक से खूब बढ़ी हुई तृष्णारूपी नदी को विवेक बुद्धिरूपी नौका से कब पार कर जाऊँगा ? ।। २२ ।।

मैं जगत् के प्राणियों से की जा रही असन्मयी तथा चित्त को व्यग्र करने वाली इस बाह्य प्रवृत्ति का बालकों की क्रीड़ा के समान कब उपहास करूँगा ? ।। २३ ।।

विकल्पों से विक्षिप्त, झूले के समान अशान्त मेरा मन वैसे ही कब शान्ति को प्राप्त होगा ? जैसे जिसका उन्मादरूपी वातरोग निवृत्त हो चुका ऐसे पुरुष की विक्षिप्तता शान्त हो जाती है ।। २४ ।।

आविर्भूत हुए स्वरूप के प्रकाश के छिटकने से जगत् की विविध गतियों का उपहास कर रहा मैं ब्रह्माण्ड शरीर वाले सर्वव्यापक आत्मा के समान परिपूर्ण बुद्धि हो कब अन्तःकरण में सन्तोष को प्राप्त करूँगा ।। २५ ।।

अन्तः समसमाकारः सौम्यः सर्वार्थनिस्पृहः ।
कदोपशममेष्यामि मन्थमुक्तामृताब्धिवत् ॥ २६ ॥
कदेमामचलां दृश्यश्रियमाशाशतात्मिकाम् ।
सर्वां सुषुप्तवत् पश्यन् भविष्याम्यन्तराततः ॥ २७ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं सर्वं शान्तकल्पनया धिया ।
पश्यंश्चिन्मात्रमखिलं भावयिष्याम्यहं कदा ॥ २८ ॥
कदोपशान्तचित्तात्मा चित्तामुपगतः पराम् ।
परमालोकमेष्यामि जात्यन्धविगमादिव ॥ २९ ॥
कदाऽभ्यासोपलभ्येन चित्प्रकाशेन चारुणा ।
दूरादालोकयिष्यामि तन्वीं कालकलामिमाम् ॥ ३० ॥
ईहितानीहितैर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः ।
कदाऽन्तस्तोषमेष्यामि स्वप्रकाशपदे स्थितः ॥ ३१ ॥
कदाशाकौशिकीकीर्णा जाड्यजीर्णहृदम्बुजा ।
क्षयमेष्यति कृष्णेयं कदा मे दोषयामिनी ॥ ३२ ॥

परमात्मा से एकरस आकार वाला सौम्य, धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिवर्ग में स्पृहा रहित हो मैं कब वैसे ही अन्तःकरण में शान्ति को प्राप्त करूँगा ? जैसे मथन से उत्पन्न विक्षेप से मुक्त हुआ क्षीरसागर समाधिस्थ भगवान् श्रीविष्णु से सुशोभित आकार वाला, प्रशान्त और मथन से निकली हुई अमृत, कौस्तुभ आदि वस्तुओं में निस्पृह हो शान्ति को प्राप्त होता है ।। २६ ।।

सैकड़ों आशापाशरूपी इस अचल-अटल सारी दृश्य शोभा को सन्मात्ररूप से देख रहा मैं कब अपने अन्दर अपरिच्छिन्न स्वरूप को प्राप्त होऊँगा ।। २७ ।।

शान्तकल्पनावाली बुद्धि से बाहरी और भीतरी सारे प्रपञ्च को चिन्मात्र देख रहा मैं कब उसकी भावना से स्थिर होऊँगा ? ।। २८ ।।

शान्त चित्त स्वरूपवाला उत्तम चिदेकरसता को प्राप्त मैं जन्मान्धता के सदृश अनादि मूलाज्ञान के हटने से कब परम आलोक को प्राप्त करूँगा ।। २९ ।।

अभ्यास से प्राप्त होने योग्य सुन्दर चैतन्यरूपी प्रकाश से बाधितानुवृत्तिरूप होने के कारण तुच्छ आयुक्षेपरूप कालकला को आत्मा से सम्बन्ध न होने के कारण दूर से ही कब देखूँगा ।। ३० ।।

इष्ट और अनिष्टों से निर्मुक्त हेय और उपादेय से रहित एवं स्वयंज्योति परम पद में स्थित मैं कब अन्तः-करण में सन्तोष को प्राप्त करूँगा ।। ३१ ।।

दुराशारूपी उल्लुओं से पूर्ण मूर्खता से (दूसरे पक्ष में बर्फ से) हृदयरूपी कमल को जिसने जीर्ण-शीर्ण कर दिया

कदोपशान्तमननो धरणीधरकन्दरे ।
समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना ॥ ३३ ॥
कदा मे मानमातङ्गः स्वाभिमानमहामदः ।
सत्त्वावबोधहरिणा हतो नाशमुपैष्यति ॥ ३४ ॥
निरंशध्यानविश्रान्तेर्मूकस्य मम मूर्धनि ।
कदा तार्णं करिष्यन्ति कुलायं वनघूर्णिकाः ॥ ३५ ॥
कदा निःशङ्कमुरसि ध्यानधीरधियः खगाः ।
मम विश्रान्तिमेष्यन्ति शैलस्थाण्वचलस्थितेः ॥ ३६ ॥
तृष्णाकरञ्जजटिलां जन्मजर्जरगुल्मिकाम् ।
संसारारण्यसरसीं त्यक्त्वा यास्याम्यहं कदा ॥ ३७ ॥
इति चिन्तापरवशो वन उद्दालको द्विजः ।

है तथा काली मेरी यह अविद्यान्धकाररूपी रात्रि कब नाश होगी ? ॥ ३२ ॥

पर्वत की गुफा में निर्विकल्प समाधि से शान्तमनोव्यापारवाला चिदेकरसता से मनोवृत्ति रहित मैं कब शिला की समता को प्राप्त करूँगा ॥ ३३ ॥

स्वांशभूत अभिमानवृत्तिरूपी मद-प्रवाह वाला मेरा अहङ्काररूपी हाथी परमार्थ सन्मात्र के ज्ञानरूप सिंह के द्वारा निहत होकर कब नाश को प्राप्त होगा ? ॥ ३४ ॥

निर्विकल्प ध्यान में मग्न मौनव्रतधारी मेरे मस्तक पर वनघूर्णिकाएँ (एक प्रकार की चिड़ियाँ) कब तिनकों का घोंसला बनावेंगी ॥ ३५ ॥

ध्यान में स्थिर बुद्धिवाले पर्वत के ठूँठ के समान निश्चल स्थिति वाले मेरे वक्षःस्थल पर लम्बमान जटाओं के अग्रभाग में बनाये गये घोंसले में चिड़ियाँ कब निःशङ्क होकर विश्राम लेंगी ॥ ३६ ॥

तृष्णारूपी करञ्ज के वृक्षों से चारों ओर व्याप्त, काम आदिरूपी मृगों से जर्जर जन्मरूपी झाड़ियों से भरे हुए संसाररूपी जङ्गली तालाब का त्याग कर मैं कब जाऊँगा ॥ ३७ ॥

इस प्रकार की चिन्ताओं से परवश हुए उद्दालक नाम के ब्राह्मण ने बार-बार ध्यान में बैठते हुए वन में ध्यानाभ्यास किया ॥ ३८ ॥

किन्तु विषयों से हृत अतएव बन्दर के समान चञ्चल चित्त में प्रसन्नताप्रदान करनेवाली समाधिस्थिरता उन्हें नहीं मिली ॥ ३९ ॥

किसी समय बाह्य विषयों के सम्बन्ध के त्याग के बाद उनका चित्तरूपी वानर सात्त्विक देवता आदि से भोग्य विषय में या सात्त्विक वृत्ति के सुखास्वाद में मनो-

पुनःपुनस्तूपविशन्ध्यानाभ्यासं चकार ह ॥ ३८ ॥
विषयैर्नीयमाने तु चित्ते मर्कटचञ्चले ।
न स लेभे समाधानप्रतिष्ठां प्रीतिदायिनीम् ॥ ३९ ॥
कदाचिद् बाह्यसंस्पर्शपरित्यागादनन्तरम् ।
तस्याऽगच्छच्चित्तकपिः प्रोद्वेगं सत्त्वसंस्थितौ ॥ ४० ॥
कदाचिदान्तरस्पर्शान् परित्यज्य मनःकपिः ।
लोलत्वात्तस्य संयातो विषयं विषदग्धवत् ॥ ४१ ॥
कदाचिदुदितार्काभं तेजो दृष्ट्वाऽन्तरे मनः ।
विषयोन्मुखतां यातं तस्य तामरसेक्षण ॥ ४२ ॥
आन्तरान्ध्यतमस्त्यागं कृत्वा विषयलम्पटम् ।
तस्योड्डीय मनो याति कदाचित् त्रस्तपक्षिवत् ॥ ४३॥

रथों द्वारा चञ्चल हुआ ॥ ४० ॥

किसी समय उनका मनरूपी वानर चञ्चलतावश अन्दर होने वाले समाधि-सुख-सम्बन्ध का त्यागकर विषयों को वैसे ही प्राप्त हुआ जैसे विष से मरा हुआ पुरुष जठराग्निसम्बन्धी देह की उष्णता का त्यागकर अन्य लोक में जाता है ॥ ४१ ॥

हे कमलनयन ! कभी उनका मन हृदयाकाश में उदित हुए सूर्य के सदृश तेज को देखकर विषयों में उन्मुख हो गया संस्कृत व्याख्या में इसको व्यक्त करते हुए लिखा है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

योगी की पहले तुषार के समान चित्तवृत्ति होती है, अनन्तर धुँए के समान चित्तवृत्ति होती है, अनन्तर सूर्य के समान चित्तवृत्ति होती है, अनन्तर अग्नि के समान चित्तवृत्ति होती है, अनन्तर भीतर का वायु बाह्य वायु के समान क्षुभित होता है, अनन्तर जुगनू के समान चित्तवृत्ति होती है, अनन्तर बिजली के समान, तदुपरान्त स्फटिक के समान, अनन्तर पूर्ण चन्द्र के सदृश चित्तवृत्ति होती है। इस तरह तुषार धुँआ, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू, बिजली स्फटिक और पूर्णचन्द्रमा के रूप के सदृश ये बुद्धि के रूप योगियों के अनुभवसिद्ध हैं। योग करने पर ब्रह्म की अभिव्यक्ति के द्योतक ये पूर्वरूप (चिह्न) आविर्भूत होते हैं ॥ ४२ ॥

कभी उनका मन हृदयवर्ती गाढ़ अज्ञानरूपी अन्धकार का थोड़ी-बहुत ब्रह्म की अभिव्यक्ति से त्याग कर उसी समय विषमवासना के जागने से विषयलम्पट होकर भयभीत पक्षी के समान उड़कर चला जाता था ॥ ४३ ॥

बाह्यानाभ्यन्तरान् स्पर्शांस्त्यक्त्वा निद्रां च तन्मनः ।
तमस्तेजोऽन्तिके लेभे कदाचिच्छाश्वतीं स्थितिम् ॥४४॥
इति पर्याकुलस्याऽन्तः स खलु ध्यानवृत्तिषु ।
दरीष्वन्वहमुग्रासु वातमग्न इव द्रुमः ॥ ४५ ॥
अतिष्ठद् ध्यानसंरूढमननः सङ्कटे यथा ।
दोलायितवपुस्तुच्छतृष्णातीरतरङ्गकैः ॥ ४६ ॥
अथ पर्याकुलमना विजहार मुनिर्गिरौ ।
प्रत्यहं दिवसाधीशो महामेराविवैककः ॥ ४७ ॥
समस्तभूतदुष्प्रापामेकदा प्राप कन्दराम् ।
संशान्तसर्वसंचारां मुनिर्मोक्षदशामिव ॥ ४८ ॥
अपर्याकुलितां वातैरप्राप्तमृगपक्षिणीम् ।
अदृष्टां देवगन्धर्वैः परमाकाशशोभनाम् ॥ ४९ ॥
पुष्पप्रकरसंछन्नां मृदुशाद्वलकोमलाम् ।
ज्योतीरसाश्मसंप्रोतैः कृतां मरकतैरिव ॥ ५० ॥
सुस्निग्धशीतलच्छायां प्रकटां रत्नदीपकैः ।
सुगुप्तां वनदेवीनामन्तःपुरकुटीमिव ॥ ५१ ॥
कुलम्बनाहिमालोकां नाऽत्युष्णां नाऽतिशीतलाम् ।
शारदस्योदितार्कस्य हेमगौरीं प्रभामिव ॥ ५२ ॥
बालालोकपरिम्लानां कोमलाशब्दमारुताम् ।
मञ्जरीजटिलोपेतां बालां मालावतीमिव ॥ ५३ ॥
उपशमपदवीमिवाऽनुरूपां
कमलजविश्रमणाय योग्यरूपाम् ।
कुसुमनिकरकोमलाभिरामां
सरसिजकोटरकोमलां समन्तात् ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे उद्दालकमनोरथो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

कभी उनका मन बाह्य विषयों के सम्बन्धों का और आभ्यन्तर समाधिसुख-सम्बन्धों का त्याग कर अज्ञान और तेज आत्मज्योति के अन्तराल में लीन होकर निद्रारूपी चिरकाल तक चलनेवाली स्थिति को प्राप्त होता था ॥४४॥

जैसे वायु द्वारा निकटवर्ती जल में डुबाया गया और तीर की लहरों से हिलाया जा रहा वृक्ष बड़े संकट में स्थित रहता है वैसे ही बड़ी-बड़ी गुफाओं में ध्यानमग्न मन वाले उद्दालक से ध्यानवृत्तियों में व्याकुल मन के मध्य में तुच्छ तृष्णारूपी तीरतरङ्गों से दोलायित शरीरवाले होकर बड़े संकट में स्थित रहे ॥ ४५, ४६ ॥

अनन्तर व्याकुल मन वाले मुनि पर्वत पर वैसे ही भ्रमण करते थे -जैसे सूर्य प्रतिदिन महामेरु में अकेले ही भ्रमण करते हैं ॥ ४७ ॥

एक समय वे सब प्राणियों से दुष्प्राप्य सबके संचार से रहित कन्दरा में जैसे मुनि सबके संचार से रहित मोक्ष-दशा को प्राप्त होता है वैसे ही पहुँचे ॥ ४८ ॥

उस कन्दरा में वायु द्वारा विक्षेप-व्याकुलता न थी, कोई मृग-पक्षी वहाँ कभी नहीं पहुँचे थे, देवता और गन्धर्वोंतक को उसका दर्शन कभी नहीं मिला था और वह परमाकाश के (ब्रह्म के) समान शोभायमान थी ॥ ४९ ॥

पुष्पों की राशियों से वह कन्दरा चारों ओर आच्छन्न थी, नरम हरी घास से ढकी होने से बड़ी भली लगती थी, मालूम होता था कि मानो तेज स्वरूप रस के चन्द्रमा के पत्थरों के साथ चन्द्रकान्तमणियों के साथ जोड़ी हुई मरकत मणियों से बनाई गई है ॥ ५० ॥

उसके दरवाजे पर बड़ी मीठी और ठण्ढी छाया थी, रत्नरूपी दीपकों से वह जगमगाती थी और वनदेवियों के अन्तःपुर की कुटी के समान बड़ी गुप्त थी ॥ ५१ ॥

उसके दरवाजे पर केवल शीतनिवारण करने वाले आलोक फैलते थे, शरद् ऋतु के प्रातःकालीन सूर्य की प्रभा के समान न वह अति उष्ण थी और न अति शीतल थी उसका सुवर्ण के समान पीला रङ्ग था ॥ ५२ ॥

वह गुफा बाल आतप से सूखी हुई थी उसमें बिना शब्द का मन्द-मन्द पवन बहता था और मञ्जरियों से लदे हुए वृक्षों से वह युक्त थी। वह स्वयंवर के लिए तत्पर अतः हाथ से वरमाला लिए हुए राज्यकन्या के समान थी ॥ ५३ ॥

वह गुफा कमल के मध्यभाग के समान कोमल थी, ब्रह्मा के विश्राम के योग्य थी, चारों ओर फूलों की राशियों से कोमल और बड़ी मनोहर थी तथा उपशम पदवी के समान सदा ही आश्रयण के अनुरूप थी ॥ ५४॥

इस प्रकार ऋषीप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में उद्दालकमनोरथ नामक कुसुमलता का इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

५२

वसिष्ठ उवाच

स तां विवेश धर्मात्मा गन्धमादनकन्दराम् ।
चित्रभ्रमणसम्प्राप्तामलिः पद्मकुटीमिव ॥ १ ॥
समाधानोन्मुखतया प्रविशन् स व्यराजत ।
सर्गव्यापारविरतावात्मपुर्यामिवाऽब्जजः ॥ २ ॥
चकाराऽऽसनमम्लानैः पत्रैरन्तस्वगुच्छकम् ।
मृदु मेघविधिर्वृन्दमम्भोदमिव तत्र सः ॥ ३ ॥
स तत् प्रस्तारयामास पृष्ठे चारु मृगाजिनम् ।
नीलरत्नतटे मेरुस्तारासारमिवाऽम्बरम् ॥ ४ ॥
स तत्रोपाविशद् वृत्तीश्चेतसस्तनुतां नयन् ।
अन्तःशुद्धवपुः शृङ्गे वृष्य मूक इवाऽम्बुदः ॥ ५ ॥
बुद्धवत् सुदृढं बद्धपद्मासन उदङ्मुखः ।
पार्ष्णिभ्यां वृषणौ धृत्वा चकार ब्राह्ममञ्जलिम् ॥ ६ ॥
वासनाभ्यः समाहृत्य मनोमृगमुपप्लुतम् ।
निर्विकल्पसमाध्यर्थं चकारेमां विचारणाम् ॥ ७ ॥
अयि मूर्ख ! मनः कोऽर्थस्तव संसारवृत्तिभिः ।
धीमन्तो न निषेवन्ते पर्यन्ते दुःखदां क्रियाम् ॥ ८ ॥
अनुधावति यो भोगांस्त्यक्त्वा शमरसायनम् ।
संत्यज्य मन्दारवनं स याति विषजङ्गलम् ॥ ९ ॥
यदि यासि महीरन्ध्रं ब्रह्मलोकमथाऽपि वा ।
तत्र निर्वाणमायासि विनोपशमनामृतम् ॥ १० ॥
आशाशतावपूर्णत्वे त्वमेवं सर्वदुःखदम् ।
त्यज्य याहि परं श्रेयः परमेकान्तसुन्दरम् ॥ ११ ॥
इमा विचित्राः कलना भावाभावमयात्मिकाः ।
दुःखायैव तवोग्राय न सुखाय कदाचन ॥ १२ ॥

५२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वे धर्मात्मा मुनि बहुत प्रकार के अन्वेषण से मिली हुई पद्मगर्भ के समान मनोहर उस गन्धमादन गुफा में वैसे ही प्रविष्ट हुए जैसे भ्रमर बहुत प्रकार के भ्रमण से मिले हुए कमलगर्भ में प्रवेश करता है ॥ १ ॥

समाधिप्रवणता से उस गुफा में प्रवेश कर रहे वे वैसे ही विराजित हुए जैसे सृष्टि-रचना वैराग्य होने पर सत्यलोक में स्थित अपराजिता नाम की अथवा भगवन्नाभिकमलरूप अपनी नगरी में प्रवेश कर रहे ब्रह्मा जी विराजमान होते हैं ॥ २ ॥

वहां पर उन्होंने ताजे पत्तों से कोमल आसन, जिसमें उनका शरीर ही गुच्छ के समान वैसे ही शोभित हो रहा था, बनाया जैसे इन्द्र मेघ को, जिसके मध्य में बिजलियाँ स्वगुच्छ के समान फैली रहती हैं, राशिभूत करते हैं ॥ ३ ॥

उन्होंने उस आसन के ऊपर सुन्दर मृगचर्म बिछाया जैसे सुमेरु नीलरत्नमय अपने तटपर आकाश को, जिसमें तारे ही बहुमूल्य रत्न हैं, बिछाता है ॥ ४ ॥

शुद्धान्तःकरण वाले वे चित्त की वृत्तियों को जड़ विषय के त्याग से लघु बनाते हुए वैसे ही उस पर बैठे जैसे मेघ वृष्टि से अपने जाडच का जलता का त्याग कर सफेद और गर्जन रहित होकर पर्वत के शिखर पर बैठता है ॥ ५ ॥

प्रबुद्ध (ज्ञानी) कपिल आदि के समान दृढ सिद्धासन बाँधकर एड़ी से वृषणों को अण्डकोशोंको दबाकर उत्तर की ओर मुंह किए हुए उन्होंने ब्रह्मा आदि गुरु-परम्परा के लिए प्रणामाञ्जलि की ॥ ६ ॥

विषयों में दौड़े हुए मनरूपी मृग को वासनाओं से हटाकर उन्होंने निर्विकल्प समाधि के लिए यह विचार किया ॥ ७ ॥

अरे मूर्ख मन, तुम्हारा संसारवृत्तियों से क्या मतलब है ? बुद्धिमान् लोग अवसान में दुःख देनेवाले कर्म का सेवन नहीं करते हैं ॥ ८ ॥

जो शान्तिरूपी रसायन का त्यागकर विषयभोगों की ओर दौड़ता है, वह मन्दारवन का त्याग कर विषवृक्षों से भरे हुए जंगल में जाता है ॥ ९ ॥

चाहे तुम पाताल में जाओ चाहे ब्रह्मलोक में भी चले जाओ, किन्तु उपशमनरूपी अमृत के बिना उस निरतिशय सुख में विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हो सकते ॥ १० ॥

हे चित्र ! तुम सैकड़ों भोगाशाओं का त्यागकर दुःख-स्पर्श रहित निरतिशय आनन्दरूप होने के कारण अत्यन्त सुन्दर परम कल्याण को प्राप्त करो ॥ ११ ॥

भाव इष्ट वस्तु का सम्पादन और अभाव अनिष्ट का निवारण स्वरूप ये विचित्र विषय तुम्हारे उत्कट दुःख के लिए ही हैं, ये सुख के लिए कभी नहीं हो सकते हैं ॥ १२ ॥

शब्दादिकाभिरेताभिः किं मूर्ख ! हतवृत्तिभिः ।
भ्रमस्यविरतं व्यर्थं मेघे मण्डूकिका यथा ॥ १३ ॥
मनोमण्डूकिके व्यर्थमियन्तं कालमन्धया ।
भ्रमन्त्या भुवनं क्षिप्रं किं समासादितं त्वया ॥ १४ ॥
यस्मात् किञ्चिदवाप्नोषि यस्मिन् वहसि निर्वृतिम् ।
तस्मिश्चेतः शमे मूर्ख ! नाऽनुबध्नासि किं पदम् ॥ १५ ॥
आगत्य श्रोत्रतां मूर्ख ! व्यर्थोत्थानोपबृंहिताम् ।
धिया शब्दानुसारिण्या मृगवन्मा क्षयं व्रज ॥ १६ ॥
त्वक्तामागत्य दुःखाय स्पर्शोन्मुखतया धिया ।
मूर्ख ! मा बद्धतामेहि गजीलुब्धगजेन्द्रवत् ॥ १७ ॥
रसनाभावमागत्य गर्धेनाऽन्ध दुरन्धसाम् ।
मा नाशमेहि बडिशपिण्डीलम्पटमत्स्यवत् ॥ १८ ॥
चाक्षुषीं वृत्तिमाश्रित्य प्रभारूपचयोन्मुखी ।

हे मूर्ख चित्त ! तुम शब्द आदि इन गर्हित वृत्तियों से क्यों वैसे ही निरन्तर भ्रमण करते हो ? मेढकी जैसे मेघ में शब्दादिक व्यर्थ वृत्तियों भ्रमण करती है ॥ १३ ॥

हे मनरूपी मेढकी ! इतने समयतक व्यर्थ भुवन या जल में त्वरा से भटक रही अन्धी तूने क्या फल पाया ? ॥ १४ ॥

हे चित्त ! जिससे मन और वाणी का अगोचर विदेहकैवल्यसुख तुम्हें मिले, जिस में तुम्हें जीवन्मुक्ति-श्रान्तिसुख मिले, उस सकलवृत्त्युपशमरूप समाधि में उद्योग क्यों नहीं करते हो ? ॥ १५ ॥

हे मूर्ख ! व्यर्थ बहिर्मुखतारूप उत्थान से बढ़ी हुई श्रोत्रेन्द्रिय तादात्म्यापत्तिरूप श्रोत्रता को प्राप्त कर व्याध के गीत और घंटा की ध्वनि से मोहित मृग के समान शब्दानुसारिणी वृत्ति से नाश को प्राप्त मत हो ॥ १६ ॥

हे मूर्ख मन ! उस स्पर्शार्ह सुखानुभव की इच्छा से केवल दुःख के लिए त्वगिन्द्रियता को प्राप्त हो तू हथिनी पर लोलुप हाथी के समान बन्धन को मत प्राप्त हो ॥ १७ ॥

अरे अन्धे दुष्ट अन्नों की अभिलाषा से रसनेन्द्रियता को प्राप्त हो बंसी में बँधे हुए मांस के टुकड़े पर लोलुप मछली के समान तू नाश को मत प्राप्त हो ॥ १८ ॥

हे मूढ़ ! तू कान्तिसम्बन्धी नानाप्रकार के रूपों में तत्पर चक्षुरिन्द्रियाता को प्राप्त कर प्रकाश में लोलुप फतींगे के समान दाह को प्राप्त मत हो ॥ १९ ॥

गन्ध के अनुभव की इच्छा से घ्राणेन्द्रियता का आश्रण कर हाथी द्वारा मसले गये कमल के अन्दर स्थित

मा गच्छ दग्धतां मुग्ध कान्तिलुब्धपतङ्गवत् ॥ १९ ॥
घ्राणमार्गमुपाश्रित्य शरीराम्भोजकोटरे ।
गन्धोन्मुखतया बन्धं मा त्वं संश्रय भृङ्गवत् ॥ २० ॥
कुरङ्गालिपतङ्गेभमीनास्त्वेकैकशो हताः ।
सर्वैर्युक्तैरनर्थैस्तु व्याप्तस्याऽज्ञ कुतः सुखम् ॥ २१ ॥
हे चित्त ! वासनाजालं बन्धाय भवतोहितम् ।
स्वात्मनः सहजः फेनस्ततः कुक्रमिणा यथा ॥ २२ ॥
शरदभ्रवदागत्य शुद्धिं त्यक्तभवामयाम् ।
यदि शाम्यसि निर्मूलं तदनन्तो जयस्तव ॥ २३ ॥
क्षयोदयदशाधात्रीं पर्यन्तपरितापिनीम् ।
जानन्नपि जगत्सृष्टिं न त्यक्ष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ २४ ॥
करोम्यथ किमर्थं वा तवैतदनुशासनम् ।
विचारणवतः पुंसश्चित्तमस्ति हि नाऽनघ ! ॥ २५ ॥

भँवरे के समान शरीररूपी कमल के अन्दर बन्धन को मत प्राप्त हो ॥ २० ॥

अरे मूर्ख ! मृग, भँवरा, फतींगे, हाथी और मत्स्य एक-एक शब्द आदि विषय से विनष्ट होते हैं अर्थात् मृग एकमात्र शब्द से, भँवर एकमात्र गन्ध से, फतींगे एकमात्र प्रकाश में हाथी एकमात्र स्पर्श से और मछलियाँ एकमात्र रस से विनष्ट हुई; संमिलित सब अनर्थों से व्याप्त तुम्हें कहाँ से सुख हो सकता है ? ॥ २१ ॥

हे चित ! तुमने भी वासनाजाल की अपने कुवितर्क से वैसे ही रचना की है जैसे क्षुद्र रेशम का कीड़ा अपने स्वाभाविक लार के फेन का अपने बन्धन के लिए कोश रूप से प्रसार करता है ॥ २२ ॥

पहले कर्म, उपासना आदि से शरत्कालीन मेघ के समान शुद्धि को—जिसमें संसाररूपी दोष का सर्वथा त्याग हो चुका—प्राप्त होकर श्रवण, मनन आदि का परिपाक होने के कारण ज्ञानोदय से यदि वासनाजाल का सर्वथा उच्छेद कर शान्त होते हो, तो तुम्हारी असीम विजय है ॥ २३ ॥

यदि तुम लोक की प्रवृत्ति को जन्म तथा मरण की एवं बाल्य आदि अवस्था और दारिद्रच आदि अवस्थाओं का पालन करने वाली धात्रीस्वरूप, मरने के बाद भी नरक, स्थावर आदि गतियों में सन्ताप देने वाली समझते हुए भी नहीं छोड़ोगे, तो विनष्ट हो जाओगे ॥ २४ ॥

हे निष्पाप ! मैं तुम्हें यह हित उपदेश क्यों दूँ ? आत्मा से पृथक् चित्त नाम की क्या कोई वस्तु है ? इस प्रकार विचार कर रहे पुरुष का चित्त ही नहीं है ॥२५॥

यावदज्ञानघनता तावत् प्रघनचित्तता ।
यावत् प्रावृड्जलदता तावन्नीहारभूरिता ॥ २६ ॥
यावदज्ञानतनुता तावच्चित्तस्य तानवम् ।
प्रावृट्परिक्षयो यावत्तावन्नीहारसंक्षयः ॥ २७ ॥
यावत्तानवमायातं शुद्धं चित्तं विचारतः ।
तावत्तत् क्षीणमेवाऽहं मन्ये शारदमेघवत् ॥ २८ ॥
अनुशासनमेतद् यदसतो नश्यतोऽथवा ।
क्रियते तन्नभोवारिपवनाहननैः समम् ॥ २९ ॥
तस्मात् संक्षीयमाणत्वात् त्यजामि त्वामसन्मयम् ।
मौर्ख्यं परममेवाऽऽहुः परित्याज्याऽनुशासनम् ॥ ३० ॥
निर्विकल्पोऽस्मि चिद्दीपो निरहङ्कारवासनः ।
त्वयाऽहङ्कारबीजेन न सम्बद्धोऽस्म्यसन्मय ! ॥ ३१ ॥
अयं सोऽहमिति व्यर्थं दुर्दृष्टिरवलम्बिता ।

पूर्ण अज्ञान रहने तक घनीभूत चित्त है, वर्षा ऋतु के मेघ के रहने तक प्रचुर कुहरा अवश्य रहेगा ही ॥ २६ ॥

जितना अज्ञान क्षीण होता जायगा उतना ही चित्त भी कृश होता जायगा । जितना पावस का विनाश होगा उतना ही कुहरा क्षीण होगा ॥ २७ ॥

विचार से शुद्ध हुआ चित्त वासनाक्षय से जितनी सूक्ष्मता को प्राप्त होता है शरत् काल के मेघ की तरह मैं उसको उतना क्षीण हुआ समझता हूँ ॥ २८ ॥

असत् या नाश हो रहे चित्त का जो यह उपदेश किया जाता है, यह आकाश जल और वायु के ताड़न के समान व्यर्थ ही है ॥ २९ ॥

दिन पर दिन तुम क्षीण हो रहे हो, इसलिए क्षीयमाण होने के कारण असन्मय तुम्हारा मैं त्याग करता हूँ विद्वान् जन परित्याज्य को उपदेश देना भारी मूर्खता ही कहते थे ॥ ३० ॥

हे असन्मय चित्त ! मैं अहंकार वासना से रहित निर्विकल्प स्वयंप्रकाश चैतन्य हूँ । अहङ्कार के मूलभूत तुमसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार की तुमने यह, वह, मैं व्यर्थ दुर्दृष्टि का आलम्बन किया है । वह दुर्दृष्टि शङ्काविष से हुई विषूचिका के समान मिथ्या के कारण होती हुई भी मूढ़ों के विनाश के लिए होती है ॥ ३२ ॥

अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व की इस प्रकार के परिच्छिन्न मन के अन्दर परिच्छिन्न स्थिति अर्थात् देह आदि में अहङ्कारभाव से स्थिति वैसे ही नहीं हो सकती है जैसे

त्वया मूढविनाशाय शङ्काविषविषूचिका ॥ ३२ ॥
अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य तन्वीति मनसि स्थितिः ।
न संभवति बिल्वान्तर्वासितादन्तिनोर्यथा ॥ ३३ ॥
महाश्वभ्रेव गम्भीरा दुःखदा वासनाऽऽश्रिता ।
त्वयैषा बत चित्तेति नैनामनुसराम्यहम् ॥ ३४ ॥
कः किलाऽयं मुधा मोहो बालस्येवाऽविचारिणः ।
अयं सोऽहमिति भ्रान्तिस्त्वहन्ता परिकल्पिता ॥ ३५ ॥
पादाङ्गुष्ठाच्छिरो यावत् कणशः प्रविचारितम् ।
न लब्धोऽसावहं नाम कः स्यादहमिति स्थितः ॥ ३६ ॥
भरिताशेषदिक्कुञ्जं यत् स्यामेकं जगत्त्रये ।
संवेदनमसंवेद्यं सर्वत्र विगतात्मकम् ॥ ३७ ॥
दृश्यते यस्य नेयत्ता न नामपरिकल्पना ।
नैकता नाऽन्यतैवेह न महत्ता न चाऽणुता ॥ ३८ ॥

हथिनी और हाथी की विल्व के अन्दर स्थिति नहीं हो सकती है ॥ ३३ ॥

हे चित्त ! अहा तुमने बड़े भारी जीर्ण कुँए आदि के समान अगाध तथा काम, क्रोध, लोभ आदिस्वरूप साँप, विच्छू, पिशाच आदि के निवासभूत होने के कारण दुःखदायी इस वासना को ही अपने निवासस्थान के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु मैं तो इसका अनुसरण नहीं करता हूँ । (उसके अनुगामी मन का त्याग करता हूँ) ॥ ३४ ॥

यह देह आत्मा मैं हूँ ऐसी भ्रान्ति की तुमने अहन्ता से यह कल्पना की है, अविचारशील बालकों के तुल्य यह व्यर्थ का मोह है । मैं तो विचारशील हूँ, मेरा इस मोह से क्या सम्बन्ध है ? कुछ भी नहीं है ॥ ३५ ॥

पैर के अँगूठे से लेकर सिर तक मैंने तिल-तिलपर विचार किया । यह 'अहम्' नामक पदार्थ मुझे नहीं मिला । 'अहम्' रूप से यह कौन स्थित होगा ? ॥ ३६ ॥

तीनों जगत् में जिसने सब दिशारूपी कुञ्जों में व्याप्त है अर्थात् जो दिशा कृत परिच्छेद से शून्य है, एक अर्थात् वस्तुकृत परिच्छेद से रहित और ज्ञेय क्रम से भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीन अवस्थारूप काल से किये गये परिच्छेद से शून्य है, अतएव सब प्रकारों में वस्त्वन्तरस्वरूपशून्य है इस प्रकार का ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ ॥ ३७ ॥

परिच्छिन्न रूप से रहित नाम की कल्पना से शून्य, एकत्व संख्या रहित अन्यता है, महत्ता और अणुता से रहित ज्ञानरूप मैं हूँ ॥ ३८ ॥

वेद तत्त्वां स्वसंवेद्यमाततं दुःखकारणम् ।
विवेकजेन बोधेन तदिदं हन्यसे मया ॥ ३९ ॥
इदं मांसमिदं रक्तमिमान्यस्थीनि देहके ।
इमे ते श्वासमरुतः कोऽसावहमिति स्थितः ॥ ४० ॥
स्पन्दो हि वातशक्तीनामवबोधो महाचितः ।
जरामृतिश्च कायेऽस्मिन् कोऽसावहमिति स्थितः ॥४१॥
मांसमन्यदसृक्चाऽन्यदस्थीन्यन्यानि चित्त हे ! ।
बोधोऽन्यः स्पन्दनं चाऽन्यत् कोऽसावहमिति स्थितः ।४२।
इदं घ्राणमियं जिह्वा त्वगियं श्रवणे इमे ।
इदं चक्षुरसौ स्पन्दः कोऽसावहमिति स्थितः ॥ ४३ ॥
यथाभूततया नाऽहं मनो न त्वं न वासना ।
आत्मा शुद्धचिदाभासः केवलोऽयं विजृम्भते ॥ ४४ ॥

हे चित्त ! मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इसलिए साक्षीभूत अपने से ज्ञेय चारों ओर फैले हुए दुःखकारण तुम को, दुःख के कारण होने से ही तुम विवेक का उपार्जन कर विवेक से उत्पन्न बोध द्वारा मुझ से मारे जाते हो ॥ ३९ ॥

शरीर में यह मांस है, यह रक्त है, ये हड्डियाँ हैं, ये श्वासवायु हैं किन्तु यह 'अहम्' रूप से स्थित कौन है ? आशय यह है कि इदन्ता से गृहीत हो रहे मांस आदि में यह अहंशब्दार्थ कोई भी नहीं है, क्योंकि इदन्ता और अहन्ता का परस्पर विरोध है ॥ ४० ॥

सभी स्पन्दन अंश प्राणवायुओं का है, ज्ञानांश परमात्मा का है, बुढ़ापा और मरण देह के धर्म हैं, अतः यह 'अहम्' रूप से स्थित कौन पदार्थ है ? ॥ ४१ ॥

हे चित्त ! अहंपदार्थ से मांस भिन्न है, रक्त भी अतिरिक्त है, हड्डियाँ भी 'अहम्' से भिन्न हैं, ज्ञानेन्द्रिय-व्यापार भी अन्य है, स्पन्दन भी उससे अतिरिक्त है फिर 'अहम्' रूप से स्थित कौन पदार्थ है ? मांस आदि तो आत्मा से भिन्नरूप से प्रतीत हो रहे हैं, वह अहं नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

यह नासिका है, यह जिह्वा है, यह त्वचा है, ये दो कान हैं, यह चक्षु है, यह कर्म साधन कर्मेन्द्रियाँ हैं यह 'अहम्' रूप से स्थित कौन पदार्थ है ? नासिका आदि भी इदन्ता से प्रतीत होने के कारण अहंशब्दार्थ नहीं हैं ॥४३॥

परमार्थ रूप से विचार करने पर मन 'अहम्' नहीं है, तुम 'अहम्' नहीं हो, वासना भी 'अहम्' नहीं है । शुद्ध चित्प्रकाश यह आत्मा तो अहन्ता से अतिरिक्त ही विलसित होता है अर्थात् आत्मा तो अहन्ता से सर्वथा अस्पृष्ट है ॥ ४४ ॥

अहमेवेह सर्वत्र नाऽहं किंचिदपीह वा ।
इत्येव सन्मयी दृष्टिर्नेतरो विद्यते क्रमः ॥ ४५ ॥
चिरमज्ञानधूर्तेन पोथितोऽस्मि त्वहन्तया ।
वृकेण दृप्तेनाऽटव्यां लब्धेन पशुपोतकः[1] ॥ ४६ ॥
दिष्ट्येदानीं परिज्ञातो मयैवाऽज्ञानतस्करः ।
पुनर्न संश्रयाम्येनं स्वरूपार्थापहारिणम् ॥ ४७ ॥
निर्दुःखो दुःखयोग्यस्य नाऽहं तस्य न चैष मे ।
कश्चिद् भवति शैलस्य तत्स्थ एव यथाऽम्बुदः ॥ ४८ ॥
भूत्वा त्वहमिदं वच्मि वेद्मि तिष्ठामि यामि च ।
आत्मावलोकनेनाऽहमनहङ्कारतां गतः ॥ ४९ ॥
नूनमेवाऽहमेवैते मन्ये ज्ञाश्चक्षुरादयः ।
यान्तु तिष्ठन्तु वा देहे ममैते तु न किञ्चन ॥ ५० ॥

आत्मा में यदि अध्यारोपदृष्टि से मैं ही सर्वत्र अधिष्ठान हूँ, इसलिए सब कुछ मैं ही हूँ । अपवाददृष्टि से यहां मैं कुछ भी नहीं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है वह वास्तविक है । एकदेहमात्र में सीमित अहंभावरूप दूसरा अहंकार क्रम नहीं है इस जगत् में सर्वत्र प्रतीयमान मैं ही हूँ अथवा यहां पर प्रतीयमान कुछ भी मैं नहीं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है, वही वास्तविक है, अन्यदृष्टियाँ परिच्छिन्न विषय में अहंप्रतीतिरूप क्रम वास्तविक नहीं है ॥ ४५ ॥

चिरकाल तक अज्ञान रूपी धूर्त ने वञ्चना द्वारा स्वरूपवियोग से इसी प्रकार मुझे क्लेश पहुँचाया है जिस तरह मस्त भेड़िया जंगल में मृग के बच्चे को क्लेश पहुँचाता है ॥ ४६ ॥

सौभाग्य से अब मैंने ज्ञानरूपी चोर को पहचान लिया है । अपने वास्तविक स्वरूप रूपी धन को हरने वाले इसको फिर अपना नहीं बनाऊँगा ॥ ४७ ॥

दुःखरहित मैं दुःख के भाजन उसका वैसे ही सम्बन्धी नहीं हूँ और वह मेरा सम्बन्धी नहीं है जैसे पर्वत पर स्थित मेघ पर्वत का कोई नहीं होता है ॥ ४८ ॥

कल्पना के द्वारा अहंकार बन कर यह उपदेश आदि करता हूँ, नेत्र आदि से जानता हूँ, बैठता हूँ तथा चलता हूँ । वास्तव में आत्मदर्शन से अहंकारशून्य हो गया हूँ ॥४९॥

मुझे इसका पूरा निश्चय है कि वास्तव में ये चक्षु आदि मैं ही हूँ । यदि ये मुझसे भिन्न हैं, तो जड़ हैं चाहे मेरे शरीर में रहें अथवा जावें । ये मेरे कोई नहीं हैं ॥ ५० ॥

---

१. लघुयोगवासिष्ठ में 'मृगपोतो यथा तथा' पाठ है ।

कष्टं कोऽयमहं नाम कथं केनोपकल्पितः ।
जगद्बालकवेतालस्तालोत्तालातुलाकृतिः ॥ ५१ ॥
एतावन्तं चिरं कालं व्यर्थमालुठितोऽवटे ।
अहमत्र तृणोन्मुक्ते दुरद्रौ हरिणो यथा ॥ ५२ ॥
स्वार्थमालोकने चक्षुर्यदि तून्मुखतां गतम् ।
तदहं नाम कोऽसौ स्याद्योऽस्मिन् दुःखेन मोहितः ॥५३॥
स्पर्शनाय निजे तत्त्वे यदि जाता त्वगुन्मुखी ।
तत्कोऽयं स्यादहं नाम कुपिशाच इवोदितः ॥ ५४ ॥
रसेष्वभिनिषण्णेऽस्मिन् स्वक्रमे रसनेन्द्रिये ।
अहं मृष्टभुगित्येष कुतस्त्यः कुत्सितो भ्रमः ॥ ५५ ॥
शब्दशक्ति गते श्रोत्रे वराके स्वार्थपीडिते ।
तदहङ्कारदुःखस्य निर्बीजस्य क आगमः ॥ ५६ ॥
आत्मंभरित्वेन निजे घ्राणे स्वं गन्धमागते ।
अहं घ्रातेति यो माता तं चौरं नैव वेद्म्यहम् ॥ ५७ ॥

कष्ट से कहना पड़ता है कि जगत् रूपी बालक का वेताल रूपी तथा ताड़ के पेड़ से भी लम्बी और अनूठी आकृति वाला यह 'अहम्' कौन है ? किसने और कैसे इसकी कल्पना की है ? ॥ ५१ ॥

मैं इस संसार रूपी गड्ढे में इतने दीर्घ काल तक वैसे ही वृथा लुढ़कता रहा जैसे तृण-विहीन खराब पर्वत में हरिण दीर्घ काल तक व्यर्थ इधर-उधर लुढ़कता है ॥ ५२ ॥

चक्षु के अपने लिए आलोकन में प्रवृत्त होने पर 'अहम्' नाम का कौन है, जो दुःख से मोहित हुआ ॥५३॥

त्वचा के अपने विषय में स्पर्श के लिए तत्पर होने पर संसार में 'अहम्' नाम का दुष्ट पिशाच के तुल्य कौन उदित हुआ है ? ॥ ५४ ॥

रसनेन्द्रिय के अपने विषय रसों में प्रवृत्त होने पर मैं मीठा भोजन करने वाला हूँ, इस प्रकार का गर्हित भ्रम कहाँ से आता है ? ॥ ५५ ॥

श्रवणतृष्णा से पराधीन बेचारी श्रवणेन्द्रिय के द्वारा शब्दरूप विषय की प्राप्ति होनेपर निर्बीज अहंकार दुःख की प्राप्ति कैसी ? ॥ ५६ ॥

अपनी नासिका की अभिलाषा से अपने गन्ध की प्राप्ति होने पर 'मैं सूँघनेवाला हूँ' ऐसा जिसे अभिमान होता है, उस चोर को मैं नहीं ही जानता हूँ ॥ ५७ ॥

पूर्वोक्त स्थलों में प्रसिद्ध यह अहन्ता की कल्पना मृग-तृष्णा के समान व्यर्थ हो रही है। उस अहन्ता की कल्पना के निर्विषय होने पर यह शरीर 'अहम्' (मैं) हूँ, इस

मृगतृष्णाक्रमेणैषा भावना व्यर्थभाविनी ।
भवस्तस्यामसत्यायां यः सोऽयमिति संभ्रमः ॥ ५८ ॥
वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियैः स्वतः ।
प्रवर्तते बहिः स्वार्थे वासना नाऽत्र कारणम् ॥ ५९ ॥
वासनारहितं कर्म क्रियते ननु चित्त हे ! ।
केवलं नाऽनुभूयन्ते सुखदुःखदृशोऽग्रगाः ॥ ६० ॥
तस्मान्मूर्खाणीन्द्रियाणि त्यक्त्वाऽन्तर्वासनां निजाम् ।
कुरुध्वं कर्म हे ! सर्वं न दुःखं समवाप्स्यथ ॥ ६१ ॥
भवद्भिरेव दुःखाय वासना वासिता मुधा ।
बालैः पङ्कक्रीडनकं विनाशेनेव खिन्नता ॥ ६२ ॥
वासनाद्या दृशः सर्वा व्यतिरिक्तास्तु नाऽऽत्मनः ।
जलादिव तरङ्गाद्या ज्ञस्यैवाऽन्यस्य नाऽनघ ! ॥ ६३ ॥
तृष्णयैव विनष्टाः स्थ व्यर्थमिन्द्रियबालकाः ।
कोशकारकृकमयस्तन्तुनेव स्वयंभुवा ॥ ६४ ॥

प्रकार का भाव भ्रान्ति ही है, इसलिए देह में अहंभाव-वासना का सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥ ५८ ॥

वासनाहीन यह शरीर होने पर भी अपने जीवन के हेतु कर्म में चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा स्वतः बाहर प्रवृत्त में वासना कारण नहीं है ॥ ५९ ॥

हे चित्त ! वासनारहित कर्म करने पर तात्कालिक भोगाभास में मैं दुःखी हूँ, यह अभिमान नहीं होता, भावी आगे होने वाले सुख-दुःखों का अनुभव नहीं होता है आशय यह है कि उनसे होनेवाले शोक, मोह, भय, विषाद, चिन्ता, उद्वेग आदि सब संतापों की शान्ति ही इसका गुण है ॥ ६० ॥

हे मूर्ख इन्द्रियाँ ! भीतर अपनी वासना का त्याग कर तुम सब कर्म करो, उससे तुम्हें दुःख प्राप्त नहीं होगा ॥६१॥

तुमने इन्द्रियों ने भी विषयों के उपार्जन और उनके विनाश में केवल दुःख के लिए ही अज्ञ आत्मा में भोग-वासना की वैसे ही व्यर्थ स्थापना की है जैसे बालक पहले मिट्टी के खिलौने बनाते हैं फिर उनके विनाश से उन्हें पश्चात्ताप होता है ॥ ६२ ॥

हे निष्पाप ! ज्ञानी की दृष्टि में वैसे ही वासना आदि सब दृष्टियाँ आत्मा से वैसे ही पृथक् नहीं हैं जैसे तरङ्ग, बुद्बुद, फेन आदि जल से पृथक् नहीं हैं अज्ञानी की दृष्टि तो उनकी पृथक् सत्ता है ॥ ६३ ॥

हे इन्द्र रूपी बालको ! तुम लोग भी स्वतः उत्पन्न हुई तृष्णा से वैसे ही नष्ट हुए हो । जैसे रेशम के कीड़े अपने से उत्पन्न हुए तन्तु से नष्ट हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

तृष्णयैवेह लुठथ जरामरणसङ्कटे ।
भ्रमद्दृष्टयेव शिखरिपथिकाः श्वभ्रभूमिषु ॥ ६५ ॥
वासनैवेह भवतां हेतुरेकत्र बन्धने ।
रज्जुः शून्याशयप्रोता मुक्तानामातता यथा ॥ ६६ ॥
कल्पनामात्रकलिता सत्यैषा हि न वस्तुतः ।
असङ्कल्पनमात्रेण दात्रेणेव विलूयते ॥ ६७ ॥
एषा हि भवतामेव विमोहाय क्षयाय च ।
वातलेखेव दीपानां स्फुरतामपि तेजसाम् ॥ ६८ ॥

हे चित्त ! सर्वेन्द्रियकोश ! तस्मात्
सर्वेन्द्रियैरैक्यमुपेत्य नूनम् ।
आलोक्य चात्मानमसत्स्वरूपं
निर्वाणमेवाऽमलबोधमास्स्व ॥ ६९ ॥
विषयविषविषूचिकामनन्तां
निपुणमहं स्थितिवासनामपास्य ।
अभिमतपरिहारमन्त्रयुक्त्या भव
विभवो भगवान् भियामभूमिः ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
उद्दालकविचारो नाम द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५२ ॥

जरा, मरण आदि क्लेशों से पूर्ण इस संसार रूपी पत्थर कंकड़ पूर्ण भूमि में तुम लोग तृष्णा से वैसे ही लुढ़क रहे हो जैसे पर्वत के पथिक पर्वत के शिखर में जाते-जाते पित्तवश घूम रही दृष्टि से गिरकर विषम गर्तमय भू-भाग में गिरते हैं ॥ ६५ ॥

आप लोगों के एक जगह बन्धन में वासना वैसे ही हेतु है जैसे छेदे हुए मनकों में (मनियों में) गूँथी हुई दीर्घ डोरी मोतियों के बन्धन में कारण होती है ॥६६॥

एकमात्र भ्रान्ति में बनाई गई यह वासना वास्तविक दृष्टि से सत्य नहीं है । हँसुए से पत्तों के समान एकमात्र असङ्कल्प से ही यह काटी जा सकती है ॥ ६७ ॥

बढ़ रही यह वासना आप लोगों के वैसे ही विमोहन और क्षय के लिए है जैसे वायु का झोंका दीपकों के तथा चमक रहे उल्का, बिजली आदि तेजों के विनाश के लिए होता है ॥ ६८ ॥

हे सभी इन्द्रियों के कोश के तुल्य आधारभूत चित्त ! तुम सब इन्द्रियों के साथ ऐकमत्य को प्राप्त कर निश्चय अपने को मिथ्याभूत जानकर केवल निर्वाण रूप निर्मल बोधमात्र होकर स्थित हो, चित्त रूप का ग्रहण मत करो ॥ ६९ ॥

सभी शास्त्रतत्त्वज्ञाताओं के अभिमत द्वैतवासना-परिहाररूप मन्त्रयुक्ति से असंख्य दुःखवाली अहङ्कार-वासना रूपी विषम विष तुल्य अज्ञान से पैदा हुई विषूचिका का अच्छी तरह परित्याग कर संसार शून्य हो मरण आदि सब भयों के अस्थान परिपूर्णानन्दात्मा ही तुम हो जाओ ॥ ७० ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
उद्दालकविचार नामक कुसुमलता का बावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

५३

उद्दालक उवाच
अपारपर्यन्तवपुः परमाण्वणुरेव च ।
चिदचेत्या तदाक्रान्तौ न शक्ता वासनादयः ॥ १ ॥
मनः शेमुष्यहङ्कारप्रतिबिम्बैर्जडेन्द्रियैः ।
वासना वितता शून्या वेतालत्रासनोद्यताः ॥ २ ॥

५३

उद्दालक ने कहा—परिच्छिन्न तिल आदि फूल आदि से वासित होते हैं आत्मचित् तो असीम है । स्थूल पृथिवी, जल, तेज, वायु कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों की वासना से वासित होते हैं, चित् परमाणु से, अपञ्चीकृत आकाश से और अव्याकृत आकाश से भी सूक्ष्मतम है, उसका तनिक भी स्पर्श करने के लिए वासना आदि समर्थ नहीं हैं । साक्षात् उसके स्पर्श में असमर्थ होने पर भी उसके चेत्य के स्पर्श से वासना आदि उसका स्पर्श करेंगे, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह चेत्य रहित है ॥१॥

बुद्धि में और अहङ्कार में चित् के प्रतिबिम्बवश जड़ इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों की सूक्ष्म अवस्थास्वरूप शून्य असत्-रूप होती हुईं भी बेतालों के समान कष्ट देने में उद्यत विस्तृत वासनाओं का मन अनुभव करता है ॥२॥

तत्कृतेभ्यो विचारेभ्योऽनुभूतेभ्योऽपि भूरिशः ।
भूयोऽप्यनुभवत्यन्तरहं हि चिदलेपिका ॥ ३ ॥
स्वदुर्भावोपरचितां देहः संसारसंस्थितिम् ।
गृह्णात्वथ त्यजतु वाऽप्यहं हि चिदलेपिका ॥ ४ ॥
चितो न जन्ममरणे सर्वगायाश्रितः किल ।
किं नाम म्रियते जन्तुर्मार्यते केन वाऽपि किम् ॥ ५ ॥
चितो न जीवितेनार्थः सर्वात्मा सर्वजीवितम् ।
किं प्राप्स्यति कदात्मैषा प्रायता यदि जीवितम् ॥ ६ ॥
जीव्यते म्रियते चेति कुविकल्पकमालिनी ।
कलना मनसामेव नाऽऽत्मनो विमलात्मनः ॥ ७ ॥
यो ह्यहंभावतां प्राप्तो भावाभावैः स गृह्यते ।
आत्मनो नास्त्यहंभावो भावाभावाः कुतोऽस्य ते ॥ ८॥

जाग्रत् अवस्था में बुद्धि और अहङ्कार से बहुत बार किये गये विषयविचारों से और मन से अनुभूत विषयों से मेरा कुछ भी सम्पर्क नहीं है, लेप रहित चित् ही मैं हूँ, मन आदि का संघातरूप अहं (मैं) नहीं हूँ ॥ ३ ॥

देह अपनी दुश्चेष्टाओं से विस्तार को प्राप्त संसार स्थिति का ग्रहण करे या त्याग करे, किन्तु मैं तो उसकी दोनों अवस्थाओं में निर्लेप चित् ही रहूँगा ॥ ४ ॥

चित् का जन्म और मरण नहीं है, वह सर्वव्यापक और चित् स्वरूप है । अतएव क्या जीव मरता है और क्या किसी के द्वारा मारा जाता है । आशय यह है कि जीव का मरना और मारना दोनों असंगत हैं । अविनाशी अद्वितीय आत्मा का दर्शन होने पर बध्य-घातक बुद्धि ही नहीं रह जातीं है और आत्यन्तिक अभय सिद्धि हो जाती है ॥ ५ ॥

चित् का अपने जीवन के लिए किसी का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि सर्वात्मा चित् ही सब वस्तुओं का जीवन है । यदि सब देश, काल और वस्तुओं में फैली हुई स्वरूपभूत चित् ही इसका जीवन होने से उस जीवन से कब क्या दूसरी अप्राप्त वस्तु प्राप्य होगी, जिसके लिए उसकी इच्छा होगी ? ॥ ६ ॥

कुविकल्पों की मालाओं से भरी हुई जीता है और मरता है, इस प्रकार की कल्पना, मनों की ही है, निर्मलस्वरूप आत्मा की नहीं है ॥ ७ ॥

देह में अहंभावता को प्राप्त करने वाला व्यक्ति देह के भाव और अभाव रूप जन्म-मरणों के फन्दे में पड़ता है । आत्म रूप तुम में देहाहंभाव नहीं है, अतः तुम्हारा भाव और अभाव रूप जन्म-मरण कहाँ से होगा ? ॥ ८ ॥

अहंभावो मुधा मोहो मनश्च मृगतृष्णिका ।
जडः पदार्थसंभारः कस्याऽहङ्कारभावना ॥ ९ ॥
रक्तमांसमयो देहो मनो नष्टं विचारणात् ।
जडाश्चित्तादयः सर्वे कुतोऽहंभावभावना ॥ १० ॥
आत्मंभरितया नित्यमिन्द्रियाणि स्थितान्यलम् ।
पदार्थाश्च पदार्थत्वे कुतोऽहंभावभावना ॥ ११ ॥
गुणा गुणार्थे वर्तन्ते प्रकृतौ प्रकृतिः स्थिता ।
सदेव सति विश्रान्तं कुतोऽहंभावभावना ॥ १२ ॥
सर्वगं सर्वदेहस्थं सर्वकालमयं महत् ।
केवलं परमात्मानं चिदात्मैवेह संस्थितः ॥ १३ ॥
एवं किमाकृतिः को वा किमादेशश्च किंकृतः ।
किंरूपः किंमयः कोऽहं किं गृह्णामि त्यजामि किम् ।१४।

अहंकार व्यर्थ ही मोहस्वरूप है, मन मृगतृष्णास्वरूप है तथा पदार्थसमूह जड़ है; अतः अहंकार भावना किसकी होगी ? ॥ ९ ॥

देह रक्तमांसमय है, मन के विवेक से नष्ट हो जाने से और चित्त आदि सबके जड़ होने से देह में अहंभावना कैसे होगी ? ॥ १० ॥

सभी इन्द्रियाँ नित्य स्वस्वविषयव्यापाररूप केवल स्वोदरपूरण में ही लगी हैं । अहंकारपुष्टिरूप परोपकार में नहीं लगी हैं, सभी पदार्थ पदार्थस्वरूप में स्थत हैं, अतः अहंभावभावना कैसे होगी ? ॥ ११ ॥

सत्त्व आदि गुण गुणों के प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह रूप अपने व्यापार में स्थित हैं, प्रकृति गुणसाम्यावस्था रूप स्वभाव में स्थित है और सत् ब्रह्म स्वात्मभूत सत्स्वभाव में ही विश्रान्त है, अतः अहंभावना कैसे और किसको होगी ? ॥ १२ ॥

इस देह में जो चिदात्मा है, वह सर्वव्यापक सभी देहों में स्थित, सर्वकालमय महान् अद्वितीय परमात्मा ही मैं हूँ, यह निश्चय कर स्थित है, (वह भी अहंकारास्पद नहीं है,) ॥ १३ ॥

इस स्थिति में केवल इस देह के अभिमानी 'अहम्' कैसी आकृति है, क्या आकार है, अथवा कैसी अंगों की बनावट है वास्तव में कौन है, किस रूप से निर्देश के योग्य है, किस हेतु से बनाया गया है, कैसी उसकी रूप-रेखा है और किसका विकार है ? अहंभाव से मैं किसका ग्रहण करता हूँ अथवा अहंभाव के अभाव से मैं किसका त्याग करता हूँ ॥ १४ ॥

तेनाऽहं नाम नेहाऽस्ति भावाभावोपपत्तिमान् ।
अनहङ्काररूपस्य संबन्धः केन मे कथम् ॥ १५ ॥
असत्यलमहङ्कारे संबन्धः कस्य केन कः ।
संबन्धाभावसंसिद्धौ विलीना द्वित्वकल्पना ॥ १६ ॥
एवं ब्रह्मात्मकमिदं यत्किंचिज्जगति स्थितम् ।
सदेवाऽस्मि तदेवाऽस्मि परिशोचामि किं मुधा ॥ १७ ॥
एकस्मिन्नेव विमले पदे सर्वगते स्थिते ।
अहङ्कारकलङ्कस्य कथं नामोदयः कुतः ॥ १८ ॥
नाऽस्त्येव हि पदार्थश्रीरात्मैवाऽस्तीह सर्वगः ।
पदार्थलक्ष्म्यां सत्यां च संबन्धोऽस्ति न कस्यचित् ॥१९॥
इन्द्रियैरिन्द्रियैरङ्गैर्मनो मनसि वल्गति ।
चिदलिप्तवपुः केन संबन्धः कस्य किं कथम् ॥ २० ॥
उपलायःशलाकानां संबन्धो न यथा मिथः ।
तथैकत्राऽपि दृष्टानां देहेन्द्रियमनश्चिताम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार अपने अस्तित्व और अभाव में उपपत्ति रखनेवाला 'अहम्' नामक कोई पदार्थ यहाँ पर नहीं है। अतः निरहङ्कारस्वरूप मेरा किस के साथ और कैसे सम्बन्ध हो सकता है ? ॥ १५ ॥

अहंकार का सर्वथा अभाव होने पर किसका किस से कौन सम्बन्ध ? सम्बन्ध का अभाव सिद्ध होने से 'त्वम्' 'अहम्' ऐसी द्वैतकल्पना विलीन हो जाती है ॥ १६ ॥

इस प्रकार इस जगत् में जो कुछ भी स्थित है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है। 'सत्' ब्रह्म ही हूँ, मैं 'तत्' ब्रह्म ही हूँ, अतः व्यर्थ शोक क्यों करता हूँ ॥ १७ ॥

सर्वव्यापक एक ही निर्मल पद के रहने पर अहंकार-रूपी कलङ्क का कैसे और कहाँ से उदय हो सकता है॥१८

पदार्थ श्री यहाँ बिलकुल ही नहीं है, एकमात्र सर्व-व्यापक आत्मा ही है अथवा पदार्थ शोभा के होने पर भी उसका किसी के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है ॥ १९ ॥

मन के अवयवरूप से कल्पित सब इन्द्रियों से मन में ही स्वप्न के समान उल्लास को प्राप्त होता है। अतः वह बाह्य विषयों का स्पर्श करने के लिए समर्थ नहीं होता है, और चित् तो इन्द्रियों और बाह्य विषयों से असंगस्वभाव है। ऐसी अवस्था में किसके साथ सम्बन्ध कैसे और किसके द्वारा हो सकता है ? ॥ २० ॥

एक स्थान पर देखे गये देह, इन्द्रिय, मन और चित् का परस्पर वैसे ही सम्बन्ध नहीं है जैसे एक स्थान पर देखे गये भी पत्थर और लोहे की शलाकाओं का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता ॥ २१ ॥

असदभ्युत्थिते व्यर्थमहङ्कारमहाभ्रमे ।
ममेदमिदमस्येति विपर्यस्तमिदं जगत् ॥ २२ ॥
अतत्त्वालोकजातेयमहङ्कारचमत्कृतिः ।
तापेन हिमलेखेव तत्त्वालोके विलीयते ॥ २३ ॥
आत्मनो व्यतिरेकेण न किंचिदपि विद्यते ।
सर्वं ब्रह्मेति मे तत्त्वमेतत्तद्भावयाम्यहम् ॥ २४ ॥
अहङ्कारभ्रमस्याऽस्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अपुनःस्मरणं मन्ये नूनं विस्मरणं वरम् ॥ २५ ॥
समूलं संपरित्यज्य चिरायाऽहङ्कृतिभ्रमम् ।
तिष्ठाम्यात्मनि शान्तात्मा शरत्खं शरदीव खे ॥ २६ ॥
ददात्यनर्थनिचयं विस्तारयति दुष्कृतम् ।
विस्तारयति सन्तापमहंभावोऽनुसंहितः ॥ २७ ॥
स्फुरत्यहङ्कारघने हृद्व्योम्नि सलिलात्मनि ।
विकसत्यभितः कायकदम्बे दोषमञ्जरी ॥ २८ ॥

अहङ्काररूपी भ्रम के अज्ञान से इस सम्पूर्ण चराचर विश्व के उदित होने पर 'यह मेरा है और यह इसका है' इस प्रकार वृथा भ्रान्ति होती है ॥ २२ ॥

यह अहङ्कारचमत्कार आत्मतत्त्व के अज्ञान से उत्पन्न है। तत्त्वज्ञान होनेपर यह वैसे ही गल जाता है जैसे सूर्य के ताप से हिम-कणिका गल जाती है ॥ २३ ॥

सब ब्रह्म ही है उस आत्मा से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इस प्रकार का मेरा अनुभवसिद्ध जो तत्त्व है, उसकी मैं भावना करता हूँ ॥ २४ ॥

मैं आकाश की नीलिमा के समान उत्पन्न इस अहङ्कार रूपी महाभ्रम का इस प्रकार का पुनः कभी स्मरण न हो विस्मरण ही उत्तम समझता हूँ ॥ २५ ॥

चिरकाल से आरूढ़ हुए अहङ्कारभ्रम का समूल परि-त्याग कर शान्तात्मा मैं निर्मल आत्मा में वैसे ही स्थित हूँ जैसे शरत्काल का आकाश अपने निर्मल स्वभाव में स्थित रहता है ॥ २६ ॥

वृद्ध को प्राप्त अहंभाव अनर्थ परम्पराओं की सृष्टि करता है, पाप का विस्तार करता है और सन्ताप की वृद्धि करता है ॥ २७ ॥

दुर्वसनारूपी जल से भरे हुए हृदयरूपी आकाश में अहङ्काररूपी मेघ के विकास की प्राप्ति होनेपर शरीररूपी कदम्बवृक्ष पर दोषरूपी मञ्जरियाँ चारों ओर से स्वयं विकसित हो जाती हैं ॥ २८ ॥

मरणं जीवितोपान्तं जीवितं मरणान्तगम् ।
भावोऽभावाद् व्यवच्छिन्नः कष्टेयं दुःखवेदना ॥ २९ ॥
इदं लब्धमिदं प्राप्स्यामीत्यार्तिर्दाहकारिणी ।
न शाम्यत्यर्करत्नानां ग्रीष्मेऽग्निरिव दुर्धियाम् ॥ ३० ॥
नाऽस्तीदमिदमस्तीति चिन्ता धावत्यहङ्कृतिम् ।
जडाशया जडामभ्रमाला शैलावलीमिव ॥ ३१ ॥
अहंभावे परिक्षीणे शुष्कः संसारपादपः ।
भूयः प्रयच्छत्यरसो न पाषाणवदङ्कुरम् ॥ ३२ ॥
स्वतृष्णाकृष्णभोगिन्यो देहद्रुमकृतालयाः ।
क्वाऽपि यान्ति विचारात्मन्यागते विनतासुते ॥ ३३ ॥
असदभ्युत्थिते विश्वे तज्जाते भ्रमसन्मये ।
असन्मयपरिस्पन्दे त्वहं त्वं चेतिः कः क्रमः ॥ ३४ ॥

मरणादि पारलौकिक दुःख पुनर्जन्म तक एवं जीवन आदि ऐहिक दुःख मरणपर्यन्त तक रहता है और भोग्यवर्ग भोग के द्वारा नाश से समाप्त होता है, यह दुःखवेदना बड़ी कष्टकारिणी है ॥ २९ ॥

जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्यकान्तमणियों की अग्नि शान्त नहीं होती वैसे ही दुर्बुद्धियों की 'यह मुझे मिल गया, इसको मैं प्राप्त करूँगा' इस प्रकार की सन्तापप्रद पीड़ा कभी शान्त नहीं होती ॥ ३० ॥

'यह है यह नहीं है' इस प्रकार की चिन्ता, जिसका आश्रय अज्ञ पुरुष है, जड़ अहङ्कार की ओर वैसे ही अग्रसर होती है जैसे जल की आश्रयभूत जल से पूर्ण मेघमाला गुरुतर पर्वतपङ्क्ति की ओर दौड़ती है ॥ ३१ ॥

अहङ्कार के क्षीण होने पर शुष्क संसार रूपी वृक्ष रूपी अङ्कुर की उत्पादन शक्ति से रहित पत्थर के समान होकर फिर अङ्कुर को उत्पन्न नहीं करता है, ॥ ३२ ॥

अपनी तृष्णारूपी काली नागिनों ने देहरूपी वृक्ष में अपना बिल बनाया है, विचाररूपी गरुड के आने पर न मालूम वह कहाँ चली जाती हैं ॥ ३३ ॥

इसलिए विश्व के मिथ्याभूत अज्ञान से उत्पन्न अतएव अभ्यास से ही सन्मय और असन्मय व्यवहार वाला होकर 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) इस प्रकार का भेदव्यवहार भी कौन है ? विश्व के मिथ्या सिद्ध होने पर उससे होने वाला सम्पूर्ण भेदव्यवहार भी जहाँ सत्य रह सकता है ? यह आशय है ॥ ३४ ॥

सत्य प्रयोजन से सर्वथा शून्य यह जगत् पहले कारणत्व के अयोग्य अज्ञान से प्रतीत होता है। बिना कारण के उत्पन्न हुई वस्तु 'सत्' कैसे कही जा सकती

इदं जगदुदेत्यादावकारणमकारणात् ।
यदकारणमुद्भूतं तत्सदित्युच्यते कथम् ॥ ३५ ॥
अपर्यन्तपुराकाले मृदि कुम्भ इवाऽऽकृतिः ।
देहोऽभवदिदानीं तु तथैवाऽस्ति भविष्यति ॥ ३६ ॥
मध्येतरपयोमात्रं कञ्चित्कालं चलाचलम् ।
आद्यन्तसौम्यते त्यक्त्वा वारि वीचितया यथा ॥ ३७ ॥
अस्मिन् क्षणपरिस्पन्दे देहे विसरणोन्मुखे ।
तरङ्गे च निबद्धास्था ये हस्तास्ते कुबुद्धयः ॥ ३८ ॥
प्राक्पुरस्ताच्च सर्वाणि सन्ति वस्तूनि नाऽभितः ।
मध्ये स्फुटत्वमेतेषां कैवाऽऽस्था हतरूपिणी ॥ ३९ ॥
चित्तं पूर्वं पुरस्ताच्च चिद्देहं शान्तमित्यपि ।
सदसद्वा खसंलीनं मध्येऽस्मिन् किं तवोदितम् ॥ ४० ॥

है ? ॥ ३५ ॥

सृष्टि से पूर्व अनादि अनन्त काल में मिट्टी में घटरूप आकार के समान ब्रह्म में ही शरीर था, वैसे ही इस समय भी है और आगे भी होगा ॥ ३६ ॥

देह आदि भी तीनों काल में ब्रह्म ही हैं, ससे अतिरिक्त वैसे ही कुछ भी नहीं हैं। जैसे जल, पूर्व और उत्तर काल में तरङ्ग आदि से अविकृत केवल मात्र जल रूप से स्थित रहता है, मध्य में कुछ समय के लिए चञ्चल होकर पूर्व और उत्तर काल में प्रसिद्ध सौम्यता का त्याग कर तरङ्ग रूप होकर जल ही रहता है दूसरी वस्तु नहीं है ॥ ३७ ॥

जो केवल एक क्षण के लिए चेष्टा युक्त इस देह में है, और नाशोन्मुख है। तरङ्ग में जिन्होंने अहं रूप से विश्वास किया वे मन्दमति उसके नाश से नष्ट हो गये नाशोन्मुख तरङ्ग के समान क्षणविनश्वर तथा जीवन रूप एक क्षण के लिए चेष्ट युक्त शरीर में अहं रूप से आस्था मन्दमतियों की ही हो सकती है, अन्य की नहीं ॥ ३८ ॥

उत्पत्ति के पूर्व और नाश के पश्चात् सर्वत्र देह आदि सब वस्तुएँ नहीं हैं। अपने आधार प्रदेश में उनकी विद्यमान रूप से प्रतीति होती है। विकल्पपूर्वक यह विचार किया जाय कि उनकी उक्त सकल प्रदेश में प्रतीति होती है या उसके एक देश में, तो यह निर्वचन करना कठिन हो जायगा। उनमें भी हतरूपिणी यह कैसी कौन सी आस्था है ? अर्थात् यह अनुचित है ॥ ३९ ॥

चित्त अर्थात् चित्तोपलक्षित लिङ्ग शरीर अपनी उत्पत्ति से पूर्व समय में और पूर्व प्रदेश में स्वसाक्षी चिन्मात्र स्वभाव ही था। उत्तर काल में और अन्य प्रदेश

यथा स्वप्नविकारेषु यथा संभ्रमदृष्टिषु ।
यथा वा मदलीलासु यथा नौयानसंभ्रमे ॥ ४१ ॥
यथा धातुविकारेषु यथा चेन्द्रियविक्लवे ।
यथाऽतिसंभ्रमानन्दे दोषावेशदशासु च ॥ ४२ ॥
दृश्यते क्षीयते चैव रूपं सदसतोश्चलम् ।
तथैवेयमिह त्वेषा काले न्यूनातिरिक्तता ॥ ४३ ॥
सा च त्वया कृता नित्यं चित्त दुःखसुखोदये ।
यथा वियोगयामिन्यो मतयो हन्ति रागिणम् ॥ ४४ ॥
मयैवेहाऽसदभ्यासान्मिथ्या सदिव लक्ष्यसे ।
मृगतृष्णेव तेनैतत्त्वत्कृतं मत्कृतं भवेत् ॥ ४५ ॥

में नष्ट हुआ देश से परिच्छिन्न भी आकाश में लीन हुए के समान अत्यन्त तिरोहित वह सत् है या असत् है यह नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार का तुम्हारा चित्त लिङ्ग देह वर्तमान समय में और इस प्रदेश में सत् से अतिरिक्त किस रूप में उदित हुआ अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ ४० ॥

इस स्थूल सूक्ष्म देह आदि रूप जगत् की भ्रान्ति वैसे ही है जैसे स्वप्न के विकारों में असत्य भी स्वशिरश्छेद आदि सत्य-सा प्रतीत होता है, जैसे बाघ, चोर आदि की भय दृष्टियों में बाघ आदि के न रहने पर भी सर्वत्र बाघ आदि की शंका होती है, मदिरा आदि के नशे में न घूमती हुई भी पृथ्वी, घूमती हुई-सी प्रतीत होती है, जैसे नाव की सवारी से हुए भ्रम में पृथिवी पेड़ आदि के न चलने पर भी वे चलते हुए के समान प्रतीत होते हैं, जैसे वात, पित्त, आदि के संनिपात में भय आदि के हेतु के न रहने पर भी भय, आदि होते हैं, जैसे नेत्र आदि इन्द्रिय के दोषदूषित होने पर द्विचन्द्रत्वभ्रान्ति होती है, जैसे अतिप्रियतम के लाभ आदि से होने वाले आनन्द में और विधुरों की काम आदि दोषावेश की दशाओं में भाव और अभाव का रूप चञ्चल अर्थात् केवल प्रतीतिकाल में ही स्थायी रहता है, कुछ कामिनी आदि का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है शीघ्र ही बाध होने से वे नष्ट हो जाते हैं किन्तु स्वप्न आदि थोड़े समय तक रहते हैं और जगद्भ्रम मोक्षपर्यन्त रहता है। इस प्रकार समय में न्यूनता और अधिकता से अतिरिक्त उनमें अन्य कुछ भी विशेषता नहीं है ॥ ४१—४३ ॥

समय की न्यूनता और अधिकता व्यावहारिक वस्तुओं में सत्यता के भ्रम से वियोग और संयोगवश नित्य सुख और दुःख के उदय में निमित्त मानने से तुम्हें वे वैसे ही पीड़ित करते हैं जैसे पुत्र, आदि के न मरने पर भी वञ्चक पुरुष के कथन से उत्पन्न हुई उनके मरण की बुद्धि तथा

यदिदं किंचिदाभोगि तत्सर्वं दृश्यमण्डलम् ।
अवस्त्विति विनिर्णीय मनो यात्यमनःपदम् ॥ ४६ ॥
अवस्त्विदमिति स्फारे रूढे मनसि निश्चये ।
हेमन्त इव मञ्जर्यः क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥ ४७ ॥
चित्त्वाद् दृष्टात्मना नूनं संत्यक्तमनलौजसा ।
मनसा वीतरागेण स्वयं स्वस्थेन भूयते ॥ ४८ ॥
परमात्माऽनले क्षिप्तं संवृत्त्याऽवयवं स्वयम् ।
दग्ध्वाऽऽत्मानमलं चित्तं शुद्धतामेति शाश्वतीम् ॥ ४९ ॥
देहमन्यतया दृष्ट्वा त्यक्त्वा विषयवासनाम् ।
विनाशमुररीकृत्य मनो जयति वीरवत् ॥ ५० ॥

उससे कल्पित वियोग दुःख रागी पुरुष को मार डालते हैं ॥ ४४ ॥

यहाँ पर असद्रूप तुममें अहंभाव के अभ्यास से मैं मृगतृष्णा के तुल्य मिथ्याभूत तुमको सत् के समान देखता हूँ। इसी से तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह सब मेरा किया हुआ हो गया है ॥ ४५ ॥

जो यह विशाल दृश्यमण्डल है, वे सभी अवास्तविक ही है, ऐसा निर्णय कर मन के मननरूप व्यापार से रहित होने पर ही निर्वाण पद को प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

इस प्रकार मन में दृढ़ निश्चय होने पर कि यह अवास्तविक है कि हेमन्त ऋतु में वृक्षों की मञ्जरियों की नाईं भोगवासनाएँ क्षीण हो जाती हैं ॥ ४७ ॥

चित् के प्रतिबिम्ब के ग्रहण से चिद्रूप होने के कारण रागरहित और विरक्त संकल्प और विकल्परूप व्यसन का त्यागकर चरमसाक्षात्कारवृत्ति से आत्मसाक्षात्कार कर, मन ही स्वयं स्वस्थ मोक्षविश्रान्तिमान् होता है मैं नहीं, मैं तो सदा एकरूप सदा अद्वितीय ब्रह्मरूप है, अतः मैं की मोक्षविश्रान्ति की प्राप्त ही कैसी होगी ॥ ४८ ॥

चित्त स्वयं बाहर प्रवृत्त अपने अवयवरूप इन्द्रिय आदि का संवरण कर तत्त्वबोध द्वारा परमात्मरूप अग्नि में प्रक्षिप्त कर चित्-स्वरूप को जला कर अत्यन्त शाश्वत परम शुद्धि की प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

चित्त देह को अपने से भिन्न जानकर, विषय-वासना का त्यागकर और अपने विनाश को स्वीकार कर ब्रह्मलोकपर वैसे ही विजय पाता है जैसे वीर पुरुष युद्धभूमि में अपने शरीर को स्वर्गगामी। अपने से भिन्न देखकर और उस शरीर से सम्बन्ध रखने वाले घर, खेत, धन आदि की वासना का त्यागकर अपने नाश तक को स्वीकार कर ब्रह्मलोक को जीतता है अर्थात् मोक्षविश्रान्ति को प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

मनः शत्रुः शरीरस्य शरीरं मनसो रिपुः ।
एकाभावेन नश्येते आधाराधेयकार्यवत् ।। ५१ ।।
रागद्वेषवतोर्नित्यमन्योन्यातिविरुद्धयोः ।
एतयोर्मूलकाषेण विनाशः परमं सुखम् ।। ५२ ।।
एतयोरेकसंस्थाने मृतिरित्येव या कथा ।
सा व्योम्नयया[1] स्त्रिया भुक्ता धरेति कथया समा ।।५३।।
अकृत्रिमविरोधस्थौ यत्र संघटितावुभौ ।
धारा इव पतन्त्येव तत्राऽनर्थपरम्पराः ।। ५४ ।।
मिथो विरुद्धसंसर्गे रतिमेत्यधमो हि यः ।
त्यक्तव्यः स पतद्वारावग्निराशावलेपने ।। ५५ ।।

मन शरीर का शत्रु है और शरीर मन का रिपु है। इन दोनों में से एक की वासना के विनाश से ये दोनों वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे आधार और आधेयरूप जल और घड़े का कार्यभूत संयोग दोनों में से एक के नष्ट हो जाता है ।। ५१ ।।

परस्पर प्रबल विरोध रखने वाले इन दोनों अर्थात् शरीर और मन के रहते बेचारे जीव को वैसे ही सुख नहीं होता जैसे परस्पर एक-दूसरे के पोषक होने के कारण अनुरागवाले, परस्पर संतापक होने के कारण द्वेषवाले बाधों के रहते वनमृग को सुख नहीं होता किन्तु इनका मूलाज्ञान के अर्थात् और उसके संस्कार के विनाश से विनाश ही परम सुख है ।। ५२ ।।

इन दोनों में से देह का विनाश होने पर भी मन के रहने पर पुनः देहकल्पना अवश्य होगी । अतः मरण की बात आकाश में जा रही स्त्री ने भूमि निगल डाली इस कथा के समान असंभावित है, । 'व्योम्न्ययःस्त्रिया' यह पाठान्तर है इस पाठ में—लोहे की स्त्री-प्रतिमाने आकाश में भूमि निगल डाली, इस कथा के समान है, यह अर्थ है । लोहे की प्रतिमा का आकाश में जाना और वहाँ पर भूमि को निगलना जैसे अत्यन्त असंभावित है वैसे ही मन के रहते मरण भी अत्यन्य असंभावित है ।। ५३ ।।

स्वाभाविक विरोधवाले ये दोनों जहाँ पर एकत्रित होते हैं वहाँ पर अनर्थों की परम्पराएँ वैसे ही अवश्य गिरती हैं जैसे लड़ रहे दो योद्धाओं के मध्य में स्थित पुरुष के शरीर पर तलवार और बाणों की बौछार गिरती है ।। ५४ ।।

परस्परविरुद्ध देह और मन जहाँ पर संघटित होते हैं उस वैषयिक सुखभोग में जो मूर्ख अनुराग रखता है उसे निरन्तर समुद्र का जल गिरने वाले आवरण रहित खुले हुए बड़वानल में फेंक देना चाहिये । आशय यह है कि वहाँ पर भी वह अनुराग करेगा । वैषयिक सुख भोग बड़वानल से कम भीषण नहीं है अतः वैषयिक सुखभोग में अनुराग रखनेवाला बड़वानल में अवश्य अनुराग करेगा ।। ५५ ।।

संकल्पेन मनः पुष्ट्वा शरीरं बालयक्षवत् ।
आयुरेवाऽशनान्यस्मै स्वदुःखानि प्रयच्छति ।। ५६ ।।
तैर्दुःखैस्तापितो देहो मनो हन्तुमथेच्छति ।
पुत्रोऽपि हन्ति पितरमाततायिपदं गतम् ।। ५७ ।।
नाऽस्ति शत्रुः प्रकृत्यैव न च मित्रं कदाचन ।
सुखदं मित्रमित्युक्तं दुःखदाः शत्रवः स्मृताः ।। ५८ ।।
देहो दुःखान्यनुभवन् स्वमनो हन्तुमिच्छति ।
देहं मनः स्वदुःखानां संकेतं कुरुते क्षणात् ।। ५९ ।।
एवं मिथो दुःखदयोः श्लिष्टयोः कः सुखागमः ।
एतयोर्देहमनसोर्जात्यैवाऽतिविरुद्धयोः ।। ६० ।।

मन अपने संकल्प से शरीर की कल्पना कर इसके लिए आयुपर्यन्त भोजन की कल्पना कर पुष्ट बनाकर अपने अभिनिवेश से होनेवाले सब दुःखों को इसे वैसे ही देता है जैसे बालक अपने संकल्प से यक्ष की कल्पना करता है ।। ५६ ।।

अनन्तर उन दुःखों से तापित शरीर मन को मारने की इच्छा करता है अर्थात् दुर्विषयों के सेवन से मन में राग-द्वेष, शोक, मोह, पाप आदि की उत्पत्ति से मन को पीड़ित करना चाहता है । मन से उत्पन्न मन का पुत्र रूप शरीर पितृस्थानीय मनको मारना चाहता है, क्योंकि आततायी पीड़ाप्रद पिता को पुत्र भी मारता ही है ।।५७।।

प्रकृति से न कोई किसी का शत्रु है और प्रकृति से ही न कोई किसी का कभी मित्र है। जो सुख देता है वह मित्र कहा गया है और दुःखदायी शत्रु कहे ग हैं ।। ५८ ।।

दुःखों का अनुभव करता हुआ शरीर अपने मन विनाश करने की इच्छा करता है और मन क्षणभर शरीर को अपने दुःखों का भोगायतन बना लेता है ।। ५९ ।।

इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को दुःख देनेवाले तथा स्वभाव से ही अत्यन्त विरुद्ध मन और शरीर के संगत होने पर सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ।। ६० ।।

मनस्येव परिक्षीणे न देहो दुःखभाजनम् ।
तत्क्षयोत्कतया नित्यं देहोऽपि परिधावति ॥ ६१ ॥
नष्टानष्टमनर्थाय शरीरं पदमापदाम् ।
अलब्धात्मविवेकेन मनसा सुप्रजायते ॥ ६२ ॥
एते मनःशरीरे हि मिथः पीवरतां गते ।
जडरूपे हि वपुषा पयोदसरसी यथा ॥ ६३ ॥
मिथो दुःखाय संपन्ने एकरूपे द्विधा स्थिते ।
व्यवहारपरे सार्धं लोके वार्यनलाविव ॥ ६४ ॥
चित्ते क्षयिणि संक्षीणे देहो ह्यामूलितो भवेत् ।
वर्धमाने तरुरिव शतशाखः प्रवर्तते ॥ ६५ ॥
क्षीयते मनसि क्षीणे देहः प्रक्षीणवासनः ।
मनो न क्षीयते क्षीणे देहे तत् क्षपयेन्मनः ॥ ६६ ॥
संकल्पपादपं तृष्णालतं छित्त्वा मनोवनम् ।

मन का विनाश होने पर शरीर दुःख का भाजन नहीं होता है, इसलिए शरीर मन के विनाश में उत्कण्ठित रहने से ज्ञान और उसकी प्राप्ति के उपायों में सदा यत्नशील रहता है ॥ ६१ ॥

मन को आत्मविवेक न होने पर उसके द्वारा शरीर का चाहे नाश हो चाहे न हो वह आपत्तियों का स्थान बनकर अनर्थों की ही सृष्टि करता है, यही कारण है कि शरीर के नाश में मन की इष्टसिद्धि नहीं होती है ॥६२॥

शरीर से जड़रूप ये मन और शरीर परस्पर के अनुग्रह से वैसे ही पुष्ट को प्राप्त होते हैं जैसे शरीर से जलरूप मेघ और तालाब परस्पर एक दूसरे से पुष्ट होते हैं ॥ ६३ ॥

जैसे लोक में परस्परविरुद्ध होने के कारण पृथक्-पृथक् स्थित जल और अग्नि अन्नपाक के लिए एकरूप होते हैं वैसे ही विरुद्ध स्वभाव दो प्रकार से स्थित ये परस्पर तादात्म्याध्यास से एकरूप हो दुःखों का भोग करने के लिए एक साथ भोग और मोक्ष के व्यवहारसाधन में तत्पर हैं ॥ ६४ ॥

विनाशी चित्त के क्षीण होने पर देह उन्मूलित हो जाता है और चित्त के बढ़ने पर वृक्ष के समान सैकड़ों शाखाप्रशाखावाला होता है ॥ ६५ ॥

मन के क्षीण होने पर शरीर क्षीण वासनावाला हो क्षीण हो जाता है। देह के क्षीण होने पर मन क्षीण नहीं होता है अतः मन को ही क्षीण करना चाहिए ॥ ६६ ॥

संकल्परूपी वृक्षों से पूर्ण तृष्णारूपी लतावाले मनरूपी

विततां भुवमासाद्य विहरामि यथासुखम् ॥ ६७ ॥
प्रक्षीयमाणमेवेदं न मनो मनसि स्थितम् ।
प्रशाम्यद्वासनाजालं प्रावृडन्त इवाऽम्बुदः ॥ ६८ ॥
धातूनां सन्निवेशोऽयं देहनामा रिपुर्मम ।
प्रक्षीयमाणे मनसि गलत्वेषोऽवतिष्ठतु ॥ ६९ ॥
यदर्थं किल भोगश्रीर्वाञ्छते स्वकलेवरम् ।
तन्मे नाऽपि न तस्याऽहं कोऽर्थः सुखलवेन मे ॥ ७० ॥
नाऽहं देह इति त्वस्मिन् युक्तिमाकर्णय क्रमे ।
सर्वाङ्गेष्वपि सत्स्वेव शवः कस्मान्न वल्गति ॥ ७१ ॥
तस्माद्देहादतीतोऽहं नित्योऽनस्तमितद्युतिः ।
यः सङ्गं भास्वता प्राप्य वेद्मि व्योमनि भास्करम् ॥७२॥
नाऽज्ञोऽहं न च मे दुःखं नाऽनर्थो न च दुःखिता ।
शरीरमस्तु मा वाऽस्तु स्थितोऽस्मि विगतज्वरः ॥७३॥

वन को छिन्न-भिन्न कर विस्तृत मुक्तिरूपी भूमि को प्राप्त कर मैं सुखपूर्वक विहार कर रहा हूँ ॥ ६७ ॥

संकल्प का नाश होने पर क्षीण हो मन में अपने स्वभाव में स्थित न हो कर यह मन वासनाजाल रहित होकर वर्षा ऋतु के अन्त में मेघ के समान नष्ट हो जाता है ॥ ६८ ॥

धातुओं का अर्थात् त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र नाम का संघातरूप यह देहनामक मेरा शत्रु मन के क्षीण होने पर नष्ट हो जाय, चाहे रहे मेरी कोई भी हानि नहीं है ॥ ६९ ॥

भोगेच्छु जिसके लिए अपने शरीर की कामना करता है वह न तो मेरा सम्बन्धी और न मैं ही उसका सम्बन्धी हूँ। सुखलेश से मेरा क्या प्रयोजन है ? ॥ ७० ॥

मैं देह नहीं हूँ, इस अवश्य ज्ञातव्य अर्थ के विषय में युक्ति को सुनें। यदि देह मैं अर्थात् आत्मा होता तो सब अंगों के रहने पर भी शव यह व्यवहार नहीं होता अतः देह आत्मा नहीं है ॥ ७१ ॥

शव में ज्ञान आदि के न होने से यह सिद्ध है कि मैं देह से अतिरिक्त नित्य हूँ, मेरी ज्योति कभी अस्त नहीं होती है। व्यापक होने के कारण सूर्यमण्डल में स्थित सूर्य से संगत होकर आकाश में स्थित सूर्य को जानता हूँ, वही चिद्रूप मैं हूँ ॥ ७२ ॥

न तो मैं अज्ञानी हूँ, न मुझे दुःख है, न अनर्थ है और न मुझमें दुःखिता है। मेरा शरीर रहे चाहे न रहे मैं सन्तापशून्य होकर स्थित हूँ ॥ ७३ ॥

यत्राऽऽत्मा तत्र न मनो नेन्द्रियाणि न वासनाः ।
पामराः परितिष्ठन्ति निकटे न महीभृतः ॥ ७४ ॥

पदं तदनुयातोऽस्मि केवलोऽस्मिजयाम्यहम् ।
निर्वाणोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरीप्सितः ॥७५॥

इदानीमस्म्यसम्बद्धो मनोदेहेन्द्रियादिभिः ।
पृथक्कृतस्य तैलस्य तिलैर्विगलनैरिव ॥ ७६ ॥

स्वस्मात् पदवरादस्माल्लीलया चलितस्य मे ।
पृथक्कृतमतेः किञ्च परिवारो ह्ययं शुभः ॥ ७७ ॥

स्वच्छतोर्जिततता सत्ता हृद्यता सत्यता ज्ञता ।
आनन्दितोपशमिता सदा च मृदुभाषिता ॥ ७८ ॥

पूर्णतोदारता सत्या कान्तिमत्तैकतानता ।
सर्वैकता निर्भयता क्षीणद्वित्वविकल्पता ॥ ७९ ॥

नित्योदिताः समाः स्वस्थाः सुन्दर्यः सुभगोदयाः ।
ममैकात्ममतेर्नित्यं कान्ता हृदयवल्लभाः ॥ ८० ॥

सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वस्मिन् संभवत्यतः ।
सर्वं प्रति मम क्षीणे वाञ्छावाञ्छे सुखासुखे ॥ ८१ ॥

विगतमोहतया विमनस्तया
गतविकल्पनचित्ततया स्फुटम् ।
उपरमाम्यहमात्मनि शीतले
घनलवः शरदीव नभस्तले ॥ ८२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
उद्दालकविचारविलासो नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

जहाँ पर आत्मा है वहाँ मन, इन्द्रिय और विविध वासनाएँ वैसे ही नहीं रहती हैं जैसे राजा के निकट पामर लोग नहीं रह सकते हैं ॥ ७४ ॥

मैंने उस परमपद को प्राप्त हो गया हूँ । मैं सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद से रहित सबसे उत्कृष्ट ब्रह्म-स्वरूप तीनों तापों की शान्ति से निर्वाणस्वरूप परिपूर्ण होने के कारण अंश रहित आप्तकाम होने के कारण किसी वस्तु की अभिलाषा से रहित निरीह हूँ ॥ ७५ ॥

मन, देह, इन्द्रिय आदि से अब मेरा वैसे ही कोई सम्बन्ध नहीं है जैसे तिलों से पृथक् किये गये तेल का पेरे हुए तिलों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है ॥ ७६ ॥

प्रारब्धशेष के भोग के लिए इस स्वात्मरूप श्रेष्ठ पद से व्यवहाराभास में अवतीर्ण पूर्व वासना से पृथक्कृत बुद्धिवाले यह देहेन्द्रिय आदि मेरा परिवार परिजन की तरह विनोद के हेतु है ॥ ७७ ॥

स्वच्छता, पूर्णकामता, सद्रूपता, सर्वप्रियता, सत्यता, ज्ञानिता, आनन्दस्वरूपता, निर्विकारता, सदा मृदुभाषिता, पूर्णता, निर्लोभता, अबाधित स्वभावता, कान्तिमत्ता, एकतानता, सर्वात्मकता, निर्भयता, द्वित्वादिविकल्प रहित आदि ये मेरी नित्य उदित हुई स्वस्थ, सम, सुन्दरी तथा सुन्दर उदय वाली कान्तएँ हैं, ये एकमात्र आत्मनिष्ठ मुझे सदा प्रिय हैं ॥ ७८—८० ॥

सब में सब कुछ सदा सर्वथा संभव है, अतः सब विषयों के प्रति मेरे राग-द्वेष और उनके फल सुख-दुःख क्षीण हो गये हैं ॥ ८१ ॥

मैं शरत्-ऋतु में आकाश में मेघ-खण्ड के समान शीतल अर्थात् त्रिविधतापशून्य आत्मा में दृश्यभाव का त्याग कर विश्राम ग्रहण कर रहा हूँ । मेरा मोह समाप्त हो गया है, मेरा मन क्षीण हो गया है, चित्त के संकल्प-विकल्प भी मुझमें नहीं रह गये हैं ॥ ८२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
उद्दालकविचारविलास नामक कुसुमलता का तिरपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

५४

वसिष्ठ उवाच

इति निर्णीय ततया धिया धवलया मुनिः ।
बद्धपद्मासनस्तस्थावर्धोन्मीलितलोचनः ॥ १ ॥

ओमित्येतत् परं ब्रह्म निर्णीय स मुनिस्तदा ।
ॐकारोच्चारितो येन तेनाऽऽप्तं परमं पदम् ॥ २ ॥

५४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—विशुद्ध तथा विशाल बुद्धि से इस प्रकार निर्णय कर पद्मासन लगा कर और नेत्रों को निमीलित कर मुनि बैठे गये ॥ १ ॥

जिसने ॐकार का उच्चारण किया, उसको परमपद प्राप्त हो गया, ॐ यह अक्षर परब्रह्म का प्रधान नाम और अन्तरङ्ग प्रतीक है, यह अक्षर परब्रह्म ही है ॥ २ ॥

ॐकारमकरोत् तारस्वरमूर्ध्वगतध्वनिम् ।
सम्यगाहतलाङ्गूलं घण्टाकुण्डमिवाऽऽरवम् ॥ ३ ॥
ओमुच्चारयतस्तस्य संवित्तत्त्वे तदुन्मुखे ।
यावदोङ्कारमूर्धस्थे वितते विमलात्मनि ॥ ४ ॥
सार्धत्र्यंशात्ममात्रस्य प्रथमेंऽशे स्फुटारवे ।
प्रणवस्य समाक्षुब्धप्राणारणितदेहके ॥ ५ ॥
रेचकाख्योऽखिलं कायं प्राणनिष्क्रमणक्रमः ।
रिक्तीचकार पीताम्बुरगस्त्य इव सागरम् ॥ ६ ॥
अतिष्ठत् प्राणपवनश्चिद्रसापूरिताम्बरे ।
त्यक्तदेहः परित्यक्तनोडः खग इवाऽम्बरे ॥ ७ ॥
हृदयाग्निर्ज्वलज्ज्वालो ददाह निखिलं वपुः ।
उत्पातपवनोद्भूतो दावः शुष्कमिव द्रुमम् ॥ ८ ॥

ऐसा निश्चय कर मुनि ने ॐकार का उच्चारण किया। उद्दालक मुनि ने घण्टे के अधोभाग में लटके हुए लोहे के जीभ के आकार के लटकन को अच्छी तरह ताडन करने से घण्टे के आकाशभाग में उत्पन्न नाद की तरह ॐकार का, जिसका ऊँचा स्वर था तथा ध्वनि ऊपर को गई थी, उच्चारण किया ॥ ३ ॥

उद्दालक मुनि ने तब तक ॐकार का उच्चारण किया जबतक की उनकी उस प्रकार से उच्चारित प्रणवध्वनि मूलाधार से उठकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त परिव्याप्त न हुई और उनके संवित्तत्त्व अर्थात् ॐकाराकर बुद्धि और जीवतत्त्व अर्थात् जीवाख्य अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य अर्द्धमात्रा के उच्चारण बाद अर्थात् अर्धमात्रोच्चारण का उपरम होनेपर जो निरंशकूटस्थ ब्रह्मचैतन्य अनुभूति में अभिव्यक्त होता है, उसी ब्रह्मचैतन्य के अभिमुख न हो गये ॥ ४ ॥

अर्धमात्रासहित अकार, उकार, मकाररूप तीन अवयव वाले प्रणव के प्रथम अंश उदात्त 'अकार' का उच्च स्वर से तारभाव अभिव्यक्त होने पर बाहर निकलने के लिए उद्यत प्राणों द्वारा मूलाधार से लेकर ओष्ठ-पुटतक शरीर को ध्वनित किया ॥ ५ ॥

रेचक नाकवाले प्राण निकलने के क्रम ने जिस प्रकार अगस्त्य ऋषि ने जल पीकर समुद्र को रिक्त कर दिया था उसी प्रकार समस्त शरीर को खाली कर दिया अर्थात् उद्दालकमुनि ने रेचन द्वारा शरीर को सुख दिया ॥ ६ ॥

उनका रेचित प्राणवायु शरीर का त्यागकर ब्रह्म की भावना अभिव्यक्त हार्दरस से भरे हुए बाह्यकाश में वैसे ही स्थित हुआ जैसे पक्षी घोंसले को छोड़कर आकाश में घूमता है ॥ ७ ॥

यावदित्थमवस्थैषा प्रणवप्रथमक्रमे ।
बभूव न हठादेव हठयोगो हि दुःखदः ॥ ९ ॥
अथेतरांशावसरे प्रणवस्य समस्थितौ ।
निष्कम्पकुम्भको नाम प्राणानामभवत् क्रमः ॥ १० ॥
न बहिर्नाऽन्तरे नाऽधो नोर्ध्वे नाऽऽशासु तत्र ते ।
संक्षोभमगमन् प्राणा आपः संस्तम्भिता इव ॥ ११ ॥
दग्धदेहपुरो वह्निः शशामाऽशनिवत् क्षणात् ।
अदृश्यत सितं भस्म शारीरं हिमपाण्डुरम् ॥ १२ ॥
यत्र कर्पूरशय्यायां सुप्तानीव सुखोचितम् ।
शरीरास्थीनि लक्ष्यन्ते निष्पन्दानि सितानि च ॥ १३॥
तद्भस्म पवनानीतं सास्थि वायुरयोजयत् ।
स्वदेहे भृशमुत्सन्ने त्रिनेत्रव्रतवानिव ॥ १४ ॥

जिस प्रकार उत्पातपवन से पैदा हुई दावाग्नि शुष्क वृक्षों को जला देती है उसी प्रकार प्राणों के निष्क्रमण और संघर्ष से हृदय में भावना द्वारा उत्पन्न जलती ज्वालाओं वाली अग्नि ने उनके सारे शरीर को जला दिया ॥ ८ ॥

इस तरह प्रणव के प्रथम अंश में जितनी यह पूर्वोक्त अवस्था हुई, सब भावना से ही हुई, हठ नहीं हुई, बलात्कार से प्राणों को बाहर निकालने में मूर्छा, मरण आदि का भय रहता है क्योंकि हठयोग दुःखद होता है ॥ ९ ॥

इसके बाद दूसरे 'उकार' अंश के अनुदात्तस्वर से गंभीर उच्चारण के समय प्रणव की समस्थिति होने पर प्राणों का निश्चल कुम्भक नाम का क्रम हुआ ॥ १० ॥

वे प्राण बाहर भीतर अधोभाग में ऊर्ध्वभाग में और दिशाओं में न थे, वे बाँध में रुके हुए जल की तरह संक्षुब्ध थे ॥ ११ ॥

अग्नि शरीररूपी नगर को जला कर बिजली की तरह क्षण भर से शान्त हो गई, बरफ की तरह सफेद रंग वाली शरीर की भस्म दिखाई दी ॥ १२ ॥

उस समय शरीर की निश्चल एवं सफेद हड्डियाँ कपूर के चूर्ण से सुसज्जित शय्या में उचित सुख से सोई हुई के समान भावना से लक्षित हुई ॥ १३ ॥

आँधी से उड़ाई गई हड्डियों से युक्त वह भस्म श्रीमहादेवजी के भस्मधारणरूपी व्रतवाले की तरह प्रचण्ड वायु ने तपस्या से कृश शरीर की तरह अलक्ष्य अपने शरीर में उड़ाई ॥ १४ ॥

तच्चण्डपवनोद्धूतमावृत्ये गगनं क्षणात् ।
शरदीवाऽभ्रमिहिका क्वाऽपि भस्माऽस्थिमद् ययौ॥१५॥
यावदित्थमवस्थैषा प्रणवस्याऽपरे क्रमे ।
बभूव न हठादेव हठयोगो हि दुःखदः ॥ १६ ॥
ततस्तृतीयावसरे प्रणवस्योपशान्तिदे ।
पूरणात् पूरको नाम प्राणानामभवत् क्रमः ॥ १७ ॥
अस्मिन्नवसरे प्राणाश्चेतनामृतमध्यगाः ।
व्योम्नि शीतलतामीयुर्हिमसंस्पर्शसुन्दरीम् ॥ १८ ॥
क्रमाद् गगनमध्यस्थाश्चन्द्रमण्डलतां ययुः ।
धूमा गगनकोशस्थाः शीतलाम्बुदतामिव ॥ १९ ॥
कलाकलापसम्पूर्णे ते तस्मिंश्चन्द्रमण्डले ।
पुण्यराशाविवाऽऽपूर्णे रसायनमहार्णवे ॥ २० ॥
रसायनमया धाराः संपन्नाः प्राणवायवः ।
मणियष्टिसमाकारा [illegible] ॥ २१ ॥
सा पपाताऽम्बराद्धारा शेषे शरीरभस्मनि ।
रसायनी हरशिरःपतितेव सुरापगा ॥ २२ ॥
उदभूदिन्दुबिम्बाभं चतुर्बाहुवपुस्तया ।
प्रस्फुरन्मन्दरादब्धेः पारिजात इव द्रुमः ॥ २३ ॥
उद्दालकशरीरं तन्नारायणतयोदितम् ।
प्रफुल्लनेत्रवक्त्राब्जमाबभौ दीप्तिसुन्दरम् ॥ २४ ॥
रसायनमयाः प्राणास्तच्छरीरमपूरयन् ।
सलिलौघा इव सरो वृक्षं मधुरसा इव ॥ २५ ॥
अन्तःकुण्डलिनीं प्राणाः पूरयामासुरादृताः ।
चक्रानुवर्तप्रसृतां पयांसीव सरिद्वराम् ॥ २६ ॥
प्रकृतस्थं बभूवाऽस्य तच्छरीरं द्विजन्मनः ।
प्रावृट्शरीरविगमे धौतं तलमिवाऽवनेः ॥ २७ ॥

प्रचण्ड वायु से उड़ाई हुई वह हड्डियों से मिली हुई भस्म क्षणभर आकाश को ढक कर शरद् ऋतु की बदली की तरह कहीं चली गई ॥ १५ ॥

इस प्रकार यह जितनी भी अवस्था प्रणव के दूसरे अंश में अर्थात् कुम्भकक्रम में हुई सब भावना द्वारा ही हुई हठ से नहीं हुई, क्योंकि हठयोग दुःखद होता है ॥ १६ ॥

इसके बाद प्रणव के उपशान्तिप्रद तृतीय मकारक्रम में अर्थात् मकारोच्चारण के समय में पूरण करने के कारण प्राणों का 'पूरक' नाम का क्रम उत्पन्न हुआ ।

यद्यपि रेचक, कुम्भक और पूरक समग्र प्रणव के ही साधन प्रसिद्ध हैं तथापि रेचक में प्रथम भाग का ही विस्तार किया जाता है, कुम्भक में मध्यभाग का और पूरक में अन्तिम भाग का क्योंकि कण्ठ से निकलते हुए प्राणवायु से कण्ठस्थानीय अकार भाग की ही अभिव्यक्ति होती है, संकुचित हो रहे ओष्ठों से उकार भाग की और ओष्ठों के सम्पुटित होने पर मकार भाग की अभिव्यक्ति के समय प्राणवायु के पुनः प्रवेश करने पर भी उसमें प्रणव के संस्कार का ही अनुवर्तन होता है ॥ १७ ॥

इस अवसर में, जीव चैतन्य में अर्थात् जीवात्मा में भावना द्वारा भावित अमृत के ब्रह्म के मध्य में गये हुए प्राणों ने हिम के स्पर्श की तरह सुन्दर शीतलता प्राप्त की ॥ १८ ॥

उसी प्रकार आकाश के मध्य में स्थित प्राण क्रम से उसी प्रकार चन्द्र-मण्डलता को प्राप्त किया जिस प्रकार गगन कोष में स्थित कुहरा शीतल हमें हो जाता है ॥१९॥

अमृतमय कलाओं के समूह से भली-भाँति पूर्ण एवं धर्म मेघाख्य समाधि की तरह आह्लाद से भरे हुए, रसायन महासागर रूपी उस चन्द्र-मण्डल में प्राणवायु उसी तरह अमृतमय किरणों की धारा बन गयी। जिस प्रकार गवाक्ष में (झरोखे में) गई हुई चन्द्र किरणें स्फटिक दण्डाकार हो जाती हैं ॥ २०–२१ ॥

प्राणों की वह अमृतमय धारा शेष बचे हुए शरीर के भस्म पर आकाश से उसी प्रकार गिरी जिस प्रकार महादेव शी के सिर पर असृतमय गङ्गा की धारा गिरती है ॥ २२ ॥

अमृतमय धारा चन्द्रबिम्ब की तरह कान्ति वाला चार भुजाओं से युक्त शरीर उसी प्रकार उत्पन्न हुआ जिस प्रकार मथन करने से चञ्चल मन्दराचल वाले समुद्र से पारिजात वृक्ष उत्पन्न हुआ था ॥ २३ ॥

नारायण रूप से प्रादुर्भूत एवं मुख बाला सुन्दर कान्तिमय उद्दालक का कमल की तरह खिले हुए नेत्र एवं प्रसन्न शरीर अतिशय सुशोभित हुआ ॥ २४ ॥

अमृतमय प्राणों ने उनके शरीर को वैसे ही सर्वाङ्ग-पूर्ण बना दिया जैसे जल का समुदाय सरोवर को एवं वसन्त ऋतु में कोमल पत्तों को पैदा करने वाले पार्थिव रस वृक्ष को सर्वाङ्गपूर्ण बना देते हैं ॥ २५ ॥

प्राणों ने अन्दर कुण्डलिनी को वैसे ही पूर्ण किया जैसे चक्राकार भँवरों से बह रही श्रीगङ्गाजी को जल पूर्ण करते हैं ॥ २६ ॥

ब्राह्मण का शरीर भी दहन, प्लावन आदि की भावना से कालुष्यरहित होकर वैसे ही प्रकृत समाधिरूप कार्य में स्थित हो गया जैसे शरद ऋतु में अन्तिम वृष्टि से धुला हुआ और शीघ्र सूखा हुआ पृथिवीतल वर्षा काल

अथ पद्मासनगतः कृत्वा देहे स्थितिं दृढम् ।
आलान इव मातङ्गं निबद्धयेन्द्रियपञ्चकम् ॥ २८ ॥
निर्विकल्पसमाध्यर्थं व्यवसायमुपाददे ।
स्वभावं स्वच्छतां नेतुं शरत्काल इवाऽमलम् ॥ २९ ॥
प्रशान्तवातहरिणमाशादिगणगामिनम् ।
चिन्तया हृदयं निन्ये दूराद्रज्ज्वेव कीलकम् ॥ ३० ॥
धावमानमधो मत्तं चित्तं विमलमाकुलम् ।
बलात् संरोधयामास सेतुर्जलमिव द्रुतम् ॥ ३१ ॥
निमिमील दृशावर्धं परिपक्ष्मलपक्ष्मके ।
निस्पन्दतारामधुरे सन्ध्याकाल इवाऽम्बुजे ॥ ३२ ॥
सौम्यतामनयन्मौनी प्राणापानजवं मुखे ।

के कीचड़ आदि के नष्ट हो जाने पर निर्मल हो जनता के यातायात आदि कार्य के योग्य हो जाता है ॥ २७ ॥

इसके बाद पद्मासन लगाकर उस भावमय शरीर में दृढ़ता से स्थित होकर उद्दालक मुनि ने जिस प्रकार बन्धन स्तम्भ में हाथी को बांधते हैं उसी प्रकार देह में पाँचों इन्द्रियों को बाँधकर निर्विकल्पक समाधि के लिए तथा मन को, जिसमें प्राणायाम द्वारा प्राणवायुरूपी मृग शान्त हो चुके थे और जो आशा, लोभ, तृष्णा, उत्कण्ठा प्रतीक्षा आदि के पीछे-पीछे दौड़ने वाला था, स्वच्छ बनाने के लिए ऐसे उद्योग किया जैसे कि शरत्काल शान्त मृगवाले तथा दिशाओं में फैले हुए अपने निर्मल स्वभाव को स्वच्छ करने के लिए उद्योग करता है। परन्तु इस अवस्था में जिस प्रकार ढीले गढ़े हुए अश्व आदि के बाँधने के खूँटे को अश्व आदि से खींची गई रस्सी उखाड़कर खींच लेती है उसी प्रकार पूर्वानुभूत घर, खेत, पुत्र, मित्र आदि की चिन्ता ने उनके मन को दूर आकृष्ट किया ॥ २८-३० ॥

उन्होंने गृह, पुत्र, मित्र आदि क्षुद्र विषयों में भागते हुए उन्मत्त व्याकुल मन को विवेक बल से वैसे ही निर्मल बना कर रोक दिया जैसे अतिशीघ्रता से बह रहे जल को पुल अर्थात् बाँध रोक देता है ॥ ३१ ॥

उन्होंने निश्चल पुतलियों से मनोहर एवं दोनों पलकों के मिलने से सघन केशों से युक्त पक्ष्मों वाले नेत्र को वैसे ही निमीलित किया जैसे संध्याकाल निश्चल आँख की पुतली के भ्रमरों से युक्त कमलों को संकुचित कर देता है ॥ ३२ ॥

ऋषी ने मौनी होकर प्राण, अपान के वेग को वैसे ही मुख में क्षोभ, वैषम्य आदि से रहित कर दिया जैसे

श्वसनं श्रेयसे देशे प्रशस्तः समयो यथा ॥ ३३ ॥
तिलेभ्य इव तैलानि पृथक् चक्रे प्रयत्नतः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः कूर्मोऽङ्गानीव गोपयन् ॥ ३४ ॥
बाह्यस्पर्शानशेषेण जहौ दूरे स धीरधीः ।
सहसा कुण्डकच्छन्नो मणिर्दूरत्विषो यथा ॥ ३५ ॥
विलीनानान्तरांश्चक्रे स्पर्शानुज्झितदर्शनात् ।
रसान् विटपकोशस्थान् मार्गशीर्ष इव द्रुमः ॥ ३६ ॥
रुरोध गुदसंकोचान्नवद्वारानिलानथ ।
मुखसंस्थगितः कुम्भो रन्ध्रकोशानिवेतरान् ॥ ३७ ॥
स्वात्मरत्नप्रकाशाढ्यां स्पष्टां कुसुमलाञ्छिताम् ।
दधार कन्धरां धीरो मेरुः शृङ्गशिखामिव ॥ ३८ ॥

चक्रवर्ती का प्रशस्त जन्म समय जगत् का कल्याण सूचित करने के लिए शीतल, मन्द और सुगन्ध वायु को उनके जन्म देश में सम अर्थात् न अतिवेग से और न अतिमन्द चाल से बहाता है ॥ ३३ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गों एवं इन्द्रियों को छिपाता है वैसे ही इन्द्रियों को छिपाते हुए उन्होंने प्रयत्न द्वारा इन्द्रियों को विषयों से उसी प्रकार पृथक् कर दीं जिस प्रकार तिलों से तैल पृथक् किया जाता है ॥ ३४ ॥

समस्त विषयों को उस धीर बुद्धि वाले ने वैसे ही सहसा दूर छोड़ दिया जैसे छोटे कुण्डे से सहसा ढकी हुई मणि दूर तक फैली हुई किरणों को छोड़ देती है ॥ ३५ ॥

उन्होंने समस्त वस्तुओं का दर्शन छूट जाने से मनोवासनारूप आभ्यन्तरिक विषयों का आकर्षण द्वारा बाध होने से वैसे ही अधिष्ठानतत्त्व में विलीन कर दिया जैसे वृक्ष पत्रों के कोश में स्थित रस को अर्थात् जल को मार्गशीर्ष में नष्ट कर देता है ॥ ३६ ॥

उन्होंने मूलाधार के अवरोध से एड़ी के द्वारा मल-द्वार के संकोच से नौ द्वारों से निकलने वाली वायुओं को वैसे ही रोक दिया जैसे मुख में कसकर बाँधा हुआ जल पूर्ण अधोमुख घड़ा अन्दर वायु के प्रवेश के बिना दूसरे छिद्रों से जल के न चूने से इतर रन्ध्रकोशों को रोकता है ॥ ३७ ॥

उस धीर ने अपने आत्मरूपी रत्न के प्रकाश से प्रकाशित तथा प्रसन्न मुखरूपी कमल पुष्प से सुशोभित एवं रजोगुण तथा तमोगुण अनावृत कन्धे को वैसे ही धारण किया जैसे मेरु अपने रत्नों के प्रकाश से पूर्ण एवं कल्पवृक्षों के पुष्पों से सुशोभित विशद शिखर को धारण करता है ॥ ३८ ॥

बभार हृदयाकाशे मनः संयममागतम् ।
विन्ध्यखात इवोन्मत्तं गजं युक्तिवशीकृतम् ॥ ३९ ॥
शरन्नभोवदासाद्य निर्मलामतिसौम्यताम् ।
जहार परिपूर्णाब्धेर्निर्वातस्याऽचलां श्रियम् ॥ ४० ॥
दुधावऽतिविकल्पौघान् प्रतिभासमुपेयुषः ।
पुरः परिस्फुरद्रूपान् मशकानिव मारुतः ॥ ४१ ॥
आगच्छतो यथाकामं प्रतिभासान् पुनः पुनः ।
अच्छिनन्मनसा शूरः खड्गेनेव रणे रिपून् ॥ ४२ ॥
विकल्पौघे परालूने सोऽपश्यद्धृदयाम्बरे ।
तमश्छन्नविवेकार्कं लोलकज्जलमेचकम् ॥ ४३ ॥
तमप्युन्मार्जयामास सम्यक्स्वान्तविवस्वता ।

उन्होंने एक विषय में धारणा-ध्यान-समाधिरूप संयम के प्रति आकृष्ट एवं प्रत्याहाररूप उपायों से वश में किये हुए मन को हृदयाकाश में वैसे ही धारण किया जैसे हाथी पकड़ने वाले लोग विन्ध्याचल के गड्ढे में युक्तियों से वश में किये हुए उन्मत्त हाथी को पकड़ लेते हैं ॥ ३९ ॥

उन्होंने क्षोभ आदिविहीनता को प्राप्त कर निर्वात एवं परिपूर्ण समुद्र की अचल शोभा को वैसे ही हर लिया जैसे शरदृतु में आकाश निर्मल सौम्यता को प्राप्त करता है ॥ ४० ॥

ब्रह्माकारचित्तवृत्ति में विक्षेप करने के लिए विपरीत भावना से उठे हुए विकल्पों को उन्होंने वैसे ही दूर भगा दिया अर्थात् नष्ट कर दिया जैसे सामने उड़ते हुए मच्छरों को वायु दूर उड़ा ले जाता है ॥ ४१ ॥

आत्मज्ञानी उद्दालक ने अपनी इच्छानुसार बार-बार आ रहे भावनाजन्य मिथ्यावासना से उत्पन्न विकल्पों को दृढ़ मन के द्वारा वैसे ही नष्ट कर दिया जैसे शूरवीर पुरुष सामने आये हुए शत्रुओं को रण में तलवार से काट डालता है ॥ ४२ ॥

विकल्पों के समूह का उच्छेद हो जाने पर उन्होंने अपने हृदयाकाश में चञ्चल कज्जल की तरह काले तमोगुण को अधिकता से उत्पन्न विवेकरूपी सूर्य को आच्छन्न करने वाले अन्धकार को देखा ॥ ४३ ॥

उन्होंने पवन से कज्जल के समान सत्त्वगुण के उद्रेक से उदित ज्ञानरूपी प्रकाश वाले अन्तःकरण रूपी सूर्य से उस तमोगुण रूपी अन्धकार को भी शीघ्र अच्छी तरह नष्ट कर दिया ॥ ४४ ॥

उद्दालक ने तमोगुणरूपी अन्धकार के शान्त हो जाने

सम्यग्ज्ञानोदितेनाऽऽशु पवनेनेव कज्जलम् ॥ ४४ ॥
तमस्युपरते कान्तं तेजःपुञ्जं ददर्श सः ।
शार्वरे तिमिरे शान्ते प्रातः सन्ध्यामिवाऽम्बुजम् ॥४५॥
तल्लुलाव स्थलाब्जानां वनं बाल इव द्विपः ।
अपिबच्चाऽप्यसृक्पूरं वेताल इव वेगतः ॥ ४६ ॥
तेजस्युपरते तस्य घूर्णमानं मनो मुनेः ।
निशाब्जवदगान्निद्रां लोलं क्षीबवदेव वा ॥ ४७ ॥
मेघमालामिव मरुद् व्यालो नीलाब्जिनीमिव ।
यामिनीमिव तीक्ष्णांशुस्तामप्याशु लुलाव सः ॥ ४८ ॥
निद्राव्यपगमे तस्य भावयामास तन्मनः ।
व्योमश्यामलदृग्जन्तुर्नभसीव शिखण्डकान् ॥ ४९ ॥

पर मनोहर तेज के समूह को वैसे ही देखा जैसे रात्रि-सम्बन्धी अन्धकार के शान्त हो जानेपर कमल उदित हो रहे सूर्य से युक्त प्रातःसन्ध्या को देखता है, आशय यह है कि उन्हें सत्त्वगुण के अनुरूप तेजःपुञ्ज का भ्रम हुआ ॥४५॥

उन्होंने उस भ्रम को वैसे ही नष्ट कर दिया जैसे हाथी का बच्चा स्थलकमलों के वन को छिन्न-भिन्न कर देता है।

जैसे पिशाच वर्तन में भरे हुए रक्त को अत्यन्त वेग से क्षणभर में पी जाता है वैसे ही वे तेजःपुञ्जात्मक भ्रम को शीघ्र पी गये। आशय यह है कि अधिष्ठान तत्त्व का साक्षात्कार होने से उसका बाध हो गया, रजोगुणादि द्वारा तेजःपुञ्ज का नाश नहीं हुआ ॥ ४६ ॥

उस मुनि का चञ्चल और घूरता हुआ मन तेजःपुञ्ज के उपरत होनेपर विषय का लाभ न होने से वैसे ही निद्रा में डूब गया जैसे सूर्य के अस्त होने पर रात्रि में तालाब की तरङ्गों से चञ्चल कमल बन्द हो जाता है या उन्मत्त घूरता हुआ शराबी रात्रि में नशे से निद्रा को प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

उस मुनि ने उस निद्रा को भी वैसे ही शीघ्र छिन्न-भिन्न कर दिया जैसे वायु मेघपङ्क्ति को, दुष्ट हाथी नील कमलिनी को और सूर्य रात्रि को छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ ४८ ॥

उनके मन ने निद्रा का नाश होने पर वैसे आकाश नानारूप वाला है ऐसी भावना की जैसे सूर्य की धूप की और दृष्टि लगाये हुए पुरुष को आकाश में बालों के गोले, मयूर आदि के पुच्छ की तरह चमचमाहट प्रतीत होती है ॥ ४९ ॥

पयोद इव तापिच्छं नीहारमिव मारुतः ।
दीपस्तम इवाऽच्छात्म तदप्याशु ममार्ज सः ॥ ५० ॥
व्योमसंविद्विनष्टायां मूढं तस्याऽभवन्मनः ।
निद्रायां तु विलीनायां मैरेयमदवानिव ॥ ५१ ॥
मोहमप्येष मनसस्तं ममार्ज महाशयः ।
यामिनीजनितं जाड्यं भुवनादिव भास्करः ॥ ५२ ॥
ततस्तेजस्तमोनिद्रामोहादिपरिवर्जितम् ।
कामप्यवस्थामासाद्य विशश्राम मनः क्षणम् ॥ ५३ ॥
विश्रम्याऽऽशु पपाताऽङ्ग संविदं विश्वरूपिणीम् ।
सेतुरुद्धं सरोवारि प्रतीपं स्वमिवाऽऽस्पदम् ॥ ५४ ॥
चिरानुसंधानवशात् स्वदनाच्च स्वसंविदः ।
ततश्चिन्मयतामागाद्धेमनूपुरतामिव ॥ ५५ ॥
चित्तत्वमथ संत्यज्य चित्तं चित्तत्त्वतां गतम् ।

मुनि ने स्वच्छ स्वभाव वाले आकाश में देखे हुए नाना रूपों को भी वैसे ही नष्ट कर दिया जैसे मेघ तमाल पुष्प को, वायु कुहरे को और दीपक अन्धकार को नष्ट कर देता है ॥ ५० ॥

आकाश के भ्रमात्मक ज्ञान का नाश होने पर उस मुनि का मन वैसे ही मूढ़ अर्थात् मोहाक्रान्त हो गया जैसे निद्रा-भङ्ग हो जाने पर शराबी विक्षिप्त के समान हो जाता है ॥ ५१ ॥

इस विवेकी ने उस मोह को वैसे ही मन से हटा दिया जैसे सूर्य संसार से रात्रि द्वारा उत्पन्न अन्धकार को हटा देता है ॥ ५२ ॥

इसके बाद तेज, अन्धकार, निद्रा, मोह आदि से रहित मन किसी अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त कर क्षण भर के लिए विश्रान्त हुआ अर्थात् निर्विकल्पक समाधि को प्राप्त कर क्षण भर के लिए शान्त हो गया ॥ ५३ ॥

नहर द्वारा खेत में पहुँचाया गया सरोवर का जल खेत को भर कर पुल अर्थात् बाँध से रुककर मन क्षण भर विश्रान्त होकर पुनः शीघ्र बाह्यप्रपञ्चाकार वृत्ति को वैसे ही प्राप्त हो गया जैसे नहर द्वारा लौट कर उलटे प्रवाह से फिर स्थान पर सरोवर में आ जाता है ॥ ५४ ॥

उसके बाद पूर्व में ध्यानादि चिरकाल तक किये गये अनुसन्धानवश और समाधि में किये गये अनुभव द्वारा रसास्वाद के कारण फिर वहीं आकृष्ट मन चिदाकारवृत्ति को वैसे ही प्राप्त हो गया, अर्थात् चिदंशप्रधान सविकल्प समाधि के रूप में परिणत हो गया जैसे सुवर्ण नूपुरभाव को प्राप्त करता है अर्थात् नूपुराकार में परिणत हो जाता है ॥ ५५ ॥

अन्यदेव बभूवाऽऽशु पङ्कः कुम्भस्थितो यथा ॥ ५६ ॥
चेत्यं संत्यज्य चिच्छुद्धा चित्सामान्यमथाऽऽययौ ।
त्यक्तवीच्यादिभेदोऽब्धिर्वाः सामान्यमिवैकधीः ॥ ५७ ॥
त्यक्तभूतौघमननं ततो विश्वम्भरं महत् ।
चिदाकाशं ततः शुद्धं सोऽभवद् बोधमागतः ॥ ५८ ॥
तत्र प्रापदथाऽऽनन्दं दृश्यदर्शनवर्जितम् ।
अनन्तमुत्तमास्वादं रसायनमिवाऽर्णवम् ॥ ५९ ॥
शरीरात् समवेतोऽसौ कामप्यवनिमागतः ।
सत्तासामान्यरूपात्मा बभूवाऽऽनन्दसागरः ॥ ६० ॥
द्विजचेतनहंसोऽसावानन्दसरसि स्थितः ।
अतिष्ठच्छरदच्छे खे कलापूर्ण इवोडुपः ॥ ६१ ॥
बभूवाऽवातदीपाभो लिपिकर्मार्पितोपमः ।
वीतवीच्यम्बुधिप्रख्यो वृष्टमूकाम्बुदस्थितिः ॥ ६२ ॥

इसके बाद अपने चित्तत्व को छोड़कर आत्मतत्त्वरूप एकरसता को प्राप्त हुआ उनका चित्त पूर्व अवस्था से वैसे ही भिन्न ही हो गया अर्थात् अधिष्ठानचित्तत्व में लीन हो गया जैसे घड़े में स्थित पङ्किल जल का पङ्क जल के सूख जाने पर घट से सम्बद्ध हो जाता है ॥ ५६ ॥

एकरसाकार बुद्धिवाला वह प्रतिबिम्बवृत्त्याकार को छोड़कर शुद्ध चित् स्वप्रकाशात्मक ब्रह्म सर्वसाक्षिचित्सा-मान्यरूप को वैसे ही प्राप्त हो गया जैसे तरंग आदि के भेद को छोड़ता हुआ समुद्र जलसामान्यरूप को प्राप्त हो जाता है ॥ ५७ ॥

अनन्तर उस समाधि से तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर उद्दा-लक मुनि द्वैत के प्रतिभास से रहित होकर जगत् के अधिष्ठानभूत शुद्धस्वरूप महत् चिदाकाश हो गये ॥ ५८ ॥

अनन्तर उद्दालक ने अमृत के गृहस्वरूप समुद्र की तरह बाह्य प्रपञ्च के दर्शन से रहित होकर ब्रह्मादि उत्तम प्रकृतिवालों से आस्वादित निरतिशय आनन्द को वहाँ प्राप्त किया ॥ ५९ ॥

उद्दालक ऋषि शरीर से पृथक् हो शुद्ध के समान अनिर्वचनीय अवस्थिति को प्राप्त कर सन्मात्रस्वभावरूप होकर आनन्द के सागर हो गये ॥ ६० ॥

द्विज चेतनात्मा उद्दालक आनन्दरूपी सरोवर में हंस की तरह वैसे ही स्थित हुए जैसे शरद् ऋतु के स्वच्छ आकाश में समस्त कलाओं से परिपूर्ण चन्द्रमा स्थित होता है ॥६१॥

वह उद्दालक ऋषि निर्वातदीपक के समान कान्ति वाले, चित्रलिखित के समान अनन्यमनस्क, निस्तरङ्ग समुद्र के सदृश गम्भीर एवं वृष्टि करने के बाद में निर्जल और मूक मेघ की स्थिति के समान स्थिति वाले हो गये ॥६२॥

अथैतस्मिन् महालोके तिष्ठन्नुद्दालकश्चिरम् ।
अपश्यद् व्योमगान् सिद्धानमरानपि भूरिशः ॥ ६३ ॥
आगतानि विचित्राणि सिद्धिजालानि चाऽभितः ।
शक्रार्कपददातॄणि नीरन्ध्राण्यप्सरोगणैः ॥ ६४ ॥
तानि नाऽऽदरयाञ्चक्रे सिद्धिवृन्दानि स द्विजः ।
गम्भीरमतिरक्षुब्धो विलासानिव शैशवान् ॥ ६५ ॥
सिद्धिसार्थमनादृत्य तस्मिन्नानन्दमन्दिरे ।
अतिष्ठदथ षण्मासान् दिक्तटेऽर्क इवोत्तरे ॥ ६६ ॥
जीवन्मुक्तपदं तत्तद्यावत् संप्राप्तवान् द्विजः ।
तत्र सिद्धाः सुराः साध्याः स्थिता ब्रह्महरादयः ॥ ६७॥
आनन्दे परिणामित्वादनानन्दपदं गतः ।
नाऽऽनन्दे न निरानन्दे ततस्तत्संविदाबभौ ॥ ६८ ॥
क्षणं वर्षसहस्रं वा तत्र लब्ध्वा स्थितिं मनः ।

अनन्तर इस महालोक में परम पद में चिरकालतक स्थित या इस महाप्रकाश में चिरकालतक स्थित उद्दालक ऋषि ने आकाश में चलने वाले बहुत से सिद्ध और देवताओं को देखा ॥ ६३ ॥

वहाँ उनके चारों ओर इन्द्रपद और सूर्यपद देनेवाले और अप्सरओं से निविड़ सिद्धियों के बहुत से विचित्र गण भी आ गये ॥ ६४ ॥

क्षोभरहित गम्भीर बुद्धि वाले उद्दालक ने उन सिद्धिगणों का वैस ही आदर नहीं किया जैसे गंभीर बुद्धि उदार पुरुष बच्चों के विलास के साधन खिलौनों का आदर नहीं करता ॥ ६५ ॥

उत्तरायण के आधार दिशा भाग में सूर्य जिस प्रकार छः मास तक रहता है उसी प्रकार उद्दालक उस आनन्द-मन्दिर रूप समाधि में सिद्धियों के गणों का अनादर करके छः महीने तक स्थित रहे ॥ ६६ ॥

सर्वोत्कृष्ट सप्तमभूमिका में स्थितिरूप जीवन्मुक्तपद को प्राप्त करने के बाद उनके पास सिद्ध, सुर, गणदेवता, ब्रह्मा, महादेव आदि सब वहाँ उपस्थित रहे ॥ ६७ ॥

आनन्द में चित्त का रसास्वादलक्षण परिणाम न होने से उस उद्दालक ने 'निरानन्द' पद को प्राप्त किया; अतः उनका संविदात्मचैतन्य विषयी मनुष्यों की तरह न क्षुद्र आनन्द में रहा और न दुःख में ही रहा, वरन् स्वप्रकाशैकरसपूर्ण हो गया ॥ ६८ ॥

क्षणभर अथवा हजार वर्षतक उक्त स्थिति को प्राप्त कर भोगसामग्री में वैसे ही प्रेम नहीं करता जैसे जिस

रतिमेति न भोगौघे दृष्टस्वर्ग इवाऽवनौ ॥ ६९ ॥
तत्पदं सा गतिः शान्ता तच्छ्रेयः शाश्वतं शिवम् ।
तत्र विश्रान्तिमाप्तस्य भूयो नो बाधते भ्रमः ॥ ७० ॥
तत्पदं साधवः प्राप्य दृश्यदृष्टिमिमां पुनः ।
नाऽऽयान्ति खदिरोद्यानं लब्धचैत्ररथा इव ॥ ७१ ॥
तां महानन्दपदवीं चित्तादासाद्य देहिनः ।
दृश्यं न बहु मन्यन्ते राजानो दीनतामिव ॥ ७२ ॥
चेतस्तत्पदविश्रान्तं बुद्धं दृश्यदशां प्रति ।
कदर्थाद् बोधमायाति नाऽऽयात्येवाऽथवाऽनघ ! ॥ ७३ ॥
उद्दालकोऽत्र षण्मासान् दूरोत्सारितसिद्धिभूः ।
उषित्वोन्मिषितोम्भोदकोशादर्को मधाविव ॥ ७४ ॥
ददर्श संप्रबुद्धात्मा पुनः परमतेजसः ।
प्रणामलालसाः स्निग्धाश्चन्द्रबिम्बवपुर्धराः ॥ ७५ ॥

पुरुष ने स्वर्ग देख लिया उसका प्रेम पृथिवी पर किसी भोगसामग्री में नहीं होता ॥ ६९ ॥

बह सर्वोत्कृष्ट पद ही सर्वोत्कृष्ट शान्त गति वही शाश्वत कल्याणकर और वह शिव है, वहाँ पर विश्रान्ति को प्राप्त मनुष्यों को पुनः भ्रम बाधा नहीं पहुँचाता है ॥ ७० ॥

सन्त पुरुष ब्रह्मसाक्षात्कार कर इस बाह्य प्रपञ्चात्मक दृष्टि को वैसे ही फिर प्राप्त नहीं करता है जैसे जो पुरुष चैत्ररथ (कुबेर का उद्यान) प्राप्त कर लेता है वह खदिर के (खैर के) उद्यान में नहीं जाता है ॥ ७१ ॥

श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि द्वारा परिष्कृत चित्त से महाआनन्द पदवी को प्राप्त कर जीव दृश्य का वैसे ही आदर नहीं करते जैसे राजगण दीनता को कुछ नहीं गिनते ॥ ७२ ॥

हे निष्पाप ! उस पद में विश्रान्ति की प्राप्ति और बोध की प्राप्ति के बाद चित्त पृष्ठ भूमिका में दूसरों के महाप्रयत्न से समाधिव्युत्थान दशा के प्रति बोध को प्राप्त करता है या सप्तम भूमिका में उसको प्राप्त नहीं करता है ॥ ७३ ॥

जिस प्रकार सूर्य चैत्र मास में कुहरे से दूर रहता है उसी प्रकार समाधि में छः महीने वास कर समाधि से जागकर उन्होंने परम तेजस्विनी, प्रणाम करने की लालसा वाली तथा चन्द्रबिम्ब के सदृश शरीर को धारण किये हुई स्नेह युक्त रमणियों को देखा ॥ ७४–७५ ॥

रमणीगौरमन्दाररेणुभ्रमरचामराः ।
स्फुरत्पताकापटला द्युविमानपरम्पराः ॥ ७६ ॥

अस्मदादीन् मुनीन् दर्भपवित्राङ्ककराम्बुजान् ।
विद्याधरीभिर्वलितान् विद्याधरपतीनपि ॥ ७७ ॥

ते तमूचुर्महात्मानमुद्दालकमुनिं तथा ।
प्रसादेन प्रणामान्नो भगवन्नवलोकय ॥ ७८ ॥

आरुह्येदं विमानं त्वमेहि त्रैविष्टपं पुरम् ।
स्वर्ग एव हि सीमान्तो जगत्संभोगसंपदाम् ॥ ७९ ॥

आकल्पमुचितान् भुङ्क्ष्व भोगानभिमतान् विभो ! ।
स्वर्गादिफलभोगार्थमेवाऽशेषतपःक्रियाः ॥ ८० ॥

हारचामरधारिण्यो विद्याधरवराङ्गनाः ।
पश्येमास्त्वामुपासीनाः करिण्यः करिणं यथा ॥ ८१ ॥

कामो धर्मार्थयोः सारः कामसाराः सुयोषितः ।
वसन्त इव मञ्जर्यः स्वर्ग एव भवन्ति ताः ॥ ८२ ॥

गौर मन्दार पुष्पों की धूलि से धूसरित भ्रमरों से और चँवरों से युक्त फहराती हुई पताकाओं के समूह वाली दिव्य विमानों की पङ्क्तियों को देखा ॥ ७६ ॥

करकमल में कुशा की पवित्री के चिह्न वाले हमारे जैसे मुनियों को और विद्याधरियों को सहित विद्याधरों के अधिपतियों को भी देखा ॥ ७७ ॥

उन सबने उन महात्मा उद्दालक मुनि से कहा—हे भगवन् ! आप हमारे प्रणाम से अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से हमको देखें ॥ ७८ ॥

इस विमानपर चढ़कर देवताओं के नगर स्वर्ग को चलिये, क्योंकि संसार के उपभोगों की अन्तिम सीमा स्वर्ग ही है ॥ ७९ ॥

हे विभो ! प्रलयपर्यन्त अपने वाञ्छित और उचित भोग्यपदार्थों का उपभोग करें, क्योंकि समस्त तपस्याएँ स्वर्गादिरूप फल के भोगने के लिए ही होती हैं ॥ ८० ॥

उसी प्रकार हार एवं चँवरों को धारण किये हुई गन्धर्वललनाएँ आप की उपासना करती हुईं वैसे ही खड़ी हैं, जैसे हाथियों के चारों ओर हथिनियाँ उसकी उपासना करती हैं, कृपया इनको देखें ॥ ८१ ॥

धर्म और अर्थ दोनों का सार काम है और काम का सार सुन्दर युवतियाँ हैं। ये वराङ्गनाएँ बसन्त में मञ्जरी के समान स्वर्ग में ही होती हैं ॥ ८२ ॥

वह मुनि इस प्रकार कह रहे इन सब अतिथियों की

एवं कथयतः सर्वानतिथीनित्यसौ मुनिः ।
परिपूज्य यथान्यायमतिष्ठद् गतसंभ्रमम् ॥ ८३ ॥

नाऽभ्यनन्दन्न तत्याज तां विभूतिं स धीरधीः ।
भो सिद्धा व्रजतेत्युक्त्वा स्वव्यापारपरोऽभवत् ॥ ८४ ॥

अथ स्वधर्मनिरतं भोगेष्वरतिमागतम् ।
तमुपास्य ययुः सिद्धा दिनैः कतिपयैः स्वयम् ॥ ८५ ॥

जीवन्मुक्तः स च मुनिर्विजहार यथासुखम् ।
यावदिच्छं वनान्तेषु मुनीनामाश्रमेषु च ॥ ८६ ॥

मेरुमन्दरकैलासहिमवद्विन्ध्यसानुषु ।
द्वीपोपवनदिक्कुञ्जजङ्गलारण्यभूमिषु ॥ ८७ ॥

ततःप्रभृति संप्राप्तपदमुद्दालको द्विजः ।
गुहासु गिरिकुक्षीणामवसद् ध्यानलीलया ॥ ८८ ॥

कदाचिदह्ना मासेन कदाचिद् वत्सरेण च ।
कदाचिद् वत्सरौघेण ध्यानासक्तो व्यबुध्यत ॥ ८९ ॥

यथोचित पूजा करके मिथ्यात्व आदि के निश्चय से अर्थात् स्वर्ग और स्वर्ग के विविध भोग मिथ्या हैं इस निश्चय से बिना किसी प्रकार के कौतूहल से बैठे रहे ॥ ८३ ॥

उस धीरमति मुनि ने गन्धर्वललनाएँ आदि विभूतियों का न तो अभिनन्दन किया और न त्याग ही किया अर्थात् उनसे उदासीन रहे और हे सिद्धों ! आप लोग जाएँ, ऐसा कहकर फिर अपनी समाधि में लग गये ॥ ८४ ॥

अनन्तर अपने धर्म में निरत भोगों से विरक्त उद्दालक मुनि की चिरकाल तक प्रतीक्षा, प्रणाम, प्रशंसा आदि द्वारा उपासना कर सिद्ध लोग कुछ दिनों के बाद स्वयं चले गये ॥ ८५ ॥

जीवन्मुक्त उस मुनि ने वनों में और मुनियों के आश्रमों में सुखपूर्वक यथेच्छ विहार किया ॥ ८६ ॥

मेरु, मन्दराचल, कैलास, हिमालय और विन्ध्याचल को चोटियों पर और द्वीप, उपवन, दिशा. कुञ्ज, जङ्गल और अरण्यभूमि—इन सब में यथेच्छ विहार किया ॥ ८७ ॥

उस समय से उद्दालक द्विज ध्यानरूपी लीला से पर्वतों की भीतर की गुफाओं में परमपदप्राप्तिपूर्वक रहने लगे ॥ ८८ ॥

समाधिस्थ मुनि कभी एक दिन में, कभी एक महीने में, कभी एक वर्ष में और कभी कई वर्षों में समाधि से जागते थे ॥ ८९ ॥

उद्दालकस्तदारभ्य व्यवहारपरोऽपि सन् ।
सुसमाहित एवाऽसौ चित्तत्त्वैकत्वमागतः ॥ ९० ॥
चित्तत्त्वैकघनाभ्यासान्महाचित्त्वमुपेत्य सः ।
बभूव सर्वत्र समस्तेजः सौरमिवाऽवनौ ॥ ९१ ॥
चित्सामान्यचिराभ्यासात् सत्तासामान्यमेत्य सः ।
दृश्येऽस्मिंश्चित्ररविवन्नाऽस्तमायान्न चोदयम् ॥ ९२ ॥
शमपरपदलाभप्राप्तिसंशान्तचेता
गलितजननपाशः क्षीणसन्देहदोलः ।
शरदि खमिव शान्तं व्याततं चोर्जितं च
स्फुटममलमचेतस्तद्वपुः संबभार ॥ ९३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे उद्दालकविश्रान्तिर्नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

उस समय से उद्दालक मुनि व्यवहार काल में भी चिद्भावरूप एकत्व को प्राप्त कर समाहितचित्त ही रहते थे। अर्थात् व्यावहारिक दशा में भी ध्यानस्थ ही रहते थे ॥ ९० ॥

अन्तःकरण वृत्ति के अनुगत और उसके साक्षी चिद्मात्र के निरन्तर साक्षात्कार रूपी समाधि के अभ्यास से अपरिच्छिन्न चिद्भाव को प्राप्त वह मुनि सर्वत्र राग-द्वेष शून्य और करुणा से अविषम ब्रह्मभाव के दर्शन से वैसे ही सम रहे जैसे पृथिवी पर सूर्य का तेज सर्वत्र सम रहता है ॥ ९१ ॥

चित्सामान्य के निरन्तर अभ्यास के कारण सत्ता-सामान्य को प्राप्त कर अर्थात् दृश्य और उसके संस्कार का मूलोच्छेद होने पर उसके प्रथनरूपचित्त्वव्यवहार का उपरम होने से स्वप्रकाशात्मक निरतिशय आनन्द सन्मात्रभाव का परिशेष होने के कारण सत्तासामान्य को प्राप्त कर वह मुनि चित्रस्थ सूर्य के समान इस दृश्य प्रपञ्च में न उदय को प्राप्त करते थे और न अस्त को प्राप्त करते थे ॥ ९२ ॥

विक्षेपों का उपशमन हो जाने से तथा परमपद की प्राप्ति से शान्तचित्त, जन्ममरणरूपी पाशों के विनाश से युक्त और संशयरहित उस मुनि ने शरदृतु के आकाश के समान शान्त, अपरिच्छिन्न, तेजस्वी, स्फुट प्रकाशमय, प्राक्तनदशा का अत्यन्त विस्मरण होने के कारण चित्त रहित ब्रह्मस्वभावापन्न शरीर को धारण किया। पहले की नाईं उद्दालक ने पूर्व के समान शरीर को धारण नहीं किया वरन् ब्रह्मस्वरूप हो गये ॥ ९३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में उद्दालकविश्रान्ति नामक कुसुमलता का चौवनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

५५

श्रीराम उवाच

आत्मज्ञानदिनैकार्क मत्संशयतृणानल ।
अज्ञानदाहशीतांशो सत्तासामान्यमीश किम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदा संक्षीयते चित्तमभावात्यन्तभावनात् ।
चित्सामान्यस्वरूपस्य सत्तासामान्यता तदा ॥ २ ॥

५५

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवान्! आप आत्मज्ञान रूपी दिन के लिए सूर्य स्वरूप हैं, मेरे संशय रूपी तिनके लिए अग्नि रूप हैं एवं अज्ञान से होने वाले तापत्रय सन्ताप के लिए चन्द्रमा स्वरूप हैं; अतः बतलाइये कि सत्ता सामान्य क्या है? अर्थात् सत्ता सामान्य का क्या लक्षण है? अज्ञान रूपी अन्धकार का विनाश करने में, अज्ञान प्रयुक्त संशय विपर्यय का उच्छेद करने में तथा संशय-विपर्यय प्रयुक्त सब दुःखों के उच्छेद में केवल आप ही समर्थ हैं अतएव सत्ता सामान्य का लक्षण बताने की कृपा कीजिए। यह आश्रय है गुरु के प्रति ईश्वर रूप की धारणा रखनी चाहिए यह ईश इस सम्बोधन से व्यक्त है ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जब चित् पूर्ण शुद्ध है, उसमें कुछ नहीं है, ऐसी भावना से यानी तीनों कालों में भी दृश्य वस्तुतः नहीं है यों श्रुति युक्ति और अनुभव से निरन्तर अनुसन्धान करने से चेत्यसंस्कारों का मूलोच्छेद होने पर चित्त भली-भाँति क्षीण हो जाता है तब जड़ और चेतन सब में अनुगत स्वतः सिद्ध सत्ता मात्र ही सत्ता सामान्य होता है। आशय यह है कि छठी भूमिका में चित्त के अवान्तर भेदों का परिमार्जन कर चित् सामान्य

**नूनं चेत्यांशरहिता चिद्यदात्मनि लीयते ।
असद्रूपवदत्यच्छा सत्तासामान्यता तदा ॥ ३ ॥**

**यदा सर्वमिदं किञ्चित् सबाह्याभ्यन्तरात्मकम् ।
अपलप्य वसेच्चेतः सत्तासामान्यता तदा ॥ ४ ॥**

**यदा सर्वाणि दृश्यानि सत्तासामान्यवेदनम् ।
स्वरूपेण स्वरूपाभं सत्तासामान्यता तदा ॥ ५ ॥**

**कूर्मोऽङ्गानीव दृश्यानि लीयन्ते स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
अभावितान्येव यदा सत्तासामान्यता तदा ॥ ६ ॥**

**दृष्टिरेषा हि परमा सदेहादेहयोः सदा ।
मुक्तयोः संभवत्येव तुर्यातीतपदोपमा ॥ ७ ॥**

**व्युत्थितस्य भवत्येषा समाधिस्थस्य चाऽनघ ! ।
ज्ञस्य केवलमज्ञस्य न भवत्येव बोधजा ॥ ८ ॥**

भूत चेत्याभाव की अत्यन्त भावना करने से चेत्य संस्कारों का आत्यन्तिक उच्छेद होने पर जब चित्त क्षीण हो जाता है तब स्वमात्र सत्ता से स्वतःसिद्ध हो रही परिशिष्ट चित्-अचित् दोनों में अनुगत सत्ता ही सत्ता सामान्य होती है, अर्थात् विक्षेप के हेतुभूत चित्त का अभाव होने से आत्मा की स्वरूप सत्ता ही रहती है ॥ २ ॥

सकल प्रपञ्च का बाध होने पर अन्तःकरण की वृत्तियों और वृत्ति के विषयों से रहित होकर समस्त वृत्तियों में प्रतिबिम्बित चैतन्य का स्वात्मा में अर्थात् बिम्ब चैतन्य में लीन होने पर उस बिम्ब की असत् रूप के समान अर्थात् आकाश के स्वच्छ सत्ता सामान्यता समान होता है ॥ ३ ॥

चित्त की वृत्तियों में अभिव्यक्त अखण्ड चैतन्य जब बाह्य एवं आभ्यन्तरिक सब का अपलाप कर अर्थात् यह कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय कर स्थित होता है तब सत्ता सामान्यता रहती है ॥ ४ ॥

चित्त की वृत्तियों में अभिव्यक्त अखण्ड चैतन्य होने पर समस्त भूतप्रपञ्च का अपलाप अपने पारमार्थिक स्वरूप से स्वप्रकाशात्मक, सत्ता सामान्यात्मक, केवल चित्स्वरूप होता है तब सत्ता सामान्यता रहती है ॥५॥

दृश्यप्रपञ्च को किसी भावना आदि प्रयत्न के बिना ही आत्मा वैसे ही अपने से अपने में लीन कर देता है जैसे कछुवा अपने-आप ही अपने में अंगों को लीन कर लेता है तब सत्ता सामान्यता समझनी चाहिए ॥ ६ ॥

यह सप्तम भूमिका रूढ़ दृष्टि तुर्यातीत पद के समान है, इसलिए सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनों को सदा होती ही है अर्थात् सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनों की समान स्वरूप स्थिति में भेद नहीं है ॥ ७ ॥

हे निष्पाप ! पञ्चमादि भूमिकाओं में भी बोध से उत्पन्न दृष्टि समाधिस्थ ज्ञानी को होती है, सप्तम भूमिका में तो व्युत्थित को भी अर्थात् समाधिस्थ जो नहीं है उसको भी होती है, अज्ञान को कभी नहीं होती है ॥८॥

**अस्यां दृशि स्थिताः सर्वे जीवन्मुक्ता महाशयाः ।
सिद्धा रसा इव भुवि व्योमवीथ्यामिवाऽनिलाः ॥ ९ ॥**

**अस्मत्प्रभृतयः सर्वे नारदाद्याश्च राघव ! ।
ब्रह्मविष्ण्वीश्वराद्याश्च दृष्टावस्यां व्यवस्थिताः ॥ १० ॥**

**एतामालम्ब्य पदवीं समस्तभयनाशिनीम् ।
उद्दालकोऽसाववसद् यावदिच्छं जगद्गृहे ॥ ११ ॥**

**अथ कालेन बहुना बुद्धिस्तस्य बभूव ह ।
विदेहमुक्तस्तिष्ठामि देहं त्यक्त्वेति निश्चला ॥ १२ ॥**

**एवं चिन्तितवानद्रेर्गुहायां पल्लवासने ।
बद्धपद्मासनस्तस्थावर्धोन्मीलितलोचनः ॥ १३ ॥**

**संयम्य गुप्तसंरोधाद् द्वाराणि नव चेतसः ।
मात्रास्पर्शान् विचिन्वानो भावितस्वाङ्गचिद्घनः ॥१४॥**

इस दृष्टि में स्थिति गम्भीर स्वभाव वाले सब जीवन्मुक्त लोग किसी भी ऐहिक अथवा आमुष्मिक भोग की तृष्णा रूपी धूलि से वैसे ही स्पृष्ट नहीं होते जैसे पृथिवी पर प्रसिद्ध पारा आदि रस एवं आकाश रूपी गली में वायु किसी वस्तु से स्पृष्ट नहीं होते हैं ॥ ९ ॥

हे श्रीराघव ! हमारे समान मनुष्य भूलोक में स्थित हैं, नारदादि मुनिगण आकाश रूपी वीथी में और ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि उनसे भी ऊर्ध्व लोक में इस दृष्टि में स्थित हैं ॥ १० ॥

समस्त भय का नाश करने वाली इस पदवी का आलम्बन कर उद्दालक प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने तक संसार रूपी घर में रहे ॥ ११ ॥

अनन्तर बहुत काल के बाद उद्दालक की यह दृढ़ बुद्धि हुई कि 'मैं इस देह को छोड़कर विदेह मुक्त हो जाऊँ ॥ १२ ॥

इस प्रकार चिन्तित अर्थ में दृढ़ निश्चय वाले उद्दालक ऋषि बद्धपद्मासन होकर निमीलित लोचन होकर पर्वत की गुफा में पत्तों के आसन पर बैठ गये ॥ १३ ॥

मलद्वार के अवरोध से नव द्वारों का संयत कर शब्द-स्पर्शादि विषयक वृत्तियों को बदरी फल की तरह चुनकर हृदय में उनका निवेश कर फिर उनके पारमार्थिक स्वरूप की अपने अंग के समान भावना कर अर्थात्

संरुद्धप्राणपवनः समसंस्थानकन्धरः ।
तालुमूलतलालग्नजिह्वामूलोल्लसन्मुखः ॥ १५ ॥
न बहिर्नाऽन्तरे नाऽधो नोर्ध्वे नाऽर्थे न शून्यके ।
संयोजितमनोदृष्टिर्दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥ १६ ॥
प्राणप्रवाहसंरोधसमः स्वच्छाननच्छविः ।
अङ्ग चित्संविदुत्तानरोभकण्टकिताङ्गभूः ॥ १७ ॥
अङ्गचित्संविदाभ्यासाच्चित्सामान्यमुपाददे ।
तदभ्यासादवापाऽन्तरानन्दस्पन्दमुत्तमम् ॥ १८ ॥
तदास्वादनतो लीनचित्सामान्यदशाक्रमम् ।
विश्वम्भरमनन्तात्म सत्तासामान्यमाययौ ॥ १९ ॥
तस्थौ समसमाभोगः परां विश्रान्तिमागतः ।
अनानन्दसमानन्दमुग्धमुग्धमुखद्युतिः ॥ २० ॥

स्वात्मा के साथ ऐक्य स्थापित कर चिदात्मा एवं सैन्धव घन के समान एकरस उद्दालक ने चित्सामान्य को प्राप्त किया ॥ १४ ॥

प्राण वायुओं को रोक कर सम रूप से स्थित कण्ठ वाले, तालु के मूलतल में फाटक के समान लगे हुए जिह्वा मूल से उन्नत सुन्दर मुँह वाले, न बाहर, न भीतर, न नीचे, न ऊपर. न रूपादि विषयों में, न शून्य आकाश में कहीं भी मन और दृष्टि को संयुक्त न कर एवं दाँतों से दाँतों का स्पर्श न कर तथा प्राणों के प्रवाह के अवरोध से सम अर्थात् उनकी क्रियों से उत्पन्न हुए शरीर, मन और इन्द्रियों के चाञ्चल्य से शून्य, प्रसन्नवदन, चिद्रूप ब्रह्मानन्द के अनुभव से सीधे खड़े हुए रोमराजि से पुलकित शरीर उद्दालक ऋषि ने अन्तःकरण के एकदेशभूत वृत्तिभेदों में प्रतिबिम्बित चित् के निरन्तर अनुसन्धान से अपनी उपाधिभूत वृत्तिभेदों के विलयन के अभ्यास के कारण बिम्बभूत चित्सामान्य को प्राप्त किया एवं उन्होंने बिम्बभूत चिन्मात्र के अनुसन्धानाभ्यासवश हृदय में सर्वोत्कृष्ट आनन्दप्रवाह का अनुभव किया ॥ १५—१८ ॥

उद्दालक ने आनन्द के आस्वादन से चित्सामान्यदशाक्रम के लयवाले, विश्वम्भर, अनन्त, परिपूर्ण, सत्तासामान्य को प्राप्त किया । आशय यह है कि निरतिशय आनन्द का आस्वाद प्राप्त न होने तक चित्त अपनी वृत्तियों के निरोध से उत्पन्न क्लेश को सहन न करता हुआ बाह्य विषयों में प्रवृत्त होता है । आनन्द का आस्वादन करने पर तो 'गुडपिपीलिका' न्याय से वहीं पर आसक्त चित्त अपने स्वरूप को भी भूलकर अपने में

संशान्तानन्दपुलकः पदं प्राप्याऽमलं गतः ।
चिरकालपरिक्षीणमननादिभवभ्रमः ॥ २१ ॥
बभूव स महासत्त्वो लिपिकर्मार्पितोपमः ।
समः कलावपूर्णेन शरदच्छाम्बरेन्दुना ॥ २२ ॥
उपशशाम शनैर्दिवसैरसौ
कतिपयैः स्वपदे विमलात्मनि ।
तरुरसः शरदन्त इवाऽमले
रविकरौजसि जन्मदशातिगः ॥ २३ ॥
गतसकलविकल्पो निर्विकारोऽभिरामः
सकलमलविलासोपाधिनिर्मुक्तमूर्तिः ।
विगलितसुखमाद्यं तत्सुखं प्राप यस्मि-
स्तृणमिव जलराशावुह्यते शक्रलक्ष्मीः ॥ २४ ॥

अनुगत चित्सामान्य निरतिशय स्वप्रकाश सत्तासामान्यता को प्राप्त करता है, इसी को चित्सामान्यावस्था क्रम का लय और सत्तासामान्य प्राप्ति कहते हैं ॥ १९ ॥

सर्वथा विक्षेप-वैषम्य से रहित स्वभाव एवं अनुपम आनन्द से अत्यन्त मनोहर मुखकान्ति सम्पन्न उद्दालक ऋषि सर्वोत्कृष्ट आनन्द पदवी को प्राप्त हो बैठ गये ॥ २० ॥

शान्त रोमाञ्चों समन्वित तथा मनन, निदिध्यासन चिरकाल तक जगद् विषयक्रम शून्य उद्दालक ऋषि जीते हुए ही निर्वाण पद को प्राप्त कर प्रारब्ध भोग के हेतुभूत शेष दोषों के क्षय के कारण विशुद्ध हो गये ॥ २१ ॥

चित्रलिखित के समान अनन्यचित्त एवं अचल महात्मा उद्दालक समस्त कलाओं से परिपूर्ण शरद् ऋतु के स्वच्छ आकाश के चन्द्रमा के समान विशुद्ध हो गये ॥ २२ ॥

क्रमशः कुछ दिनों में वह उद्दालक ऋषि जन्म-मरण से छुटकारा पाकर अपने प्राप्त करने योग्य स्थान शुद्ध आत्मा में वैसे ही शान्त हो गये जैसे हेमन्त ऋतु में वृक्षों का रस निर्मल सूर्य किरणों के तेज में शान्त हो जाता है अर्थात् उद्दालक ने अपने प्राणों को अपनी आत्मा में लीन कर दिया ॥ २३ ॥

समस्त संशयों का विनाश हो जाने से संशयशून्य विकाररहित एवं समस्त तुच्छ विषयों में आसनियुक्त अन्तःकरणवृत्तियों से रहित स्वभाव वाले मनोहर उद्दालक ऋषि ने हिरण्यगर्भपदपर्यन्त सब विषयसुख अग्नि से चिनगारियों की तरह बाहर निकल रहे वाणी के अगोचर उन सुखों को प्राप्त किया, जिसे सुखों को प्राप्त करके

अपरिमितनभोन्तर्व्यापिदिग्व्यापि पूर्णं
भुवनभरणशीलं भूरिभव्योपसेव्यम् ।
कथनगुणमतीतं सत्यमानन्दमाद्यं
परमसुखमनन्तं ब्राह्मणोऽसौ बभूव ॥ २५ ॥
गतवति पदमाद्यं चेतसि स्वच्छभावं
द्विजतनुरथ मासैः सोपविष्टैव षड्भिः ।
रविकरपरितप्ता वातभाङ्काररम्या
तनुतरुभुजतन्त्री शैलवीणा बभूव ॥ २६ ॥
अथ बहुतरकालेनैतदद्रेर्भुवं ता-
मुपययुरगकन्यासंयुता मातरः खात् ।
अभिमतफलसिद्ध्यै संयुता एव सर्वा
अनलमिव शिखानां पङ्क्तयः पिङ्गकेश्यः ॥ २७ ॥
दिनकरकरशुष्कं विप्रकङ्कालकं त-
ज्झटिति मुकुटकोटौ खड्गखट्वाङ्गमध्ये ।
सकलविबुधवन्द्या खिखिनी देवदेवी
निशि नवतरवृत्ता कान्तकान्ति चकार ॥ २८ ॥
इत्युद्दालकदेहकं सुविलसन्मायूरबर्हव्रज-
व्यालोलाब्दलवे नवैर्विवलिते मन्दारमालागणैः ।
शेते खिखिनिकामहाभगवतीलीलाललामे लता-
जाले भृङ्ग इवाऽन्तपुष्पपटले पश्चादुपागच्छति ॥२९॥
एषोद्दालकचित्तवृत्तिकलनावल्ली विवेकस्फुर-
त्स्वानन्दप्रविकासभासिकुसुमा हृत्कानने विस्तृता ।

इन्द्रलक्ष्मी भी अर्थात् इन्द्र का भी वैभव समुद्र में तृण के समान समझी जाती है ॥ २४ ॥

वह उद्दालक ब्राह्मण प्रतिब्रह्माण्ड के भेद से अनन्त आकाशों को व्याप्त करने वाली दिशाओं को भी व्याप्त करने वाला अर्थात् देशकृत परिच्छेद से शून्य, सर्वदा समस्त वस्तुओं में पूर्ण, सकल वस्तुओं के आधारभूत भुवनों का धारण-पोषण करने वाला*, बड़े भाग्यों से और उत्तम जनों से सेवा करने योग्य, वाणी के अगोचर, अनन्त, आद्य अर्थात् काल से अपरिच्छिन्न, पारमार्थिक सत्तावाला वह उद्दालक ब्राह्मण सबको ब्रह्मरूप एकरस में मस्त करने वाला सर्वोत्कृष्ट भूमाख्य परम सुख स्वरूप ही हो गया ॥ २५ ॥

अनन्तर उद्दालक की जीवात्मा के निर्मलस्वरूप आद्य पद को प्राप्त करने पर उस उद्दालक ब्राह्मण का शरीर छः मास तक वहीं पड़ा हुआ सूर्य की किरणों से तप्त होकर सूख गया और बह रहे वायु की टक्कर से उत्पन्न भाङ्कार शब्द से रमणीयता को प्राप्त करता हुआ बाल-वृक्षरूपी भुजाओं की बजाने योग्य शिरातन्त्रियों से पर्वत के विलास के लिए वीणा स्वरूप हो गया ॥ २६ ॥

अनन्तर बहुत काल के बाद उस पर्वतभूमिपर, जहाँ उद्दालक का शव पड़ा हुआ था, पर्वतकन्या के साथ पीले केशों वाली ब्राह्मी आदि सब माताएँ किसी भक्त की अभिमतफल सिद्धि के लिए वैसे ही आईं जैसे पीली ज्वालाओं की पङ्क्तियाँ अग्नि के पास आती हैं ॥ २७ ॥

समस्त पण्डितों की एवं देवताओं की भी पूज्य रात्रि के समय नूतन-नूतन आभूषणों के वैचित्र्य से एक-से-एक सुन्दर नये-नये लास्यादि बृत्तान्तबाली चामुण्डा नाम की माता ने सूर्य की किरणों से सूखे हुए उस ब्राह्मण के शव को शीघ्र ही उद्यत तलवार और शस्त्रविशेष के मध्य में स्थित अपने मुकुट का भूषण बना दिया ॥ २८ ॥

इस प्रकार उद्दालक ऋषि का वह तुच्छ शरीर महाभगवती चामुण्डा के लीलाविलास के लिए बने हुए शिरोभूषणों की मोरों के (मयूरों के) मनोहर पुच्छरूपी चञ्चल मेघखण्डबिराजमान माला में आनन्द के साथ हो गया और वह माला नूतन-नूतन मन्दारपुष्पों से परिवेष्टित थी और अग्रभागों में पुष्पों का गुच्छा था अतएव वेणी के चोटी के छल से पीछे से आ रहे लता-जालपर मानो भ्रमर आनन्द से लेटा हो, इस प्रकार वह शव ज्ञात हुआ ॥ २९ ॥

समस्त दृश्य पदार्थों के विवेक में स्फूर्ति को प्राप्त आनन्दरूपी विकसित पुष्पोंवाली, प्रदर्शित उद्दालक के विदेहकैवल्यप्राप्तिपर्यन्त चरित्र की आदर एवं निरन्तर अभ्यास से शिक्षारूपी कल्पलता पुरुष के हृदय रूपी वन में उत्पन्न होकर उत्तरोत्तर भूमि में आरूढ होकर फैल गई, पुरुष तीनों तापरूपी (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों तापरूपी) सूर्य से व्याप्त व्यवहार रूपी कानन में विहार करता हुआ भी सत्य, शान्ति, दान्ति गुणों से सुगन्धित, शीतल एवं सहज संतोषस्वरूप छाया से कभी भी वियुक्त नहीं होता है। वरन् सर्वोत्कृष्ट मोक्ष-फल के साथ पुनरावृत्तिरहित स्वात्मभाव से सम्बन्ध को

* इससे उसकी सर्वाधिष्ठानता अभिव्यक्त हुई, अतः कोई वस्तु उससे भिन्न नहीं है।

रूढा यस्य कदाचिदेव विहरन्नप्येव सच्छायया नाऽसावेति वियोगमेति सफलेनोच्चैस्तरां संगमम्॥३०।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
उद्दालकनिर्वाणं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

प्राप्त करता है। अतः पूर्वोक्त लता का हृदय में आरोप कर विस्तार करना चाहिये ॥ ३० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
उद्दालकनिर्वाण नामक कुसुमलता का पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

५६

वसिष्ठ उवाच

क्रमेणाऽनेन विहरन् विचार्याऽऽत्मानमात्मना ।
विश्रान्तिमेहि वितते पदे पद्मदलेक्षण ! ॥ १ ॥
शास्त्रार्थगुरुचेतोभिस्तावत् तावद् विचार्यते ।
सर्वदृश्यक्षयाभ्यासाद् यावदासाद्यते पदम् ॥ २ ॥
वैराग्याभ्यासशास्त्रार्थप्रज्ञागुरुयमक्रमैः ।
पदमासाद्यते पुण्यं प्रज्ञयैवैकयाऽथवा ॥ ३ ॥
संप्रबोधवती तीक्ष्णा कलङ्करहिता मतिः ।
सर्वसामग्र्यहीनाऽपि पदं प्राप्नोति शाश्वतम् ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

भगवन् ! भूतभव्येश ! कश्चिज्जातसमाधिकः ।
प्रबुद्ध इव विश्रान्तो व्यवहारपरोऽपि सन् ॥ ५ ॥
कश्चिदेकान्तमाश्रित्य समाधिनियतः स्थितः ।
तयोस्तु कतरः श्रेयानिति मे भगवन् ! वद ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।
अन्तःशीतलता याऽसौ समाधिरिति कथ्यते ॥ ७ ॥
दृश्यैर्मनसि सम्बन्ध इति निश्चित्य शीतलः ।
कश्चित् संव्यवहारस्थः कश्चिद् ध्याने व्यवस्थितः ॥८॥
द्वावेतौ राम ! सुखितावन्तश्चेत् परिशीतलौ ।
अन्तःशीतलता या स्यात् तदनन्ततपःफलम् ॥ ९ ॥
समाधिस्थानकस्थस्य चेतश्चेद् वृत्तिचञ्चलम् ।
तत्तस्य तत् समाधानं सममुन्मत्तताण्डवैः ॥ १० ॥

५६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे कमलपत्राक्ष ! बिचार, वैराग्य और समाधि के अभ्यास के क्रम से विहार कर रहे आप स्वयं आत्मस्वरूप का विचार कर भूमाख्य परम पद में विश्रान्ति को प्राप्त करें ॥ १ ॥

शास्त्र के श्रवण पदार्थतत्त्व के परीक्षण गुरुवचनों पर विश्वास तथा अपने चित्त के शोधन से तबतक विचार करना चाहिये जबतक सब दृश्य के बाध के अभ्यास से परमपद प्राप्त न हो जाय ॥ २ ॥

वैराग्य के अभ्यास, शास्त्रार्थ विचार, प्रज्ञा, गुरु-उपदेश और यमनियमों के क्रम से पुण्यपद प्राप्त होता है या केवल प्रज्ञा से ही पुण्यपद प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

सम्यक् प्रबोध युक्त तीक्ष्ण और दोषरहित बुद्धि सब सामग्रियों से विहीन होती हुई भी जीव को परम पद प्राप्त करा देती है ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! हे भूत और भविष्यत् के ज्ञाता, कोई प्रबुद्ध पुरुष व्यवहार करता हुआ भी समाधिस्थ के तुल्य विश्रान्त रहता है ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! कोई एकान्त का आश्रयण कर समाधि में स्थित रहता है। इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है, यह मुझसे कहने की कृपा करें ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस मायिक विश्व को अनात्म रूप (मिथ्या) देख रहे पुरुष की यह अन्तःशीतलता ज्ञान-प्रतिष्ठा की फलभूत पूर्णकामता ही समाधि कही जाती है ॥ ७ ॥

पूर्णकामता के प्राप्त होने पर विक्षेप का प्रसंग ही नहीं रहता। मन के रहने पर दृश्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध, विक्षेप का हेतु होता है, किन्तु मेरा मन नहीं है, ऐसा निश्चय कर पूर्णकाम पुरुष व्यवहार निरत होता है और कोई ध्यान में निरत होता है ॥ ८ ॥

अन्तःकरण शीतल होते पूर्वोक्त ये दोनों ही सुखी हैं। जो अन्तःशीतलता है, वह अनन्त तपस्याओं का फल है ॥ ९ ॥

यदि समाधिस्थान में स्थित पुरुष का चित्त अपनी वृत्ति से चञ्चल हो, तो उस पुरुष की वह समाधि उन्मत्त पुरुष के ताण्डव के तुल्य है ॥ १० ॥

उन्मत्तताण्डवस्थस्य चेतश्चेत् क्षीणवासनम् ।
तदस्योन्मत्तवृत्तं तत्समं बुद्धसमाधिना ॥ ११ ॥
व्यवहारी प्रबुद्धो यः प्रबुद्धो यो वने स्थितः ।
द्वावेतौ सुसमौ नूनमसन्देहं पदं गतौ ॥ १२ ॥
अकर्तृ कुर्वदप्येतच्चेतः प्रतनुवासनम् ।
दूरं गतमना जन्तुः कथासंश्रवणे यथा ॥ १३ ॥
अकुर्वदपि कर्तैव चेतः प्रघनवासनम् ।
निस्पन्दाङ्गमपि स्वप्ने श्वभ्रपातस्थिताविव ॥ १४ ॥
चेतसो यदकर्तृत्वं तत् समाधानमुत्तमम् ।
तं विद्धि केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥ १५ ॥
चेतश्चलाचलत्वेन परमं कारणं स्मृतम् ।
ध्यानाध्यानदृशोस्तेन तदेवाऽनङ्कुरं कुरु ॥ १६ ॥
अवासनं स्थिरं प्रोक्तं मनो ध्यानं तदेव तु ।
स एव केवलीभावः शान्ततैव च सा सदा ॥ १७ ॥

यदि उन्मत्त ताण्डव कर रहे पुरुष का चित्त वासना विहीन हो, तो उसकी उन्मत्त चेष्टा ब्रह्म-समाधि के तुल्य है ॥ ११ ॥

जो प्रबुद्ध व्यवहार रत है और जो प्रबुद्ध वनवासी है, ये दोनों ही ही समान हैं, क्योंकि दोनों हां सब सन्देहों का उच्छेद करने वाले परम पद में प्रतिष्ठित हैं ॥ १२ ॥

वासना रहित यह मन व्यवहार करता हुआ भी भी वैसे ही कर्तृत्व प्रयुक्त दोषों से बद्ध नहीं होता जैसे कान्ता आदि की कथा के श्रवण में अन्यत्र आसक्त मन-वाला पुरुष कथा-श्रवण करता हुआ भी राग आदि विकारों का उदय न होने से रागादि प्रयुक्त दोषों से बद्ध नहीं होता ॥ १३ ॥

प्रचुर वासनावाला चित्त कर्म न करता हुआ भी वैसे ही कर्ता के समान होता है अर्थात् कर्तृत्वप्रयुक्त दोषों से बद्ध होता है जैसे स्वप्न में निश्चल देहावयव वाला भी सुषुप्त पुरुष का मन गर्तपात और उसमें निवास का कर्ता बनता है ॥ १४ ॥

चित्त का जो अकर्तृत्व है वही उत्तम समाधि है, उसी को आप केवली भाव समझें और वही श्रेष्ठ परम-सुखविश्रान्ति है ॥ १५ ॥

चित्त चञ्चलता और अचञ्चलता से समाधि और असमाधि में परम कारण कहा गया है, इसलिए आप उसी को अङ्कुररहित अर्थात् वासनारहित करें ॥ १६ ॥

वासनारहित मन स्थिर कहा गया है, वही ध्यान है, वही केवलीभाव है और वही सदा शान्तता है ॥ १७ ॥

तनुवासनमत्युच्चैः पदायोद्यतमुच्यते ।
अवासनं मनोऽकर्तृ पदं तस्मादवाप्यते ॥ १८ ॥
घनवासनमेतत्तु चेतः कर्तृत्वभाजनम् ।
सर्वदुःखप्रदं तस्माद् वासनां तनुतां नयेत् ॥ १९ ॥
प्रशान्तजगदास्थोऽन्तर्वीतशोकभयैषणः ।
स्वस्थो भवति येनाऽऽत्मा स समाधिरिति स्मृतः ॥२०॥
चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम् ।
यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं तथा शैले गृहेऽथवा ॥ २१ ॥
गृहमेव गृहस्थानां सुसमाहितचेतसाम् ।
शान्ताहङ्कृतिदोषाणां विजना वनभूमयः ॥ २२ ॥
अरण्यसदने तुल्ये समाहितमनोदृशाम् ।
भवतामिह भूतानां भूतानां महतामिव ॥ २३ ॥
शान्तचित्तमहाभ्रस्य जनज्वालोज्ज्वलान्यपि ।
नगराण्यपि शून्यानि वनान्यवनिपात्मज ! ॥ २४ ॥

स्वल्पवासना वाला अर्थात् चतुर्थी आदि भूमिकाओं में क्षीणवासना वाला मन परमपद प्राप्ति के लिए उद्यत कहा जाता है। सर्वथा क्षीणवासनावाला मन अकर्ता है, उससे सप्तमभूमिका प्रतिष्ठारूप पद प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रचुर वासना वाला यह मन कर्तृत्व-भाजन कर्ता है। कर्ता होने के कारण ही वह सब दुःखों को देने वाला होता है, इसलिए वासना को क्षीण बनायें ॥ १९ ॥

जिससे आत्मा देह आदि दृश्य में अहंममताभिनिवेश से रहित शोक, भय और एषणाओं से शून्य और स्वस्थ स्वरूप प्रतिष्ठित होती है, वह 'समाधि' कही जाती है ॥ २० ॥

सभी पदार्थों में अहं और ममताध्यास का मन से त्याग कर अपनी अभिरुचि के अनुसार आप चाहे पर्वत पर समाधिस्थ होकर बैठिये अथवा घर में व्यवहाररत होकर बैठिये ॥ २१ ॥

अच्छी तरह समाहित चित्तवाले अहंकार आदि दोषों से रहित गृहस्थों के लिए घर ही निर्जन वनभूमि है ॥ २२ ॥

नित्य अपरोक्ष प्रत्यगात्मा में स्थित, समाहित मन और दृष्टि वाले आप लोगों के लिए आकाश आदि महा-भूतों के समान वन और घर एक ही हैं ॥ २३ ॥

हे राजपुत्र ! चित्तरूपी महामेघ के शान्त होने पर अर्थात् शरत् के आकाश के तुल्य निर्मल हृदय वाले पुरुष के लिए जनरूपी ज्वालाओं से उज्ज्वल नगर भी निर्जन वन ही हैं ॥ २४ ॥

वृत्तिमच्चित्तमत्तस्य विजनानि वनान्यपि ।
नगराणि महालोकपूर्णानि परवीरहन् ॥ २५ ॥
व्युत्थितं चित्तमभ्येति भ्रमस्याऽन्तः सुषुप्तताम् ।
निर्वाणमेति निर्वाणं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २६ ॥
सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा ।
यः पश्यति सदात्मानं स समाहित उच्यते ॥ २७ ॥
ईहितानीहिते क्षीणे यस्याऽन्तर्विततात्कृतेः ।
सर्वे भावाः समा यस्य स समाहित उच्यते ॥ २८ ॥
सदात्मना सदेवेदं जगत् पश्यति नो मनः ।
यथा स्वप्ने तथैवाऽस्मिन् जाग्रत्यपि जनेश्वर ! ॥ २९ ॥
यथा विपणिकालोका विहरन्तोऽप्यसत्समाः ।
असम्बन्धात्तथा ज्ञस्य ग्रामोऽपि विपिनोपमः ॥ ३० ॥
अन्तर्मुखमना नित्यं सुप्तो बुद्धो व्रजन्नपि ।
पुरं जनपदं ग्राममरण्यमिव पश्यति ॥ ३१ ॥

हे वीर शत्रुनाशक ! राग आदि वृत्तिवाले चित्त से मत्त हुए पुरुष के लिए निर्जन वन भी प्रचुर लोगों से संकीर्ण नगर हैं ॥ २५ ॥

राग आदि से विक्षिप्त चित्त के विविध विषय भ्रम का अन्दर लय होने से फिर सैकड़ों व्युत्थानों की बीजभूत सुषुप्ति की प्राप्ति होती है। राग आदि की वासनाओं से रहित चित्त मोक्ष को प्राप्त होता है, आप जैसा चाहे वैसा करें ॥ २६ ॥

जो सर्वभावपदातीत अथवा सर्वभावात्मक आत्मा को सदा देखता है वह समाहित कहा जाता है। आशय यह है कि तत्त्वज्ञानी समाधि में सर्वभावपदातीत तत्त्व को देखता है इस प्रकार केवल एक पिण्ड में अहंकार न होने से उसमें राग आदि की प्रसक्ति ही नहीं होती है ॥२७॥

विस्तृत स्वरूप के अन्दर राग-द्वेष के क्षीण ही जाने पर और जिसके लिए सब भाव समान हैं वह समाहित कहा जाता है ॥ २८ ॥

हे जनेश्वर ! उसका मन जैसे स्वप्न में वैसे हो जाग्रत् में भी इस दृश्य को सद्रूप से सद् ही देखता है। जगत् को सद् से व्यतिरिक्त रूप में यह नहीं देखता है ॥ २९ ॥

ग्राम भी ज्ञानी के लिए, ग्रामवासी जनों के साथ सम्बन्ध न होने से वैसे ही अरण्यतुल्य ही हैं अर्थात् विक्षेप हेतु नहीं है जैसे बाजार में इकट्ठे हुए भी बहुत से लोग अपने-अपने व्यवहार करते हुए उदासीन न शत्रु हैं और न मित्र हैं के लिए कुछ भी उपकारक न होने से सब प्रकार से असत् ही हैं, क्योंकि उनके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ ३० ॥

सर्वमाकाशतामेति नित्यमन्तर्मुखस्थितेः ।
सर्वथाऽनुपयोग्यत्वाद् भूताकुलमिदं जगत् ॥ ३२ ॥
अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत् ।
विज्वराणामिव नृणां भवत्याजीवितस्थितेः ॥ ३३ ॥
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावदाहमयं जगत् ।
भवत्यखिलजन्तूनां यदन्तस्तद्बहिः स्थितम् ॥ ३४ ॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥ ३५ ॥
वटधाना वट इव यदन्तस्थं सदात्मनः ।
तद् बहिर्भासते भास्वद्विकासे पुष्पगन्धवत् ॥ ३६ ॥
न बहिष्ठं न वाऽन्तस्थं क्वचित् किञ्चन विद्यते ।
यद् यथा कचितं चित्त्वात्तत्तथा तत्त्वमुत्थितम् ॥ ३७ ॥
आत्मतत्त्वान्तरं भाति बहिष्ट्वेन जगत्तया ।
कर्पूरमिव गन्धेन संकोचे प्रविकासि च ॥ ३८ ॥

मन सदा अन्तर्मुख रहने पर पुरुष सोया हो, जागा हो, या चलता हो नगर, देश और ग्राम को अरण्य के समान ही देखता है ॥ ३१ ॥

नित्य अन्तर्मुख स्थितिवाले पुरुष के लिए पृथिवी आदि महाभूतों से व्याप्त यह सारा जगत् बाधित होने के कारण सर्वथा अनुपयोग्य होने से शून्य हो जाता है ॥३२॥

अन्तःशीतलता अर्थात् ज्ञानप्रतिष्ठा की फलभूत पूर्णकामता की प्राप्ति होने पर ज्वररहित पुरुषों के समान सम्पूर्ण जगत् जीवनपर्यन्त शीतल हो जाता है ॥ ३३ ॥

भीतर तृष्णा से सन्तप्त लोगों का जगत् वनाग्निसन्तापमय होता है, क्योंकि भीतर सभी जीवों का चित्त जैसा तप्त या शीतल होता है वही बाहर जगत् के रूप से स्थित होता है ॥ ३४ ॥

द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ अन्तःकरण तत्त्व के बाहरी भागों के समान स्थित हैं ॥ ३५ ॥

वट के फल के अन्दर वटबीजों के समान सदा अपने अन्दर रहने पर वही देदीप्यमान होकर विकास होनेपर पुष्प के गन्ध के समान बाहर प्रकट होता है ॥ ३६ ॥

कोई वस्तु न तो बाहर है और न कहीं पर भीतर है, जिस वस्तु का पूर्व वासना के बल से विकास हुआ उसके वेष से परमार्थ तत्त्व ही उदित हुआ है ॥ ३७ ॥

आन्तर वस्तु आत्मतत्त्व रूप ही बाह्य रूप होकर जगद्रूप से प्रतीत होती है। वह विभिन्न उपाधियों के अनुसार संकोच होने पर भी वैसे ही विकसित होता है

आत्मैव स्फुरति स्फारं जगत्त्वेनाऽप्यहन्तया ।
बाह्यत्वेनाऽऽन्तरत्वेन स च नाऽसन्न सन्विभुः ॥ ३९ ॥

बहिष्ठेनाऽऽन्तरं बाह्यमन्तःस्थेनाऽऽन्तरस्थितम् ।
यथाविदितमात्माऽयं स्वचित्तमनुपश्यति ॥ ४० ॥

सबाह्याभ्यन्तरं शान्तमात्मनो भेदितं जगत् ।
अहन्त्वादि स्थिते भेदे भूरिभङ्गभयं तु तत् ॥ ४१ ॥

द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
कल्पादिरेव ज्वलितं सर्वमाधिहतात्मनः ॥ ४२ ॥

यस्त्वात्मरतिरेवाऽन्तः कुर्वन् कर्मेन्द्रियैः क्रियाः ।
न वशो हर्षशोकाभ्यां स समाहित उच्यते ॥ ४३ ॥

जैसे डिब्बे में रक्खा हुआ कपूर गन्ध रूप से प्रदेश में विस्तृत होता है ॥ ३८ ॥

आत्मा ही जगद्रूप से और अहन्ता से बाह्य रूप और आन्तर रूप से बहुत स्फुरित होता है। वह न तो चक्षु आदि से अदृश्य अहङ्कार रूप है और न उससे दृश्य बाह्य थूल रूप है, किन्तु विभु सन्मात्र रूप है ॥ ३९ ॥

यह आत्मा अपने चित्त को पूर्वपूर्व अनुभव के अनुसार हिर्मुख चक्षु आदि से बाह्य अर्थात् जगदाकर में देखता । अन्दर स्थित जाग्रत्-वासना आदि के कारण हृदय में स्थित स्वप्न आदि को देखता है ॥ ४० ॥

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार जगत् दोनों में अनुस्यूत सत् आत्मा से पृथक् होकर असत् ही है अर्थात् सत् के रूप में जगत् आदि की प्रतीति होने पर वह शान्त ही है अर्थात् मृत ही है, किन्तु पृथक्करण के अभाव में उसकी सत्ता से ही बाह्य और आभ्यन्तर भेद के रहने पर उसमें अहन्ता और ममता का अभ्यास होने से उसका नाश होने पर भयंकर नाश का भय होता है ॥ ४१ ॥

विभिन्न तत् मानसी व्यथाओं से हतात्मा पुरुष के लिए द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नादियाँ, दिशाएँ आदि सब भी पदार्थ तीनों तापों की ज्वालाओं से ज्वलित होकर प्रलयारम्भ काल के रूप में ही हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

अन्दर एकमात्र आत्मरति होकर जो पुरुष कर्मेन्द्रियों से क्रिया करता हुआ हर्ष और शोक के वशीभूत नहीं होता, वह समाधिस्थ कहा जाता है ॥ ४३ ॥

सर्वगत आत्मा का साक्षात्कार कर शान्तधी पुरुष शोक और ध्यान नहीं करता है, वह समारहित कहा जाता है ॥ ४४ ॥

जगद्गति को उत्पत्ति और विनाश युक्त समझ कर

यः सर्वगतमात्मानं पश्यन् समुपशान्तधीः ।
न शोचति ध्यायति वा स समाहित उच्यते ॥ ४४ ॥

सपूर्वापरपर्यन्तां यः पश्यन् जागतीं गतिम् ।
दृष्टिष्वेतासु हसति स समाहित उच्यते ॥ ४५ ॥

समे परेऽपि नाऽहन्ता न जगज्जन्म नो मयि ।
वीचिवृन्देष्विवाऽऽतप्ता नाऽऽकाशे फलधातवः ॥ ४६ ॥

यस्याऽन्तरस्थिताहन्त्वं न विभागादि नो मनः ।
न चेतनाचेतनत्वे सोऽस्ति नाऽस्तीतरो जनः ॥ ४७ ॥

व्योमस्वच्छो बहिष्ठेहां सम्यगाचरतीह यः ।
हर्षामर्षविकारेषु काष्ठलोष्ठसमः शमः ॥ ४८ ॥

जो पुरुष मूढ़ जनों में प्रसिद्ध अहंता, ममता आदि दृष्टियों पर उपहास करने वाला पुरुष समाधिस्थ कहा जाता है ॥ ४५ ॥

सर्वानुभवसिद्ध अहन्ता और जगत् प्रत्यक् स्वभाव मेरे आश्रित मानेंगे या ब्रह्म स्वभाव के आश्रित मानेंगे। किन्तु मुझ में तो उनका संभव नहीं है, क्योंकि द्रष्टा दृश्य का आश्रय नहीं हो सकता है परब्रह्म में भी उनका संभव नहीं है, क्योंकि असंग, अद्वितीय, कूटस्थ स्वरूप सम ब्रह्म अहन्ता और जगत् के जन्म आदि विषमता का आधार नहीं हो सकता है जैसे शरद् ऋतु की धूप से मिश्रित दूर से दिखाई दे रही लहरियों में द्रवीभूत रजत के समान स्फुरित हो रही पुञ्जीभूत कान्ति लहरियों के अन्दर नहीं है, क्योंकि समीप में जाने पर और लहरियों में डूब कर खोजने पर वह दिखाई नहीं देती और न उनके अन्दर और बाहर स्थित आकाश में है, क्योंकि आकाश में प्राप्य आदि चार प्रकारों की क्रियाओं के फल का दर्शन नहीं होता अतः लहरों की क्रिया से उत्पन्न फल का आश्रय होना यह संभव नहीं है। अतः उस कान्ति के समान अहन्ता और जगत् निराश्रय होने के कारण मिथ्या ही हैं ॥ ४६ ॥

ज्ञानी का आभ्यन्तर प्रत्यगात्म रूप अहन्ता से रहित होने पर जिस ज्ञानी के दृश्य जगत् विभाग आदि नहीं हैं, मन नहीं है और मन के अधीन कल्पना वाली चेतना और अचेतना नहीं हैं, वह एक ही सर्वात्मा है उससे अतिरिक्त चेतन नहीं है, अर्थात् उससे अतिरिक्त द्रष्टा नहीं है ॥ ४७ ॥

आकाश के समान स्वच्छ बाह्य चेष्टाओं का शास्त्र और शिष्टाचार के अविरोध से आचरण करता है और हर्ष, क्रोध आदि विकारों में काठ और ढेले के समान

आत्मवत् सर्वभूतानि परद्रव्याणि लोष्टवत् ।
स्वभावादेव न भयाद् यः पश्यति स पश्यति ॥ ४९ ॥
अर्थोऽतनुस्तनुर्वाऽपि नाऽसद्रूपेण चेत्यते ।
सद्रूपो नाऽनुभूतोऽज्ञैन ज्ञैनैव न तत्तया ॥ ५० ॥
ईदृशाशयसंपन्नो महासत्त्वपदं गतः ।
तिष्ठतूदेतु वा यातु मृतिमेतु न तत्स्थितिम् ॥ ५१ ॥
वसतूत्तमभोगाढये स्वगृहे वा जनाकुले ।
सर्वभोगोज्झिताभोगे सुमहत्यथवा वने ॥ ५२ ॥
उद्दाममन्मथं पानतत्परो वाऽपि नृत्यतु ।
सर्वसंगपरित्यागी सममायातु वा गिरौ ॥ ५३ ॥
चन्दनागुरुकर्पूरैर्वपुर्वा परिलिम्पतु ।
ज्वालाजटिलविस्तारे निपतत्वथवाऽनले ॥ ५४ ॥
पापं करोतु सुमहद् बहुलं पुण्यमेव च ।

शान्त स्वभाव वाला स्वभाव से ही न कि भय से सभी जीवों को अपने समान और परद्रव्य को ढेले के समान देखता है वही वस्तुतः दर्शनवान् है ॥ ४८-४९ ॥

मूढ पुरुष हिरण्यगर्भ के ऐश्वर्य पर्यन्त या अल्प स्वर्ण कामिनी आदि विषय को मिथ्या नहीं देखता है और उसके अधिष्ठान सद्रूप का अनुभव न होने से सन्मात्र स्वभाव से भी उसे नहीं देखता है क्योंकि तत्त्वज्ञानी ही सभी को सद्रूप से देखता है, इसलिए किसी भी प्रकार से उसमें समदर्शिता की ही उत्पत्ति होती है अर्थात् अद्वितीय सद्रूप से सम्पूर्ण विश्व को देखने से समदर्शिता है एवं जगत् को मिथ्या स्वरूप न देखने पर भी विश्व को ही सद्रूप में दर्शन से समदर्शिता रहती है ॥ ५० ॥

इस आशय वाला व्यक्ति ब्रह्मपद को प्राप्त पुरुष निष्किञ्चन रहे या ऐश्वर्य आदि अभ्युदय की प्राप्ति करे पुत्र, बन्धु-बान्धव आदि की मृत्यु की ही प्राप्ति हो, अभ्युदयस्थिति की प्राप्ति न हो या उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थों से परिपूर्ण और बन्धु-बान्धवों से भरपूर घर में रहे या सब प्रकार के भोगों से शून्य विशाल अरण्य में रहे या मदिरापान में निरत होकर प्रबल कामवेदना के साथ नाचे या सब पर आसक्ति का त्याग कर निर्विकार हो पर्वत पर तपस्या के लिए जाए या चन्दन, अगर और कपूर से शरीर का लेप करे या धधकती हुई ज्वालाओं से प्रचुर विस्तारवाली अग्नि में गिरे या महापाप करे या प्रचुर पुण्य करे या आज ही मृत्यु को प्राप्त हो या अनेक प्रलयों के बाद मरे, समदर्शी यह महात्मा का अहन्त का

अद्य वा मृतिमायातु कल्पान्तनिचयेन वा ॥ ५५ ॥
नाऽसौ किञ्चिन्न तत् किञ्चित् कृतं तेन महात्मना ।
नाऽसौ कलङ्कमाप्नोति हेमपङ्कगतं यथा ॥ ५६ ॥
संवित्पुरुषशब्दार्थैः सकलङ्कैः कलङ्क्यते ।
अहंत्वंवासनारूपैः शुक्तिकारजतोपमैः ॥ ५७ ॥
समस्तवस्तुप्रशमात्सम्यग्ज्ञानाद्यथास्थितेः ।
स्वभावस्योपशान्तोऽन्तः कलङ्कोऽसत्तया स्वतः ॥५८ ॥
अहंत्ववासनानर्थप्रसूतेः संविदात्मनः ।
पुरुषस्य विचित्राणि सुखदुःखानि जन्मनि ॥ ५९ ॥
रज्ज्वां सर्पभ्रमे शान्तेऽहिर्नेति निर्वृतिर्यथा ।
अहंत्वभावसंशान्तौ तथाऽन्तः समता मता ॥ ६० ॥
यत्करोति यदश्नाति यद्ददाति जुहोति वा ।
न तज्ज्ञस्य न तत्र ज्ञो मा करोतु करोतु वा ॥ ६१ ॥

आश्रय मरण, दुःख आदि विकारों से युक्त देह, मन आदि नहीं होता है अर्थात् उसे किसी प्रकार का सुख-दुःख आदि नहीं होता है, क्योंकि अतएव उस महात्मा ने कुछ भी नहीं किया है वह कलङ्क को वैसे ही प्राप्त नहीं होता है जैसे कीचड़ में गिरा हुआ सुवर्ण कलङ्कित नहीं होता है ॥ ५१—५६ ॥

शास्त्रों के द्वारा अभ्यनुज्ञा प्राप्त होने पर विषयों के सेवन से दूषित वासनारूप ऐन्द्रियक संवित् उनके आयतन शुक्ति रजत के समान देह और उनके भोग्य शब्दार्थरूप विषयों से अहङ्कारप्रधान लिङ्गात्मा कलङ्कित होता है ॥ ५७ ॥

वस्तुस्थिति का सम्यक् ज्ञान होने से सब वस्तुओं का प्रशमन होने के कारण चित्त का कलङ्क का बाध हो जाने के कारण असत्ता से वह स्वतः शान्त हो जाता है ॥५८॥

अहङ्कार के अध्यास से वासनारूपी अनर्थ उद्बुद्ध होते हैं उससे पुरुष के जन्म में विचित्र सुख-दुःख होते हैं ॥ ५९ ॥

अहन्त्व की शान्ति होने पर चित्त में सर्वदुःख वैषम्य-शून्यतारूप समता वैसे ही प्राप्त होती है जैसे रज्जु में सर्पभ्रान्ति के शान्त होनेपर 'यह साँप नहीं है' इस निर्भयता से आह्लाद होता है ॥ ६० ॥

ज्ञानी जो करता है, जो खाता है, जो देता है अथवा जो यज्ञ में हवन आदि करता है वह ज्ञानी का नहीं है न उनमें ज्ञानी निरत ही रहता है। वह करे या न करे, उनके फल से लिप्त नहीं होता है ॥ ६१ ॥

कर्मणाऽस्ति न तस्याऽर्थो नाऽर्थस्तस्याऽस्त्यकर्मणा ।
यथास्वभावावगमात्स आत्मन्येव संस्थितः ॥ ६२ ॥
इच्छास्ततः समुद्यन्ति न मञ्जर्य इवोपलात् ।
याश्चोद्यन्ति च ताः सर्वाः स एवाऽप्स्विव वीचयः ।६३।
सकलमिदमसावसौ च सर्वं
जगदखिलं न विभागिताऽत्र काचित् ।
परमपुरुषपावनैकरूपी स
सदिति तत्सदकिञ्चिदेव नाऽसौ ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
ध्यानविचारो नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

ज्ञानी का न तो कर्म से कोई प्रयोजन है और न कर्म-त्याग से ही उसका कोई प्रयोजन है। अपने यथार्थस्वरूप के ज्ञान से वह आत्मा में ही स्थित है ॥ ६२ ॥

ज्ञानी पुरुष की इच्छाएँ वैसे ही उत्पन्न नहीं होती है जैसे पत्थर से मञ्जरियां उत्पन्न नहीं होती है कदाचित् कोई इच्छाएँ उत्पन्न भी होती हैं तो वे जल में तरङ्गों के समान उससे अभिन्न ही हैं अर्थात् कभी वासनाभ्यास-वश इच्छा के उदय होने पर भी इच्छाएँ परमार्थदृष्टि से उसकी स्वात्मभूत ही रहती हैं ॥ ६३ ॥

सकलजगद्रूप ज्ञानी है और ज्ञानीरूप अखण्ड जगत् है, क्योंकि इस जगत् में विभागिता अर्थात् त्रिविध परिच्छेद-शालिता कुछ भी नहीं है। क्योंकि भेदक स्वरूप कार्य-कारणोपाधियों के तत्तत्साक्षिचिन्मात्र होने से सर्वजगद-धिष्ठान सन्मात्र ही है, कि वह परम, पूर्ण होने से पुरुष और सब दोषों से अस्पृष्ट होने से पावन परमात्मा ही स्वरूप है। इस प्रकार तत्वज्ञानी सब द्वैतबन्धनों से निर्मुक्त सत्स्वरूपमात्र परिशिष्ट नित्यमुक्त हो जाता है ॥ ६४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में ध्यानविचार नामक कुसुमलता का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

५७

वसिष्ठ उवाच

यदात्ममरिचस्याऽन्तश्चित्त्वात्तीक्ष्णत्ववेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि देशकालादि चेत्यतः ॥ १ ॥
यदात्मलवणस्याऽन्तश्चित्त्वाल्लवणवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि देशकालादिमत्स्थितम् ॥ २ ॥
स्वतो यदन्तरात्मेक्षोश्चित्त्वान्माधुर्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि जगत्तत्त्वादिजृम्भितम् ॥ ३ ॥
स्वतो यदात्मदृषदश्चित्त्वात्काठिन्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि देशकालादितां गतम् ॥ ४ ॥
स्वतो यदात्मशैलस्य ज्ञतया जाड्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि भुवनादीति संस्थितम् ॥ ५ ॥

५७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—आत्मरूपी मरिच के अर्थात् आत्मा ही स्वप्रकाश स्वरूप तीक्ष्णता से युक्त मिर्चा है उसके अन्दर चेतन होने के कारण तीक्ष्णताप्रथिति रूप जो अनुभव है, वही स्वरूपज्ञान का अभाव होने के कारण मै, तुम आदि के रूप, घट, कुड्य भेद आदिरूप और उसके आधार देश-कालरूप जगत् है ॥ १ ॥

आत्मरूपी लवण के अन्दर चित् होने के कारण लवणताप्रथितिरूप वेदन ही बह अहम्, त्वम् आदि; घट, कुडच भेद आदि रूप और उसके आधार देश, काल आदि से युक्त जगद्-रूप से स्थित है ॥ २ ॥

आत्मारूपी ईख के अन्दर चित् होने से स्वतः माधुर्य-वेदन ही तत्-तत् आकारों से अभिव्यक्त अहन्ता, त्वन्ता आदि रूप और घट, कुडच भेद आदि रूप जगत् है ॥ ३ ॥

आत्मरूपी पाषाण के चित् होने से स्वतः काठिन्य-प्रथितिरूप वेदन ही अहन्ता, त्वन्ता आदि रूप, घट, कुडच भेद आदि रूप और देश, काल आदि रूपता को प्राप्त है ॥ ४ ॥

आत्मरूपी पर्वत के चेतन होने से स्वतः गुरुता प्रथितिरूप वेदन ही अहन्ता, त्वन्ता आदि रूप, घट, कुडच भेदादिरूप भुवनरूप से स्थित है ॥ ५ ॥

स्वतो यदात्मतोयस्य चिद्द्रवत्वादिवर्तनम् ।
तदावर्ताद्यहन्तादि भेदाद्याकारिता इव ॥ ६ ॥
स्वतो यदात्मवृक्षस्य शाखादिस्तस्य वेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि भुवनादीव सत्स्फुरत् ॥ ७ ॥
यदात्मगगनस्याऽन्तश्चित्त्वाच्छून्यत्ववेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि भुवनादीति भावनम् ॥ ८ ॥
यदात्मगगनस्याऽन्तश्चित्त्वात् सौषिर्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि शरीरादि च दीपितम् ॥ ९ ॥
स्वतो यदात्मकुडयस्य नैरन्तर्यं निरन्तरम् ।
तदहन्तादिभेदेन चित्ताद्बहिरिव स्थितम् ॥ १० ॥
स्वतो यदात्मसत्तायाश्चित्त्वात्सत्त्वैकवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि चेतनानीतिवत् स्थितम् ॥ ११ ॥
अन्तरात्मप्रकाशस्य स्वतो यदवभासनम् ।
तदहन्तादि चित्त्वादि जीव इत्येव वेद सः ॥ १२ ॥
अन्तरस्ति यदात्मेन्दोश्चिद्रूपं चिद्रसायनम् ।

आत्मरूपी जल के चित् होने से स्वतः द्रवत्व आदि में वर्तन है वही आवर्त आदि, अहन्ता त्वन्ता, आदि घट, कुडच भेद आदि तत्-तत् आकारवत्ता के समान स्थित है ॥ ६ ॥

आत्मरूपी वृक्ष के चित् होने से शाखादि रूप से प्रथिति रूप वेदन ही अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, कुडच भेद आदिरूप भुवन आदि के समान वर्तमान और भासमान है ॥ ७ ॥

आत्मरूपी आकाश के चित् होने से शून्यताप्रथिति रूप वेदन ही अहन्ता, त्वन्ता आदि रूप भुवन आदि कल्पना है ॥ ८ ॥

आत्मरूपी आकाश के चित् होने से मूर्त पदार्थों के अन्दर छिद्रताप्रथितिरूप वेदन ही अहन्ता, त्वन्ता आदि और शरीर आदि रूप से प्रदीप्त हैं ॥ ९ ॥

आत्मरूपी कुडच का दीवार का स्वतः निरन्तर निविड़ताप्रथिपिरूप अनुभव ही अहन्ता आदि भेद से दृश्य होने से चित् से व्यतिरिक्त के रूप में बाहर स्थित है ॥१०॥

आत्मसत्ता के चित् होने से स्वतः एकमात्र सत्ता के रूप से वेदन ही अहन्तादि, भेद आदि चिदाभास के तुल्य स्थित है ॥ ११ ॥

आत्मप्रकाश का स्वतः अवभासन ही अहन्ता, त्वन्ता आदि की और वृत्तिभेद से भिन्न चिदाभासों में अनुगत सामान्य की कल्पना करता है वही जीव है ॥ १२ ॥

आत्मरूपी चन्द्रमा के अन्दर चिद्रूप चिदमृत ही उसके द्वारा स्वप्रकाशरूप से स्वतः आस्वादित वह अहन्ता

स्वत आस्वादितं तेन तदहन्तादिनोदितम् ॥ १३ ॥
परमात्मगुडस्याऽन्तर्यच्चित्त्वात्स्वादुदयात्मकम् ।
तदेवाऽऽस्वाद्यते तेन स्वतोऽहन्तादिनाऽऽन्तरे ॥ १४ ॥
परमात्ममणेश्चित्त्वाद्यदन्तः कचनं स्वयम् ।
चेतनात्मपदे चाऽन्तरहमित्यादि वेत्यसौ ॥ १५ ॥
न च किञ्चन वेत्यन्तर्वेद्यस्याऽसम्भवादिह ।
न चाऽऽस्वादयति स्वादु स्वाद्यस्याऽसम्भवादयम् ॥१६॥
न च किञ्चिच्चिनोत्यन्तश्चेत्यस्याऽसम्भवे सति ।
विन्दते न च वा किञ्चिद्वेद्यस्याऽसम्भवादसौ ॥ १७ ॥
असदाभास एवाऽऽत्मा अनन्तो भरिताकृतिः ।
स्थितः सदैवैकघनो महाशैल इवाऽऽत्मनि ॥ १८ ॥
अनया तु वचोभङ्ग्या मया ते रघुनन्दन ! ।
नाऽहन्तादिजगत्तादिभेदोऽस्तीति निदर्शितम् ॥ १९ ॥
न चित्तमस्ति नो चेता न जगतादिविभ्रमः ।
वृष्टमूकाम्बुदसितं शान्तं शाम्यति केवलम् ॥ २० ॥

आदिरूप से आविर्भूत हुआ है ॥ १३ ॥

परमात्मरूपी गुड़ के अन्दर स्वादुरूप चित् का ही अहन्तारूप से स्वतः आस्वादन करता है ॥ १४ ॥

परमात्मारूपी मणि का चित् होने के कारण अन्दर स्वयं स्फुरण होना ही उसी की चेतनारूप स्वरूप में 'अहम्' इत्यादि रूप से कल्पना करता है ॥ १५ ॥

यहाँ पर परमार्थतः जानने योग्य वस्तु का अभाव होने के कारण जानने योग्य वस्तु का अपने अन्दर न अनुभव करता है और स्वाद लेने योग्य वस्तु का अभाव होने के कारण न तो आस्वाद्य वस्तु का स्वाद लेता है ॥ १६॥

यह आत्मा विकार होते योग्य वस्तु का अभाव होने पर अवने भीतर विभिन्न जीवादि चैतन्यरूप से कुछ भी विकार यह आत्मा नहीं करता है और प्राप्य वस्तु के न रहने से उसकी प्राप्ति नहीं करता है ॥ १७ ॥

असत् जगदाकार का अधिष्ठानभूत अनन्त आत्मा, स्वरूप परिपूर्ण है, सर्वदा एकरूप होकर अपने स्वरूप में ही महान् पर्वत के समान अवस्थित है ॥ १८ ॥

श्रीरघुनन्दन ! इस वचोभङ्गी से मैंने आपको इसका दिग्दर्शन कराया कि जीवभाव आदि एवं जगद्भाव आदि का तनिक भी भेद नहीं है ॥ १९ ॥

न चित्त है, न प्रमाता है और न जगत्स्वरूप आदि विभ्रम हैं, वर्षा वृष्टि होने के काल में अनन्तर शरत्-काल में शब्दशून्य मेघ के समान शुद्ध अधिष्ठान-सदात्मरूप से परिशिष्ट बाधित जगत् शान्त हो शान्ति को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

यथाऽऽवर्तादितामेति द्रवत्वाद् वारि वारिणि ।
तथाऽहन्तादितामेति ज्ञप्ता ज्ञप्तौ ज्ञ आत्मनि ॥ २१ ॥
यथा द्रवत्वं पयसि यथा स्पन्दः सदागतौ ।
अहन्तादेशकालादि तथा ज्ञे ज्ञप्तिमात्रके ॥ २२ ॥
ज्ञो ज्ञतायां शिवं ज्ञानं जानाति ज्ञानबृंहया ।
ज्ञायतेऽहन्तदि ज्ञेन जीवादीत्यभिजीवनैः ॥ २३ ॥
यथोदेति यथाऽज्ञस्य तृप्तिर्ज्ञानेन यादृशी ।
अनन्ये वाऽन्यता बुद्धा स तथा जृम्भते तया ॥ २४ ॥
जीवनं ज्ञातता ज्ञाता जीवनं जीवजीवनम् ।
अत्यन्तमस्ति नो भेदश्चिद्रूपत्वे ज्ञजीवयोः ॥ २५ ॥
यथा ज्ञजीवयोर्नाऽस्ति भेदो नाम तथैतयोः ।
भेदोऽस्ति न ज्ञशिवयोर्विद्धि शान्तमखण्डितम् ॥ २६ ॥
सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्य-
माभास्वरं स्वदनमात्रमचेत्यचिह्नम् ।
सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी तु दृष्टि-
र्बोधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
भेदनिरासो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

मायावी सर्वज्ञ ही अपनी माया से संयुक्त ज्ञप्तिरूप आत्मा में अहंतादिरूप को अर्थात् जीव और जगत् के रूप को वैसे ही प्राप्त करता है जैसे द्रवस्वभाव होने के कारण जल ही जल में आवर्त आदि भाव को प्राप्त होता है ॥२१॥

परमार्थरूप से केवल ज्ञप्तिस्वरूप वाले सर्वज्ञ परमात्मा में वैसे ही अहंता, देश, काल आदि रहते हैं जैसे जल में द्रवत्व सदा गमन करने वाले वायु में स्पन्द रहता है ॥२२॥

ईश्वर अपने ईश्वरभाव में निरतिशय आनन्दरूप स्वरूपज्ञान को समग्र आवरण और परिच्छिन्नता से शून्य ज्ञान की अभिवृद्धि से सदा सर्वदा ही जानता है और अहङ्कार एवं स्थूल-देहस्वरूप जीवभाव में चेतनरूप होता हुआ भी जीवन के हेतुभूत प्राण, इन्द्रिय और विषयों के साथ विभिन्न अध्यासों के कारण 'मैं जीव आदि स्वरूप ही आत्मा हूँ' इस प्रकार जानता है, तात्त्विक ज्ञान उसे नहीं रहता है ॥ २३ ॥

जिस काम और कर्मों की वासना से जिस प्रकार के विषयपरिज्ञान से अज्ञानी जीवात्मा को जिस दर्शन, लाभ और उपभोग के वैचित्र्य से जिस तरह के प्रिय, मोद, प्रमोद आदि विभिन्न प्रकार के उपयोगों का आविर्भाव होता है या वह अनन्य स्वरूप में जैसी भोक्ता, भोग्य और भोग की विचित्रतारूपी अन्यता का अनुभव करता है, उस जीव की काम आदि की वासना से वह परमेश्वर वैसे अपने अङ्गों के विचित्र स्वरूप को धारण करता है ॥२४॥

जब जीव सत्-शास्त्रों से और सद् गुरुओं के उपदेशों से यह जान लेता है कि इस भोग्य जगत् का जीवन परमार्थ स्थिति अधिष्ठान सन्मात्ररूप स्फूर्ति ही है और भोक्ता के जीवन अर्थात् परमार्थ स्थिति के अधीन समस्त जीवों का आनन्दस्वरूप जीवन है, तब भोग्य और भोक्ता के दोनों अधिष्ठानों की चिद्रूपता ही अवशिष्ट रह जाने की स्थिति में जीव और ईश्वर का कभी-भी भेद नहीं रहता है ॥ २५ ॥

प्राज्ञ और तुरीय दोनों का भेद भी वैसे ही नहीं है जैसे वास्तव में जीव और ईश्वर का भेद नहीं है, वस्तुतः आप उन सबको शान्त अखण्ड पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूप ही जाने ॥ २६ ॥

सम्पूर्ण चराचर जगत् पूर्णस्वप्रकाशस्वरूप, आनन्दैकरस, विषय एवं अपने भेदक धर्मों से रहित अज, एक, आदि-मध्य से रहित, प्रशान्त ब्रह्मस्वरूप है। सब प्रशान्त ब्रह्मरूप है इत्यादि तात्कालिक शब्दमयी दृष्टि को पदों से बोधित कराने वाले अर्थों के अभेदसंसर्ग का उल्लेख करने वाली आहार्य कृत्रिम भेददृष्टि साक्षात् प्रयोजन न होने के कारण मिथ्या ही रहती है, क्योंकि विरोध का भान होने पर भागत्याग-लक्षणा का आश्रयण कर लक्ष्यार्थ अखण्ड का बोध कराना ही उसका प्रयोजन है। बोध्य अखण्ड रूप अर्थ तो ॐकार से लक्षित विशुद्ध चैतन्य है, अतः सब ॐकारस्वरूप है, यही जानना चाहिए। ॐकार से विशुद्ध चैतन्य इस प्रकार लक्षित होता है, ॐकार, जगत् और ब्रह्म का एकीकरण कर अनन्तर विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत और तुरीयस्वरूप अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा—ॐकार के चार तरह पादों का विभाग कर पूर्व पूर्व पादों का उत्तरोत्तर पादों में उपसंहार का लेने के बाद चतुर्थ आधी मात्रा से निर्लिप्त अद्वय पूर्णानन्दैक रस नित्य-अपरोक्ष प्रत्यक्-चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म बोधित होता है ॥ २७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
भेदनिरास नामक कुसुमलता का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५७ ॥

५८

वसिष्ठ उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
किरातेशस्य सुरघोर्वृत्तान्तं विस्मयास्पदम् ॥ १ ॥
उत्तरस्या दिशो मेदः कर्पूरपटलं भुवः ।
संभूतं हसनं शार्वं शुक्लो वा चान्द्र आतपः ॥ २ ॥
हिमाद्रेः शृङ्गमस्तीह कैलासो नाम पर्वतः ।
शैलकुञ्जरनिर्मुक्तकलापस्येव नायकः ॥ ३ ॥
विष्णोः क्षीरोदक इव स्वर्गः सुरपतेरिव ।
अब्जजस्येव नाभ्यब्जं गृहं यः शशिमौलिनः ॥ ४ ॥
रुद्राक्षवृक्षदोलाभिः साप्सरोभिर्विभाति यः ।
लोलरत्नशलाकाभिर्लहरीभिरिवाऽर्णवः ॥ ५ ॥
गणाङ्गनानामनिशं मत्तानां चरणैर्हताः ।
अशोका इव राजन्ते यत्राऽशोका विलासिनः ॥ ६ ॥
संचरन् शङ्करो दिक्षु भृगुष्विन्दुमणिद्रवैः ।
निवर्तन्ते प्रवर्तन्ते यत्राऽजस्रं च निर्झराः ॥ ७ ॥
यो लतावृक्षगुल्मौघवापीह्रदनदीनदैः ।
मृगैर्मृगगणैर्भूतैर्ब्रह्माण्डवदिवाऽऽवृतः ॥ ८ ॥
तस्य हेमजटा नाम किराताः संस्थिताः स्थले ।
पिपीलिका वटतरोर्मूलकोशगता इव ॥ ९ ॥
कैलासपादारण्यानां रुद्राक्षैस्तरुगुल्मकैः ।
वसन्ति घूकवत् क्षुद्रास्ते वै निकटजीविनः ॥ १० ॥
आसीत्तेषामुदारात्मा राजा परपुरञ्जयः ।
जयलक्ष्म्या भुज इव यः प्रजायाश्च दक्षिणः ॥ ११ ॥

५८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—कथित अर्थ में प्राचीन भिल्लों के राजा सुरघु का अत्यन्त विस्मय कराने वाला वृत्तान्त के इतिहास का उदाहरण देते हैं अर्थात् शब्दात्मक भेद दृष्टिबोध के लिए इसको उदाहरण से प्रदर्शित किया है ॥ १ ॥

उत्तर दिशा का सार है, भूमि से निकले हुए कपूर का समूह है, शिवजी का कल्याणमय हास्य है, विशुद्ध चन्द्रमा का तेजःपुञ्ज है अथवा उत्तर दिशा का सार, शिवजी का हास्य और चन्द्रमा का प्रकाश—ये सब पृथ्वी में आकर मानो एक कपूर का ढेर स्वरूप हिमालय का शृङ्ग है ॥ २ ॥

पर्वतों में श्रेष्ठ हिमालय के द्वारा धारण की गई शिखरों की परम्परारूप मोतियों की माला का सुमेरु मणि है अथवा यों कहिये कि वह शैलों में विहार करने वाले हाथियों से निकले हुए मुक्तासमुदाय का नायक—संग्राहक राशि है ॥ ३ ॥

भगवान् विष्णु के क्षीरसागर की तरह, सुरपति इन्द्र के स्वर्ग की तरह और ब्रह्मा के आश्रय विष्णुनाभिकमल की तरह वह शशिमौली पार्वतीपति का घर हिमालय का कैलास नाम का पर्वत है ॥ ४ ॥

दिव्याङ्गना अप्सराओं से समन्वित, अतिशय चञ्चल रत्नों की शलाकाओं से युक्त, रुद्राक्ष वृक्षों में लटक रहे झूलों से वह ऐसा शोभायमान है, जैसे समुद्र चञ्चल रत्न रूपी शलाकाओं से युक्त लहरियों से शोभायमान होता है ॥ ५ ॥

जहाँ प्रमत्त प्रमथगणों की अङ्गनाओं के चरणों के विताड़ित विलासी शोकरहित पुरुष अशोक वृक्ष के समान प्रिय लगते हैं ॥ ६ ॥

उस शिखर पर जिन दिशाओं में भगवान् शङ्कर विचरण करते हैं उन दिशाओं में मस्तक में धारित चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के सम्पर्क से चन्द्रकान्तमणि के द्रवों से प्रपातस्थानों में झरने बह रहे हैं और जिन दिशाओं में उनका विचरण नहीं होता है उन दिशाओं में बहते हुए भी झरने रुक जाते हैं ॥ ७ ॥

लताओं, वृक्षों, गुल्मों, बावड़ियों, तलाबों, नदियों, नदों, पशुओं, हरिणों और भूतों के आधार अथवा उन लता आदि से समस्त ब्रह्माण्ड की तरह आच्छादित वह अनेक ब्रह्माण्डों के आधार ब्रह्म के समान है ॥ ८ ॥

उस हिमालय के शिखरभूत कैलास के मल देश में सुवर्ण के सदृश पीत जटावाले दाम के किरात वैसे ही निवास करते थे, जैसे वट वृक्ष के मूल देश में चीटियां निवास करती हैं ॥ ९ ॥

कैलास पर्वत के नीचे पर्वतों के वनों में उत्पन्न होने वाले रुद्राक्ष और अन्य वृक्षों के फल, पुष्प, कन्दमूल आदि से क्षुद्र किरात अपना जीवन व्यतीत करने के कारण उल्लू के समान निकट-जीवी होकर रहते थे ॥ १० ॥

उदार चेता और शत्रुओं के दुर्गों को जीतने वाला मानो विजयलक्ष्मी के हाथ वाला, प्रजा के पालन में दक्ष उन किरातों का एक राजा था ॥ ११ ॥

सुरघुर्नाम बलवान् सुरघोरारिदर्पहा ।
अर्कः पराक्रम इव मूर्तिमानिव मारुतः ॥ १२ ॥
जितो वै राज्यविभवैर्धनैर्गुह्यकनायकः ।
शतक्रतुगुरुर्बोधैः काव्यैरसुरदेशिकः ॥ १३ ॥
स चक्रे राजकार्याणि निग्रहानुग्रहक्रमैः ।
यथाप्राप्तान्यखिन्नाङ्गो दिनानीव दिवाकरः ॥ १४ ॥
तज्जाभ्यां सुखदुःखाभ्यामथ तस्याऽभ्यभूयत ।
स्वगतिर्वागुराबन्धैः श्लिष्टाङ्गस्येव पक्षिणः ॥ १५ ॥
किमार्तं पीडयाम्येनं तिलान् यन्त्रमिवौजसा ।
सर्वेषामेव भूतानां ममेवाऽऽर्तिः प्रजायते ॥ १६ ॥
धनमस्मै प्रयच्छामि धनेनाऽऽनन्दवान् जनः ।
भवत्यहमिवाऽशेषस्तदलं मेऽर्तिनिग्रहैः ॥ १७ ॥

अत्यन्त बली बड़े-बड़े शत्रुओं के दर्प को देवों के समान मिनट भर में विचूर्णित करने वाला, पराक्रम में सूर्य के सदृश गति में शरीरधारी वायु के तुल्य सुरघु नाम का राजा था ॥ १२ ॥

अपने नैकविध राज्य वैभवों से तथा विविध धन-संपत्तियों से उसने गुह्यकों के नायक कुबेर को भी मात कर दिया था। उच्च आत्म ज्ञान के कारण सुराधीश इन्द्र के बृहस्पति के और रस, अलङ्कार आदि से परिपूर्ण काव्यों की विविध रचनाओं के कारण असुरदेशिक के शुक्राचार्य के ऊपर उसने विजय पाई थी ॥ १३ ॥

वह सुरघु नाम का राजा अङ्गों में थकावट का अनुभव किये बिना जिस समय जो राजकार्य प्राप्त होते गये, उनको निग्रह और अनुग्रह की व्यवस्था से ठीक वैसे ही करता था जैसे सहस्रांशु दिवाकर किसी प्रकार की अङ्गों में थकावट का अनुभव किये बिना क्रमशः एक के पीछे एक अनेक दिवसों का निर्माण करते हैं ॥ १४ ॥

जैसे फंदे में फँसे पक्षी की गति लुप्त हो जाती है। वैसे ही निग्रहानुग्रह-व्यवस्था से किये जाने वाले उन राजकार्यों से उत्पन्न सुख और दुःखों के कारण उसकी पारमार्थिक गति लुप्त हो जाती है ॥ १५ ॥

इन दुःखी प्रजाजनों को बलपूर्वक वैसे ही मैं क्यों पीसता हूँ अर्थात् दुःख दे रहा हूँ। तिल पिसे जाते हैं कोल्हू यन्त्र में सभी प्राणियों को वैसे ही दुःख होता है, जैसे कि मुझे होता है ॥ १६ ॥

इसलिए इन दुःखी जनों को मैं धन दूँ, इनके ऊपर निग्रह करना व्यर्थ है। सम्पूर्ण मनुष्य धन से ही वैसे ही आनन्दित होते हैं जैसे धन मिलने पर मैं आनन्दित होता हूँ ॥ १७ ॥

अथवा निग्रहं प्राप्तं करोम्येतेन वै विना ।
वर्तते न प्रजैवेयं विना वारि सरिद्यथा ॥ १८ ॥
हा कष्टमेष निग्राह्यो नित्यानुग्राह्य एष मे ।
दिष्ट्याऽद्य सुखवानस्मि कष्टमद्याऽस्मि दुःखवान् ॥१९॥
इति दोलायितं चेतो न विशश्राम भूपतेः ।
एकत्राऽम्बुमहावर्ते चिरतृष्णमिव भ्रमत् ॥ २० ॥
अथैकदा गृहं तस्य माण्डव्यो मुनिराययौ ।
भ्रान्ताऽशेषककुप्कुञ्जो वासवस्येव नारदः ॥ २१ ॥
तमसौ पूजयामास पप्रच्छ च महामुनिम् ।
सन्देहदुर्द्रुमस्तम्भपरशुं सर्वकोविदम् ॥ २२ ॥

सुरघुरुवाच

भवदागमनेनाऽस्मि मुने ! निर्वृतिमागतः ।
परमां वसुधापीठं संप्राप्त इव माधवे ॥ २३ ॥

अथवा धर्मशास्त्र ने जिस पुरुष के लिए जैसा निग्रह यानी वध, बन्धन आदि दण्ड योग्य ठहराया हो, उसे वैसा ही दण्ड दूँ, वैसे ही बिना दण्ड दिये वह प्रजा अपनी-अपनी मर्यादा में प्रवृत्त नहीं होती है, जैसे जल के बिना नदी प्रवृत्त नहीं होती है ॥ १८ ॥

वध और बन्धन आदि से यह मेरा दण्डनीय है, यह पुरस्कार आदि से सदा अनुकम्पनीय है, भाग्यवश आज सुखी हूँ तो दुर्भाग्यवश आज दुःखी हूँ, यह सब परिशेष में कष्ट ही है ॥ १९ ॥

भूमिपत सुरघु का उपर्युक्त विकल्पों से चञ्चल हुआ मन कहीं एक जगह वैसे ही विश्राम को प्राप्त नहीं हुआ जैसे सोये हुए प्यासे पुरुष का बहुत काल की तृषा से युक्त मन जल के बड़े-बड़े आवर्तों में घूम रहा कहीं एक जगह विश्राम नहीं पाता है ॥ २० ॥

अनन्तर किसी समय जिन्होंने समस्त दिशा रूपी मण्डालों में भ्रमण किया है, ऐसे महर्षि माण्डव्य वैसे ही राजा के घर पर आये जैसे देवर्षि नारद इन्द्र के घर आते हैं ॥ २१ ॥

इस राजा ने सम्पूर्ण शास्त्रों के विज्ञाता, सन्देह रूपी दुष्ट वृक्ष-स्तम्भ के छेदन में कुठार स्वरूप उस महामुनि माण्डव्य का पूजन किया और पूछा ॥ २२ ॥

सुरघु ने कहा—हे महामुने, आपके शुभागमन से मैं वैसे ही अत्यन्त सुखी हुआ जैसे भूमि पर वसन्त ऋतु के अथवा विष्णु के आने पर लोक परम सुखी होते हैं ॥ २३ ॥

अद्य तिष्ठाम्यहं नाथ ! धन्यानां धुरि धर्मतः ।
विकासि रविणेवाऽब्जं यत्त्वयाऽस्म्यवलोकितः ॥ २४ ॥
भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! चिरं विश्रान्तवानसि ।
तदमुं संशयं छिन्धि ममाऽर्कस्तिमिरं यथा ॥ २५ ॥
महतां संगमेनाऽऽर्तिः कस्य नाम न नश्यति ।
सन्देहं तु परामर्तिमाहुरार्तिविदो जनाः ॥ २६ ॥
मन्निग्रहानुग्रहजा मद्भृत्यवपुषि स्थिताः ।
कषान्ति मामलं चिन्ता गजं हरिनखा इव ॥ २७ ॥
तद्यथा समतोदेति सूर्यांशुरिव सर्वदा ।
मतौ मम मुने ! नाऽन्या तथा करुणया कुरु ॥ २८ ॥

माण्डव्य उवाच

स्वयत्नेन स्वसंस्थेन स्वेनोपायेन भूपते ! ।
एषा मनःपेलवता हिमवत् प्रविलीयते ॥ २९ ॥

हे नाथ ! कमल को विकसित करने वाले सूर्य के समान आपने मेरे ऊपर कृपादृष्टि की है । अतः आज मैंने पुण्यवान् लोगों में धर्मतः प्रथम स्थान प्राप्त किया है ॥ २४ ॥

हे सम्पूर्ण धर्मों के जानने वाले भगवन् ! आप परम पद में चरकाल से ही विश्रान्ति पा चुके हैं अतः मेरे इस संशय को वैसे ही काट दीजिये जैसे सूर्य अन्धकार को काट डालता है ॥ २५ ॥

बड़ों के संसर्ग से भला किस का दुःख से छुटकारा नहीं होता ? दुःख के स्वरूप को भलीभाँति जानने वाले विज्ञजन सन्देह को ही महान् दुःख कहते हैं ॥ २६ ॥

मेरे शत्रु, मित्र आदि के शरीरों के विषय में मेरे द्वारा किये गये निग्रह और अनुग्रह से जनित चिन्ताएँ मुझे वैसे ही अत्यन्त उत्पीड़ित कर रही हैं जैसे सिंह के नख हाथी को उत्पीडित करते हैं ॥ २७ ॥

हे मुने ! इसलिए जैसे सूर्य के किरणों के समान मेरी बुद्धि में सर्वदा समदृष्टि का उदय हो और विषमदृष्टि उदय न हो, वैसा कृपापूर्वक करें ॥ २८ ॥

माण्डव्य ने कहा—हे भूपते ! वैराग्य, त्याग आदि स्वयत्न से तथा आत्मसाक्षात्कार होने तक निरन्तर अनुष्ठित श्रवण, मनन आदि आत्मा के अभिव्यञ्जक उपायों से यह मन की मृदुता, हर्ष, विषाद आदि कण्टकों से होने वाली छेदनयोग्यता वैसे ही विनष्ट हो जाती जैसे आतप से कुहरा नष्ट हो जाता है ॥ २९ ॥

केवल अपनेपन का विचार करने से ही मन का भीतरी संताप शीघ्रातिशीघ्र वैसे ही विलीन हो जाता है

स्वविचारणयैवाऽऽशु शाम्यत्यन्तर्मनोज्वरः ।
शरदागममात्रेण मिहिका महती यथा ॥ ३० ॥
स्वेनैव मनसा स्वानि स्वशरीरगतानि च ।
विचारयेन्द्रियाण्यन्तः कीदृशान्यथ कानि च ॥ ३१ ॥
कोऽहं कथमिदं किं वा कथं मरणजन्मनी ।
विचारयाऽन्तरेवं त्वं महत्तामलमेष्यसि ॥ ३२ ॥
विचारणापरिज्ञातस्वभावस्य सतस्तव ।
हर्षामर्षदशाश्चेतस्तोलयिष्यन्ति नाऽचलम् ॥ ३३ ॥
मनः स्वरूपमुत्सृज्य शममेष्यति विज्वरम् ।
भूतपूर्ववपुर्भूत्वा तरङ्गः पयसीव ते ॥ ३४ ॥
तिष्ठदेव मनो रूपं परित्यक्ष्यति तेऽनघ ! ।
कलङ्कविकलं कालं मन्वन्तरगताविव ॥ ३५ ॥

जैसे शरत्-काल के आगमनमात्र से बड़े-बड़े मेघमण्डल विलीन हो जाते हैं ॥ ३० ॥

आप अपने ही मन से भीतर विचार करें कि अपने सम्बन्धी पुत्र, मित्र आदि, अपने शरीर में रहने वाली इन्द्रियाँ तथा बुद्धि आदि वस्तुएँ हैं, वे तत्त्वतः कौन हैं एवं युक्ति से उनका क्या प्रकार है ? ॥ ३१ ॥

मैं कौन हूँ ?, कैसा हूँ ?, यह दिखाई देनेवाला जगत् क्या है ? कैसे जन्म और मरण होते हैं ? इसका भी अन्दर से विचार करें, विचारने से आप महत्ता को अर्थात् अविचार से भासने वाली मिथ्या परिच्छिन्नता के निकल जाने के कारण अपरिच्छिन्नता को अनायास प्राप्त करेंगे ॥ ३२ ॥

जब तथोक्त विचार से अपने सत्स्वरूपभूत स्वभाव को आप जान जायँगे तब आप के अन्तःकरण की स्थिति वैसे ही अनियत नहीं होगी जैसे आप के निश्चल मानस को हर्ष, अमर्ष आदि अवस्थाएँ उत्तोलन नहीं कर पायेंगी अर्थात् उन्नमन और आनमन के हेतु पदार्थों से तराजू की स्थिति अनियत हो जाती है ॥ ३३ ॥

चिन्ताज्वर से मुक्त हुआ आप का मन अपने सङ्कल्प-विकल्पात्मक स्वरूप को छोड़ पूर्वसिद्ध ब्रह्मस्वभाव होकर शान्ति को निर्विक्षेपता को वैसे ही प्राप्त हो जायगा जैसे तरङ्ग अपने उत्तुङ्ग स्वरूप को छोड़ पूर्वसिद्ध जलस्वभाव होकर शान्त हो जाता है ॥ ३४ ॥

जीवन्मुक्त के व्यवहार में समर्थ होने से मन भी विद्यमान रहता हुआ ही वैसे ही पहले के अपने रूप को छोड़ देता है जैसे पहले मनु के बाद कलिकाल को प्राप्त

अनुकम्प्या भविष्यन्ति श्रीमन्तः सर्व एव ते ।
दृष्टतत्त्वस्य तुष्टस्य जनाः पितुरिवाऽवनौ ॥ ३६ ॥
विवेकदीपदृष्टात्मा मेर्वब्धिनभसामपि ।
अथो करिष्यसि नृप ! महत्तामुत्तमार्थदाम् ॥ ३७ ॥
महत्तामागते चेतस्तव संसारवृत्तिषु ।
न निमज्जति हे साधो ! गोष्पदेष्विव वारणः ॥ ३८ ॥
कृपणं तु मनो राजन् ! पेलवेऽपि निमज्जति ।
कार्ये गोष्पदतोयेऽपि जीर्णाङ्गो मशको यथा ॥ ३९ ॥
चेतोवासनया पङ्के कीटवत् परिमज्जसि ।
दृश्यमात्रावलम्बिन्या स्वया दीनतया तया ॥ ४० ॥
तावत्तावन्महाबाहो ! स्वयं संत्यज्यतेऽखिलम् ।
यावद्यावत्परालोकः परमात्मैव शिष्यते ॥ ४१ ॥
तावत्प्रक्षाल्यते धातुर्यावद्धेमैव शिष्यते ।

कर अनेकविध पापों से आक्रान्त हुआ भूमण्डल फिर दूसरे मनु की गति में विद्यमान रहता हुआ ही पापों से छुटकारा पाता है ॥ ३५ ॥

वे विभवसम्पन्न ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी विदित तत्त्व अतएव सन्तुष्ट वैसे ही आप की कृपा के पात्र होंगे जैसे लोक में प्रजाजन, पालन करने वाले सन्तुष्ट पिता की कृपा के पात्र होते हैं ॥ ३६ ॥

हे नृप ! विवेक दीप से आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर आप मेरु, समुद्र और आकाश की भी उत्तम अर्थ देने वाली महत्ता बढ़ायँगे ॥ ३७ ॥

हे साधो ! महत्त्व प्राप्त कर लेने पर आप का अन्तः-करण वैसे ही सांसारिक वृत्तियों में नहीं डूबेगा जैसे गाय के खुरमात्र जल में हाथी नहीं डूबता ॥ ३८ ॥

काम, कार्पण्य आदि दोषों से दूषित मन वैसे ही तुच्छ कार्य में भी मोह को प्राप्त हो जाता है जैसे शिथिल शरीरवाला मच्छर गाय के खुरमात्र जल में डूब जाता है ॥ ३९ ॥

दृश्य मात्र का अवलम्बन करने वाली अन्तःकरण की वासनारूपी अपनी दीनता से कीड़े की तरह आप कीचड़ में फँस रहे हैं ॥ ४० ॥

हे महाबाहो ! स्वयं ज्योति परमात्मा का ही अवशेष-रूप से अनुभव नहीं करने तक समस्त प्रपञ्च का स्वयं परित्याग करना चाहिए ॥ ४१ ॥

तबतक समस्त अध्यात्म आदि शास्त्र वैसे ही देखे जाते हैं, जबतक कि केवल आत्मा प्राप्त हो नहीं जाता

तावदालोक्यते सर्वं यावदात्मैव लभ्यते ॥ ४२ ॥
सर्वः सार्विकया बुद्धया सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
सर्वथा संपरित्यज्य स्वात्मनाऽऽत्मोपलभ्यते ॥ ४३ ॥
यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते ।
सर्वावस्थापरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते ॥ ४४ ॥
यावदन्यन्न संत्यक्तं तावत्सामान्यमेव हि ।
वस्तु नाऽऽसाद्यते साधो ! स्वात्मलाभे तु का कथा ॥४५॥
यत्र सर्वात्मनैवाऽऽत्मा लाभाय यतति स्वयम् ।
त्यक्तान्यकार्यं प्राप्नोति तन्नाम नृप ! नेतरत् ॥ ४६ ॥
स्वात्मावलोकनार्थं तु तस्मात् सर्वं परित्यजेत् ।
सर्वं किञ्चित्परित्यज्य यद् दृष्टं तत्परं पदम् ॥ ४७ ॥
सकलकारणकार्यपरम्परा-
मयजगद्गतवस्तुविजृम्भितम् ।

जैसे जिस धातु में सुवर्ण अस्तित्व है, उस धातु का तबतक शोधन किया जाता है, जबतक केवल सुवर्ण अवशिष्ट नहीं रह जाता ॥ ४२ ॥

सर्वदा सभी प्रकारों से सर्वात्मक बुद्धि से सभी स्थानों सभी दृश्यों का परित्याग कर पूर्णात्मा अपने आप ही प्राप्त हो जाता है। अर्थात् किसी प्रकार कुछ विषयों का परित्याग करने मात्र से वह प्राप्त नहीं होता है ॥ ४३ ॥

सम्पूर्ण दृश्यों का जबतक परित्याग नहीं होता है आत्मा का तबतक साक्षात्कार नहीं होता है क्योंकि सभी अवस्थाओं का परित्याग करने पर शेष ही आत्मा कहा जाता है ॥ ४४ ॥

हे साधो ! व्यवहार में भी विरोधी वस्तु को जबतक नहीं छोड़ते तबतक सामान्य गाय, धन आदि वस्तु को भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है तब असाधारण आत्मा के लाभ की तो कथा ही क्या है ? ॥ ४५ ॥

हे नृप ! अन्य सब कार्यों को छोड़कर जिस विषय की प्राप्ति के लिए आत्मा स्वयं सभी तरह से प्रयत्न करता है, उसी को प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं ॥ ४६ ॥

इससे आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए सभी विषयों का परित्याग करे। सब का परित्याग करने पर जो तत्त्व दिखाई देगा, वही परम पद है ॥ ४७ ॥

मणियों में सूत की तरह सम्पूर्ण कार्य और कारणों की परम्परारूप जगत् में अनुगत सद्रूप वस्तु में केवल अपनी कल्पना से अभिव्यक्ति मिथ्याभूत सद्भिन्न वस्तुओं का सर्वथा परित्याग कर, अनन्तर मन के स्वरूप का भी

अलमपास्य मनः स्ववपुस्ततः परिविलाप्य यदेति तदेव तत् ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सुरघुवृत्तान्ते माण्डव्योपदेशो नामाऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

अज्ञान और उसके संस्कार का भी नाश होने से बाध के द्वारा स्व का भी प्रविलाप कर मन जिस सच्चिदानन्दैक-मात्र वस्तुको प्राप्त करता है, वही परब्रह्म का स्वरूप है ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में सुरघुवृत्तान्त में माण्डव्योपदेश नामक कुसुमलता का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

५९

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा भगवानेनं सुरघुं रघुनन्दन ! ।
ययौ स्वमेव रुचिरं माण्डव्यो मौनमण्डलम् ॥ १ ॥
गते वरमुनौ राजा गत्वैकान्तमनिन्दितम् ।
धिया संचिन्तयामास को नामाऽहमिति स्वयम् ॥ २ ॥
नाऽहं मेरुर्न मे मेरुर्जगन्नाऽहं न मे जगत् ।
नाऽहं शैला न मे शैला धरा नाऽहं न मे धरा ॥ ३ ॥
किरातमण्डलं नेदं मम नाऽहं च मण्डलम् ।
निजसङ्केतमात्रेण केवलं देश एव मे ॥ ४ ॥
त्यक्तो मयैष सङ्केतो नाऽहं देशो न वैष मे ।
इदानीं नगरं शिष्टमेष एवाऽत्र निश्चयः ॥ ५ ॥
पताकावनपङ्क्त्याढ्या भृत्योपवनसङ्कुला ।
गजाश्वसामन्तयुता पुरी नाऽहं न मे पुरी ॥ ६ ॥
व्यर्थसङ्केतसम्बन्धं सङ्केतविगमे क्षतम् ।
भोगवृन्दं कलत्रं च नाऽहं नैतन्ममाऽखिलम् ॥ ७ ॥
एवं सभृत्यं सबलं सवाहनपुरान्तरम् ।
नाऽहं राज्यं न मे राज्यं सङ्केतो ह्ययमाकुलः ॥ ८ ॥
देहमात्रमहं मन्ये हस्तपादादिसंयुतम् ।
तदिदं तावदाश्वन्तरलमालोकयाम्यहम् ॥ ९ ॥
तदत्र तावन्मांसास्थि नाऽहमेतदचेतनम् ।
न चैतन्मम संश्लेषमेत्यब्जस्य यथा जलम् ॥ १० ॥

५९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरघुनन्दन ! इस सुरघु राजा को उपदेश देकर भगवान् माण्डव्य अपने सुन्दर मुनियों की निवास-भूमि की ओर चले गये ॥ १ ॥

उस राजा ने तत्त्वद्रष्टा माण्डव्य मुनि के चले जाने पर एकान्त और अनिन्दित स्थान में जा कर बुद्धि से विचार किया कि मैं स्वयं कौन हूँ ? ॥ २ ॥

न मैं मेरु पर्वव हूँ और न मेरा मेरु है, न जगत् हूँ और न मेरा जगत् है, न मैं पर्वत हूँ और न मेरे पर्वत हैं, न मैं पृथ्वी हूँ, और न मेरी पृथ्वी है न तो मेरा यह किरात मण्डल है और न मैं ही किरात मण्डाल हूँ, केवल अपने सब लोगों की संमति से पट्टाभिषेक आदि के द्वारा मैं राजा बनाया गया हूँ, इस प्रकार अपनी कल्पना से ही मेरा कल्पना केवल देश ही है ॥ ३–४ ॥

मैंने यह कल्पना छोड़ दी, न मैं देश हूँ और न मेरा यह देश है । अब नगर बचा, पर इस नगर के विषय में भी कल्पना त्याग से यही निश्चय निकलता है ॥ ५ ॥

ध्वजाओं और बागों की पंक्तियों से युक्त, सेवक और उद्यानों से भरी, हाथियों, अश्वों और सामन्तों से युक्त नगरी न तो मैं हूँ और न तो नगरी मेरी है ॥ ६ ॥

मिथ्याभूत कल्पना से सम्बन्ध रखने वाला तथा कल्पना का विनाश होने पर नष्ट हो जाने वाला यह भोग समुदाय तथा भार्या आदि कुटुम्ब-परिवार मैं नहीं हूँ और न तो यह सब मेरा ही है ॥ ७ ॥

एवं भृत्यों, सेनाओं, वाहनों और अन्य नगरों से युक्त राज्य मैं नहीं हूँ और न मेरा राज्य है, यह सम्बन्ध अनादि अन्धपरम्परा के व्यवहार से केवल कल्पित है ॥ ८ ॥

हाथ, पैर आदि अवयवों से समन्वित केवल देह में हूँ, ऐसा मैं मनता हूँ । इस विषय में भी मैं अपने भीतर पूर्व रूप से शीघ्र विचार करता हूँ ॥ ९ ॥

इस शरीर में विद्यमान माँस और अस्थि मैं नहीं हूँ, वे अचेतन हैं अतः मेरे सम्बन्ध को माँस और अस्थि में प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि जल में कमल की तरह मैं असङ्ग हूँ ॥ १० ॥

मांसं जडं न तदहं नैवाऽहं रक्तमप्यलम् ।
जडान्यस्थीनि नैवाऽहं न चैतानि मम क्वचित् ॥ ११ ॥
कर्मेन्द्रियाणि नैवाऽहं न च कर्मेन्द्रियाणि मे ।
जडं यत् किल देहेऽस्मिस्तदहं नैव चेतनः ॥ १२ ॥
नाऽहं भोगा न मे भोगा न मे बुद्धीन्द्रियाणि च ।
जडान्यसत्स्वरूपाणि न च बुद्धीन्द्रियाण्यहम् ॥ १३ ॥
मूलं संसृतिदोषस्य मनो नाऽहं जडं हि तत् ।
अथ बुद्धिरहङ्कार इति दृष्टिर्मनोमयी ॥ १४ ॥
मनोबुद्धीन्द्रियाद्यन्तो भूतकोशश्चलद्वपुः ।
नाऽहमेवं शरीरादि शिष्टमालोकयाम्यहम् ॥ १५ ॥
शेषस्तु चेतनो जीवः स चेच्चेत्येन चेतति ।
अन्येन बोध्यमानोऽसौ नाऽऽत्मतत्त्वपुर्भवेत् ॥ १६ ॥
एवं त्यजामि संवेद्यं चेत्यं नाऽहं हि तत् किल ।

मांस जड़ है, अतः मांस मैं नहीं हूँ, रक्त जड़ है, अतः वह भी मद्रूप होने में समर्थ नहीं है। हड्डियाँ भी जड़ हैं, अतः हड्डियाँ भी मैं नहीं हूँ और न वे मांस आदि मेरे हैं ॥ ११ ॥

हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ कर्मेन्द्रियाँ मैं नहीं हूँ और मेरी कर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं। इस देह में जो कुछ जड़ पदार्थ है वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं चेतन हूँ ॥१२॥

मै भोग नहीं हूँ और भोग मेरे नहीं हैं, मेरी आंख, कान, नाक, जिह्वा, त्वक् ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और जड़ एवं असत्स्वरूप वाली ज्ञानेन्द्रियाँ मैं नहीं हूँ ॥ १३ ॥

संसार रूपी दोष का मूल कारण अचेतन मन मैं नहीं हूँ, ज्ञान स्वरूप बुद्धि और अहङ्कार भीं मैं नहीं हूँ और वे मेरे नहीं हैं, क्योंकि अन्तःकरण की अवस्था रूप होने के कारण वे तो जड़ हैं ॥ १४ ॥

अति चपल शरीर से लेकर बुद्धि, इन्द्रिय आदि तक जो स्थूल-सूक्ष्म भूतों का समूह भी मैं नहीं हूँ क्योंकि ये जड़ हैं अब जो शेष बचा है उसे भी देखकर विचार करता हूँ ॥ १५ ॥

शेष प्रमाता जीव विषयों के साथ जब प्रकाशित होता है, तब 'मैं इसे जानता हूँ' इस प्रकार त्रिपुटी-साक्षात्कार से बोधित होने वाला यह प्रमाता आत्मा का तात्त्विक स्वरूप कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

इसी प्रकार साक्षिसंवेद्य प्रमिति और प्रेमय को छोड़ता हूँ, क्यों कि चेत्य मैं नहीं हूँ, यह निश्चित है। अन्त में यह इस निश्चय होता है कि समस्त विकल्पों से शून्य, विशुद्ध साक्षी रूप शेष आत्मा मैं हूँ ॥ १७ ॥

शेषो विकल्परहितो विशुद्धचिदहं स्थितः ॥ १७ ॥
चित्रमेषोऽस्मि लब्धात्मा जातः कालेन कार्यवान् ।
एष सोऽहमनन्तात्मा नाऽन्तोऽस्य परमात्मनः ॥ १८ ॥
ब्रह्माणीन्द्रे यमे वायौ सर्वभूतगणे तथा ।
स एष भगवानात्मा तन्तुर्मुक्तास्विव स्थितः ॥ १९ ॥
चिच्छक्तिरमला सैषा चेत्यामयविवर्जिता ।
भरिताशेषदिक्कुक्षा भैरवाकारधारिणी ॥ २० ॥
सर्वभावगता सूक्ष्मा भावाभावविवर्जिता ।
आब्रह्मभुवनान्तःस्था सर्वशक्तिसमुद्गिका ॥ २१ ॥
सर्वसौन्दर्यसुभगा सर्वप्राकाश्यदीपिका ।
सर्वसंसारमुक्तानां तन्तुराततरूपिणी ॥ २२ ॥
सर्वाकारविकाराढ्या सर्वाकारविवर्जिता ।
सर्वभूतौघतां याता सर्वदा सर्वतां गता ॥ २३ ॥

अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि अनादि काल से लेकर प्रयत्नशील लब्धात्मा भी मैं आज ही परम पुरुषार्थ रूप फल का भाजन हुआ। यह मैं तत्पदबोध्य असीम आतम रूप हूँ, इस परम आत्मा का कहीं पर अन्त नहीं है ॥१८॥

ब्रह्मा, इन्द्र, यम, वायु और समस्त प्राणियों के समूह में वैसे ही यह निखिल ऐश्वर्यों से परिपूर्ण तत्पदबोध्य आत्मा अनुस्यूत रूप से अवस्थित है जैसे मोतियों में अनुस्यूत रूप से सूत अवस्थित रहता है ॥ १९ ॥

यह निर्मल चितिशक्ति विषयों के आमय से (बिमारी से) रहित है, समस्त दिशाओं के मण्डलों को व्याप्त कर लेने वाली है और अज्ञानियों के भय की हेतु होने से भयङ्कर आकार धारण करने वाली है ॥ २० ॥

चितिशक्ति समस्त मानसिक वृत्तियों में निवास करती है, सूक्ष्म है, इसका परिज्ञान करना सहज नहीं वरन् अत्यन्त कठिन है, उत्पत्ति और विनाश दोनों से यह रहित है, पाताल से लेकर ब्रह्मलोक तक समस्त भुवनों के भीतर निवास करती है एवं समस्त शक्तियों की पिटारी है ॥ २१ ॥

चिति शक्ति निरतिशयानन्दरूप सर्वसौन्दर्य से परिपूर्ण है, समस्त प्रकाश-योग्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाली दीपिका है और सम्पूर्ण संसाररूपी मोतियों की माला को गुहने के लिए विशाल सूत्र स्वरूप है ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण आकार और विकारों से समन्वित और सकल आकारों से रहित तथा सब भूतों के समूह की रूपता को प्राप्त कर चितिशक्ति ने सदा सर्वभाव को प्राप्त किया है ॥ २३ ॥

चतुर्दशविधान्येषा भूतानि भुवनोदरे ।
एतन्मयीयं कलना जागती वेदनात्मिका ॥ २४ ॥
मिथ्यावभासमात्रं तु सुखदुःखदशागतिः ।
नानाकारमयाभासः सर्वमात्मैव चित्परा ॥ २५ ॥
सेयमात्मा मम व्यापी सेयं यदवबोधनम् ।
सेयमाकलिताङ्गाभा करोति नृपविभ्रमम् ॥ २६ ॥
अस्या एव प्रसादेन मनो देहरथे स्थितम् ।
संसारजाललीलासु याति वल्गति नृत्यति ॥ २७ ॥
इदं मनःशरीरादि न किञ्चिदपि वस्तुतः ।
नष्टे न किञ्चिदप्यस्मिन् परिनश्यति पेलवे ॥ २८ ॥
जगज्जालमयं नृत्तमिदं चित्तनटैस्ततम् ।
एतयैवैकया बुद्ध्या दृश्यते दीपलेखया ॥ २९ ॥

यह चितिशक्ति चौदह भुवनों के भेद से चौदह प्रकार के भूतों के सङ्घों को अन्दर धारण करती है । अनुभवात्मक जगत् की यह कल्पना भी इस चितिशक्ति को छोड़कर और कुछ भी नहीं है ॥ २४ ॥

सुख और दुःख की अवस्था का परिज्ञान केवल मिथ्या अवभास है और नाना प्रकार के आकारों से अवभासमान आत्मा सब कुछ परा चित् ही है ॥ २५ ॥

समस्त जगत् में अनुगत मेरी आत्मा यह चितिशक्ति है, मेरी बुद्धि की साक्षी यह चितिशक्ति द्रष्टा और दृश्य के भेद से काल्पनिक शरीर होकर 'मैं राजा हूँ' ऐसा भ्रम पैदा करती है अर्थात् ज्ञान दशा के पहले उसी ने 'मैं राजा हूँ' यह भ्रम पैदा किया था ॥ २६ ॥

इसी चितिशक्ति के प्रसाद से शरीररूपी रथ पर आरूढ़ मन अनेक तरह के संसारों की लीलाओं में जाता है, दौड़-धूप करता है और नृत्य करता है ॥ २७ ॥

ये मन, शरीर आदि वस्तुएँ वास्तव में कुछ भी नहीं हैं । तुच्छ मन आदि के नष्ट हो जाने पर इस आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ता है ॥ २८ ॥

चित्तरूपी नटों से निर्मित जगज्जालरूपी यह नाटक इसी एक साक्षीरूपी बुद्धि से, दीपक की शिखा की तरह देखा जाता है ॥ २९ ॥

दुःख की बात है कि निग्रह और अनुग्रह की स्थिति में मुझे व्यर्थ ही देहविषयिणी चिन्ता हुई, क्योंकि यहाँ परमार्थ दृष्टि से देह कुछ भी नहीं है ॥ ३० ॥

अहो ! अब तो मैं जाग गया हूँ, मेरा असत् ज्ञान अर्थात् अज्ञान नष्ट हो गया, द्रष्टव्य को समग्ररूप से मैंने

कष्टं मुधैव मे चिन्ता निग्रहानुग्रहस्थितौ ।
बभूव देहनिष्ठेह न किञ्चिदपि देहकम् ॥ ३० ॥
अहो त्वहं प्रबुद्धोऽस्मि गतं दुर्दर्शनं मम ।
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं प्राप्तं प्राप्यमिदं मया ॥ ३१ ॥
सर्वं किञ्चिदिदं दृश्यं दृश्यते यज्जगद्गतम् ।
चिन्निष्पन्दांशमात्रांशान्नान्यत्किञ्चन शाश्वतम् ॥ ३२ ॥
क्व तौ कीदृग्विधौ वाऽपि किन्निष्ठौ वा किमात्मकौ ।
निग्रहानुग्रहौ लोके हर्षामर्षक्रमौ तथा ॥ ३३ ॥
किं सुखं किं नु वा दुःखं सर्वं ब्रह्मेदमाततम् ।
अहमासं मुधा मूढो दिष्ट्याऽमूढोऽस्म्यहं स्थितः ॥३४ ॥
किमस्मिन्नेवमालोके शोच्यते किं विमुह्यते ।
किं प्रेक्ष्यते किं क्रियते स्थीयते वाऽथ गम्यते ॥ ३५ ॥

देख लिया और प्राप्तव्य को भी प्राप्त कर लिया ॥ ३१ ॥

जगत् में यह जो कुछ दृश्य दिखाई देता है, वह चित् का निष्पन्द माया से जीवभाव के विभ्रम अंश है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह अवयवों से युक्त लिङ्गशरीर का भ्रम इसकी मात्राएँ हैं, बाह्य और अन्तःकरण के अभेद का विभ्रम अंश है, जाग्रत् और स्वप्न के दृश्यों का विभ्रम, निष्कर्ष यह निकला कि माया से होने वाले चित् के जीव-भ्रम के अंशभूत सत्रह अवयवों वाले लिङ्गशरीर के मात्राभूत बाह्य और अन्तःकरण के अभेद विभ्रमों के अंश जाग्रत् और स्वप्नों के दृश्यों के विभ्रम से भिन्न दूसरा स्थायी अर्थात् जिसका तीनों कालों में बाध नहीं होता है ऐसा नहीं है ॥ ३२ ॥

लोक में निग्रह और अनुग्रह कहाँ हैं, किस तरह वे हैं, किसमें रहते हैं, उनका रूप क्या है, इसी तरह उनके हेतु हर्ष और अमर्ष की परम्परा भी कहाँ है अर्थात् सभी व्यर्थ मिथ्या ही हैं ॥ ३३ ॥

क्या सुख है ? क्या दुःख है ? काल्पनिक सुख औ दुःख दोनों ही मिथ्या हैं । यह सब कुछ व्यापक ब्रह्म स्वरूप का ही विस्तार है पहले मैं व्यर्थ ही मूढ़ बन क बैठा था, अब भाग्यवश अपने वास्तव स्वरूप में अवस्थि हो गया हूँ ॥ ३४ ॥

आनन्दैकरस पूर्णस्वभाव से अनुभव होने वाले ब्रह्म-रूप आलोक में क्या शोक है ? क्या मोह है ? क्या प्रेक्षण है ? क्या कार्य है ? क्या अवस्थान है और क्या गमन है ? अर्थात् शोक आदि की संभावना नहीं है ॥३५॥

किञ्चिदेवमिदं नाम चिदाकाशं विराजते ।
नमो नमस्ते निस्तत्त्व दिष्ट्या दृष्टोऽसि सुन्दर ! ॥३६॥
अहो नु संप्रबुद्धोऽस्मि सम्यग्ज्ञातमलं मया ।
नमो मह्यमनन्ताय सम्यग्ज्ञानोदयाय च ॥ ३७ ॥

विगतरञ्जननिर्विषयस्थिति-
र्गतभवभ्रमरञ्जितवर्जिते ।
स्थिरसुषुप्तकलाभिगतस्ततः
समसमं निवसाम्यहमात्मनि ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
सुरघुविश्रान्तिर्नाम एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

अलौकिक चमत्कार से परिपूर्ण यह चिदाकाश नाम की वस्तु सबका अतिक्रमण कर या सबसे परे अपना अस्तित्व रखती है। हे निरतिशयानन्दरूपी सौन्दर्य से परिपूर्ण, निःशेषतत्त्वरूप निर्गुण चिदाकाश ! आपको मेरा बार-बार नमस्कार हैं, प्रबल सौभाग्य से मैं आपको देख सका हूँ ॥ ३६ ॥

अहो ! निश्चित रूप से मैं प्रबुद्ध हो चुका हूँ, ज्ञातव्य को भली-भाँति पूर्णरूप से मैंने जान लिया है जिसका सम्यक्-ज्ञान होने पर आविर्भाव होता है सम्यक्-ज्ञानरूपी जो अभ्युदय है, उस अनन्त आत्मरूप तत्त्व को नमस्कार है ॥ ३७ ॥

राग, द्वेष आदि दोषों के निकल जाने के कारण मेरी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूपी तीनों अवस्थाएँ चली गई हैं तथा निश्चल सुषुप्ति कला से उपाधियों के हट जाने के कारण मैंने परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त कर लिया है, इसलिए मैं संसार भ्रम से रहित आकाश आदि अध्यारोप रूपी राग से शून्य प्रत्यक्-ब्रह्म में परम अभेद से निवास करता हूँ, अब कभी मैं विषता को प्राप्त नही करूँगा ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में सुरघुविश्रान्ति नामक कुसुमलता का उनसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५९ ॥

६०

वसिष्ठ उवाच

इति हेमजटाधीशो लेभे पदमनुत्तमम् ।
विवेकाध्यवसायेन ब्राह्मण्यमिव गाधिजः ॥ १ ॥
अनर्थाकारकार्यासु नाऽऽसीच्चेष्टासु खेदवान् ।
भूयो भूयः प्रयुक्तासु दिनमालास्विवेश्वरः ॥ २ ॥
ततः प्रभृति सोऽतिष्ठत् सर्वदा विगतज्वरः ।
समासमे स्वके कार्ये जलौघाग्र इवाऽचलः ॥ ३ ॥
हर्षामर्षविनिर्मुक्तः प्रत्यहं कार्यमाहरन् ।
उदारगम्भीरवपुर्जहाराऽम्बुनिधेः श्रियम् ॥ ४ ॥
सुषुप्तपदधर्मिण्या चित्तवृत्या व्यराजत ।
निष्कम्पया प्रकाशिन्या दीपः स्वशिखयेव सः ॥ ५ ॥

६०

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हेमजट नामक भिल्लों के राजा सुरघु ने विवेक के वैसे ही निश्चयात्मक ज्ञान से परम पद का लाभ किया जैसे विश्वामित्र ने अपने तपो-बल से ब्रह्मत्व प्राप्त किया था ॥ १ ॥

पुनः पुनः दिवस मालाओं के निर्माता भगवान् सूर्य की तरह वह राजा पुनः पुनः धर्म, अर्थ आदि की प्राप्ति की हेतुभूत क्रियाओं का अनुष्ठान करता था, उन क्रियात्मक चेष्टाओं से दुःखात्मक फलों के होने पर भी वह दुःखी नहीं होता था ॥ २ ॥

तब से वह राजा जैसे प्रबल प्रवाह के सामने नदी के मध्य में रहने वाला पर्वत अटल बना रहता है वैसे ही चिन्ताज्वर से मुक्त हो अपने राजोचित निग्रह और अनुग्रह रूपी कार्यों में अटल बना रहता था ॥ ३ ॥

हर्ष और विषाद से रहित होकर प्रतिदिन अपने आय व्यय आदि कार्यों को करते हुए उस उदार और गम्भीर आकृति वाले राजा ने मानों समुद्र की सुन्दरता चुरा ली अर्थात् समुद्र की तरह वह उदार और गम्भीर था ॥४॥

जैसे प्रकाशमयी कम्पनशून्य अपनी शिखा से दीपक अत्यन्त शोभित होता है, वैसे ही वह राजा सुषुप्ति के समान निश्चल प्रकाश-मयी चित्तवृत्ति से अत्यन्त शोभित होता था ॥ ५ ॥

न निर्घृणो दयावाद् नो न द्वन्द्वी नाऽथ मत्सरी ।
न सुधीर्नाऽसुधीर्नाऽर्थी नाऽनर्थी स बभूव ह ॥ ६ ॥
समदर्शनया नित्यं वृत्त्याऽचापलधीरया ।
अन्तःशीतलया रेजे परिपूर्णार्णवेन्दुवत् ॥ ७ ॥
सर्वं चित्तत्त्वकलनं जगदित्यवलोक्य सः ।
प्रशान्तसुखदुःखश्रीस्तस्य पूर्णा मतिर्बभौ ॥ ८ ॥
उल्लसन्विकसन्पूर्णस्तिष्ठन्गच्छन्विशन्स्वपन् ।
अभूत्समसमाधिस्थः प्रबुद्धश्चिल्लयं गतः ॥ ९ ॥
स कुर्वन्विगतासङ्गं राज्यं राजीवलोचनः ।
अतिष्ठदक्षताकारो भूरिवर्षशतान्यथ ॥ १० ॥
संविवेशमिमं देहनामकं तदनु स्वयम् ।
स जहौ तेजसाक्रान्तो रूपं हिमकणो यथा ॥ ११ ॥
विवेश परमाद्यन्तकारणं कारणेश्वरम् ।
प्रज्ञया सरितां वारिपरिपूर्णमिवाम्बुधिम् ॥ १२ ॥
अधिगतविमलैकरूपतेजा
विजनदशां समुपेत्य शान्तशोकः ।
अलमभवदसौ परस्वरूपं
घटखमिवाम्बरसंयुतं महात्मा ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सुरघुवृत्तान्ते सुरघुनिर्वाणं नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

वह न निर्दयी था, न दयालु था, न द्वन्द्वों से युक्त था, न मत्सर वाला था, न बुद्धिमान् था, न बुद्धि रहित था, न अर्थी था और न अनर्थी था ॥ ६ ॥

सदा समदृष्टि, चाञ्चल्यरहित धीर और अन्तःशीतलवृत्ति के द्वारा परिपूर्ण सागर और चन्द्रमा के समान शोभायमान हुए ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण जगत् को चित्त संकल्प के रूप में समझकर उनकी बुद्धि सुख-दुःख के भावों से सर्वथा परिशून्य होकर शोभायमान होने लगी ॥ ८ ॥

उल्लसित शरीर और विकसित चित्त होकर अवस्थान, गमन, शयन, जागरण सभी अवस्थाओं में समाधिस्थ के समान चैतन्य में विलीन होने लगा ॥ ९ ॥

उस कमलनयन सुरघु ने इस प्रकार अनासक्त भाव से राज्य करते हुए अक्षत शरीर-अविनश्वर देह अर्थात् किसी प्रकार के विकारों से शून्य शरीर होकर अनेक सौ व व्यतीत किये ॥ १० ॥

अनन्तर हिमकण जैसे सूर्य की किरणों के पड़ने प अपने स्वरूप का त्याग करता है अर्थात् विलीन हो जाता है। वैसे ही उसने स्वयं शरीर का त्याग किया ॥ ११ ॥

नदी का जल जैसे परिपूर्ण सागर में प्रवेश करता है उसमें मिल जाता है वैसे ही सृष्टि और प्रलय के समय जगत् के और ब्रह्मा आदि के कारण उस परब्रह्म में साक्षात्करात्मक वृत्ति से लीन हो गया ॥ १२ ॥

घट का विनाश होने पर घटाकाश जैसे महाकाश में विलीन हो जाता है, वैसे ही वह महात्मा सुरघु विमल आनन्दैक रस अवप्रकाश आत्मा में लीन होने से जन्म आदि विकारों से शून्य एवं शोकरहित होकर परब्रह्म स्वरूप हो गये ॥ १३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में सुरघुवृत्तान्त में सुरघुनिर्वाण नामक कुसुमलता का साठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

६१

वसिष्ठ उवाच

एवमुत्पलपत्राक्ष ! राघवाघविपर्यये ।
पदमासादयाद्वन्द्वं विशोको भव भूतये ॥ १ ॥
सतां दृष्टिमवष्टभ्य न मनः परितप्यते ।
घोरे तमसि निर्मग्नं लब्धदीपं शिशुर्यथा ॥ २ ॥

६१

हे कमलनयन राघव ! तुम भी तत्त्वज्ञान के द्वारा शोक और हर्ष आदि के निमित्त कारण आपका विनाश कर अर्थात् समूल उच्छेद कर शोकरहित अद्वन्द्व पद को प्राप्त करो ॥ १ ॥

जैसे बालक घोर अन्धकार में पड़कर अतिशय भयभीत होता है और दीपक का प्रकाश प्राप्त कर भयशून्य हो जाता है वैसे ही घोर अज्ञानान्धकार में मग्न मन विषय से सन्तप्त होता है और बाद में तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्मप्रकाश की प्राप्ति कर सन्तापरहित हो जाता है ॥ २ ॥

विवेकावस्थया चेतस्तथैवायाति निर्वृतिम् ।
पतच्छ्‌वभ्रे दृढतृणप्रचयालम्बनादिव ॥ ३ ॥
अथैतां पवनीं दृष्टिं भावयित्वाप्युदाहरन् ।
नित्यमेकसमाधानो भव भूषितभूतलः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

कथमेक समाधानं कीदृशं वा मुनीश्वर ! ।
वाताहतमयूराङ्गरुहलोलं मनो भवेत् ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु तस्यैव सुरघोः प्रबुद्धस्य सतस्तदा ।
पर्णादस्य च राजर्षेः संवादमिममद्भुतम् ॥ ६ ॥
राघवैकसमाधानबोधितायोजितात्मनोः ।
परस्परं समालापमिमं प्रकथयामि ते ॥ ७ ॥
बभूव पारसीकानां पार्थिवः परवीरहा ।
परिघो नाम विख्यातः परिघः स्यन्दने यथा ॥ ८ ॥
स बभूव परं मित्रं सुरघो रघुनन्दन ! ।

मोहरूपी अन्धेरे कूप में गिरा हुआ मन इस सुरघु के समान ही विवेक की अवस्था को प्राप्त कर दृढ़ तृण समूह के द्वारा हाथ के सहारे की प्राप्ति के समान ही रम शान्ति को प्राप्त करो ॥ ३ ॥

तुम इस पवित्र दृष्टि का अवलम्बन कर अर्थात् पुनः नः अनुशीलनकर और अन्य लोगों को भी इसका उपदेश कर सदा समाहित चित्त होकर भूतल को अलङ्कृत रो ॥ ४ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! मन तो वायु से आहत मोर के पंखों के समान अतिशय चञ्चल है उसकी एक समाधानता कैसे हो सकती है और एक समाधान क्या है ? —यह आप कहें ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—प्रबुद्ध अवस्था की प्राप्ति होने- र सुरघु और पर्णाद राजर्षि के अपूर्व संवाद को कहता , सुनें ॥ ६ ॥

हे राघव ! एकरूप समाधि के बल से प्रबुद्धात्मा रघु और पर्णाद की परस्पर वार्ता को तुमसे कहता हूँ नो ॥ ७ ॥

पारसीक देश के रथ के परिघ अर्थात् चक्र के दण्ड के मान सभी का आश्रयदाता वीर शत्रुओं का नाशक रघ नाम का एक राजा था ॥ ८ ॥

नन्दनकाननवासी कन्दर्प का वसन्त ऋतु जैसे परम है वैसे ही वह परिघ सुरघु का परम मित्र था ॥९॥

किसी समय प्रजाओं के पापाचरण के कारण परिघ

नन्दनोद्यानसंस्थस्य मदनस्येव माधवः ॥ ९ ॥
कदाचित्परिघस्याभूदवर्षं मण्डले महत् ।
कल्पान्त इव संसारे प्रजादुष्कृतदोषजम् ॥ १० ॥
विनेशुर्जनतास्तत्र बह्व्यः क्षुत्क्षामजीविताः ।
ज्वलिते विपिने वह्नौ यथा भूतपरम्पराः ॥ ११ ॥
तद्दुःखं परिघो दृष्ट्वा विषादमतुलं ययौ ।
तत्याजाश्वखिलं राज्यं दग्धं ग्राममिवाध्वगः ॥ १२ ॥
प्रजानाशप्रतीकारेष्वसमर्थो विरागवान् ।
जगाम विपिने कर्तुं तपोऽजिनमुनीन्द्रवत् ॥ १३ ॥
पौराणामपरिज्ञाते कस्मिंश्चिद्दूरकानने ।
समुवास विरक्तात्मा लोकान्तर इवापरे ॥ १४ ॥
तपश्चरञ्छान्तमतिर्दान्तकन्दरमन्दिरे ।
स्वयं शीर्णानि शुष्काणि तत्र पर्णान्यभक्षयत् ॥ १५ ॥
चिरं हुताशवच्छुष्कपर्णान्येवाथ भक्षयन् ।
पर्णाद इति नामासौ प्राप मध्ये तपस्विनाम् ॥ १६ ॥

के राज्य में प्रलयकाल के समान भयङ्कर अनावृष्टि हुई ॥ १० ॥

अनावृष्टि से उसके प्रजागण भूख के कारण प्रज्वलित दावानल में पतङ्गों=कीड़ों के समान विनष्ट हो गये ॥ ११ ॥

प्रजाओं के इस विषम कष्ट को देखकर राजा अतिशय दुःखी हुआ अग्नि से जलते हुए गाँव को जैसे पथिक शीघ्र छोड़ देता है वैसे ही उसने भी दुःख से राज्य का शीघ्र ही परित्याग किया ॥ १२ ॥

प्रजाओं के विनाश को दूर करने में असमर्थ होकर परिघ ने वैराग्यपूर्वक मृग-चर्माम्बर परिधान कर महा तपस्वी के समान तप करने के लिए वन में चला गया ॥ १३ ॥

राज्य से विरक्त भाव सम्पन्न होकर नगरवासियों से सर्वथा अज्ञात राज्य से बहुत दूर जङ्गल में रहने लगा, ऐसा मालूम देता था कि दूसरे ही लोक में जाकर निवास कर रहा है ॥ १४ ॥

शमदमगुणों से समन्वित होकर वृक्ष से स्वयं गिरे हुए सूखे पत्तों को खाकर वहाँ एक कन्दरा गृह में तपस्या करने लगा ॥ १५ ॥

जैसे अग्निदेव शुष्क पत्तों का भोजन करते हैं, वैसे ही वह सूखे पत्तों का ही सेवन करता था, अतः तपस्वियों के मध्य में उसकी 'पर्णाद' नाम से प्रसिद्धि हो गई ॥१६॥

ततःप्रभृति पर्णादनामा राजर्षिसत्तमः ।
जम्बूद्वीपे बभूवासौ विख्यातो मुनिसद्मसु ॥ १७ ॥
ततो वर्षसहस्रेण तपसा दारुणात्मना ।
प्रापदभ्यासवशतो ज्ञानमात्मप्रसादजम् ॥ १८ ॥
बभूव विगतद्वन्द्वो निराशः शान्तमानसः ।
नीरागो निरनुक्रोशो जीवन्मुक्तः प्रबुद्धधीः ॥ १९ ॥
विजहार यथाकामं त्रिलोकीमठिकामिमाम् ।
सिद्धसाध्यैः समं साधो ! सहंसालिरिवाब्जिनीम् ॥२०॥
एकदा तस्य सदनं हेमचूडमहीपतेः ।
प्राप रत्नविनिर्माणं मेरोः शृङ्गमिवापरम् ॥ २१ ॥
ते तत्र प्राक्तने मित्रे पूजामकुरुतां मिथः ।
पूर्णौ विज्ञातविज्ञेयौ मौर्ख्यगर्भाद्विनिर्गतौ ॥ २२ ॥
अहो नु बत कल्याणैः फलितं मम पावनैः ।

उस समय से जम्बूद्वीप में निवास करने वाले मुनियों के समाज में पर्णाद नाम के राजर्षि श्रेष्ठ के रूप में विख्यात हुए ॥ १७ ॥

अनन्तर परिघ ने सहस्र वर्षों तक घोर तपस्या के द्वारा अभ्यास के बल से आत्मप्रसाद से अर्थात् चित्त शुद्धि और ईश्वर के अनुग्रह से उत्पन्न तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की ॥ १८ ॥

उस दिन से वह शीत और उष्ण आदि द्वन्द्वों के अनुभव से रहित, आशा शून्य शान्तचित्त, विषयों के प्रति अनुराग रहित, निरनुक्रोश अर्थात् निन्दा प्रशंसा सुख दुःखादि से शून्य प्रबुद्धमति जीवन्मुक्त हो गये ॥ १९ ॥

हे साधो ! हंसों के सान्निध्य समन्वित पद्मिनी के ऊपर जैसे भ्रमर समूह भ्रमण करते हैं वैसे ही सिद्ध और साध्यों के बीच में इस त्रिलोकी रूपी मठिका में वह भ्रमण करने लगा ॥ २० ॥

भ्रमण करते-करते एक समय हेमजटा अर्थात् स्वर्णचूड नाम के देश के राजा उस सुरघु के रत्न जालमयी द्वितीय सुमेरु शिखर के समान मनोहारिणी राजधानी में आया ॥ २१ ॥

प्राचीन बन्धुता के सूत्र में आबद्ध जानने योग्य सभी विषयों के ज्ञाता, मूर्खता के आधारभूत संसार से जीवन्मुक्त वे परिघ और सुरघु जिनकी बहुत दिनों के बाद भेट हुई थी, परस्पर आदर और पूजा करने लगे ॥ २२ ॥

वे दोनों एक दूसरे को लक्ष्य कर कहने लगे कि "अहो ! आज मेरे पुण्यकार्य का फल मिला है कि आज मैंने तुमको प्राप्त किया है ॥ २३ ॥

संप्राप्तवानहं यत्त्वामित्यन्योऽन्यमथोचतुः ॥ २३ ॥
आलिङ्गितशरीरौ तावन्योऽन्यानन्दिताकृती ।
एकासने विविशतुश्चन्द्रार्काविव भूधरे ॥ २४ ॥

परिघ उवाच

परमानन्दमायातं चेतस्त्वद्दर्शनेन मे ।
इन्दुबिम्ब इवोन्मग्नं मनः शीतलतां गतम् ॥ २५ ॥
अकृत्रिमसुखं प्रेम वियोगो शतशाखताम् ।
प्रयाति पल्वलतटेऽच्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ २६ ॥
विश्रब्धास्तान्कथालापांस्ता लीला तच्च चेष्टितम् ।
संस्मृत्य प्राक्तनं साधो ! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥२७॥
ज्ञानमेतन्मया प्राप्तं त्वया ज्ञातं यथाऽनघ ! ।
माण्डव्यस्य प्रसादेन परमात्मप्रसादजम् ॥ २८ ॥
अद्य कच्चिददुःखस्त्वं कच्चिद्विश्रान्तवानसि ।
परमे कारणे मेराविव भूमण्डलाधिपः ॥ २९ ।

अतिशय आनन्दित होकर परस्पर आलिङ्गन कर वे दोनों पृथ्वी पर चन्द्र और सूर्य के समान एक आसन पर बैठे ॥ २४ ॥

परिघ ने कहा—आज तुम्हारा दर्शन प्राप्त कर मेरा अन्तःकरण वैसे ही आनन्दित और सन्तापरहित हो गया है जैसे चन्द्रबिम्ब में अर्थात् शीतांशुकिरणों में निमग्न मन आनन्दित और सुशीतल हो जाता है । प्रकृत में "चेतो" और 'मन' इनके प्रयोग का यह आशय है कि चिति शक्ति की प्रधानता में आनन्दाविर्भाव और मननशक्ति की प्रधानता में ताप के उपशमन की प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

जैसे पल्वल प्रान्त में अर्थात् सामान्य जल से सिक्त स्थान में जिसकी जड़ कटी नहीं है ऐसा वृक्ष शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से बढ़ने लगता है वैसे ही विरहावस्था में भी अकृत्रिम प्रेम बढ़ता ही है अर्थात् हम लोगों की वियुक्त स्थिति में भी कम नहीं हुआ है, वरन् बढा ही है ॥ २६ ॥

हे साधो ! तुम्हारा पहले के विश्वस्त आलाप, लीलाएँ और अन्य चेष्टाओं का पुनः पुनः स्मरण कर मुझे प्रसन्नता हो रही है ॥ २७ ॥

हे निष्पाप ! जैसे तुमने माण्डव्य मुनि के अनुग्रह से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की थी, वैसे ही मैंने परमात्मा के अनुग्रह से यह ज्ञान प्राप्त किया है ॥ २८ ॥

आज तुम दुःखरहित हो तो ? भूमण्डल के अधिपति सूर्य जैसे सुमेरु पर्वत पर विश्राम करते हैं वैसे ही तुम भी परमकारण परब्रह्म में विश्राम प्राप्त करते हो तो । अर्थात् परम कारण स्वरूप विवर्त और उपादान कारणों से उप-

कच्चित्परमकल्याण आत्मारामतया तव ।
प्रसादो जायते चित्ते शरदीव सरोऽम्भसि ॥ ३० ॥
कच्चित्करोषि समया सुप्रसन्नगभीरया ।
दृष्ट्या सुभग कार्याणि कार्याण्येव नराधिप ! ॥ ३१ ॥
निराधिव्याधयो धीराः कच्चित्सम्पन्नशालयः ।
जनतास्तव देशेषु तिष्ठन्ति विगतज्वरम् ॥ ३२ ॥
कच्चिदुद्दामफलिनी फलिनीव फलानता ।
धरा नव फलापूरैर्भृशं धारयति प्रजाः ॥ ३३ ॥
कच्चित्तव दिगन्तेषु चन्द्रस्येवांऽशुपञ्जरम् ।
तुषारनिकराकारं प्रसृतं पावनं यशः ॥ ३४ ॥
कच्चिद्गुणगणैरेता दिशो निर्विवरीकृताः ।
त्वया सरोम्भसाऽबाह्या बिसानामिव भूमयः ॥ ३५ ॥
कच्चित्कलमकेदारकोणस्थानेषु हृष्यतीः ।

लक्षित ब्रह्म में उत्तरोत्तर भूमिका के परिपाक सविश्रान्ति की प्राप्ति कर रहे हो ॥ २९ ॥

शरत्काल में सरोवर का जल जैसे प्रसन्न=स्वच्छ होता है, वैसे ही आत्माराम होने से परमकल्याण भाजन तुम्हारा चित्त इस समय प्रसन्न अर्थात् रजोगुण और तमोगुण से अनावृत हो गया है तो ? ॥ ३० ॥

हे नराधिप ! हे सौभाग्यशालिन् ! प्रसन्न और सर्वत्र समभावापन्न अनन्त दृष्टि अर्थात् असीम अपरिच्छिन्न दृष्टि का अवलम्बन कर अवश्यकर्तव्य कर्मों को सम्पन्न करते हैं तो ? ॥ ३१ ॥

तुम्हारे प्रजा वर्ग आधि-व्याधि से निर्मुक्त, धन-धान्यादि सम्पन्न और विगत ज्वर=क्लेशशून्य होकर धीर भाव से रहते हैं तो ? ॥ ३२ ॥

तुम्हारे अधिकारस्थ पृथिवी धान्य आदि फलों से परिपूर्ण होकर फल के भार से अवनत कल्पलता के समान यथा समय अभीष्ट फल देकर तुम्हारी प्रजाओं को अच्छी तरह से धारण और पोषण करती है तो ? अर्थात् उत्कृष्ट धान्य आदि फलों से सम्पन्न फलवती कल्पना के समान प्रजाओं के अभिलषित फलों की पूर्ति के द्वारा पालन-पोषण करती है तो ॥ ३३ ॥

चन्द्रमा की अनेक किरणों की तरह समस्त दिशाओं में तुषार के समूह के समान क्या आपका पवित्र यश फैला है ? ॥ ३४ ॥

क्या आपने अपने प्रशस्त गुण-गणों से वैसे ही दिशाएँ भर दी हैं ? जैसे तालाब का जल अपने अन्दर रहने वाली कमल के नाल की भूमि को भर देता

प्रतिग्रामं कुमार्यस्ते गायन्त्यानन्दनं यशः ॥ ३६ ॥
कुशलं तव धान्येषु धनेषु विभवेषु च ।
भृत्येषु च कलत्रेषु पुत्रेषु नगरेषु च ॥ ३७ ॥
आधिव्याधिविहीनेयं कच्चित्कायलता तव ।
फलं फलति पुण्याख्यं यदिहाऽमुत्र चोदितम् ॥ ३८ ॥
आपातरमणीयेषु वर्तेताऽत्यन्तवैरिषु ।
कच्चिद्विषयसर्पेषु सविरागं मनस्तव ॥ ३९ ॥
अहो बत चिरं कालमावां विश्लेषमागतौ ।
कालेन श्लेषितौ भूयो वसन्ताद्रितटाविव ॥ ४० ॥
न ता जगति विद्यन्ते सुखदुःखदशा सखे ! ।
जीवद्भिर्या न दृश्यन्ते संयोगजवियोगजाः ॥ ४१ ॥
तथैतास्वतिदीर्घासु दशास्वन्यत्वमागताः ।
भूयो वयमपि श्लिष्टाश्चित्रो हि नियतेर्विधिः ॥ ४२ ॥

है ॥ ३५ ॥

क्या धान की क्यारियों के कोनों में अवस्थित अति प्रसन्न कुमारियाँ प्रत्येक गाँव में आपके आनन्दवर्धक यशोगान कर रहीं हैं ॥ ३६ ॥

धान्य, धन, विभव, सेवक, स्त्रीजन, पुत्र-परिवार और नगर आदि सर्वत्र स्थानों में कुशल तो है न ? ॥३७॥

शारीरिक और मानसिक पीडाओं से रहित यह आपकी देहरूपी लता ऐहिक फल के साधनरूप से विहित कारीरी आदि और पारलौकिक फल के साधनरूप से विहित ज्योतिष्टोम आदि क्रियाओं से होनेवाले पुण्यरूपी फल उत्पन्न तो करती है न ? ॥ ३८ ॥

ऊपर से रमणीय दिखाई देनेवाले, पर वास्तविक में आत्मतत्त्वज्ञान में भारी प्रतिबन्धक होने के कारण महान् वैरी इन विषयरूपी सर्पों में आपका अन्तःकरण वैराग्य तो धारण करता है ? ॥ ३९ ॥

अहो हम दोनों को अर्थात् परिघ और सुरघु को एक दूसरे से अलग हुए बहुत काल व्यतीत हो गये परन्तु वसन्त ऋतु और पर्वत तट की तरह समय प्राप्त होने पर फिर मिल गये ॥ ४० ॥

इस जगत् में देहधारी प्राणियों के द्वारा अनुभूत न होती हों ऐसी इष्ट और अनिष्ट जनों के संयोग एवं वियोग से होनेवाली वे सुख और दुःख की अवस्थाएँ नहीं है ॥ ४१ ॥

इसी तरह हम लोग इन अत्यन्त दीर्घकालिक सुख और दुःख की अवस्थाओं में चिरकाल तक वियोगी थे, फिर भी इस समय हम लोग एक दूसरे से मिल गये हैं,

सुरघुरुवाच

भगवन् ! नियतेरस्या गतिं सर्पगतेरिव ।
दैवविधयाः को हि जानाति गम्भीरां विस्मयप्रदाम् ॥४३॥
त्वमहं च व्यपोह्येति दूरे दूरदशासु च ।
अद्य सङ्घटितौ भूयः किमसाध्यमहो विधेः ॥ ४४ ॥
वयं त्वद्य महासत्व भृशं कुशलिनः स्थिताः ।
त्वदागमनपुण्येन परां पावनतां गताः ॥ ४५ ॥
पश्य त्वदागमक्षीणपापानां पुण्यपादपैः ।
तथा फलितमस्माकं न यथा वयमाकुलाः ॥ ४६ ॥
सर्वाः सम्पत्तयोऽस्माकं राजर्षे संस्थिताः पुरे ।
भवदागमनेनाद्य प्रयाताः शतशाखताम् ॥ ४७ ॥
विकिरति परितो रसायनाना-
मिव निकरं मधुरं महानुभाव ।
तव वचनमवेक्षणं च पुण्यं
परमपदप्रतिमो हि साधुसङ्गः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
सुरघुपरिघसमागमो नामैकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

क्योंकि प्राणियों के कर्मों के अनुसार होनेवाली भगवदिच्छा का विलास अद्भुत है ।। ४२ ।।

सुरघु ने कहा—हे भगवन् ! भगवान् की इच्छीरूपी इस नियति की सर्प-गति के समान गम्भीर और विस्मय-कारक गति को कौन जानता है ? ।। ४३ ।।

विधि ने इस प्रकार आप और हम दोनों को देशतः अत्यन्त दूर तथा कालतः भी अधिक समय तक अलग रख कर आज फिर संघटित किया है । अहो ! विधि के लिए क्या असाध्य है ? ।। ४४ ।।

हे महासत्त्व ! आज तो हम लोग अत्यन्त सुखी होकर स्थित हैं, आपके आगमनरूपी पुण्य से हम अत्यन्त पवित्र हो गये हैं ।। ४५ ।।

आपके आगमन से क्षीणपाप हम लोगों के पुण्यरूपी वृक्षों ने वह चित्तसमाधानरूपी फल दिया, जिससे कि हम लोग सम्पूर्ण व्याकुलताओं से विमुक्त होकर कृतकृत्य हो गये ।। ४६ ।।

हे राजर्षे ! नगर में अवस्थित हम लोगों की सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ आज आपके शुभागमन से चारों ओर फलोन्मुख हो गई है ।। ४७ ।।

आपकी पुण्य वाणी और दर्शन चारों ओर से मानो अमृतों की मधुर राशि बरसा रहे हैं, क्योंकि सज्जन पुरुषों का समागम मोक्ष सुख की प्राप्ति के समान होता है ।। ४८ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
सुरघुपरिघसमागम नामक कुसुमलता का एकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ६१ ।।

६२

वसिष्ठ उवाच

अथैवंप्रायया तत्र विश्रम्भकथया चिरम् ।
प्राक्तनस्नेहगर्भिण्या स्थित्वोवाचाऽऽयुधाभिधः ॥ १ ॥

परिघ उवाच

यद्यत्संसारजालेऽस्मिन् क्रियते कर्म भूमिप ! ।
तत्समाहितचित्तस्य सुखायाऽन्यस्य नाऽनघ ! ॥ २ ॥
कच्चित्सङ्कल्परहितं परं विश्रमणास्पदम् ।
परमोपशमं श्रेयः समाधिमनुतिष्ठसि ॥ ३ ॥

६२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर चिरकाल तक उस तरह की प्राक्तन प्रेम ने ओतप्रोप विश्वस्त कथालापों से सुरघु के सुन्दर सदन में विश्रान्ति लेकर शस्त्रविशेष के नाम के समान नाम वाले राजा परिघ, कहने लगे ।। १ ।।

परिघ ने कहा—हे भूमिपाल ! इस संसाररूपी जाल में रहकर जो कर्म किये जाते हैं, वे समाहित चित्तवाले ज्ञानी के लिए सुखकारक होने पर भी उससे भिन्न अज्ञानी के लिए सुखकारक नहीं हैं ।। २ ।।

हे भगवन् ! समग्र संकल्पों से रहित विश्रान्ति के सबसे उत्तम स्थानरूप, विक्षेपात्मक दुःखों के उपशम के परम साधन तथा सांसारिक सुखों की अपेक्षा अधिक प्रशस्त समाधि का क्या आप अनुष्ठान करते हैं ? ।। ३ ।।

सुरघुरुवाच

एतन्मे ब्रूहि भगवन् ! सर्वसङ्कल्पवर्जितम् ।
परमोपशमं श्रेयः समाधिर्हि किमुच्यते ॥ ४ ॥
यो ज्ञो महात्मन् ! सततं तिष्ठन् व्यवहरंश्च वा ।
असमाहितचित्तोऽसौ कदा भवति कः किल ॥ ५ ॥
नित्यं प्रबुद्धचित्तास्तु कुर्वन्तोऽपि जगत्क्रियाः ।
आत्मैकतत्त्वसन्निष्ठाः सदैव सुसमाधयः ॥ ६ ॥
बद्धपद्मासनस्याऽपि कृतब्रह्माञ्जलेरपि ।
अविश्रान्तस्वभावस्य कः समाधिः कथं च वा ॥ ७ ॥
तत्त्वावबोधो भगवन् ! सर्वाशातृणपावकः ।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ॥ ८ ॥
समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी ।
साधो ! समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः ॥ ९ ॥
अक्षुब्धा निरहङ्कारा द्वन्द्वेष्वननुपातिनी ।
प्रोक्ता समाधिशब्देन मेरोः स्थिरतराकृतिः ॥ १० ॥
निश्चिन्ताऽधिगताभीष्टा हेयोपादेयवर्जिता ।
प्रोक्ता समाधिशब्देन परिपूर्णा मनोगतिः ॥ ११ ॥
यतः प्रभृति बोधेन युक्तमात्यन्तिकं मनः ।
तदारभ्य समाधानमव्युच्छिन्नं महात्मनः ॥ १२ ॥
न हि प्रबुद्धमनसो भूत्वा विच्छिद्यते पुनः ।
समाधिर्दूरमाकृष्टो बिसतन्तुः शिशोरिव ॥ १३ ॥
समग्रं दिनमालोकाद् विरमत्यक्षयो यथा ।
आजीवितान्तं नो प्रज्ञा तथा तत्त्वावलोकनात् ॥ १४ ॥

सुरघु ने कहा—

हे भगवन् ! युक्त होने के कारण आप मुझसे यह कहिये कि सम्पूर्ण संकल्पों से रहित निरतिशय उपशमरूप सांसारिक सुखों की अपेक्षा प्रशस्त होने पर भी यह आप मुझसे क्यों कहते हैं कि समाधि का अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ४ ॥

हे महात्मन् ! तत्वज्ञ पुरुष चुप-चाप ही सदा बैठा रहे चाहे व्यवहार करे उसका समाहित-चित्तता को छोड़ कर और क्या स्वरूप हो सकता है ? यह सर्वदा अनावृत-चित्स्वभाव होने के कारण कभी भी वह असमाहित चित्त-वाला नहीं हो सकता है ॥ ५ ॥

प्रबुद्ध चित्ततत्त्वज्ञ मुनि सदा सर्वदा जगत् के व्यवहार को करते हुए भी आत्मारूपी अद्वितीय तत्त्व में परम निष्ठावाले होने के कारण सदा समाधिसम्पन्न ही रहते हैं ॥ ६ ॥

अन्तःकरण परमशान्तिरूपी विशुद्धि को अप्राप्त पुरुष पद्मासन लगावे चाहे परब्रह्म को हाथ जोड़े उसको किसी भी उपाय से किसी तरह की समाधि नहीं लग सकती है, चित्त को लगाने के तत्त्व को वह जानता ही नहीं है ॥७॥

हे भगवन् ! चुपचाप बैठे रहना समाधि नहीं है वरन् समस्त आशारूपी तृणों के लिए अग्निरूप आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार ही समाधि है, क्योंकि 'सम्यक् आधानम् समाधिः' अर्थात् सम्यक् यानी समस्त अभिलषित विषयों के समूल बाध से परमार्थिक स्वरूप में चित्त का जो आधान वह समाधि है ॥ ८ ॥

हे साधो ! समाधिशब्द से एकाग्र, सदा सर्वदा तृप्त, सत्य अर्थ का ग्रहण करने वाली परा प्रज्ञा अर्थात् अवाधित आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कारात्मक ज्ञान अर्थात् अर्थ कहते हैं ॥ ९ ॥

क्षोभ से शून्य, अहङ्कार से रहित, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के अनुपतन से रहित और सुमेरु से भी अधिक स्थिर आकार वाली प्रज्ञा समाधिशब्द से कही जाती है ॥ १० ॥

निश्चिन्त अभीष्ट पदार्थ से समन्वित हेय और उपादेय से शून्य तथा परिपूर्ण मानसिक वृत्ति समाधिशब्द से कही गई ॥ ११ ॥

जिस समय से मन तत्त्वज्ञान के साथ सर्वदा के लिए सम्बद्ध हो जाता है, उस समय से लेकर महात्मा विद्वान् की समाधि सतत बनी ही रहती है, उसका कदापि विच्छेद नहीं होता है ॥ १२ ॥

प्रबुद्ध अन्तःकरणवाले ज्ञानी की समाधि लग कर पुनः वैसे ही टूट जाती है जैसे क्रीडा कर रहे बालक के हाथ से दूर खींचा गया कमल का तन्तु टूट जाता है ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञानी की प्रज्ञा विदेह मुक्ति पर्यन्त तत्त्व के अवलोकन से जैसे ही विराम नहीं करती, अपितु दृढ़ संस्कार के कारण सदा सर्वदा अनुवर्तन करती ही है जैसे सूर्य सारे दिन प्रकाश से विराम नहीं करता, प्रकाशपूर्ण ही रहता है ॥ १४ ॥

आत्मस्वरूप को आवृत करने वाले अज्ञान का एक बार उदित हुई ब्रह्माकार वृत्ति से समूल नाश हो जाता है या तो फिर वह आवरण करने की शक्ति ही नहीं रखता, इसलिए तत्त्ववेत्ता को स्वरूपावरण रूप समाधि-भङ्ग का प्रसङ्ग ही नहीं है, इस आशय से कहते हैं— 'अजस्र०' इत्यादि से ।

**अजस्रमम्बुवहनाद्यथा नद्या न रुद्ध्यते ।
तथा विज्ञानदृग्बोधात् क्षणमात्रं न रुद्ध्यते ॥ १५ ॥
न विस्मरत्यविरतं यथा कालः कलागतिम् ।
न विस्मरत्यविरतं स्वात्मानं प्राज्ञधीस्तथा ॥ १६ ॥
न विस्मरति सर्वत्र यथा सततगो गतिम् ।
न विस्मरति निश्चेयं चिन्मात्रं प्राज्ञधीस्तथा ॥ १७ ॥
गतिं कालकला यद्वच्चिन्वाना समवस्थिता ।
चिच्चितिश्चेत्यरहिता चिन्वाना गतयस्तथा ॥ १८ ॥
यथा सत्ताविहीनात्मा पदार्थो नोपलभ्यते ।
तथाऽऽत्मज्ञानहीनात्मा कालो ज्ञस्य न लभ्यते ॥ १९ ॥
न सम्भवति संसारे गुणहीनो गुणी यथा ।
न सम्भवत्यात्मसंविद्वर्जितो ह्यात्मवांस्तथा ॥ २० ॥
सर्वदैवाऽस्मि संबुद्धः सर्वदैवाऽस्मि निर्मलः ।
सर्वदैवाऽस्मि शान्तात्मा सर्वदाऽस्मि समाहितः ॥ २१ ॥
भेदः केन समाधेर्मे जन्यते कथमेव वा ।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण नित्यमेव सदात्मता ॥ २२ ॥
तस्मात् कदाचिदपि मे नाऽसमाधिमयं मनः ।
न वा समाहितं नित्यमात्मतत्त्वैकसम्भवात् ॥ २३ ॥
सर्वगः सर्वदैवाऽऽत्मा सर्वमेव च सर्वथा ।
असमाधिर्हि कोऽसौ स्यात्समाधिरपि कः स्मृतः ॥ २४ ॥
नित्यं समाहितधियः सुसमा महान्त-
स्तिष्ठन्ति कार्यपरिणामविभागमुक्ताः ।
तेनाऽसमाहितसमाहितभेदभङ्ग्या
मिथ्योदितः क्व नु स उत्तम वाक्प्रपञ्चः ॥ २५ ॥**

**इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
समाधिनिश्चयो नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥६२ ॥**

तत्त्ववित् की आत्मतत्त्वसाक्षात्कारात्मक दृष्टि स्वरूप ज्ञान से क्षणमात्र भी वैसे ही नहीं रुक सकती है अर्थात् तत्त्वज्ञ का साक्षात्कारात्मक बोध किसी आवरण से आवृत नहीं होता है जैसे नदी निरन्तर जल के प्रवाह से क्षण-मात्र भी नहीं रुक सकती है ॥ १५ ॥

जैसे काल अपनी कलाओं की गति को कभी भी विस्मृत नहीं होता, वैसे ही तत्त्ववित् पुरुष की बुद्धि अपने आत्मस्वरूप का कभी भी विस्मरण नहीं करती है ॥१६॥

तत्त्ववित् ज्ञानी की प्रज्ञा निश्चय करने योग्य चिति-मात्र का वैसे ही कभी विस्मरण नहीं करती है जैसे सर्वत्र सदा गमन स्वभाव वायु अपनी गति का विस्मरण नहीं करता है ॥ १७ ॥

विषयों से विनिर्मुक्त अनावृत चैतन्यस्फूर्ति भी वैसे ही अपनी गतियों को अर्थात् स्वाकारवृत्तियों को बटोरती हुई निरन्तर आत्माकार-वृत्तियों से सम्पन्न होती हुई ही रहती है। जैसे काल के मूर्ति रूप सूर्य आदि निरन्तर गतिसम्पन्न होते हुए ही सदा स्थित रहते हैं ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानी का समय आत्मज्ञान से विहीन होकर वैसे ही कभी भी उपलब्ध नहीं होता है जैसे घट आदि पदार्थ सत्ता से (अस्तित्व से) विहीन होकर कभी-भी उपलब्ध नहीं होते ॥ १९ ॥

आत्मा की पहचान कर चुकने वाला आत्मवान् ज्ञानी वैसे ही कभी-भी आत्मज्ञान से विहीन नहीं रहता है जैसे संसार में उष्णत्व आदि स्वाभाविक गुणों से युक्त अग्नि आदि गुणवान् पदार्थ कभी-भी उक्त गुणों से विहीन नहीं रहते है ॥ २० ॥

मैं सदा-सर्वदा ही आत्मज्ञान से सम्पन्न हूँ, सदा-सर्वदा ही निर्मल-स्वभाव हूँ, सदा-सर्वदा ही शान्तामा हूँ और सदा-सर्वदा ही समाधियुक्त हूँ ॥ २१ ॥

मेरा समाधि से विच्छेद किससे और कैसे हो सकता है ? क्योंकि मेरी समाधि आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है, अतः उसका अस्तित्व सदा-सर्वदा बना हुआ ही है ॥२२॥

इसलिए यदि मेरा मन है, तो वह किसी भी समय समाधि से वर्जित नहीं है और यदि नहीं है, तो मन किसी भी समय समाधि से युक्त नहीं है, आशय यह है कि समाधि करने की आवश्यकता ही मुझे नहीं रहती, क्योंकि विक्षेपकारण के न रहने से अद्वितीय आत्मतत्त्व की एक-रूपता का ही सर्वदा संभव है ॥ २३ ॥

यह दिखाई देने वाला सभी कुछ सदा सब प्रकार से सर्वव्यापक आत्मस्वरूप ही है, इसलिए यह समाधि क्या होगी और असमाधि भी क्या कही जायगी ? ॥ २४ ॥

बुद्धि से भेद का विघटन हो जाने पर जो कार्यों के परिणामों से सुख-दुःख आदि विकारों से होने वाली भेद-भावनाओं से विनिर्मुक्त हो चुके हैं, ऐसे बड़े-बड़े तत्त्ववित् सदा सर्वदा एक ही स्वरूप से समदृष्टि होकर अवस्थित रहते हैं, इसलिए समाहित और असमाहित के भेद को मान कर प्रवृत्त हुआ आपका वह वाणी का प्रपञ्च किस अर्थ का बोधक होगा ? ऐसी स्थिति में वाग्विलास मिथ्या ही है॥२५॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
समाधिनिश्चय नामक कुसुमलता का बासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६२ ॥

६३

परिघ उवाच

राजन्नूनं प्रबुद्धोऽसि प्राप्तवानसि तत्पदम् ।
संशीतलान्तःकरणः पूर्णेन्दुरिव राजसे ॥ १ ॥
आनन्दमधुसम्पूर्णलक्ष्म्या च परया श्रितः ।
शीतलः स्निग्धमधुरो राजीवमिव राजसे ॥ २ ॥
निर्मलो विततः पूर्णो गम्भीरः प्रकटाशयः ।
वेलानिलविलासेन मुक्तोऽब्धिरिव राजसे ॥ ३ ॥
स्वच्छ आनन्दसम्पूर्णो नष्टाहङ्कारवारिदः ।
स्फुटो विस्तीर्णगम्भीरः शरत्खमिव राजसे ॥ ४ ॥
सर्वत्र लक्ष्यसे स्वस्थः सर्वत्र परितुष्यसि ।
सर्वत्र वीतरागोऽसि राजन् ! सर्वत्र राजसे ॥ ५ ॥
सारासारपरिच्छेदपारगस्त्वं महाधिया ।
जानासि सर्वमेवेदं यथास्थितमखण्डितम् ॥ ६ ॥
भावाभावपरिच्छेदतत्त्वज्ञ ! मुदिताशयम् ।
गमागमदशालौल्यमुक्तं तव वपुः स्थितम् ॥ ७ ॥
वस्तुना वस्तुनेवाऽन्तरमृतेनेव सागरः ।
अपुनःप्रक्षयायैव परे तृप्तोऽसि सुन्दर ! ॥ ८ ॥

सुरघुरुवाच

न तदस्ति मुने ! वस्तु यत्रोपादेयताऽस्ति नः ।
यावत्किञ्चिदिदं दृश्यं तावदेतन्न किञ्चन ॥ ९ ॥
उपादेयस्य चाऽभावाद्धेयमप्यस्ति किं किल ।
प्रतियोगि व्यवच्छेद्यं विना हेयं किमुच्यते ॥ १० ॥
तुच्छत्वात् सर्वभावानामतुच्छत्वाच्च कालतः ।
चिरं मम परिक्षीणे तुच्छातुच्छे मनःस्थिती ॥ ११ ॥

६३

परिघने कहा—निश्चित रूप से आप तत्त्वज्ञ हैं और उस उत्तम परम पद भी प्राप्त कर चुके हैं। सम्यक् शीतल अन्तःकरण से युक्त होने के कारण आप शीतलात्मा परिपूर्ण चन्द्रमा के समान प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १ ॥

स्नेह के कारण अत्यन्त मधुर, सुशीतल, आनन्द रूपी पुष्प रस से परिपूर्ण उत्तम श्री से सम्पन्न आप कमल के समान शोभायमान हैं ॥ २ ॥

निर्मल विस्पष्ट रूप से दिखाई देने वाले अन्तःकरण से समुद्र-पक्ष में अन्तःप्रदेश से–युक्त, गम्भीर, पूर्ण व्यापक स्वरूप तथा संसार रूपी वायु के झकोरों से निर्मुक्त आप वैसे ही सुशोभित हो रहे हैं। जैसे तट के झंझावात के झकोरों से निर्मुक्त तथा निर्मलता आदि गुणों से युक्त विस्तृत समुद्र शोभित होती है ॥ ३ ॥

स्वच्छ, आनन्द से परिपूर्ण, अहंकार रूपी काले बादलों से रहित, विस्पष्ट, विस्तीर्ण और अतिगम्भीर होने के कारण आप जैसे शरत् काल के आकाश के समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ ४ ॥

सभी इष्ट और अनिष्ट विषयों में आप समान दिखाई देते हैं, सभी विषयों में आप सन्तुष्ट रहते हैं, सभी विषयों की आसक्ति से रहित हैं, इसलिए सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५ ॥

अपनी उत्तम बुद्धि से क्या सार है एवं क्या असार है, इसका आप ने विचारपूर्वक निर्णय किया है और उसके पारङ्गत हो गये हैं एवं यह भी जानते हैं कि यह दृश्यमान समस्त प्रपञ्च एक रूप से अवस्थित अखण्डित परब्रह्म स्वरूप ही है ॥ ६ ॥

सत् और असत् के निर्णय के तत्त्वों के ज्ञाता, प्रसन्न चित्त से समन्वित तथा संसार में आवागमन की हेतु भोगासक्ति से अभिलाषा से होने वाली शून्य आप का शरीर अवस्थित है ॥ ७ ॥

जिसकी अपेक्षा संसार में दूसरी परमार्थ बस्तु है ही नहीं ऐसा स्वात्मरूपी वस्तु में ही आप पुनः संसार-प्राप्ति में अहेतुभूत अपनी महिमा में ही वैसे ही परितृप्त रहते हैं। जैसे समुद्र अपने अन्दर में अवस्थित अमृत से तृप्त रहता है ॥ ८ ॥

सुरघु ने कहा—

हे मुनि ! जो कुछ यह दृश्य संसार में है वह हम लोगों के लिए उपादेय नहीं है वे सब कुछ भी नहीं है अर्थात् मिथ्या ही है ॥ ९ ॥

उपादान योग्य वस्तु का अभाव होने से कुछ भी त्याज्य नहीं है, गृहीत वस्तु का परित्याग ही तो हान है, ऐसी स्थिति में त्याग के विरोधी और त्याग से हट जाने वाले ग्रहण के बिना 'यह हेय है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? ॥ १० ॥

इसलिए दीर्घकाल से मेरी तुच्छ और अतुच्छ विषयक मानस स्थिति नष्ट हो चुकी है क्योंकि देश और कालवश सभी पदार्थ तुच्छ और अतुच्छ हो जाते हैं, सम्पूर्ण भूमण्डल का राजा मुक्त हो जाने पर एक छोटे से तुच्छ

देशकालवशादेव तुच्छस्याऽतुच्छतामिह ।
अतुच्छस्य तु तुच्छत्वं वर्ज्ये निन्दास्तुती बुधैः ॥ १२ ॥
रागान्निन्दास्तुती लोके रागश्च परिवाञ्छितम् ।
वाञ्छ्यते च महोदारं वस्तु शोभनबुद्धिना ॥ १३ ॥
त्रैलोक्ये च स्त्रियः शैलाः समुद्रवनराजयः ।
भूतानि वस्तुशून्यानि सारो नाऽस्त्यत्र वस्तुतः ॥ १४ ॥
मांसास्थिदारुमृद्रत्नमये जगति जर्जरे ।
वाञ्छनीयविहीनेऽस्मिन् शून्ये किमिव वाञ्छ्यते ॥१५॥
वाञ्छायां विनिवृत्तायां संक्षयो द्वेषरागयोः ।
दिनलक्ष्म्यां व्यपेतायामालोकातपयोरिव ॥ १६ ॥
अलमतिविततैर्वचःप्रपञ्चै-
रियमुचितेह सुखाय दृष्टिरेका ।
उपशमितरसं समं मनोऽन्तर्यदि
मुदितं तदनुत्तमा प्रतिष्ठा ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
सुरघुपरिघनिश्चयो नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

गाँव में भी सन्तुष्ट रहता है और पहले के विस्तृत राज्य को भी तुच्छ समझता है, अतः समयवश ही तुच्छत्व और अतुच्छत्व का ज्ञान होता है ॥ ११ ॥

संसार में देश और काल के प्रभाव से तुच्छ में अतुच्छत्व और अतुच्छ में तुच्छत्व भावना हो जाती है, इसलिए पण्डितों को तुच्छ और अतुच्छ बुद्धि से किसी की निन्दा या स्तुति नहीं करनी चाहिए ॥ १२ ॥

लोक में निन्दा और स्तुति दोनों राग से होते हैं और राग इच्छा के कारण को कहते हैं, जिसकी बुद्धि निर्मल है, ऐसा पुरुष महोदार आत्मवस्तु की इच्छा करता है, क्योंकि वहाँ स्तुति और निन्दा की प्रसक्ति ही नहीं है ॥ १३ ॥

इस त्रिलोकी में स्त्रियाँ, पर्वत, समुद्र, वनपंक्तियाँ आदि पदार्थ सारहीन हैं, वास्तव में यहाँ कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है ॥ १४ ॥

जर्जर अवाञ्छनीय तथा शून्यात्मक इस मांस और अस्थिमय अध्यात्म जगत् में तथा काष्ठ, मृतिका और शिलामय अधिभूत जगत् में किसी विषय की अभिलाषा की जाय ? ॥ १५ ॥

राजन् ! इच्छा का विनाश हो जाने पर तदनुगामी राग और द्वेष दोनों का वैसे ही विनाश हो जाता है जैसे दिवस-शोभा का विनाश हो जाने पर तदनुगामी प्रकाश और आतप दोनों का विनाश हो जाता है अर्थात् राग-द्वेषमूलक प्रवृत्ति और निवृत्ति का निरास हो जाता है ॥ १६ ॥

अधिक वाक्यों का प्रयोग करना अब इस विषय में व्यर्थ है। यदि अन्तःकरण के चारों ओर से रागमुक्त होकर तथा समस्त विक्षेपरूपी विषमता से रहित होनेपर अपने आत्मस्वरूप में ही परितृप्त रहना ही सबसे उत्तम विश्रान्ति है। सर्वातिशायी सुख के लिए केवल इसी एक दृष्टि का सदा सर्वदा आश्रयण करना उचित है ॥ १७ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वालमीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में सुरघुपरिघनिश्चय नामक कुसुमलता का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६३ ॥

६४

वसिष्ठ उवाच

सुरघुः परिघश्चैव विचार्येति जगद्भ्रमम् ।
मिथः प्रपूजितौ तुष्टौ स्वव्यापारपरौ गतौ ॥ १ ॥
तदेव राघव ! श्रुत्वा परमं बोधकारणम् ।
अनेनैव विबोधेन भव लब्धास्पदः स्फुटम् ॥ २ ॥

६४

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—

सुरघु और राजा परिघ दोनों जगत्-विभ्रम का विचार कर अत्यन्त प्रसन्न हुए, उन्होंने परस्पर एक दूसरे का विशिष्ट पूजन किया और अपने-अपने कार्यों में तत्पर हो यथास्थान चले गये ॥ १ ॥

हे राघव ! उस संवादरूपी उत्तम बोध साधन का श्रवण करना निश्चय ही बोध के लिए पर्याप्त है। इसी सुरघु और परिघ के संवाद के श्रवण से उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान से आप प्राप्त परम पद हो जायें ॥ २ ॥

परया प्रज्ञया धीरविचारगततीक्ष्णया ।
गलत्यलमहङ्कारकालमेघे हृदम्बरे ॥ ३ ॥
समस्तलोकानुमते सफले ह्लादकारिणि ।
निर्मले वितते चेतःशरत्काल उपस्थिते ॥ ४ ॥
ध्येये शरण्ये सुगमे सकलानन्दसंपदि ।
सुप्रसन्ने चिदाकाशे स्थीयते परमात्मनि ॥ ५ ॥
यो नित्यमध्यात्ममयो नित्यमन्तर्मुखः सुखी ।
नित्यं चिदनुसन्धानो मनःशोकैर्न बाध्यते ॥ ६ ॥
व्यवहारपरोऽत्युच्चै रागद्वेषमयोऽपि सन् ।
नाऽन्तःकलङ्कमायाति पद्मो जलगतो यथा ॥ ७ ॥
सम्यग्विज्ञानवान् शुद्धो योऽन्तः शान्तमना मुनिः ।
न बाध्यते स मनसा करिणेव मृगाधिपः ॥ ८ ॥

पण्डितों के साथ विचार के द्वारा या निश्चल अपनी अत्यन्त तीव्र उत्तम प्रज्ञा से हृदयाकाश में अहङ्कार-रूपी काले मेघ के सर्वथा गल जाने से समस्त लोगों से अनुमोदित, फलात्मक बोध से सम्पन्न शरत्-पक्ष में सस्यादि फलों से समन्वित प्रसन्नता बढ़ाने वाले राग आदि मलों से रहित शरत्-पक्ष में पङ्क आदि मलों से शून्य विस्तृत चित्तरूपी शरत्काल के उपस्थित होने पर; ध्यान करने योग्य, समग्र अनर्थों के नाशक, आत्मरूपता के कारण सुगम, सम्पूर्ण आनन्दों की निधि, अत्यन्त प्रसन्न परमात्मारूपी चिदाकाश में अवस्थित सदा केवल आत्मा के विचार में निरत, सदा बाह्य आसक्ति से शून्य, सुखी तथा पुनः पुनः आदर से केवल चिन्मात्र वस्तु में आस्वाद लेने वाला मानसिक शोकों से कभी भी विचलित नहीं होता है ॥ ३—६ ॥

तत्त्वज्ञ व्यवहार में निरत अज्ञानी जनों द्वारा 'यह राग और द्वेष से भरा है' इस प्रकार कल्पित हो रहा भी राग, द्वेष आदि भीतरी कलङ्कों से कलङ्कित नहीं होता है वैसे ही जैसे जल में रहने वाला कमल जलगत कीचड़ आदि कलङ्कों से कलङ्कित नहीं होता है ॥ ७ ॥

सम्यक् ज्ञान से युक्त, निर्मल, भीतर से प्रसन्नमन मुनि कभी-भी मन से पराभव को वैसे ही प्राप्त नहीं नहीं होता है जैसे हाथियों से मृगाधिप (सिंह) पराभव को प्राप्त नहीं होता ॥ ८ ॥

विज्ञानी पुरुष का केवल विषयोपभोगों में शरण लेने वाला वैसे ही अत्यन्त दीनता से युक्त मन नहीं होता है क्योंकि उसका चित्त बड़ा है क्षुद्र विषयसुखों की अभिलाषा से वर्जित है जैसे नन्दन वन में बिसैले कांटों से

भोगैकशरणं दीनं न चित्तं ज्ञस्य विद्यते ।
नन्दने दुर्द्रुम इव ज्ञचित्तं हि महावपुः ॥ ९ ॥
विरक्तो जन्ममरणे यथा दुःखी न मानवः ।
परीज्ञाताखिलाविद्यं तथा चित्तं न दुःखितम् ॥ १० ॥
परिज्ञातमनोमोहो जगद्भावोद्भवात्मना ।
स्पृश्यते नैनसा साधो ! रजसेव नभस्तलम् ॥ ११ ॥
अविद्यासम्परिज्ञातमिदमेव महौषधम् ।
अविद्यावितव्याधेस्तिमिरस्येव दीपकम् ॥ १२ ॥
अविद्या संपरिज्ञाता यदैव हि तदैव हि ।
सा परिक्षीयते भूयः स्वप्नेनेव हि भोगभूः ॥ १३ ॥
व्यवहारपरोऽप्यन्तरसक्तमतिरेकधीः ।
स्पृश्यते नैनसा साधुर्मत्स्येक्षणमिवाऽम्भसा ॥ १४ ॥

युक्त वृक्ष नहीं होता है ॥ ९ ॥

जिसने चारों ओर से विचार कर विषय, इन्द्रिय, शरीर आदि समस्त दृश्यरूप मिथ्याभ्रान्ति का परिज्ञान कर लिया है, ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुष का अन्तःकरण वैसे ही दुःखी नहीं होता है जैसे विरक्त पुरुष कामुक पुरुष के समान स्त्री आदि के मरण होने पर दुःखी नहीं होता ॥ १० ॥

हे साधो ! विचारपूर्वक मनोमोह का स्वरूप भली-भाँति जान लेने वाले पुरुष को स्वरूप जगत् में मिथ्याभूत कर्तृत्वाभिमान से उत्पन्न पाप स्पर्श नहीं कर सकते जैसे धूली आकाश-तल को स्पर्श नहीं कर सकती ॥ ११ ॥

जगदाकार में फैले हुए इस अज्ञानरूपी रोग का सबसे बड़ा औषध वैसे ही 'यह जगत् अविद्यामात्र है' इस प्रकार का विचारजनित ज्ञान है, जैसे अन्धकाररूपी रोग का महान् औषध दीपक है ॥ १२ ॥

ज्यों ही यह अविद्या है, इस प्रकार अविद्या का स्वरूपज्ञान हो जाने पर उसका सदा सर्वदा के लिए वैसे ही विनाश हो जाता है जैसे यह स्वप्न है, इस प्रकार जाने गये स्वप्न से स्वाप्निक भोगभूमिका सदा सर्वदा के लिए विनाश हो जाता है, ॥ १३ ॥

व्यवहार में निरत हुए भी साधु पुरुष को, अद्वितीय परब्रह्म में बुद्धि रखने वाले और भीतर से आसक्तिवर्जित अविद्यारूपी पाप वैसे ही स्पर्श नहीं करता जैसे जल मछलियों के नेत्रों को स्पर्श नहीं करता [यदि जल मछलियों के नेत्रों को स्पर्श करेगा, तो नेत्रों के बन्द हो जाने के कारण जल में उनके देखना आदि व्यवहार ही लुप्त हो जायँगे] ॥ १४ ॥

प्राप्ते चिद्भासुरालोके प्रक्षीणा ज्ञानयामिनी ।
शेमुषी परमानन्दमागता ज्ञस्य राजते ॥ १५ ॥
अज्ञाननिद्रोपशमे जनो ज्ञानार्कबोधितः ।
तत्प्रबोधमवाप्नोति पुनर्येन न मुह्यति ॥ १६ ॥
दिनानि जीव्यते तानि सानन्दास्ते क्रियाक्रमः ।
आत्मचन्द्रोदिता येषु चिज्ज्योत्स्ना हृदयाम्बरे ॥ १७ ॥
नरो मोहसमुत्तीर्णः सततं स्वात्मचिन्तया ।
अन्तःशीतलतामेति स्वामृतेनेव चन्द्रमाः ॥ १८ ॥
तानि मित्राणि शास्त्राणि तानि तानि दिनानि च ।
विरागोल्लासवान् येभ्य आत्मचित्तोदयः स्फुटम् ॥१९॥
चिरं शोचन्ति ते दीना जन्मजङ्गलवीरुधः ।
आत्मावलोकने हेला येषामविगतैनसाम् ॥ २० ॥
आशापाशशतैर्बद्धं भोगोलपसुलालसम् ।
जराजर्जरिताकारं शोकोच्छ्वासकदर्थितम् ॥ २१ ॥
व्यूढदुःखमहाभारं जन्मजङ्गलजीवितम् ।
कुकर्मकर्दमालिप्तं मोहपल्वलशायिनम् ॥ २२ ॥
रागदंशावलीदष्टं कृष्टं तृष्णावरत्रया ।
मनोवणिङ्निकेतस्थं बन्धुबन्धननिश्चलम् ॥ २३ ॥
पुत्रदारजराजीर्णे मग्नोन्मग्नं कुकर्दमे ।
श्रान्तं विगतविश्रामं भग्नमादीर्घवर्त्मनि ॥ २४ ॥
गमागमपरिक्षीणं संसारारण्यचारिणम् ।
अलब्धशीतलच्छायं तीव्रतापोपतापितम् ॥ २५ ॥
आकारभासुरं दीनं बाह्यैराक्रान्तमिन्द्रियैः ।
कर्मघण्टारवाक्रान्तं क्रान्तं दुष्कृतताडनैः ॥ २६ ॥
आविर्भावतिरोभावचक्रावर्तधुरोद्वहम् ।
अज्ञानविकटाटव्यां लुठितं सन्नगात्रकम् ॥ २७ ॥
निजानर्थसदामग्नं सीदमानमकिञ्चनम् ।
सन्नाङ्गं कर्मभारेण करुणाक्रन्दकारिणम् ॥ २८ ॥
राम ! जीवबलीवर्दमिमं संसारपल्वलात् ।
परमं यत्नमास्थाय चिरमुत्तारयेद् बलात् ॥ २९ ॥

देदीप्यमान चिद्रूपी प्रकाश का उदय हो जाने पर अज्ञानरूपी रात्रि सदा के लिए विलीन हो जाती है और परमानन्द को प्राप्त ज्ञानी की प्रज्ञा प्रकाशित रहती है ॥ १५ ॥

शास्त्ररूपी सूर्य से बोधित पुरुष अज्ञानरूपी निद्रा का विनाश होने के बाद जिसकी प्राप्ति से मनुष्य को फिर कभी मोह नहीं होता है उस विज्ञान को प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

जिन दिनों और क्रियाओं में सदा सर्वदा हृदयरूपी आकाश में आत्मारूपी चन्द्रमा से उदित चिद्रूपिणी ज्योत्स्ना प्रकाशित हो रही हों वे ही दिन जीवनपूर्ण हैं और वे ही क्रियाएँ आनन्द से युक्त हैं ॥ १७ ॥

मोह का अतिक्रमण कर लेने वाला पुरुष निरन्तर आत्मचिन्तनरूपी अमृत से अपने भीतर वैसे ही शीतलता को प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

वे ही मित्र हैं, वे ही शास्त्र हैं और वे ही दिन हैं, जिनके कारण वैराग्यरूपी उल्लास से युक्त आत्माकार-वृत्तिरूपी चित्ताभ्युदय सुस्पष्ट रूप से सिद्ध होता है ॥१९॥

पाप के विनाश से वर्जित होते हुए भी जिन मनुष्यों की आत्मा को जानने में उपेक्षा है, वे जन्मरूपी जङ्गल के प्रतान हैं, दीन हैं और चिरकाल तक संसार दुःखों से दुःखित होकर शोक किया करते हैं ॥ २० ॥

विषयाभिलाषारूपी सैकड़ों बन्धनों से आबद्ध भोग-रूपी तिनकों में अत्यन्त लालच सम्पन्न बुढ़ौती के कारण जर्जर आकारता को प्राप्त शोकजनित उच्छ्वास से विडम्बित दुःखरूपी भारी बोझ को ढो रहे, जन्मरूपी जङ्गल में जी रहे, कुकर्मरूपी कीचड़ से चारों ओर चुपड़े गये, मोहरूपी स्वल्प जलाशय में सो रहे; रागरूपी दाँतों की पंक्तियों से चबाये गये, तृष्णारूपी चर्ममयी नासा रज्जू से खींचे गये, मनरूपी बनिये की आज्ञा में स्थित बान्धवरूपी बन्धनों के कारण चलने फिरने में अशक्त पुत्र और स्त्री की शिथिलता से जनित जीर्णतारूपी गोबर में बार-बार डूबे हुए, सदा थके हुए, विश्रान्ति से वर्जित, आवागमन के दीर्घ मार्गों में भग्न; आवागमन के कारण चारों ओर से क्षीण, संसाररूपी अरण्य में चक्कर काट रहे, शीतल छाया को अप्राप्त तीव्र विषयसंसर्गजन्य तापों से संतापित केवल बाहरी आकार से होते हुए भी भीतर से दीन, बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रभावित, काम्य कर्मों में रुचि की वृद्धि करने वाले अर्थवादरूपी घण्टानादों से भ्रमित, पापरूपी कोड़ों के आघातों से पीड़ित; जन्म-मरणरूपी गाड़ी के बोझ से लदे हुए, अज्ञानरूपी विकट अटवी में लुठित भग्न-शरीर; अपने अनर्थ में ही सर्वदा निमग्न, दुःखी, दीन, जडीभूत शरीर, कर्मों के बोझ से सदा करुण क्रन्दन कर रहे इस जीवरूपी बैल का संसार-रूपी स्वल्प तालाब से दीर्घकाल तक उत्तम प्रयत्न करके ज्ञानरूपी बल से उद्धार करना चाहिए ॥ २१-२९ ॥

तत्त्वावलोकनात् क्षीणे चित्ते नो जायते पुनः ।
जीवः कदाचन तदा भवेत् तीर्णभवार्णवः ॥ ३० ॥
महानुभावसम्पर्कात् संसारार्णवलङ्घने ।
युक्तिः संप्राप्यते राम ! स्फुटा नौरिव नाविकात् ॥३१॥
यस्मिन् देशमरौ तज्ज्ञो नाऽस्ति सज्जनपादपः ।
सफलः शीतलच्छायो न तत्र निवसेद् बुधः ॥ ३२ ॥
स्निग्धशीतवचःपत्रे सच्छाये स्मितपुष्पके ।
क्षणाद् विश्रम्यते राम ! भृशं सुजनचम्पके ॥ ३३ ॥
तदभावे महामोहतापसम्पत्तिदायिनि ।
किञ्चिज्जातविवेकेन स्वप्तव्यं नेह धीमता ॥ ३४ ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मनाऽऽत्मैवमुद्धरेत् ।
नाऽऽत्मानमवलेपेन जन्मपङ्कार्णवे क्षिपेत् ॥ ३५ ॥
किमिदं कथमायातं किंमूलमिति किंक्षयम् ।
देहदुःखमिति प्राज्ञैः प्रेक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ३६ ॥
न धनानि न मित्राणि न शास्त्राणि न बान्धवाः ।
नरायणामुपकुर्वन्ति मग्नस्वात्मसमुद्धृतौ ॥ ३७ ॥
मनोमात्रेण सुहृदा सदैव सहवासिना ।
सह किञ्चित् परामृश्य भवत्यात्मा समुद्धृतः ॥ ३८ ॥
वैराग्याभ्यासयत्नाभ्यां स्वपरामर्शजन्मना ।
तत्त्वालोकनपोतेन तीर्यते भवसागरः ॥ ३९ ॥
शोच्यमानं जनैर्नित्यं दह्यमानं दुराशया ।
नाऽऽत्मानमवमन्येत प्रोद्धरेदेनमादरात् ॥ ४० ॥
अहङ्कारमहालानं तृष्णारज्जुं मनोमदम् ।
जन्मजम्बालनिर्मग्नं जीवदन्तिनमुद्धरेत् ॥ ४१ ॥
अयमेतावतैवाऽऽत्मा त्रातो भवति राघव ! ।
यदपास्य विमूढत्वमहङ्कारः प्रमार्ज्यते ॥ ४२ ॥

दर्शन के द्वारा चित्त के क्षीण हो जाने पर जीव संसार में फिर कभी-भी जन्म-ग्रहण नहीं करता है और वह चित्त की क्षयदशा में ही संसार-सागर से पार हो जाता है ॥ ३० ॥

हे श्रीराम जी ! समुद्र का उलङ्घन करने के लिए नाविक से जैसे नौका पास होती है, बड़े-बड़े सत्-पुरुषों के समागम से संसाररूपी समुद्र का उलङ्घन करने की युक्ति वैसे ही प्राप्त होती है ॥ ३१ ॥

मरुभूमि की तरह जिस भूमि में मोक्षरूपी फल को देनेवाला और मानसिक शान्तिरूपी शीतल छाया को करनेवाला तत्त्वज्ञ सत्-पुरुषरूपी वृक्ष नहीं हो, वहाँ विद्वान् को नहीं रहना चाहिए ॥ ३२ ॥

मनोहर और तापोपशामक शीतल वचनरूपी पत्तेवाले परोपकारपरायणता उत्तम छाया समन्वित और मुसकुराहटरूपी पुष्पवाले सत्पुरुषरूपी चम्पा के वृक्ष के नीचे मनुष्य को क्षणभर में ही आत्यन्तिक विश्रान्ति अर्थात् आत्मलाभरूप विश्रान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ३३ ॥

स्वात्मप्राप्तिरूप विश्रान्ति रहित महामोह से जनित संतापरूपी संपत्तिदाता इस संसार में थोड़े विवेक से सम्पन्न बुद्धिमान् पुरुष को स्वल्प भी निद्रा नहीं लेनी चाहिए ॥ ३४ ॥

आत्मा ही आत्मा का बन्ध है, इसलिए इन साधु-समागम आदि उपायों से अपने स्वयं ही अपना उद्धार कर लेना चाहिए, देहाभिमान के गर्व से जन्म कीचड़ के समुद्र में अपने को कभी-भी फँसाना नहीं चाहिए ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् व्यक्तियों को अपनी बुद्धि, शास्त्र और सज्जनों की सहायता लेकर प्रबल प्रयत्न से इस देहाधीन दु:ख के विषय में विचार करना चाहिए कि यह क्या है ? कैसे आया ? इसका मूल क्या है ? और इसका विनाश कैसे हो सकता है ? (इस पद्य में 'इति' शब्द का दो बार प्रयोग विचारयोग्य प्रज्ञा की अनेकताबोधक है) ॥ ३६ ॥

धन, मित्र, अनात्मशास्त्र और बान्धव ये कुछ भी अज्ञान से डूबी हुई अपनी आत्मा का उद्धार करने में मनुष्यों का उपकार नहीं करते हैं ॥ ३७ ॥

संसार समुद्र से आत्मा का उद्धार सदा सर्वदा ही साथ रहने वाले विशुद्ध मनोरूपी मित्र के साथ कुछ परामर्श करने से हो जाता है ॥ ३८ ॥

इस भवसागर को वैराग्य और अभ्यासरूपी प्रयत्नों के द्वारा किये गये आत्मविचार से उत्पन्न आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूपी बड़े जहाज से पार किया जा सकता है ॥ ३९ ॥

प्रतिदिन अनेक मनुष्यों के द्वारा शोकसंतप्त तथा दुष्ट आशाओं के द्वारा दाह से परिव्याप्त आत्मा की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, इसका अत्यन्त आदर से उद्धार करना चाहिए ॥ ४० ॥

अहंकार रूपी मजबूत आलान तृष्णारूपी ही बाँधने की रस्सी मनरूपी गण्डस्थल से झरने वाले मद से सम्पन्न और जन्मरूप कीचड़ में फँसे हुए जीवरूपी हाथी का उद्धार करना चाहिए ॥ ४१ ॥

हे राघव ! इस आत्मा की इतने यत्न से ही रक्षा की जा सकती है, जितने यत्न से अपने अज्ञान को दूर कर अहंकार निकाल दिया जाय ॥ ४२ ॥

एतावतैव सन्मार्गे याति प्रकटतामलम् ।
यदपास्य मनोजालमहंभावो विलूयते ॥ ४३ ॥
एतावतैव देवेशः परमात्माऽवगम्यते ।
काष्ठलोष्टसमत्वेन देहो यदवलोक्यते ॥ ४४ ॥
अहङ्काराम्बुदे क्षीणे दृश्यते चिद्दिवाकरः ।
ततस्तत्परिणामेन तत्पदं समवाप्यते ॥ ४५ ॥
यथा ध्वान्तसमुच्छेदे स्वयमालोकवेदनम् ।
तथाऽहङ्कारविच्छेदे स्वयमात्मावलोकनम् ॥ ४६ ॥
अहङ्कारे परिक्षीणे याऽवस्था सुखमोदजा ।
साऽवस्था भरिताकारा सा सेव्या संप्रयत्नतः ॥ ४७ ॥
परिपूर्णार्णवप्रख्या न वा गोचरमेति नः ।
नोपमानमुपादत्ते नाऽनुधावति रञ्जनम् ॥ ४८ ॥
केवलं चित्प्रकाशांशकलिता स्थिरतां गता ।

मन के द्वारा रचित बाह्य और आध्यात्मिक आसक्तिओं का हटाकर अहंकारभाव के दूर करने पर है, उसके दूर होते ही परमात्मा का ज्ञान होने तक अनुष्ठित विचार से आत्मा पूर्णरूप से सुस्पष्ट प्रकट हो जाता है ॥ ४३ ॥

काठ और मिट्टी के ढेले की तरह यह देह है, इस प्रकार के दर्शन मात्र से ही देवाधिदेव परमात्मा जाना जाता है ॥ ४४ ॥

अहंकाररूपी मेघ के विनष्ट होनेपर पहले चैतन्यरूपी भास्कर प्रकट होता है, अनन्तर उस परमात्मदर्शन की भूमिका का परिपाक होने पर उससे परमपद प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

अहंकार का विच्छेद हो जाने पर प्रकाश का परिज्ञान वैसे ही स्वतः हो जाता है जैसे अन्धकार का उच्छेद हो जाने पर प्रकाश का परिज्ञान स्वतः हो जाता है, ॥ ४६ ॥

अहङ्कार के विनष्ट होने पर निरतिशयानन्दविश्रान्ति की स्वरूपभूत निर्विकल्पावस्था अविर्भूत होती है, वह परिपूर्ण अवस्था है, उसी का उत्तम प्रयत्न से सेवन करना चाहिए ॥ ४७ ॥

परिपूर्ण समुद्र की तरह असीम वह निर्विकल्प अवस्था न तो सब लोगों के मन का विषय है, और न किसी उपमान से उनको उपमित किया जा सकती है और न वह विषयों के सम्बन्धों को प्राप्त करती है ॥ ४८ ॥

चेतन के प्रकाशात्मक अंश से गृहीत स्थिरता सम्पन्न तुरीय दृष्टि प्राप्त होने पर उसी तुरीय दृष्टि से निर्विकल्प

तुर्या चेत् प्राप्यते दृष्टिस्तत्तया सोपमीयते ॥ ४९ ॥
अदूरगतसादृश्यात् सुषुप्तस्योपलक्ष्यते ।
साऽवस्था भरिताकारा गगनश्रीरिवाऽऽतता ॥ ५० ॥
मनोहङ्कारविलये सर्वभावान्तरस्थिता ।
समुदेति परानन्दा या तनुः पारमेश्वरी ॥ ५१ ॥
सा स्वयं योगसंसिद्धा सुषुप्तादूरभाविनी ।
न गम्या वचसां राम ! हृद्येवेहाऽनुभूयते ॥ ५२ ॥
अनुभूतिं विना तत्त्वं खण्डादेर्नाऽनुभूयते ।
अनुभूतिं विना रूपं नाऽऽत्मनश्चाऽनुभूयते ॥ ५३ ॥
अखिलमिदमनन्तमात्मतत्त्वं
दृढपरिणामिनि चेतसि स्थितेऽन्तः ।
बहिरुपशमिते चराचरात्मा
स्वयमनुभूयत एव देवदेवः ॥ ५४ ॥

अवस्था का अर्थात् परमेश्वर-स्वरूपाविर्भाव-दशा की समता कही जा सकती है ॥ ४९ ॥

तुरीय अवस्था में स्थित निर्विक्षेपत्व अंश को लेकर सुषुप्ति के पास के सादृश्य से सुषुप्ति तुर्यावस्था संभावित होती है (अर्थात् यदि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञानरूपी आवरण न होता, तो वह तुर्यावस्था ही होती, इस प्रकार किसी तरह सुषुप्त अवस्था से उसकी संभावना की जा सकती है ।) वह निर्विकल्प परमात्मभावावस्था सम्पूर्ण तथा आकाश-शोभा की तरह सर्वत्र व्यापक है ॥ ५० ॥

मन और अहंकार का विलय होने पर समस्त पदार्थों के भीतर रहने वाली जिस निरतिशयानन्दात्मक शरीर परमात्मस्वरूपावस्था का उदय होता है, स्वयं समाधि से सिद्ध उस अवस्था को सुषुप्त अवस्था के साथ किसी अंश में मिलती जुलती है, वाणी से उसका परिज्ञान नहीं होता है केवल अपने इस हृदय में ही उसका अनुभव होता है ॥ ५१–५२ ॥

आत्मा के स्वरूप का भी अपने अनुभव के सिवा और किसी दूसरे प्रमाण से वैसे ही परिज्ञान नहीं होता है जैसे गुड आदि के स्वरूप का अपने अनुभव के सिवा और किसी दूसरे प्रमाण से परिज्ञान नहीं होता है ॥५३॥

यह सब व्यापक आत्मस्वरूप ही है । जब चित्त बाह्य विषयों से उपरत हो जाता है और प्रत्यगात्मा में क्षीरोदक के समान एकरस रूप से उसका निश्चल परिणाम हो जाता है, तब चर और अचरों के स्वभूत तथा चक्षु आदि इन्द्रियों का साक्षीरूप से प्रकाश करने वाला आत्मा स्वयं ही अनुभूत हो जाता है ॥ ५४ ॥

तदनु विषयवासनाविनाश-
स्तदनु शुभः परमः स्फुटप्रकाशः ।
तदनु च समतावशात् स्वरूपे
परिणमनं महतामचिन्त्यरूपम् ।। ५५ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीयेमोक्षोपाये उपशमप्रकरणे उपदेशो नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ।। ६४ ।।

उस प्रकार चतुर्थ भूमिका में आत्मा का अनुभव होने के अनन्तर पाँचवीं भूमिका में विषय वासानाओं का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है, उसके बाद छठी भूमिका में किसी तरह के प्रयत्न के बिना ही शुभ परम पुरुषार्थ रूप अपने आत्मा की सदा ही पूर्णता का अनुभव सिद्ध होता है। उसके बाद सातवीं भूमिका में समाधि और असमाधि की समता के कारण विषमता का अत्यन्त निरास हो जाने से, समुद्र के भीतर विलीन सैन्धवघन के समान, स्व-स्वरूप में सुखैकरसतास्वरूप से अपने में ही परमात्मभाव हो जाने से स्वरूपनिष्ठा सिद्ध हो जाती है। इस परिणमन के तत्त्व का ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी इयत्तारूप से परिज्ञान नहीं कर सकते, क्योंकि वह अचिन्त्य स्वरूप है ।। ५५ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में उपदेश नामक कुसुमलता का चौसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ६४ ।।

६५

वसिष्ठ उवाच

[म]नसैव मनश्छित्त्वा यद्यात्मा नाऽवलोक्यते ।
[मम]ेत्यहमिति त्यक्त्वा तत्तामरसलोचन ! ।। १ ।।
[त]नाऽस्तमेति जगद्दुःखं यथा चित्रगतो रविः ।
आयात्यापदनन्तत्वं महार्णववदातता ।। २ ।।
पुनः पुनरुपायाति जलकल्लोलकारणम् ।
मेघनीलतमःश्यामा संसृतिप्रावृडाकुला ।। ३ ।।
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं सुहृदोः सह्यसानौ भासविलासयोः ।। ४ ।।
अस्त्युत्सेधजिताकाशः पीठेन जितभूतलः ।
तलेन जितपातालस्त्रिलोकविजयो गिरिः ।। ५ ।।
असङ्ख्यकुसुमापूरोऽसङ्ख्यनिर्मलनिर्झरः ।
गुह्यकारक्षितनिधिः सह्यनामाऽविषह्यभाः ।। ६ ।।
मुक्तापटलसम्पूर्णैर्भानुभासुरभित्तिभिः ।
भासुरः काञ्चनतटैः कटैरिव सुरद्विपः ।। ७ ।।

६५

वसिष्ठ जी ने कहा—हे कमलनयन ! मम=मेरा और अहं=मैं अर्थात् 'पुत्र आदि मेरे हैं, यह देह आदि मैं हूँ' इत्यादि अभिमान का परित्याग कर शास्त्र से संस्कृत मन से संकल्पात्मक चित्त का छेदन कर यदि आत्मा का साक्षात्कार नहीं करने पर चित्र में लिखित सूर्य के समान जगत्-रूपी दुःख का कभी-भी अन्त नहीं होता है। प्रत्युत महान् समुद्र की तरह असीम संसाररूपी विपत्ति अनन्ता स्वरूता को ही धारण करती रहती है ।। १, २ ।।

जल के तरङ्गों की लीला साधन मेघों से और तज्जनित नील अन्धकारों से श्याम तथा दुःख-कारण संसाररूपी वर्षा ऋतु बार-बार आती रहती है ।। ३ ।।

इसी विषय में सह्याद्रि के शिखर पर रहने वाले भास और विलास नाम के दो विशुद्धात्मा मित्रों के संवाद रूपी इस प्राचीन इतिहास को उदाहरण स्वरूप कहते हैं ।। ४ ।।

ऊँचाई से आकाश का अतिक्रमण करने वाला, उपत्यका भाग से तराई या पर्वत के पास की भूमि से पृथ्वी का अतिक्रमण करने वाला और भूमि के भीतर प्रविष्ट मूलभाग से पाताल का अतिक्रमण करने वाला तीनों लोकों में विजयी एक पर्वत है ।। ५ ।।

उस पर्वत का नाम सह्य है, उसमें भाँति-भाँति के असंख्य फूल हैं, असंख्य निर्मल झरने बह रहे हैं, गुह्यकों (देवविशेषों) द्वारा वहाँ की धन-सम्पत्तियों की चारों ओर से रक्षा की गई है, वहां के रत्नों की दीप्तियों से मनुष्यों की दृष्टि चकाचौंध हो जाती है ।। ६ ।।

मोतियों के समूह से भरे तथा मानिक आदि रत्नों की दीप्तियों से प्रकाशित हो रही भित्तियों से युक्त सुवर्णमय नितम्ब देश से वह गण्डस्थल से ऐरावत की तरह बड़ा सुन्दर लगता है ।। ७ ।।

क्वचित्पुष्पभरासारो धातुसाराततः क्वचित् ।
क्वचित्फुल्लसरःसारो रत्नशालिशिलः क्वचित् ॥ ८ ॥
इतो रटन्निर्झरवानितः क्वणितकीचकः ।
इतो रटद्गुहावात इतः षट्पदघुङ्घुमः ॥ ९ ॥
सानौ गीतोऽप्सरोवृन्दैर्वने मृगखगारवः ।
अधित्यकायां मत्ताभ्रो गगनेषु खगारवः ॥ १० ॥
विद्याधराश्रितगुहो भृङ्गगीताम्बुजाकरः ।
किरातगीतपर्यन्तः खगगीतवनद्रुमः ॥ ११ ॥
स्कन्धेषु देवैर्वलितः पादेषु वलितो नरैः ।
पाताले वलितो नागैजगद्गृहमिवाऽपरम् ॥ १२ ॥
कन्दरेषु श्रितः सिद्धैर्निधानैरन्तराश्रितः ।
चन्दनेषु श्रितो नागैः सिंहैः श्रृङ्गशिखासु च ॥ १३ ॥
पुष्पाभ्रसंवीतवपुः पुष्परेण्वभ्रपांसुलः ।

उस पर्वत पर कहीं अनेक तरह के पुष्पों के समूह-के-समूह मिलकर प्रवाहित हो रहे हैं, कहीं हरिताल, गैरिक आदि धातुएँ भरी पड़ी हैं, कहीं विकसित कमलों से सुशोभित सरोवर हैं, कहीं रत्नों से युक्त शिलाएँ हैं ॥८॥

उस पर्वत पर किसी स्थान में झरनों की गुनगुनाहट हो रही है, कहीं वायुप्रवेश से बाँसों के मधुर शब्द हो रहे हैं, कहीं गुफाओं से निकला वायु सनसनाहट कर रहा है, कहीं भ्रमरों का मञ्जुल घुंघुम शब्द हो रहा है ॥ ९ ॥

उसके शिखर पर अप्सराएँ कहीं गाना गा रही हैं, उसके वन प्रदेश में मृग और पक्षियों के सुन्दर शब्द हो रहे हैं। उसके ऊपरी प्रदेश में मत्तों की नाईं मेघ गरज रहे हैं और आकाश प्रदेश में पक्षियों के शब्द हो रहे हैं ॥ १० ॥

उस पर्वत की गुफाएँ विद्याधरों से आश्रित हैं, जिनमें भ्रमरों के मधुर गीत हो रहे हैं, ऐसे कमलों का वह आकर है, उसके नीचे देश में किरात अपना निराला गीत गा रहे हैं, वनों के वृक्षों में पक्षियों का मधुर कलनाद हो रहा है ॥ ११ ॥

सारे संसार का मानो यह दूसरा घर है, क्योंकि उस पर्वत का ऊपरी हिस्सा देवों से भरा है, नीचे का हिस्सा मनुष्यों से भरा है और पृथ्वी के भीतर का हिस्सा नागों से भरा है ॥ १२ ॥

उसकी छोटी-छोटी कन्दराओं में सिद्ध लोग रहते हैं, भीतरी भागों में गढ़ी अनेक निधियाँ हैं। चन्दन-वृक्षों में सर्प में रहते हैं और शिखरों की चोटियों पर सिंह रहते हैं ॥ १३ ॥

उस पर्वत का शरीर नीचे गिरे हुए पुष्परूपी अभ्रों से

पुष्पवात्याभ्रहृद्भ्रान्तः पुष्पपादपपाण्डुरः ॥ १४ ॥
धातुधूल्यभ्रकपिलो रत्नोपलतलस्थितैः ।
मन्दारगैरिव पुरस्त्रीगणैरलमाश्रितः ॥ १५ ॥
अभ्रनीलांशुकच्छन्ना मूकरत्नविभूषणाः ।
शिलाः कनकसुन्दर्यो यत्र श्रृङ्गाभिसारिकाः ॥ १६ ॥
तत्रोत्तरतटे सानौ विनम्रफलपादपे ।
रत्नपुष्करिणीजालवहन्निर्झरवारिणि ॥ १७ ॥
चूतद्रुमलतोन्मुक्तपुष्पस्तबकदन्तुरे ।
विफुल्लाङ्कोलपुन्नागनीलनीरजदिक्तटे ॥ १८ ॥
लतावितानच्छन्नार्के रत्नांशुभरभास्वरे ।
स्रवज्जम्बूरसस्यूते स्वर्लोकाह्लादकारिणि ॥ १९ ॥
ब्रह्मलोकसमः स्वर्गरम्यः शिवपुरोपमः ।
अत्रेरस्त्याश्रमः श्रीमान् सिद्धश्रमहरो महान् ॥ २० ॥

आच्छादित-तुरत के गिरे हुए पुष्पों की अन्तरिक्षस्थ धूली-रूपी अभ्र से धूलीमय उड़ रहे पुष्पों के झंझावातरूपी अभ्र से भ्रान्त-हृदय तथा पुष्पों के वृक्षों से धवलवर्ण है ॥१४॥

वह अनेक तरह की धातुओं की धूलीरूपी अभ्रों से कपिलवर्ण और रत्नों की शिलाओं के ऊपर अवस्थित मन्दारवृक्ष के ऊपर आरूढ़ सिद्ध स्त्रियों की तरह मनोहर नागरिक अङ्गनाओं का चारों ओर से आश्रम-स्थान है ॥ १५ ॥

मेघरूपी नील वस्त्रों का परिधान किये हुए उस पर्वत में मूक रत्नों को धारण करने से अत्यन्त शोभित सुवर्ण-मयी शिलारूपी सुन्दरियाँ शिखररूपी पुरुषों का आलिङ्गन करने के कारण अभिसारिकाएँ बनी हुई हैं ॥ १६ ॥

उस पर्वत में उत्तर किनारे के शिखर पर—जहाँ फलों से लदे विनम्र वृक्ष हैं, रत्नमयी अनेक बावड़ियों से जल के झरने बह रहे हैं और आम्रवृक्ष की शाखाओं के द्वारा ऊपर की ओर विस्तारित फूलों के गुच्छों से ऊँचे दांतों से युक्त होकर स्थित है, जिसकी दिशाओं के तट में विकसित अंकोलक, श्वेत कमल और नील कमल विद्यमान हैं ॥ १७-१८ ॥

लताओं के विस्तार से सूर्य ढक जाता है, रत्नों के दीप्ति समूहों से वह अत्यन्त प्रकाशित है, बह रहे जम्बूरसों से पूर्ण है ॥ १९ ॥

स्वर्गस्थान की तरह वह अत्यन्त आनन्द देनेवाले महान् सिद्धों का श्रम रहने वाले ब्रह्मलोक के सदृश, स्वर्ग की तरह रमणीय, शिवजी के नगर की उपमावाले उस स्थान में अत्यन्त सुन्दर महामुनि अत्रि का महान् आश्रम है ॥ २० ॥

महत्यत्राऽऽश्रमे तस्मिंस्तापसौ द्वौ बभूवतुः ।
कोविदौ तु नभोमार्ग इव शुक्रबृहस्पती ॥ २१ ॥
तयोरथैकास्पदयोस्तत्राऽभूतां सुतावुभौ ।
फुल्लाङ्कुरौ शुद्धतनू सरस्यम्बुजयोरिव ॥ २२ ॥
विलासभासनामानौ वृद्धिमाययतुः क्रमात् ।
तौ पित्रोः पल्लवे दीर्घे लतापादपयोरिव ॥ २३ ॥
आस्तामन्योन्यसुस्निग्धौ सुहृदौ वल्लभौ मिथः ।
तिलतैलवदाश्लिष्टौ तौ पुष्पामोदवत्स्थितौ ॥ २४ ॥
नाऽयुक्तौ पुत्रयुक्तौ तु सुरक्ताविव दम्पती ।
एकं द्वित्वमिवाऽऽपन्नं सममासीत्तयोर्मनः ॥ २५ ॥
तौ तथाऽन्योन्यमुदितौ मनोहरतराकृती ।
तस्थतुः स्वाश्रमे मौने सरोज इव षट्पदौ ॥ २६ ॥
प्राप्तयौवनं बाल्यमुत्सृज्य नववल्लभौ ।
कालेनाऽल्पतरेणैव चन्द्रसूर्याविवोदितौ ॥ २७ ॥
जग्मतुर्देहमुत्सृज्य ततस्तौ पितरौ तयोः ।
स्वर्गं जरार्तावुड्डीय नीडादिव विहङ्गमौ ॥ २८ ॥
पञ्चत्वं गतयोः पित्रोर्दीनवक्त्रौ बभूवतुः ।
तप्ताङ्गौ विगतोत्साहौ पद्माविव जलोद्धृतौ ॥ २९ ॥
तत्रौर्ध्वदैहिकं कृत्वा चक्राते परिदेवनम् ।
लोकस्थितिरलङ्घ्या हि महतामपि मानद ! ॥ ३० ॥
कृत्वौर्ध्वदैहिकमथो व्यथयाऽभिभूतौ
शोकोत्थया करुणयाऽऽर्तगिरा विलप्य ।
चित्रार्पिताविव निरस्तसमस्तचेष्टौ
तौ संस्थितौ सुखमशून्यहृदौ विवृत्तौ ! ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे भासविलास-वृत्तान्ते सह्यगिरिवर्णनं नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

उस विस्तीर्ण आश्रम में आकाश मार्ग में रहने वाले बृहस्पति और शुक्र की तरह शास्त्रों को जाननेवाले दो विद्वान् तपस्वी वृहस्पति और शुक्र रहते थे ।। २१ ।।

किसी समय वहाँ पर एक ही आश्रम में रहने वाले उन दोनों तपस्वियों के विशुद्धस्वरूपवाले दो पुत्र, तालाब में दो कमलों के पौधों में फूलों की प्रकृति कलियों के समान उत्पन्न हुए ।। २२ ।।

पिताओं के स्थान में ही विलास और भास वे दोनों क्रमशः लता और वृक्ष के दीर्घ पल्लवों की तरह बढ़ने लगे ।। २३ ।।

वे दोनों एक दूसरे के प्रति अत्यन्त स्निग्ध प्यार करते थे और मित्र थे । वे दोनों एक दूसरे से वैसे ही मिलजुल कर रहते थे जैसे तिलों में तेल और पुष्पों में सुगन्ध एक दूसरे से मिले जुले रहते हैं ।। २४ ।।

वैसे ही वे दोनों कभी-भी एक दूसरे से जैसे पुत्र के लिए मिले हुए अनुरक्त पति-पत्नी एक दूसरे से अलग नहीं होते हैं, उन दोनों के मन समान होने के कारण ऐसा मालूम पड़ता था कि एक ही मनने मानो दो भागों में बट कर दो स्वरूप धारण कर लिया है ।। २५ ।।

मुनियों से सुशोभित उस सुन्दर आश्रम में अत्यन्त मनोहर शरीर वाले वे दोनों बालक कमल में दो भ्रमरों की तरह एक दूसरे से प्रसन्न उसी प्रकार प्रेमयुक्त होकर निवास करते थे ।। २६ ।।

थोड़े ही समय में बाल्य अवस्था को व्यतीत कर नबीनप्रिय उन दोनों ने उदयकालीन सूर्य और चन्द्रमा के समान युवावस्था प्राप्त की ।। २७ ।।

अनन्तर वृद्धावस्था से पीड़ित उन दोनों के वे दोनों पिता शुक्र और बृहस्पति वैसे ही शरीर को छोड़ परलोक चले गये जैसे अपने खोते से उड़कर दो पक्षी अन्यत्र चले जायँ ।। २८ ।।

पिताओं के मर जाने पर पानी से निकाले गये कमल की तरह वे दोनों चेहरे से दीन, शरीर से सन्तप्त और उत्साह से रहित हो गये ।। २९ ।।

हे मानद ! बालकों ने अपने पिताओं की दाह आदि क्रिया कर अत्यन्त विलाप किया, क्योंकि बड़े विद्वान् के लिए लौकिक स्थिति का उल्लङ्घन करना कठिन होता हैं ।। ३० ।।

अनन्तर और्ध्वदेहिक क्रिया सम्पन्न कर व्यथाग्रस्त उन दोनों ने शोक से निकली करुणापूर्ण दीन वाणी से अपने पितरों के लिए अत्यन्त विलाप किया, उनकी समस्त चेष्टाएँ निरस्त हो गई, वे मरे नहीं, पर विलाप के कारण अचानक अशून्यहृदय हो गये अर्थात् मूर्छित हो गये और उस समय चित्र में लिखित मनुष्यों की तरह उनकी स्थिति हो गई ।। ३१ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में भासविलास-वृत्तान्त में सह्यगिरिवर्णन नामक कुसुमलता का पैंसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ६५ ।।

६६

वसिष्ठ उवाच
अतिशोकपराभूतौ तस्थतुर्दृढतापसौ ।
तापसंशुष्कसर्वाङ्गौ तावरण्यद्रुमाविव ॥ १ ॥
विरक्तौ विपिने कालं क्षपयामासतुर्द्विजौ ।
वियूथाविव सारङ्गावनास्थामागतौ पराम् ॥ २ ॥
जग्मुर्दिनानि मासाश्च वर्षाण्यथ तयोस्तदा ।
क्रमाद् द्वावपि संयातौ जरां श्वभ्रद्रुमाविव ॥ ३ ॥
अप्राप्तविमलज्ञानौ चिराज्जर्जरतापसौ ।
तावेकदा संघटिताविदमन्योन्यमूचतुः ॥ ४ ॥
विलास उवाच
जीविताग्र्यद्रुमफल हृदावासामृताम्बुधे ।
जगत्यस्मिन्महाबन्धो भास ! स्वागतमस्तु ते ॥ ५ ॥
एतावत्यो दिनावलयो मद्वियोगवता त्वया ।
वद क्व क्षपिताः साधो ! कच्चित्ते सफलं तपः ॥ ६ ॥
कच्चित्ते विज्वरा बुद्धिः कच्चिज्जातस्त्वमात्मवान् ।
कच्चित्फलितविद्यस्त्वं कच्चित्कुशलवानसि ॥ ७ ॥
वसिष्ठ उवाच
इत्युक्तवन्तं संसारसमुद्विग्नमलं तथा ।
प्राहाऽप्राप्तमहाज्ञानं सुहृत् सुहृदमादरात् ॥ ८ ॥
भास उवाच
साधो ! स्वागतताऽद्यैव दिष्ट्या दृष्टोऽसि मानद ! ।
कुशलं तु कुतोऽस्माकं संसारे तिष्ठतामिह ॥ ९ ॥
यावन्नाऽधिगतं ज्ञेयं यावत्क्षीणा न चित्तभूः ।
यावत्तीर्णो न संसारस्तावन्मे कुशलं कुतः ॥ १० ॥
आशा यावदशेषेण न लूनाश्चित्तसंभवाः ।
वीरुधो दात्रकेणेव तावन्नः कुशलं कुतः ॥ ११ ॥
यावन्नाऽधिगतं ज्ञानं यावन्न समतोदिता ।
यावन्नाऽभ्युदितो बोधस्तावन्नः कुशलं कुतः ॥ १२ ॥

६६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ग्रीष्म की प्रचण्ड धूप से तथा दावाग्नि के ताप से सर्वथा सूखे हुए अरण्य में उत्पन्न दो वृक्षों के समान शोक से अतिशय पराजित पिता के वियोगजन्य संताप से सर्वथा सूखे हुए वे दोनों दृढ़ तपस्वी रहते थे ॥ १ ॥

घर, खेत, धन, आदि पदार्थों में अत्यन्त विरक्त वे दोनों ब्राह्मण, झुण्ड से अलग हुए दो मृगों की तरह, अलग अलग होकर जङ्गल में अपना-अपना कालक्षेप करने लगे ॥ २ ॥

अनन्तर उसी अवस्था में क्रमशः उनके दिन, मास और वर्ष बीतने लगे और वे दोनों, गड्ढे में उत्पन्न दो वृक्षों की तरह वृद्ध हो गये ॥ ३ ॥

बहुत समय बीतने पर एक समय प्रारब्धवश कुछ समय से बिछुड़े हुए विशुद्ध ज्ञानशून्य एक दूसरे से पुनः मिल गये और परस्पर यह कहने लगे ॥ ४ ॥

विलास ने कहा—हे मेरे उत्तम जीवन रूपी वृक्ष के फल ! हे मेरे हृदय में सदा सर्वदा रहने वाले अमृत के सागर ! और हे इस जगत् के महाबन्धो ! हे भास ! आप का स्वागत हो ॥ ५ ॥

हे साधो ! मुझ से अलग होकर तुमने इतने दिन कहाँ व्यतीत किये ? यह बताओ ? क्या तुम्हारी तपश्चर्या सफल हुई ? ॥ ६ ॥

क्या तुम्हारी बुद्धि संसारानल से जनित संताप से रहित हो गई ? क्या तुमने तत्त्वज्ञान से आत्मा प्राप्त कर क्या तुम्हारी विद्या सफल हो गई ? कहो—तुम कुशल तो हो न ? ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—

उस प्रकार प्रश्न पूछने वाले तथा संसार से उद्विग्न अपने मित्र विलास के प्रति, जिसको कि श्रेष्ठ आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था, वह मित्र भास अत्यन्त आदरपूर्वक स्पष्ट कहने लगा ॥ ८ ॥

भास ने कहा—

हे मानदाता ! उत्तम भाग्यवश मुझको तुम्हारा दर्शन होने से मेरा आज आगमन सफल हुआ पर इस दुःखमय संसार में चक्कर काट रहे हम लोगों की कुशलता कैसे हो सकती है ? ॥ ९ ॥

ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान न होने तक मन में उत्पन्न होने वाले काम, संकल्प आदि नष्ट न होने तक और इस संसार के पार नहीं लगने तक मैं कुशल कैसे हो सकता हूँ ? ॥ १० ॥

जबतक चित्त में उत्पन्न हुई आशाएँ पूर्णरूप से वैसे ही काटी नहीं जातीं जैसे लताओं के बन्धन सरौते आदि से काटे जाते हैं, तब तक हमें कुशलता कहाँ ? ॥ ११ ॥

जब तक आत्मज्ञान (शोधित 'त्वम्' और 'तत्' पदार्थ का परिज्ञान) प्राप्त नहीं हो जाता, जबतक समभाव का उदय नहीं हो जाता और जबतक अखण्ड-

आत्मलाभं विना साधो ! विना ज्ञानमहौषधम् ।
उदेति पुनरेवेयं दुःसंसृतिविषूचिका ॥ १३ ॥
शैशवाङ्कुरितोज्जम्भान्नवयौवनपल्लवः ।
जराकुसुमितोऽभ्येति पुनः संसारदुर्द्रुमः ॥ १४ ॥
कायजीर्णतरोरस्माद् बान्धवाक्रन्दषट्पदा ।
जराकुसुमितोदेति पुनर्मरणमञ्जरी ॥ १५ ॥
भुक्तकर्मर्तुविरसा पुराणदिवसोम्भिता ।
नीयते नीरसप्राया पुनः संवत्सरावली ॥ १६ ॥
महादरीषु देहाद्रेस्तृष्णाकण्टकितास्वपि ।
फलव्यालासु च पुनः क्रियासु परिलुठ्यते ॥ १७ ॥
दुःखैः सुखलवाकारैर्दीर्घादीर्घैः शुभाशुभैः ।
अपर्याप्तागमापायाः प्रयान्त्यायान्ति रात्रयः ॥ १८ ॥
अयथार्थक्रियारम्भैः कदाशावेशपल्लवैः ।
क्षीयते कर्मभिस्तुच्छैरायुराहतकर्मभिः ॥ १९ ॥

वाक्यार्थ-बोध नहीं हो जाता, तबतक हम लोगों की कुशलता कहाँ ? ॥ १२ ॥

हे साधो ! आत्मा की प्राप्ति और ज्ञान रूप महान् औषध के बिना यह संसार रूपी दुष्ट महामारी पुनः पुनः उत्पन्न होती ही रहती है ॥ १३ ॥

पहले अङ्कुरित होने पर शैशवरूप टहनीरूपी विकास के अनन्तर उसका अतिक्रमण कर यौवनरूपी पत्ते धारण करने वाला और इसके बाद जरा रूपी कुसुम से कुसुमित यह संसार रूपी दुष्ट वृक्ष पुनः पुनः प्राप्त होता रहता है ॥ १४ ॥

इस जीर्ण-शीर्ण शरीर रूपी वृक्ष से बान्धवों के आक्रन्दन रूपी भ्रमरों के गुंजार शब्दमय मरणरूपी मञ्जरी और वृद्धावस्थारूपी पुष्प लगते हैं, यह पुनः पुनः उत्पन्न होती रहती है ॥ १५ ॥

जिन में कर्म भोग सम्पन्न वसन्त आदि ऋतुओं से सारहीन, प्राचीन दिवसों से पूरित अतएव प्रायः नीरस यह संवत्सरों की परम्परा पुनः व्यर्थ ही बिताई जाती है । संस्कृत व्याख्या के अनुसार उसका आशय व्यक्त करते हुए अच्युतमाला का अनुवाद इस प्रकार हैं— भाव यह है कि यदि प्राणी का दुष्ट प्रारब्ध हुआ तो उसको मरण के बाद नरक, स्थावरभाव या पशु आदि निकृष्ट योनियों में जन्म प्राप्त हो जाता है और यदि अच्छा प्रारब्ध हुआ तो स्वर्ग प्राप्त होता है । मरण के अनन्तर यदि नरक आदि मिले, तो वहाँ पर वसन्त आदि ऋतुओं में—जिन में कि ठंडी, गर्मी, वायु, वर्षा, सर्प, मच्छर आदि दुःखदायी असंख्य प्रतिबन्धक भरे पड़े हैं— दुष्कृत कर्मों का उपभोग करना ही पड़ता है, अतएव इन ऋतुओं में सरसता कहाँ रही, इन्हीं के कारण वसन्त आदि छः ऋतुओं के मिलने पर हुआ वर्ष भी बिरस ही होगा और सुतरां वर्षपरम्परा भी, इस अभिप्राय से 'भुक्तकर्मर्तुविरसा' यह 'संवत्सरावली' का विशेषण है । अच्छे प्रारब्ध से मरण के बाद यदि स्वर्ग मिला, तो वहाँ पर गया हुआ प्राणी दूसरे पुण्य का साधन करने नहीं पाता, क्योंकि स्वर्ग में केवल भोग ही भोग होता है, पुण्य का संचय नहीं होता, जो पहले का संचित पुण्य होगा, उसका तो व्यय ही होगा । दूसरी बात यह है कि स्वर्ग में अपने अपने पुण्यों के अनुसार ऊँचे नीचे फलों का उपभोग कर रहे दूसरे जीवों को देखकर प्राणी को हर्ष, असूया आदि होते हैं, ऐसी स्थिति में हर्ष, अमर्ष, असूया, काम आदि दोषों की अधिकता से शम, दम आदि का अनुष्ठान न हो सकने के कारण आत्मज्ञान की प्राप्ति भी स्वर्ग में दुर्लभ है, अतः विषयानुरक्ति से जिन जिन विषयों का वहाँपर बैठकर प्रतिदिन उपभोग किया जाता है, उन सब का पहले अनेक बार उपभोग किया जा चुका है, नवीन विषय तो कोई है नहीं, अतः प्राचीनानुभूत विषयोपभोग से दिन भी प्राचीन प्राय हुए । वर्षात्मक काल दिवसों से पूर्ण है, अतः 'एवंविध प्राचीन दिनों से पूरित' एतदर्थक 'पुराणदिवसोम्भिता' यह दूसरा विशेषण 'संवत्सरावली' का है ॥ १६ ॥

विषयोपभोग रूपी फल ही इसमें भयङ्कर सर्प हैं, हजारों विषयोपभोगों की तृष्णाएँ उत्पन्न काँटे हैं, इस प्रकार की देहरूपी पर्वत की महान् भीषण गुफाओं के समान देहस्थ छिद्रों में अवस्थित इन्द्रियों की आसक्तियों में तथा ऐहिक एवं आमुष्मिक भोगों की साधन लौकिक और वैदिक क्रियाओं में ही जीव सदा सर्वदा लुढ़कता रहता है ॥ १७ ॥

सुख के लेशमात्र आकार युक्त चिरकाल और अल्प-काल तक भोग्य होने के कारण दीर्घ एवं अदीर्घ पुण्य-पापात्मक कर्मरूपी दुःखों से कभी समाप्त न होने वाले आगम और अपगम से युक्त रात्रियाँ समस्त जन्मों में आती जाती रहती हैं ॥ १८ ॥

कुत्सित आशाओं के आवेश से पल्लवित, मिथ्या फल वाले और तुच्छ कर्मों के द्वारा मिथ्या आचरण करनेवाले पुरुष अपनी आयु को इसी प्रकार नष्ट कर डालते हैं ॥१९ ॥

उन्मूलिताश्रयालानो मनोमत्तमतङ्गजः ।
तृष्णाकरेणुकोन्निद्रो दूरं विपरिधावति ॥ २० ॥
जिह्वाचपलतालग्नः कायद्रुममहालये ।
पतच्चिन्तामणौ वृद्धो गर्द्धगध्रो विवर्धते ॥ २१ ॥
नीरसा निःसुखा लघ्वी पतत्पेलवगात्रिका ।
जीर्णपर्णसवर्णेयं क्षीयते दिवसावली ॥ २२ ॥
अवमानरजोध्वस्तमस्तंगतवपुःश्रियम् ।
मुखं धूसरतामेति हिमैः पद्ममिवाऽऽहतम् ॥ २३ ॥
शुष्यतः कायसरसः प्रगलद्यौवनाम्भसः ।
राजहंसः क्षणादायुरनिर्वाति पलायते ॥ २४ ॥
कालानिलबलोद्धूताज्जर्जराज्जीवितद्रुमात् ।
भोगपुष्पाणि दिवसपर्णानि निपतन्त्यधः ॥ २५ ॥
भोगभोगिश्रितेष्वन्तर्दुःखदर्दुरधारिषु ।

परमात्मा में बन्धन के हेतु विवेक रूपी आलान को उखाड़ फेकने वाला है और तृष्णाविषय रूपी हथिनी में कामासक्त विगतनिद्रा वाला मनरूपी मदोन्मत्त हाथी दूर दूर चारों ओर दौड़ता रहता है ॥ २० ॥

परमपुरुषार्थ का साधन आयुरूप चिन्तामणि तथा विवेकरूप चिन्तामणि व्यर्थ समाप्त हो रहे शरीर वृक्ष के ऊपर अवस्थित हृदयरूपी बड़े घोंसले में रहने वाला जीभ की चपलता में संलग्न अत्यन्त प्राचीन स्वादु अन्न आदि की कामना में लगा हुआ वृद्ध गीध बढ़ता ही रहता है ॥ २१ ॥

जीर्ण-शीर्ण पत्ते के समान रसशून्य, सुख से वर्जित, दिवसों से परिच्छिन्न अवयव श्रम, दुर्बलता, रोग आदि से कार्य में असमर्थ यह तुच्छ शरीरलता नष्ट हो जाती है ॥ २२ ॥

वृद्धावस्था में पुत्र, भृत्य आदि के द्वारा जनित अपमानरूपी धूली से आहत, शारीरिक शोभा से वर्जित मुख वैसे ही धूसर हो जाता है जैसे कुहरे से आहत कमल मटमैला हो जाता है ॥ २३ ॥

यौवनरूपी जल के नष्ट होने पर सूख रहे शरीर रूपी सरोवर से आयु वैसे ही भाग जाती है, और पुनः कभी नहीं लौटती जैसे सूखते हुए सरोवर से राजहंस तत्क्षण भाग जाता है, फिर कभी नहीं लौटता ॥ २४ ॥

काल रूपी पवन के द्वारा बलपूर्वक कम्पित जर्जर जीवन रूपी वृक्ष से भोग रूपी फूल और दिवस रूपी पत्ते नीचे गिर जाते हैं ॥ २५ ॥

मनो मोहान्धकूपेषु पूरेषु विनिमज्जति ॥ २६ ॥
नानानुरञ्जनास्पृष्टा तृष्णातरलपेलवा ।
चैत्यमग्रपताकेव दूरं समधिरोहति ॥ २७ ॥
अस्य संसारतन्त्रस्य बृहत्कालबिलास्पदः ।
जीविताशामयं तन्तुमन्तकाखुर्निकृन्तति ॥ २८ ॥
यौवनोत्कटकल्लोला बहुल्लोलासिफेनिला ।
परावर्तमहावर्ता याति जीवितदुर्नदी ॥ २९ ॥
कलाकुलजगत्कार्यकल्लोलाकुलसङ्कुला ।
क्रियासरिदपर्यन्ता वहत्याकुलकोटरा ॥ ३० ॥
अनन्ता बन्धुजनतानद्यो गम्भीरकोटरे ।
अजस्रं निपतन्त्येता वितते कालसागरे ॥ ३१ ॥
देहरत्नशलाकेयं नाशपङ्कार्णवोदरे ।
न ज्ञायते क्व मग्नेति तात ! जन्मनि जन्मनि ॥ ३२ ॥

भोग रूपी बड़े बड़े सर्पों से समन्वित और आन्तर दुःखात्मक मेढ़कों से परिपूर्ण मोहों के अन्धकूपों में स्थित जल-प्रवाहों में मन डूबता रहता है ॥ २६ ॥

अनेक तरह के अनुरागों में लगी हुई यह तरल तुच्छ तृष्णा, देव मन्दिरों के ऊपर लगी पताका की तरह ऊँची ही चढ़ी रहती है ॥ २७ ॥

महान् काल रूपी बिल में रहने वाला मृत्यु रूप चूहा इस संसार रूपी ताँतों के जीवन रूपी आशा से परिपूर्ण आयु रूपी तन्तु को सदा कतरता रहता है ॥ २८ ॥

यौवन ही बड़े-बड़े तरङ्गों वाली चंचल तलवार के सदृश काम, क्रोध, द्वेष, भय आदि फेन तथा लोभ तृष्णा आदि से यत्र तत्र होने वालों से समन्वित परिभ्रमण रूपी महान् आवर्त युक्त जीवित रूपी दुष्ट नदी व्यर्थ ही व्यतीत हो रही है ॥ २९ ॥

शिल्प, तर्क, नीतिशास्त्र आदि कौशलों से व्याप्त, जगत् के व्यवहार रूप तरङ्गों से परिपूर्ण क्षुब्धता रूपी कोटरों से युक्त असीम यह प्रवृत्तिरूपा नदी, इसी प्रकार प्रत्येक जन्म में निरर्थक बहती रहती है ॥ ३० ॥

ये बन्धुजनों की समूहात्मिका असंख्य नदियाँ गम्भीर कोटर वाले विशाल काल सागर में निरन्तर गिरती रहती हैं ॥ ३१ ॥

हे तात ! परम पुरुषार्थ की साधानभूता यह देह रूपी रत्नशलाका विनाश रूपी कीचड़ से पूर्ण सागर के पेट में किस जगह समा गई है यह अनेक जन्मों में भी नहीं जाना जाता है ॥ ३२ ॥

चिन्ताचक्रे चिरं बद्धं कुक्रियाचारचञ्चुरम् ।
चेतो भ्रमति सामुद्रे गर्तावर्ते तृणं यथा ॥ ३३ ॥
उह्यमानमनन्तेषु चेतः कार्यमहोर्मिषु ।
क्षणमेति न विश्रान्तिं चिन्तातांण्डविताशयम् ॥ ३४ ॥
इदं कृतं करोमीदं करिष्यामीदमित्यलम् ।
कलनाजालवलिता मूर्च्छिता मतिपक्षिणी ॥ ३५ ॥
अयं सुहृदयं शत्रुरिति द्वन्द्वमहाद्विपः ।
विनिकृन्तति मर्माणि यथा नीलोत्पलानि मे ॥ ३६ ॥
चिन्तानद्या महावर्ते वीचिकानिचये चिरम् ।
क्षणादुच्छूनतामेति मनोमीनः क्षणादुगतिः ॥ ३७ ॥
अनात्मीयानि दुःखानि बहून्येवंविधान्ययम् ।
आत्मबुद्धया विचिन्वानो जनो गच्छति दीनताम् ॥३८॥
बहुविधसुखदुःखमध्यपाती
विततजरामरणप्रवातभग्नः ।
जगदुदयगिरौ लुठञ्जनोऽयं
गतरसपर्णवदेति जर्जरत्वम् ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे अनित्यताप्रतिपादनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

चिन्ता रूपी चक्र में चिरकाल से बद्ध तथा दुष्ट क्रियाओं के अनुष्ठान में निरत यह चित्त, समुद्र के छिद्र वाले बड़े आवर्त में घूम रहे तृण की तरह घूमता रहता है ॥ ३३ ॥

असंख्य काय रूपी तरङ्गों में बहने वाला तथा चिन्ता रूपी ताण्डव-नृत्य से युक्त चित्त क्षणभर भी विश्रान्ति नहीं पाता है ॥ ३४ ॥

मैंने यह किया, यह करता हूँ और यह करूँगा, इस प्रकार की कल्पनाओं के जाल में फँसकर बुद्धि रूपी पक्षी अत्यन्त मोहित हो जाती है ॥ ३५ ॥

यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है, इस प्रकार के द्वन्द्व रूपी मदोन्मत्त हाथी मेरे मर्म-स्थानों का वैसे ही भेदन कर रहा है जैसे मत्त हाथी नील कमलों का उच्छेदन कर देता है ॥ ३६ ॥

चिर कालिक तरङ्गों के समूहों से परिव्याप्त चिन्ता नदी के महान् आवर्त में, अत्यन्त चपल मन रूपी मत्स्य क्षण भर में बहुत बढ़ जाता है ॥ ३७ ॥

आत्मा के स्पर्श रहित अनात्मभूत देह आदि में आत्मबुद्धि के कारण ही शरण लेने वाले असंख्य दुःखों को देहात्मबुद्धि से अवगत करने वाला पुरुष दैन्य को प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

विविध सुख और दुःखों के बीच में मग्न विशाल जरा-मरण रूपी आँधी से पुनः पुनः मर्दित तथा जगत्-रूपी उदयाचल पर लोट रहा यह प्राणी सूखे पत्ते की तरह जर्जरता को प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में अनित्यताप्रतिपादन नामक कुसुमलता का छाछठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

६७

वसिष्ठ उवाच

एवं तौ कुशलप्रश्नं कृतवन्तौ परस्परम् ।
कालेनाऽऽसाद्य विमलं ज्ञानं मोक्षं ततो गतौ ॥ १ ॥
ततो वच्मि महाबाहो ! यथा ज्ञानेतरा गतिः ।
नाऽस्ति संसारतरणे पाशबन्धस्य चेतसः ॥ २ ॥
इदं भव्यमतेर्दुःखमनन्तमपि पेलवम् ।
कुखगस्याऽतरोऽम्भोधिः सर्पारेर्गोष्पदायते ॥ ३ ॥

६७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उन दोनों ने इस प्रकार संसार की असारता के विचार से ओत-प्रोत कुशल प्रश्न आपास में किया। अनन्तर वे दोनों समय से विशुद्ध ज्ञान पाकर मुक्त हो गये ॥ १ ॥

हे महाबाहो ! इसलिए मैं कहता हूँ कि जाल के समान बान्धन के साधन चित्त संसार पार करने के लिए यथार्थ आत्मज्ञान के सिवा और दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ २ ॥

पहले वर्णित असीम दुःखी विवेकीपुरुष के लिए वैसे ही अत्यन्त कोमल है जैसे साधारण तुच्छ पक्षी के लिए दुस्तर सागर गरुडजी के लिए गाय के खुर मात्र के समान है उसका उच्छेद अनायास किया जा सकता है ॥ ३ ॥

देहातीता महात्मानश्चिन्मात्रस्वात्मनि स्थिताः ।
दूराद्देहं समीक्षन्ते प्रेक्षको जनतामिव ॥ ४ ॥
देहे दुःखातिसंक्षुब्धे का नः क्षतिरुपस्थिता ।
रथे विधुरिते भग्ने सारथेः केव खण्डना ॥ ५ ॥
मनसि क्षुब्धतां याते चित्त्वस्याऽङ्ग किमागतम् ।
तरङ्गजलसन्ताने वैपरीत्यं किमम्बुधेः ॥ ६ ॥
केऽभवन् पयसां हंसाः पयसामुपलाश्च के ।
काः शिलाः किल दारूणां के भोगाः परमात्मनः ॥ ७ ॥
सम्बन्धः क इव श्रीमन् ! शैलापरसमुद्रयोः ।
अन्तरे गिरिसम्बाधे कश्च चित्तत्त्वबन्धयोः ॥ ८ ॥
अप्युत्सङ्गोह्यमानानि पद्मानि सरिदम्भसाम् ।
कानि नाम भवन्तीह शरीराणि तथाऽऽत्मनः ॥ ९ ॥
संघट्टात् काष्ठपयसोर्यथोत्तुङ्गाः कणादयः ।

देहाभिमान से रहित, चिन्मात्र स्वरूप अपनी आत्मा में निष्ठा रखने वाले महात्मा लोग वैसे ही दूर से ही देह को देखते रहते हैं जैसे तटस्थ दर्शक पुरुष दूर से ही जन-समूह को देखता है ॥ ४ ॥

देह के दुःखों से अत्यन्त क्षुब्ध होने पर भी हमें आत्मा में कौन सी क्षति पहुँचती है। रथ के धुरा रहित होने पर या टूट जाने पर सारथियों की कौन-सी क्षति पहुँचती है ॥ ५ ॥

चिर स्वभाव आत्मा के पूर्णत्व, स्वरूप से क्या वैसा ही होता है। मन के क्षुब्ध हो जाने पर क्या क्षति हुई ? क्या तरङ्गों के रूप में जल का विस्तार हो जाने पर पूर्ण स्वभाव समुद्र में क्या पूर्णता स्वरूप की हानि होती है ? ॥ ६ ॥

भला बतलाइये कि हंस और पाषाण जल के कौन होते हैं ?शिलाएँ काष्ठों की कौन होती हैं ? वैसे ही भोग परमात्मा के कौन होते हैं ? आशय यह है कि अचेतन और असङ्ग चिति में कभी-भी ममता नहीं हो सकती है ॥ ७ ॥

हे श्रीमन् ! परमात्मा और संसार में भी वैसे ही परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है जैसे बीच-बीच में अनेक पर्वतों से व्याप्त होने पर भी उत्तर पर्वत और दक्षिण समुद्र का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ ८ ॥

यहाँ आत्मा का शरीर भी वैसे ही कोई नहीं हैं जैसे अपनी गोद में धारण किये गये कमल जल के कौन होते हैं ? ॥ ९ ॥

देह और आत्मा के तादात्म्याध्यास से सुख, दुःख आदि

देहात्मनोः समायोगात् तथैताश्चित्तवृत्तयः ॥ १० ॥
सम्बन्धाद् दारुपयसां प्रतिबिम्बानि दारुणः ।
यथा पयसि लक्ष्यन्ते शरीराणि तथाऽऽत्मनि ॥ ११ ॥
यथा दर्पणवीच्यादौ प्रतिबिम्बानि वस्तुतः ।
नाऽसत्यानि च सत्यानि शरीराणि तथाऽऽत्मनः ॥१२॥
दारुवार्युपलास्फोटे दुःखिता न यथा क्वचित् ।
संयुक्तेषु वियुक्तेषु न तथा पञ्चसु क्षतिः ॥ १३ ॥
दारुसंश्लेषितात्तोयात् कम्पशब्दादयो यथा ।
प्रजायन्ते तथैवाऽस्माद्देहाच्चित्परिबोधितात् ॥ १४ ॥
न शुद्धजडयोरेताः संविदश्चिच्छरीरयोः ।
एता ह्यज्ञानमात्रस्य तस्मिन्नष्टे चिदेव नः ॥ १५ ॥
यथा न कस्यचिद् वारिदारुश्लेषेऽनुभूतयः ।
तथा न कस्यचिद् देहदेहिसङ्गेऽनुभूतयः ॥ १६ ॥

चित्त की अनेक वृत्तियाँ वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे काठ और जल के अन्योन्य आघात से बड़े-बड़े उत्तुङ्ग कण आदि उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

अध्यासिक सम्बन्ध से आत्मा में शरीर वैसे ही दिखाई देते हैं। जैसे जल और काष्ठ के केवल सान्निध्य से ही जल में काठ के प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं ॥११॥

आत्मा में प्रतीयमान शरीर भी वैसे ही न सत्य हैं और न असत्य हैं किन्तु अनिर्वचनीय हैं। जैसे दर्पण, तरङ्ग आदि में पड़े हुए प्रतिबिम्ब वास्तव में न सत्य हैं और न असत्य हैं, किन्तु अनिर्वचनीय हैं ॥ १२ ॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश रूपी पाँच भूत देह आदि के स्वरूप में परिणत चन्दन आदि से संयुक्त अथवा स्त्री, पुत्र आदि से वियुक्त होने पर वैसे ही कभी-भी दुःखित नहीं होते जैसे परस्पर आहत होने पर काठ, जल और पत्थर कभी दुःखित नहीं होते ? ॥ १३ ॥

सामीप्य संसर्ग से चैतन्य के द्वारा अधिष्ठित होकर चारों ओर से बोधित इस देह से वैसे ही कम्प शब्द आदि क्रियाएँ होती हैं जैसे काठ के साथ सम्बन्ध को प्राप्त जल से कम्प, शब्द आदि क्रियाओं की उत्पत्ति होती है ॥ १४ ॥

शुद्ध चैतन्य और जड़ देह को सुख, दुःख आदि के अनुभव नहीं होते हैं केवल अज्ञान को ही होते हैं, अज्ञान के नष्ट हो जाने पर हम लोगों की केवल शुद्ध चिति ही अवशिष्ट रह जाती है ॥ १५ ॥

देह और देहाभिमानी आत्मा का सम्बन्ध होने पर उनमें से किसी को भी वैसे ही सुख, दुःख आदि का

अज्ञस्याऽयं यथा दृष्टः संसारः सत्यतां गतः ।
न ज्ञस्याऽयं यथाभूतः संसारः सत्यतां गतः ॥ १७ ॥

अन्तःसङ्गविहीनास्तु यथा स्नेहा दृषज्जले ।
तथाऽसक्तमनोवृत्तौ बाह्यभोगानुभूतयः ॥ १८ ॥

अन्तःसङ्गेन रहितो यद्वत् सलिलकाष्ठयोः ।
सम्बन्धस्तद्वद्देवाऽन्तरसङ्गो देहदेहिनोः ॥ १९ ॥

अन्तःसङ्गेन रहितः सम्बन्धो जलकाष्ठयोः ।
स देहदेहिनोश्चैवं प्रतिबिम्बाम्भसोस्तथा ॥ २० ॥

स्थिता सर्वत्र संवित्तिः शुद्धा संवेद्यवर्जिता ।
द्वित्वोपलाञ्छिता त्वन्या दुःसंवित्तिर्न विद्यते ॥ २१ ॥

अदुःखमेति दुःखित्वमन्तःसंवेदनात् स्फुटम् ।
स्फारो भवति वेतालो वेतालत्वेन भावितः ॥ २२ ॥

असम्बन्धोऽपि सम्बन्धो भवत्यन्तर्विनिश्चयात् ।
स्वप्नाङ्गनासुरतवत् स्थाणुवेतालसङ्गवत् ॥ २३ ॥

असत्प्रायो हि सम्बन्धो यथा सलिलकाष्ठयोः ।
तथैव मिथ्यासम्बन्धः शरीरपरमात्मनोः ॥ २४ ॥

अन्तःसङ्गं विना नाऽम्बु काष्ठपातैः प्रगृह्यते ।
आत्माऽङ्गसङ्गरहितो देहदुःखैर्न दह्यते ॥ २५ ॥

देहभावनयैवाऽऽत्मा देहदुःखवशे स्थितः ।
तत्त्यागेन ततो मुक्तो भवतीति विदुर्बुधाः ॥ २६ ॥

अन्तःसङ्गविहीनत्वाद्दुःखवन्त्यङ्ग नो यथा ।
पत्राम्बुमलदारूणि श्लिष्टान्यपि परस्परम् ॥ २७ ॥

अनुभव नहीं होता है जैसे काठ और जल का सम्पर्क होने पर उनमें से किसी को सुख और दुःख का अनुभव नहीं होता ॥ १६ ॥

जिस रूप से अज्ञानी पुरुष इस संसार को देखता है, उनको उस रूप से ही सत्य ही मान लेता है और जिस रूप से ज्ञानी पुरुष इस संसार को देखता है उसको उस रूप से सत्य नहीं मानता ॥ १७ ॥

ज्ञानी पुरुष को आसक्ति रहित मानसिक वृत्तियाँ के होने पर उत्पन्न बाह्य विषयों के अनुभव वैसे ही भीतरी अभिमान से रहित होते हैं जैसे पत्थर और जल के सम्बन्ध भीतर के अनुप्रवेश से रहित होते हैं, जल के भीतर न पत्थर का प्रवेश होता है और न पत्थर के भीतर जल का प्रवेश होता है ॥ १८ ॥

देह और देही आत्मा का सम्बन्ध भी वैसे ही परमार्थ सम्बन्ध से रहित होता हैं जैसे जल और काठ का सम्बन्ध भीतर के सम्बन्ध से रहित होता है ॥ १९ ॥

देह और देही का भी सम्बन्ध वैसे ही अन्तःसङ्ग से रहित अर्थात् तादात्म्यसम्बन्ध से शून्य ही होता है जैसे जल और काठ का तथा प्रतिबिम्ब और जल का सम्बन्ध अन्तःसङ्ग से रहित अर्थात् तादात्म्यसम्बन्ध से शून्य होता है। पूर्व श्लोक में जल और काठ का दृष्टान्त संसार्गाभाव के बोधन के लिए और यहाँ तादात्म्याभाव के बोधन के लिए दिया गया है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥ २० ॥

ज्ञेय विषयों से शून्य शुद्ध संवेद ही सर्वत्र स्थित है, द्वैत से कलङ्कित दूसरी संवित्ति ही नहीं है क्योंकि द्वैत के विषय का निरूपण ही नहीं हो सकता है ॥ २१ ॥

दुःखशून्य चैतन्यरूप आत्मा भी अन्तःकरण में दुःख-भावना करने से वैसे ही स्पष्ट दुःखित्वरूप से प्रतीत होने लगती है जैसे वेतालरूप से भावना करने पर अवेताल वस्तु भी विशाल वेताल स्वरूप हो जाती है ॥ २२ ॥

आत्मा के साथ वास्तव देह आदि का सम्बन्ध न होने पर भी वैसे ही मन की भावना से उसके साथ देहादि का आध्यासिक सम्बन्ध हो जाता है जैसे वास्तव सम्बन्ध न होने पर भी स्वाप्निक अङ्गना के साथ क्रीडा आदि व्यापार में आध्यासिक सम्बन्ध हो जाता है जैसे वेताल रूप न होने पर भी ठूँठ अँधेरे में आध्यासिक सम्बन्ध से वेतालरूप हो जाता है ॥ २३ ॥

वैसे ही शरीर और परमात्मा का सम्बन्ध भी वैसे ही मिथ्या है जैसे जल और काठ का परस्पर सम्बन्ध मिथ्या रूप है ॥ २४ ॥

देह जादि के अध्यासों से शून्य आत्मा वैसे ही शारीरिक दुःखों से पीडित नहीं होता जैसे अहन्ता के अध्यास का अभाव होने के कारण काष्ठों के पतनों से जल पीडित नहीं होता है ॥ २५ ॥

देह में अहंभावना करने से ही आत्मा देह के दुःखों से दुःखित है, इसलिए देहभावना का परित्याग करने से ही पुरुष मुक्त हो जाता है ऐसा विद्वानों का स्थिर सिद्धान्त है ॥ २६ ॥

आत्मा, देह, इन्द्रिय और मन एक दूसरे से पर्याप्त रूप से सम्बद्ध होने पर भी अहन्ताध्यास का वास्तव में अभाव होने के कारण वे वैसे ही परमार्थतः दुःख से रहित ही सदा सर्वदा रहते हैं जैसे छोटे तालाब में गिरे हुए पत्ते, जल, मल और काष्ठ एक दूसरे से सम्बद्ध होने

अन्तःसङ्गेन रहिता यान्ति निर्दुःखतां पराम् ।
श्लिष्टान्यपि तथैवाऽऽत्मदेहेन्द्रियमनांस्यलम् ॥ २८ ॥
अन्तःसङ्गो हि संसारे सर्वेषां राम ! देहिनाम् ।
जरामरणमोहानां तरूणां बीजकारणम् ॥ २९ ॥
अन्तःसंसङ्गवान् जन्तुर्मग्नः संसारसागरे ।
अन्तःसंसक्तिमुक्तस्तु तीर्णः संसारसागरात् ॥ ३० ॥
अन्तःसंसङ्गवच्चित्तं शतशाखमिवोच्यते ।
अन्तःसंसङ्गरहितं विलीनं चित्तमुच्यते ॥ ३१ ॥
अभग्नस्फटिकवद्विद्धि मनः सक्तमपावनम् ।
अभग्नस्फटिकाभासमसक्तं विद्धि मे मनः ॥ ३२ ॥
असक्तं निर्मलं चित्तं मुक्तं संसार्यपि स्फुटम् ।
सक्तं तु दीर्घतपसा युक्तमप्यतिबन्धवत् ॥ ३३ ॥

पर भी अहन्ताध्यास से रहित होने के कारण दुःखी नहीं होते ॥ २७-२८ ॥

हे श्रीरामजी ! संसार में समस्त प्राणियों के जरा, मरण और मोह रूपी वृक्षों का उपादान कारण अहन्ताध्यास ही है अर्थात् यही संसार का मूल कारण है ॥२९॥

अहन्ताध्यास से युक्त जीव इस संसाररूपी सागर में डूबा हुआ है और अहन्ताध्यास से निर्मुक्त जीव संसाररूपी सागर से पार हो चुका है ॥ ३० ॥

अहन्ताध्यास से युक्त मन, काम आदि वृत्तियों के असंख्य स्वरूप होने से अनन्त शाखा-प्रशाखाओं से युक्त वृक्ष के सदृश और अहन्ताध्यास से वर्जित मन विलीन चित्त कहा जाता है ॥ ३१ ॥

विषयासक्त हुआ यह मन वैसे ही अपवित्र हो जाता है जैसे भीतर से खण्डित हुए स्फटिक-निर्मित लिङ्ग आदि पूजा के अयोग्य हो जाते हैं और विषयों में आसक्ति से वर्जित यह मन वैसे ही सदा सर्वदा पवित्र ही रहता है जैसे खण्डित न हुए स्फटिक आदि से निर्मित लिङ्ग आदि पवित्र रहते हैं ॥ ३२ ॥

विषयों की आसक्ति और विक्षेप आदि मलों से रहित चित्त संसारी होते हुए भी निःसंशय मुक्त है और विषयों में आसक्त चित्त चिरकालिक तपश्चर्या से युक्त होते हुए भी बन्धन से अत्यन्त ग्रस्त ही है ॥ ३३ ॥

अहन्ता आदि अध्यास से युक्त मन संसाररूपी बन्धन से आबद्ध है और अहन्ता आदि अध्यास से रहित मन संसाररूपी बन्धन से मुक्त है, अहन्ता अध्यास ही बन्ध और मोक्ष में कारण है ॥ ३४ ॥

अहन्ता आदि अध्यास से निर्मुक्त पुरुष, शरीरयात्रार्थ

अन्तःसक्तं मनो बद्धं मुक्तं सक्तिविवर्जितम् ।
अन्तःसंसक्तिरेवैकं कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ ३४ ॥
अन्तःसंसक्तिमुक्तस्य कुर्वतोऽपि न कर्तृता ।
गुणदोषवती तोये दारुवाहननौर्यथा ॥ ३५ ॥
अन्तःसंसक्तितो जन्तोरकर्तुरपि कर्तृता ।
सुखदुःखवति स्वप्ने संभ्रमोन्मुखता यथा ॥ ३६ ॥
चित्ते कर्तरि कर्तृत्वमदेहस्याऽपि विद्यते ।
स्वप्नादाविव विक्षुब्धसुखदुःखदृशोपमम् ॥ ३७ ॥
अकर्तरि मनस्यन्तरकर्तृत्वं स्फुटं भवेत् ।
शून्यचित्तो हि पुरुषः कुर्वन्नपि न चेतति ॥ ३८ ॥
चेतसा कृतमाप्नोषि चेतसा न कृतं तु न ।
न क्वचित्कारणं देहो न च चित्ते न कर्तृता ॥ ३९ ॥

सब कुछ करता हुआ भी वैसे ही कर्ता नहीं होता है जैसे बड़े-बड़े काष्ठभारों को पार उतारने वाली जलस्थित नौका स्वयं लकड़ी की होती हुई भी लकड़ी के छेदन, भेदन, दहन आदि गुण-दोषों से तथा जल के चलन, परिवर्तन, निर्मलपन, गन्देपन आदि गुण-दोषों से गुण-दोषवती नहीं होती ॥ ३५ ॥

वास्तव में कर्ता न होनेपर भी जीव अहन्ता आदि के अध्यासवश वैसे ही कर्ता हो जाता है जैसे स्वप्न में, जो सुख और दुःख दोनों से भरा है, वास्तव में कुछ न रहने पर भी स्वप्नावस्थायुक्त जीव को बाघ आदि से जनित भय, पलायन आदि में व्याकुलता हो जाती है ॥ ३६ ॥

पुत्र, भृत्य आदि को देख रहे जाग्रदवस्थायुक्त आत्मा में देह की चेष्टा न होनेपर भी स्पष्टरूप से चित्त की कर्तृता से वैसे ही कर्तृत्व विद्यमान है जैसे स्वप्नावस्था में देह की चेष्टा न होने पर भी चित्त की कर्तृता से आत्मा में कर्तृत्व विद्यमान है यह कर्तृत्व भी मुख्य कर्तृत्व के सदृश ही है इसीलिए चञ्चल चित्त को सुख-दुःख जाते हैं ॥ ३७ ॥

मन के अकर्तृत्व होनेपर आत्मा का अकर्तृत्व स्पष्टरूप से सिद्ध हो जाता है, शून्यचित्त पुरुष कर्ता होते हुए भी अभिमान रहित होता है ॥ ३८ ॥

जो चित्त से किया गया है, आप उसीका फल पाते हैं और जो चित्त से नहीं किया गया है, उसका फल नहीं पाते हैं। देह कर्म के प्रति कहीं कारण नहीं है, क्योंकि चित्त में कर्तृत्वशक्ति नहीं है, यह बात नहीं है, चित्त की कर्तृत्वशक्ति से ही सब कर्मों की स्थिति होती है अतः देह में कर्तृत्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ३९ ॥

असंसक्तमकर्त्रैव कुर्वदेव मनो विदुः ।
न कर्मफलभोक्तृत्वमसक्तं प्रतिपद्यते ॥ ४० ॥
ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यामसंसक्तो न लिप्यते ।
दूरस्थकान्तासंलीनमनाः कार्यैरिवाऽग्रगैः ॥ ४१ ॥
अन्तःसंसक्तिनिर्मुक्तो जीवो मधुरवृत्तिमान् ।
बहिः कुर्वन्नकुर्वन्वा कर्ता भोक्ता नहि क्वचित् ॥ ४२ ॥
अन्तःसंसक्तिमुक्तं यन्मनः स्यात्तदकर्तृकम् ।
तद्विमुक्तं प्रशान्तं तत्तपुक्तं तदलेपकम् ॥ ४३ ॥
तस्मात्सर्वपदार्थानां श्लिष्टानां निश्चितं बहिः ।
सर्वदुःखकरीं क्रूरामन्तःसक्तिं विवर्जयेत् ॥ ४४ ॥
विरहितमलमन्तःसङ्गदोषेण चेतः
शममुपगतमाद्यं व्योमवन्निर्मलाभम् ।
सकलमलविमुक्तेनाऽऽत्मनैकत्वमेति
स्थिरमणिनिभमम्भोवारिणीवारिनीले ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
अन्तःसंसङ्गविचारो नाम सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

मन के ही कुछ करने पर भी यदि वह उसमें आसक्त नहीं हो तो वह अकर्ता के समान ही है। आसक्ति रहित मन कर्मों के फलों का भोक्ता नहीं होता है तत्वज्ञ महानुभाव यही कहते हैं ॥ ४० ॥

दूर देश में अवस्थित कान्ता में आसक्त मनवाले पुरुष जैसे सामने के कार्यों से अर्थात् शीत, उष्ण आदि के अनुभवरूप कार्यों से लिप्त नहीं होता है वैसे ही आसक्ति रहित पुरुष ब्रह्महत्या, अश्वमेध आदि के पुण्य-पापों से लिप्त नहीं होता है ॥ ४१ ॥

अहन्ता आदि अनात्म अध्यासों से विनिर्मुक्त जीव विक्षेपों से शून्य सुखों का पूर्ण अनुभव करता है। वह बाहर से कुछ करे या न करे, पर वह सर्वथा कर्तृता और भोक्तृता से रहित ही है ॥ ४२ ॥

अन्तः आसक्ति से रहित अन्तःकरण वाला पुरुष अकर्ता, विमुक्त, प्रशान्त, युक्त और अलिप्त ही होगा ॥ ४३ ॥

इस प्रकार सबके भीतर में रहने वाली आत्मा से भिन्न बाहर से लगे हुए पाँच कोशों तथा भोग्यवर्गरूप बन्धन में डालने वाले समस्त पदार्थों का निरास करने का यही एक मुख्य उपाय निश्चित है कि अखिल दुःखों को देनेवाली क्रूर आसक्ति का परित्याग करना चाहिए आसक्ति परित्याग ही बन्धन के निरास में साधन है ॥ ४४ ॥

आसक्ति दोष से रहित संसारदशा से प्राक्तन आकाश के समान निर्मलकान्ति वाले प्राप्त मन वैसे ही समस्त प्रपञ्चोपशमरूप मलों से शून्य परमात्मा के साथ एकरूप हो जाता है जैसे तीक्ष्ण धारवाले तलवार आदि शस्त्र के समान नीलाभ यमुनाजल में मिलित स्फटिक मणि की तरह अतिस्वच्छ गङ्गाजल उसके साथ एकरूप हो जाता है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में अन्तःसंसङ्गविचार नामक कुसुमलता का सड़सठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६७ ॥

६८

श्रीराम उवाच

कीदृशो भगवन् ! सङ्गः कथं बन्धाय वा नृणाम् ।
कश्च मोक्षाय कथितः कथं वैष चिकित्स्यते ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

देहदेहिविभागैकपरित्यागेन भावनात् ।
देहमात्रे तु विश्वासः सङ्गो बन्धार्ह उच्यते ॥ २ ॥

६८

श्रीरामजी ने कहा—

हे भगवन् ! किस प्रकार सङ्ग होता है ? मनुष्यों को किस तरह का सङ्ग बन्धन में डालता है ? मोक्ष का कैसा सङ्ग कारण है ? और कैसे सङ्ग की निवृत्ति की जा सकती है ? ॥ १ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—

शरीर और क्षेत्रज्ञ आत्मा का विभाग अर्थात् शरीर जड़ और आत्मा चेतन है, यह जो उनकी विरुद्ध स्वभावता है, उसका सम्यक् पर्य्यालोचन न करने से ही एक दूसरे में एक दूसरे का तादात्म्य और एक दूसरे में एक दूसरे के धर्मों का अध्यास होता है। इस विनिमयभावना से शरीर में उत्पन्न आत्माभिमान ही सङ्ग कहलाता है और इसी सङ्ग से संसाररूपी बन्धन उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य सपर्यन्तत्वनिश्चये ।
यत्सुखार्थित्वमन्तः स सङ्गो बन्धार्ह उच्यते ॥ ३ ॥
सर्वमात्मेदमखिलं किं वाञ्छामि त्यजामि किम् ।
इत्यसङ्गस्थितिं विद्धि जीवन्मुक्ततनुस्थितिम् ॥ ४ ॥
नाऽहमस्मि न चाऽन्योऽस्ति मा भवन्तु भवन्तु वा ।
सुखान्यसक्त इत्यन्तः कथ्यते मुक्तिभाङ् नरः ॥ ५ ॥
नाऽभिनन्दति नैष्कर्म्यं न कर्मस्वनुषज्जते ।
सुसमो यः फलत्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ ६ ॥
आत्मतत्त्वैकनिष्ठस्य हर्षामर्षवशं मनः ।
यस्य नाऽऽयात्यसक्तोऽसौ जीवन्मुक्तः स कथ्यते ॥ ७ ॥
सर्वकर्मफलादीनां मनसैव न कर्मणा ।
निपुणं यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ ८ ॥
असंसङ्गेन सकलाश्चेष्टा नानाविजृम्भिताः ।
चिकित्सिता भवन्तीह श्रेयः संपादयन्ति च ॥ ९ ॥
संसक्तिवशतः सर्वे वितता दुःखराशयः ।
प्रयान्ति शतशाखत्वं श्वभ्रकण्टकवृक्षवत् ॥ १० ॥
रज्जुकष्टघनघ्राणो यद्गत्या पथि गर्दभः ।
भारं वहति भीतात्मा तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ ११ ॥
शीतवातातपक्लेशमेकदेशनिषण्णया ।
तरुर्वहति यत्तन्वा तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १२ ॥
धराविवरनिर्मग्नो यत्कीटः पीडिताङ्गकः ।
क्षिणोति विकलः कालं तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १३ ॥

असीम स्वरूप आत्मा का काल से, देश से और वस्तु से किसी तरह परिच्छेद नहीं हो सकता है। अज्ञानवश उसमें इन त्रिविध परिच्छन्नता का निश्चय होने पर जीव को अपनी आत्मा की अपरिच्छिन्नसुखस्वभावता का विस्मरण हो जाता है, इस विस्मरण से तुच्छ विषयों से वह आभ्यन्तर सुख चाहने लगता है यह जो वैषयिक सुखाभिलाषा है वही बन्धनसाधना सङ्ग कहलाती है ॥३॥

समस्त दृश्यप्रपञ्च आत्म स्वरूप है, इसलिए मैं उसमें किसको चाहूँ और किसको छोड़ दूँ, इस प्रकार के परिपक्व विचार से उत्पन्न जीवन्मुक्त के शरीर की अवस्था को आप असङ्ग-स्थिति जानें ॥ ४ ॥

मैं अहङ्कार से परिच्छिन्न स्वल्प नहीं हूँ, मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं है, इसलिए मिथ्याभूत शरीर में विषयों से जनित सुख हों या न हों, मैं तो देहादिक के साथ कभी सङ्गता को न प्राप्त होने वाले स्वभाव से युक्त है, इस प्रकार का भीतर से दृढ निश्चय वाला मनुष्य मुक्ति का अधिकारी कहलाता है ॥ ५ ॥

अपनी निष्कर्म भाव की बड़ाई नहीं करने वाला फल के उद्देश्य से कर्मों में अभिनिवेश नहीं करने वाला फल की सिद्धि और असिद्धि में सदा एक समान रहने वाला और ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म फलों का परित्याग करने वाला ही पुरुष असंसक्त कहलाता है ॥ ६ ॥

सदा सर्वदा आत्मस्वरूप में ही निष्ठा रखने वाले जिस महात्मा का अन्तःकरण हर्ष और क्रोध के वश में नहीं होता है वही लोक में असक्त और जीन्वमुक्त कहे जाते हैं ॥ ७ ॥

जो पुरुष अत्यन्त कुशलतापूर्वक सम्पूर्ण कर्म और उससे उत्पन्न फल आदि का केवल मन से ही त्याग करता है न कर्म से परित्याग नहीं करता है, वह असंसक्त कहा जाता है। अच्छे कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिए बाहर से तो वह कर्म आदि का अनुष्ठान करता रहता है, पर भीतर से उनमें आसक्ति नहीं रहता है यह आशय है ॥ ८ ॥

आसक्ति के अभाव से अनेक तरह फलानुरागों द्वारा उत्पन्न निखिल दुष्ट चेष्टाएँ विनष्ट हो जाती हैं और श्रवण आदि शुभ चेष्टाएँ निर्विघ्नतापूर्वक कल्याण का सम्पादन करती रहती हैं ॥ ९ ॥

आसक्ति से विस्तार को प्राप्त समस्त दुःख राशियाँ गड्ढे में उत्पन्न काँटे वाले वृक्षों की तरह हजारों शाखा-प्रशाखाओं में फैल जाती हैं ॥ १० ॥

नाथ रूपी रस्सी से खींचा गया नाथी हुई नाक वाला गदहा भीत होकर अपनी गति से मार्ग में भार ढोता है, यह आसक्ति के फल का ही एक विस्तार है। 'गर्दभ' शब्द को बैल आदि भारवाहक सभी ग्राम्य पशुओं का उपलक्षण मानना चाहिए ॥ ११ ॥

एक स्थान में चुपचाप खड़ा होकर अपने स्थावर शरीर से वृक्ष ठंड, वायु और आतप के क्लेश को जो सहता रहता है, वह भी आसक्ति के फल का ही विस्तार है ॥ १२ ॥

अपने अङ्गों में पीडा का अनुभव कर रहा बेचैन कीट भूमि के बिल में पड़ा हुआ जो काल काट रहा है, वह भी आसक्ति फल का विस्तार है ॥ १३ ॥

क्षुत्क्षामकुक्षिः क्षपयत्यायुर्व्याघातभीरुधीः ।
पक्षी वृक्षशिखाशायी तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १४ ॥
दूर्वाङ्कुरतृणाहारः किरातशरपीडया ।
जहाति यन्मृगो देहं तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १५ ॥
कृमिकीटत्वमायान्ति जायमानाः पुनः पुनः ।
यदिमा जनता जीर्णास्तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १६ ॥
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते तरङ्गिणि तरङ्गवत् ।
भूतानि यदनन्तानि यत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १७ ॥
वीरुत्तृणदशां याता म्रियन्ते यत्पुनः पुनः ।
नरा विगतसंचारास्तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १८ ॥
रसातलरसायोगात् तृणगुल्मलतादयः ।
जनयन्ति यदाकारं तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १९ ॥
स्वानर्थान्तरसंकाशपदार्थशतसंकुला ।
यत्संसारनदी मत्ता तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ २० ॥

वृक्ष की शाखाओं पर क्षुधा से कृश कांख तथा बाण पत्थर, मिट्टी के ढेले आदि के अभिघात से भयग्रस्तबुद्धि शयन कर रहा पक्षी जो अपनी आयु का यापन कर रहा है वह आसक्ति के फल का विस्तार है ॥ १४ ॥

भिल्लों के बाणों की पीड़ा से दूब, कोंपोलों और तिनकों का आहार करने वाले मृगों के द्वारा अपनी देह का भी आसक्ति के फल का विस्तार है ॥ १५ ॥

पुण्य और पाप के अधिकारी जनगण का ध्वस्त-विध्वस्त होकर पुनः पुनः जन्म धारण कर कृमि और कीट भाव की प्राप्ति भी संसृति के फल का विस्तार है ॥ १६ ॥

ये असङ्ख्यभूत (प्राणी) उत्पन्न हो होकर जलाशय में तरङ्गों की तरह जो विलीन हो जाते हैं, वह भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥ १७ ॥

चलने-फिरने की शक्ति से शून्य मनुष्य लता और तिनकों के समान शक्तिहीन दशा को प्राप्त कर पुनः पुनः जो मर जाते हैं, वह संसक्ति के फल का विस्तार है ॥ १८ ॥

भूमि के अन्दर स्थित जल को अपनी-अपनी जड़ों से पीकर तृण, गुल्म, लता आदि के द्वारा अपने-अपने विजातीय स्वरूप को उत्पन्न करता भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥ १९ ॥

वियोग, भ्रान्ति, पतन आदि हजारों विक्षेपों के हेतु असंख्य बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों से परिपूर्ण अपनी अनर्थ परम्पराओं के अनुरूप यह संसाररूपी नदी की वृद्धि भी संसक्ति के फल का विस्तार है ॥ २० ॥

संसक्तिर्द्विविधा प्रोक्ता वन्द्या वन्ध्या च राघव ! ।
वन्ध्या सर्वत्र मूढानां वन्द्या तत्त्वविदां निजा ॥ २१ ॥
आत्मतत्त्वावबोधेन हीना देहादिवस्तुजा ।
भूयः संसारसक्तिर्या दृढा वन्ध्येति कथ्यते ॥ २२ ॥
आत्मतत्त्वावबोधेन सत्यभूतविवेकजा ।
वन्द्या हि कथ्यते सक्तिर्भूयःसंसारवर्जिता ॥ २३ ॥
शङ्खचक्रगदाहस्तो देवो विविधयेहया ।
वन्द्यसंसक्तिवशतः परिपाति जगत्त्रयम् ॥ २४ ॥
अनारतं निरालम्बं व्योमवर्त्मनि पान्थताम् ।
वन्द्यसंसक्तिवशतः करोति रविरन्वहम् ॥ २५ ॥
महाकल्पसमाधानचिरकल्पितकल्पनम् ।
वन्द्यसंसक्तिवशतो ब्राह्मं स्फुरति वै वपुः ॥ २६ ॥
लीलया ललनालानलीनं भूतिविभूषितम् ।
वन्द्यसंसक्तिवशतः शरीरं शाङ्करं स्थितम् ॥ २७ ॥

हे श्रीराघव ! आसक्ति दो प्रकार की कही गई है— एक वन्द्या प्रशस्त और दूसरी वन्ध्या यानी पुरुषार्थ फल से रहित । इनमें पहली वन्द्या आसक्ति तत्त्वज्ञ महात्माओं की और दूसरी वन्ध्या सर्वत्र प्रसिद्ध समस्त अज्ञानियों की है ॥ २१ ॥

देह आदि असत्य वस्तुओं से जनित अत्यन्त दृढ़ चिर-काल से भावित आत्मतत्त्वज्ञान से शून्य पुनः पुनः संसार में आसक्ति वन्ध्या आसक्ति कही जाती है ॥ २२ ॥

अबाध्य आत्मतत्त्व का अवलम्बन करने वाली आत्मा के स्वरूपज्ञानरूप हेतु के द्वारा यथार्थ और अयथार्थ वस्तु के विवेक से उत्पन्न पुनः संसार से शून्य आसक्ति वन्द्या आसक्ति कही जाती है ॥ २३ ॥

शङ्ख, चक्र और गदा को हाथों में धारण किये हुए भगवान् विष्णु इसी वन्द्य संसक्ति के प्रभाव से विविध मत्स्य आदि अवतारों से की गई लीलाओं से तीनों लोकों का पालन करते हैं ॥ २४ ॥

भगवान् सूर्यनारायण आकाशमार्ग में वन्द्य संसक्ति की सामर्थ्य से किसी प्रकार का अवलम्ब के बिना ही प्रतिदिन निरन्तर संचरण किया करते हैं ॥ २५ ॥

प्राकृत प्रलय में विदेह-कैवल्यरूप परम शान्ति के लिए दो परार्ध वर्ष पर्यन्त सर्ग आदि की कल्पना करने वाला हिरण्यगर्भ को शरीर वन्द्य संसक्ति की ही सामर्थ्य से व्यवहार करता है ॥ २६ ॥

केवल लीला से गौरीरूपी बन्धन स्तम्भ में आसक्त तथा भस्म से अत्यन्त सुशोभित महादेवजी का शरीर इसी बन्द्या संसक्ति की सामर्थ्य से स्थित है ॥ २७ ॥

विज्ञानगतयः सिद्धा लोकपालास्तथेतरे ।
वन्ध्यसंसक्तिवशतस्तिष्ठन्ति जगतोऽङ्गणे ॥ २८ ॥
धत्ते शारीरयन्त्रौघमन्या भुवनसन्ततिः ।
वन्ध्यसंसक्तिवशतो जरामृतिविवर्जितम् ॥ २९ ॥
मनः पतति भोगेषु गृध्रो मांसलवेष्विव ।
वन्ध्यसंसक्तिवशतो व्यर्थया रम्यशङ्कया ॥ ३० ॥
संसक्तिवशतो वाति वायुर्भुवनकोटरे ।
पञ्चभूतानि तिष्ठन्ति वहतीयं जगत्स्थितिः ॥ ३१ ॥
दिवि देवा भुवि नराः पाताले भोगिनोऽसुराः ।
ब्रह्माण्डोदुम्बरफले स्फुरन्मशकवत्स्थिताः ॥ ३२ ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च निपतन्त्युत्पतन्ति च ।
भूतानि यदनन्तानि तरङ्गिणि तरङ्गवत् ॥ ३३ ॥
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते तत्संसक्तिविजृम्भितम् ।
भूतानि विरसं भूयो निर्झराम्बुकणा इव ॥ ३४ ॥

आत्मतत्त्व के विज्ञान में दृढ़ प्रतिष्ठित सिद्ध, लोकपाल तथा अन्यान्य देवताओं की इस जगत् के प्राङ्गण में स्थिति भी वन्ध्या संसक्ति की सामर्थ्य है ॥ २८ ॥

तीन लोकों से भिन्न अन्या भुवन महः, जनः, तपः आदि लोकों में रहने वाले तत्त्वज्ञ महात्माओं का मरण से रहित शरीर के यन्त्रों के समूहों का धारण भी वन्ध्या संसक्ति की सामर्थ्य है ॥ २९ ॥

माँस के टुकड़ों में गीध की तरह विषयों में झूठमूठ रम्यत्व की कल्पना कर मन का झपटना वन्ध्या संसक्ति की सामर्थ्य है ॥ ३० ॥

संसक्ति के प्रभाव से वायु समस्त भुवनों के कोटरों में बहता है. पाँच भूत अपने अपने स्वरूप में रहते हैं और यह जगत् की स्थिति चलती है ॥ ३१ ॥

देवता स्वर्ग में, मनुष्य पृथ्वी में, सर्प और असुर पाताल में संसक्ति के प्रभाव ब्रह्माण्ड रूपी गूलर के फल में मच्छरों की तरह अपने-अपने व्यवहार में तत्पर होकर अवस्थित हैं ॥ ३२ ॥

ने असङ्ख्य भूत समुद्र में तरङ्गों की तरह जो उत्पन्न होते हैं, मरते हैं, गिरते हैं, उठते हैं, यह भी संसक्ति का विलास है ॥ ३३ ॥

ये भूत झरनों के जल कणों के समान उड़ उड़ कर विरसतापूर्वक जो विलीन हो जाते हैं यह भी संसक्ति की ही लीला है ॥ ३४ ॥

मछली के सदृश तक दूसरे के अङ्गों को निगलते हुए जड़ता से जर्जर तथा भ्रमग्रस्त इन जन-समूहों का

परस्परनिगीर्णाङ्गा जनता जाड्यजर्जरा ।
संभ्रान्ता प्रभ्रमत्यङ्ग शीर्णपर्णमिवाऽम्बरे ॥ ३५ ॥
नक्षत्रचक्रं गगने द्रुमे मशकसन्ततिः ।
स्फुरत्यावर्तवृत्त्यैव पातालेऽङ्ग जलौघवत् ॥ ३६ ॥
पातोत्पातदशाजीर्णं कालबालककन्दुकम् ।
अद्याऽपि न जहातीन्दुर्जलमामलिनं वपुः ॥ ३७ ॥
नानापारयुगावर्तदुःखालोकनकर्कशम् ।
न लुनाति मनःखण्डं दुःखिगीर्वाणमण्डलम् ॥ ३८ ॥
वासनामात्रवशतः परे व्योमनि केनचित् ।
इदमारचितं चित्रं विचित्रं पश्य राघव ! ॥ ३९ ॥
मनःसङ्गैकरङ्गेण शून्ये व्योम्नि जगन्मयम् ।
यदिदं रचितं चित्रं तत्सत्यं न कदाचन ॥ ४० ॥
संसक्तमनसामस्मिन् संसारे व्यवहारिणाम् ।
अत्ति तृष्णा शरीराणि तृणान्यग्निशिखा यथा ॥ ४१ ॥

आकाश में शीर्ण शुष्क पत्ते के समान भ्रमण करना भी संसक्ति का खेल है ॥ ३५ ॥

वृक्ष के ऊपर मच्छरों की पंक्ति की तरह पाताल में जल-प्रवाह के समान आवर्त वृत्ति धारण कर आकाश में नक्षत्र चक्रों का घूमना भी संसक्ति का खेल है ॥ ३६ ॥

कभी उदय, कभी अस्त, कभी वृद्धि, कभी ह्रास, कभी उत्थान, कभी पतन, इन विविध दशाओं से सदा शिथिल; काल रूपी बालक के गेंद स्वरूप जड़ता युक्त; जलमय तथा अनेक विध कलङ्कों से म्लान चन्द्र का शरीर इन बहुविध दोषों के कारण परित्याग करने योग्य होने पर भी उसका आज तक छोड़ना संसक्ति का ही परिणाम है ॥ ३७ ॥

अनेक तरह के अपार युगावर्तों के दुःखानुभव से कठोर मनोरूपीछेदन योग्य व्रण विशेष के दुःख से दुःखी भी इन्द्र आदि देवगण का उच्छेदन द्वारा उसकी चिकित्स न करना भी संसक्ति का फल है ॥ ३८ ॥

हे राघव ! वासना के अर्थात् सर्वोत्कृष्ट चिदाकाश में किसी ने इस विचित्र जगत् रूपी चित्र की रचना की है, उसे आप देखें ॥ ३९ ॥

शून्य आकाश में केवल मन के आसङ्ग रूपी रंग से बनाया गया जगद्रूपी विचित्र चित्र कभी-भी सत्य नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

तृष्णा इस संसार में आसक्त मन वाले व्यावहारी जीवों के शरीरों को वैसे ही खा जाती है जैसे अग्नि की ज्वाला तिनकों को खा जाती है ॥ ४१ ॥

परिसक्तमतेर्देहान् सिकताः पत्युरम्भसाम् ।
कः शक्तः परिसंख्यातुं त्रसरेणुगणं यथा ॥ ४२ ॥
मुक्तालताया गङ्गाया मेरोरापादमस्तकम् ।
तरङ्गमुक्ता गण्यन्ते न देहाः सक्तचेतसाम् ॥ ४३ ॥
संसक्तमनसामेता रम्यान्तःपुरपङ्क्तयः ।
रचिता रौरवावीचिकालसूत्रादिनामिकाः ॥ ४४ ॥
सक्तचित्तं जनं दुःखशुष्कमिन्धनसंचयम् ।
ज्वलतां नरकाग्नीनां विद्धि तेन ज्वलन्ति ते ॥ ४५ ॥
दुःखजालमिदं नाम यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।
संसक्तमनसामर्थे तत्सर्वं परिकल्पितम् ॥ ४६ ॥
संसक्तचित्तमायान्ति सर्वा दुःखपरम्पराः ।
जलकल्लोलवलिता महानद्य इवाऽम्बुधिम् ॥ ४७ ॥
मनःसंसर्गरूपिण्या भारभूतशरीरया ।
क्षयोदयदशार्थिन्या सर्वं ततमविद्यया ॥ ४८ ॥
असंसङ्गेन भोगानां सर्वा राम ! विभूतयः ।
परं विस्तारमायान्ति प्रावृषीव महापगाः ॥ ४९ ॥
अन्तःसंसङ्गमङ्गानामङ्गानां विद्धि राघव ! ।
अनन्तःसङ्गमङ्गानां विद्धि राम ! रसायनम् ॥५० ॥
संसङ्गेनाऽन्तरस्थेन दह्यते प्रकृतिः स्वयम् ।
स्वकलोत्थैनैरकाङ्क्षी पावकेन यथौषधिः ॥ ५१ ॥
सर्वत्राऽसक्तमाशान्तमनन्तमिव संस्थितम् ।
असत्कल्पं सदाभासं सुखायैव मनो भवेत् ॥ ५२ ॥
विद्यादृशि प्रोदयमागतेन
क्षयं त्वविद्याविषये गतेन ।
सर्वत्र संसक्तिविवर्जितेन
स्वचेतसा तिष्ठति यः स मुक्तः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
सङ्गविचारयोगोपदेशो नामाऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

चारों ओर से विषयों में आसक्त मतिवाले जीव के शरीरों का परिगणन करने के लिए वैसे ही कौन समर्थ हो सकता है ? जैसे समुद्र की बालु और त्रसरेणु की गणना करने में कौन पुरुष समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

चोटी से लेकर मूल तक मेरु पर्वत का अवलम्बन करने वाली मोतियों की लतारूपी गङ्गा के तरङ्ग रूपी मोतियों की गणना कभी की भी जा सकती है, पर आसक्त चित्तवाले जीवों के शरीरों की गणना तो नहीं की जा सकती ॥ ४३ ॥

संसार में आसक्त चित्त जीवों के लिए ही ये रम्य अन्तःपुर की पंक्तियाँ रौरव, अवीचि, कालसूत्र आदि शिल्पी ने बनाई हैं ॥ ४४ ॥

आसक्त चित्त वाला दुःखों से सूखा हुआ पुरुष जल रही नरक रूपी अग्नियों के लिए एक तरह से इन्धन का संग्रह है, यह आप जाने (नरकरूपी अग्नियाँ उसी काष्ठ संचय से जलती हैं) ॥ ४५ ॥

इस जगती-तल में यह दुःखजाल सब आसक्तचित्त पुरुषों के लिए ही कल्पित है ॥ ४६ ॥

सम्पूर्ण दुःखों की परम्पराएँ आसक्त चित्त वाले पुरुष के प्रति वैसे ही जाती हैं जैसे जल से तरङ्गों से संवलित बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्र के प्रति जाती हैं ॥४७॥

चित्त की आसक्ति के स्वरूपवाली भारभूत शरीर को धारण करने वाली है लौर जीव के लिए जन्म और मरण की अवस्था चाहने वाली अविद्या ने ही इस समस्त प्रपञ्च का विस्तार किया है ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामजी ! विषयोपभोगों में आसक्ति न करने से सम्पूर्ण विभूतियाँ वैसे ही प्राप्त करती हैं जैसे वर्षाकाल में बड़ी-बड़ी नदियाँ अतिशय विस्तृत होती हैं ॥ ४९ ॥

हे राघव ! शरीरों के लिए भीतरी आसङ्ग अंगारे हैं और भीतरी आसङ्ग का परित्याग अङ्गों के लिए उत्तम रसायन है आप यह समझो ॥ ५० ॥

अन्दर में अवस्थित संसक्ति रूपी अग्नि से प्रकृतिभूत जीव भी वैसे ही दग्ध हो जाता है जैसे अबलम्बन के लिए तृणविशेषों को चाहने बाछी लता अवलम्बित तृणों से जनित अग्नि से दग्ध हो जाती है। देह आदि प्रकृति के कार्य के साथ सम्बन्ध होने से जीव 'प्रकृति' कहा गया है ॥५१॥

आसक्तिरहित आकाश के समान निर्मल-स्वरूप से अवस्थित, चारों ओर से शान्त, असत् के सदृश, सत् के समान भासमान मन सर्वत्र सुख का ही साधन है ॥५२॥

विद्या के विषय में उत्तम उदय की प्राप्ति अर्थात् प्रबुद्ध अविद्या-विषय में अर्थात् प्रपञ्च में क्षय सम्पन्न अनुसन्धान से शून्य तथा सर्बत्र दृश्य वस्तुओं में आसक्ति से रहित अवने अन्तःकरण से पुरुष व सदा-सर्वदा अवस्थित रहने वाले पुरुष को जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
सङ्गविचारयोगोपदेश नामक कुसुमलता का अड़सठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६८ ॥

६८

वसिष्ठ उवाच

सर्वदा सर्वसंस्थेन सर्वेण सह तिष्ठता ।
सर्वकर्मरतेनाऽपि मनः कार्यं विजानता ॥ १ ॥
न सक्तमिह चेष्टासु न चिन्तासु न वस्तुषु ।
नाऽऽकाशेनाऽप्यधो नाऽग्रे न दिक्षु न लतासु च ॥ २ ॥
न बहिर्विपुलाभोगे न चैवेन्द्रियवृत्तिषु ।
नाऽभ्यन्तरे न च प्राणे न मूर्धनि न तालुनि ॥ ३ ॥
न भ्रूमध्ये न नासान्ते न मुखे न च तारके ।
नाऽन्धकारे न चाऽऽभासे न चाऽस्मिन्हृदयाम्बरे ॥ ४॥
न जाग्रति न च स्वप्ने न सुषुप्ते न निर्मले ।
नाऽसिते न च वा पीतरक्तादौ शबले न च ॥ ५ ॥
न चले न स्थिरे नाऽऽदौ न मध्ये नेतरत्र च ।
न दूरे नान्तिके नाऽग्रे न पदार्थे न चाऽऽत्मनि ॥ ६ ॥
न शब्दस्पर्शरूपेषु न मोहानन्दवृत्तिषु ।
न गमागमचेष्टासु न कालकलनासु च ॥ ७ ॥
केवलं चिति विश्रम्य किञ्चिच्चेत्यावलम्बिनि ।
सर्वत्र नीरसमिव तिष्ठत्वात्मरसं मनः ॥ ८ ॥
तत्रस्थो विगतासङ्गो जीवोऽजीवत्वमागतः ।
व्यवहारमिमं सर्वं मा करोतु करोतु वा ॥ ९ ॥
अकुर्वन्नपि कुर्वाणो जीवः स्वात्मरतिः क्रियाः ।
क्रियाफलैर्न सम्बन्धमायाति खमिवाऽम्बुदैः ॥ १० ॥

६९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—

विवेकी ज्ञानी पुरुष सदा समय के योग्य समस्त व्यवहारों में निरत, सभी प्रिय मित्र, पुत्र आदि के साथ अनिषिद्ध लौकिक एवं शास्त्रीय समस्त कार्यों में व्यापृत रहकर भी अपने मन को वैसा बनाते हैं कि एक काल, एक देश और एक सेवक आदि के सहभाव से कतिपय कर्मों में तत्परता-संपादक परिच्छिन्न संसक्ति का परित्याग करने के लिए पहले सम्पूर्ण देश, काल आदि समस्त उपकरण सामग्री से निखिल जगत् के व्यवहार रूप कर्मों में स्वयं निरत हो कर भी अपने मन को वैसा बनाते हैं जिनका वर्णन किया जा रहा है ॥ १ ॥

साध्य पदार्थों की चेष्टाओं में, अतीत काल की वस्तुओं की चिन्ताओं में, वर्तमानकालीन वस्तुओं में, व आकाश में, नीचे, मध्य में, दिशाओं में और लताओं में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ २ ॥

आधिभौतिक भार्या, भृत्य आदि विषयों में उनके उपभोग की इन्द्रियवृत्तियों में, आध्यात्मिक वस्तुओं में और योगशास्त्र में वर्णित काम्यसिद्धि के अनुकूल धारणा के स्थान-स्वरूप प्राण, मूर्धा तथा तालु में—मन को कभी भी आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ ३ ॥

भौंके बीच में, नासिका के मध्य में, मुख में, दक्षिण नेत्र की कनीनिका में, अन्धकार में, प्रकाश में और इस हृदयरूपी आकाश में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

जाग्रत् में, स्वप्न में, सुषुप्त में, शुद्ध सत्त्वगुण में, तमोगुण में, पीत, रक्त आदि रजोगुण में और गुणों के समाहार में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ ५ ॥

कार्यवर्ग में, स्थिर कारण अव्यक्त में, सृष्टि के आदिकाल में, मध्यकाल में, अन्तकाल में, दूर में, न समीप में, सामने में, नामरूपात्मक पदार्थ में और जीव में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ ६ ॥

न रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द में; न विषयाभिलाष की परवशता रूपी मोह में, न विषयोपभोगफल रूपी आनन्दवृत्तियों में; न खेचरी आदि सिद्धियों में और अतीत-अनागत वस्तुओं के परिज्ञान दीर्घजीवी होने आदि सिद्धियों में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए ॥ ७ ॥

निश्चल बुद्धि की साक्षि-भूत चिति में केवल विश्रान्ति प्राप्त कर परिपूर्ण भूमानन्द से समन्वित युक्त अतएव सर्वत्र दृश्य पदार्थों में नीरस के समान होकर अवस्थित रहें। 'इव' शब्द से कि मन की इस प्रकार की स्थिति को भी मिथ्या कहा है ॥ ८ ॥

चिति में विश्रान्ति प्राप्त कर अवस्थित जीव समस्त सङ्गों से रहित होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। ब्रह्मभाव को प्राप्त यह जीव इन सभी व्यवहारों को करे या न करे, उससे उसका कुछ भी बिगड़ नहीं पाता है ॥ ९ ॥

अपने स्वरूप में निरत जीव, क्रियाओं का (विहित या निषिद्ध कर्मों का) अनुष्ठान करे या न करे, पर क्रियाजनित फलों के स्वर्ग, नरक आदि के साथ वैसे ही सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता है जैसे आकाश मेघों के साथ तनिक भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता ॥ १० ॥

अथवा तमपि त्यक्त्वा चेत्यांशं शान्तचिद्घनः ।
जीवस्तिष्ठतु संशान्तो ज्वलन्मणिरिवाऽऽत्मनि ॥ ११ ॥
निर्वाणमात्मनि गतः सततोदितात्मा
जीवोऽरुचिर्व्यवहरन्नपि रामभद्र ! ।
नो सङ्गमेति गतसङ्गतया फलेन
कर्मोद्भवेन सहतीव च देहभारम् ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
शान्तिसमायातयोगोपदेशो नामैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

अथवा पूर्वोक्त बुद्धिसाक्षित्व का भी परित्याग कर निर्विकार चित्-स्वरूप जीव अपने ही स्वरूप में वैसे ही शान्त होकर अवस्थित रहे, जैसे प्रदीप्त हो रहा मणि अपने स्वरूप में शान्त होकर अवस्थित रहता है ॥ ११ ॥

जिसने अपने स्वरूप में परम विश्रान्ति प्राप्त कर ली है, जिसका अन्तःकरण आत्म–साक्षात्काररूप महान् उदय को प्राप्त कर लिया है एवं जिसकी व्यवहार और तन्निबन्धन फलों में कुछ भी इच्छा नहीं रह गई है, ऐसे जीव के द्वारा लोक-दृष्टि से व्यवहार करने पर वह कर्म-जनित फलों का स्वल्प भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह सम्बन्ध की हेतु अविद्या, काम और कर्म की वासनाओं से शून्य है । हाँ, उस समय वह तबतक देह-भार को सहता रहता है, जतबक कि प्रारब्ध का क्षय नहीं होता । श्रुति भी कहती है—'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' ॥ १२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
शान्तिसमायातयोगोपदेश नामक कुसुमलता का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६९ ॥

७०

वसिष्ठ उवाच

असंसङ्गसुखाभ्याससंस्थितैर्विततात्मभिः ।
व्यवहारिभिरप्यन्तर्वीतशोकभयैः स्थितम् ॥ १ ॥
प्रक्षुब्धाक्षुब्धदेहस्याऽविसंवादेन संविदः ।
अन्तःपूर्णस्य वदने श्रीरिन्दोरिव लक्ष्यते ॥ २ ॥
चेत्यहीनं चिदालम्बं मनो यस्य गतज्वरम् ।
तेनाऽम्बु कतकेनेव जनता संप्रसीदति ॥ ३ ॥
नित्यमात्मदृशा लीनो ज्ञः स्वस्थश्चञ्चलोऽपि सन् ।
क्षुब्धो दृश्यत एवाऽसौ प्रतिबिम्बार्कवन्मुधा ॥ ४ ॥
आत्मारामा महात्मानः प्रबुद्धाः परमोदयाः ।
बहिः पिच्छाग्रतरला अन्तर्मेरुरिवाऽचलाः ॥ ५ ॥

७०

वसिष्ठजी से कहा—असंसङ्ग के द्वारा अर्थात् अनासक्ति के कारण उत्पन्न सुख के आस्वाद में निरन्तर संलग्न और अन्तःकरण की अत्यन्त विशाल के कारण जीवन्मुख सभी प्रकार के व्यवहारपरायण रह कर भी भय और शोक से रहित रहते हैं ॥ १ ॥

पुत्र और धन का विनाश तथा बन्धन, मान, अपमान आदि क्षोभ के हेतुओं से साधारण लोगों को शरीर क्षुब्ध के समान प्रतीत होता है, क्षुब्ध शरीर से शून्य जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञ महाविद्वान् की चित्तवृत्ति सदा-सर्वदा परमार्थ सुख में ही संलग्न रहने से उसका वह अन्दर से परिपूर्ण रहता है, तथा उसके मुख में पूर्ण-चन्द्र की तरह परम शोभा दीख पड़ती है । चन्द्रपक्ष में ज्योतिश्चक्र और रथादि की गति से क्षुब्धशरीर मालूम पड़ने पर भी अपने ही स्थान में स्थिर होने के कारण क्षुब्धशरीर से शून्य पूर्ण-चन्द्र पूर्णिमा की रात्रि में संमुख होने से सूर्य की विषमता न होने के कारण भीतर अमृत से परिपूर्ण रहता है । उसके वदनसदृश बिम्ब में उत्तम शोभा दीख पड़ती है । यही स्थिति सन्तापशून्य विवेकियों की रहती है ॥ २ ॥

इन्द्रियों की आसक्तियों से वर्जित, केवल चैतन्यमात्र का अवलम्ब करने वाला महात्मा का अन्तःकरण समस्त चिन्ताज्वरों से निर्मुक्त है, उस महात्मा से सभी लोग निर्मली से जल की तरह प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सदा आत्मदृष्टि में लीन रहने वाला विवेकी बाहर से चञ्चल होते हुए भी अपने स्वरूप से सुदृढ़ रहता है, साधारण जनों के द्वारा यह जो क्षुब्ध-सा दीखने पर भी उसकी क्षुब्धता दर्शन के समान मिथ्या ही है ॥ ४ ॥

आत्माराम तथा परम मोक्षरूपी उदय से सम्पन्न तत्त्ववित् महात्मा साधारण लोगों को ऊपर से मोर के पंख की समान चपल प्रतीत पड़ते हैं, परन्तु भीतर से मेरु पर्वत की तरह अटल हैं ॥ ५ ॥

चित्तमात्मत्वमायातं सुखदुःखानुरञ्जनम् ।
नोपैति रङ्गसंयुक्तो मसृणः स्फटिको यथा ॥ ६ ॥

संसारदृष्टिरुदितं ज्ञातलोकपरावरम् ।
न रञ्जयति सच्चित्तं जललेखा यथाऽम्बुजम् ॥ ७ ॥

आत्मध्यानमयोऽध्याने प्रबोधं परमात्मनः ।
कलनामलनिर्मुक्तः स्वसक्त इति कथ्यते ॥ ८ ॥

आत्मारामतया जीवो यात्यसंसङ्गतामिह ।
आत्मज्ञानेन संसङ्गस्तनुतामेति नाऽन्यथा ॥ ९ ॥

जाग्रत्येव सुषुप्तस्थो जीवो भवति राघव! ।
अस्यां दृशि गतोऽद्वन्द्वो नित्यानस्तमयोदयः ॥ १० ॥

अत्र प्रौढिमुपायातः सूर्यतामेति पावनीम् ।
परिणामवशादिन्दुरमावास्यार्कतामिव ॥ ११ ॥

चित्ते चित्तदशाहीने या स्थितिः क्षीणचेतसाम् ।
सोच्यते शान्तकलना जाग्रत्येव सुषुप्तता ॥ १२ ॥

तां सुषुप्तदशामेत्य जीवन् व्यहरन्नरः ।
सुखदुःखवरत्राभिर्न कदाचन कृष्यते ॥ १३ ॥

जाग्रत्येव सुषुप्तस्थो यः करोति जगत्क्रियाम् ।
तं यन्त्रपुत्रकमिव नाऽऽयाति सुखदुःखदृक् ॥ १४ ॥

चित्तस्य बाधिका शक्तिर्भावाभावोपतापदा ।
आत्मतामागते चित्ते तस्य किं बाधते कथम् ॥ १५ ॥

सुषुप्तबुद्धिः कर्माणि पूर्वमेवाऽवहेलया ।
कुर्वन्न बद्धयते जीवो जीवन्मुक्ततया स्थितः ॥ १६ ॥

आत्मस्वरूप को प्राप्त तत्त्ववेत्ता का अन्तःकरण सुख-दुःखरूपी उपाधियों के रङ्ग से युक्त वैसे ही नहीं होता है जैसे रञ्जक जपाकुसुम आदि उपाधियों से चिकना स्फटिक-मणि वास्तव में रङ्ग से युक्त नहीं होता ॥ ६ ॥

जिसने जीव और ईश्वर के स्वरूप को भली-भाँति जान लिया है निरतिशयानन्दरूप परम अभ्युदय को प्राप्त तत्त्ववित् के चित्त को सांसारिक दृष्टि वैसे ही नहीं कर सकती जैसे जलरेखा कमल को रञ्जित नहीं कर सकती ॥ ७ ॥

जब परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर समस्त कल्पनाओं के हेतुभूत मलों से वर्जित यह जीव ध्यानाभाव-दशा में भी आत्मध्यान की तरह निरतिशय सुख में निर्मग्न 'स्वसक्त' कहा जाता है। तत्त्ववित् को स्वभावतः निरतिशयानन्द आत्मा का प्रकाश होने के कारण वह निर्विकल्पक समाधि की तरह सदा आत्मध्यान में ही लगा रहता है, बाह्य ध्यान-व्यापारों के न रहनेपर भी स्फुरण की सामर्थ्य से निरतिशयानन्द सुख समुद्र में अवगाहन करनेवाला 'स्वसक्त' शब्द से व्यवहृत किया जाता है ॥ ८ ॥

केवल आत्मा में ही विश्रान्ति होने सम्पन्न जीव संसार में असंसङ्गभाव को प्राप्त कर केवल आत्मा में ज्ञान से ही विषयासङ्ग क्षीणता को प्राप्त करता है, किसी प्रकार से नहीं ॥ ९ ॥

हे राघव ! असंसक्त दृष्टि में परिणत, प्रियाप्रिय आदि द्वन्द्वों से रहित तथा नित्य कभी अस्त और उदय से शून्य जीव जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्ति में अवस्थित रहता है ॥ १० ॥

जैसे अपनी कला के क्रमशः क्षय से जलमय मण्डल में संलीन सूर्यप्रतिबिम्बस्वरूप चन्द्रमा अमावास्या में सूर्य-रूपता को प्राप्त करता है वैसे ही स्वसंसक्तिरूप दृष्टि में अभ्यासक्रम से परम प्रौढता को प्राप्त हुआ जीव पवित्र सूर्यभाव को अर्थात् परम पावन स्वप्रकाश आत्मस्वरूपता प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

विषयसंबन्धिनी वृत्तियों से शून्य हो जानेपर क्षीण वृत्तिवाले अन्तःकरणों की वासनाओं से निर्मुक्त प्रशान्त स्थिति ही जाग्रत्-में सपुप्तता कही जाती है ॥ १२ ॥

सुषुप्त-दशा को प्राप्त कर जीवित तथा व्यवहार कर रहा पुरुष सुखदुःखरूपी रस्सी से कभी-भी आकृष्ट नहीं होता है ॥ १३ ॥

पुरुष के द्वारा जाग्रत् में ही सुषुप्त होकर जगत् के व्यवहाररूपी कार्यों को करनेपर अहङ्कारशून्य के समान होने से नर्तकप्रतिमा के तुल्य अर्थात् कठपुतली के समान शरीर वाले उस पुरुष को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है ॥ १४ ॥

अहंकाररूपा ही शक्ति चित्त में पीडा पहुँचाने वाली है, क्योंकि वही इष्ट के वियोग अनिष्ट के संयोग से संताप देती है। चित्त के आत्मरूप हो जाने पर चित्त में क्या और कैसे चोट पहुँच सकती है ॥ १५ ॥

पूर्व से ही अर्थात् साधन अवस्था से ही अभिनिवेश का परित्याग कर कर्मों का अनुष्ठान करने वाला निर्विकार बुद्धि वाला जीव जीवन्मुक्त-स्वरूप से अवस्थित रहता है और कर्मों के करने पर भी उन कर्मों के फलों से बद्ध नहीं होता है ॥ १६ ॥

सौषुप्तीं वृत्तिमाश्रित्य कुरु मा कुरु वाऽनघ ! ।
कर्म प्रकृतिजं पाकवशादुपगतं स्थितम् ॥ १७ ॥
नाऽऽदानं न परित्यागः कर्मणो ज्ञाय रोचते ।
तिष्ठन्त्यवगतात्मानो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ॥ १८ ॥
कुर्वन्नपि न कर्ताऽसि सुषुप्त्यैकस्थया धिया ।
अकर्ताऽपि च कर्ताऽसि यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १९ ॥
यथा न किञ्चित्कलयन् मञ्चके स्पन्दते शिशुः ।
तथा फलान्यकलयन् कुरु कर्माणि राघव ! ॥ २० ॥
अचेत्यचित्पदस्वस्थो जाग्रत्यपि सुषुप्तधीः ।
यद्यत्करोति लब्धात्मा तस्मिंस्तस्य न कर्तृता ॥ २१ ॥
दशामासाद्य सौषुप्तीं स्वचित्ते च विवासनः ।
अन्तः शीतलतामेति ज्ञो रसेन यथा शशी ॥ २२ ॥

हे निष्पाप ! सुषुप्ति की विकारशून्य वृत्ति का अवलम्बन कर आप वर्णाश्रम-स्वभाव के अनुसार प्रारब्ध-परिपाक से प्राप्त लौकिक या शास्त्रीय कर्मों का अनुष्ठान करें या न करे, उससे कुछ नहीं होने वाला है ॥ १७ ॥

ज्ञानी पुरुष को कर्म का अनुष्ठान या कर्म का परित्याग कुछ भी अच्छा नहीं लगता है किन्तु आत्मतत्त्व को जानने वाले महात्मा जिस समय जो प्राप्त हो जाता है, उसके अनुसार अनुवर्तन करते हुए अवस्थित रहते हैं ॥१८॥

आप सुषुप्ति अवस्था में रहने वाली निर्विकार बुद्धि से युक्त तत्त्वज्ञ होकर कुछ करते हैं, तो अकर्ता ही हैं और यदि उस बुद्धि से शून्य अतत्त्वज्ञ होकर आप कुछ नहीं करते हैं, तो भी कर्ता ही हैं, इस स्थिति में आप की जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिये ॥ १९ ॥

हे राघव ! आप भी किसी प्रयोजन की अभिलाषा न करते हुए कर्मों का वैसे ही अनुष्ठान कीजिये जैसे किसी प्रयोजन की अभिलाषा न रखकर केवल लीलावश ही बालक पलङ्ग के ऊपर स्पन्दन क्रीडा करता है ॥ २० ॥

विषयसम्बन्ध से रहित चैतन्यरूप परम पद में प्रतिष्ठित बाह्य इन्द्रियों के व्यापाररूप जाग्रत्-दशा में भी सौसुप्त निर्विकार वृत्ति से सम्पन्न लब्धात्मा तत्त्वज्ञ के द्वारा किये गये कर्मानुष्ठानों में वस्तुतः उसकी कर्तृता नहीं रहती है ॥ २१ ॥

जैसे चन्द्रमा अमृत से अपने भीतर शीतलता प्राप्त करता है वैसे ही सुषुप्ति की विकारशून्य अवस्था को प्राप्त कर और अपने चित्त में समस्त वासनाओं से रहित होकर ज्ञानी भीतर से ऐसी शीतलता को प्राप्त करता है ॥२२॥

पूर्णचन्द्र के बिम्ब की तरह महान् तेजस्वी पूर्णात्मा

सुषुप्तस्थो महातेजाः पूर्णः पूर्णेन्दुबिम्बवत् ।
समः सर्वास्ववस्थासु भवत्यद्रिर्यथर्तुषु ॥ २३ ॥
सुषुप्तसंस्थो धीरात्मा बहिरायाति लोलताम् ।
क्रियासु नो भवत्कम्पः प्रस्पन्दित इवाऽचलः ॥ २४ ॥
सुषुप्तावस्थितो भूत्वा देहं विगतकल्मषः ।
पातयाऽऽथ वा दीर्घं कालं धारय शैलवत् ॥ २५ ॥
एषैव राम ! सौषुप्ती स्थितिरभ्यासयोगतः ।
प्रौढा सती तुर्यमिति कथिता तत्त्वकोविदैः ॥ २६ ॥
आनन्दमय एवाऽन्तः प्रक्षीणसकलामयः ।
अत्यन्तास्तङ्गतमना भवति ज्ञो महोदयः ॥ २७ ॥
तत्रस्थो ज्ञः प्रमुदितः परमानन्दघूर्णितः ।
लीलामिवेमां रचनां सदा समनुपश्यति ॥ २८ ॥

निर्विकारावस्था में प्रतिष्ठित तत्त्वज्ञ समस्त आपत्तियों की अवस्थाओं में सदा-सर्वदा एक समान वैसे ही रहता है जैसे छहों ऋतुओं में अविकृत स्वभाव होने के कारण पर्वत एक समान रहता है ॥ २३ ॥

सुषुप्ति-दशा में अवस्थित धीरात्मा तत्त्वज्ञ लौकिक या वैदिक क्रियाओं के होने पर ऊपर से चञ्चलता को प्राप्त करने के समान प्रतीत होने पर भी वास्तव में उसके भीतर कुछ भी कम्पन (चाञ्चल्य) वैसे ही रहता है जैसे वायु से बाहर के वृक्ष, तृण अदि में कम्पन होने पर ऊपर से पर्वत के प्रकम्पित होने पर भी वास्तव में पर्वत का भीतरी प्रकम्पन नहीं होता है ॥ २४ ॥

सुषुप्त अवस्था में स्थित होकर समस्त चित्त विक्षेप आदि पापों से निर्मुक्त होकर इस शरीर को समाप्त करें या पर्वत के समान भीतर से निष्कम्प होकर दीर्घ काल तक उसको धारण करें ॥ २५ ॥

हे श्री राम जी ! इस सौषुप्ती-स्थिति की अभ्यास योग से दृढ़ता की प्राप्ति होने पर तत्त्वज्ञ महात्माओं के द्वारा तुर्य-स्थिति कही जाती है ॥ २६ ॥

इस निर्विकार सौषुप्ती स्थिति में तत्त्वज्ञ भीतर से निरतिशयानन्द से परिपूर्ण रहता है, उसके समस्त दोष प्रक्षीण रहते हैं, मन आत्यन्तिक विनाश को प्राप्त करता है और महान् जीवन्मुक्तता लक्षण उदय से परिपूर्ण रहता है ॥ २७ ॥

सौषुप्ती अवस्था में सदा स्थित ज्ञानी अत्यन्त प्रमोद से परिपूर्ण और निरतिशय आनन्द रूपी मद से मत्त होकर इस जगत् की रचना को सदा एक तरह की लीला ही देखता रहता है ॥ २८ ॥

वीतशोकभयायासो गतसंसारसंभ्रमः ।
तुर्यावस्थामुपारूढो भूयः पतति नाऽऽत्मवान् ॥ २९ ॥
प्राप्य स्वां पदवीं पुण्यां यथेदं भ्रमितं जगत् ।
शैलसंस्थ इवाऽधःस्थं हसन्पश्यति धीरधीः ॥ ३० ॥
अस्यां तु तुर्यावस्थायां स्थितिं प्राप्याऽविनाशिनीम् ।
आनन्दैकान्तलीनत्वादनानन्दपदं गतः ॥ ३१ ॥
अनानन्दमहानन्दकलातीतस्ततोऽपि हि ।
मुक्त इत्युच्यते योगी तुर्यातीतं पदं गतः ॥ ३२ ॥
परिगलितसमस्तजन्मपाशः
सकलविलीनतमोमयाभिमानः ।
परमरसमयीं प्रयाति सत्तां
जलगतसैन्धवखण्डवन्महात्मा ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
असंसङ्गविकल्पोपदेशो नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

जिसके शोक, भय एवं अन्यान्य सांसारिक मिथ्या प्रयत्न सदा के लिए निवृत्त हो जानेपर संसाररूपी विभ्रम से वर्जित तुर्यावस्था में सदा आसीन आत्मज्ञानी फिर इस संसारचक्र में कभी-भी नहीं गिरता है ॥ २९ ॥

वह ज्ञानी अपनी पुण्यमयी तुर्य स्थिति को प्राप्त कर जैसा यह भ्रमित जगत् है, उसको दोषदृष्टि से देखकर वैसे ही हँसता है जैसे पर्वतपर चढ़ा धीरबुद्धि पुरुष पर्वत को हरा भरा यानी दूर से पर्वत को अत्यन्त सुन्दर समझने वाले भ्रमग्रस्त नीचे के प्रदेश में अवस्थित पुरुष को देखकर हँसता है ॥ ३० ॥

ज्ञानी इस तुर्यावस्था में सदा केवल आनन्द में ही नियतरूप से लीन होने के कारण विनाशशून्य स्थिति को अर्थात् महानन्दपद को प्राप्त कर अवस्थित रहता है ॥३१॥

अनानन्दपद की अर्थात् तीन अवस्थाओं की अपेक्षा महत् होने से तुर्यपद महानन्द कहलाता है, यह महानन्दपद जीवन्मुक्त पुरुष को सदा ही रहता है। विदेहमुक्ति में तत्त्वज्ञ को अनानन्दपद का स्मरण नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षा महत् का भी आकलन न होने से अनानन्द और महानन्द दोनों से अतीत हो गया है, इससे भी मुक्त योगी को तुर्यातीत पद को प्राप्ति हुई है यह कहा जाता है ॥ ३२ ॥

जिसका सम्पूर्ण जन्म-हेतु काम और कर्मो की वासनारूपी फाँसी छिन्न-भिन्न हो गई है और अखिल अज्ञान निमित्तक देह, इन्द्रिय आदियों में अहमभिमान नष्ट हो गया है, ऐसा महात्मा योगी परमानन्दरूपी परमार्थ स्थिति को वैसे ही प्राप्त करता है जैसे जल में प्रक्षिप्त सैन्धव नमक का टुकड़ा जलमय हो जाता है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
असंसङ्गविकल्पोपदेश नामक कुसुमलता का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

७१

वसिष्ठ उवाच

यावत्तुर्यपरामर्शस्तावत् केवलतापदम् ।
जीवन्मुक्तस्य विषयो वचसां च रघूद्वह ! ॥ १ ॥
अत ऊर्ध्वमदेहानां मुक्तानां वचसां तथा ।
विषयो न महाबाहो ! पुरुषाणामिवाऽम्बरम् ॥ २ ॥

७१

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हे रघुश्रेष्ठ ! जितने अंश में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूपी तीन पादों का परामर्श कर अनन्तर जाग्रत् आदि अवस्थाओं के साक्षी चिन्मात्र में उनके प्रविलापन-क्रम से जो केवल चैतन्य-परिशेषात्मना अवस्थिति प्राप्त होती है, उस तुर्यावस्थ में साक्षात् अनुभव होता है, उतने ही अंश में कैवल्यपद (केवल चिन्मात्र में अवस्थित-स्वरूप कैवल्यपद) जीवन्मुक्त और वेदवचनों का विषय होता है। यानि जीवन्मुक्तों का अधिकृत तथा श्रुति-वाक्यों का प्रतिपाद्य विषय होता है, क्योंकि वाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति का उतने ही अंश में पर्यवसान है, यह भाव है ॥ १ ॥

हे महाबाहो ! इससे ऊपर का तुर्यातीतपद यद्यपि विदेह मुक्तों का प्राप्य है, तथापि जींवन्मुक्त और वेद वचनों का वैसे ही अधिकृत या प्रतिपाद्य विषय नहीं है, क्योंकि विषयता के सम्पादक मन का उस अवस्था में विनाश हो चुका है जैसे वायु-प्राप्य आकाश पुरुषों का प्राप्य विषय नहीं है ॥ २ ॥

सा हि विश्रान्तिपदवी दूरेभ्योऽपि दवीयसी ।
गम्या विदेहमुक्तानां खलेखेव नभस्वताम् ॥ ३ ॥
सुषुप्तावस्थया कञ्चित्कालं भुक्त्वा जगत्स्थितिम् ।
तुर्यतामेति तदनु परमानन्दघूर्णितः ॥ ४ ॥
तुर्यातीतदशां तज्ज्ञा यथाऽऽयान्त्यात्मकोविदाः ।
तथाऽधिगच्छ निर्द्वन्द्वं पदं रघुकुलोद्वह ! ॥ ५ ॥
सुषुप्तावस्थया राम ! भव संव्यवहारवान् ।
चित्रेन्दोरिव ते न स्तः क्षयोद्वेगावरिन्दम ! ॥ ६ ॥
शरीरसन्निवेशस्य क्षये स्थैर्ये च संविदः ।
मा गृहाण भ्रमो ह्येष शरीरमिति जृम्भते ॥ ७ ॥
देहनाशेन कोऽर्थस्ते कोऽर्थस्ते देहसंस्थया ।
भव त्वं प्रकृतारम्भस्तिष्ठत्वेष यथास्थितम् ॥ ८ ॥
ज्ञातवानसि सत्सत्यं बुद्धवानसि तत्पदम् ।

दूर से भी अतिशय दूर यानी अत्यन्त दुरधिगम्य विश्रान्तिस्थान तुर्यातीतपद विदेहमुक्त पुरुषों का वैसे ही प्राप्त है जैसे आकाश मार्ग वायुओं की प्राप्य है ॥ ३ ॥

निरतिशयानन्दरूपी मद से मत्त महाज्ञानी कुछ समय तक निर्विकारात्मक सुषुप्त अवस्था से जगत्स्थिति का अनुभव कर उसके बाद तुर्यावस्था को प्राप्त करता है ॥४॥

हे रघुकुल श्रेष्ठ ! आप भी सुख-दुःखादि द्वन्दों से विनिर्मुक्त होकर उस परम पद को वैसे ही प्राप्त कीजिए जिस प्रकार तुर्यातीत पद का परिज्ञान रखनेवाले आत्मतत्त्वज्ञानी महात्मा तुर्यातीत पद को प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

हे शत्रुनाशक श्रीराम ! निर्विकार सौषुप्ती अवस्था को प्राप्त कर आप उसी से शास्त्रीय आदि व्यवहारों में निरत रहे इस प्रकार व्यवहार करने से आप का क्षय या तज्जनित उद्वेग वैसे ही नहीं होगा जैसे चित्र में विद्यमान चन्द्रमा का कलाक्षय या राहु के साथ सम्बन्ध नहीं होता ॥ ६ ॥

शरीररूपी घर का विनाश होता है या नहीं होता ? इस प्रकार के सन्देहचक्र में आप न पड़े, क्योंकि यह मेरा शरीर है, इत्यादि जृम्भण=अनुभव केवल भ्रम है ॥७॥

देह विनष्ट हो या वह विनष्ट न हो उससे आपको क्या प्रयोजन हैं ? आप तो केवल आत्मज्ञानकी स्थिरता में प्रयत्नशील हो जाये । यह देह जैसा है, वैसा ही बना रहे ॥ ८ ॥

आप जगत् के अधिष्ठानभूत सत्यतत्त्व को जान गये हैं, सुषुप्ति आदि तीन अवस्थाओं के अधिष्ठान को भी

प्राप्तवानसि रूपं स्वं विशोको भव भूतये ॥ ९ ॥
ईप्सितानीप्सितं त्यक्त्वा शीतलालोकशोभया ।
अन्धकारात्तथाऽम्भोदान्मुक्तं खमिव शोभसे ॥ १० ॥
मनस्तवाऽऽत्मसंपन्नं नाऽधः समनुधावति ।
योगमन्त्रतपःसिद्धः पुरुषः खादिवाऽवनिम् ॥ ११ ॥
इह शुद्धा चिदेवाऽस्ति पारावारविवर्जिता ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इति ते माऽस्तु विभ्रमः ॥ १२ ॥
आत्मेति व्यवहारार्थमभिधा कल्पिता विभोः ।
नामरूपादिभेदस्तु दूरमस्मादलं गतः ॥ १३ ॥
जलमेव यथाम्भोधिर्न तरङ्गादिकं पृथक् ।
आत्मैवेदं तथा सर्वं न भूतोयादिकं पृथक् ॥ १४ ॥
यथा समस्ताज्जलधौ जलादन्यन्न लभ्यते ।
तथैव जगतः स्फारादात्मनोऽन्यन्न लभ्यते ॥ १५ ॥

जान गये हैं और अखण्ड वाक्यार्थ के स्वरूप को भी ज्ञात कर चुके हैं, इसलिए आप तुर्यातीतरूपी महान् उदय के लिए शोकशून्य हो जायें ॥ ९ ॥

जैसे अन्धकार और मेघमण्डल से विनिर्मुक्त शरत्-पूर्णिमा की रात्रि का आकाश मण्डल सुशोभित होता है वैसे ही अभीष्ट और अनभीष्ट विषयों को छोड़कर आप शीतल साक्षात्काररूपी आलोक की शोभा से सुशोभित हो रहे हैं ॥ १० ॥

आत्मज्ञान से सम्पन्न मन भी निम्नकोटी के विषय सुखों में वैसे ही अनुधावन नहीं करता जैसे योग, मन्त्र और तप की सामर्थ्य से आकाश गमन की सिद्धि को प्राप्त किये हुए योगी आकाश को छोड़कर पृथ्वी में अनुधावन नहीं करता ॥ ११ ॥

समस्त ब्रह्माण्ड में देश, काल और वस्तु के परिच्छेद शून्य विशुद्ध चैतन्य की ही सत्ता है, आपको 'यह, वह मैं, यह शरीर और वह पुत्र आदि मेरे हैं' इत्यादि विविध भ्रमों में नहीं पड़ना चाहिए ॥ १२ ॥

सर्वत्र व्यापक चैतन्य का 'आत्मा' यह नाम केवल व्यवहार के लिए ही कल्पित है, नाम, रूप आदि भेद तो इस चैतन्य से अत्यन्त दूर ही है ॥ १३ ॥

सब जगत् आत्मस्वरूप वैसे ही है उससे भिन्न पृथ्वी जल आदि कुछ भी नहीं हैं जैसे समुद्र जलस्वरूप ही है, उससे भिन्न तरङ्ग आदि कुछ भी नहीं हैं ॥ १४ ॥

जगद्रूप से विस्तृत आत्मा के सिवा दूसरा कुछ भी लब्ध वैसे ही नहीं होता है जैसे समुद्र में पूर्ण जल के सिवा दूसरा कुछ भी लब्ध नहीं होता ॥ १५ ॥

अयं सोऽहमिति प्राज्ञ ! क्व करोषि व्यवस्थितिम् ।
किं तत्त्वं किञ्च वा ते स्यात्किं तत्त्वं किञ्च वा न ते।१६।
न द्वित्वमस्ति नो देहाः सम्बन्धो न च तैः स्थितः ।
संभाव्यते कलङ्को वा भानोरिव तमःपटैः ॥ १७ ॥
द्वित्वमभ्युपगम्याऽपि कथयामि तवाऽरिहन् ।
देहादिभिः सद्भिरपि न सम्बन्धो विभोर्भवेत् ॥ १८ ॥
छायातपप्रसरयोः प्रकाशतमसोर्यथा ।
न संभवति सम्बन्धस्तथा वै देहदेहिनोः ॥ १९ ॥
यथा शीतोष्णयोर्नित्यं परस्परविरुद्धयोः ।
न संभवति सम्बन्धो राम ! देहात्मनोस्तथा ॥ २० ॥
अविनाभाविनोर्यस्तु सम्बन्धः कथमेतयोः ।

हे प्राज्ञ ! यह, वह और मैं आदि की व्यवस्था आप किसमें करते हैं ? देह आदि भावों में से जो आप हैं और जो आपके साथ सम्बन्ध रखते हैं, उनका स्वरूप क्या है ? और जिनमें आप हैं और जो आपके नहीं हैं, उनका स्वरूप क्या है ? अधिष्ठान-दृष्टि से किसी के साथ भवद्रूपता और भवत्सम्बन्धिता नहीं हो सकती । अध्यास दृष्टि से वैसा हो सकता है, पर वह तो तात्त्विक नहीं है ॥ १६ ॥

भेदाधीन कलङ्क की आत्मा में भी किसी प्रकार से सम्भावना वैसे ही नहीं हो सकता है जैसे भगवान् भास्कर में अन्धकारपट से किसी प्रकार के कलङ्क की सम्भावना नहीं हो सकती क्योंकि वास्तव में न तो भेद है, न देह है और न उनका सम्बन्ध ही आत्मा में है ॥ १७ ॥

हे शत्रुनिहन्ता ! द्वित्व अर्थात् भेद को स्वीकार करने पर भी और देह आदि को सत्य मान लेने पर भी व्यापक आत्मा का उनके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, यह आपसे मैं कहता हूँ ॥ १८ ॥

शरीर और आत्मा का भी परस्पर सम्वन्ध वैसे ही नहीं होता जैसे छाया और आतपविस्तार का तथा प्रकाश और अन्धकार का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है ॥ १९ ॥

चैतन्य और जाड्य धर्मों से परस्पर अत्यन्त विरुद्ध देह और आत्मा का भी एक दूसरे से कभी सम्बन्ध वैसे ही नहीं हो सकता है जैसे सदा-सर्वदा परस्पर विरुद्ध रहने वाले शीत और उष्ण का एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं होता है ॥ २० ॥

समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्ध पदार्थों का होता है, वह इन जड़ देह और चेतन आत्मा का कैसे अनुभूत हो

जडचेतनयोर्देहदेहिनोरनुभूयते ॥ २१ ॥
चिन्मात्रस्याऽऽत्मनो देहसम्बन्ध इति या कथा ।
सैषा दुरवबोधार्था दावाग्नौ जलधिर्यथा ॥ २२ ॥
सत्यावलोकनेनैषा मिथ्यादृष्टिर्विनश्यति ।
अवलोकनया साम्यमातपे जलधिर्यथा ॥ २३ ॥
चिदात्मा निर्मलो नित्यः स्वावभासो निरामयः ।
देहस्त्वनित्यो मलवांस्तेन सम्बन्ध्यते कथम् ॥ २४ ॥
स्पन्दमायाति वातेन भूतैर्वा पीवरीकृतः ।
देहस्तेन न सम्बन्धो मनागेव सहाऽऽत्मना ॥ २५ ॥
सिद्धे द्वित्वेऽपि देहस्य न सम्बन्धस्य संभवः ।
द्वित्वासिद्धौ तु सुमते कलनैवेदृशी कुतः ॥ २६ ॥

सकता है, आशय यह है कि उनका समवाय सम्बन्ध है, यह अनुभव नहीं हो सकता है ॥ २१ ॥

चिन्मात्रस्वरूप आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध है, यह जो उक्ति है, वह भी वैसे ही असम्भवार्थक है जैसे दावाग्नि में समुद्र है; मह उक्ति दुरबोधार्थ है, आशय यह है कि देह को चैतन्य का आश्रय मानने पर त्रिषय न हो सकने के कारण उसका स्मरण ही नहीं हो सकेगा । यदि देह को आत्मा का विषय मानेंगे, तो आश्रय न हो सकने के कारण समवाय आदि प्रसिद्ध हो जायेंगे और विषयता सम्बन्ध तो मिथ्या वस्तु में भी रहता है, ऐसी स्थिति से उसमें सत्यता रह नहीं सकती है ॥ २२ ॥

अधिष्ठान आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से यह देह और आत्मा का परस्पर हुआ सम्बन्ध विभ्रम वैसे ही विनष्ट हो जाता है जैसे सूर्य की किरणों में प्रतीत हुआ समुद्र विभ्रम किरणों के यथार्थ साक्षात्कार से विनष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

चिदात्मा निर्मल अविनाशी स्वप्रकाश एवं निर्विकार है और देह विनाशी एवं मलवान् अतः विशुद्ध आत्मा अविशुद्ध शरीर के साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है ? ॥ २४ ॥

भूतों से बल प्राप्त कर ही शरीर स्पन्दन को प्राप्त करती हैं, इसलिए आत्मा के साथ देह का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ २५ ॥

हे विमलबुद्धि ! द्वैत की सत्यता मानने पर भी आत्मा के साथ देहादि का सम्बन्ध सम्भव होने पर द्वैत की असत्यता में इस प्रकार की सम्बन्ध की कल्पना कैसे हो सकती है ? ॥ २६ ॥

इत्येतदेव तत्सत्त्वे तत्रैवाऽन्तःस्थितिं कुरु ।
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति कदाचित्कस्यचित् क्वचित् २७
सर्वमात्ममयं शान्तमित्येवं प्रत्ययं स्फुटम् ।
स बाह्याभ्यन्तरं राम ! सर्वत्र दृढतां नय ॥ २८ ॥
सुखी दुःखी विमूढोऽस्मीत्येता दुर्दृष्टयः स्मृताः ।
आसु चेद्वस्तुबुद्धिस्ते तच्चिरं दुःखमिच्छसि ॥ २९ ॥
यः क्रमः शैलतृणयोः कौशेयोपलयोस्तथा ।
साम्यं प्रति स एवोक्तः परमात्मशरीरयोः ॥ ३० ॥
यथा तेजस्तिमिरयोर्न सम्बन्धो न तुल्यता ।
अत्यन्तभिन्नयो राम ! तथैवाऽऽत्मशरीरयोः ॥ ३१ ॥
यथा शीतोष्णयोरैक्यं कथास्वपि न दृश्यते ।

इसलिए द्वैतभ्रम का परित्याग कर अद्वितीय चिन्मात्र में ही आप निष्ठा दृढ़ हो जाय। उसमें न तो किसी का कभी बन्धन होता है और न किसी का कभी मोक्ष होता है ॥ २७ ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! पूर्व से ही शान्त समस्त बाह्य और आभ्यान्तर जगत् आत्म स्वरूप ही है, इस प्रकार के स्पष्ट अनुभव को सभी अवस्थाओं में आप दृढ़ बनायें ॥२८॥

'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूर्ख हूँ' इत्यादि ज्ञानों का दुर्दृष्टि शब्द से व्यवहार किया गया है, यदि आप इन प्रत्ययों में वस्तु बुद्धि रखते हैं, तो अवश्य आप दीर्घ-कालीन दुःख की ही अभिलाषा रखते हैं ॥ २९ ॥

पर्वत और तिनके में रेशम और पत्थर में जो विशेष कहा जाता है, वही विशेष परमात्मा और शरीर की समानता के प्रति कहा जा सकता है। आशय यह है कि पर्वत बड़ा और स्थिर है, इसलिए उसमें अनायस दृष्टि सुकर हो जाती है। तिनका अति चञ्चल और तुच्छ है, अतः दूर से चक्षु के द्वारा तृण-दृष्टि दुष्कर हो जाती है। रेशम और पत्थर के बीच में भी मृदु और सुखस्पर्श होने के कारण त्वगिन्द्रिय से रेशम का स्पर्श ही उपादेय होता है, कठोर और दुःखद होने के कारण पाषाण का स्पर्श उपादेय नहीं होता, प्रत्युत हेय ही होता है, परमात्मा और देहादि अनात्मा के बीच में भी अपरिच्छिन्न, सदा-सर्वदा स्वप्रकाश और आनन्दरूप होने के कारण परात्म-दृष्टि उपादेव एवं सुकर है और तुच्छ, अस्थिर और मन आदि से सापेक्ष होने के कारण देहादि अनात्मदृष्टि हेय और दुष्कार है, यों आत्मा और अनात्मा की दृष्टि में महान् वैषम्य होने से साम्य नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आत्मा और शरीर का भी एक दूसरे से सम्बन्ध और सादृश्य वैसे ही नहीं हो सकता जैसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध तेज और तिमिर का एक दूसरे से सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

जडप्रकाशयोः श्लेषो न तथाऽऽत्मशरीरयोः ॥ ३२ ॥
देहश्चलति वातेन तेनैवाऽऽयाति गच्छति ।
शब्दं करोति वातेन देहनाडीविलासिना ॥ ३३ ॥
शब्दः कचटतप्रायः स्फुरत्यन्तः समीरणैः ।
यथा प्रजायते वंशाद्देहरन्ध्रात् तथैव हि ॥ ३४ ॥
कनीनिकापरिस्पन्दश्चक्षुःस्पन्दस्य मारुतात् ।
इन्द्रियस्फुरणात् सैव संवित्केवलमात्मनः ॥ ३५ ॥
आकाशोपलकुड्यादौ सर्वत्राऽऽत्मदशा स्थिता ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽदर्शे चित्त एवाऽत्र दृश्यते ॥ ३६ ॥
शरीरालयमुत्सृज्य यत्र चित्तविहङ्गमः ।
स्ववासनावशाद्याति तत्रैवाऽऽत्माऽनुभूयते ॥ ३७ ॥

जड़ स्वरूप देह और प्रकाश स्वरूप आत्मा का भी संयोग वैसे ही नहीं हो सकता है जैसे शीत और उष्ण का ऐक्य वाणी के विलास में भी कहीं नहीं पड़ता। आत्मा और अनात्मा का संयोग असम्भव होनेपर उनका ऐक्य तो हो ही नहीं सकता है ॥ ३२ ॥

यह देह प्राणवायु से ही चलती है, उसी से आती और जाती रहती है एवं देह की नाडियों में विलास करने वाले प्राणवात से ही शब्द करता है ॥ ३३ ॥

शरीर के कण्ठरूप छिद्र से उद्गत प्राणवायुओं से अर्थात् काण्ठ, तालु आदि स्थानों में जिह्वा आदि के द्वारा अभिघात से कवर्ग, चवर्ज, टवर्ग, तवर्ग आदि शब्द वैसे ही प्रकट होते हैं जैसे छिद्रयुक्त बाँसों से वायु के द्वारा शब्द उत्पन्न होते हैं ॥ ३४ ॥

विषय-प्रदेश में होने बाले चक्षुःस्पन्द में हेतुभूत कनी-निका का परिस्पन्द भी केवल प्राण-वायु से ही होता है, समस्त इन्द्रियों के स्फुरण से उत्पद्यमान स्फूर्तिरूपा संवित्ति ही केवल आत्मा से होती है ॥ ३५ ॥

आकाश, पत्थर, भीत आदि सर्वत्र स्थानों में आत्मा की सत्ता विद्यमान रहने पर भी दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह इस चित्त में ही वह दिखाई पड़ती है ॥ ३६ ॥

शरीररूपी आलय को छोड़कर जहाँ चित्तरूपी पक्षी अपनी वासना के अनुसार जाता है, वहीं पर आत्मा की अनुभूति होती है ॥ ३७ ॥

यत्र पुष्पं तत्र गन्धसंविदः संस्थिता यथा ।
यत्र चित्तं हि तत्राऽऽत्मसंविदः संस्थितास्तथा ॥ ३८ ॥
सर्वत्र स्थितमाकाशमादर्शे प्रतिबिम्बति ।
यथा तथाऽऽत्मा सर्वत्र स्थितश्चेतसि दृश्यते ॥ ३९ ॥
अपामवनतं स्थानमास्पदं भूतले यथा ।
अन्तःकरणमेवाऽऽत्मसंविदामास्पदं तथा ॥ ४० ॥
सत्यासत्यं जगद्रूपमन्तःकरणबिम्बिता ।
आत्मसंवित्तनोतीदमालोकमिव सूर्यभा ॥ ४१ ॥
अन्तःकरणमेवाऽतः कावणं भूतसंसृतौ ।
आत्मा सर्वातिगत्वात्तु कारणं सदकारणम् ॥ ४२ ॥
अविचारणमज्ञानं मौर्ख्यमाहुर्महाधियः ।
संसारसंसृतौ सारमन्तःकरणकारणम् ॥ ४३ ॥
असम्यक्प्रेक्षणान्मोहाच्चेतः सत्तां गृहीतवत् ।
सम्मोहबीजकणिकां तमोऽर्कादिव दृश्यते ॥ ४४ ॥
यथाभूतात्मतत्त्वैकपरिज्ञानेन राघव ! ।
असत्तामेत्यलं चेतो दीपेनेव तमः क्षणात् ॥ ४५ ॥
संसारकारणमितः स्वयं चेतो विचारयेत् ।
जीवोऽन्तःकरणं चित्तं मनश्चेत्यादिनामकम् ॥ ४६ ॥

श्रीराम उवाच

एताः संज्ञाः प्रभो ! ब्रह्मंश्चेतसो रूढिमागताः ।
कथमित्येव कथय मयि मानद ! सिद्धये ॥ ४७ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वे भावा इमे नित्यमात्मतत्त्वैकरूपिणः ।
चित्तात्तरङ्गकगणा जलैककलिता यथा ॥ ४८ ॥
आत्मा स्पन्दैकरूपात्मा स्थितस्तेषु क्वचित् क्वचित् ।
तरङ्गेषु विलोलेषु पयोधेः सलिलं यथा ॥ ४९ ॥

जहाँ चित्त रहता है, वही पर आत्मा की संवित् वैसे ही रहती है जैसे जहाँ पुष्प रहता है, वहीं पर गन्ध की संवित् ज्ञान रहती है ॥ ३८ ॥

सर्वत्र अवस्थित आत्मा चित्त में वैसे ही दिखाई पड़ता है जैसे सर्वत्र अवस्थित आकाश दर्पण में प्रति-बिम्बित होता है ॥ ३९ ॥

अन्तःकरण ही चैतन्य-प्रतिबिम्ब का वैसे ही आश्रय स्थान है जैसे पृथ्वी में नीचे का स्थान जल का आश्रय स्थान होता है ॥ ४० ॥

अन्तःकरण में प्रतिबिम्बत आत्मसंवित् व्यावहारिक और प्रतिभासिक जगत्-स्वरूप का वैसे ही विस्तार करती है जैसे सूर्य की प्रभा आलोक का विस्तार करती है ॥ ४१ ॥

अतः संसृति में अन्तःकरण ही अर्थात् समष्टचात्मा हिरण्यगर्भ ही भूतों की उत्पत्ति में कारण है, आत्मा समस्त पदार्थों से परे प्रतिबिम्ब द्वारा भूतोत्पत्ति में कारण होते हुए भी आत्मा स्वतः कारण नहीं है ॥ ४२ ॥

प्रखर बुद्धिवाले मनीषियों का कहना है कि संसार की सृष्टि में अविचार, अज्ञान और मूढ़ता ही सारभूत है और वही अन्तःकरण में हेतु है ॥ ४३ ॥

अन्यथाग्रहण के संस्कारों के सामर्थ्यरूप मोह से विभ्रमों की सत्ता का बीजकणिकाभूत अन्तःकरण ने ग्रहण किया है और सम्मोह से ही असंभावित जन्मादिपरम्परा आत्मा में वैसे ही दिखाई देती है जैसे मोह से असम्भा-वित अन्धकार सूर्य से दिखाई देता है। चित्तपरिणाम को ग्रहण करने वाला अज्ञान 'मैं अज्ञ हूँ' प्रत्यक्षरूप से आत्मा में सभी पुरुषों को वैसे ही दिखाई पड़ता है जैसे सूर्य से ही उसको ग्रसनेवाला राहुरूप तम दिखाई देता है ॥४४॥

हे राघव ! अबाधित आत्मा के केवल स्वरूप-ज्ञान से ही चित्त तत्क्षण वैसे ही समाप्त अर्थात् नष्ट हो ताता है जैसे दीप से अन्धकार तत्क्षण ही समाप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

इसी चित्त के कारण से संसार का कारण अज्ञान प्राप्त है, अतः अधिकारियों को स्वयं उसके विषय में विचार करना चाहिए अर्थात् इससे संसार के कारण भूत चित्त के विषय में विचार करना चाहिए जिसके कि जीव, अन्तःकरण, चित्त, मन आदि अनेक नाम हैं ॥ ४६ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे मान्यतम ! हे प्रभो ! चित्त के ये नाम किस व्युत्पत्ति से योग रूढ़ि को प्राप्त हैं, उसी को मुझ से कहिए जिससे आपके द्वारा प्रतिपादित विचारों की सिद्धि हो जाय ॥ ४७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ये समस्त पदार्थ, जो आत्म तत्त्व के साथ ऐक्याध्यास होने के कारण आत्मतत्त्व स्वरूप प्रतीत होते हैं केवल चित्त से समष्टि चित्त से वैसे ही सदा उत्पन्न होते हैं। जैसे तरङ्गों के समूह केवल जल से ही उत्पन्न होते हैं ॥ ४८ ॥

आत्मा चित्त से उत्पन्न उन पदार्थों में कहीं कहीं पर केवल स्पन्द रूपात्मा होकर वैसे ही अवस्थित रहता है। जैसे समुद्र का जल चञ्चल तरङ्गों में स्पन्दात्मा होकर अवस्थित रहता है ॥ ४९ ॥

क्वचिदस्पन्दरूपात्मा स्थितस्तेषु महेश्वरः ।
तरङ्गत्वमयातेषु जलभावो जलेष्विव ॥ ५० ॥

तत्रोपलादयो भावा अलोलाः स्वात्मनि स्थिताः ।
सुराफेनवदुत्स्पन्दा लोलास्तु पुरुषादयः ॥ ५१ ॥

तत्र तेषु शरीरेषु सर्वशक्तिस्तदात्मनः ।
कलिताज्ञानकलना तेनाऽज्ञानमसौ स्थितः ॥ ५२ ॥

तदज्ञानमनन्तात्मभूषितं जीव उच्यते ।
स संसारे महामोहमायापञ्जरकुञ्जरः ॥ ५३ ॥

उन पदार्थों में कहीं पर परमात्मा अस्पन्दन स्वरूपात्मा होकर वैसे ही अवस्थित रहता है। जैसे तरङ्ग भाव को अप्राप्त जलों में जल अस्पन्द स्वरूप होकर रहता है ॥ ५० ॥

उन भावों में स्थिर पत्थर आदि पदार्थ तो अपने स्वरूप में अवस्थित हैं और सुरा के फेन की तरह अत्यन्त उत्कट स्पन्द से युक्तपुरुष चञ्चल हैं अर्थात् वह अपने वह स्वरूप में अवस्थित नहीं हैं ॥ ५१ ॥

यहाँ उन शरीरमें सर्वशक्ति पदार्थ-स्वरूपापन्न आत्मा के द्वारा कल्पित अज्ञान की कलना प्रसिद्ध है, इसीलिए स्वयं आत्मा ही उक्त स्वकल्पित अज्ञान स्वरूप होकर सुषुप्ति और प्रलय में अवस्थित रहता है ॥ ५२ ॥

प्रतिविम्ब भाव को संप्राप्त अनन्त आत्मा के द्वारा भूषित होकर स्फुरित उक्त अज्ञान ही रूढि अंश को लेकर जीव कहा जाता है। वही इस संसार में महामोह रूपी माया के पिजड़े में फँसा हुआ हाथी है ॥ ५३ ॥

साभास अज्ञान ही प्राण-धारण करने से 'जीव' कहा गया है, सर्व प्रथम 'अहम्' (मैं हूँ) इस व्यवहार करने के कारण अहंभाव से निश्चय करने के कारण बुद्धिमान् से और सङ्कल्प करने के कारण मन-नाम से इसको कहा गया है ॥ ५४ ॥

जीव मन आदि की प्रकृति कारण होने से प्रकृति वृद्धि की प्राप्ति होने से देह, अज्ञान अंश की प्रधानता से जड़ और चैतन्य की प्रधानता से चेतन कहा जाता है ॥ ५५ ॥

अज्ञान और अज्ञान के साक्षी दोनों के बीच में वर्तमान साभास मन ही विभिन्नरूपों को प्राप्त कर जीव, बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार आदि अनेक नामों से व्यवहृत होता है ॥ ५६ ॥

हे अनघ ! उस प्रकार के जीव के स्वरूपों को बृहदारण्यक आदि अनेक वेदान्त ग्रन्थों में अनेक तरह से

जीवनाज्जीव इत्युक्तोऽहंभावः स्यात्स्वहन्तया ।
बुद्धिर्निश्चायकत्वेन संकल्पकलनान्मनः ॥ ५४ ॥

प्रकृतिः प्रकृतित्वेन देहो दिग्धतया स्थितः ।
जडः प्रकृतिभावेन चेतनः स्वात्मसत्तया ॥ ५५ ॥

जडाजडदृशोर्मध्यं यत्तत्त्वं पारमात्मिकम् ।
तदेतदेव नानात्वं नानासंज्ञाभिराततम् ॥ ५६ ॥

एवं स्वरूपं जीवस्य बृहदारण्यकादिषु ।
बहुधा बहुषु प्रोक्तं वेदान्तेषु किलाऽनघ ! ॥ ५७ ॥

निश्चत-रूप से कहा गया है अच्युतग्रन्थ माला के अनुवाद की टिप्पणी में इसका विश्लेषण संस्कृत के अनुसार इस प्रकार किया गया है 'स एष इह प्रविष्टः अनाखाग्रेभ्यः' (यह आत्मा ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक के देहों में नखाग्र पर्यन्त प्रविष्ट है यानी जल में सूर्य की नाईं प्रतिबिम्बत है), इसका उपक्रम कर 'प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन्वाक् पश्यँश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामधेयानि' (प्राणन क्रिया को कर रहा आत्मा प्राण नामवाला, वदन क्रिया को कर रहा वाक् नामवाला, दर्शन क्रिया को कर रहा चक्षु नामवाला, श्रवणक्रिया को कर रहा श्रोत्र नामवाला मनन क्रिया को कर रहा मन नामवाला होता है, आत्मा के ये सब नाम कर्मकृत हैं); इसी प्रकार 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरित ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्योरूपाणि' (स्वप्रकाश आत्मा संनिहितत्वादि से बुद्धि के सदृश होकर अन्योन्यधर्मादि का अध्यास होनेपर प्राप्त और अप्राप्तव्य दोनों लोकों में संचरण करता है, बुद्धि का ध्यान व्यापार होने पर आत्मा मानो ध्यान करता हुआ-सा, प्राणादि वायुओं के चलने पर चलता हुआ-सा प्रतीत होता है। स्वप्नाकार में परिणत बुद्धिवृत्ति के अवभासकरूप से स्वप्नाकार होकर जाग्रत्-व्यवहाररूप इस लोक का अतिक्रमण-करता है यानी उसका अभिमान छोड़ देता है। अज्ञानरूपी मृत्यु के अहमभिमान आदि स्वरूपों का अतिक्रमण करता है), इसी प्रकार 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ।' 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।', 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् ॥' (सङ्कल्प आदि बुद्धि के गुणों से तथा जरा, मृत्यु आदि शरीर के गुणों से ज्ञानरूप व्यापक आत्मा आरे के अग्रभाग की नाईं दिखाई पड़ता है,' 'केश के अग्रभाग के सौबार किये गये भाग का पुनः

अज्ञैस्त्वेतासु संज्ञासु कुविकल्पकुतार्किकैः ।
मोहाय केवलं मूढैर्व्यर्थमास्था प्रकल्पिताः ॥ ५८ ॥

एवमेष महाबाहो ! जीवः संसारकारणम् ।
मूकेनाऽतिवराकेण देहकेनेह किं कृतम् ॥ ५९ ॥

आधाराधेययोरेकनाशे नाऽन्यस्य नष्टता ।
यथा तथा शरीरादिनाशे नाऽऽत्मनि नष्टता ॥ ६० ॥

एकपर्णरसे क्षीणे रसो नैति यथा क्षयम् ।
याति पर्णरसश्चाऽर्करश्मिजालान्तरे यथा ॥ ६१ ॥

शरीरसंक्षये देही न क्षयं याति कस्यचित् ।
निर्वासनश्चेत्तद्व्योम्नि तिष्ठत्यात्मपदे तथा ॥ ६२ ॥

सौबार किया गया जो विभाग है, उसके नाईं जीव को सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानना चाहिए, वह जीवस्वरूप से अनन्त हो जाता है, जगत् की सृष्टिकर उसी में आत्मा ने अनुप्रवेश किया, उसमें प्रवेशकर आत्मा पृथ्वी आदि मूर्त और आकाश आदि अमूर्त स्वरूप हो गया ।), 'सं एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत.... ...तस्मादिदन्द्रो नाम । यदेतद्हृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानम्' (उस परमेश्वर ने मूर्धा के मध्यभागरूप सीमा प्रदेश में छिद्र कर उसी के द्वारा शरीर में प्रवेश किया,...इससे इन्द्र नाम हुआ, संकल्प आदि का साधनभूत मन और बुद्धि है, वह संज्ञान है, आज्ञप्ति, विज्ञान और प्रज्ञान है) तथा 'त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः ।', एको देवो बहुधा विचारः', एक सन् बहुधा विचारः, (तुम एक अद्वितीय हो, अनेक में प्रविष्ट हो, एक आत्मदेव बहुत प्रकार से विचरण करता है) इत्यादि श्रुतियाँ इस तरह के आत्मा के अनेक विध नामों में प्रमाण हैं ॥ ५७ ॥

अज्ञानी मूढ कुत्सित कल्प विकल्पों की सिद्धि के लिए दुष्ट तर्क-वितर्क करने में निपुण हैं, इन जीवादि संज्ञाओं में केवल मोह के लिए व्यर्थ ही अभिनिवेशों की कल्पना कर रक्खी है ॥ ५८ ॥

हे महाबाहो ! इस प्रकार यह जीव ही संसार का कारण है, विचारी वाणी से शून्य जड़ देह ने इसमें क्या किया है अर्थात् जड़ शरीर से संसार-स्थिति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ ५९ ॥

शरीर आदि का नाश होने पर आत्मा वैसे ही नष्ट नहीं होता है जैसे आधार घट और आधेय जल इन दो में से किसी एक का विनाश होने पर दूसरा नष्ट नहीं होता है ॥ ६० ॥

देहनाशे विनष्टोऽस्मीत्येवं यस्याऽमतेर्भ्रमः ।
मातुः स्तनतटात्तस्य मन्ये वेताल उत्थितः ॥ ६३ ॥

यस्य ह्यात्यन्तिको नाशः स्यादसावुदितः स्मृतः ।
चित्तनाशो हि नाशः स्यात्स मोक्ष इति कथ्यते ॥ ६४ ॥

मृतो नष्ट इति प्रोच्तो मन्ये तच्च मृषा ह्यसत् ।
स देशकालान्तरितो भूत्वा भूत्वाऽनुभूयते ॥ ६५ ॥

इहोह्यन्ते जनैरेवं तरङ्गान्तस्तृणैरिव ।
मरणव्यपदेशासु देशकालतिरोहितैः ॥ ६६ ॥

वासनावस्थितो जीवो यात्युत्सृज्य शरीरकम् ।

देह का विनाश होने पर भी देहव्यापी आत्मा का विनाश वैसे ही नहीं होता जैसे एक पत्ते के रस का विनाश होने पर भी वृक्षव्यापी रस का विनाश नहीं होता है अन्य पत्ते में उसकी सत्ता रहती ही है किन्तु यदि वह वासनायुक्त है, तो शरीरनाशानन्तर वासना में स्थित रहता है यदि वासनाशून्य है, तो ब्रह्माकाशस्वभाव में वैसे ही स्थित रहता है जैसे क्षीण हुआ पत्ते का रस सूर्य की किरणों में चला जाता है ॥ ६१, ६२ ॥

शरीर के नष्ट होने पर मैं नष्ट हो गया, जिसको यह मतिभ्रम होता है तो उस मूर्ख के लिए माता के स्तन से उसके लिए वेताल का समुत्थान हो गया है ॥ ६३ ॥

वज्र की बेड़ी के समान अत्यन्त दृढ़ बन्धनभूत उस उपाधियों आत्यन्तिक नाश होने पर यह जीव अपनी ब्रह्मस्वरूपता का स्मरण कर निरतिशयानन्दरूपी अभ्युदय को प्राप्त करता है चित्त के नाश से जीव-विनाश की जो सम्भावना हैं, वह शास्त्रों में जीव के लिए मोक्ष कहा गया है ॥ ६४ ॥

'मैं नष्ट हो गया, मैं मर गया' इस प्रकार विनाशित्व आदि से विशिष्ट कथित जीव निश्चितरूप से मैं मिथ्या और असत् मानता हूँ, देश और काल से व्यवहित होकर अर्थात् शरीर-त्याग के बाद विभिन्न देश और काल में जाकर वह अन्य देह को ग्रहण कर पुनः पुनः अनुभूत होता है ॥ ६५ ॥

इस संसार में मरण नाम की नदियों में, तरङ्गों के भीतर तृण के समान प्रतीत होनेवाले जीवों के द्वारा देश और कालवश तिरोहितस्वरूपों से मर गया, नष्ट हो गया, उत्पन्न हुआ आदि पदार्थों की—भ्रान्तिवश से कल्पना की जाती है ॥ ६६ ॥

कपिर्वनतरुं त्यक्त्वा तर्वन्तरमिवाऽऽस्थितः ॥ ६७ ॥
पुनस्तदपि संत्यज्य गच्छत्यन्यदपि क्षणात् ।
अन्यस्मिन्वितते देशे कालेऽन्यस्मिंश्च राघव ! ॥ ६८ ॥
इतश्चेतश्च नीयन्ते जीवा वासनया स्वया ।
चिरं तदपि जीविन्या धूर्त्या धात्र्येव बालकाः ॥ ६९ ॥
वासनारज्जुवलिता जीर्णाः पर्वतकुक्षिषु ।
जरयन्त्यतिदुःखेन जीवितं जीवजीविकाः ॥ ७० ॥
जरठजरदुपोढदुःखभाराः
परिणतिजर्जरजीविताश्च सत्यः ।
हृदयजनितवासनानुवृत्त्या
नरकभरे जनताश्चिरं पतन्ति ॥ ७१ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ७२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे संसारोपदेशो नामैकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

॥ त्रयोदशो दिवसः ॥

वासना में आरूढ़ जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर पर वैसे ही चला जाता है जैसे बन्दर वन के एक वृक्षों को छोड़ कर दूसरे वृक्ष पर चला जाता है ॥ ६७ ॥

हे राघव ! उस शरीर को भी छोड़कर दूसरे विस्तृत देश और दूसरे काल में दूसरे शरीर पर भी थोड़े ही समय में चला जाता है ॥ ६८ ॥

अपनी ही वंचक वासना, जीवों का यथार्थस्वरूप आवृत कर जीवन स्वभाव की बहुत काल तक इधर-उधर जीवों को वैसे ही ले जाती है जैसे आसक्त उपमाता बालकों को इधर-उधर ले जाती है ॥ ६९ ॥

अपने-अपने कार्यों की सिद्धियों में एक दूसरे का परस्पर उपयोग करने के कारण एक दूसरे के जीवन के उपायभूत वासनारूपी रज्जु से बँधे हुए जीव पहले से ही जीर्ण तो हैं, फिर भी पर्वततुल्य जड़ शरीर में अत्यन्त दुःखपूर्वक प्राणों को क्षीण कर रहे हैं ॥ ७० ॥

जीर्णों से भी अधिक जीर्ण होकर जिन्होंने दरिद्रता, रोग, वियोग आदि से जनित दुःखों के बोझों को ढोया है तथा अनेक योनियों में दुर्दशाग्रस्त परिणामों से जिनका जीवन जर्जर दुःखों से शिथिल है, ऐसे जीव हृदय में उत्पन्न वासनाओं की परम्परा से नरकों में दीर्घकाल तक निवास करते हैं ॥ ७१ ॥

श्रीवाल्मीकि जी ने कहा—मुनि वसिष्ठ महाराज के इस प्रकार कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल की ओर चले गये और सभा मुनिजी को नमस्कार कर सायंकालीन विधि के लिए चली गई और रात्रि बीतने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर दूसरे दिन आ गई ॥ ७२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में संसारोपदेश नामक कुसुमलता का एकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७१ ॥

तेरहवाँ दिन

७२

वसिष्ठ उवाच

**देहे जाते न जातोऽसि देहे नष्टे न नश्यसि ।
स्वमात्मन्यकलङ्कात्मा देहस्तव न कश्चन ॥ १ ॥
यः कुण्डबदरन्यायो या घटाकाशसंस्थितिः ।
तत्रैकस्मिन् क्षते क्षीणे द्वे इति व्यर्थकल्पना ॥ २ ॥**

७२

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—आप देह के उत्पन्न होने पर न तो उत्पन्न होते हैं और न देह के विनष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि अपने स्वरूप में आप किसी तरह के कलङ्क से कलङ्कित नहीं हैं कारण स्व-स्वरूप से आप विशुद्ध हैं, अतः आपकी देह कोई चीज नहीं है ॥ १ ॥

हे श्रीराम जी, जो कुण्ड और बदर का (बेर के वृक्ष या फल का) न्याय है और जो घट और आकाश की मर्यादा है, वही यहाँ पर भी अवसर देह और आत्म-

विनाशिनि विनष्टेऽस्मिन् देहे स्वां स्थितिमागते ।
विनश्यामीति यः खेदी तं धिगस्त्वन्धचेतसम् ॥ ३ ॥
यादृशो रश्मिरथयोः स्नेहोद्वेगविवर्जिते ।
सम्बन्धस्तादृशो देहचित्तेन्द्रियमुखैश्चितेः ॥ ४ ॥
गतेतरेतरापेक्षः सरःपङ्कामलाम्भसाम् ।
यथा राघव ! सम्बन्धस्तथा देहेन्द्रियात्मनाम् ॥ ५ ॥
यादृशोऽध्वा गताध्वानां निरास्थापरिदेवनः ।
संयोगो विप्रयोगश्च तादृशो देहदेहिनोः ॥ ६ ॥
यथा कल्पितवेतालविकारभयभीतयः ।
मिथ्यैव कल्पिता एते तथा स्नेहसुखादयः ॥ ७ ॥
भूतपञ्चकसंपिण्डाद् रचिता जनताः पृथक् ।
एकस्मादेव विटपाद् विचित्रा इव पुत्रिकाः ॥ ८ ॥
काष्ठेतरत्काष्ठभारे किञ्चिदन्यन्न दृश्यते ।
भूतपिण्डेतरद्देहे किञ्चिदन्यन्न दृश्यते ॥ ९ ॥
भूतपञ्चकविक्षोभनाशोत्पादेषु हे जनाः ।
हर्षामर्षविषादानां किं भवन्तो वशं गताः ॥ १० ॥
को नामाऽतिशयः पुंसां स्त्रीनाम्न्यपरनाम्नि च ।
पेलवे भूतसङ्घाते प्रोद्भूतजनपातवत् ॥ ११ ॥
संनिवेशांशवैचित्र्यमज्ञानामेव तुष्टये ।
तज्ज्ञानां तु यथाभूतभूतपञ्चकदर्शनम् ॥ १२ ॥
मिथः शिलापुत्रकयोर्यथैकोपलपुत्रयोः ।
श्लिष्टयोरपि नो रागस्तथा चित्तशरीरयोः ॥ १३ ॥

स्थल में भी समझनी चाहिए। आशय यह है कि जैसे 'कुण्डे में बेर', 'घटाकाश' इत्यादि व्यवहारों में कुण्डे और बेर का तथा घट और आकाश का सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर उनका तादात्म्य प्रतीत नहीं होता, वैसे ही 'मैं गोरा हूँ' इत्यादि व्यवहार से शरीर और आत्मा का तादात्म्य प्रतीत होता है, पर वास्तव में वह नहीं है। ऐसी स्थिति में एक कुण्ड या घट के नष्ट हो जाने पर कुण्ड और बदर तथा घट और आकाश दोनों भी नष्ट हो गये, इस प्रकार की व्यर्थ कल्पना है ॥ २ ॥

नश्वर-स्वभाववाले इस देह के नष्ट हो जाने पर आत्मा अपनी सहज स्थिति को प्राप्त हो जाने पर 'देह का विनाश होने पर मैं नष्ट हो जाता हूँ' इस प्रकार की भावना से जो दुःखी होता है, उस अन्धबुद्धि को धिक्कार है ॥ ३ ॥

चिति का भी देह, चित्त, इन्द्रिय आदि के साथ सम्बन्ध प्रीति और द्वेष की योग्यता से वैसे ही रहित है जैसे घोड़े आदि की लगाम और रथ का सम्बन्ध प्रीति और द्वेष की योग्यता से रहित है ॥ ४ ॥

हे श्रीराघव ! देह, इन्द्रिय और आत्मा का भी सम्बन्ध किसी प्रकार के परस्पर के अनुराग से वैसे ही युक्त नहीं है जैसे सरोवर, तद्गत पङ्क और निर्मल जल का सम्बन्ध किसी प्रकार के परस्पर के अनुराग से युक्त नहीं है ॥ ५ ॥

देह और देही का संयोग और वियोग अहन्ता-ममताभिमान एवं वियोग-जनित विलाप से वैसे ही वर्जित है जैसे मार्ग बटोहियों के संयोग और वियोग की अवस्था में अहन्ता और ममता के अभिमान एवं परिदेवन से अर्थात् उसके वियोग से जनित विलाप से वर्जित है ॥ ६ ॥

ये कल्पित स्नेह, सुख आदि वैसे ही मिथ्या ही हैं जैसे कल्पित वेताल के कराल वदन आदि विकारों से जनित प्राथमिक भय के पुनः पुनः स्मरण से बालक को होने वाली भीतियाँ मिथ्या ही हैं ॥ ७ ॥

पाँच भूतों के सङ्घात से विभिन्न-विभिन्न जन-समूह वैसे ही बनाये गये हैं जैसे एक ही वृक्ष से विलक्षण विलक्षण पुतलियाँ (मूर्तियाँ) बनाई जाती हैं ॥ ८ ॥

पृथ्वी, जल, तेज आदि पाँच भूतों के शरीर में पाँच भूतों के पिण्ड के सिवा और कुछ भी वैसे ही नहीं दिखाई पड़ता जैसे लकड़ियों के बोझे में लकड़ियों के सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता ॥ ९ ॥

हे मनुष्यो ! तुम लोग पाँच भूतों का क्षोभ, नाश और उत्पत्ति होने पर हर्ष, अमर्ष और विषाद के वश में क्यों हो जाते हो ? ॥ १० ॥

जिसका स्त्रीनामक तुच्छ भूतों के समूह में अर्थात् स्त्री-शरीरात्मक पाँच भूतों के पिण्ड में पुरुषों को ऐसा कौन विशेष प्रतीत होता है, जिससे कि उनकी अग्नि में फतिङ्गे की तरह विषयाग्नि में व्यामोह और राग से दृश्यमान गिरने की चेष्टा युक्तिसङ्गत कही जाय ॥११॥

सुकुमार और सुन्दर अवयवों से संनिवेश अंश को लेकर वैलक्षण्य का उपपादन करना तो केवल अज्ञानियों के लिए ही सन्तोष का विषय हो सकता है, पर तत्वज्ञ को उसमें उपस्थित पाँच भूतों का ही दर्शन होता है ॥ १२ ॥

चित्त और शरीर के आलिङ्गित होने पर भी वैसे ही राग नहीं होता है जैसे एक पत्थर से उत्पन्न हुई दो पाषाण-प्रतिमाओं के परस्पर आलिङ्गित होने पर भी राग नहीं होता ॥ १३ ॥

मृत्पुंसां यादृशोऽन्योन्यमाशयः सङ्गमे भवेत् ।
बुद्धीन्द्रियात्ममनसां सङ्गमे तादृशोऽस्तु ते ॥ १४ ॥
नाऽन्योन्यस्नेहसम्बन्धभाजनं शैलपुत्रकाः ।
देहेन्द्रियात्मप्राणाश्च कस्याऽत्र परिदेवना ॥ १५ ॥
इतश्चेतश्च जातानि यथा संश्लेषयन्त्यलम् ।
तरङ्गास्तृणजालानि तथा भूतानि देहदृक् ॥ १६ ॥
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तृणान्यब्धिजले यथा ।
मुक्तान्तःकलनं देहे भूतान्यात्मनि वै तथा ॥ १७ ॥
आत्मा चित्ततया देहभूतान्याश्लेषयन् स्थितः ।
तृष्णान्यावृत्तवृत्तान्तकलनोत्सिक्तमब्धिवत् ॥ १८ ॥
प्रबोधाच्चेत्यतां त्यक्त्वा व्रजत्यात्माऽऽत्मतां स्वयम् ।
स्वस्पन्दवशतो वारि त्यक्त्वाऽच्छत्वमिवाऽच्छताम् ॥ १९ ॥

बुद्धि, इन्द्रिय, आत्मा और मन का समागम होने पर भी वैसे ही आप का ममता आदि से शून्य भाव हो जैसे मिट्टी से बनाई गई प्रतिमाओं का समागम होने पर भी उनका परस्पर ममता आदि से शून्य भाव होता है ॥ १४ ॥

देह, इन्द्रिय, आत्मा और प्राण भी परस्पर स्नेह-सम्बन्ध के भाजन नहीं हैं, वैसे ही जैसे पत्थर की बनाई गई प्रतिमाएँ परस्पर स्नेह-सम्बन्ध की भाजन नहीं हैं, अतः उनमें से किसके विषय में यहाँ शोक किया जाय ॥ १५ ॥

आत्मा भिन्न-भिन्न प्रदेश में उत्पन्न भूतों को वैसे ही एकत्र करता है जैसे यत्र तत्र भिन्न भिन्न प्रदेश में उत्पन्न हुए तिनकों को तरङ्गें पर्याप्त रूप से एकत्र करती हैं ॥ १६ ॥

रागाभिमान से विनिर्मुक्ततापूर्वक ही पुत्र, पशु आदि प्राणी अथवा पृथ्वी आदि भूत स्वनिर्मित देह में या स्वाधिष्ठान आत्मा में एक दूसरे से वैसे ही मिल जाते हैं और पृथक् हो जाते हैं जैसे समुद्र के जल में तृण एक दूसरे से मिल जाते हैं और पृथक् हो जाते हैं ॥ १७ ॥

आत्मा भी चित्ताकृति को प्राप्तकर देह, भूत आदि को वैसे ही बटोरता हुआ रहता है जैसे सागर आवर्ताकार की कल्पना से वृद्धिगत आकार को प्राप्तकर तृण, काठ आदि पदार्थों को बटोरता हुआ रहता है ॥ १८ ॥

आत्मा प्रबोध से विषयरूपता का परित्याग की स्वयं वैसे ही आत्मरूपता को प्राप्त करता है जैसे जल अपनी स्पन्दन क्रिया से ही मलिनता का परित्याग कर स्वयं ही स्वच्छता को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

ततो विश्लिष्टभूतौघो देहं सम्प्रति पश्यति ।
वायुस्कन्धगतो जन्तुर्वसुधामण्डलं यथा ॥ २० ॥
पृथक् भूतगणं दृष्ट्वा देहातीतो भवत्यजः ।
परं प्रकाशमायाति सूर्यकान्तिरिवाऽह्नि ॥ २१ ॥
जानात्यथाऽऽत्मनाऽऽत्मानं मानमेयामयोज्झितम् ।
मुक्तक्षीबतयेवाऽन्तः स्वां संविदमनुस्मरन् ॥ २२ ॥
आत्मैव स्पन्दते विश्वं वस्तुजातैरिवोदितम् ।
तरङ्गकणकल्लोलैरनन्ताम्ब्वम्बुधाविव ॥ २३ ॥
एवंप्रायमहाबोधा वीतरागा गतैनसः ।
जीवन्मुक्ताश्चरन्तीह महासत्वपदं गताः ॥ २४ ॥
यथा चरन्ति विविधैर्मणिरत्नैर्महोर्मयः ।
निरस्तवासनाश्चित्तव्यवहारैस्तथोत्तमाः ॥ २५ ॥

तदनन्तर जैसे कि वायु के कन्धे पर चढ़े हुए देव आदि भूमण्डल को देखते हैं वैसे ही प्रबोध काल में ही मन के द्वारा सम्पादित भूताश्लेष से विनिर्मुक्त होकर अपने देह को देखता है, ॥ २० ॥

भूतसमूह को अपने से पृथक् देखकर अविनाशी आत्मा देहातीत हो जाता है वैसे ही वह परम प्रकाशित होता है जैसे सूर्यकान्ति दिवस में परम प्रकाशित होती है ॥ २१ ॥

अनन्तर आत्मा अपने ही से अपने प्रमाणप्रमेयरूपी विकारों से विनिर्मुक्त स्वरूप को वैसे ही जान लेता है जैसे मद्य के मद से मत्त हुआ पुरुष मद के निकल जाने पर भीतर अपने पूर्व विज्ञान का स्मरण करता है ॥ २२ ॥

उसी प्रकार मानो आत्मा ही समस्त वस्तुओं से उदित हुए विश्व के रूप से वैसे ही प्रस्पन्दित होता है जैसे समुद्र में तरङ्गरूपी कणों के कल्लोलों से असीम जल प्रस्पन्दित होता है ॥ २३ ॥

रागशून्य पापरहित परब्रह्मपद को प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुष विशिष्ट विज्ञान से युक्त होकर इस संसारमण्डल में विचरण करते हैं ॥ २४ ॥

वासनावर्जित उत्तम महात्मा लोग भी चित्त के व्यवहारों से सम्बन्ध होने पर भी उनमें अनासक्ति के कारण ऊपर से वैसे ही व्यवहार करते हैं जैसे समुद्र की ऊर्मियाँ विविध श्रेष्ठ रत्नों से सम्बन्ध होने पर भी उनमें अनासक्ति के कारण सिलियों के टुकड़ों की भाँति ही व्यवहार करती हैं ॥ २५ ॥

न कूलकाष्ठैर्जलधिर्न रजोभिर्नभस्तलम् ।
न म्लायति निजैर्लोकव्यवहारैरिहाऽऽत्मवान् ॥ २६ ॥
गतैरभ्यागतैः स्वच्छैश्चपलैर्मलिनैर्जडैः ।
न रागो नाऽम्बुधेर्द्वेषो भोगैश्चाऽधिगतात्मनः ॥ २७ ॥
यन्मनो मननं किञ्चित्समग्रं जगति स्थितम् ।
तच्चेत्योन्मुखचित्तत्वविलासोल्लसनं विदुः ॥ २८ ॥
यदहं यच्च भूतादि कालत्रितयभावि यत् ।
दृश्यदर्शनसम्बन्धविस्तारैस्तद्विजृम्भते ॥ २९ ॥
यद् दृश्यं तदसत्सद्वा दृष्टिमेकामुपाश्रितम् ।
अन्यत्त्वलेपकं तस्माद् हर्षशोकदृशौ कुतः ॥ ३० ॥

जिसने अपनी आत्मा को भली प्रकार पहचान लिया है, ऐसा आत्मज्ञानी पुरुष इस संसार में निजी लौकिक व्यवहारों से वैसे ही म्लान नहीं होता है जैसे तीर और काष्ठों से समुद्र म्लान नहीं होता तथा जैसे रजःकणों से आकाश म्लान नहीं होता ॥ २६ ॥

तत्त्वज्ञानी को गत, अभ्यागत, स्वच्छ, मलिन, जड़ एवं चञ्चल भोगों से राग और द्वेष वैसे ही नहीं होता है जैसे समुद्र को गत, आगत, स्वच्छ, चपल, मलिन एवं जड़ तरङ्गों से राग और द्वेष नहीं होता है ॥ २७ ॥

इस जगत् में विद्यमान मन, मनन सब विषयोन्मुखता को प्राप्त चित्तत्त्व के विलास का एक उल्लास है, इस प्रकार तत्त्वज्ञ पुरुष हैं, इसलिए उनको किसी से राग या द्वेष नहीं होता है ॥ २८ ॥

तीनों कालों में उत्पन्न होने वाली जो अहम्, भूत आदि तथा वस्तुएँ दृश्य और दर्शन के सम्बन्धों से दिखाई पड़ती हैं, वे सब केवल मन का ही विस्तार है, मन की कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है ॥ २९ ॥

दृष्टिस्वरूप साक्षीभूत आत्मा के द्वारा सिद्ध दृश्य पदार्थ असत् है या सत् है ? इस विषय का अभीतक निर्णय न हो सकने के कारण दृश्य हर्ष और शोक के लिए अयोग्य ही है और दूसरा स्वतःसिद्ध जो साक्षीरूप आत्मा है, वह तो असङ्ग है, इसलिए उत्पन्न हर्ष और शोक से वह सम्बद्ध नहीं होता, अतः दृक् और दृश्य दोनों को सत् या असत् मानने पर भी हर्ष-शोक की संभावना नहीं है ॥ ३० ॥

असत्य वस्तु तो असत्य ही है उसके लिये हर्ष शोक व्यर्थ है । जो सत्य वस्तु है, वह सत्य वस्तु सदा-सर्वदा प्राप्त ही है, इसलिए ऐसी वस्तु के विषय में लाभ-प्रयुक्त

असत्यमेवाऽसत्यं हि सत्यं सत्यं सदेव हि ।
सत्यासत्यमसद्विद्धि तदर्थं किं नु मुह्यसि ॥ ३१ ॥
असम्यग्दर्शनं त्यक्त्वा सम्यक् पश्य सुलोचन ! ।
न क्वचिन्मुह्यति प्रौढः सम्यग्दर्शनवानिह ॥ ३२ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धविस्तारैस्तद्विजृम्भते ।
दृश्यदर्शनसम्बन्धे यत्सुखं पारमात्मिकम् ।
अनुभूतिमयं तस्मात् सारं ब्रह्मेति कथ्यते ॥ ३३ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धे सुखसंविदनुत्तमा ।
ददात्यज्ञाय संसारं ज्ञाय मोक्षं सदोदयम् ॥ ३४ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धसुखमात्मवपुर्विदुः ।
तद् दृश्यवलितं बन्धस्तन्मुक्तं मुक्तिरुच्यते ॥ ३५ ॥

हर्ष और हानि-प्रयुक्त शोक ये कैसे हो सकते हैं ? सत्यासत्य एक वस्तु हो ही नहीं सकती, कारण कि एक वस्तु में सत्यत्व और असत्यत्व ये दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते हैं । ऐसी स्थिति में जगत् में हर्ष-शोक-योग्य किसी वस्तु के न रहने से उसके लिए आपको शोक करना व्यर्थ ही है ॥ ३१ ॥

हे सुन्दर नेत्र वाले ! मिथ्या दर्शनरूपी भ्रम को छोड़कर आप यथार्थ वस्तु को प्राप्त करें । जब मनुष्य यथार्थ ज्ञान से युक्त होकर प्रौढ बन जाता है, तब इस संसार में कहीं पर भी उसे मोह प्राप्त नहीं होता है ॥३२॥

रम्य विषय और इन्द्रियजनित वृत्तियों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अपनी आत्मा में उत्पन्न परमात्मास्वरूप सुख रम्य विषय और इन्द्रियों के परस्पर सम्बन्ध के विस्तार से प्रकाशित होता है । इसलिए अनुभूति-स्वरूप सुख ब्रह्म ही कहा जाता है ॥ ३३ ॥

विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होनेपर सर्वोत्तम सुखानुभूति होती है और वही अज्ञानी पुरुष को संसार प्रदान करती है और वही तत्त्वज्ञज्ञानी पुरुष को सर्वोत्तम सदा उदयस्वरूप मोक्ष प्रदान करती है अर्थात् विषयाकार वृत्ति से आस्वादित सुख विषयों में राग-द्वेष आदि दोषों का उद्भावन कर संसार देता है और विषयों का विवेक कर अखण्ड अद्वितीय आत्मभाव से गृहीत सुख मोक्ष देता है ॥ ३४ ॥

रम्य विषयों का और इन्द्रियवृत्तियों का परस्पर सम्बन्ध होनेपर उत्पन्न होने वाला सुख आत्मस्वरूप ही है, ऐसा महात्मा का कहना है । वह सुख विषयसङ्ग से युक्त होनेपर संसार कहलाता है और विषयसङ्ग से विनिर्मुक्त होनेपर मुक्ति कहलाती है ॥ ३५ ॥

दृश्यदर्शनसम्बन्धसुखसंविदनामया ।
क्षयातिशयमुक्ता चेत्तन्मुक्तिः सोच्यते बुधैः ॥ ३६ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धे याऽनुभूतिः स्वगोचरा ।
दृश्यदर्शननिर्मुक्ता तामालम्ब्य भवाभवः ॥ ३७ ॥
सौषुप्ती दृष्टीरेषा हि यात्येवं संप्रकाशते ।
एवं च याति तुर्यत्वमेवं मुक्तिरिति स्मृता ॥ ३८ ॥
दृश्यदर्शनमुक्तायां युक्तायां परया धिया ।
दृश्यदर्शनसम्बन्धसंविदस्यां तु राघव ! ॥ ३९ ॥
नाऽऽत्मा स्थूलो न चैवाऽणुर्न प्रत्यक्षो न चेतरः ।
न चेतनो न च जडो न चैवाऽऽसन्न सन्मयः ॥ ४० ॥
नाऽहं नाऽन्यो न चैवैको नाऽनेको नाऽप्यनेकवान् ।
नाऽभ्याशस्थो न दूरस्थो नैवाऽस्ति न च नाऽस्ति च॥४१

विद्वानों का कहना है कि दुःखरूपी बीमारी से वर्जित दृश्य और ऐन्द्रियक वृत्तियों के सम्बन्ध से जनित सुखानुभव, यदि क्षय और अतिशय से अर्थात् पुण्य के तारतम्य से उत्पन्न वृत्तिनाश और वृत्तिवैशद्य के उत्कर्ष होनेवाले क्षय और अतिशय से शून्य हो जाय, तो वह मुक्तिस्वरूप हो जताा है ॥ ३६ ॥

दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध से होनेवाली अखण्डपूर्णानन्दस्फुरण-स्वरूप दृश्य और दर्शन से वर्जित सुखानुभूति अवलम्बन करने से संसार की अनुत्पत्ति होती है ॥ ३७ ॥

अखण्ड-पूर्णानन्द-स्फुरणात्मक सुखानुभूति का अवलम्बन करने पर आत्मस्वरूप को आवृत करने वाली सौषुप्ती दृष्टि का विच्छेद हो जाता है और आत्मस्वरूप-दृष्टि प्रकाशित रहती है। उसी दृष्टि का अवलम्बन करने पर तुर्यावस्था प्राप्त होती है और उसी के अवलम्बन से मुक्ति कही जाती है ॥ ३८ ॥

हे श्रीराघव ! दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध से निर्मुक्त और परम बुद्धि से युक्त यह स्वरूप दृष्टि होने पर दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध के असली तत्त्व को जानकर पुरुष तुर्यावस्था को प्राप्त होता है अर्थात् तुर्यत्वरूपा मुक्ति में आत्मा का जो स्वरूप रहता है ॥ ३९ ॥

तुर्यतारूप मुक्ति में आत्मा न तो स्थूल रहता है, न अणु रहता है, न प्रत्यक्षात्मक वृत्ति का विषय रहता है, न चैतन्ययुक्त रहता है, न जड़ रहता है, न असत् ही रहता है और न अस्तित्वरूप भावविकार से युक्त रहता है ॥ ४० ॥

उक्त अवस्था में आत्मा न अहंरूप रहता है, न अन्य-

न प्राप्यो नाऽति चाऽप्राप्यो न वा सर्वो न सर्वगः ।
न पदार्थो नाऽपदार्थो न पञ्चात्मा न पञ्च च ॥ ४२ ॥
यदिदं दृश्यतां प्राप्तं मनःषष्ठेन्द्रियास्पदम् ।
तदतीतं पदं यत्स्यात्तन्न किञ्चिदिवेह तत् ॥ ४३ ॥
यथाभूतमिदं सम्यग्ज्ञस्य संपश्यतो जगत् ।
सर्वमात्ममयं विश्वं नाऽस्त्यनात्ममयं क्वचित् ॥ ४४ ॥
काठिन्यद्रवणस्पन्दखावकाशावलोकनैः ।
आत्मैव सर्वं सर्वेषु भूवार्यनिलखाग्निषु ॥ ४५ ॥
सत्तैवाऽस्ति न वस्तूनां या या राम ! चित्ता विना ।
व्यतिरिक्तं ततोऽस्मीति विद्धि प्रोन्मत्तजल्पितम् ॥४६॥
एको जगन्ति सकलानि समस्तकाल-
कल्पक्रमान्तरगतानि गतागतानि ।

स्वरूप रहता है, न एकत्व संख्या से युक्त रहता है, न अनेकत्व से युक्त रहता है, न समीप में रहता है, न दूर में रहता है, न सत्ताश्रय रहता है और न सत्ताश्रयत्वाभाव से युक्त रहता है ॥ ४१ ॥

तुर्यावस्था में आत्मा न तो प्राप्य है, न अप्राप्य है, न सर्वात्मक है, न व्यापक है, न पदों का वाच्य है, न तो पदों का अवाच्य है, न पाँच भूतों का है और न पाँच भूतों के स्वरूपभूत ही है ॥ ४२ ॥

मन के साथ चक्षु आदि छः इन्द्रियों का विषय इस दृश्य प्राप्त जगत् का अतिक्रमण करने वाला जो पद होगा, वह इस जगत् में विद्यमान किसी दृश्य पदार्थ के स्वरूप में नहीं हो सकता है, किन्तु स्वस्वरूप ही हो सकता है ॥ ४३ ॥

जिस प्रकार का यह जगत् है, उस प्रकार के इस जगत् को भली-भाँति जानने वाले पुरुष के लिए यह समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही है, कहीं भी आत्मस्वरूप से रहित वस्तु नहीं है ॥ ४४ ॥

यह आत्मा ही अपने स्वरूप में काठिन्य, द्रवता, स्पन्द, आकाशरूपी अवकाश और प्रकाश के अवलोकनों से क्रमशः पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेजरूप जगत् भावों में विद्यमान है ॥ ४५ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वस्तुओं की सत्ता आत्मा के प्रकाश के सिवा दूसरी वस्तु नहीं है, इसलिए मैं आत्मप्रकाश से व्यतिरिक्त हूँ, यह उसका कहना उन्मत्त की तरह जल्पनमात्र ही है, यह आप समझे ॥ ४६ ॥

हे महात्मन् ! समस्त काल और असीम कालक्रमों के बीच में प्रविष्ट अनेक जगत् तथा उन अनेक जगतों में

आत्मैव नेतरकलाकलनाऽस्ति काचि- दित्थंमतिर्भव तयाऽतिगतो महात्मन् ! ।।४७।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे मोक्षस्वरूपोपदेशो नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ।। ७२ ।।

जीव के नैकविध संसार—यह सब एक आत्मा ही है, इसको छोड़ और कोई दूसरी काल की गणना है ही नहीं, अतः आप पहले इस प्रकार की बुद्धि से युक्त होकर उक्त बुद्धि अर्थात् तत्त्वदर्शन से इस संसार से अपना छुटकारा पायें ।। ४७ ।।

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में मोक्षस्वरूपोपदेश नामक कुसुमलता का बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।। ७२ ।।

७३

वसिष्ठ उवाच

एवंविचारया दृष्ट्या द्वैतत्यागेन राघव ! ।
स्वभावः प्राप्यते तज्ज्ञैस्तज्ज्ञैश्चिन्तामणिर्यथा ।। १ ।।
अथेमामपरां दृष्टिं शृणु रामाऽनया यथा ।
दृश्यस्याऽऽत्मानमचलं भविष्यसि च दिव्यदृक् ।। २ ।।
अहं खमहमादित्यो दिशोऽहमहमप्यधः ।
अहं दैत्या अहं देवा लोकाश्चाऽहमहं महः ।। ३ ।।
अहं तमोऽहमभ्राणि भूः समुद्रादिकं त्वहम् ।
रजो वायुरथाऽग्निश्च जगत्सर्वमिदं त्वहम् ।। ४ ।।
जगत्त्रयेऽहं सर्वत्र य आत्मैव किलाऽऽस्थितः ।
कोऽहं किमन्यद्देहादि द्वित्वमेकस्य कीदृशम् ।। ५ ।।
इति निश्चयवानन्तर्भूतमात्मतया जगत् ।
पश्य हर्षविषादाभ्यां नाऽवशः परिभूयसे ।। ६ ।।
तन्मयेऽस्मिन् किल जगत्यखिले संस्थितेऽनघ ! ।
किमात्मीयं परं किं स्यात् कमलेक्षण ! कथ्यताम् ।।७।।
किं तज्ज्ञव्यतिरेकेण विद्यते यदुपागतम् ।
हर्षमेतु विषादं वा विषादेऽज्ञो जगन्मयः ।। ८ ।।

७३

श्री वसिष्ठजी ने कहा—पूर्वोक्त विचारात्मक दृष्टि से द्वैत का परित्याग कर आत्मा के स्वरूप को जानने वाले तत्त्ववित् महात्मा वैसे ही स्वस्वरूपावस्थितिरूप मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं जैसे चिन्तामणि के स्वरूप को जानने वाले देवता चिन्तामणि को प्राप्त कर लेते हैं ।। १ ।।

हे श्रीराम जी ! अब आप इस द्वितीय दृष्टि का श्रवण करें, इसका श्रवण करने से आप अविचल अपने आत्मा का साक्षात्कार कर दिव्य दृष्टि से सम्पन्न हो जायेंगे ।। २ ।।

मैं आकाश हूँ, मैं आदित्य हूँ, मैं दिशाएँ हूँ, मैं अधः हूँ, मैं ऊर्ध्व हूँ, मैं दैत्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं लोक हूँ और मैं चन्द्र आदि की प्रभा हूँ। मैं अन्धकार हूँ, मैं मेघ हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं समुद्र आदि हूँ तथा रेणु, वायु, अग्नि एवं यह समस्त जगत् मैं ही हूँ ।। ३-४ ।।

तीनों लोकों में सब जगह स्वरूपभूत जो आत्मा अवस्थित है, वह मैं ही हूँ। सर्वात्मक स्वरूप से भिन्न परिच्छिन्न मैं कौन हूँ ? अर्थात् मैं कभी परिच्छिन्न नहीं हो सकता हूँ। देह आदि भी मुझसे भिन्न कौन हैं ? एक अद्वितीय वस्तु में द्वित्व अर्थात् स्वरूपगतभेद कैसे हो सकता है ? ।। ५ ।।

इस प्रकार विचार कर आप निश्चयात्मक ज्ञान से युक्त हो जायें अनन्तर आत्मा के भीतर रहने वाले जगत् को स्वस्वरूपभूत में देखें। जगत् को स्वस्वरूपभूत देखने के अनन्तर आप हर्ष और विषाद से पराजित नहीं होंगे ।। ६ ।।

हे कमलेक्षण ! हे पाप ! इस समस्त जगत् के आत्म-स्वरूप से अवस्थित हो जाने पर क्या अपना और क्या पराया रहेगा ? यह आप मुझसे कहें ।। ७ ।।

तत्त्वज्ञ से भिन्न ऐसी कौन वस्तु है, जिसकी प्राप्ति के बाद वह तन्निबन्धन हर्ष और विषाद से ग्रस्त हो जाय। यदि उसको ऐसी वस्तु के आ जाने से विषाद दिखाई पड़े तो वह तत्त्वज्ञ ही नहीं है, क्योंकि ऐसा पुरुष जगन्मय ही होता है, चिन्मय नहीं ।। ८ ।।

अहङ्कारदृशावेते सात्त्विके द्वेऽतिनिर्मले ।
तत्त्वज्ञानात् प्रवर्तेते मोक्षदे पारमार्थिके ॥ ९ ॥

परोऽणुः सकलातीतरूपोऽहं चेत्यहङ्कृतिः ।
प्रथमा सर्वमेवाऽहमित्यन्योक्ता रघूद्वह ! ॥ १० ॥

अहङ्कारदृगन्या तु तृतीया विद्यतेऽनघ ! ।
देहोऽहमिति तां विद्धि दुःखायैव न शान्तये ॥ ११ ॥

अथ चैतत्त्रयमपि त्यक्त्वा सकलसिद्धये ।
यच्छेषं तदुपालम्ब्य तिष्ठाऽवष्टब्धतत्परः ॥ १२ ॥

सर्वातीतस्वरूपोऽपि सर्वसत्तातिगोऽपि च ।
असत्तापूरितजगदस्त्येवाऽऽत्मा प्रकाशकः ॥ १३ ॥

स्वानुभूत्यैव पश्याऽऽशु स एवाऽसि सदोदितः ।
साशयं हृकयग्रन्थिं त्यज तत्त्वविदांवर ! ॥ १४ ॥

दो अहंकार की दृष्टियाँ सात्त्विक और अत्यन्त र्मल हैं, उनकी तत्त्वज्ञान से प्रवृत्ति होती है, वे मोक्ष देने वाली तथा पारमार्थिक हैं ॥ ९ ॥

हे रघुकुलश्रेष्ठ ! पहली अहंकार-दृष्टि सबसे परे ाकाश की तरह स्थूलस्वभाववर्जित, जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं से युक्त तथा दृश्यों से शून्य 'मैं हूँ' इस प्रकार की है और दूसरी 'सभी कुछ मैं हूँ' इस प्रकार की है ॥ १० ॥

हे पापशून्य एक तीसरी अहंकार दृष्टि स्वभावतः ही, न कि शास्त्रतः, चली आ रही है। उसका स्वरूप है—'देह मैं हूँ' । इस दृष्टि को आप केवल दुःखदायक ही जानें, न कि विश्रान्तिदायक ॥ ११ ॥

अब आप इन तीनों अहंकारों को भी छोड़कर अवशिष्ट रहने वाला अहंभावनाशून्य पूर्ण चित्स्वभाव का अवलम्बन कर उसी अवलम्बन योग्य वस्तु में निरत होकर अवस्थित रहे ॥ १२ ॥

आत्मा शोधन द्वारा अखिल प्रपञ्चस्वरूप से निर्मुक्त तथा बाध के द्वारा समस्त पदार्थों की सत्ता का अतिक्रमण करने वाला जगत् के बाधस्वरूप उपाय के द्वारा निखिल जगत् को पूर्ण करने वाला सबका प्रकाशक यह आत्मा है ॥ १३ ॥

हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ ! अपनी ही अनुभूति से शीघ्र देखें कि आप सदा-सर्वदा उदित-स्वभाव परब्रह्मस्वरूप ही हैं, अतः आप देह आदि की वासनाओं से युक्त अहंकारतादात्म्याध्यास का परित्याग करें ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! आत्मा न तो अनुमान से अभिव्यक्त

नाऽऽत्माऽस्त्यनुमया राम ! न चाऽऽप्तवचनादिना ।
सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः ॥ १५ ॥

यदिदं स्पर्शनं स्पन्दं किञ्चिद्यत्संविदाद्यपि ।
तत्सर्वमात्मा भगवान् दृश्यदर्शनवर्जितः ॥ १६ ॥

न सन्नाऽसन्नसौ देवो नाऽऽणुर्नाऽपि महानसौ ।
नाऽप्येतयोर्दृशोर्मध्यं स एवेदं च सर्वतः ॥ १७ ॥

स एव चैवं वदति स च वक्तुं न युज्यते ।
न तदन्यदिदं तात ! पश्याऽऽत्मानमनामयम् ॥ १८ ॥

नाऽऽत्माऽयमयमप्यात्मा संज्ञाभेद इति स्वयम् ।
तेनैव सर्वगतया शक्त्या स्वात्मनि कल्पितः ॥ १९ ॥

संस्थितः स हि सर्वत्र त्रिषु कालेषु भास्वरः ।
सूक्ष्मत्वात् सुमहत्वाच्च केवलं न विभाव्यते ॥ २० ॥

होता है और न आप्तवचन आदि से स्फुट होता है, किन्तु वह सर्वदा सब प्रकार से केवल अनुभव से ही प्रत्यक्ष स्फुट होता है ॥ १५ ॥

बाह्य और आन्तर विषयों में अन्तःकरण की वृत्ति सम्बन्ध से अभिव्यक्त होनेवाला जो अर्थप्रकाशरूप साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान प्रसिद्ध है और जो अनुमिति, उपमिति और शाब्दज्ञान आदि भी प्रसिद्ध हैं, वह सब, विषय और अन्तःकरणवृत्तिरूप उपाधि के परित्याग से अपरोक्ष आत्मरूप से ही अवशिष्ट रहते है ॥ १६ ॥

यह प्रकाशात्मक आत्मदेव न तो सत् और न असत् है, न अणु है और न महान् है, न सत् और असत् की दृष्टि के मध्य में सत्यासत्य है, किन्तु वही प्रकाशात्मस्वरूप देव इस दृश्यमान समस्त जगत् का स्वरूपभूत है ॥ १७ ॥

आत्मा ही इस प्रकार बोलता है, परन्तु वह कहा नहीं जा सकता । ये वाक् आदि और उनसे व्यवहृत होनेवाले पदार्थ आत्मा से अतिरिक्त नहीं हैं, आप आत्मा को अविकारी ही देखें ॥ १८ ॥

यह आत्मा है और यह आत्मा नहीं है, इस प्रकार के आत्मा ने ही अपने में अपनी सर्गगत माया शक्ति से कल्पना की है ॥ १९ ॥

वह प्रकाशमान परमात्मा तीनों कालों में सब जगह अवस्थित है, वह सदा नित्य, स्वप्रकाश, पूर्ण एवं अपरोक्षस्वभाव होने पर भी सूक्ष्म और व्यापक होने के कारण स्थूल-विषयों में आसक्त बुद्धि वाले पुरुष उसका परिज्ञान नहीं कर सकते ॥ २० ॥

सत्स्वनन्तपदार्थेषु जीवत्वेनाऽभिबिम्बति ।
आत्मा पुर्यष्टकादर्शे स्वभाववशतः स्वतः ।। २१ ।।
पुर्यष्टकोदयादेव स्वयमात्माऽनुभूयते ।
सर्वदा सर्वसंस्थः खे घनास्पन्दादिवाऽनिलः ।। २२ ।।
चिदात्मा सर्वगो व्यापी न क्वचिन्नाम संस्थितः ।
यद्वत् सर्वपदार्थानां सत्ता तद्वन्महेश्वरः ।। २३ ।।
सति पुर्यष्टके तस्मिञ्जीवः स्फुरति नोपले ।
सति वायाविव रजः सति दीप इवेक्षणम् ।। २४ ।।
इयं पुर्यष्टके स्वेच्छा स्वात्मन्येवाऽऽत्मनि स्थिते ।
सति स्फुरत्यभ्युदिते भानाविव जनैषणा ।। २५ ।।
यदि सूर्ये स्थिते व्योम्नि तादृशोचितसंस्थितिः ।
नश्यति व्यवहारोऽयं भास्करे तत्किमागतम् ।। २६ ।।
यद्यात्मनि स्थिते देवे तत्सत्तालब्धसंस्थितिः ।

सर्ग के क्रम से उत्पन्न भोग्य और भोगायतन आदि अनेक पदार्थों में पुर्यष्टकरूपी दर्पण में अपनी मायावश स्वतः आत्मा ही जीवरूप से प्रतिबिम्बित होती है ।।२१।।

पुर्यष्टक के उदय से ही सर्वदा सर्वत्र स्थिति स्वयं आत्मा 'अहम्' इस रूप से वैसे ही अभिव्यक्त किया जाता है। जैसे पंखे आदि के संयोग से आकाश में सर्वदा सर्वत्र स्थित वायु अभिव्यक्त किया जाता है ।। २२ ।।

महेश्वर चित्स्वरूप परमात्मा भी वैसे ही सर्वत्र विद्यमान है तथा व्यापी है, जैसे सब पदार्थों का अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है, वह कहीं एक जगह पर ही यानी किसी एक देह में ही नहीं रहता है ।। २३ ।।

पुर्यष्टक के होने पर ही उसमें जीव वैसे ही प्रस्फुरित होता है, न कि पत्थर में प्रस्फुरित होता है, जैसे वायु होने पर रजःकण प्रस्फुरित होते हैं, अथवा जैसे दीपक होने पर दर्शन प्रस्फुरित होता है ।। २४ ।।

पुर्यष्टक में परप्रेमास्पद् निरतिशयानन्दात्मक स्वात्मा के रहने पर ही यह स्वेच्छाप्रीति और विचित्र भोगों की इच्छा वैसे ही प्रस्फुरित होती है। जैसे आकाश में सूर्य के रहने पर ही सब मनुष्यों को तत्-तत् क्रिया से होने वाले फलों की अभिलाषा प्रस्फुरित होती है ।। २५ ।।

आकाश में सूर्य के स्थिति होने पर तत्-तत् इच्छा फल में अनुरूप स्थिति रहने वाला यह व्यवहार यदि विनष्ट हो जाता है, तो उससे सूर्य में क्या आया ? ।। २६ ।।

स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा के अवस्थित होने पर

देहो नाशमुपायाति तत्किं नष्टमिहाऽऽत्मनि ।। २७ ।।
न जायते न म्रियते नाऽऽदत्ते नाऽभिवाञ्छति ।
न मुक्तो न च बद्धोऽयमात्मा सर्वस्य सर्वदा ।। २८ ।।
आत्माप्रबोधाभ्युदिता निरात्मन्यात्मतां गता ।
सर्परज्जुभ्रमाकारा भ्रान्तिर्दुःखाय केवलम् ।। २९ ।।
अनादित्वान्न जातोऽयमजातत्वान्न नश्यति ।
आत्माऽऽत्मव्यतिरिक्तं तु नाऽभिवाञ्छत्यसंभवात् ।।३०।
दिक्कालाद्यनवच्छेदान्न बद्धोऽयं कदाचन ।
बन्धाभावे क्व मुक्तिः स्यादमोक्षस्तेन संस्थितः ।। ३१ ।।
एवंगुणविशिष्टोऽयमात्मा सर्वस्य राघव ! ।
अविचारवशान्मूढो लोकोऽयं परिरोदिति ।। ३२ ।।
सम्यगालोकिताशेषपूर्वापरजगत्क्रमः ।
मा शोकं गच्छ सुमते ! मौर्ख्योपगतलोकवत् ।। ३३ ।।

आत्मसत्ता से अपनी स्थिति को प्राप्त करने वाली देह यदि नष्ट हो जाती है, तो उससे आत्मा में क्या हुआ ? ।।२७।।

सबका यह आत्मा किसी समय न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न कुछ ग्रहण करता है, न कुछ चाहता है, न मुक्त होता है और न बद्ध होता है ।। २८ ।।

आत्मा के अप्रबोध से उत्पन्न, आत्मशून्य वस्तु में आत्मभाव को प्राप्त हुई, रज्जु में सर्प-भ्रम के समान, भ्रान्ति केवल दुःख के लिए ही है ।। २९ ।।

यह आत्मा न कभी भी उत्पन्न हुआ, क्योंकि इसका कोई आदि कारण नहीं है, और यह नष्ट भी नहीं होता है, अतः उसकी उत्पत्ति नहीं हुई है। वह आत्म-भिन्न वस्तु की कभी-भी अभिलाषा नहीं करता है, क्योंकि आत्मा से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं ।। ३० ।।

यह आत्मा दिशा या काल से परिच्छिन्न नहीं है, अतः कभी-भी बद्ध नहीं होता है, बन्ध के होने पर मोक्ष कहाँ से होगा, इससे वास्तव में आत्मा का अमोक्ष ही स्थित है ।। ३१ ।।

हे राघव ! मैंने पहले जो आत्मा के गुण बताये हैं, उन गुणों से युक्त ही यह आत्मा सब का है, इसलिए यह सब लोग अविचार से जनित मोह को प्राप्त होकर चारों ओर रो रहे हैं ।। ३२ ।।

हे सुमते ! मेरे वचनों से आपने जगत् की पूर्वापर रचना का निःशेषरूप से भली-भाँति परिज्ञान कर लिया है, अतः मूर्खता को प्राप्त मनुष्यों की तरह आप शोक न करें ।। ३३ ।।

द्वे एव कलने त्यक्त्वा मोक्षबन्धात्मिके यथा ।
विदुषा व्यवहर्तव्यं यन्त्रेणेवाऽऽत्ममौनिना ॥ ३४ ॥

न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले ।
मोक्षो हि चेतो विमलं सम्यग्ज्ञानविबोधितम् ॥ ३५ ॥

सकलाशास्वसंसक्त्या यस्स्वयं चेतसः क्षयः ।
स मोक्षनाम्ना कथितस्तत्त्वज्ञैरात्मदर्शिभिः ॥ ३६ ॥

यावत्प्रबोधो विमलो नोदितस्तावदेव सः ।
मौर्ख्याद्दीनतया राम ! भक्त्या मोक्षोऽभिवाञ्छ्यते॥ ३७॥

परं प्रबोधमासाद्य चित्ते चित्तत्त्वतां गते ।
दश मोक्षा न वाञ्छ्यन्ते किमुतैको हि मोक्षकः ॥३८॥

अयं मोक्षस्त्वयं बन्धः पेलवां कलनामिति ।
परित्यज्य महात्यागी स त्वमेव भवाऽभव ! ॥ ३९ ॥

परिगलितविकल्पनां प्रयातः
सगरसुतौघनिखामेखलाङ्कम् ।
अवनिवलयमन्तरस्तसङ्ग-
श्चिरमनुपालय सर्वदोदितश्रीः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
स्वात्मविचारो नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

विद्वान् को मोक्ष और बन्ध रूपी दोनों ही कल्पनाओं का परित्याग कर तथा स्वतः समस्त व्यापारों से शून्य होकर देह आदि से वैसे ही व्यवहार करना चाहिए। जैसे गेहूँ आदि को पीसने के लिए विनिर्मित जल-चक्की आदि के यन्त्र द्वारा गेहूँ आदि का पेषणप्रवृत्त होने पर पुरुष केवल संनिधि मात्र से उक्त कार्य को करता हुआ-सा पर स्वतः तो काम आदि व्यापारों से शून्य होकर स्थित रहता है ॥ ३४ ॥

मोक्ष न तो आकाश की पीठ के ऊपर है, न तो पाताल में है और न भूमि के तल पर है, किन्तु सम्यक् ज्ञान से चिन्मात्र स्वरूपता को प्राप्त निर्मल चित्त ही मोक्ष है ॥ ३५ ॥

इच्छा करने योग्य विषयों में अनसक्ति करने से अन्तःकरण की बोधात्मक वृत्ति से स्वयं क्षय हो जाता है, वही आत्मतत्त्व को जानने वाले तत्त्वज्ञों द्वारा मोक्ष शब्द से कहा जाता है ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी ! निर्मल आत्मा का प्रबोध का उदय न होने तक मूर्खता युक्त कार्पण्य से पुरुष नित्य-प्राप्त आत्मा में अप्राप्ति की कल्पना कर मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करता है ॥ ३७ ॥

सर्वातिशायी नित्य आत्मा के ज्ञान को प्राप्त कर चित्त पारमार्थिक चिन्मात्र स्वरूप को प्राप्त करता है, चाहे दस मोक्ष रहें, तो भी यह उनकी इच्छा नहीं करता, फिर स्वल्प एक मोक्ष को चाहेगा ही कैसे ? ॥ ३८ ॥

हे अभव ! यह मोक्ष है और यह बन्ध है, इस प्रकार की तुच्छ कल्पना का परित्याग कर महात्मा होकर उस मोक्ष रूप आप ही हो जायें ॥ ३९ ॥

समस्त कल्पनाओं के उच्छिन्न हो जाने पर ऐसी अवस्था को प्राप्त कर आप सगर के पुत्रों द्वारा खोदी गई पृथिवी-मण्डल का दीर्घ काल तक पालन करें, अर्थात् आप समस्त आसक्तियों से परे हैं तथा आपकी आत्मज्योति उदित है, इसलिए राज्य आदि का पालन आपके लिए किसी तरह से दोष का हेतु नहीं हो सकता है ॥ ४० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
स्वात्मविचार नामक कुसुमलता का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७३ ॥

७४

वसिष्ठ उवाच

लीलया पश्यति वपुः कालेनाऽऽत्मनि जायते । रम्यस्याऽपश्यतो वक्त्रं हृदि दौरूप्यधीरिव ॥ १ ॥

७४

वसिष्ठजी ने कहा—प्रलय और सुषुप्ति में अज्ञान से आवृत होने के कारण निरतिशयानन्दस्वरूप अतएव परम-प्रेमास्पद अपने स्वरूप को न देख रहे आत्मा में काम-कर्मों की वासना के परिपाकक्रम से सृष्टि और जागर-काल में चिद्विलास से सूक्ष्म, स्थूल, समष्टि और व्यष्टि शरीर वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे रम्य रमणी, पुत्र, आदि के मुख को न देख रहे विरही पुरुष के हृदय में म्लानता, कृशता आदि विकृत स्वरूप को उत्पन्न करने वाली उदासीनता निरन्तर उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

तद्वशादियमायाता महती मे दुरोदरा ।
माया मदमहाशक्तिः सुरास्वादलवादिव ॥ २ ॥
तयाऽनया विकारिण्या तदतद्भावभूतया ।
इदं संपन्नमखिलं तापादिव मरौ पयः ॥ ३ ॥
मनोबुद्धिरहङ्कारो वासनाश्चेन्द्रियाण्यपि ।
एवं कलितनामाङ्कैः स्फुरत्यात्माब्धिरम्बुभिः ॥ ४ ॥
चित्ताहङ्कारयोर्द्वित्वं वचस्यस्ति न वस्तुतः ।
यच्चित्तं स ह्यहङ्कारो योऽहङ्कारो मनो हि तत् ॥ ५ ॥
व्यतिरिक्तं हिमाच्छौक्ल्यमिति सङ्कल्प्यते यथा ।
मुधैव कल्प्यते भेदश्चित्ताहङ्कारयोस्तथा ॥ ६ ॥
मनोहङ्कारयोरन्तर्द्वयोरेकतरक्षये ।
क्षीणे द्वे एव हि यथा पटशौक्ल्यये पटक्षये ॥ ७ ॥

अहन्ताध्यास से जीव स्थूल और सूक्ष्म शरीर के अधीन हो जाता है और उससे यह निरतिशय निबिड स्नेह से भरी राग, लोभ, मोह आदि मद की महाशक्ति अनर्थरूपा मिथ्याभूत माया है, वैसे ही प्राप्त हुई है जैसे मदिरा के आस्वाद से मद की महाशक्ति प्राप्त होती है ॥ २ ॥

प्रवृत्ति, भोग, पुण्य, पाप, वासना आदि अनर्थपरम्परारूप विकारों से युक्त तथा जिसने परमात्मा के अन्यथाभाव से अपना अस्तित्व सम्पन्न यह समस्त जगत् वैसे ही प्रतीत हो रहा है जैसे मरुभूमि में सूर्य-किरणों के ताप से जल प्रतीत हो जाता है इस रागादि की शक्तिस्वरूपा महामाया से ॥ ३ ॥

मन, बुद्धि, अहंकार, वासना और इन्द्रिय—इस प्रकार के नाम और रूप की कल्पना करने वाले स्वस्वरूपरूपी जलों से आत्मारूपी समुद्र प्रस्फुरित होता है ॥ ४ ॥

चित्त और अहङ्कार दो प्रकार का व्यवहार केवल वाणी में ही है, वास्तव में नहीं है, जो चित्त है, वही अहंकार है और जो अहंकार है, वही चित्त है ॥ ५ ॥

चित्त और अहंकार की कल्पना वैसे ही व्यर्थ ही की जाती है, वास्तव में उनका परस्पर कोई भेद नहीं है जैसे बरफ से भिन्न शुक्लत्व की कल्पना की जाती है, पर वास्तव में बरफ और शुक्लत्व में परस्पर कोई पार्थक्य नहीं है ॥ ६ ॥

मन और अहंकार इन दोनों के बीच में से किसी एक का विनाश हो जाने पर मन एवं अहंकार दोनों का वैसे ही विनाश हो जाता है जैसे वस्त्र का विनाश होनेपर वस्त्र और शुक्लत्व दोनों का विनाश हो जाता है ॥ ७ ॥

तुच्छां मोक्षधियं त्यक्त्वा बन्धबुद्धिं तथैषणाम् ।
स्ववैराग्यविवेकाभ्यां केवलं क्षपयेन्मनः ॥ ८ ॥
मोक्षो मेऽस्त्विति चिन्ताऽन्तर्जाता चेदुत्थितं मनः ।
मननोत्के मनस्युच्चैर्वपुर्दोषाय केवलम् ॥ ९ ॥
आत्मन्यतीते सर्वस्मात् सर्वभूतेऽथवा तते ।
को बन्धः कश्च वा मोक्षो निर्मूलं मननं कुरु ॥ १० ॥
वायुः स्पन्दनधर्मत्वाद् यदा चलति देहके ।
तदा स्फुरति हस्ताङ्घ्रिरसनापल्लवावली ॥ ११ ॥
पादपे पल्लवश्रेणीं चालयत्यनिलो यथा ।
तथैवाऽङ्गावलीं वायुर्देहे सञ्चालयत्यलम् ॥ १२ ॥
चित् सर्वव्यापिनी सूक्ष्मा न चला नैव चाल्यते ।
न स्वतः स्पन्दमायाति देवाचल इवाऽनिलैः ॥ १३ ॥

'मुझे मोक्ष मिले' इस तुच्छ मोक्षेच्छा और सांसारिक बन्धबुद्धि तथा अन्यान्य इच्छाओं का परित्याग कर अपने वैराग्य और आत्मा-अनात्मा में विवेक से केवल मन को ही विनष्ट कर देना चाहिए ॥ ८ ॥

'मुझे मोक्ष मिले' इस प्रकार की यदि भीतर इच्छा उत्पन्न होनेपर मन सबल हो गया, यह जान लेना चाहिए। मनन की ओर मन के एकदम उत्कण्ठित हो जानेपर वही मन शरीर के आकार में परिणत हो जाता है और फिर बहिर्मुखता का सम्पादन कराकर केवल दोष को ही उत्पन्न करता है। अतः किसी पदार्थ की इच्छा करनी ही नहीं चाहिए। पदार्थ की इच्छा ही तुच्छ है ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण परिच्छिन्न वस्तुओं से परे अथवा समस्त भूतगुणों में व्याप्त आत्मा में क्या बन्ध है और क्या मोक्ष है ? इसलिए हे श्रीरामजी, आप परिच्छिन्नता-मनन का ही निर्मूलन कर दे ॥ १० ॥

वायु स्पन्दनरूप धर्म से युक्त इस तुच्छ देह में जब चलता है, तब हाथ, पैर और रसनारूपी पल्लवों की पंक्ति चलने लगती है ॥ ११

प्राणादि वायु देह में अङ्गों की पंक्तियों को पर्याप्तरूप से वैसे ही चलाता है जैसे वायु वृक्ष में पल्लवों की पंक्ति को चलता है ॥ १२ ॥

सब पदार्थों को व्याप्त कर लेने वाली अतिसूक्ष्म चित् न तो स्वतः चल है और न किसी से चलायमान होती है। यह चित्त भी प्राण आदि वायुओं से वैसे ही कम्पित नहीं होती जैसे अचल मेरुपर्वत वायुओं से कम्पित नहीं होती ॥ १३ ॥

प्रतिबिम्बतसर्वार्था केवलं स्वात्मनि स्थिता ।
प्रकाशयति बोधेन जगन्तीमानि दीपवत् ॥ १४ ॥
तत्र कोऽयं मुधा मोहो भवतामतिदुःखदः ।
अयं सोऽहं ममाऽङ्गानि ममेदं चेति दुर्धियाम् ॥ १५ ॥
इति कल्लोलहृतया दृशा नित्यमनित्यया ।
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वक्रिया समुपलभ्यते ॥ १६ ॥
तत्राऽयमहमागन्ता भोक्ता कर्तेति जायते ।
मुधैवाऽज्ञाततापोत्था मृगतृष्णेव वासना ॥ १७ ॥
अज्ञतैषा मनोमत्तमृगं विषयतर्षुलम् ।
असत्यैव हि सत्येव मृगतृष्णेव कर्षति ॥ १८ ॥
विज्ञाता सत्यरूपाऽङ्ग नाशं याति पलायते ।
विप्रमध्यात् परिज्ञाता यथा चाण्डालकन्यका ॥ १९ ॥

आत्मा चल रहे पदार्थों की स्वरूपता को प्राप्त होता हुआ भी वैसे ही स्वयं अचल ही रहता है जैसे अपनी ज्योत्स्ना के द्वारा प्रदीप घट -आदि पदार्थो को प्रकाशित कर देता है वैसे ही बोध के द्वारा अपने स्वरूप में अवस्थित चिद्रूपी आत्मा, जिसमें समस्त अर्थ प्रतिबिम्बित हुए हैं, इन अखिल ब्रह्माण्डों को प्रकाशित कर देता है जैसे स्फटिक-शिला चल रहे अनेक पदार्थों के प्रतिबिम्बों की स्वरूपता को प्राप्त होती हुई भी स्वयं अचल रहती है ॥ १४ ॥

दुर्बुद्धियों को 'यह देह ही मैं हूँ' हाथ आदि अङ्ग मेरे हैं तथा स्त्री, पुत्र आदि मेरे हैं' इत्यादि अत्यन्त दुःखप्रद व्यर्थ मोह है ॥ १५ ॥

देह में ज्ञातृत्व और आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विरुद्ध धर्म अविद्या के कल्लोलरूपी रागादि के कारण अनित्य देह आदि के साथ नित्य आत्मा का तादात्म्य और संसर्गाध्यास से जनित होने के कारण अनित्य मिथ्या भ्रान्ति दृष्टि से ही सदा प्रतीत होते हैं ॥ १६ ॥

उसमें 'यह मैं आगन्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ— इस प्रकार की वासना वैसे ही व्यर्थ उत्पन्न होती है, जैसे तूलाज्ञान से आवृत मरुभूमिस्थ आतप से मृगतृष्णा उत्पन्न होती है ॥ १७ ॥

यह अज्ञतारूपा वासना (अविद्या) मनरूपी मत्त मृग को, विषयों की तृषा से आक्रान्त कर वैसे ही खींचती है, जैसे जल की तृषा से आक्रान्त मृग को मृगतृष्णा खींचती है ॥ १८ ॥

जिसका तात्त्विक स्वरूप जान लिया हो, ऐसी अविद्यारूपी वासना वैसे ही भाग जाती है और नष्ट हो जाती है जैसे जिसका स्वरूप जान लिया गया हो, ऐसी चाण्डाल-कन्या ब्राह्मणों की पंक्ति में से भाग जाती है ॥ १९ ॥

अविद्या संपरिज्ञाता न चैनं परिकर्षति ।
मृगतृष्णा परिज्ञाता तर्षुलं नाऽवकर्षति ॥ २० ॥
परमार्थावबोधेन समूलं राम ! वासना ।
दीपेनेवाऽन्धकारश्रीर्गलत्यालोक एति च ॥ २१ ॥
नाऽस्त्यविद्येति संजाते निश्चये शास्त्रयुक्तितः ।
गलत्यविद्या तापेन तुषारकणिका यथा ॥ २२ ॥
देहस्याऽस्य जडस्याऽर्थे किं भोगैरिति निश्चयः ।
भिनत्त्याशामलं ज्ञाता पञ्जरं केसरी यथा ॥ २३ ॥
आशापरिकरे राम ! नूनं परिहृते हृदा ।
पुमानाऽऽगतसौन्दर्यो ह्लादमायाति चन्द्रवत् ॥ २४ ॥
परां शीतलतामेति वृष्टिधौत इवाऽचलः ।
निर्वृतिं परमां धत्ते प्राप्तराज्य इवाऽधमः ॥ २५ ॥

'यह अविद्या है' इस प्रकार तत्त्वतः जानी गई अविद्या मनरूपी मृग को वैसे ही नहीं खींचती जैसे 'यह मृगतृष्णा है' इस प्रकार तात्त्विक स्वरूप से जानी गई मृगतृष्णा तृषार्त मृग को अपनी ओर नहीं खींचती ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी ! परमार्थरूप आत्मा के अवबोध से वासना वैसे ही समूल नष्ट हो जाती है और अपरिच्छिन्न आत्मप्रकाश आविर्भूत हो जाता है जैसे दीप से अन्धकार की श्री नष्ट हो जाती हैं और प्रकाश आ जाता है ॥२१॥

'अविद्या का अस्तित्व किसी तरह नहीं है', इस प्रकार शास्त्र और तदनुकूल युक्ति से दृढ़ निश्चय हो जाने पर अविद्या तत्क्षण वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे आतप से तुषारकणिका गल जाती है ॥ २२ ॥

इस जड़ देह के लिए भोगों से क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार के निश्चय से सम्पन्न तत्त्वज्ञ पुरुष इच्छाओं के हेतु-भूत अज्ञान को वैसे ही छिन्न-भिन्न कर देता है, जैसे सिंह पीजड़े को छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ २३ ॥

हे श्रीरामजी ! अपने हृदय से इच्छाओं के समूह स्वरूप देहाभिमान आँदि का निश्चित रूप से परिहार हो जाने पर पुरुष चन्द्रमा की तरह सौन्दार्य से परिपूर्ण हो जाता है और अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है ॥ २४ ॥

वैसे ही उक्त देहाभिमान का विनाश हो जाने पर पुरुष वैसे ही निरतिशय शीतल हो जाता है। जैसे वृष्टि से धोया गया पर्वत हो जाता है। यह वैसे ही परम विश्रान्ति को धारण करता है। जैसे राज्य मिल जाने पर दरिद्र परम विश्रान्ति को धारण करता है ॥२५॥

शोभते परया लक्ष्म्या शरदीव नभस्तलम् ।
आत्मन्येव न मात्युच्चैः कल्पस्याऽन्त इवाऽर्णवः ।।२६।।
भवत्यपेतसंरम्भो वृष्टिमूक इवाऽम्बुदः ।
तिष्ठत्यात्मनि संवेत्ता प्रशान्त इव वारिधिः ।। २७ ।।
परं धैर्यमुपादत्ते स्थैर्यं मेरुरिवाऽचलः ।
राजते स्वच्छया लक्ष्म्या शान्तेन्धन इवाऽनलः ।। २८ ।।
भवत्यात्मनि निर्वाणः प्रशान्त इव दीपकः ।
तृप्तिमायाति परमां नरः पीतामृतो यथा ।। २९ ।।
अन्तर्दीपो घट इव मध्यज्वाल इवाऽनलः ।
स्फुरद्दीप्तिर्मणिरिव प्रयात्यन्तः प्रकाशताम् ।। ३० ।।
सर्वात्मकं सर्वगतं सर्वेशं सर्वनायकम् ।
सर्वाकारं निराकारं स्वमात्मानं प्रपश्यति ।। ३१ ।।

यह तत्त्वज्ञान रूपी उत्तम शोभा से तत्त्वज्ञ वैसे ही सुशोभित होता है। जैसे शरत् काल में निर्मलत्व आदि शोभा से आकाशतल अत्यन्त सुशोभित होता है। यह वैसे ही अपने आत्मा में नहीं अमाता अर्थात् उस समय किसी से परिच्छिन्न नहीं होता जैसे कल्प के अन्त में समुद्र परिच्छिन्न रहता है ।। २६ ।।

तत्त्ववेत्ता तत्त्वज्ञान के बाद समस्त अभिनिवेशों से वैसे ही शून्य हो जाता है। जैसे मेघ वर्षाकाल में बरस चुकने के कारण शरत् काल में गर्जन आदि से शून्य हो जाता है और वह अपने स्वरूप में वैसे ही अवस्थित रहता है जैसे प्रशान्त समुद्र अपने स्वरूप में स्थित रहता है ।। २७ ।।

अचल तत्त्ववेत्ता स्थिरता और धीरता को ग्रहण करता है जैसे अचल मेरु स्थिरता और धीरता को ग्रहण करता है। वैसे ही इन्धनों के शान्त हो जाने पर अग्नि की तरह अति स्वच्छ कान्ति से विराजित होता है ।। २८ ।।

जैसे वायु रहित प्रदेश में दीपक अपने स्वरूप में शान्त रहता है और परम तृप्ति को ऐसे प्राप्त करता है, जैसे अमृत पी जाने वाला पुरुष परम तृप्ति को प्राप्त करता है। वैसे ही तत्त्ववेत्ता मुनि अपने ही स्वरूप में ऐसे उत्तम शान्ति से समन्वित रहता है ।। २९ ।।

तत्त्ववेत्ता पुरुष अपने भीतर परम प्रकाश स्वरूपता को वैसे ही प्राप्त करता है। जैसे मध्य दीप वाला घट, मध्य ज्वाला वाला अग्नि और प्रस्फुरित कान्ति वाला मणि अपने भीतर प्रकाश को प्राप्त करता है ।। ३० ।।

तत्त्ववेत्ता सब भूतों के आत्मस्वरूप, सर्वत्र सत्ता वाले, सब के नियन्ता, सब के नायक, व्यवहार-दशा में

हसत्यलमतीताः स्वाः पेलवा दिवसावलीः ।
यासु स्मरशरश्रेणीचपलं चित्तमास्थितम् ।। ३२ ।।
सङ्गरङ्गविनिष्क्रान्तः शान्तमानमनोज्वरः ।
अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः ।। ३३ ।।
निर्मृष्टकामपङ्काङ्कश्छिन्नबन्धनिजभ्रमः ।
द्वन्द्वदोषभयोन्मुक्तस्तीर्णसंसारसागरः ।। ३४ ।।
प्राप्नानुत्तमविश्रान्तिर्लब्धालभ्यपरास्पदः ।
अनिवृत्तिपदं प्राप्तो मनसा कर्मणा गिरा ।। ३५ ।।
सर्वाभिवाञ्छितारम्भो न किञ्चिदपि वाञ्छति ।
सर्वानुमोदितानन्दो न किञ्चिदनुमोदते ।। ३६ ।।
न ददाति न चाऽऽत्ते न स्तौति न च निन्दति ।
नाऽस्तमेति न चोदेति न तुष्यति न शोचति ।। ३७ ।।

सर्वाकार और परमार्थ-दशा में निराकार अपनी आत्मा को देखता है ।। ३१ ।।

आत्मतत्त्व स्वरूप को पहचानने वाला पूर्व की उन तुच्छ दिवसों की पंक्तियों का स्मरण कर हँसता है, जिनमें काम-वाणों की परम्पराओं से चंचल चित्त विद्यमान था ।। ३२ ।।

तत्त्ववेत्ता पुरुष विषयी पुरुषों के सङ्ग और विषयों के अनुरञ्जन से रहित, मान और मानसिक चिन्ताओं से शून्य, आत्म विषय में आसक्त परिपूर्ण और विशुद्ध अन्तःकरण से समन्वित होता है ।। ३३ ।।

काम रूपी कीचड़ के लाञ्छन से रहित, बन्धन स्वरूप आत्मा भ्रम से शून्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से उन्मुक्त तथा संसार रूपी सागर से तरा हुआ आत्मज्ञानी रहता है ।। ३४ ।।

सबसे उत्तम सार्वभौम शान्ति को, साधारण कोटी के जीवों के लिए अत्यन्त दुर्लभ परम पद को तथा संसारानल पुनः पुनः सम्पात-स्वरूप आवृत्ति से वर्जित यानी अनावृत्ति पद स्वरूप साम्राज्य को प्राप्त कर रहता है ।। ३५ ।।

समस्त लोगों के द्वारा कर्म और वाणी से इस महा विद्वान् का सुन्दर परम पावन चरित्र सबसे अभिलषित रहता है, पर यह कुछ भी नहीं चाहता है। सभी मनुष्य इसके चरित्र फलों का अनुमोदन करते हैं, पर यह किसी का अनुमोदन नहीं करता वरन् उदासीन रहता है ।।३६।।

वह न तो कुछ देता है, न किसी का ग्रहण करता है, न किसी की स्तुति करता है, न किसी की निन्दा करता

सर्वारम्भपरित्यागी सर्वोपाधिविवर्जितः ।
सर्वाशासंपरित्यागी जीवन्मुक्त इति स्मृतः ॥ ३८ ॥
सर्वैषणाः परित्यज्य चेतसा भव मौनवान् ।
धारा निरवशेषेण यथा त्यक्त्वा पयोधरः ॥ ३९ ॥
न तथा सुखयत्यङ्ग संलग्ना वरवर्णिनी ।
यथा सुखयति स्वान्तमिन्दुशीता निराशता ॥ ४० ॥
न तथेन्दुः सुखयति कण्ठलग्नोऽपि राघव ! ।
नैराश्यं सुखयत्यन्तर्यथा सकलशीतलम् ॥ ४१ ॥
पुष्पपूर्णनवलतो न तथा राजते मधुः ।
यथोदारमतिर्मौनी नैराश्यसममानसः ॥ ४२ ॥
न हिमाद्रेर्न मुक्ताभ्यो न रम्भाभ्यो न चन्दनात् ।
न च चन्द्रमसः शैत्यं नैराश्याद्यदवाप्यते ॥ ४३ ॥

है, न अपने स्वरूप के तिरोधान करता है, न उदय प्राप्त करता है न सतुष्ट होता है और न शोक करता है ॥३७॥

लौकिक, वैदिक कर्मों का परित्याग करने वाला, समस्त उपाधियों से वार्जित तथा समस्त आशाओं को तिलाञ्जलि देने वाला पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ३८ ॥

आप भी समस्त अभिलाषाओं का परित्याग कर अन्तःकरण से वैसे ही मौन हो जाइये अर्थात् प्रशान्त हो जाइये जैसे जलधाराओं का निःशेषरूप से परित्याग कर मेघ परिपूर्णरूप से प्रशान्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

अङ्ग में आलिङ्गित अपने पति में अनन्यभाव रखनेवाली अति कमनीय कान्ता पुरुष की अन्तरात्मा को वैसी सुख-शान्ति नहीं पहुँचाती है जिस प्रकार इन्दु-बिम्ब की तरह अत्यन्त शीतल निराशा अपनी अन्तरात्मा को सुख-शान्ति पहुँचाती है ॥ ४० ॥

हे राघव ! कण्ठ में संलग्न चन्द्रमा अन्तरात्मा को वैसा सुख नहीं पहुँचाता है जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् को सुशीतल करने वाला नैराश्य अन्तरात्मा को सुख पहुँचाता है ॥ ४१ ॥

विकसित कुसुमों से परिपूर्ण एवं नूतन लताओं से विराजित कुसुमाकर वैसा सुशोभित नहीं होता है जिस प्रकार नैराश्य से समता प्राप्त अन्तःकरण से युक्त उदारमति मौनी तत्त्वज्ञ सुशोभित होता है ॥ ४२ ॥

हिमालय से, मोतियों से, कदलीकाण्डों से, चन्दन से और हिमांशु से वैसी शीतलता प्राप्त नहीं होती है जैसी नैराश्य से प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

अपि राज्यादपि स्वर्गादपीन्दोरपि माधवात् ।
अपि कान्तासमासङ्गान्नैराश्यं परमं सुखम् ॥ ४४ ॥
तृणवन्नोपकुर्वन्ति यत्र त्रिभुवनश्रियः ।
सा परा निर्वृतिः साधो ! नैराश्यादुपलभ्यते ॥ ४५ ॥
आपत्करञ्जपरशुं परायाः निर्वृतेः पदम् ।
पुष्पगुच्छं शमतरोरालम्बस्व निराशताम् ॥ ४६ ॥
गोष्पदं पृथिवी मेरुः स्थाणुराशाः समुद्गिकाः ।
तृणं भुवनं राम ! नैराश्यालङ्कृताकृतेः ॥ ४७ ॥
दानादानसमाहारविहारविभवादिकाः ।
क्रिया जगति हस्यन्ते निराशैः पुरुषोत्तमैः ॥ ४८ ॥
पदं यस्य न बध्नाति कदाचित् कलना हृदि ।
तृणीकृतत्रिभुवनः केनाऽसावुपमीयते ॥ ४९ ॥

पुरुष को राज्य से, स्वर्ग से, चन्द्रमा से, वसन्त से और कान्ता के कमनीय संसर्ग से वैसा उत्तम सुख ही मिलता है, जैसा निराशा से उत्तम सुख मिलता है अर्थात् राज्य आदि की अपेक्षा निराशा ही सबसे बढ़ चढ़कर सुख है ॥ ४४ ॥

हे साधो ! जिस मोक्षनामक परम सुख के लिए तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ तिनके की तरह कुछ भी उपकार नहीं करती है, वह मोक्षात्मक निरतिशय सुख नैराश्य ही प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

आपत्तिरूपी करञ्ज वृक्ष के लिए परशुस्वरूप, परम निरतिशय विश्रान्ति सुख के स्थानस्वरूप, शान्तिरूपी वृक्ष के फूलों के गुच्छस्वरूप नैराश्य का आप आश्रयण करें ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामजी ! नैराश्य से अलङ्कृत आकृतिवाले महात्मा की दृष्टि में पृथ्वी गाय के खुर की तरह, सुमेरु स्थाणु की तरह दिशाएँ साधारण पिटारियों की तरह और सारा त्रिभुवन तृण की तरह प्रतीत होता है ॥ ४७ ॥

भद्र, इस जगत् में जो—लौकिक और शास्त्रीय दान, आदान अर्थात् धन आदि का स्वीकार, समाहार अर्थात् संग्रहवृत्ति से कोश आदि का बढ़ाना, विहार अर्थात् धनव्यय से पुत्र के साथ क्रीडन, विभव अर्थात् वस्त्र, अलङ्कार आदि सम्पत्ति—इत्यादि क्रियाएँ हैं, वे आशावर्जित महापुरुष के द्वारा हँसी जाती हैं ॥ ४८ ॥

जिसके हृदय में आशा अपना स्थान कभी नहीं जमा सकती, ऐसे सम्पूर्ण त्रिभुवन को तृण के सदृश समझने वाले महात्मा की उपमा किससे दी जा सकती है ? ॥४९॥

इदमेवाऽस्त्विदं माऽस्तु ममेति हृदि रञ्जना ।
न यस्याऽस्ति तमात्मेशं तोलयन्ति कथं जनाः ॥ ५० ॥
सर्वसङ्कटपर्यन्तमसङ्कटमलं सुखम् ।
सौभाग्यं परमं बुद्धेर्नैराश्यमवलम्ब्यताम् ॥ ५१ ॥
नाऽऽशास्ते न त्वमाशानां विद्धि मिथ्याभ्रमं जगत् ।
वहद्रथस्थदिक्चक्रपरावर्तवदुत्थितम् ॥ ५२ ॥
किं मुह्यसि महाबाहो ! मूर्खवद्बोधितोऽपि सन् ।
ममेदं तदयं सोऽहमित्युद्भ्रान्तेन चेतसा ॥ ५३ ॥
आत्मैवेदं जगत्सर्वं नानातेह न विद्यते ।
एकरूपं जगज्ज्ञात्वा धीरैर्नाम न खिद्यते ॥ ५४ ॥

'मुझे यही होना चाहिए और यह नहीं होना चाहिए' इस प्रकार की इच्छा जिसके हृदय में नहीं होती है ऐसे चित्तवाले विद्वान् की मनुष्य किस प्रकार तुलना कर सकते हैं ॥ ५० ॥

समस्त सङ्कटों के मध्य सङ्कट और मल से वर्जित, सुखात्मक तथा बुद्धि की परम सार्थकतास्वरूप नैराश्य का आप अवलम्बन करें ॥ ५१ ॥

हे श्रीरामजी, असलियत में आप में (आत्मा में) न तो आशाओं का अस्तित्व है और न आपका (आत्मा का) आशाओं से किसी तरह का सम्बन्ध ही है। इस जगत् को अज्ञानवश से उत्थित मिथ्या भ्रममात्र उस प्रकार जाने, जिस प्रकार दौड़ रहे रथ के ऊपर अवस्थित पुरुष को दोनों ओर बगल की दिशाओं में विद्यमान तरु, गुल्म आदि में पहियों के परिभ्रमण से भ्रमवश परिभ्रमण होता दिखाई पड़ता है। अथवा हे श्रीरामजी, आप आशाओं का अवलम्ब न करे। आशाएँ एक तरह की चोर हैं, ये आत्मा और अनात्मा के विवेकविज्ञानरूपी धनसम्पत्ति का अपहरण कर वे पुरुषों को आत्मसुख से वंचित कर देती हैं। जगत् का वैषयिक सुख मूढ पुरुषों से ही सैकड़ों तरह की अभिलाषाओं के द्वारा इच्छा की जाती है। जैसे दौड़ रहे रथ में लगे हुए पहियों के ऊर्ध्व और नीचे प्रदेश में होनेवाला घुमाव नेमी का आश्रयण करने वाले पिपीलिका प्रभृति जीवों के पतन, पेषण आदि अनर्थ का कारण होता है, वैसे ही मिथ्या भ्रममात्र जगत् भी उसका आश्रयण करनेवाले अर्थात् भ्रान्तिरूप जगत् में सत्यत्वमति रखने वाले जीवों के जन्म, मरण आदि अनर्थों का कारण है अर्थात् अनर्थों के लिए ही जगत् समुत्थित है ॥ ५२ ॥

हे महाबाहो ! बोधित होने पर भी आप 'यह देह तथा देह-सम्बन्धी जरा आदि मेरे हैं, पूर्वोत्तरकाल में प्रसिद्ध और वर्तमान काल में प्रत्यक्ष देह मैं ही हूँ', इस रूप से मूर्खों की तरह क्यों भ्रम में पड़े हुए हैं ॥ ५३ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप ही है, यहाँ अनेकरूपता है ही नहीं। जगत् को अद्वितीय परमात्मास्वरूप जानकर धीर महात्मा खिन्न नहीं होते हैं ॥ ५४ ॥

यथाभूतपदार्थौघदर्शनादेव राघव ! ।
परमाश्वासनं बुद्धेर्नैराश्यमधिगच्छति ॥ ५५ ॥
भावाभावविसंवादमुक्तमाद्यन्तयोः स्थितम् ।
यद्रूपं तत्समालम्ब्य पदार्थानां स्थितिं कुरु ॥ ५६ ॥
वैराग्यवीरमनसो मायेयमतिमोहिनी ।
पलाय्य याति संसारी मृगी केसरिणो यथा ॥ ५७ ॥
कान्तामुद्दाममदनां लोलां वनलतामिव ।
जर्जरोपलपाञ्चालीसमां पश्यति धीरधीः ॥ ५८ ॥
भोगा नाऽऽनन्दयन्त्यन्तः खेदयन्ति न चाऽऽपदः ।
दृश्यश्रियो हरन्त्यङ्ग नतमद्रिमिवाऽनिलाः ॥ ५९ ॥

हे राघव ! इन पदार्थों के समूहों का जो यथार्थ आत्मभूत स्वरूप है, उसको जानने से ही पुरुष बुद्धि के परम विश्रान्तिस्वरूप नैराश्य की प्राप्ति होती है ॥ ५५ ॥

उत्पत्ति, विनाश और विकल्पों से विनिर्मुक्त, आदि और अन्त में स्थित स्वरूप ही पदार्थों का स्वरूप है, ऐसी भावना कर आप अपने में स्थित करें ॥ ५६ ॥

समस्त विकल्पों के परित्यागरूपी महावैराग्य से वीरता को प्राप्त हुए अन्तःकरण से युक्त लता और वनिता में एक-सी दृष्टि रखने वाले विद्वान् तथा पर्वत की तरह विकारशून्य निष्कम्प आकार वाले इन तुच्छ विषयोपभोगों में वैसे ही रमण नहीं करता जैसे वीर केसरी के पास से मृगी पलायन कर भाग जाती है ॥ ५७ ॥

धीर बुद्धि सम्पन्न महात्मा वनलता की तरह अतिचपल उन्मत्त कामातुर कान्ता को जर्जर प्रस्तर की मूर्ति के तुल्य देखता है ॥ ५८ ॥

हे अङ्ग, तत्त्ववित् पुरुष को वैसे ही विषयोपभोग न तो आनन्द पहुँचा सकते हैं, न तो आपत्तियाँ भीतर खेद पहुँचा सकती हैं और न दृश्य सम्पत्तियाँ धैर्य से च्युत कर सकती हैं। जैसे वायु पर्वत को न आनन्द दे सकता है, न खिन्न कर सकता है और न धैर्य से प्रच्युत कर सकता है ॥ ५९ ॥

रक्तबालाङ्गनस्याऽपि ज्ञस्योदारधिया मुनेः ।
कणशः पांसुतां यान्ति मनसः स्मरसायकाः ॥ ६० ॥
रागद्वेषैः स्वरूपज्ञो नाऽवशः परिकृष्यते ।
स्पन्द एवाऽस्य नैताभ्यां किमुताऽऽक्रमणं भवेत् ॥ ६१ ॥
समदृष्टलतालोलवनितोऽद्रिशिलाकृतिः ।
रमते नैष भोगुषु पान्थो मरुमहीष्विव ॥ ६२ ॥
अयत्नोपनतं सर्वं लीलयाऽसक्तमानसः ।
भुङ्क्ते भोगभरं प्राज्ञस्त्वालोकमिव लोचनम् ॥ ६३ ॥
काकतालीयवत् प्राप्ता भोगाली ललनादिका ।
स्वादिताऽप्यङ्ग धीरस्य न दुःखाय न तुष्टये ॥ ६४ ॥
सम्यग्दृष्टपथं तज्ज्ञं सुखदुःखमती मनाक् ।
द्वे वीच्याविव शैलेन्द्रं क्षोभं नेतुं न शक्नुतः ॥ ६५ ॥
हेलयाऽऽलोकयन् भोगान्मृदुर्दान्तो गतज्वरः ।

बाल अङ्गनाओं के अनुरक्त होने पर भी तत्त्वज्ञ मुनि के अन्तःकरण में उदार बुद्धि के कारण कामदेव के बाण छोटे-छोटे टुकड़े होकर धूलीसात् हो जाते हैं ॥ ६० ॥

आत्मा के तत्त्व का विद्वान् को राग और द्वेष अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते। श्रीरामजी ! इस प्रकार महा-विद्वान् में उनके द्वारा जब स्पन्दन भी नहीं हो सकता, तब उनके द्वारा आक्रमण की कथा ही कैसे हो सकती है ॥ ६१ ॥

विद्वान्, जो लता और वनिता में एक-सी दृष्टि रखने वाले विद्वान् पर्वत की तरह विकार शून्य निष्कम्प आकार वाले इन तुच्छ विषयोपभोगों में वैसे ही रमण नहीं करता जैसे बटोही मरु-भूमि में रमण या विश्राम नहीं करता ॥ ६२ ॥

जिसका अन्तःकरण किन्हीं भोग्यपदार्थों में आसक्त नहीं है, ऐसा तत्त्वज्ञ मुनि अयत्न से प्राप्त अनिषिद्ध अन्न, पान आदि सब भोग्य जात का केवल देहमात्र के धारण के अनुकूल व्यापार से उपयोग करता है जैसे लोचन आसक्त न होकर आलोक का उपयोग करता है ॥ ६३ ॥

काकतालीय की तरह प्राप्त ललना आदि भोगपंक्तियाँ आस्वादित होने पर भी तत्त्वज्ञ धीर पुरुष को दुःख तथा तुष्टि के लिए नहीं होती हैं ॥ ६४ ॥

जिसने प्रत्यक्-दृष्टि मार्ग का भली प्रकार परिज्ञान कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुष को सुख-बुद्धि और दुःख-बुद्धि दोनों वैसे ही तनिक भी क्षोभ नहीं पहुँचा सकतीं जैसे दो वीचियाँ शैलेन्द्र मन्दराचल को क्षोभ नहीं पहुँचा सकतीं ॥ ६५ ॥

स्वमेव पदमालम्ब्य सर्वभूतान्तरस्थितम् ॥ ६६ ॥
ज्ञस्तिष्ठति गतव्यग्रो व्यग्रेणाऽपि समन्वितः ।
जगन्ति जनयन्नेव ब्रह्मेवाऽऽत्मपरायणः ॥ ६७ ॥
आपतत्सु यथाकालं यथादेशं यथाक्रमम् ।
सुखदुःखेषु न क्षोभमेति भूभृदृतुष्विव ॥ ६८ ॥
मज्जतोऽपि बहुज्ञस्य राम ! कर्मेन्द्रियभ्रमैः ।
असक्तमनसो नित्यं न किञ्चिदपि मज्जति ॥ ६९ ॥
कलङ्कयन्तःकलङ्केन प्रोच्यते हेम नाऽन्यथा ।
भावासक्त्या समासक्त उक्तो जन्तुर्हि नाऽन्यथा ॥ ७० ॥
शरीराद्व्यतिरिक्तं ज्ञं पश्यतः प्रविवेकिनः ।
विकर्तिताङ्गकस्याऽपि न किञ्चित्प्रविकर्तितम् ॥ ७१ ॥
सकृत्प्रभातं विमलं यज्ज्ञातं ज्ञातमेव तत् ।
न हि बन्धुः परिज्ञातं पुनरज्ञाततां व्रजेत् ॥ ७२ ॥

असत्यत्व बुद्धि से विषयों को देखने वाले मृदु, दमन-शील तथा समस्त चिन्ता आदि ज्वरों से विनिर्मुक्त तत्त्व-वित् सब भूतों में अन्तरात्म-स्वरूप से स्थित आत्मपद का ही अवलम्बन कर स्थित रहता है ॥ ६६ ॥

अनेक भुवनों को उत्पन्न करने वाली अपनी आत्मा में परम विश्रान्ति लेने वाले हिरण्यगर्भ की ही तरह तत्-तत्-कालोचित क्रियाओं में व्यापृत होने पर भी देहादियुक्त तत्त्ववेत्ता विक्षेपशून्य ही रहता है ॥ ६७ ॥

कालानुसार, देशानुसार एवं क्रमानुसार आपत्तियों के तथा सुख-दुःखों के आने पर भी तत्त्ववित् वैसे ही क्षोभ को प्राप्त नहीं होता जैसे वसन्त आदि ऋतुओं के आने पर पर्वत किसी प्रकार का क्षोभ प्राप्त नहीं करता ॥ ६८ ॥

हे श्रीरामजी वाक् आदि कर्मेन्द्रियों के व्यापारों के विषयों में निमग्न आत्मज्ञ विद्वान् के, सदा-सर्वदा अनासक्त मन से युक्त रहने पर कुछ भी विनष्ट नहीं होता है ॥ ६९ ॥

प्राणी भावासक्ति से अर्थात् भीतरी आसक्ति वैसे ही समासक्त कहा जाता है, ऊपरी बनावटी आसक्ति से आसक्त नहीं कहा जाता है जैसे सुवर्ण भीतर के कलङ्क से ही कलङ्कित कहा जाता है, ऊपरी पङ्क आदि के लेपन-रूपी कलङ्क से कलङ्कित नहीं कहा जाता ॥ ७० ॥

शरीर से भिन्न आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार कर रहे नित्या-नित्य-विवेक विज्ञान से सम्पन्न ज्ञानी के अङ्ग कतरने पर भी तथापि उसका कुछ भी कर्तित नहीं होता ॥ ७१ ॥

विमल प्रकाश स्वरूप आत्मा का एक बार यदि ज्ञान होने पर वैसे ही वह सदा ज्ञात ही रहता है, फिर उसका

सर्पभ्रान्तौ निवृत्तायां न रज्ज्वां सर्पभावना ।
पुनरेति यथा प्रावृण्नदी गिरितटाच्च्युता ॥ ७३ ॥
न हेम तापशुद्धाङ्गं स्वभावमलमागतम् ।
कर्दमे मग्नमपि सत्समादत्ते मलं पुनः ॥ ७४ ॥
क्षीणे स्वहृदयग्रन्थौ न बन्धोऽस्ति पुनर्गुणैः ।
यत्नेनाऽपि पुनर्बद्धं केन वृन्ते च्युतं फलम् ॥ ७५ ॥
अवच्छेदविचाराभ्यामभितः खण्डशो गतम् ।
पाषाणं च मणिं चैव सन्धातुं कस्य शक्तता ॥ ७६ ॥
विज्ञातायामविद्यायां कः पुनः परिमज्जति ।
परिज्ञाय श्वपाकानां यात्रां कः प्रेक्षते द्विजः ॥ ७७ ॥
शुद्धाम्भसि यथा क्षीरधीर्विचारान्निवर्तते ।

विस्मरण नहीं होता जैसे एक बार प्रिय बन्धु का परिज्ञान हो जाने के अनन्तर फिर वह अज्ञात नहीं होता ॥ ७२ ॥

सर्पभ्रान्ति की निवृत्ति हो जाने पर रज्जु में फिर सर्पभावना वैसे नहीं होती जैसे पर्वत के तट से चू रही वर्षाकालीन नदी वर्षा की निवृत्ति हो जाने पर फिर नहीं चूती । ७३ ॥

अग्नि के ताप से जिसके अङ्ग विशुद्ध हो चुके हैं तथा जो निःशेष रूप से अपने स्वभाव को केवल सुवर्ण-स्वरूपता को प्राप्त हुआ है, ऐसा कीचड़ में निमग्न हो रहा भी सुवर्ण जैसे फिर मल को ग्रहण नहीं करता, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥ ७४ ॥

अपने हृदय की ग्रन्थि का उच्छेद हो जाने पर फिर देहादि के गुणों से आत्मा का बन्धन नहीं होता है क्या वृक्षस्थ डंठी से टूट गये फल को कोई भी पुरुष पुनः कितना भी प्रयास कर डंठल के साथ पूर्ववत् जोड़ सकता है ? ॥ ७५ ॥

पत्थर का छेदन और मणि के तात्त्विक स्वरूप का विचार—इन दोनों की सहायता से मणि का जो अंश नहीं है, उस अंश को काटकर पत्थर से मणि की प्राप्ति की जाती है । प्राप्त हुई मणि का पुनः पाषाण के साथ सन्धान करने के लिए किस पुरुष की शक्ति है ? ॥ ७६ ॥

अविद्या का असली स्वरूप जान लेने के बाद कौन बुद्धिमान् पुरुष फिर उसमें डूबता है ? चाण्डालों के उत्सव विशेष का परिज्ञान हो जाने के बाद कौन द्विजन्मा उस उत्सव में सम्मिलित होने की प्रतीक्षा करेगा ॥ ७७ ॥

सांसारिक वासना बुद्धिस्थ आत्मा के स्वरूप का विचार करने के अनन्तर वैसे ही विनिवृत्त हो जाती है

संसारवासना तद्वद्धीर्विचारान्निवर्तते ॥ ७८ ॥
मध्वम्बुशङ्कया तावद्विप्रवर्यैः प्रपीयते ।
यावन्नाऽत्र परिज्ञातं परिज्ञातं प्रहीयते ॥ ७९ ॥
रूपलावण्ययुक्ताऽपि चित्रकान्तेव कामिनी ।
द्रव्यमात्रसमारम्भात् तत्त्वविद्भिर्विलोक्यते ॥ ८० ॥
यथा मषीकुसुम्भादि स्त्रियाश्चित्रे तथैव हि ।
जीवत्या अपि केशोष्ठं कस्तां परि किल ग्रहः ॥ ८१ ॥
अनुभूतो गुडः स्वादुरपि दाहविकर्तनैः ।
न शक्यतेऽन्यथाकर्तुं तत्त्वालोकस्तथाऽऽत्मनः ॥ ८२ ॥
परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ।
तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥ ८३ ॥

जैसे विशुद्ध सलिल में हुई दुग्धभ्रान्ति दुग्धस्वरूप का विचार करने के अनन्तर विनिवृत्त हो जाती है ॥ ७८ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग तबतक जलबुद्धि से मद्य पी लेते हैं, जबतक उसका असली स्वरूप नहीं जान लेते । असली स्वरूप को जान लेने पर उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ७९ ॥

रूपलावण्ययुक्त कामिनी को चित में लिखित कान्ता की प्रतिमा की तरह ही तत्त्ववेत्ता पुरुष देखते हैं, क्योंकि वह द्रव्यमात्रसमारम्भ है ॥ ८० ॥

हे श्रीरामजी ! रूप और लावण्य से युक्त जीवित कामिनी के भी केश, ओष्ठ आदि पाँच भूतों के स्वरूप से अतिरिक्त वैसे ही दूसरा कुछ भी नहीं है जैसे चित्र में चित्रित कामिनी के केश, ओष्ठ आदि अवयव मषी, कुंकुम आदि रङ्गस्वरूप पाँच भूतों को छोड़कर और कुछ भी नहीं हैं इसलिए कान्ता-प्रतिमा और जीवित कान्ता में तत्त्वतः समानता होने के कारण जीवित-कान्ता की क्या उपादेयता हो सकती है ? ॥ ८१ ॥

आत्मा के तात्त्विक आनन्दानुभव को भी वैसे ह् अन्यथा नहीं कर सकते जैसे गुड़ के अनुभूत स्वादु मधु रस को—अनुभूत गुड़, अनुभव-करण जिह्वा तथा अनुभ करने वाले देवदत्त आदि के दाह, कर्तन आदि सैकड़ प्रयत्नों से भी 'यह माधुर्य का अनुभव नहीं है, किन्तु तिक्त आदि का अनुभव है, इस प्रकार अन्यथा नहीं कर सकते ॥ ८२ ॥

परपुरुष में आसक्ति रखनेवाली नारी, घर के कार्य में व्यग्र रहने पर भी, उसी पररुषसम्बन्ध रूपी रसायन का अपने अन्दर आस्वाद लेती है ॥ ८३ ॥

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
न शक्यते चालयितुं देवैरपि सवासवैः ॥ ८४ ॥
परव्यसनिनी नारी केन भर्त्रा बलीयसा ।
विस्मारिता स्वसङ्कल्पकान्तसङ्गमहोत्सवम् ॥ ८५ ॥
जगत्समरसानन्दचिदालोकावलम्बनम् ।
केन विस्मार्यते बुद्धिस्तत्त्वज्ञस्य महात्मनः ॥ ८६ ॥
समग्रसुखदुःखाढ्यं व्यवहारमखण्डितम् ।
कुर्वन् कुलजनायत्तो भर्तृश्वशुरखेदितः ॥ ८७ ॥
यथा सङ्कल्पकान्तेन भवत्यानन्दमन्थरः ।
वधूलोको व्यसनवान् दुःखवृन्दैर्न बाध्यते ॥ ८८ ॥
तथा विगलिताविद्यो व्यवहारपरोऽप्यलम् ।
सम्यग्दृष्टिः सदाचारो मुदमेत्यन्तरात्मना ॥ ८९ ॥
छिद्यते न निकृत्ताङ्गो गलदश्रुर्न रोदिति ।
दह्यते न प्रदग्धोऽपि नष्टोऽपि न विनश्यति ॥ ९० ॥
व्यपगतसुखदुःखसन्निपातो
विधिविधुरेष्वपि सङ्कटेष्वचित्तः ।
विलसतु सदने पुरोत्तमे वा
विततगिरौ विपिने तपोवने वा ॥ ९१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
वैराग्योपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः॥ ७४ ॥

इस प्रकार विशुद्ध परब्रह्मतत्त्व में उत्तम विश्रान्ति को प्राप्त कर धीरतत्त्वज्ञ पुरुष इन्द्र के साथ हजारों देवताओं से भी विचलित नहीं किया जा सकता ॥ ८४ ॥

परपुरुष के सङ्ग में व्यसन रखनेवाली अपनी पत्नी को उसके संकल्प में अवस्थित परकान्तसङ्गमरूपी महोत्सव का विस्मरण कराया हो ऐसा कौन बलवान् स्वामी है ॥ ८५ ॥

हे राघव ! सांसारिक विभिन्न विषयानन्दरूपी जो अनेक पुण्यरस हैं, वे सब जिसमें शहद के छत्ते की तरह एकरस हो जाते हैं, ऐसे स्वात्मानन्दचिदालोक के निरन्तर आस्वादनधारा को प्राप्त तत्त्वज्ञ महात्मा की बुद्धि का विस्मरण कौन करा सकता है ? एकबार अर्थात् जिसने ज्ञानामृतरूपी रस का आस्वाद न प्राप्तकर मन समस्त व्यापारों को छोड़कर उसी में अनुधावन करता है ॥ ८६ ॥

समग्र सुख और दुःख से युक्त व्यवहारों को अर्थात् घर के कामों को विधिपूर्वक कर रही पति, सास और ससुर के द्वारा पीड़ित भी कुलजनों के आश्रित वधू, परसङ्ग में आसक्ति रखने पर जिस प्रकार सङ्कल्प-कान्त से आनन्दनिभोर होती है, और दुःखों से पीड़ित नहीं होती है ॥ ८७-८८ ॥

उसी प्रकार जिस महात्मा की अविद्या निवृत्त हो गई है, जिसकी भली प्रकार की तत्त्वबुद्धि है तथा जो सुन्दर आचरणों से युक्त है, ऐसा महात्मा पर्याप्तरूप से व्यवहार में निरत होनेपर भी अपने अन्तरात्मा से प्रसन्नता को प्राप्त करता रहता है ॥ ८९ ॥

सप्तम भूमिका में समारूढ़ योगी छिन्नाङ्ग हो कर भी छेदित नहीं होता है । गिर रहे अश्रुओं से युक्त होता हुआ भी रोता नहीं है, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता है, विनष्ट देह होता हुआ भी नष्ट नहीं होता है ॥ ९० ॥

मन के विनाशपर्यन्त भूमिका में सुप्रतिष्ठित पुरुष धौरेय तत्त्वज्ञ पूर्वकालिक प्रारब्धफलरूपी कर्म से विधुर भोगशून्य दरिद्र-अवस्था में या माण्डव्य की तरह शूलाधिरोहणरूपी संकटावस्थाओं में या उत्तमनगरस्थ सदन में या भयङ्कर अटवी में या तपोवन में भले ही रहे, तथापि वह सदा-सर्वदा सुखदुःख के संनिपात से दूर ही रहता है, तनिक भी सांसारिक हर्ष, शोक के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता है ॥ ९१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में उद्दालकविचारविलास नामक कुसुमलता का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

७५

वसिष्ठ उवाच

जनकः संस्थितो राज्ये व्यवहारपरोऽपि सन् । विगतज्वर एवाऽन्तरनाकुलमतिः सदा ॥ १ ॥

७५

महाराज वसिष्ठ ने कहा—अपने राज्य में समयोचित व्यवहार में तत्पर राजा जनक अखिल मानसिक चिन्तारूपी ज्वर से रहित तथा भीतर आकुलमति से शून्य होकर ही सदा अवस्थित थे ॥ १ ॥

पितामहो दिलीपस्ते सर्वारम्भपरोऽप्यलम् ।
वीतरागतयैवाऽन्तर्बुभुजे मेदिनीं चिरम् ॥ २ ॥
निरञ्जनतया बुद्धो जनतां पालयंश्चिरम् ।
जीवन्मुक्ताकृतिर्नित्यं मनू राज्यमपालयत् ॥ ३ ॥
विचित्रबलयुद्धेषु व्यवहारेषु भूरिषु ।
मान्धाता सुचिरं तिष्ठन् प्राप्तवान् वै परं पदम् ॥ ४ ॥
बलिः पातालपीठस्थः कुर्वन् सदिव संस्थितिम् ।
सदा त्यागी सदाऽसक्तो जीवन्मुक्त इति स्थितः ॥ ५ ॥
नमुचिर्दानवाधीशो देवद्वन्द्वपरः सदा ।
नानाचारविचारेषु क्वचिन्नाऽन्तरतप्यत ॥ ६ ॥
वासवाजौ तनुत्यागी वृत्रो विततमानसः ।
अन्तःशान्तमना मानी चकार सुरसङ्गरम् ॥ ७ ॥
कुर्वन् दानवकार्याणि पातालतलपालकः ।

आप के पितामह महाराज दिलीप ने अनेक तरह के उचित सांसारिक कर्मों में सर्वदा निरत होने पर भी भीतर आसक्ति से वर्जित होकर ही दीर्घकाल तक पृथ्वी का उपभोग किया ॥ २ ॥

राग आदि की कालिमा से रहित आत्मज्ञान को प्राप्त महाराज मनु ने चिरकाल तक प्रजाओं का पालन करते हुए सर्वदा जीवन्मुक्तस्वरूप होकर राज्य का संरक्षण किया ॥ ३ ॥

विचित्र सैन्य तथा बाहुबल का उपयोग होने वाले युद्धों में तथा अनेक व्यवहारों में दीर्घकाल तक स्थित रहे महाराज मान्धाता ने आखिर परम पद को प्राप्त किया ॥ ४ ॥

पाताल की पीठ पर आसीन होकर बलिराज यथार्थ व्यवहार को करते हुए भी सदा त्यागी, सदा असक्त और जीवन्मुक्तरूप से स्थित रहे। 'दिवसस्थितिम्' यदि पाठ हो तो 'पाताल में निवास करने के लिए भगवान् के द्वारा नियमित दिवसों का परिपालन करते हुए महाराज बलि जीवन्मुक्त होकर अवस्थित हैं' यह अर्थ है ॥ ५ ॥

दानवों का अधिपति नमुचि सदा देवताओं के साथ युद्ध या मर्यादाव्यतिक्रम में तथा अनेकविध देव और दानवों के आचरण एवं विचार-विमर्शों में तत्पर हो कर भी भीतर से सन्तप्त (खिन्न) नहीं होता था ॥ ६ ॥

इन्द्र के युद्ध में अपने शरीर का परित्याग करनेवाले अभिमानी वृत्रासुर ने, अत्यन्त उदार अन्तःकरण वाला भीतर प्रशान्तमन होकर ही देवताओं के साथ युद्ध किया ॥ ७ ॥

अनपायं निराक्रोशं प्रह्लादो ह्लादमागतः ॥ ८ ॥
शम्बरैकपरोऽप्यन्तःशम्बरैकतयोदितः ।
संसारशम्बरं राम ! शम्बरस्त्यक्तवानिदम् ॥ ९ ॥
असक्तबुद्धिर्हरिणा कुर्वन् दानवसङ्गरम् ।
परां संविदमासाद्य कुशलस्त्यक्तवानिदम् ॥ १० ॥
सर्वामरमुखो वह्निः क्रियाजालपरो ह्यपि ।
यज्ञलक्ष्मीश्चिरं भुङ्क्ते मुक्त एवेह तिष्ठति ॥ ११ ॥
पीयमानः सुरैः सर्वैः सोमः समरसाशयः ।
क्वचिदेति न संसङ्गमाक्रान्तावम्बरं यथा ॥ १२ ॥
बृहस्पतिर्देवगुरुर्दारार्थं चन्द्रयोध्यपि ।
आचरन् दिवि चित्रेहां मुक्त एव ह्यवस्थितः ॥ १३ ॥
शुक्रोऽम्बरतलद्योती बुधः सर्वार्थपालकः ।
निर्विकारमतिः कालं नयत्यसुरदेशिकः ॥ १४ ॥

पातालतल का परिपालन करनेवाले दानवोचित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भक्तप्रवर प्रह्लाद ने अविनाशी, वाणी के अगोचर परम सुख को किया था ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजी ! केवल काया में ही निरत हृदयस्थ चिदाकाश की एकरूपता से आविर्भूत शम्बरासुर ने इस संसाररूपी माया का परित्याग कर दिया था ॥ ९ ॥

दानवों की कार्यसिद्धि के लिए भगवान् नारायण के साथ युद्ध में तत्पर कुशल शम्बरासुर ने या कुशल नाम के एक अन्य दानव ने परम तत्त्वज्ञान को प्राप्तकर इस संसार का परित्याग कर दिया ॥ १० ॥

समस्त देवताओं का मुखस्वरूप अग्नि क्रियायों में तत्पर होकर भी यज्ञीय लक्ष्मी का चिरकालतक उपभोग करता है, और मुक्त होकर ही इस त्रिभुवन में रहता है ॥ ११ ॥

समस्त देवताओं के द्वारा पीयमान सोम, जिसके भीतर ब्रह्मात्मक रसायन विद्यमान है, सुख, दुःख आदि के संसर्ग को वैसे ही प्राप्त नहीं करता है जैसे पैरों से आक्रमण करने पर आकाश सम्बन्ध को प्राप्त नहीं करता है ॥१२॥

पत्नी के लिए चन्द्रमा के साथ युद्ध करने वाले देवताओं के गुरु बृहस्पति स्वर्गलोक में देवताओं के पौरोहित्याधिकार की विचित्र चेष्टाओं को करते हुए भी मुक्त होकर यहाँ अवस्थित है ॥ १३ ॥

आकाशतल में देदीप्यमान विद्वान् तथा नीतिशास्त्र की रचना के द्वारा समस्त अभिमत अर्थों का परिपालन करने वाले असुरदेशिक शुक्राचार्य निर्विकारबुद्धि होकर ही काल व्यतीत करते हैं ॥ १४ ॥

जगद्भूतगणाङ्गानि चिरं सञ्चारयन्नपि ।
सर्वदा सर्वसञ्चारी मुक्त एव समीरणः ॥ १५ ॥
लोकाजवंजवीभावप्रोद्वेगज्ञोऽप्यखिन्नधीः ।
ब्रह्मा सममना राम ! क्षिपयत्यायुराततम् ॥ १६ ॥
जरामरणयुद्धादिद्वन्द्वसङ्गरलीलया ।
चरतीह चिरं कालं मुक्तोऽपि भगवान्हरिः ॥ १७ ॥
मुक्तेनाऽपि त्रिनेत्रेण सौन्दर्यतरुमञ्जरी ।
देहार्धे धार्यते गौरी कामुकेनेव कामिनी ॥ १८ ॥
मुक्तयाऽपि गले बद्धो गौर्या गौरस्त्रिलोचनः ।
संशुद्ध इव मुक्तानां हारः शशिकलामलः ॥ १९ ॥
गुहो गहनकीर्वारस्तारकादिरणक्रियाम् ।
मुक्तोऽपि कृतवान् सर्वज्ञानरत्नैकसागरः ॥ २० ॥

ऊपर के लोकों का और प्राणि-समूहों के अङ्गों का चिरकाल से संचरण करा रहा वायु, सदा-सर्वदा सर्वत्र संचरण करने वाला होकर भी मुक्त ही स्थित है ॥१५॥

हे श्रीरामजी ! अनेक प्राणियों के समूह के अत्यन्त वेगपूर्वक ऊपर, नीचे और मध्य लोक की गतियों से होने वाले निरन्तर आवर्तन एवं उनसे जनित उद्वेगों के स्वरूप का परिज्ञान रखने वाले ब्रह्मा अखिन्न बुद्धि तथा सममन होकर अपने दो परार्ध वर्ष पर्यन्त अतिविस्तृत आयुष्य का क्षपण करते हैं ॥ १६ ॥

भगवान् श्रीहरि नित्यमुक्त होते हुए भी जरा, मरण, युद्ध आदि द्वन्द्वों की युद्ध-लीला से इस संसार-मण्डल में बहुत काल संचरण करते हैं ।। १७ ॥

नित्यमुक्त, भगवान् त्रिनेत्र शङ्कर जी सौन्दर्य तरु की मञ्जरी रूपा भगवती गौरी को वैसे ही अपने देहार्ध में परिधारण करते हैं जैसे कोई कामुक कामिनी को धारण करे, इस श्लोक में 'इव' शब्द से भगवान् त्रिनेत्र न तो कामुक हैं और न भगवती गौरी कामिनी ही हैं, किन्तु एक ब्रह्म और दूसरी ब्रह्मविद्या है, यह व्यक्त किया है ॥ १८ ॥

मुक्त भगवती गौरी ने त्रिनेत्र धूर्जटि को चन्द्रमा की कला की तरह अति स्वच्छ अत्यन्त धवलवर्ण मोतियों के हार के समान अपने गले में लगाया है ॥ १९ ॥

साधारण बुद्धि वाले लोग जिन पदार्थों को समझ नहीं सकते उन पदार्थों को शीघ्र समझ लेने की तीव्रातितीव्र बुद्धि जिसमें थी और जो वीर था, ऐसे ज्ञानरूपी रत्न के एकमात्र समुद्र स्वामी कार्तिकेय ने मुक्त होते हुए भी तारकासुर आदियों से रणक्रीडा की ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी ! ध्यानरूपी सलिल से धोई गई, धीर मुक्त

भृङ्गीशो रक्तमांसं स्वं स्वमात्रे प्रवितीर्णवान् ।
मुक्तयैव धिया राम ! धीरया ध्यानधौतया ॥ २१ ॥
मुनिर्मुक्तस्वभावोऽपि जगज्जङ्गलखण्डकम् ।
नारदो विजहारेमं शीतया कार्यशीलया ॥ २२ ॥
जीवन्मुक्तमना मान्यो विश्वामित्रोऽप्ययं प्रभुः ।
वेदोक्तां मखनिर्माणक्रियां समधितिष्ठति ॥ २३ ॥
धारयत्यवनीं शेषः करोत्यर्को दिनावलीम् ।
यमो यमत्वं कुरुते जीवन्मुक्ततयैव हि ॥ २४ ॥
अन्येऽप्यस्मिंस्त्रिभुवने यक्षासुरनराः सुराः ।
शतशो मुक्ततां याताः सन्तस्तिष्ठन्ति संसृतौ ॥ २५ ॥
संस्थिता व्यवहारेषु विचित्राचारधारिषु ।
अन्तराशीतलाः केचित् केचिन्मूढाः शिलासमाः ॥ २६ ॥

बुद्धि से ही भृङ्गीश ने अपनी माता को अपने रुधिर और मांस को दिया था। (पुराणों में उल्लेख है कि भृङ्गीश गण भगवती देवी का अनादर कर केवल शिवजी की आराधना में तत्पर हो कुपित देवी ने माता और पिता के भागस्वरूप रुधिर और मांसरूप देह में से अपने मातृभाग को लौटाने की याचना की, इस याचना के अनुसार उसने शिवजी के प्रति एकनिष्ठ भक्ति के प्रकाशनार्थ अनायास माला के द्वारा अपने देह में आये हुए रक्त, मांस आदि को नोचकर उनका प्रदान कर दिया) ॥ २१ ॥

महामुनि नारदजी मुक्तस्वभाव होते हुए भी इस जगत्रूपी जङ्गल के खण्ड में कलहकौतुक को प्रवृत्त करने वाली शान्त बुद्धि से यत्र तत्र विचरण करते हैं ।। २२ ॥

भुवनों में अत्यन्त मान्य, समर्थ यह विश्वामित्र महर्षि जीवन्मुक्तमानस होते हुए भी वेदशास्त्र में विहित यज्ञादि क्रियाओं का अनुष्ठान किया करते हैं ॥ २३ ॥

जीवन्मुक्त होकर ही सहस्रमुक्त, नागराज शेष पृथ्वी को धारण करते हैं, सूर्य भगवान् दिवसों की परम्पराओं का निर्माण करते हैं, यमराज धर्माधर्मविचारपूर्वक लोगों का नियमन करने हैं ।। २४ ।।

दूसरे भी सैकड़ों महात्मा यक्ष, राक्षस, मनुष्य और देवता इस त्रिभुवन में विमुक्तस्वरूप होकर संसार में अनासक्तस्वरूप से अवस्थित हैं ॥ २५ ॥

विचित्र शोक, मोह आदि अनर्थों के उत्पादक तथा पुत्र, स्त्री, धन-सम्पत्ति आदि का संग्रह कर युद्ध, वध बन्धन आदि आचारों से युक्त भी इन सांसारिक राज्यादि व्यवहारों में स्थित कुछ पुरुष भीतर शान्ति से समन्वित अर्थात् मुक्त रहते हैं, और कुछ मूढ तो शिला के समान रहते हैं, अर्थात् अज्ञान में फँसे रहते हैं ॥ २६ ॥

परमं बोधमासाद्य केचित्काननमागताः ।
यथा भृगुभरद्वाजविश्वामित्रशुकादयः ॥ २७ ॥
केचिद्राज्येषु तिष्ठन्ति छत्रचामरपालिताः ।
यथा जनकशर्यातिमान्धातृसगरादयः ॥ २८ ॥
केचिद्व्योमनि तिष्ठन्ति धिष्ण्यचक्रान्तरस्थिताः ।
यथा बृहस्पत्युशनश्चन्द्रसूर्यमुनीश्वराः ॥ २९ ॥
केचित्सुरपदे याता विमानावलिमास्थिताः ।
यथाऽग्निवायुवरुणयमतुम्बुरुनारदाः ॥ ३० ॥
केचित्पातालकुहरे जीवन्मुक्ता व्यवस्थिताः ।
यथा बलिसुहोत्रान्धप्रह्लादा ह्लादपूर्वकाः ॥ ३१ ॥
तिर्यग्योनिष्वपि सदा विद्यन्ते कृतबुद्धयः ।
देवयोनिष्वपि प्राज्ञा विद्यन्ते मूर्खबुद्धयः ॥ ३२ ॥
सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वथा सर्वदैव हि ।
सम्भवत्येव सर्वात्मन्यात्मन्याततरूपिणि ॥ ३३ ॥
विधेर्विचित्रा नियतिरनन्तारम्भमन्थरा ।

जैसे—भृगु, भरद्वाज, विश्वामित्र, शुक आदि कुछ महानुभावों ने उत्कृष्ट आत्मज्ञान का सम्पादन कर चित्त विक्षेप की निवृत्ति के लिए तपोवन का आश्रयण किया है ॥ २७ ॥

जैसे—जनक, शर्याति, मान्धाता, सगर आदि कुछ तत्त्वज्ञ महात्मा आत्मज्ञान प्राप्त कर राज्यकर्म में ही छत्र चामर आदि से रक्षित होकर रहते हैं ॥ २८ ॥

जैसे—बृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सप्तर्षि आदि कुछ तत्त्वज्ञ आकाश में ग्रह, नक्षत्र आदि के आधारभूत ज्योतिश्चक्र के मध्य में अवस्थित हैं ॥ २९ ॥

जैसे—अग्नि, वायु, वरुण, यम, तुम्बरु, नारद आदि कुछ तो देवताओं के पद को प्राप्त होकर विमानों की पंक्तियों के ऊपर आरूढ़ होकर स्थित हैं ॥ ३० ॥

जैसे—बलि, सुहोत्र, अन्ध, प्रह्लाद तथा ह्लाद आदि कुछ महानुभाव पाताल की कन्दरा में जीवन्मुक्त होकर सुस्थित हैं ॥ ३१ ॥

गरुड़, हनुमान्, जाम्बवान् आदि तिर्यक् योनियों में भी सदा कृतबुद्धि महात्मा रहते हैं और देवयोनियों में भी मूर्खबुद्धि वाले बहुत से महामूढ विद्यमान हैं ॥ ३२ ॥

अत्यन्त व्यापक स्वरूप सर्वस्वरूप आत्मा में सब कुछ सर्वभाव से सर्वत्र सब प्रकार से सदा हो सम्भावित हो सकता है ॥ ३३ ॥

अनन्त कार्यों के आरम्भ में निरत विचित्र विधि की नियति है, अतः संनिवेशांश के वैचित्र्य से सब कुछ सब

सन्निवेशांशवैचित्र्यात् सर्वं सर्वत्र दृश्यते ॥ ३४ ॥
विधिर्देवं विधिर्धाता सर्वेशः शिव ईश्वरः ।
इति नामभिरात्मा नः प्रत्यक् चेतन उच्यते ॥ ३५ ॥
अस्त्यवस्तुनि वस्त्वन्तः काञ्चनं सिकतास्विव ।
अस्ति वस्तुन्यवस्त्वन्तर्मलं हेमकणेष्विव ॥ ३६ ॥
अयुक्ते युक्तता युक्त्या प्रेक्ष्यमाणा प्रदृश्यते ।
पापस्य हि भयाल्लोको राम ! धर्मे प्रवर्तते ॥ ३७ ॥
असत्ये सत्यता साधो ! शाश्वती परिलक्ष्यते ।
शून्येन ध्यानयोगेन शाश्वतं पदमाप्यते ॥ ३८ ॥
यत्राऽस्ति तदुदेत्याशु देशकालविलासतः ।
शशकाः शृङ्गवन्तो हि दृश्यन्ते शम्बरस्थितौ ॥ ३९ ॥
ये वज्रसाराः सुदृढा दृश्यन्ते ते क्षयं गताः ।
कल्पस्याऽन्ते यथेन्द्वर्कधराब्धिविबुधादयः ॥ ४० ॥
इति पश्यन् महाबाहो ! भावाभावभवक्रमम् ।
हर्षामर्षविषादेहाः संत्यज्य समतां व्रज ॥ ४१ ॥

जगह दिखाई पड़ता है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मा, दैव, विष्णु, हिरण्यगर्भ, शिव, ईश्वर आदि परमात्मा के नामों से हम सब लोगों का प्रत्यक् चेतनरूप आत्मा ही कहा जाता है ॥ ३५ ॥

अवस्तु में भी भीतर वस्तु रहती है, जैसे—बालू में सुवर्ण तथा वस्तु में भी अवस्तु रहती है, जैसे—सुवर्ण के कणों के भीतर मालिन्य ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी ! अभी युक्त-युक्ति से विमर्श करने पर युक्तता दिखाई पड़ती है, क्योंकि युक्ति से विचार करने पर फलतः भीषण होने से अत्यन्त अयुक्त पाप में भी पुरुष को धर्म में प्रवृत्त कराने का महान् गुण दिखाई पड़ता है ॥ ३७ ॥

हे साधो ! असत्य में भी फलतः शाश्वती सत्यता दिखाई पड़ती है, क्योंकि शून्यात्मक ध्यान-योग से शाश्वत पद की प्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥

वस्तुतः जो नहीं है, उसका भी देश और काल के विलास से शीघ्र प्रादुर्भाव हो जाता है, जैसे ऐन्द्रजालिक सृष्टि में सींगवाले खरगोश भी दिखाई पड़ते हैं ॥ ३९

कभी-भी विनाश न होने वाले सुदृढ़ पदार्थ कल्प अन्त में क्षय को प्राप्त दिखाई पड़ते हैं। जैसे—चन्द्र, पृथ्वी, समुद्र, देवता आदि ॥ ४० ॥

हे महाबहो ! इस प्रकार के भाव-अभावात्मक संक्रम को देख रहे आप हर्ष, अमर्ष, विषाद और अभिलाषाओं का परित्याग कर समभाव को प्राप्त करें ॥४१॥

असत्सदेव भातीह सदसच्चाऽपि दृश्यते ।
आस्थानास्थे परित्यज्य तेनाऽऽशु समतां व्रज ॥ ४२ ॥
मुक्तौ राघव ! लोकेऽस्मिन्न प्राप्तिः संभवत्यलम् ।
अप्रवृत्तौ विवेकस्य मग्ना हि जनकोटयः ॥ ४३ ॥
मुक्तौ राघव ! लोकेऽस्मिन् प्राप्तिरस्ति सदैव हि ।
प्रवृत्त्या हि विवेकस्य विमुक्ता भूतकोटयः ॥ ४४ ॥
प्रविवेकाविवेकाभ्यां सुलभाऽलभ्यतां गता ।
मुक्तिर्मनःक्षयप्राप्त्या विवेकं तेन दीपय ॥ ४५ ॥
आत्मावलोकने यत्नः कर्तव्यो भूतिमिच्छता ।
सर्वदुःखशिरश्छेद आत्मालोकेन जायते ॥ ४६ ॥
नीरागा निरुपासङ्गा जीवन्मुक्ता महाधियः ।
सम्भवन्तीह बहुशः सुहोत्रजनका इव ॥ ४७ ॥
तस्मात्त्वमपि वैराग्यविवेकोदितधीरधीः ।

इस संसार में जो असत् है, वह सत् भी प्रतीत होता हैं और जो सत् है, वह असत्-रूप में भी प्रतीत होता है, इसलिए आस्था और अनास्था का परित्याग कर आप शीघ्र समता प्राप्त कीजिए ॥ ४२ ॥

हे राघव ! मुक्ति हो जाने पर फिर इस संसार में किसी प्रकार जीव की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि करोड़ों मनुष्य असंसारी आत्मा के विवेक की तत्त्वज्ञान की अप्रवृत्ति में ही अज्ञान-दशा में अत्यन्त असंभावित अनर्थों की संभावना रूपी भ्रम में—निमग्न रहते हैं, मुक्ति में नहीं, संसार निमज्जन के हेतु अज्ञान का विनाश हो चुका है ॥ ४३ ॥

हे राघव ! इस संसार में आत्मस्वरूप मुक्ति की सदा ही प्राप्त है, इसलिए आत्मानात्मा के विवेक-विज्ञान की उपलब्धि होने पर करोड़ों मनुष्य विमुक्त हो चुके हैं ॥ ४४ ॥

विवेक से मुक्ति सुलभ और अविवेक से मुक्ति असुलभ हो जाती है, इसलिए आप मनोविनाश कर विवेक का प्रदीपन करें ॥ ४५ ॥

मुक्ति की अभिलाषा करने वाले व्यक्ति को आत्मा के अवलोकन में यत्न करना चाहिए। समस्त दुःखों का शिरच्छेद आत्मा के अवलोकन से ही होता है ॥ ४६ ॥

राग से रहित अभिनिवेशों से शून्य तथा मेधा से सम्पन्न सुहोत्र, जनक आदि के समान इस वर्तमान काल में भी अनेक जीवन्मुक्त विद्यमान हैं ॥ ४७ ॥

आप भी वैराग्य और विवेक से उदित धीर बुद्धि से युक्त मिट्टी के ढेले, पत्थर और काञ्चन में समदृष्टि तथा

जीवन्मुक्तो विहर भो समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ४८ ॥
द्विविधा मुक्तता लोके विद्यते देहधारिणाम् ।
सदेहैका विदेहाऽन्या विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ४९ ॥
असंसङ्गात् पदार्थानां मनःशान्तिर्विमुक्तता ।
सत्यसत्यपि देहे सा सम्भवत्यनघाकृते ॥ ५० ॥
स्नेहसंक्षयमेवाऽङ्ग विदुः कैवल्यमुत्तमम् ।
तत्सम्भवति देहस्य भावे चाऽभाव एव च ॥ ५१ ॥
यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ।
सस्नेहजीवितो बद्धो मुक्त एव तृतीयकः ॥ ५२ ॥
यत्नो यत्नेन कर्तव्यो मोक्षार्थं युक्तिपूर्वकम् ।
यत्नयुक्तिविहीनस्य गोष्पदं दुस्तरं भवेत् ॥ ५३ ॥
न त्वनध्यवसायस्य दुःखाय विपुलात्मने ।
आत्मा परवशः कार्यो मोहमाश्रित्य केवलम् ॥ ५४ ॥

जीवन्मुक्त होकर विहार करें ॥ ४८ ॥

इस लोक में देहधारी जीवों की दो प्रकार की मुक्ति है—एक तो सदेह मुक्ति और दूसरी विदेह-मुक्ति। अब आप उनका विभाग सुनें ॥ ४९ ॥

हे पाप शून्य आकृति वाले ! विषयों के असंसर्ग से मन की शान्ति होती है, वही विमुक्तता है। वह विमुक्तता देह के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों अवस्थाओं में होती है ॥ ५० ॥

उसमें स्नेह-बन्धन का विनाश अर्थात् देहादि में आत्मस्वरूपत्व के विभ्रम से हुई प्रीति का विनाश ही उत्तम मुक्ति है, वह कैवल्य देह की सत्ता रहे चाहे न रहे, दोनों अवस्थाओं में होता है ॥ ५१ ॥

जो विद्वान् विषय-स्नेह से रहित होकर जीवित हैं, यह जीवन्मुक्त है, जो विषय-स्नेह से समन्वित होकर जीवित है, वह बद्ध है और इन दोनों से जो परे है, वह तीसरा मुक्त कहलाता है ॥ ५२ ॥

मोक्ष के लिए शम, दम आदि चार साधनों के लिए यत्न के द्वारा पूर्व-पूर्व की सिद्धि हो जाने पर उत्तरोत्तर विजय पाने के लिए युक्तिपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। जो युक्तिपूर्वक प्रयत्न से वर्जित है, ऐसे पुरुष के लिए गाय का खुरमात्र प्रदेश भी अलङ्घ्य हो जाता है ॥ ५३ ॥

केवल मोह का अवलम्बन कर अध्यवसाय के होने पर प्रयत्न के अनादर से असीम स्वरूपवाले दुःख के लिए आत्मा को परवश नहीं करना चाहिए ॥ ५४ ॥

सुमहद्धैर्यमालम्ब्य मनसा व्यवसायिना ।
विचारयाऽऽत्मनाऽऽत्मानमात्मनश्चिरसिद्धये ।
विततान्ध्यवसायस्य जगद्भवति गोष्पदम् ॥ ५५ ॥

यदुपगतः सुगतः पदं प्रधानं
यदपगतोऽध्रुवतां नृपश्च कश्चित् ।
यदुपगताः पदमुत्तमं महान्तः
प्रयतनकल्पतरोर्महाफलं तत् ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
मुक्तामुक्तविचारो नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

हे रामजी, बड़े धैर्य का आलम्बन कर फल की प्राप्ति तक अनुष्ठित सतत प्रयत्न से जनित दृढ़ निश्चय से युक्त मन से चिरकालिक सिद्धि के लिए अनेक जन्मों से होने वाली मोक्षात्मक सिद्धि के उद्देश्य से अपने द्वारा ही अपना विचार करना चाहिए। जो निरन्तर अध्यवसाय करने वाला पुरुष है, उसके लिए जगत् गाय का खुरमात्र हो जाता है ॥ ५५ ॥

सुगत यानी बुद्धि और प्रकृतिपुरुषभिन्नत्वरूप शोभन विवेक को प्राप्त महामुनि कपिल इन दोनों ने खूब विचार करके भी अध्यवसाय न होने के कारण आत्मतत्त्व से विच्युत होकर क्षणिक विज्ञानों के सन्तान रूप प्रधान पद को प्राप्त किया एवं वेद का निन्दक होने के कारण जिसका नाम लेना समुचित नहीं है ऐसे अर्हद नाम के क्षत्रिय राजा ने भी असली ब्रह्मतत्त्व से विच्युत होकर आत्मा को चित्स्वभाव मान कर भी देह के तुल्य परिमाण वाला मानने से हाथी, मच्छर आदियों के शरीरों प्रवेश करने में अवयवों का उपचय प्राप्त होने के कारण अध्रुव ही माना है, इसलिए ये तीनों अनुत्तम मिथ्यापद में ही निमग्न हैं और वेद के रहस्य में निष्णात महानुभावों ने तो उत्तम सत्यादि स्वरूप परमपद को यथार्थ रूप से प्राप्त किया है, वह वेदोक्त मार्ग से प्राप्त किया गया पद प्रयत्नलक्षण कल्पतरु का महान् फल है ॥ ५६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के उपशमप्रकरण में
मुक्तामुक्तविचार नामक कुसुमलता का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७५ ॥

७६

वसिष्ठ उवाच

ब्रह्मणः समुपायान्ति जगन्तीमानि राघव ! ।
स्थैर्यं यान्त्यविवेकेन शाम्यन्त्येव विवेकतः ॥ १ ॥
जगज्जालजलावर्तवृत्तयो ब्रह्मवारिधौ ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते भासां च त्रसरेणवः ॥ २ ॥
असम्यक्प्रेक्षणं विद्धि कारणं जगतः स्थितौ ।
संसारशान्तये कान्त कारणं सम्यगीक्षणम् ॥ ३ ॥
अयं हि परदुष्पारो घोरः संसारसागरः ।
विना युक्तिप्रयत्नाभ्यामस्माद्राम ! न तीर्यते ॥ ४ ॥
यस्याऽयं सागरः पूर्णो मोहाम्बुभरपूरितः ।
अगाधमरणावर्तकल्लोलाकुलकोटरः ॥ ५ ॥
प्रभ्रमत्पुण्यडिण्डीरो ज्वलन्नरकवाडवः ।
तृष्णाविलोललहरिर्मनोजलमतङ्गजः ॥ ६ ।

७६

महाराज वसिष्ठ ने कहा—हे राघव ! समस्त जगत् अविज्ञात ब्रह्म से ही आविर्भूत होते हैं और आत्मा और अनात्मा के अविवेक से ये स्थिरता को प्राप्त होते हैं और विवेक से विनष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मरूपी समुद्र में जगत्-समूह रूपी जल के तरङ्गों का परिगणन कौन कर सकता है? क्या कोई जाले के भीतर आई हुई सूर्य-किरणों से सम्बन्ध रखने वाले त्रसरेणुओं का परिगणन कर सकता है? ॥ २ ॥

आत्मा का यथार्थज्ञान न होना ही जगत् की स्थिति में कारण है और आत्मा का यथार्थ ज्ञान ही संसार के विनाश में कारण है, यह आप अवगत करें ॥ ३ ॥

इस घोर संसार-सागर से पार हो जाना अत्य दुष्कर है, युक्ति और प्रयत्न के सिवा इसको पार किया जा सकता ॥ ४ ॥

जिसके मोहरूपी जलों से भरा गया, पूर्ण य रूपी सागर जो कि—मरण रूपी अगाध आवर्त बड़े-बड़े तरङ्गों से व्याप्त कोटरों से युक्त है ॥ ५ ।

जिसमें चक्कर काट रहे पुण्यरूपी फेन हैं, हुआ नरक रूपी वडवानल है और तृष्णारूप लहरियाँ हैं तथा जल में उत्पन्न हुआ मनरूपी जर है ॥ ६ ॥

आलीनजीवितसरित् भोगरत्नसमुद्गकः ।
क्षुब्धरोगोरगाकीर्ण इन्द्रियग्राहघर्घरः ॥ ७ ॥
पश्याऽस्मिन् प्रसृता राम ! वीचयश्चारुचञ्चलाः ।
इमा मुग्धाङ्गनानाम्न्यः शिखराकर्षणक्षमाः ॥ ८ ॥
छदश्रीपद्मरागाढ्या नेत्रनीलोत्पलाकुलाः ।
दन्तपुष्पफलाकीर्णाः स्मितफेनोपशोभिताः ॥ ९ ॥
केशेन्द्रनीलवलया भ्रूविलासतरङ्गिताः ।
नितम्बपुलिनस्फीताः कण्ठकम्बुविभूषिताः ॥ १० ॥
ललाटमणिपट्टाढ्या विलासग्राहसङ्कुलाः ।
कटाक्षलोलगहना वर्णकाञ्चनवालुकाः ॥ ११ ॥
एवं विलोललहरिभीमात् संसारसागरात् ।
उत्तीर्यते चेन्मग्नेन तत्परं पौरुषं भवेत् ॥ १२ ॥
सत्यां प्रज्ञामहानावि विवेके सति नाविके ।
संसारसागरादस्माद्यो न तीर्णो धिगस्तु तम् ॥ १३ ॥

जिसमें जीवित रूपी नदियाँ लीन हो जाती हैं एवं जो विषयोपभोग रूपी रत्नों की पिटारी है, क्षुब्ध रोग रूपी सर्पों से आक्रान्त है, जिसमें इन्द्रियरूपी मगरों की घर-घर ध्वनि होती है ॥ ७ ॥

श्रीरामजी देखिये इसमें अत्यन्त चपल, बड़े-बड़े शिखरों की तरह धीर महानुभावों का आकर्षण करने की क्षमता रखने वाली मुग्ध अङ्गनारूपी विस्तृत वीचियाँ हैं, ये वीचियाँ दन्तच्छदों की शोभा से पद्मराग मणियों से समन्वित- नेत्ररूपी नील कमल से व्याप्त, दाँतरूपी मुकुलों से युक्त, स्मितरूपी फेन से सुशोभित, केशरूपी इन्दुनील मणि से वेष्टित, भौंके विलासरूपी तरङ्गों से तरङ्गित, नितम्बरूपी पुलिन से स्फीत, कण्ठरूपी शङ्खों से विभूषित, ललाटरूपी मणिपट्टों से (रत्नफलकों से) आढ्य विलासरूपी मगरों से युक्त, कटाक्षों की चपलता के कारण अतिगहन, देहकान्तिरूपी सुवर्ण बालुका से युक्त हैं ॥ ८-११ ॥

इस प्रकार की अतिचंचल लहरियों के कारण जो अत्यन्त भयंकर है—उसमें निमग्न हुआ पुरुष यदि पार हो जाय, तो वह परम पुरुषार्थ ही होगा ॥ १२ ॥

प्रज्ञारूपी बड़ी नौका और विवेकरूपी नाविक के रहने पर यदि इस संसाररूपी सागर से पार होने पर तो उस पुरुष को धिक्कार है ॥ १३ ॥

असीम संसार-समुद्र का आत्मतत्त्व के दर्शन से नाश कर उसको चारों ओर से प्रमेय ब्रह्मस्वरूप बसाकर प्रत्यग् आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है, वही पुरुष कहा जाता है ॥ १४ ॥

अपारावारमाक्रम्य प्रमेयीकृत्य सर्वतः ।
संसाराब्धि गाहते यः स एव पुरुषः स्मृतः ॥ १४ ॥
विचार्याऽऽर्यैः सहाऽऽलोक्य धिया संसारसागरम् ।
एतस्मिंस्तदनुक्रीडा शोभते राम ! नाऽन्यथा ॥ १५ ॥
इह भव्यो भवान् साधो ! विचारपरया धिया ।
त्वयाऽधुनैव तेनाऽयं संसारः प्रविचार्यते ॥ १६ ॥
भवानिव विचार्याऽऽदौ संसारमतिकान्तया ।
मत्या यो गावते लोको नेहाऽसौ परिमज्जति ॥ १७ ॥
पूर्वं धिया विचार्यंते भोगा भोगिभयप्रदाः ।
भोक्तव्याश्चरमं राम ! गरुडेनेव पन्नगाः ॥ १८ ॥
विचार्य तत्त्वमालोक्य सेव्यन्ते या विभूतयः ।
ता उदर्कोदया जन्तोः शेषा दुःखाय केवलम् ॥ १९ ॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च दृष्टतत्त्वस्य वर्धते ।
सवसन्तस्य वृक्षस्य सौन्दर्याद्या गुणा इव ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी ! बड़े-बड़े तत्त्वज्ञों के साथ ब्रह्म का विचार कर तथा वैसी बुद्धि से संसार-सागर का अवलोकन कर, तत्त्वज्ञान के अनन्तर ब्रह्मरूपता को प्राप्त जगत् में क्रीडा शोभित होती है, अन्यथा नहीं ॥ १५ ॥

हे साधो ! इस संसार में आप धन्य हैं, क्योंकि विचारप्रवीण बुद्धि से आप इसी बाल अवस्था में धन्यता के कारण ही इस संसार के विषय में विचार करते हैं ॥१६॥

आपकी तरह संसार का विचार प्रवीण अति उत्तम बुद्धि से पहले विचार कर जो अधिकारी पुरुष ब्रह्म में अवगाहन करता है, वह कभी संसार में नहीं फँसता है ॥ १७ ॥

हे श्रीरामजी ! सबसे पहले सर्प के समान भय देने-वाले भोगों के स्वरूप का बुद्धि से विचार कर उनकी वैसे ही उपेक्षा करनी चाहिए और फिर उनका उपभोग करना चाहिए जैसे गरुड़जी के द्वारा अमृत लाने के पहले सर्पों की उपेक्षा की गई थी, फिर माता के शापविमोचन के अनन्तर उनका निःशेष उपभोग किया जाता है ॥१८॥

विचारपूर्वक तत्त्व को प्रत्यक्षकर जिन राज-विभूतियों का उपभोग किया जाता है, वे जन्तु को महान् मोक्षात्मक उदय देनेवाली होती हैं और शेष केवल दुःख के लिए हैं ॥ १९ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुष के बल, बुद्धि और तेज वैसे ही बढ़ते हैं, जैसे वसन्त ऋतु से युक्त वृक्ष के सौन्दर्य आदि गुण बढ़ते हैं ॥ २० ॥

घनरसायनपूर्णसुशीतया शिशिररश्मिरिवाऽतिविराजसे
विमलया समया सततं श्रिया । विदितवेद्य सुखं रघुनन्दन ! ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे संसारसागरसाम्यप्रतिपादनं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

हे विदित-वेद्य श्रीरघुनन्दन ! वेद्य वस्तु को जान लेने के कारण इस समय घनीभूत आनान्दामृत रसायन से आप परिपूर्ण, सुशीतल त्रिविध तापों से शून्य, निर्मल, सम और विस्तृत श्री से पूर्णचन्द्र की तरह अत्यन्त शोभायमान हो रहे हैं ॥ २१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामयण के उपशमप्रकरण में संसारसागर साम्यप्रतिपादन नामक कुसुमलता का छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७६ ॥

७७

श्रीराम उवाच

समासेन मुने ! भूयो दृष्टतत्त्वचमत्कृतेः ।
कथयोदारवृत्तान्तं कस्ते वचसि तृष्यति ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

जीवन्मुक्तस्य बहुधा कथितं लक्षणं मया ।
भूयोऽपि त्वं महाबाहो ! कथ्यमानमिदं शृणु ॥ २ ॥
सुषुप्तवदिदं नित्यं पश्यत्यपगतैषणः ।
असद्रूपमिवाऽसक्तं सर्वत्राऽखिलमात्मवान् ॥ ३ ॥
कैवल्यमिव संप्राप्तः परिसुप्तमना इव ।
घूर्णमान इवाऽऽनन्दी तिष्ठत्यधिगतात्मदृक् ॥ ४ ॥
नाऽऽदत्तमप्युपादत्ते गृहीतमपि पाणिना ।
अन्तर्मुखतयोदात्तरूपया समया धिया ॥ ५ ॥
यन्त्रपुत्रकसञ्चार इतीमं जनताक्रमम् ।
अन्तःसंलीनया दृष्ट्या पश्यन् हसति शान्तधीः ॥ ६ ॥
नाऽपेक्षते भविष्यं च वर्तमाने न तिष्ठति ।
न संस्मरत्यतीतं च सर्वमेव करोति च ॥ ७ ॥
सुप्तः प्रबुद्धो भवति प्रबुद्धोऽपि च सुप्तवान् ।
सर्वं कर्म करोत्यन्तर्न करोति च किञ्चन ॥ ८ ॥

७७

श्रीराम ने कहा—हे मुने ! ब्रह्मतत्त्वरूप चमत्कार का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लेने पर तत्त्वज्ञ विद्वान् का उदार चरित्र आप हमसे समासतः कहिए, क्योंकि आपके वचन से किसको तृप्ति हो सकती है ? ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठ ने कहा—हे महाबाहो ! बहुधा मैंने आपसे जीवन्मुक्त के लक्षण कहे हैं, फिर भी मैं आपसे पुनः कह रहा हूँ, उसे सुनें ॥ २ ॥

जिसकी विषयाभिलाषाएँ समाप्त हैं, ऐसा तत्त्वविद् पुरुष इस दृश्यमान अखिल जगत् को सर्वत्र सुषुप्त की तरह व्यवहार दृष्टि से सुषुप्त के समान तमःस्वरूपमात्र सदा देखता है और परमार्थ दृष्टि से बाधित की केवल अनुवृत्ति होने के कारण असत् की तरह अनासक्तिपूर्वक देखता है ॥ ३ ॥

आत्मज्ञान प्राप्त करने वाला आत्मज्ञानी पुरुष कैवल्य को प्राप्त के समान चारों ओर प्रसुप्त मन से युक्त-सा तथा घूर्णमान आनन्दवान्-सा अवस्थित रहता है ॥ ४ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुष पहले चक्षु आदि से देखे गये और पीछे हाथ आदि से परिगृहीत हुए भी अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओं का बुद्धि से, अन्तर्मुख होने के कारण अत्यन्त उदार और समस्वरूप का ग्रहण नहीं सकता ॥ ५ ॥

शान्त बुद्धि से सम्पन्न विद्वान् अन्तरात्मा में लीन दृष्टि से यह जनता का व्यवहार असङ्ग, उदासीन आत्मा की केवल सन्निधि से प्रवृत्त होने के कारण काष्ठनिर्मित जड़ प्रतिमा के संचारण के समान जानकर हंसता रहता है ॥ ६ ॥

तत्त्ववित् भविष्य की न अपेक्षा करता है, न वर्तमान में समासक्ति करता है, न भूतकालीन वस्तु का स्मरण करता है और सब कुछ करता भी है ॥ ७ ॥

व्यावहारिक वस्तुओं के विषय में सुप्तप्राय होता हुआ अपनी आत्मा में जाग्रत रहता है । अर्थात् 'या निशा सर्व-भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' अज्ञ जीवों के प्रति सर्वथा अज्ञात होने के कारण उनके लिए निशास्वरूप जो आत्मा है, उसमें ज्ञानी पुरुष जागता रहता है । सब कुछ कर्म करता है, तथापि भीतर से कुछ नहीं करता है ॥ ८ ॥

अन्तःसर्वपरित्यागी नित्यमन्तरनेषणः ।
कुर्वन्नपि बहिः कार्यं सममेवाऽवतिष्ठते ॥ ९ ॥
बहिः प्रकृतसर्वेहो यथाप्राप्तक्रियोन्मुखः ।
स्वकर्मक्रमसंप्राप्तबन्धुकार्यानुवृत्तिमान् ॥ १० ॥
समग्रसुखभोगात्मा सर्वाशास्विव संस्थितः ।
करोत्यखिलकर्माणि त्यक्तकर्तृत्वविभ्रमः ॥ ११ ॥
उदासीनवदासीनः प्रकृतः क्रमकर्मसु ।
नाऽभिवाञ्छति न द्वेष्टि न शोचति न हृष्यति ॥ १२ ॥
अनुबन्धपरे जन्तावसंसक्तेन चेतसा ।
भक्ते भक्तसमाचारः शठे शठ इव स्थितः ॥ १३ ॥
बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेषु धैर्यवान् ।
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेष्वनु दुःखितः ॥ १४ ॥

अपने भीतर सम्पूर्ण वस्तुओं का परित्याग करनेवाला तथा सदा भीतर इच्छाओं से रहित तत्त्ववित् ऊपर-ऊपर से उन्मना होकर कार्यों को करता हुआ भी एक-रूप से ही स्थित रहता हैं ॥ ९ ॥

जिसने बाहर से समस्त वस्तुओं की इच्छा की है, जो समयानुसार प्राप्त हुए देह, वर्ण और आश्रमों के उपयोगी कर्मों में तथा पिता, पितामह आदि क्रमपरम्परा से प्राप्त हुए राज्य आदि काम, बन्धुओं के कार्य तथा दान, मान आदि कर्मों में केवल अनुवृत्ति रखने वाला होता है ॥ १० ॥

समस्त सुखभोगों को आत्मस्वरूप समझने वाला अथवा समस्त सुखभोगों का स्वयं ही आत्मस्वरूप है, इसीलिए अज्ञानियों की दृष्टि में भोगकाल में समस्त विषयाभिलाषाओं में अवस्थित तत्त्ववित् समस्त कर्मों को करता है, परन्तु उसने कर्तृत्वाभिमान का परित्याग करके सम्पन्न करता है ॥ ११ ॥

प्रकृत तत्त्वज्ञ उदासीन पुरुष की तरह अवस्थित रहता है। परम्पराक्रम से सम्प्राप्त कर्मों में प्राप्त इष्ट और अनिष्ट फलों को न चाहता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न प्रसन्न होता है ॥ १२ ॥

तत्त्वज्ञ अनुकूल और प्रतिकूल आचरण में तत्पर प्राणी के ऊपर अनासक्त चित्त से, भक्त के विषय में भक्त के आचरण से और शठ के विषय में शठ के सदृश स्थित है ॥ १३ ॥

बालकों में बालक, वृद्धों में वृद्ध, धीरों में धैर्यवान्, यौवनवृत्तिवालों में युवा और दुःखितों में दुःखी-सा रहता है ॥ १४ ॥

प्रवृत्तवाक्पुण्यकथो दैन्याद्व्यपगताशयः ।
धीरधीरुदितानन्दः पेशलः पुण्यकीर्तनः ॥ १५ ॥
प्राज्ञः प्रसन्नमधुरः पूर्णः स्वप्रतिभोदये ।
निरस्तखेददौर्गत्यः सर्वस्मिन् स्निग्धबान्धवः ॥ १६ ॥
उदारचरिताकारः समः सौम्यसुखोदधिः ।
सुस्निग्धः शीतलस्पर्शः पूर्णचन्द्र इवोदितः ॥ १७ ॥
न तस्य सुकृतेनाऽर्थो न भोगैर्न च कर्मभिः ।
न दुष्कृतैर्न भोगानां संत्यागेन न बन्धुभिः ॥ १८ ॥
न कार्यकारणारम्भैर्न निष्क्रततया तथा ।
न बन्धेन न मोक्षेण न पातालेन नो दिवा ॥ १९ ॥
यथावस्तु यथादृष्टं जगदेकमयात्मकम् ।
तदा बन्धविमोक्षाणां न क्वचित्कृपणं मनः ॥ २० ॥

तत्त्वज्ञ मुनि अपने मुख से पवित्र कथाओं को ही कहता है, बालक आदि की तरह व्यर्थ भाषण नहीं करता है। उसका अन्तःकरण दीनता से वर्जित रहता है। वह धीर बुद्धिवाला, उदित आनन्द से युक्त तथा दक्ष रहता है और लोक में उसके पुण्य चरित्रों का वर्णन होता है ॥ १५ ॥

प्राज्ञ प्रसन्न और मधुर अपनी प्रतिभा के उदय में पूर्ण, खेदरूपी दुर्गति से रहित तथा समस्त मनुष्यों में स्निग्ध बन्धुभाव रखनेवाला होता है ॥ १६ ॥

तत्त्वज्ञ उदार चरित और उदार आकार से युक्त, सम, सौम्य सुख का समुद्र सुस्निग्ध है, उसका स्पर्श सर्वविध संताप का अपहरण करनेवाला है और वह पूर्णचन्द्र की तरह पूर्ण उदय से समन्वित है ॥ १७ ॥

तत्त्वज्ञ महात्मा को पुण्य कर्मों के अनुष्ठान से और न भोगों से एवं लौकिक कर्मों से कोई प्रयोजन नहीं है और न निषिद्ध कर्मों से, न भोगों के परित्याग से और न बन्धुओं से ही प्रयोजन है ॥ १८ ॥

उसका आवश्यक कार्यों के और ऐहिक और आमुष्मिक जल के हेतु कर्मों के आरम्भ से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है न कर्मों के अभाव से, बन्ध से नहीं मोक्ष से, पाताल से और स्वर्ग से उसको प्रयोजन नहीं है ॥१९॥

तत्त्वज्ञ महानुभाव के द्वारा समस्त जगत् की स्वरूपभूत अद्वितीय आत्म रूप यथार्थ वस्तु का भली प्रकार परिज्ञान कर लेने पर उसका मन सांसारिक सुख और दुःख एवं दुःखकारणों की निवृत्ति-स्वरूप मुक्ति—इन दोनों के बीच में कहीं भी कार्पण्य से युक्त नहीं होता है ॥ २० ॥

सम्यग्ज्ञानाग्निना यस्य दग्धाः सन्देहजालिकाः ।
निःशङ्कमलमुड्डीनः तस्य चित्तविहङ्गमः ॥ २१ ॥
यस्य भ्रान्तिविनिर्मुक्तं मनः समरसं स्थितम् ।
नाऽस्तमेति न चोदेति व्योमवत्सर्वदृष्टिषु ॥ २२ ॥
मञ्जूषायां निषण्णस्य यथा बालस्य चेष्टते ।
अङ्गावल्यनुसन्धानवर्जितं यस्य वै तथा ॥ २३ ॥
घूर्णन् क्षीब इवाऽऽनन्दी मन्दीभूतपुनर्भवः ।
अनुपादेयबुद्ध्या तु न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ २४ ॥
सर्वं सर्वप्रकारेण गृह्णाति च जहाति च ।
अनुपादेयसर्वार्थो बालवच्च विचेष्टते ॥ २५ ॥
स तिष्ठन्नपि कार्येषु देशकालक्रियाक्रमैः ।
न कार्यसुखदुःखाभ्यां मनागपि हि गृह्यते ॥ २६ ॥

सम्यक्-ज्ञानरूपी अग्नि से जिसके सन्देहरूपी जाल के विनष्ट हो जाने पर उस महात्मा का चित्तरूपी पक्षी निःसंशय पर्याप्त रूप से उड़ जाता है, ऐसी स्थिति में तत्त्वज्ञ के मन में कार्पण्य की संभावना ही नहीं है ॥ २१ ॥

अन्तःकरण भ्रान्ति से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्म स्वरूप हो जाने पर वह आकाश की तरह सभी दृष्टियों में वह अस्त को नहीं प्राप्त करता है और न उदय को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

दोलारूपी सुखशय्या में उपविष्ट बालक का अन्तः-करण तत्त्वज्ञ का अन्तःकरण भी किसी प्रकार के बाह्यों के अनुसन्धान से वर्जित होकर वैसे ही चेष्टा करता है जैसे अङ्गों की आवली के अनुसन्धान से वर्जित होकर चेष्टा करता है ॥ २३ ॥

पुनर्जन्म मन्द हो जानेपर आनन्द-सागर में निमग्न तत्त्ववित्, घूर्णमान मद्यप की तरह अनुपादेय बुद्धि से किये गये कर्मों का और अकृत का स्मरण नहीं करता है, क्योंकि अनुपादेय बुद्धि से उसकी नियमतः कृता-कृत की स्मारक क्रियाफलोपादेयता-बुद्धि नष्ट हो गई है ॥ २४ ॥

समस्त अर्थ अनुपादेय हो जानेपर तत्त्ववित् सब प्रकार से समस्त वस्तुओं का ग्रहण भी करता है और परित्याग भी करता है, उसकी चेष्टा बालक के सदृश रहती है ॥ २५ ॥

देश और काल के अनुसार प्राप्त क्रिया-कलापों एवं तत्-तत् कार्यों में स्थित रह कर भी वह कर्मों से जनित सुख और दुःखों से तनिक भी अभिभूत नहीं होता है ॥ २६ ॥

बहिः प्रकृतसर्वार्थोऽप्यन्तः पुनरनीहया ।
न सत्तां योजयत्यर्थे न फलान्यनुधावति ॥ २७ ॥
नोपेक्षते दुःखदशां न सुखाशामपेक्षते ।
कार्योदये नैति मुदं कार्यनाशे न खिद्यते ॥ २८ ॥
अपि शीतरुचावर्के सुतप्तेऽपीन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ विस्मयोऽस्य न जायते ॥ २९ ॥
चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः ।
इत्यस्याऽऽश्चर्यजालेषु नाऽभ्युदेति कुतूहलम् ॥ ३० ॥
न दयादैन्यमादत्ते न क्रौर्यमनुधावति ।
न लज्जामनुसन्धत्ते नाऽलज्जत्वं च गच्छति ॥ ३१ ॥
न कदाचन दीनात्मा नोद्धतात्मा कदाचन ।
न प्रमत्तो न खिन्नात्मा नोद्विग्नो न च हर्षवान् ॥ ३२ ॥

तत्त्वज्ञ ऊपर-ऊपर से समस्त कार्यों को करता है, पर भीतर से किसी प्रकार की इच्छा न रहने के कारण बाह्य अर्थों में सत्यता-बुद्धि से किसी तरह की आस्था नहीं करता और न उससे जनित फलों की अभिलाषी ही करता है ॥ २७ ॥

सन्निहित दुःखावस्था की उपेक्षा भी नहीं करता और न सुखावस्था की अपेक्षा ही करता है। कार्यों के सफल होनेपर न हर्ष करता है और कार्यों के विनष्ट होनेपर खिन्न होता है ॥ २८ ॥

सूर्य शीतकान्ति हो जानेपर चन्द्रमा का मण्डल तपने पर अग्नि की ज्वाला नीचे की ओर होनेपर भी तत्त्वज्ञ को आश्चर्य-बुद्धि नहीं होती ॥ २९ ॥

तत्त्ववित् पुरुष यह जानता है कि परब्रह्म चिदात्मा की असीम ये मायाशक्तियाँ इस प्रकार प्रस्फुरित हो रही हैं, इसलिए सैकड़ों आश्चर्यजनक घटनाओं के होनेपर भी उसको आश्चर्य नहीं होता है ॥ ३० ॥

तत्त्वज्ञ मुनि दया और दीनता का परिग्रह नहीं करता, न क्रूरता का अनुधावन करता है, न लज्जा का और न निर्लज्जता का अनुभव करता है ॥ ३१ ॥

वह कभी-भी दीनतायुक्त स्वरूप वाला और कभी उद्धत स्वरूप वाला नहीं होता। वह कभी प्रमत्त, खिन्नात्मा उद्विग्न और हर्षयुक्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
न शक्यते चालयितुं देवैरपि सवासवैः ॥ ८४ ॥
परव्यसनिनी नारी केन भर्त्रा बलीयसा ।
विस्मारिता स्वसङ्कल्पकान्तसङ्गमहोत्सवम् ॥ ८५ ॥
जगत्समरसानन्दचिदालोकावलम्बनम् ।
केन विस्मार्यते बुद्धिस्तत्त्वज्ञस्य महात्मनः ॥ ८६ ॥
समग्रसुखदुःखाढ्यं व्यवहारमखण्डितम् ।
कुर्वन् कुलजनायत्तो भर्तृश्वशुरखेदितः ॥ ८७ ॥
यथा सङ्कल्पकान्तेन भवत्यानन्दमन्थरः ।
वधूलोको व्यसनवान् दुःखवृन्दैर्न बाध्यते ॥ ८८ ॥
तथा विगलिताविद्यो व्यवहारपरोऽप्यलम् ।
सम्यग्दृष्टिः सदाचारो मुदमेत्यन्तरात्मना ॥ ८९ ॥
छिद्यते न निकृत्ताङ्गो गलदश्रुर्न रोदिति ।
दह्यते न प्रदग्धोऽपि नष्टोऽपि न विनश्यति ॥ ९० ॥
व्यपगतसुखदुःखसन्निपातो
विधिविधुरेष्वपि सङ्कटेष्वचित्तः ।
विलसतु सदने पुरोत्तमे वा
विततगिरौ विपिने तपोवने वा ॥ ९१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
वैराग्योपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार विशुद्ध परब्रह्मतत्त्व में उत्तम विश्रान्ति को प्राप्त कर धीरतत्त्वज्ञ पुरुष इन्द्र के साथ हजारों देवताओं से भी विचलित नहीं किया जा सकता ॥ ८४ ॥

परपुरुष के सङ्ग में व्यसन रखनेवाली अपनी पत्नी को उसके संकल्प में अवस्थित परकान्तसङ्गमरूपी महोत्सव का विस्मरण कराया हो ऐसा कौन बलवान् स्वामी है ॥ ८५ ॥

हे राघव ! सांसारिक विभिन्न विषयानन्दरूपी जो अनेक पुण्यरस हैं, वे सब जिसमें शहद के छत्ते की तरह एकरस हो जाते हैं, ऐसे स्वात्मानन्दचिदालोक के निरन्तर आस्वादनधारा को प्राप्त तत्त्वज्ञ महात्मा की बुद्धि का विस्मरण कौन करा सकता है ? एकबार अर्थात् जिसने ज्ञानामृतरूपी रस का आस्वाद न प्राप्तकर मन समस्त व्यापारों को छोड़कर उसी में अनुधावन करता है ॥ ८६ ॥

समग्र सुख और दुःख से युक्त व्यवहारों को अर्थात् घर के कामों को विधिपूर्वक कर रही पति, सास और ससुर के द्वारा पीड़ित भी कुलजनों के आश्रित वधू, परसङ्ग में आसक्ति रखने पर जिस प्रकार सङ्कल्प-कान्त से आनन्दनिभोर होती है, और दुःखों से पीड़ित नहीं होती है ॥ ८७-८८ ॥

उसी प्रकार जिस महात्मा की अविद्या निवृत्त हो गई है, जिसकी भली प्रकार की तत्त्वबुद्धि है तथा जो सुन्दर आचरणों से युक्त है, ऐसा महात्मा पर्याप्तरूप से व्यवहार में निरत होनेपर भी अपने अन्तरात्मा से प्रसन्नता को प्राप्त करता रहता है ॥ ८९ ॥

सप्तम भूमिका में समारूढ़ योगी छिन्नाङ्ग हो कर भी छेदित नहीं होता है । गिर रहे अश्रुओं से युक्त होता हुआ भी रोता नहीं है, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता है, विनष्ट देह होता हुआ भी नष्ट नहीं होता है ॥ ९० ॥

मन के विनाशपर्यन्त भूमिका में सुप्रतिष्ठित पुरुष धौरेय तत्त्वज्ञ पूर्वकालिक प्रारब्धफलरूपी कर्म से विधुर भोगशून्य दरिद्र-अवस्था में या माण्डव्य की तरह शूलाधिरोहणरूपी संकटावस्थाओं में या उत्तमनगरस्थ सदन में या भयङ्कर अटवी में या तपोवन में भले ही रहे, तथापि वह सदा-सर्वदा सुखदुःख के संनिपात से दूर ही रहता है, तनिक भी सांसारिक हर्ष, शोक के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता है ॥ ९१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
उद्दालकविचारविलास नामक कुसुमलता का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

७५

वसिष्ठ उवाच

जनकः संस्थितो राज्ये व्यवहारपरोऽपि सन् । विगतज्वर एवाऽन्तरनाकुलमतिः सदा ॥ १ ॥

७५

महाराज वसिष्ठ ने कहा—अपने राज्य में समयोचित व्यवहार में तत्पर राजा जनक अखिल मानसिक चिन्तारूपी ज्वर से रहित तथा भीतर आकुलमति से शून्य होकर ही सदा अवस्थित थे ॥ १ ॥

पितामहो दिलीपस्ते सर्वारम्भपरोऽप्यलम् ।
वीतरागतयैवाऽन्तर्बुभुजे मेदिनीं चिरम् ॥ २ ॥
निरञ्जनतया बुद्धो जनतां पालयंश्चिरम् ।
जीवन्मुक्ताकृतिर्नित्यं मनू राज्यमपालयत् ॥ ३ ॥
विचित्रबलयुद्धेषु व्यवहारेषु भूरिषु ।
मान्धाता सुचिरं तिष्ठन् प्राप्तवान् वै परं पदम् ॥ ४ ॥
बलिः पातालपीठस्थः कुर्वन् सदिव संस्थितिम् ।
सदा त्यागी सदाऽसक्तो जीवन्मुक्त इति स्थितः ॥ ५ ॥
नमुचिर्दानवाधीशो देवद्वन्द्वपरः सदा ।
नानाचारविचारेषु क्वचिन्नाऽन्तरतप्यत ॥ ६ ॥
वासवाजौ तनुत्यागी वृत्रो विततमानसः ।
अन्तःशान्तमना मानी चकार सुरसङ्गरम् ॥ ७ ॥
कुर्वन् दानवकार्याणि पातालतलपालकः ।

आप के पितामह महाराज दिलीप ने अनेक तरह के उचित सांसारिक कर्मों में सर्वदा निरत होने पर भी भीतर आसक्ति से वर्जित होकर ही दीर्घकाल तक पृथ्वी का उपभोग किया ॥ २ ॥

राग आदि की कालिमा से रहित आत्मज्ञान को प्राप्त महाराज मनु ने चिरकाल तक प्रजाओं का पालन करते हुए सर्वदा जीवन्मुक्तस्वरूप होकर राज्य का संरक्षण किया ॥ ३ ॥

विचित्र सैन्य तथा बाहुबल का उपयोग होने वाले युद्धों में तथा अनेक व्यवहारों में दीर्घकाल तक स्थित रहे महाराज मान्धाता ने आखिर परम पद को प्राप्त किया ॥ ४ ॥

पाताल की पीठ पर आसीन होकर बलिराज यथार्थ व्यवहार को करते हुए भी सदा त्यागी, सदा असक्त और जीवन्मुक्तरूप से स्थित रहे। 'दिवसस्थितिम्' यदि पाठ हो तो 'पाताल में निवास करने के लिए भगवान् के द्वारा नियमित दिवसों का परिपालन करते हुए महाराज बलि जीवन्मुक्त होकर अवस्थित हैं' यह अर्थ है ॥ ५ ॥

दानवों का अधिपति नमुचि सदा देवताओं के साथ युद्ध या मर्यादाव्यतिक्रम में तथा अनेकविध देव और दानवों के आचरण एवं विचार-विमर्शों में तत्पर हो कर भी भीतर से सन्तप्त (खिन्न) नहीं होता था ॥ ६ ॥

इन्द्र के युद्ध में अपने शरीर का परित्याग करनेवाले अभिमानी वृत्रासुर ने, अत्यन्त उदार अन्तःकरण वाला भीतर प्रशान्तमन होकर ही देवताओं के साथ युद्ध किया ॥ ७ ॥

अनपायं निराक्रोशं प्रह्लादो ह्लादमागतः ॥ ८ ॥
शम्बरैकपरोऽप्यन्तःशम्बरैकतयोदितः ।
संसारशम्बरं राम ! शम्बरस्त्यक्तवानिदम् ॥ ९ ॥
असक्तबुद्धिर्हरिणा कुर्वन् दानवसङ्गरम् ।
परां संविदमासाद्य कुशलस्त्यक्तवानिदम् ॥ १० ॥
सर्वामरमुखो वह्निः क्रियाजालपरो ह्यपि ।
यज्ञलक्ष्मीश्चिरं भुङ्क्ते मुक्त एवेह तिष्ठति ॥ ११ ॥
पीयमानः सुरैः सर्वैः सोमः समरसाशयः ।
क्वचिदेति न संसङ्गमाक्रान्तावम्बरं यथा ॥ १२ ॥
बृहस्पतिर्देवगुरुर्दारार्थं चन्द्रयोध्यपि ।
आचरन् दिवि चित्रेहां मुक्त एव ह्यवस्थितः ॥ १३ ॥
शुक्रोऽम्बरतलद्योती बुधः सर्वार्थपालकः ।
निर्विकारमतिः कालं नयत्यसुरदेशिकः ॥ १४ ॥

पातालतल का परिपालन करनेवाले दानवोचित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भक्तप्रवर प्रह्लाद ने अविनाशी, वाणी के अगोचर परम सुख को किया था ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजी ! केवल काया में ही निरत हृदयस्थ चिदाकाश की एकरूपता से आविर्भूत शम्बरासुर ने इस संसाररूपी माया का परित्याग कर दिया था ॥ ९ ॥

दानवों की कार्यसिद्धि के लिए भगवान् नारायण के साथ युद्ध में तत्पर कुशल शम्बरासुर ने या कुशल नाम के एक अन्य दानव ने परम तत्त्वज्ञान को प्राप्तकर इस संसार का परित्याग कर दिया ॥ १० ॥

समस्त देवताओं का मुखस्वरूप अग्नि क्रियायों में तत्पर होकर भी यज्ञीय लक्ष्मी का चिरकालतक उपभोग करता है, और मुक्त होकर ही इस त्रिभुवन में रहता है ॥ ११ ॥

समस्त देवताओं के द्वारा पीयमान सोम, जिसके भीतर ब्रह्मात्मक रसायन विद्यमान है, सुख, दुःख आदि के संसर्ग को वैसे ही प्राप्त नहीं करता है जैसे पैरों से आक्रमण करने पर आकाश सम्बन्ध को प्राप्त नहीं करता है ॥१२॥

पत्नी के लिए चन्द्रमा के साथ युद्ध करने वाले देवताओं के गुरु बृहस्पति स्वर्गलोक में देवताओं के पौरोहित्याधिकार की विचित्र चेष्टाओं को करते हुए भी मुक्त होकर यहाँ अवस्थित है ॥ १३ ॥

आकाशतल में देदीप्यमान विद्वान् तथा नीतिशास्त्र की रचना के द्वारा समस्त अभिमत अर्थों का परिपालन करने वाले असुरदेशिक शुक्राचार्य निर्बिकारबुद्धि होकर ही काल व्यतीत करते हैं ॥ १४ ॥

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ! ।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ।। ८ ।।

श्रीराम उवाच

कदा कीदृक्कया युक्त्या प्राणापाननिबन्धया ।
योगनाम्न्या मनः शान्तिमेत्यनन्तसुखप्रदाम् ।। ९ ।।

वसिष्ठ उवाच

देहेऽस्मिन् देहनाडीषु वातः स्फुरति योऽभितः ।
स्पन्देष्विव भुवो वारि स प्राण इति कीर्तितः ।। १० ।।
तस्य स्पन्दवशादन्तः क्रियावैचित्र्यमीयुषः ।
अपानादीनि नामानि कल्पितानि कृतात्मभिः ।। ११ ।।

उभय निवृत्ति से ही चित्त प्रस्पन्दित नहीं होता, मन का अस्तित्व रहते उसमें से स्पन्द का निवारण नहीं किया जा सकता, यह भी सिद्ध होता है। इस श्लोक में 'गुणो गुणी' ऐसा पाठ युक्त है ।। ७ ।।

हे राघव ! चित्त के विनाश के लिए कहे एक योग और दूसरा ज्ञान कहा गया है। चित्तवृत्ति का निरोध योग है और आत्मा का सम्यक् अपरोक्ष साक्षात्कार ज्ञान है ।।८।।

श्री रामजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! किस समय और कैसी प्राण और अपान के निरोधरूप योगनाम की युक्ति से मन असीम सुख को देने वाली शान्ति को प्राप्त करता है ।।९।।

इस सर्ग की समाप्तिपर्यन्त इसी प्रश्न के उत्तर का वर्णन करने वाले महाराज वसिष्ठ चित्तस्पन्द, प्राण-स्पन्दन के अधीन है, यह बतलाने के लिए पहले प्राण के स्वरूप को कहते हैं—'देहेऽस्मिन्' इत्यादि से।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी, जैसे जलस्पन्द-मार्गभूत पृथ्वी के विवरों में जल चारों ओर व्याप्त होकर प्रस्फुरित होता है, वैसे ही इस देह में विद्यमान हजारों नाडियों में चारों ओर जो वायु प्रस्फुरित होता है, वह प्राणवायु है ।। १० ।।

यदि शङ्का हो कि प्राणवायु तो बाहर ही जाता है, हृदय में तो अन्य अपान आदि वायु संचरण करते हैं ? तो इस पर कहते हैं—'तस्य' इत्यादि से।

हे श्रीरामजी, स्पन्दनवश भीतर क्रिया के वैचित्र्य को प्राप्त हुए उसी प्राणवायु के अपान आदि नामों की विद्वानों ने कल्पना की है, अतः अपान आदि प्राण के ही वृत्तिभेद हैं, उससे अन्य नहीं हैं, यह भाव है ।। ११ ।।

जैसे आमोद का (सौगन्ध्य का) पुष्प तथा जैसे शुक्लत्व का हिम आश्रय है, वैसे ही चित्त का यह प्राण, जो चित्त के साथ अभिन्नता को प्राप्त हुआ है, आशय है

आमोदस्य यथा पुष्पं शौक्ल्यस्य तुहिनं यथा ।
तथैष रस आधारश्चित्तस्याऽभिन्नतां गतः ।। १२ ।।
अन्तःप्राणपरिस्पन्दात् सङ्कल्पकलनोन्मुखी ।
संवित् सञ्जायते यैषा तच्चित्तं विद्धि राघव ! ।। १३ ।।
प्राणस्पन्दाच्चितः स्पन्दस्तत्स्पन्दादेव संविदः ।
चक्रावर्तविधायिन्यो जलस्पन्दादिवोर्मयः ।। १४ ।।
चित्तं प्राणपरिस्पन्दमाहुरागमभूषणाः ।
तस्मिन् संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः ।। १५ ।।
मनःस्पन्दोपशान्त्याऽयं संसारः प्रविलीयते ।
सूर्यालोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा ।। १६ ।।

[वारिदृष्टान्त की उपपत्ति के लिए 'रस' यह विशेषण दिया गया है। श्रुति भी कहती है—'आपोमयः प्राणः', -एतमेवाङ्गिरसं मन्यते प्राणो वा अङ्गानां रसः' (प्राण जलमय है और प्राण को ही अङ्गिरस मानते हैं, क्योंकि वह [प्राण] अङ्गों का रस है)। कोश की नाईं चारों ओर संश्लिष्ट होने से चित्त के साथ मानो अभिन्नता को प्राप्त हुआ प्राण चित्त का आश्रय होता है। श्रुति भी कहती है—'प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः' (हे सौम्य, मन प्राण के अधीन है) ।। १२ ।।

इसीलिए प्राणस्पन्द चित्तस्पन्द का हेतु है, ऐसा कहते हैं—'अन्तः' इत्यादि से।

हे श्रीरामजी, भीतर प्राण के परिस्पन्दन से सङ्कल्प के (वृत्तिमात्र के) आकलन में उन्मुख जो संवित् उत्पन्न होती है, वही चित्त कहलाती है, यह आप जानिये ।।१३।।

प्राण के स्पन्दन से चित्त का स्पन्दन होता है यानी चिदाभास से व्याप्त वृत्ति-विशेष उत्पन्न होता है और चित्त के स्पन्दन से ही संवित् यानी तत्-तत् विषयाकरप्रथन उस प्रकार उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार जल के स्पन्दन से चक्र की तरह वर्तुल आकार की रचना करने वाली ऊर्मियाँ उत्पन्न होती हैं ।। १४ ।।

चित्त का परिस्पन्द प्राणपरिस्पन्द के अधीन है, यह बात बड़े-बड़े महर्षि, जो 'प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः' इत्यादि वेदों का रहस्य जानते हैं, कहते हैं। अतः प्राण का निरोध करने पर मन अवश्य उपशान्त यानी निरुद्ध हो जाता है ।। १५ ।।

भले ही ऐसा हो, उससे प्रकृत में क्या हुआ, इसपर कहते हैं—'मनः०' इत्यादि से।

मन के स्पन्दन की विश्रान्ति हो जाने पर यह संसार उस प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य के

श्रीराम उवाच

अनिशं चरतां देहगेहे गगनगामिनाम् ।
प्राणादीनां परिस्पन्दो वायूनां रोध्यते कथम् ॥ १७ ॥

वसिष्ठ उवाच

शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः ।
अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वसंसारवृत्तिषु ॥ १८ ॥
यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात् ।
एकतत्त्वघनाभ्यासात् प्राणस्पन्दो निरुद्धचते ॥ १९ ॥

प्रकाशरूप स्पन्दन की विश्रान्ति हो जाने पर व्यवहार विलीन हो जाता है ।। १६ ।।

श्रीरामजी ने कहा—महाराज, देहरूपी अपने घर में स्थित हृदयादि स्थानों में विद्यमान ७२ हजार नाड़ी रूपी छिद्रों में निरन्तर संचरण कर रहे तथा मुख, नासिका आदि छिद्ररूपी बाह्य आकाशों में निरन्तर गमनशील प्राण आदि वायुओं का परिस्पन्दन कैसे रोका जा सकता है ? ।। १७ ।।

प्राणवायु की चंचलता के निरोध में निरालम्बन और सालम्बन आदि राजयोग रूपी उपायों का उपदेश देने के लिए महाराज वसिष्ठ उपक्रम करते हैं—'शास्त्र' इत्यादि से ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भद्र श्रीरामजी अध्यात्म-शास्त्र का उपदेश, ब्रह्मवित् पुरुषों का संसर्ग, विषयों में अनास्थारूपी वैराग्य तथा समाधि के प्रयोजक यम, नियम आदि नियमों के अभ्यास—इन उपायों से हृदय में पूर्वाभ्यस्त सांसारिक व्यवहारों में अत्यन्त अनादररूपी अनास्था के दृढ़ हो जाने पर [निम्न श्लोकोक्त मार्ग से प्राण का परिस्पन्द निरुद्ध हो जाता है] ।। १८ ।।

सबसे पहले स्थूल शिखर में, चन्द्रबिम्ब में, मणि, देवता की मूर्ति आदि स्थलों में अथवा जहाँ कहीं भी मन रमण करता हो, वहींपर चित्त का निरोध करने के लिए अभ्यास करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'यथाभि०' इत्यादि से ।

चिरकालपर्यन्त एकाग्ररूप से (एक-प्रकार-स्वरूप से) उत्पन्न यानी एकाग्र रूप परिणाम को प्राप्तकर उदित हुए अभिवाञ्छित ध्यान से (जहाँ कहीं भी सरसवाहिनी इच्छा हुई, उसी पदार्थ के ध्यान से) जो एक वस्तु के स्वरूप का निरन्तर पुनः-पुनः अनुसन्धान होता है, उसी अनुसन्धान से प्राण का स्पन्दन (प्राणवायु का चाञ्चल्य) निरुद्ध हो जाता है ।। १९ ।।

पूरकादिनिजायामाद् दृढाभ्यासादखेदजात् ।
एकान्तध्यानसंयोगात् प्राणस्पन्दो निरुद्धचते ॥ २० ॥
ओंकारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात् ।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुद्धचते ॥ २१ ॥
रेचके नूनमभ्यस्ते प्राणे स्फारे खमागते ।
न स्पृशत्यङ्गरन्ध्राणि प्राणस्पन्दो निरुद्धचते ॥ २२ ॥
पूरके नूनमभ्यस्ते पूरादगिरिघनस्थिते ।
प्राणे प्रशान्तसञ्चारे प्राणस्पन्दो निरुद्धचते ॥ २३ ॥

अथवा पूरक, कुम्भक और रेचक के क्रम से प्राणवायु का निरोध करके दुर्दान्त मन का निरोध करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'पूरकादि०' इत्यादि से ।

दृढ़तापूर्वक पुनः-पुनः परिशीलनरूप अभ्यासलक्षण हेतु से प्रयास के बिना अनायास उत्पन्न हुए कुम्भक की सिद्धि-पर्यन्त पूरक आदि के द्वारा किये गये अपने प्राण के नियमन से होने वाले एकान्त ध्यान योग से (नित्यानित्य वस्तु का यथार्थ रूप से विवेक कर नित्य अद्वितीय वस्तु में प्रवर्तित ध्यानयोग से) प्राणवायु की समग्र चंचलता निरुद्ध हो जाती है ॥ २० ।।

उच्चस्वर से प्रणव का उच्चारण होने पर प्रान्त में (अन्त में) जो शेष तुर्यमात्रारूप शब्दतत्त्व अनुभूत होता है, उसका अनुसन्धान करने से बाह्य विषयों के विज्ञान का (बहिर्मुख चित्तवृत्ति का) जब आत्यन्तिक उपराम हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है ॥ २१ ॥

अब रेचक और पूरक—इन दो में से किसी एक के द्वारा श्वास और प्रश्वास का जब शिथिलीकरण हो जाता है तब दीर्घकाल तक तथा अभिवर्धनसहित ध्यान का अभ्यास होता है, इससे भी प्राणस्पन्दन का निरोध होता है, यह कहते हैं—'रेचके' इत्यादि दो श्लोकों से ।

रेचक का दृढ़ अभ्यास करने पर विच्छिन्न मेघों की आकाश रूपता की नाई, विपुलीभूत प्राणवायु की शून्यरूपता हो जाती है और उससे जब नासिका के छिद्रों की प्राणवायु का स्पर्श नहीं होता, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है ॥ २२ ॥

पूरक का दृढ़ अभ्यास होने पर, पर्वत पर मेघों की तरह शरीर के अभ्यन्तर विद्यमान हजारों नाडियों के भीतर प्राणवायु धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, और वह सर्वत्र व्याप्त होकर निश्चल होने तक प्राण संचरण शान्त हो जाने पर प्राणस्पन्दन रुक जाता हैं ॥ २३ ॥

कुम्भके कुम्भवत्कालमनन्तं परितिष्ठति ।
अभ्यासात् स्तम्भिते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥२४॥

पूर्ति के अनन्तर पूर्ण कुम्भ की तरह कुम्भ के अनन्त काल तक स्थित होने पर और अभ्यास से प्राण का निश्चल स्तम्भ न हो जाने पर प्राणवायु के स्पन्दन का निरोध हो जाता है । इस विषय में अच्युत माला के अनुवाद से योगसूत्र के अनुसार इस प्रकार कहा गया है रेचक पूरक और कुम्भक—इन त्रिविध प्राणायामों के विषय में पतञ्जलिनिर्मित योगशास्त्र में विस्तार से वर्णन किया गया है—'तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:' (आसन के ऊपर विजय पा जाने पर श्वास-बाह्य वायु का आयमन—भीतर प्रवेश—,प्रश्वास-कौष्ठ्य वायु का नि:सारण—इन दोनों की गति का विच्छेद ही प्राणायाम है, यानी श्वास और प्रश्वास दोनों का अभाव ही प्राणायाम है, उसे करना चाहिए) । इस प्राणायाम के अवान्तर भेद भी हैं—'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकाल-संख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म:' । जहाँ प्रश्वासपूर्वक गति-निरोध होता है, वह बाह्य है यानी बाह्यवृत्ति रेचक है । जहाँ श्वासपूर्वक गतिनिरोध होता है, वह आभ्यान्तर है यानि आभ्यान्तरवृत्ति पूरक है । जहाँ पर श्वास और प्रश्वास दोनों का अभ्यासनिरपेक्ष एकबार के प्रयत्न से गतिनिरोध होता है, वह स्तम्भवृत्ति है यानी कुम्भक है । इस कुम्भक में जैसे तप्त पत्थर के ऊपर प्रक्षिप्त जल चारों ओर से संकुचित हो जाता है, वैसे ही श्वास, प्रश्वास दोनों की भी गति एकसाथ निरुद्ध होकर स्तम्भित हो जाती है । ये तीनों प्राणायाम देशपरिदृष्ट हैं यानी इनका बाहर तूललव के स्पन्दन आदि से और आभ्यन्तर नाभि आदि के स्पन्दन आदि से इतना देश विषय होता है, ऐसा निर्धारण किया गया है । काल से परिदृष्ट हैं—यानी क्षणों की इयत्ता के अवधारण से परिच्छिन्न हैं । संख्याओं से परिदृष्टि है यानी इतनी संख्या वाले श्वास-प्रश्वास कालों तक पहला प्राणायाम, दूसरा प्राणायाम और तीसरा प्राणायाम, यों उद्‌बोधित है । इसी प्रकार मृदु, इसी प्रकार मध्य और इसी प्रकार तीव्र हैं । यह प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म है यानी दीर्घता और सूक्ष्मता युक्त प्राणों से दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है । 'अभ्यासात् स्तम्भिते प्राणे' इस वाक्य से यह सूचित किया कि रेचकादि तीन प्रकारों से पृथक् चतुर्थ भी एक प्राणायाम का प्रकार है । यह चतुर्थ प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने यों बतलाया है—'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ:' । पूर्वोक्त रेचक, पूरक के ऊपर विजय पा जाने से उनका आक्षेप करने वाला यानी उन दोनों का अतिक्रमण कर स्वयं ही वर्तमान प्राणगत्यभावरूप चतुर्थ प्राणायाम है । प्राणायाम की प्रतिष्ठा का फल भी कहा गया है—'तत: क्षीयते प्रकाशावरणम्', 'धारणासु च योग्यता मनस:' (प्राणायाम के अभ्यास से योगियों का विवेकज्ञान को आवृत करने वाला कर्म क्षीण हो जाता है, प्राणायाम के अभ्यास से धारणा में मन की योग्यता होती है) । इन सूत्रों के भाष्य में लिखा है–'तपो न परमं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य' (प्राणायाम से बढ़कर तप नहीं है, प्राणायाम से मल शुद्ध हो जाते हैं और ज्ञान की दीप्ति होती है) ॥ २४ ॥

तालुमूलगतां यत्नात् जिह्वयाऽऽक्रम्य घण्टिकाम् ।
ऊर्ध्वरन्ध्रगते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २५ ॥

अच्युतमाला के अनुवाद के अनुसार इसकी व्याख्या इस प्रकार है— जिह्वामूल के ऊपरी हिस्से में विद्यमान मुखान्तर्गत दो भागों के तालु कहते हैं । उन दो तालुओं के मध्य भाग में रहने वाली घंटिका को (मुख बाने पर जिह्वा के मूल भाग में स्तन की तरह लटकती हुई दृश्यमान इन्द्र योनि को) प्रयत्न विशेष के द्वारा वर्धनाभ्यास आदि यत्नों से भीतर प्राण के संचारण मार्गभूत मूर्धरन्ध्र प्रवेशित जिह्वा से नीचे की ओर करने से जब प्राण ऊर्ध्वरन्ध्र में (ब्रह्मरन्ध्र में अर्थात् कपाल कुहर में जो सुषुम्ना के ऊपरी भाग का द्वार कहा जाता है) प्रविष्ट हो जाता है, तब प्राणवायु की चंचलता निरुद्ध हो जाती है । इस श्लोक से लम्बिका योग समुच्चित नभोधारणा का सूचन किया गया है । इसका प्रकार विशेष भगवान् स्कन्द ने इन शब्दों से प्रकाशत किया है—'रसना' तालु विवरे निधायोर्ध्वमुखोऽमृतम् । धयन्निर्जरतां' गच्छेदाषण्मासान्न संशय: ॥', ऊर्ध्वजिह्व: स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति य: । मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥' आकाशं च मरीचिवारिसदृशं यद्‌ब्रह्मरन्ध्रस्थितं यन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकराक्षरम् । प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा मोक्षकवाटपाटनपटु: प्रोक्ता नभोधारणा ॥' (तालुछिद्र में जिह्वा को धारण कर ऊर्ध्व मुख योगी अमृत पी रहा छ: महीने के भीतर युवा बन जाता है । जिह्वा को ऊँची करके स्थिर होकर जो सोमपान करता है, वह आधे ही मास में मृत्यु के

समस्तकलनोन्मुक्ते न किञ्चिन्नाम सूक्ष्मखे ।
ध्यानात् संविदि लीनायां प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥२६॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलाम्बरे ।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥२७॥
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण तालूर्ध्वं द्वादशान्तगे ।
प्राणे गलितसंवृत्ते प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ २८ ॥
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते ।
चेतने केतने बुद्धे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २९ ॥
झटित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं तस्मिन् दृढाश्रिते ।
असंश्लिष्टविकल्पांशे प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ ३० ॥
चिरं कालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने ! ।
अवासनान्मनोध्यानात् प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ ३१ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् ! जगति भूतानां हृदयं तत्किमुच्यते ।
इदं सर्वं महादर्शो यस्मिंस्तत्प्रतिबिम्बति ॥ ३२ ॥

वसिष्ठ उवाच

साधो ! जगति भूतानां हृदयं द्विविधं स्मृतम् ।
उपादेयं च हेयं च विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ३३ ॥

ऊपर विजय पा जाता है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए। मरीचिवारि के सदृश, ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित, शान्त, हकार अक्षर वाला स्वामी सदाशिव से समन्वित जो आकाश है, उसमें पाँच घटीपर्यन्त प्राण का विलय कर चित्त को धारण करे, तो वह मोक्ष द्वार को खोलने में समर्थ नाभोधारणा कही जाती है।) मुख को फैलाने पर गले के अन्दर लटक रही माँस का टुकड़ा रूप जो घण्टी है, उसे इन्द्र योनि कहते हैं, इसमें श्रुति प्रमाण है—'अन्तरेण तालु के य एष स्तन इवालम्बते सेन्द्रयोनिः' (तालुओं के बीच में जो स्तन की नाईं लटकती है, वह इन्द्रयोनि है) इसी से लम्बिका योग की भी सूचना होती है—जो खेचरी' शब्द से भी कही जाती है। कहा भी है—'कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥' (तालु के बीच में कपालकुहर नाम की एक गुफा है, उसी में जीभ को विपरीत भाव से पहुँचा कर भ्रूयुगल के मध्य में अवलोकन करने से खेचरी मुद्रा होती है) इत्यादि योगशास्त्र में सविस्तर निरूपित है, यह लघुयोगवासिष्ठ की टीका के कर्ता का मत है ॥ २५ ॥

समस्त विकारों से रहित किसी भी नाम से शून्य हृदयाकाश में बाह्य और आन्तर संवेदनवृत्ति मात्र के निर्विकल्पक समाधि से विलीन हो जाने पर प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

नासिका के अग्रभाग में बारह अंगुल तक = नासिका के अग्रभाग से लेकर बारह अंगुल परिमित निर्मल आकाश भाग में नेत्रों की लक्ष्यभूत वृत्तिज्ञान के विलीन हो जाने पर प्राण का स्पन्दन विरुद्ध हो जाता है ॥ २७ ॥

अभ्यास से = योगशास्त्रों में प्रदर्शित पवननिरोध के अभ्यास से ऊर्ध्वरन्ध्र के द्वारा (सुषुम्नामार्ग से) तालु ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें स्थित प्राणवायु जब गलितप्राय हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है 'तालूर्ध्वद्वादशान्तगे' इस प्रकार के लघुयोगवासिष्ठकार के पाठ के अनुसार उक्त रीत्या प्राणवायु के तालु (विशुद्ध नाम का षोडशार चक्र)—इसमें से किसी भी एक में चले जाने पर जब बहिर्मुख संवित् गलित हो जाती है, प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है, यह अर्थ है] ॥ २८ ॥

चिरकाल तक निरोध करने पर चक्षु की कनीनिकाओं के आलोक का चक्षुरिन्द्रिय का उपराम हो जाने से तथा कपालकुहर में प्रवेश करने से जिह्वा के अग्र भाग के और प्राण के द्वादशान्त में प्राप्त हो जाने पर जब संकेतात्मक भ्रूमध्य अविमुक्त स्थानात्मक चिन्मात्र स्वरूप परमेश्वर का आत्म-स्वरूप से ज्ञान हो जाता है तब प्राण का स्पन्दन रुक जाता है ॥ २९ ॥

विशेष अनुग्रह से झटिति उत्पन्न आत्मज्ञान के दृढ़ीभूत तथा समस्त विकल्पांशों से विनिर्मुक्त हो जाने पर प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥ ३० ॥

हे मननतत्पर ! हृदय में चिरकाल पर्यन्त दहराकाश की नियत भावना से जनित विषयवासनावर्जित चित्त से होने वाले ध्यान से प्राण का स्पन्दन विरुद्ध हो जाता है ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! इस जगत् में प्राणियों का वह हृदय क्या है ? महादर्श स्वरूप जिसमें यह सब, दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह स्फुरित होता है। हृदय शब्द का तीन जगह प्रयोग होता है—एक तो पुण्डरीकाकार मांसखण्ड में, दूसरा मन में और तीसरा परमात्मा में। इन विभिन्न स्थानों में प्रयोग होने के कारण सन्देह के कारण आत्मा का प्रश्न उचित ही है ॥ ३२ ॥

वासिष्ठ जी ने कहा—हे साधो ! इस जगत् में प्राणियों के दो प्रकार के हृदय हैं—एक उपादेय और दूसरा हेय। अब आप इनका विभाग सुनें। मांसखण्ड

इयत्तया परिच्छिन्ने देहे यद्वक्षसोऽन्तरम् ।
हेयं तद्हृदयं विद्धि तनावेकतटे स्थितम् ॥ ३४ ॥
संविन्मात्रं तु हृदयमुपादेयं स्थितं स्मृतम् ।
तदन्तरे च बाह्ये च न च बाह्ये न चाऽऽन्तरे ॥ ३५ ॥
तत्तु प्रधानं हृदयं तत्रेदं समवस्थितम् ।
तदादर्शः पदार्थानां तत्कोशः सर्वसम्पदाम् ॥ ३६ ॥
सर्वेषामेव जन्तूनां संविद्धृदयमुच्यते ।
न देहावयवैकांशो जडजीर्णोपलोपमः ॥ ३७ ॥
तस्मात् संविन्मये शुद्धे हृदये हृतवासनः ।
बलान्नियोजिते चित्ते प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३८ ॥
एभिः क्रमैस्तथाऽन्यैश्च नानासङ्कल्पकल्पितैः ।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३९ ॥
अभ्यासेन निराबाधमेतास्ता योगयुक्तयः ।
उपायतामुपायान्ति भव्यस्य भवभेदने ॥ ४० ॥
अभ्यासाद् दृढतां यातो वैराग्य परिलाञ्छितः ।
यथावासनमायामः प्राणानां सफलः स्मृतः ॥ ४१ ॥
भ्रूनासातालुसंस्थासु द्वादशाङ्गुलिकोटिषु ।
अभ्यासाच्छाम्यति प्राणो दूरे गिरिनदी यथा ॥ ४२ ॥
भूयो भूयश्चिराभ्यासाज्जिह्वाप्रान्तेन तालुनि ।
घण्टिका स्पृश्यते प्राणो येनोच्चैर्निवहत्यलम् ॥ ४३ ॥
विकल्पबहुलास्त्वेते स्वाभ्यासेन समाधयः ।
परमोपशमायाऽऽशु संप्रयान्त्यविकल्पताम् ॥ ४४ ॥

रूप हृदय और मनरूप हृदय परिच्छिन्न होने के कारण उन दोनों को एक मानकर दो विभाग यहाँ बतलाए हैं ॥ ३३ ॥

इयत्तारूप से परिच्छिन्न इस शरीर में वक्षःस्थल के भीतर शरीर के एकदेश में अवस्थित हृदय का आप हेय हृदय जाने ॥ ३४ ॥

संवित्-मात्रस्वरूप से अब स्थित हृदय तो उपादेय कहा गया है। वह आत्मा सबके भीतर और बाह्य है और भीतर एवं बाह्य नहीं भी है ॥ ३५ ॥

वह उपादेय हृदय प्रधान हृदय है, उसीमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थों का आदेश है और वही सम्पूर्ण संपत्तियों का कोष है ॥ ३६ ॥

संवित् ही सभी प्राणियों का हृदय है, जड़ और जीर्ण पत्थर के सदृश देह के अवयव का एक अंश हृदय नहीं कहा जाता है ॥ ३७ ॥

अतः संवित्-स्वरूप विशुद्ध हृदय में वासनाओं से रहित होकर बलपूर्वक चित्त को लगाने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥ ३८ ॥

इन उपायों से तथा सम्प्रदायक्रम से चले आ रहे अन्या आचार्यों के मुख से उपदिष्ट नाना सङ्कल्पों से कल्पित उपायों से प्राणस्पन्द निरुद्ध हो जाता है ॥ ३९ ॥

अभ्यास के द्वारा ही भव्यमति के लिए संसार का उच्छेदन करने में वे योगयुक्तियाँ निराबाध उपाय हो सकती हैं, हठात् निरोध करने पर तो रोग आदि की संभावना है ॥ ४० ॥

वैराग्य रूपी लाञ्छन से चतुर्दिक लाञ्छित अर्थात् संसारासक्ति से रहित तथा अभ्यास से दृढ़ता को प्राप्त प्राणायाम वासना के अनुसार सफल होता है। जिस समय जैसी वासनाएँ होती हैं, उस समय उन वासनाओं का निरोध कर सफल होता है या मुमुक्षा की वासना होने पर मोक्ष रूप फल से और भोग की वासना होने पर तत्-तत् विचित्र फल भोग सिद्धि रूप फल से सफल होता है ॥ ४१ ॥

भ्रू, नासिका, तालु संस्थान तथा कण्ठाग्र प्रदेश से लेकर बारह अंगुलि परिमित प्रदेश में अभ्यासवश से वैसे ही प्राण लीन हो जाता है जैसे पर्वत का झरना दूर जाकर वहीं पर लीन हो जाता है, पतञ्जलि ने कहा भी है--'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्', कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः' 'कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्, 'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्' (नाभिचक्र में प्राण का संयम करने से कायव्यूह का—कायस्थ वातादि पदार्थ का—परिज्ञान होता है, कण्ठ के नीचे कूपप्रदेश में प्राण के संयमन से क्षुधा और पिपासा की निवृत्ति हो जाती है, कूप के नीचे वक्षःस्थल में कूर्माकार नाडी होती है, उस कूर्मनाडी में प्राण का संयम करने से स्थिर पद प्राप्त हो जाता है, कपालमध्य प्रभास्वर मूर्धज्योति में संयम करने से स्वर्ग और पृथ्वी के अन्तरालवर्ती सिद्धों का दर्शन होता है) ॥ ४२ ॥

पुनः-पुनः चिरकाल के अभ्यास से जिह्वाप्रान्त के द्वारा घण्टिका आक्रान्त हो जानेपर उससे प्राण अधिक गति नहीं कर सकता है ॥ ४३ ॥

इन समाधियों का विकल्प प्रचुर हैं, तथापि निष्काम पुरुष के प्रति अपने अभ्यास के कारण परम विश्रान्ति के लिए झटिति विकल्पाभावरूप को प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४४ ॥

आत्मारामो वीतशोको भवत्यन्तःसुखः पुमान् ।
अभ्यासादेव नाऽन्यस्मात्तस्मादभ्यासवान् भव ॥ ४५ ॥
अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते ।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥ ४६ ॥
वासनावलितं जन्म मोक्षं निर्वासनं मनः ।
प्राणं च राम ! गृह्णाति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ४७ ॥
प्राणस्पन्दो मनोरूपं तस्मात्संसृतिविभ्रमः ।
तस्मिन्नेव शमं याते दीयते संसृतिज्वरः ॥ ४८ ॥
विकल्पांशक्षयाज्जन्तोः पदं तदवशिष्यते ।
यतो वाचो निवर्तन्ते समस्तकलनान्विताः ॥ ४९ ॥
यत्र सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
यत्र नेदं यतो नेदं यन्नेदं नेदृशं जगत् ॥ ५० ॥
विनाशित्वाद्विकल्पत्वाद्गुणित्वान्निर्गुणात्मनः ।
यस्य नो सदृशो दृष्टो दृष्टान्तः कश्चिदेव हि ॥ ५१ ॥
स्वादनो सर्वशालीनां दीपिका सर्वतेजसाम् ।
कलना सर्वकामानामन्तश्चिच्चन्द्रिकोदिता ॥ ५२ ॥
यस्मात्कल्पतरोर्बह्व्यः संसारफलपङ्क्तयः ।
अनारतं बहुरसा जायन्ते च पतन्ति च ॥ ५३ ॥
तत्पदं सर्वसीमान्तमवलम्ब्य महामति ।
यः स्थितः स्थिरधीस्तज्ज्ञः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५४॥
विगतसर्वसमीहितकौतुकः
समुपशान्तहिताहितकल्पनः ।
सकलसंव्यवहारसमाशयो
भवति मुक्तमनाः पुरुषोत्तमः ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे योगवर्णनं नाम अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

अभ्यास से ही पुरुष आत्मा मे रमण करने वाला, वीतशोक, भीतरी सुख से पूर्ण हो सकता है, अन्य उपाय से नहीं, इसलिए आप अभ्यास सम्पन्न हों ॥ ४५ ॥

अभ्यास के द्वारा प्राणवायुओं का चाञ्चल्य विनष्ट हो जाने पर मन विश्रान्ति को प्राप्त करता है और निर्वाण ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामजी ! वासना से संवलित मन शरीर को ग्रहण करता है, अनन्तर उस में अभिमान से प्राण को ग्रहण करता है और वासना से रहित मन मोक्ष-ग्रहण करता है, इसलिए आप की जैसी इच्छा हो, वैसा करें ॥४७॥

प्राणवायु का स्पन्दन मन का स्वरूप है और उससे संसाररूपी भ्रम उत्पन्न होता है, इसलिए अभ्यास से प्राणस्पन्दन का ही विनाश हो जाने पर संसाररूप ज्वर खण्डित हो जाता है ॥ ४८ ॥

प्राणियों का विकल्पांश विनष्ट हो जानेपर केवल ब्रह्मपद अवशिष्ट रह जाता है, जिस पद से अनेक विध कल्पनाओं से समन्वित शब्द निवृत्त हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

उसमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, उससे यह सब उत्पन्न हुआ है, वह समस्त जगत् का स्वरूपभूत है और वह इस जगत् के चारों ओर विद्यमान है । परमार्थ दशा में उसमें न तो यह दृश्यमान समस्त जगत् विद्यमान है, न तो उससे उत्पन्न हुआ है ही न उसके स्वरूपभूत ही जगत् है । वास्तव में दृश्यमान इस प्रकार का जगत् है ही नहीं । (इस श्लोक में 'इदं दृश्यं यत्र न' इस वाक्य से आधेयता रूप से, 'यतो न' इससे उपादेयतारूप से 'यन्न' इससे तादात्म्यसम्बन्ध से जगत् में सच्चिदानन्दात्मसम्बन्ध का निषेध करने से किसी अंश से भी जगत् और ब्रह्म का सादृश्य नहीं है) ॥ ५० ॥

यह जगत् विनाशी, विकल्पस्वरूप अतः अनेक विध गुणों से युक्त है, समस्त गुणों से शून्य उस आत्मा का इस जगत् में कोई भी सदृश दृष्टान्त नहीं है ॥ ५१ ॥

नित्य उदित स्वरूप यह चितिरूपी चन्द्रिका समस्त अन्नों का आस्वाद देनेवाली, सूर्यादि समस्त तेजों की प्रकाशिका और आभ्यन्तर समस्त कामों को कल्पनात्मिका है ॥ ५२ ॥

कल्पवृक्षस्वरूप उसी आत्मा से अनेक प्रकार के रसों से परिपूर्ण अनेक संसार फलों की पंक्तियाँ, निरन्तर उत्पन्न और विनष्ट होती हैं ॥ ५३ ॥

निखिल सीमाओं के अन्तस्वरूप उस पद का अवलम्बन कर जो महामति स्थित रहता है, वह निश्चलबुद्धि, तत्त्वज्ञ और जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ५४ ॥

समस्त कामोपभोग की इच्छाएँ निवृत्त हो जाने पर कामोपभोग की उत्कण्ठाओं के अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों में हिताहित वासनाओं के निवृत्त हो जाने हर तथा जिसका अन्तःकरण समस्त हिताहित व्यवहारों के होने पर भी हर्ष और विषाद से बाधित होने पर वह मुक्तान्तःकरण महात्मा सब पुरुषों में श्रेष्ठ और साक्षात् नारायण हो जाता है ॥ ५५ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में योगवर्णन नामक कुसुमलता का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७८ ॥

७९

श्रीराम उवाच

योगयुक्तस्य चित्तस्य शम एव निरूपितः ।
सम्यग्ज्ञानमिदानीं मे कथयाऽनुग्रहात् प्रभो ! ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते ।
इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥
इमा घटपटाकाराः पदार्थशतपङ्क्तयः ।
आत्मैव नाऽन्यदस्तीति निश्चयः सम्यगीक्षणम् ॥ ३ ॥
असम्यग्वेदनाज्जन्म मोक्षः सम्यगवेक्षणात् ।
असम्यग्वेदनाद्रज्जुः सर्पो नो सम्यगीक्षणात् ॥ ४ ॥
सङ्कल्पांशविनिर्मुक्ता संवित्संवेद्यवर्जिता ।
संवित्त्याऽभिसमाख्याता मुक्तावस्तीह नेतरत् ॥ ५ ॥
सा शुद्धरूपा विज्ञाता परमात्मेति कथ्यते ।
शुद्धा त्वशुद्धरूपान्तरविद्येत्युच्यते बुधैः ॥ ६ ॥
संवित्तिरेव संवेद्यं नाऽनयोर्द्वित्वकल्पना ।
चिनोत्यात्मानमात्मैव रामैवं नाऽन्यदस्ति हि ॥ ७ ॥
यथाभूतात्मदर्शित्वमेतावद्भुवनत्रये ।
यदात्मैव जगत्सर्वमिति निश्चित्य पूर्णता ॥ ८ ॥
सर्वमात्मैव कौ दिष्टौ भावाभावौ क्व च स्थितौ ।
क्व बन्धमोक्षकलने किमन्यद्राम ! शोच्यते ॥ ९ ॥
न चेत्यमन्यन्नो चित्तं ब्रह्मैवेदं विजृम्भते ।
सर्वमेकं परं व्योम को मोक्षः कस्य बन्धता ॥ १० ॥
ब्रह्मेदं बृंहिताकारं बृहद्बृहदवस्थितम् ।
ज्ञानादस्तमितद्वित्वं भवाऽऽत्मैव त्वमात्मना ॥ ११ ॥

७९

श्री रामजी ने कहा—हे प्रभो ! दो उपायों में से आपने योग युक्त पुरुष के चित्त का विनाश-प्रकार एक ही निरूपित किया है। अब आप अनुग्रह कर मुझसे सम्यक् ज्ञान को कहें ॥ १ ॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा—इस जगत् में आदि और अन्त से रहित अवभास स्वरूप परमात्मा का ही अस्तित्व केवल विद्यमान है, इस प्रकार का असाधारण एवं अपरिच्छिन्न आकार के निश्चय को सम्यक् ज्ञान कहा जाता है ॥२॥

ये घट, पट आदि आकारों से युक्त पदार्थों की सैकड़ों पंक्तियाँ आत्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है, इस प्रकार का निश्चय सम्यक् ज्ञान है ॥ ३ ॥

आत्मा का सम्यक् ज्ञान न होने से जन्म होता है और आत्मा के सम्यग् ज्ञान से मोक्ष होता है। रज्जु का यथार्थ ज्ञान न होने से रज्जु सर्परूप हो जाती है और उसका यथार्थ ज्ञान होने से रज्जु सर्परूप नहीं होती है ॥ ४ ॥

संकल्पांशों से विनिर्मुक्त, समस्त विषयों से शून्य तथा केवल स्वप्रकाश स्वभाव से ही चारों ओर प्रकाशमान केवल चिति ही मुक्ति में बच जाती है, उससे अन्य कुछ भी नहीं शेष रहता है ॥ ५ ॥

समस्त मलों से विनिर्मुक्त वह संवित् जब विज्ञात हो [illegible]ती है, तब परमात्मा कही जाती है और स्वतः निखिल [illegible]ं से वर्जित होने पर भी जब अध्यासवश भीतर से [illegible]द्ध रूप होती है, तब अविद्या कही जाती है ॥ ६ ॥

हे श्रीरामजी ! ज्ञान ही विषय है, वास्तव में इन दोनों में कुछ भी भेद-कल्पना नहीं है, आत्मा ही आत्मा का चयन करता है आत्मा ही अज्ञान से आत्मा को नाना रूप बना देता है और ज्ञान से आत्मा की एकरूपता का परिचय कर लेता है, आत्मा से पृथक् कुछ भी नहीं है ॥ ७ ॥

यथार्थ आत्मदर्शिता इन तीनों लोकों में इतनी ही है कि यह सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्णता को प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

यह सब आत्मस्वरूप ही है, कौन भाव और अभाव अलग कर निरूपित हो सकते हैं ? वे जहाँ रह सकते हैं ? बन्ध और मोक्ष की कल्पना कहाँ हो सकती है ? आत्मा को छोड़कर ऐसी कौन वस्तु है ? जिसके विषय में मूढ लोग शोक करते हैं ॥ ९ ॥

आत्मा से भिन्न न तो चेत्य है और न चित्त है, दृश्य रूप यह सब ब्रह्म ही विजृम्भित हो रहा है, समस्त ब्रह्माण्ड अद्वितीय चिदाकाश स्वरूप ही है, अतः किसको मोक्ष और किसको बन्ध है ? ॥ १० ॥

जितने बड़े-से-बड़े पदार्थ हैं, उन सबसे ब्रह्म बड़ा है। माया से नट की तरह अपनी आत्मा में ही बढ़े हुए आकार से युक्त यह जगत्-रूप दृश्य के स्वरूप में अवस्थित है। आत्मा के ज्ञान से जागतिक द्वित्व सद्यः विलीन हो जाता है, अतः आप अपने से ही आत्मस्वरूप हो जाइए ॥ ११ ॥

सम्यगालोकिते रूपे काष्ठपाषाणवाससाम् ।
मनागपि न भेदोऽस्ति क्वाऽसि सङ्कल्पनोन्मुखः ॥ १२॥

आदावन्ते च संशान्तं स्वरूपमविनाशि यत् ।
वस्तु नामाऽऽत्मनश्चैव तन्मयो भव राघव ! ॥ १३ ॥

परं व्योमेदमखिलं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सुखदुःखक्रमः कुत्र विज्वरो भव राघव ! ॥ १४ ॥

द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जरामरणविभ्रमैः ।
स्फुरत्यात्मभिरात्मैव चित्रैरम्बिव वीचिभिः ॥ १५ ॥

शुद्धमात्मानमालिङ्ग्य नित्यमन्तःस्थया धिया ।
यः स्थितस्तं क आत्मेहं भोगा बन्धयितुं क्षमाः ॥१६॥

कृतस्फारविचारस्य मनोभोगादयोऽरयः ।
मनागपि न भिन्दन्ति शैलं मन्दानिला इव ॥ १७ ॥

अविचारिणमज्ञानं मूढमाशापरायणम् ।
निगिरन्तीह दुःखानि बका मत्स्यमिवाऽजलम् ॥ १८ ॥

जगदात्मैव सकलमविद्या नाऽस्ति कुत्रचित् ।
इति दृष्टिमवष्टभ्य सम्यग्रूपः स्थिरो भव ॥ १९ ॥

नानात्वमस्ति कलनासु न वस्तुतोऽन्त-
र्नानाविधासु सरसीषु जलादि नाऽन्यत् ।
इत्येकनिश्चयमयः पुरुषो विमुक्त
इत्युच्यते समवलोकितसम्यगर्थः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सम्यग्ज्ञानलक्षणनिरूपणं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

अधिष्ठानभूत सन्मात्र स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर तनिक भी भेद वैसे ही नहीं रह जाता जैसे काष्ठ, पाषण और वस्त्रों के तात्त्विक स्वरूप का भली-भाँति परिज्ञान हो जाने पर उनमें तनिक भी भेद नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में आप संकल्प और विकल्प से उन्मुख कहाँ हैं ? ॥ १२ ॥

हे राघव ! आदि और अन्त में अविनाशी, पूर्ण शान्त स्वरूप वही प्रसिद्ध आत्मरूप वस्तु है, आत्मा का वैसा स्वरूप है, इसलिए आप उसी स्वरूप हो जाएँ ॥ १३ ॥

हे राघव ! यह निखिल स्थावर और जङ्गमात्मक जगत् निरतिशयानन्दात्मक चिदाकाश स्वरूप ही है, अत: सुख और दुःख की प्रसक्ति कहाँ होगी, इसलिए आप समस्त चिन्ता-ज्वरों से निर्मुक्त हो जाएँ ॥ १४ ॥

द्वैत और अद्वैत विकल्पों से समुद्भूत जन्म, मरण और विभ्रम स्वरूप आत्माओं से आत्मा ही अज्ञानियों के लिए वैसे ही प्रस्फुरित होता है जैसे जल विचित्र तरङ्गों से प्रस्फुरित होता है ॥ १५ ॥

शुद्ध आत्मा का आलिङ्गन कर अन्तःस्थबुद्धि से सदा-सर्वदा जो अवस्थित रहता है, उस तत्त्वज्ञ आत्माभिलाषी को कौन भोग बाँधने के लिए समर्थ हो सकते हैं ? ॥ १६ ॥

जिस विद्वान् ने प्रकाशमान आत्मा का पूर्ण रूप से विचार कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ के अन्तःकरण का काम प्रभृति छः शत्रु तनिक भी वैसे ही भेदन नहीं कर सकते जैसे मन्द पवन पर्वत का भेदन नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

इस संसार में आशाओं में निरत, मूढ, अज्ञानी और अविचारी पुरुष को वैसे ही दुःख निगल जाते हैं जैसे जल से निर्गत अथवा स्वल्प जल में स्थित मत्स्य को बगुले निगल जाते हैं ॥ १८ ॥

समस्त जगत् आत्मस्वरूप है, कहीं भी अविद्या नाम की कोई वस्तु नहीं है, इस प्रकार की दृष्टि का अवलम्बन कर आप सम्यक् स्वरूपवाले होकर स्थित हो जाएँ ॥१९॥

केवल कल्पनाओं में अर्थात् विकल्पात्मक बुद्धि में ही वैसे ही नानात्व है, वास्तव में नानात्व नहीं है, जैसे अनेकविध सरोवरों में जल, फेन आदि से जल पृथक् नहीं हैं, इस प्रकार विवेकपूर्वक भली प्रकार अर्थ को जा लेने वाला उक्त एकविध निश्चय प्रधान पुरुष आत्यन्ति चित्तविनाश के कारण विमुक्त है, ऐसा कहा ज है ॥ २० ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में सम्यग्ज्ञानलक्षणनिरूपण नामक कुसुमलता का उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७९ ॥

८०

वसिष्ठ उवाच

इदमन्तः कलयतो भोगान्प्रति विवेकिनः ।
पुरस्थितानपि सदा स्पृहैवाऽङ्ग न जायते ॥ १ ॥
चक्षुरालोकनायैव जीवस्तु सुखदुःखयोः ।
भारायैव बलीवर्दो भोक्ता द्रव्यस्य नायकः ॥ २ ॥
नयने रूपनिर्मग्ने क्षोभः क इव देहिनः ।
गर्दभे पल्वले मग्ने कैव सेनापतेः क्षतिः ॥ ३ ॥
रूपकर्दममेतन्मा नयनाऽऽस्वादयाऽधम ! ।
नश्यत्येतन्निमेषेण भवन्तमपि हिंसति ॥ ४ ॥
येनैव संख्या क्रियते येनैवाऽस्वाऽनुगम्यते ।
तदीयैः कर्मभिः क्षिप्रं प्राज्ञः क्रूरो निबध्यते ॥ ५ ॥
उत्पन्नध्वंसि चाऽऽपातमात्रहृद्यमसन्मयम् ।
रूपमाश्रय मा नेत्र विनाशायाऽविनाशिने ॥ ६ ॥
साक्षिवत्त्वं स्थितं नेत्र रूपमात्मनि तिष्ठति ।
आलोकं कालवशतस्त्वमेकं किं प्रतप्यसे ॥ ७ ॥
सलिलस्पन्दवद्दृष्टिः पिच्छिकेवाऽम्बरोत्थिता ।
सुजातिबन्धा स्फुरति तव चित्त किमागतम् ॥ ८ ॥
कल्पाम्भसीव शफरी चित्ते स्फुरणधर्मिणि ।
स्वयं स्फुरत्यहङ्कारस्त्वमयं प्रोत्थितः कुतः ॥ ९ ॥
आलोकरूपयोर्नित्यं जडयोः स्फुरतोर्मिथः ।
आधाराधेययोश्चित्तं व्यर्थमाकुलता तव ॥ १० ॥

८०

श्री वसिष्ठ ने कहा—अपने हृदय में विचार कर रहे विवेकी महात्मा को सर्वदा संमुख स्थित भी दिव्य भोगों में अभिरुचि उत्पन्न नहीं होती है ॥ १ ॥

जैसे बैल बोझा ढोने के लिए ही है, उस ढोये हुए द्रव्य का उपयोग करने वाला तो द्रव्य का स्वामी है। वैसे ही नेत्र केवल रूप देखने में ही निमित्त हैं और चक्षु का केवल स्वामी जीव तो चक्षु में अहन्ता के अभिनिवेशन से सुख दुःख का भोक्ता होता है ॥ २ ॥

नेत्र अनिष्ट रूप में निमग्न होने पर जीव को क्षोभ क्या है ? सेना के अन्तर्गत धोबी का गदहा अल्पजलाशय में छोटे तालाब में डूबा, तो उससे सेनापति की क्या हानि है ॥ ३ ॥

हे मूढ़तम ! नेत्र, स्त्री, पुत्र आदि के सौन्दर्यस्वरूप रूपात्मक कीचड़ का तुम आस्वाद मत करो, यह रूप क्षण में ही नष्ट हो जायगा और तुम्हें भी नष्ट कर डालेगा ॥ ४ ॥

प्राज्ञ पुरुष भीतर निवास कर रहे जिस चिदात्मा से बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का सम्बन्ध प्रकाशित होता है, तथा जिस चिदात्मा से अनात्मभूत पाँच कोशों की परम्परा का आत्मा के तादात्म्यारोप से अनुभव होता है, उस चिदात्मा के उदासीनतया यथाप्राप्त पदार्थों के प्रकाशन रूप चरित्रों से—अभ्यासवश सम्बद्ध होता है, मूर्खों की तरह सौन्दर्यरूपी रूपकर्दम के आस्वादनरूप कर्मों से सम्बद्ध नहीं होता है ॥ ५ ॥

हे नेत्र ! उत्पन्न होकर विनष्ट होने वाला और जो केवल ऊपर-ऊपर से ही रमणीय प्रतीत होने वाला असत्-स्वरूप सौन्दर्य का अवश्यम्भावी मृत्यु के मुख में प्रवेश करने के लिए आश्रयण मत करो ॥ ६ ॥

हे नेत्र, जब किसी की अपेक्षा किये बिना समस्त अर्थों के प्रकाशन में सदा समर्थ परमात्मा रूप आदि विषयों में उदासीनस्वरूप से स्थित है, तब किसी समय दीप आदि के आलोक को पाकर प्रकाशन कर रहे तुम अकेले ही क्यों सन्तप्त होते हो ? ॥ ७ ॥

हे चित्त ! नदी आदि के जल में दृश्यमान विभिन्न प्रकार के विचित्र अनियत तरङ्गों की तरह अनियत, आकाश में सूर्य के संमुख साश्रुनेत्र पुरुष को दिखाई पड़नेवाली मोर के पंख की तरह मिथ्याभूत एवं 'यह घोड़ा है', 'यह गाय है', 'यह स्त्री है' इस तरह की अनेक अच्छी-बुरी जातियों के विकल्पों से जनित यह नाना प्रकार की सौन्दर्यानुभूति चक्षु को स्फुरित होती है, ऐसी परिस्थिति में तुम्हें क्या मिला, तुम उसमें अनुरक्त होते हो और वृथा सन्तप्त होते हो ? ॥ ८ ॥

हे चित्त ! प्रलयकालीन जल में मछली की तरह स्फुरणधर्म वाले चित्त में स्वयं रूपादिविषयाकार का यदि स्फुरण होता है, तो वह भले ही हो, परन्तु अहमाकाररूप से तुम किस निमित्त को लेकर उत्थित हुए हो ? ॥ ९ ॥

हे चित्त ! आधाराधेयभूत तथा जड़स्वरूप आलोक और रूप के परस्पर स्फुरित होने पर तुम निरर्थक ही व्याकुल हो रहे हो ॥ १० ॥

रूपालोकमनस्काराः परस्परमसङ्गिनः ।
संपन्ना इव लक्ष्यन्ते वदनादर्शबिम्बवत् ॥ ११ ॥
अज्ञानजतुना ह्येते श्लिष्टा जाता निरन्तराः ।
अज्ञाने ज्ञानगलिते पृथक्तिष्ठन्त्यसन्मयाः ॥ १२ ॥
मनःकल्पनया ह्येते सुसम्बद्धाः परस्परम् ।
रूपालोकमनस्कारा दारुणी जतुना यथा ॥ १३ ॥
स्वमनोमननं तन्तुर्मनोभ्यासेन यत्नतः ।
विचाराच्छेदमायाति छिन्नैवाऽज्ञानभावना ॥ १४ ॥
अज्ञानसंक्षयात् क्षीणे मनसीमे पुनर्मिथः ।
रूपालोकमनस्काराः संघट्टन्ते न केचन ॥ १५ ॥
सर्वेषां चित्तमेवाऽन्तरिन्द्रियाणां प्रबोधकम् ।
तदेव तस्मादुच्छेद्यं पिशाच इव मन्दिरात् ॥ १६ ॥

वास्तव में परस्पर एक दूसरे से असम्बद्ध रूप, अलोक और मन एक दूसरे से वैसे ही सम्बद्ध प्रतीत होते हैं जैसे वास्तव में परस्पर एक दूसरे से असंबद्ध मुख, दर्पण और प्रतिबिम्ब परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, आशय यह है कि चक्षु के द्वारा बाहर रूप का अवलोकन होता है और मन के द्वारा भीतर संकल्पादि मनस्कार ज्ञात होते हैं, यों भिन्नदेशता होने के कारण वास्तव में उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

हे चित्त ! ये पूर्वोक्त रूपादि अज्ञानरूपी लाख के द्वारा ही निरन्तर एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध हुए हैं, जब अज्ञानरूपी लाह के ज्ञान के ताप से पिघल जाता है, तब वे एक दूसरे से असम्बद्ध और बाधित होकर अधिष्ठान सन्मात्ररूप में अवस्थित रहते हैं ॥ १२ ॥

ये रूप, आलोक और संकल्प आदि मनस्कार परस्पर चित्त की कल्पना से एक दूसरे से वैसे ही संश्लिष्ट हो जाते हैं जैसे दो काठ लाख से एक दूसरे से श्लिष्ट हो जाते हैं ॥ १३ ॥

मकड़ी के जाले के समान अपने ही बन्धन में हेतुभूत अपने चित्त के संकल्प-विकल्पात्मक तन्तु मन्द और मध्यम अधिकारी के लिए वैराग्य, शम, दम, निरोध आदिरूप मनोभ्यास से यत्नपूर्वक किये गये विचार से विनष्ट हो जाते हैं और उत्तम अधिकारी के लिए सहसा उत्पन्न नित्यानित्यविज्ञान से उस तन्तु के विच्छिन्न ही जानेपर स्वभावतः ही अज्ञानभावना प्रवृत्त नहीं होती है॥ १४ ॥

अज्ञान के विनाश से क्षीण हुए मन में फिर ये रूप, आलोक और मनस्कार परस्पर एक दूसरे से कोई भी संघटित नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

चित्त वल्गसि मिथ्यैव दृष्टोऽन्तो भवतो मया ।
आद्यन्तयोः सुतुच्छं त्वं वर्तमाने विनश्यसि ॥ १७ ॥
मुधा पञ्चभिराकारैः किमन्तः परिवल्गसि ।
यस्त्वां स्वमिति जानाति तस्यैव परिवल्गसि ॥ १८ ॥
त्वद्वल्गनं मे कुमनो न मनागपि तुष्टये ।
मायामनःस्पन्द इव व्यर्थं वृत्तिषु दह्यसे ॥ १९ ॥
तिष्ठ वा गच्छ वा चित्त नाऽसि मे न च जीवसि ।
प्रकृत्याऽसि मृतं नित्यं विचारात् सुमृतं स्मृतम् ॥ २० ॥
निस्तत्त्वं त्वं जडं भ्रान्तं शठं नित्यमृताकृते ।
मूढ एव त्वयाऽज्ञेन बाध्यो न प्रविचारवान् ॥ २१ ॥
वयमज्ञातवन्तस्त्वां मौर्ख्येणाऽऽशु मृतं भवत् ।
मृतमस्माकमद्याऽसि दीपानां तिमिरं यथा ॥ २२ ॥

चित्त ही सभी इन्द्रियों की भीतर से प्रेरणा करता है, इसलिए चित्त का उच्छेद वैसे ही कर देना चाहिए जैसे मन्दिर से पिशाच का उच्छेद कर देते हैं ॥ १६ ॥

हे चित्त ! तुम मिथ्या ही प्रलाप करते हो, मैं तुम्हारे उच्छेद के लिए उपाय जानता हूँ । तुम आदि और अन्त दोनों में नितान्त तुच्छ हो, इसलिए वर्तमान काल में भी असत् ही हो ॥ १७ ॥

हे चित्त ! तुम इन्द्रियों से सम्बद्ध शब्द आदि पाँच आकारों के द्वारा अपने भीतर क्या प्रलाप कर रहे हो, तुम्हारा अभिमान करने वाला प्रमाता तुम्हें 'यह मेरा है' इस रूप से जानता है, उसी के विषय में तुम उपकरण रूप से प्रलाप कर सकते हो, परन्तु असङ्ग, उदासीन, चिदेक-रस मेरे विषय में तुम प्रलापक नहीं सकते हो ॥ १८ ॥

हे दुष्टमन ! तुम्हारा चिल्लाना मेरे लिए तनिक भी हर्ष और विषाद के लिए नहीं है, ऐन्द्रजालिक माया से जनित मन के अनेक तरह की विषय दर्शनाकार चेष्टाओं की तरह तुम अनेक विध विषयाकारवृत्तियों में क्यों निरर्थक जल रहे हो ॥ १९ ॥

हे चित्त ! तुम रहो चाहे जाओ, तुम न तो मेरे हो और न तुम जीवित हो । अपने मिथ्या स्वभाव से तुम सदा मृतक ही हो और विचार से उस प्रकार स्मृत तुम अत्यन्त असत् हो ॥ २० ॥

हे चित्त ! तुम तत्त्वरहित जड़ भ्रान्त और शठ हो, तुम्हारा आकार अत्यन्त असत् है, अज्ञान स्वरूप तुम्हारे द्वारा अज्ञानी पुरुष को ही बाधा पहुँच सकती है, विचार-वान् ज्ञानी पुरुष को बाधा नहीं पहुँच सकती है ॥ २१॥

हे चित्त ! तुम शठ के द्वारा दीर्घकाल तक उपरुद्ध

शठेन भवता दीर्घकालं देहगृहं मम ।
उपरुद्धमभूत् सर्वं साधुसंसर्गवर्जितम् ॥ २३ ॥
जडे प्रेतसमाकारे गते त्वयि मनःशठे ।
सर्वसज्जनसंसेव्यमिदं देहगृहं मम ॥ २४ ॥
पूर्वमेवाऽसि नाऽसीस्त्वं संप्रत्येव शठं जगत् ।
न भविष्यसि चेदानीं वेताल किं न लज्जसे ॥ २५ ॥
सह तृष्णापिशाचीभिः सह कोपादिगुह्यकैः ।
निर्गच्छ चित्तवेताल शरीरसदनान्मम ॥ २६ ॥
दिष्ट्या विवेकमात्रेण निर्गतो देहमन्दिरात् ।
प्रमत्तश्चित्तवेतालः कुवृकः कन्दरादिव ॥ २७ ॥
अहो नु चित्रं सुमहज्जडेन क्षणभङ्गिना ।
मनःशठेन सर्वोऽयं नीतो विवशतां जनः ॥ २८ ॥
कस्ते पराक्रमः किं ते बलं कस्ते समाश्रयः ।
यदि वल्गसि मामेकं जनानां बाधसे मृतम् ॥ २९ ॥

मेरा सम्पूर्ण देहरूपी घर शम, दम, विचार, प्रबोध आदि साधुओं के संसर्ग से वर्जित हुआ था ॥ २३ ॥

हे चित्त ! प्रेत के सदृश आकार वाले जड़ तुम्हारे मन रूपी शठ के चले जाने पर मेरा देहरूपी यह शम, दम आदि समस्त साधुओं के द्वारा सेवा करने के योग्य हो गया ॥ २४ ॥

हे जगत् रूपी चित्तवेताल ! शठ रूप तुम पहले ही नहीं थे, वर्तमान काल में भी नहीं हो और आगे भी नहीं रहोगे, इस प्रकार तीनों कालों में निषिद्ध किये गये भी तुम इस समय अपनी स्थिति बना ली है । उसके लिए तुम्हें क्या लज्जा नहीं आती है ॥ २५ ॥

हे चित्त रूपी वेताल ! तृष्णा रूपी पिशाचिनियों के तथा क्रोध आदि गुह्यकों के साथ तुम मेरे शरीर रूपी घर से बाहर निकल जाओ ॥ २६ ॥

हे चित्त ! भाग्यबल केवल आत्मा और अनात्मा के विवेकमात्र से तुम प्रमत्त चित्तरूपी वेताल मेरे देहरूपी मन्दिर वैसे ही निकल गये हो जैसे गुफा से दुष्ट क्रूर भेड़िया ॥ २७ ॥

बड़े आश्चर्य कि बात है कि महान् जड़ एवं एकक्षण मात्र में विनष्ट हो जानेवाले शठ मन के द्वारा यह समस्त जनसमूह विवशता को प्राप्त किया है ॥ २८ ॥

हे चित्त ! मनुष्यों के बीच में मरनेवाले देह में आत्मबुद्धि रखनेवाले स्वतः मृत मनुष्य के प्रति तुम गर्जन करते हो तुम्हारा क्या पराक्रम है, क्या बल है और क्या समाश्रय है ? यदि एक अद्वितीय आत्मतत्त्व-

सर्वथैवाऽसि न मया दीनचित्तक ! मार्यसे ।
मृतमित्यवबुद्धं त्वमद्य केवलमज्ञ ! हे ॥ ३० ॥
एतावन्तमहं कालं त्वां ज्ञात्वा जीववदास्थिति ।
श्लिष्टः प्रभूतसङ्गासु चिरं संसृतिरात्रिषु ॥ ३१ ॥
चित्तं मृतं हि नाऽस्तीदमित्यद्याऽधिगतं मया ।
तेन त्वदाशां संत्यज्य तिष्ठाम्यात्मनि केवलम् ॥ ३२ ॥
दिष्ट्या चित्तं मृतमिति ज्ञातमद्य मया स्वयम् ।
न शठेन समं नेयं समग्रं जीवितं निजम् ॥ ३३ ॥
उत्सार्य देहसदनान्मनःशठमहं क्षणात् ।
अहं स्वस्थः स्थितोऽस्म्यन्तर्वेतालपरिवर्जितः ॥ ३४ ॥
चित्तवेताललब्धेन चिरं कालं मयाऽऽत्मना ।
कृता विकारा विविधाः स्वयं स्मृत्वा हसाम्यहम् ॥३५॥
चिरान्निपातितो दिष्ट्या विचारासिपरार्दितः ।
हृद्गेहाच्चित्तवेतालस्तालोत्तालसमुन्नतिः ॥ ३६ ॥

स्वरूप को समझनेवाले मेरे प्रति आकर तुम गर्जना करो तो मैं तुम्हारा पराक्रम, बल और शक्ति समझूँ ॥ २९ ॥

हे अज्ञानी गरीब चित्त ! मैं आज तुम्हारा वध नहीं करता हूँ क्योंकि तुम पहले से ही मर चुके हो, यह मैंने जान लिया है ॥ ३० ॥

हे चित्त ! इतने कालतक तुम्हारा स्वरूपता जीवित की तरह था, यह जानकर प्रभूतसङ्ग वाली संसाररात्रियों में तुम्हारे साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हुआ था ॥ ३१ ॥

चित्त निस्तत्त्व है, उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता है—यह मैंने आज भली-भाँति जान लिया है, तुम्हारी आशा का परित्याग कर केवल अपने स्वरूपभूत आत्मा में स्थित रहता हूँ ॥ ३२ ॥

भाग्यवश चित्त निस्तत्त्व है, यह मैंने आज स्वयं जान लिया है, बोध के अनन्तर जीवन्मुक्तों को चित्तशून्य होकर ही अवशिष्ट आयु का क्षपण करना उचित है, यह कहते हैं । अतः शठ मन के साथ अपने समस्त जीवन को व्यतीत नहीं करना चाहिए ॥ ३३ ॥

काम, क्रोध, लोभ आदि शठों के उत्सवभूत मन को देहरूपी घर से क्षणभर में निकालकर मैं वेताल से शून्य होकर भीतर से स्वस्थ होकर अवस्थित रहता हूँ ॥३४॥

चिरकाल तक चित्तरूपी वेताल के द्वारा ठगे गये उसके स्वरूपभूत मैंने अनेक तरह के विकारों को उत्पन्न किया है, अब मैं स्वयं परमार्थभूत होकर उन विकारों का स्मरण कर हँसता हूँ ॥ ३५ ॥

भाग्यवश बहुतकाल के बाद अब विचाररूपी तलवार

प्रशान्ते चित्तवेताले पवित्रां पदवीं गते ।
दिष्ट्या शरीरनगरे सुखं तिष्ठामि केवलम् ॥ ३७ ॥
मृतं मनो मृता चिन्ता मृतोऽहङ्कारराक्षसः ।
विचारमन्त्रेण समः स्वस्थस्तिष्ठामि केवलम् ॥ ३८ ॥
किं मनो मे ममाऽऽशा का को मेऽहङ्कारको भवेत् ।
दिष्ट्या व्यर्थं कलत्रं मे नष्टमेतदशेषतः ॥ ३९ ॥
एकस्मै कृतकृत्याय नित्याय विमलात्मने ।
निर्विकल्पचिदाख्याय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४० ॥
न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न चैवाऽहमहं स्वयम् ।
न च नाऽहं न चाऽन्योऽहं मह्यमेव नमो नमः ॥ ४१ ॥
न ममाऽऽशा न कर्माणि न संसारो न कर्तृता ।
न भोक्तृता न देहो मे मह्यमेव नमो नमः ॥ ४२ ॥
नाऽहमात्मा न वा कोऽन्यो नाऽहमस्मि न चेतरः ।

से कदर्थित चित्तरूपी वेताल को तालवृक्ष के समान उत्तुङ्ग ऊँचाई से युक्त हृदयमन्दिर से तुमको हटा दिया है ॥ ३६ ॥

चित्तरूपी वेताल के शान्त हो जाने पर पवित्र पदवी को प्राप्त करने पर अब उत्तम भाग्य से शरीररूपी नगर में केवल मैं अर्थात् शुद्ध अहं सुखपूर्वक अवस्थित हूँ ॥३७॥

विवेक अर्थात् मननरूपी मन्त्र से मन मर गया, चिन्ता समाप्त हो गई और अहंकाररूपी राक्षस भी मर गया, अब समस्त विषमताओं से शून्य तथा स्वस्थ होकर केवल मैं ही स्थित हूँ ॥ ३८ ॥

कौन मेरा मन है ? कौन मेरी आशा है और कौन मेरा तुच्छ अहङ्कार है। भाग्य से मेरा निरर्थक यह पोष्यवर्ग संस्काररूप से भी विनष्ट हो गया है ॥ ३९ ॥

एक, कृतकृत्य, अविनाशी, विमलस्वरूप तथा निर्विकल्प चैतन्यनामधारी अहंरूपी आत्मा को बार-बार नमस्कार है ॥ ४० ॥

मुझे न तो शोक है और न मोह है। न मैं अहमभिमानप्रधान जड-अंशस्वरूप हो स्वयं आत्मा हूँ। मैं अहंकार प्रत्यक् चिदात्मास्वरूप नहीं हूँ, वरन् प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप हूँ। मैं भेद का आश्रय नहीं हूँ अर्थात् अद्वितीय हूँ। अहंरूप आत्मा को बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ ४१ ॥

न मुझे इच्छा है, न मेरे कर्म हैं, न मेरा संसार है, न मुझ में कर्तृता है, न मुझ में भोक्तृता है और न मेरी देह है। अहंरूप ही आत्मा को नमस्कार है ॥ ४२ ॥

मैं आत्मशब्दजन्य प्रतीति का विषय नहीं हूँ, मैं

सर्वमेवाऽहमेतस्मै मह्यमेव नमो नमः ॥ ४३ ॥
अहमादिरहं धाता चिदहं भुवनान्यहम् ।
मम नाऽस्ति व्यवच्छेदो मह्यमेव नमो नमः ॥ ४४ ॥
निर्विकाराय नित्याय निरंशाय महात्मने ।
सर्वस्मै सर्वकालाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४५ ॥
नीरूपाय निराख्याय प्रकाशाय महात्मने ।
स्वयमात्मैकसंस्थाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४६ ॥
समां सर्वगतां सूक्ष्मां जगदेकप्रकाशिनीम् ।
सत्तामुपगतोऽस्म्यन्तर्मह्यमेव नमो नमः ॥ ४७ ॥
साद्रचब्ध्युर्वीनदी सेयं नाऽहमेवाऽहमेव वा ।
जगत्सर्वं पदार्थाढ्यं मह्यमेव नमो नमः ॥ ४८ ॥
व्यपगतमननं समाभिरामं
प्रकटितविश्वमविश्वमप्यनन्तम् ।

अनात्मा भी नहीं हूँ, तत्त्वदृष्टि से अतिरिक्त ऐसे किस पदार्थ की संभावना की जा सकती है, जो मेरे स्वरूप में हो सके, इसी प्रकार अहं शब्दजन्य प्रतीति का विषय और उससे भिन्न मैं नहीं हूँ, ऐसी स्थिति में अपने से पृथक् अप्रसिद्धि होने से स्वयं ही मैं सर्वस्वरूप और सर्वात्मक हूँ, ऐसे मद्रूप ही आत्मा को नमस्कार है ॥ ४३ ॥

मैं ही भुवनों का कारण हूँ, मैं ही धारण करने वाला हूँ, मैं चित्स्वरूप हूँ, मैं भुवन स्वरूप हूँ, मेरा त्रिविध परिच्छेद नहीं हो सकता, उस मद्रूप आत्मा को ही बार-बार नमस्कार है ॥ ४४ ॥

निर्विकार नित्य, अंशशून्य, विशालतम, सर्वस्वरूप तथा सर्वकालात्मक सनातन मद्रूप आत्मा को ही बार-बार नमस्कार है ॥ ४५ ॥

नाम रूप रहित, प्रकाश रूप, महदाकृति तथा स्वयं एक आत्ममात्र में स्थिति रखने वाले मद्रूप आत्मा को ही बार-बार नमस्कार है ॥ ४६ ॥

मैं सर्वत्र समरूप, सर्वत्र व्यापक, सूक्ष्म और जगत् को एकमात्र प्रकाशित करने वाली सत्ता को अन्तः से प्राप्त हूँ, ऐसे मद्रूप प्रत्यगात्मा को ही नमस्कार है ॥४७॥

पर्वत, समुद्र, पृथ्वी नदी—इनसे युक्त प्रसिद्ध यह वर्तमान दृश्य श्री मद्रूप नहीं है, इसी अतीत, अनागत पदार्थों से परिपूर्ण यह जगत् भी मद्रूप नहीं है। अथवा सभी मद्रूप ही हैं, ऐसे मद्रूप प्रत्यगात्मा को बार-बार नमस्कार है ॥ ४८ ॥

मन के समस्त विकल्प विनष्ट हैं, इसलिए सम और

स्वयमजमजरं गुणादतीतं वपुरहमच्युतमीश्वरं नमामि ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे दृश्यदर्शनसम्बन्धो नामाऽशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

अत्यन्त अभिराम विश्व का आविर्भाव करने वाले, स्वतः विश्ववर्जित, अनन्त, स्वस्वरूप, अजन्मा, जरारहित, समस्त गुणों से शून्य तथा अविनाशी ईश्वर के स्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में दृश्यदर्शनसम्बन्ध नामक कुसुमलता का अस्सीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८० ॥

८१

वसिष्ठ उवाच

एवं विचाय बुद्ध्वाऽन्तः पुनरित्थं विचार्यते ।
तत्त्वविद्भिर्महाबाहो ! ज्ञेय आत्मा महात्मभिः ॥ १ ॥
आत्मैवेदं जगदिति सत्यं चित्तेन मार्जितम् ।
उत्थितं स्यात्कुतश्चित्तमहो चित्तमवस्तु यत् ॥ २ ॥
अविद्यत्वादचित्तत्वान्मायात्वाच्चाऽसदेव हि ।
ध्रुवं नाऽस्त्येव वा चित्तं भ्रमादन्यत्खवृक्षवत् ॥ ३ ॥
सिद्धः स्थाणुपरिस्पन्दो नौगतस्य यथा शिशोः ।
अबुद्धस्य न बुद्धस्य तथा चित्तमसन्मयम् ॥ ४ ॥
मौर्ख्यमोहभ्रमे शान्ते चित्तं नोपलभामहे ।
चक्रारोहभ्रमस्याऽन्ते पर्वतस्पन्दनं यथा ॥ ५ ॥
एवं हि चित्तं नाऽस्त्येव ब्रह्मैवास्ति तथात्मकम् ।
पदार्थभावनाश्चित्तात्तेनाऽसत्या मयोज्झिताः ॥ ६ ॥
जातोऽस्मि शान्तसन्देहः स्थितोऽस्मि विगतज्वरः ।
यथा तिष्ठामि तष्ठामि तथैव विगतैषणः ॥ ७ ॥
चित्ताभावे परिक्षीणा बाल्यतृष्णादयो गुणाः ।
आलोकोपरमे चित्रा वर्णाख्या इव संविदः ॥ ८ ॥

८१

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हे माहाबाहो ! इस प्रकार विचार के द्वारा भीतर से तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर 'आत्मा ही एकमात्र अवश्य ज्ञातव्य है' इसलिए विचारतत्त्व को जानने वाले महात्मा लोग फिर चित्त के विषय में इस प्रकार विचार करते हैं ॥ १ ॥

'यह समस्त जगत् आत्म स्वरूप ही है' इस प्रकार अपरोक्ष साक्षात्कार चित्त से होने पर जगत् परिमार्जित किया गया है, वह चित्त कहाँ से उत्पन्न हुआ ? यह अत्यन्त आश्चर्य है, क्यों कि जगत् के अवास्तविक होने पर उसके अन्तर्गत चित्त भी स्वयं अवस्तु स्वरूप ही है ॥ २ ॥

चित्त, जड़, चित्तान्तर से शून्य और माया का कार्य होने से निश्चय रूप से वैसे ही असत् ही है, वह केवल विशुद्ध आत्मस्वरूप ही है जैसे आकाश वृक्ष भ्रमवश अन्य रूप से प्रतीत होता है, वास्तव में वह विशुद्ध आकाश स्वरूप ही है, उससे पृथक् आकाश वृक्ष नहीं है यानी असत् है ॥ ३ ॥

यद्यपि अज्ञानी को चित्त दिखाई पड़ता है तो भी आत्मज्ञानी तत्त्व की दृष्टि में वह वैसे ही नहीं, किन्तु असन्मय ही है जैसे नौका में अवस्थित अज्ञानी बालक को तटवर्ती स्थाणु में प्रतीत होनेवाला गति आदि परिस्पन्द केवल भ्रान्ति से ही दिखाई पड़ता है ॥ ४ ॥

तेल या ऊख को पेरने के यन्त्र के ऊपर आरोहण करने से उत्पन्न परिभ्रमण के बाद आरोही को पर्वत में परिभ्रमण का अनुभव नहीं होता है । मूर्खताप्रयुक्त मोह-रूपी विभ्रम के शान्त होने पर हम लोगों को चित्त का अनुभव नहीं होता ॥ ५ ॥

चित्त का अस्तित्व ही नहीं है चित्तात्मक केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व है, बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की भावनाएँ असदात्मक चित्त से ही विस्तार को प्राप्त करती हैं, इसलिए असत्स्वरूप उनका मैंने परित्याग कर दिया है ॥ ६ ॥

मेरे समस्त सन्देह शान्त हैं, समस्त चिन्ताज्वरों से शून्य होकर मैं अवस्थित हूँ, जिस पारमार्थिक स्वभाव से मैं स्थित रहता हूँ, उसी पारमार्थिक स्वभाव से इस समय स्वानुभव से भी इच्छाओं से निर्मुक्त होकर स्थित हूँ ॥ ७ ॥

चित्त का उपराम हो जाने पर चंचल तृष्णा आदि दुर्गुण वैसे ही विनष्ट हो गये जैसे आलोक का उपराम हो जाने पर विभिन्न-विभिन्न रूपों का प्रकाशन करने वाली चक्षुरादि से जनित संवित्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं ॥ ८ ॥

मृतं चित्तं गता तृष्णा प्रक्षीणो मोहपञ्जरः ।
निरहङ्कारता जाता जाग्रत्यस्मिन्प्रबुद्धवान् ॥ ९ ॥
एकमेव जगच्छान्तं नानात्वं न सदित्यपि ।
किमन्यद्विमृशाम्यन्तः कथयैवाऽलमेतया ॥ १० ॥
निराभासमनाद्यन्तं पदं पावनमागतः ।
सौम्यः सर्वगतः सूक्ष्मः स्थित आत्माऽस्मि शाश्वतः ।११।
यदस्ति यच्च नाऽस्तीह चित्ताद्यात्माद्यवस्तु च ।
तत्खादच्छतरं शान्तमनन्ताग्राह्यमाततम् ॥ १२ ॥
चित्तं भवतु मा वाऽन्तर्म्रियतां स्थितिमेतु वा ।
को विचारणयाऽर्थो मे चिरं साम्योदितात्मनः ॥ १३ ॥
विचाराकारको मौर्ख्यादहमासं मितस्थितिः ।
विचारेणाऽमिताकारः क्व नामाऽहं विचारकः ॥ १४ ॥

मृतेऽपि मनसीयं मे विकल्पश्रीर्निरर्थिका ।
मनोवेतालवृत्त्यर्थं किमर्थमुपजायते ॥ १५ ॥
तामिमां प्रजहाम्यन्तः सङ्कल्पकलनामिति ।
निर्णीयोमिति शान्तात्मा तिष्ठाम्यात्मनि मौनवत् ॥१६॥
अश्नन् गच्छन्स्वपंस्तिष्ठन्निति राघव ! चेतसा ।
सर्वत्र प्रज्ञया तज्ज्ञः प्रत्यहं प्रविचारयेत् ॥ १७ ॥
प्रविचार्य स्वसंस्थेन स्वस्थेन स्वेन चेतसा ।
तिष्ठन्ति विगतोद्वेगं सन्तः प्रकृतकर्मसु ॥ १८ ॥
विगतमानमदा मुदिताशयाः
शरदुपोढशशाङ्कसमत्विषः ।
प्रकृतसंव्यवहारविहारिण-
स्त्विह सुखं विहरन्ति महाधियः ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
चित्तासत्ताप्रतिपादनं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

चित्त मर गया, तृष्णाएं चली गयीं, मोहरूपी पंजर सर्वथा क्षीण हो गया, अहंभावना विशीर्ण हो गयी और इस अहंरूप आत्मा के अज्ञानरूपी निद्रा से वर्जित होनेपर मैंने अपने स्वाभाविक स्वरूप को जान लिया ॥ ९ ॥

जगत् शान्त होकर अद्वितीय परब्रह्मस्वरूप हो गया और भेद वस्तुसत् नहीं है, इसलिए मैं दूसरे किस विषय का विचार करूँ ? इन असत्पदार्थों की कथा से कोई लाभ नहीं है ॥ १० ॥

चिदाभासस्वरूप, जीवस्वरूप से शून्य आदि और अन्त से रहित परमपावन पद को मैं प्राप्त हूँ । मैं सौम्य, सर्वत्र व्यापक, अतिसूक्ष्म, सनातन आत्मस्वरूप से स्थित हूँ ॥ ११ ॥

इस लोक में व्यवहार दृष्टि से और वेद की दृष्टि से और क्रमशः चित्त आदि एवं आत्मा आदि अस्तित्वरूप से प्रसिद्ध वस्तुरूप पदार्थ हैं तथा रज्जु, सर्प आदि एवं बन्ध्यापुत्र आदि नास्तित्वरूप से प्रसिद्ध अवस्तुरूप पदार्थ हैं, सभी आकाश से भी अत्यन्त निर्मल, स्वप्रकाश, शान्त असीम, व्यापकस्वरूप ब्रह्मात्मक ही हैं, क्योंकि उसी में सत्-असद्रूप विकल्पों का आरोप होता है ॥ १२ ॥

चित्त रहे या न रहे, वह भीतर से मर जाय या जीवित रहे, उसके विषय में विचार करने से मुझे क्या लाभ है ? मैं तो चिरकाल से समरूप से उदित आत्मस्वरूप हूँ ॥ १३ ॥

इतने समय तक मूर्खतावश नित्यानित्य वस्तु के विषय में किसी प्रकार का विचार न कर केवल परिच्छिन्न देहादि के स्वभाव से युक्त हो स्थित था । सम्प्रति विचार से अपरिच्छिन्न आत्मस्वभाव होकर विचार करने वाला मैं कहाँ चला गया, इसका निरूपण करने में असमर्थ हूँ ॥ १४ ॥

मन के मर जाने पर 'विचार करने वाला है या नहीं' इस प्रकार का निरर्थक विकल्पश्री भी मनरूपी वेताल के पुनर्जीवन के लिए क्यों उत्पन्न होती है, इसलिए उस विकल्पश्री का मैं परित्याग करता हूँ ॥ १५ ॥

इस भीतरी संकल्प-कलना का परित्याग कर इस प्रकार का निश्चय कर ॐकार के लक्ष्यभूत तुरीय आत्मा में मौन की तरह शान्तात्म होकर स्थिर रहता हूँ ॥ १६ ॥

हे श्रीराघव ! खाते, जाते, सोते और स्थित रहते सदा-सर्वदा सर्वत्र उस प्रकार की प्रज्ञा से युक्त चित्त से तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रतिदिन अच्छी विचार करे ॥ १७ ॥

आत्मस्वरूप में अवस्थित, स्वस्थ अपने चित्त से अच्छी तरह विचार करके सत्पुरुष अपने-अपने वर्ण और आश्रमों के अनुसार प्राप्त हुए कर्मों में किसी प्रकार का उद्वेग किये बिना ही स्थित रहते हैं ॥ १८ ॥

मान और मद विगलित होने पर अन्तःकरण प्रमुदित हो जाता है, शरदृतु से समन्वित चन्द्रमा की तरह चिक्कन प्रसन्न मुखकान्ति को प्राप्त शास्त्रानुमोदित व्यवहारों में विहार करने वाले असीम बुद्धि वाले महापुरुष इस संसार में सुखपूर्वक विचरण करते हैं ॥ १९ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमाहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
चित्तासत्ताप्रतिपादन नामक कुसुमलता का इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८१ ॥

८२

वसिष्ठ उवाच

विचार एवं विदुषा संवर्तेन कृतः पुरा ।
कथितो मम विन्ध्याद्रौ तेनैव विदितात्मना ॥ १ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य विचारपरया धिया ।
संसारसागरादस्मात् तारतम्येन संतर ॥ २ ॥
अथेमामपरां राम ! शृणु दृष्टिं पदप्रदाम् ।
मुनिना वीतहव्येन यया स्थितमशङ्कितम् ॥ ३ ॥
वीतहव्यो महातेजा विबभ्राम वने पुरा ।
विन्ध्यशैलदरीर्दीर्घा रविर्मेरुदरीरिव ॥ ४ ॥
अस्मात्क्रियाक्रमाद्घोरात् संसारभ्रमदायिनः ।
आधिव्याधिमयाकारात् कालेनोद्वेगमाययौ ॥ ५ ॥
निर्विकल्पसमाध्यंशलभ्योदारपरेच्छया ।
स जहार जगज्जीर्णां स्वव्यापारपरम्पराम् ॥ ६ ॥
विवेश रम्भारचितं निजं पर्णोटजान्तरम् ।
कृतगौरं सुसौगन्ध्यमलिर्नीलमिवोत्पलम् ॥ ७ ॥
तत्राऽऽसने समे शुद्धे स्वास्तीर्णहरिणाजिने ।
विशश्रामाऽचले शान्ते वीतवर्ष इवाऽम्बुदः ॥ ८ ॥
बद्धपद्मासनस्तस्थौ पार्ष्ण्योरधिकराङ्गुलिः ।
शृङ्गवच्छान्तचलनमतिष्ठत् स्पष्टकन्धरम् ॥ ९ ॥
स जहाराऽलमालोकाद्दिग्विकीर्णं मनः शनैः ।
विशन्मेरुदरीं सायं भानुर्भास इवोत्करम् ॥ १० ॥
बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैव स्पर्शान्परिजहत् क्रमात् ।
इदमाकलयामास मनसा विगतैनसा ॥ ११ ॥
अहो नु चञ्चलमिदं प्रत्याहृतमपि क्षणात् ।
न मनःस्थैर्यमायाति तरङ्गप्रौढपर्णवत् ॥ १२ ॥

८२

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—इस प्रदर्शित विचार को पहले विद्वान् संवर्त ने बृहस्पति के छोटे भाई ने किया था। विन्ध्याचल पर्वत के ऊपर उसी आत्मतत्त्वज्ञ संवर्त ने उक्त विचार को मुझ से कहा था ॥ १ ॥

विचार प्रचुर बुद्धि से इसी दृष्टि का अवलम्बन कर आप इस संसारसागर के उत्तरोत्तर चित्त की विश्रान्ति के प्रकर्ष-परिपाक से भूमिकारोहणक्रम से पार हो जायें ॥२॥

हे श्रीरामजी ! अब आप इस दूसरी इन्द्रिय और मन की प्रबोधरूपिणी दृष्टि जो परमपद को प्रदान करने वाली है, श्रवण करें, इसी से महामुनि वीतहव्य ने निःशङ्क परमपद को प्राप्त किया था ॥ ३ ॥

पहले महान् तेजस्वी वीतहव्य मुनि अरण्य में समाधि के लिए अनुकूल विन्ध्यपर्वत की विस्तृत गुफा को खोजते हुए वैसे ही परिभ्रमण कर रहे थे, जैसे सहस्रांशु (सूर्य) मेरु-पर्वत की गुफाओं को खोजते हुए परिभ्रमण करते हो ॥४॥

संसाररूपी भ्रम को देने वाले तथा घोर, आधि और व्याधिमय आकारवाले इस सांसारिक क्रियाकलापों से महामुनि वीतहव्य उद्विग्न हो गये ॥ ५ ॥

केवल निर्विकल्पक समाधि से प्राप्त होने वाले उदार परब्रह्म को जानने की इच्छा से ही महामुनि ने जगत्-रूपी जीर्ण-शीर्ण अपने व्यापारों की परम्परा का उपसंहार कर उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया ॥ ६ ॥

महामुनि वीतहव्य ने कदली-पत्रों से विनिर्मित अपनी पर्णकुटी में, जिसमें कदली द्वारा श्वेत कर्पूर की रचना की गयी थी जो सुगन्ध से पूर्ण थी उसमें वैसे ही प्रवेश किया जैसे भ्रमर नीलकमल में प्रवेश करता है, ॥ ७ ॥

जैसे बरस चुका मेघ तापशून्य पर्वत के ऊपर विश्रान्ति लेता है वैसे ही महामुनि वीतहव्य ने उस पर्णकुटी में अपने द्वारा बिछाये गये, सम और शुद्ध मृगचर्म के आसन के के ऊपर विश्रान्ति ली ॥ ८ ॥

पद्मासन बाँधकर, पैर के तलवों के मूल के ऊपरी भाग पर हाथ की अंगुलियों को रख कर तथा अपनी ग्रीवा को ऊँची तानकर वैसे ही निश्चल होकर बैठे, जैसे निश्चल शृङ्ग (शिखर) स्थित होता है ॥ ९ ॥

महामुनि वीतहव्य ने इन्द्रियालोकरूपी कारण से दिशाओं में बिखरे हुए मन को उसके निग्रह के उपायों से धीरे-धीरे प्रबोधनाक्रम से अपने हृदय में वैसे ही उपसंहार कर लिया जैसे सायंकाल के समय में मेरुपर्वत की कन्दरा में प्रवेश करता हुआ रवि अपनी दीप्तिकिरणों का अपने में उपसंहार कर लेता है ॥ १० ॥

अनन्तर बाह्य और आन्तर स्पर्शों का अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के तथा भीतरी मन के विषयरूपी स्पर्शों का परित्याग कर उस महामुनि ने पापशून्य मन से क्रमशः यह विचार किया ॥ ११ ॥

यह मन इतना चंचल है—क्षणमात्र के लिए किसी एक निश्चित विषय में लगाया हुआ भी उसी प्रकार स्थिरता को प्राप्त नहीं होता जैसे तरङ्गों के द्वारा बहाया गया पत्ता स्थिरता को प्राप्त नहीं करता है ॥ १२ ॥

चक्षुरादिभिरुद्दामैः रूपैराहितसम्भ्रमैः ।
अजस्रमुत्पतत्येव वीटेव तलताडिता ॥ १३ ॥
त्यजदेवाऽनुगृह्णाति वृत्तीरिन्द्रियवर्धिताः ।
यस्मान्निवार्यते तस्मिन्प्रोन्मत्त इव धावति ॥ १४ ॥
घटात्पटमुपायाति पटाच्छकटमुत्कटम् ।
चित्तमर्थेषु चरति पादपेष्विव मर्कटः ॥ १५ ॥
पञ्चद्वाराणि मनसश्चक्षुरादीन्यमून्यलम् ।
दग्धेन्द्रियाभिधानानि तावदालोकयाम्यहम् ॥ १६ ॥
हे हे हतेन्द्रियगणाः किं मे बोधाय नेह वः ।
वेला विलुलिताम्बूनामब्धीनामिव चञ्चलाः ॥ १७ ॥
मा कुरुध्वमनर्थाय चापलं चपलाशयाः ।
स्मरताऽतीतवृत्तीनि दुःखजालानि भूरिशः ॥ १८ ॥
रूपाणि मनसो यूयं जडा एव किलाऽधमाः ।
जडे तृप्तिस्तता व्यर्थं मृगतृष्णेव वल्गति ॥ १९ ॥
असारात्मस्वरूपाणामनालोकवती सदा ।
अन्धानामुद्धतिर्येयं सादृश्यायैव जायते ॥ २० ॥
चिदात्मा भगवान् सर्वं साक्षित्वेन करोम्यहम् ।
हतेन्द्रियगणा यूयं किं निरर्थकमाकुलाः ॥ २१ ॥
मिथ्यैव मे विवल्गन्ति नीरूपा नयनादयः ।
अलातचक्रप्रतिमाः सर्परज्जुभ्रमोपमाः ॥ २२ ॥
तेनाऽऽत्मना बहुज्ञेन निर्ज्ञाताश्चक्षुरादयः ।
मनागपि न सम्बन्धो द्युपातालतलाद्रिवत् ॥ २३ ॥
भीतः पान्थ इवाऽहिभ्यः पुक्कसेभ्य इव द्विजः ।
दूरे तिष्ठति चिन्मात्रमिन्द्रियेभ्यस्त्वनामयम् ॥ २४ ॥
चित्सत्तामात्रकेणाऽलं संक्षोभो भवतां मिथः ।
तिष्ठति स्वैरमादित्ये दिनकार्यवतामिव ॥ २५ ॥

जैसे करतल से विताडित गेंद नृत्य करता है वैसे ही निरङ्कुश चक्षु आदि इन्द्रियों से सम्बद्ध संभ्रमरूप अनेकविध विषयस्वरूपों को लेकर मन निरन्तर नृत्य करता है ॥ १३ ॥

इन्द्रियों के द्वारा वर्धित मन पूर्व-पूर्व वृत्तियों का त्याग कर उत्तरोत्तर तदनुसारिणी वृत्तियों को ग्रहण कर लेता है और जिस विषय से उसको हटाने का प्रयास होता है, उसी विषय में अत्यन्त उन्मत्त की तरह दौड़ता है ॥ १४ ॥

मन घट से पट के ऊपर और पट से उत्कट शकट पर दौड़ जाता है इस तरह यह चित्त अर्थों पर वैसे ही दौड़ता है, जैसे वृक्षों पर बन्दर दौड़ता है ॥ १५ ॥

अतिनिन्दित इन्द्रिय स्वरूप ये चक्षु आदि मन के पाँच द्वार हैं, उनके विषय में अच्छी तरह विचार करता हूँ ॥ १६ ॥

सागर के विलुलित जलों के तरङ्गों की तरह अति चंचल हे हतभाग्य इन्द्रियाँ ! इस जन्म में समाधि के द्वारा आत्मदर्शन के लिए अभी तक तुम्हें अवसर प्राप्त नहीं हुआ है क्या ? ॥ १७ ॥

हे चंचल-स्वभाव वाले इन्द्रियगण ! अब तुम लोग अनर्थ के लिए चपलता मत करो, अपने दुःखदायक भूतकालीन कर्मों का तुम पुनः पुनः स्मरण कर लो ॥ १८ ॥

हे इन्द्रियगण ! तुम लोग मन ही के अलग-अलग द्वार के रूपों में कल्पित हो, अतएव निश्चित अधम और जड़ हो, हम जानते हैं कि जड़ में प्रवृत्ति और जल में तरङ्ग रूपी प्रवृत्ति का अश्रयत्व मृगतृष्णिका की तरह मिथ्या है ॥ १९ ॥

अनृत स्वरूप दुर्विनय से आत्मज्ञानशून्य कुमार्ग में जो आप लोगों की प्रवृत्ति है, वह अन्धों की ही उपमा के लिए हो सकती है अर्थात् अमार्ग में दौड़ रहे अन्धों के कूप पतन की उपमा दी जा सकती है ॥ २० ॥

चिदात्मा भगवत्-स्वरूप मैं साक्षीरूप से सब कुछ करता हूँ । हे जघन्य इन्द्रियगण ! तुम क्यों निरर्थक व्याकुल हो रहे हो ॥ २१ ॥

हे चक्षुरादि इन्द्रियगण ! शून्य तुम लोग मेरे प्रति मिथ्या प्रलाप कर रहे हो, तुम लोग अलातचक्र के समान और रज्जु में सर्प-भ्रम के सदृश मान मिथ्यारूप ही हो ॥ २२ ॥

जैसे स्वर्ग और पातालतल में विद्यमान पर्वतों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है अथवा पातालाद्रियों के साथ स्वर्ग का सम्बन्ध नहीं है वैसे ही जिस सर्वावभासक साक्षीस्वरूप प्रत्यगात्मा ने चक्षु आदि इन्द्रियों के स्वरूप का अच्छी तरह परिज्ञान कर लिया है, उस प्रत्यगात्मा के साथ उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ २३ ॥

चिदेकरसस्वरूप दोषशून्य प्रत्यगात्मा इन्द्रियों से वैसे ही दूर रहता है जैसे सर्पों से डरा हुआ पथिक उनसे दूर रहता है और चाण्डालों से डरा हुआ ब्राह्मण चाण्डालों से दूर रहता है ॥ २४ ॥

हे इन्द्रियगण ! जैसे आदित्य के रहने पर श्राद्ध और कृषि आदि कर्म करने वाले पुरुषों के इच्छानुसार तत्-तत्

चित्तचारणचार्वाकचतुर्दिक्कुक्षिभिक्षुक ! ।
श्वेव व्यर्थमनर्थाय मैवं विहर हे जगत् ॥ २६ ॥
अहं चिद्वदिति व्यर्थमसत्या तव वासना ।
अत्यन्तभिन्नयोरैक्यं नाऽस्ति चिन्मनसोः शठ ! ॥२७॥
जीवाम्येवाऽहमित्येषा तवाऽहङ्कारदुर्मतिः ।
मिथ्यैव जाता दुःखाय न सत्यासत्यवर्जिता ॥ २८ ॥
अहङ्कारोदये सोऽस्मीत्येतां संरब्धतां त्यज ।
न किञ्चिदपि मूर्ख ! त्वं किं व्यर्थं तरलायसे ॥ २९ ॥
संविच्चित्त्वमनाद्यन्तं संविदोऽन्यन्न विद्यते ।
देहेऽस्मिंस्तन्महामूर्ख ! किं त्वं स्याश्चित्तनामकम् ॥३०॥
विषपर्यवसानेयं रसायनवदुत्थिता ।
भोक्तृताकर्तृताशङ्का बत चित्त मुधैव हि ॥ ३१ ॥
मोपहासपदं गच्छ मूर्खेन्द्रियगणाश्रयम् ।
न कर्ता त्वं न भोक्ता त्वं जडोऽस्यन्येन बोध्यसे ॥३२॥
कस्त्वं भवसि भोगानां के वा भोगा भवन्ति ते ।
जडस्याऽऽत्मैव ते नाऽस्ति बन्धुमित्रादि तत्कुतः ॥३३॥
यज्जडं तद्धि नाऽस्त्येव सदेवाऽसत्तयाऽन्वितम् ।
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वमन्यत्वानामसंभवात् ॥ ३४ ॥
प्रत्यक्चेतनरूपश्चेत्त्वं तदात्मैव ते वपुः ।
भावाभावमयी चित्त ! सत्ता ते केव दुःखदा ॥ ३५ ॥
यथा कर्तृत्वभोक्तृत्वे मिथ्यैवाऽधिगते त्वया ।
मया ते हि प्रमाज्येते शृणु युक्त्या कथं शनैः ॥ ३६ ॥

कर्म रहते हैं वैसे ही केवल चैतन्य-सत्ता की सन्निधि से ही तुम लोगों की परस्पर चेष्टा उस प्रकार पूर्ण रूप से रहती है ॥ २५ ॥

हे चित्त रूपी चारण ! (इन्द्रियों की बहिर्मुखता के प्रचार में हेतुभूत), हे चार्वाक ! (देह में आत्माभिमान करने वाले), हे चारों दिशाओं में उदरभरण के लिए भिक्षा माँगनेवाले ! तुम इस जगत् में कुत्ते की तरह निरर्थक अनर्थ के लिए इस प्रकार विचरण मत करो ॥ २६ ॥

हे शठ ! 'मैं चेतनधर्मा हूँ' इस प्रकार की तुम्हारी वासनारूपी भ्रान्ति मिथ्या और निरर्थक है, क्योंकि परस्पर एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न धर्मवाले चित् और मन की एकता नहीं हो सकती है ॥ २७ ॥

हे चित्त ! 'मैं ही जीता हूँ' इस प्रकार की यह तुम्हारी अहंकाररूपी दुर्बुद्धि दुःख के लिए मिथ्या ही उत्पन्न हुई है। वह सत्य नहीं है, क्योंकि वह परमात्मस्वरूप से वर्जित है । आशय यह है कि अहंकार के अधीन होकर जीवन सत्यभूत नहीं हो सकता, क्योंकि उस अहंकार के न रहने पर भी सुषुप्ति में जीवन रहता है । अहंबुद्धि मिथ्यास्वरूप है, क्योंकि सत्यभूत परमात्मा का उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ २८ ॥

हे चित्त ! अहंकार अभिमानरूप तुम्हारे परिणाम का आविर्भाव होने पर कार्य-कारण संघातरूप मैं ही हूँ' इस प्रकार जो तुम अभिमान करते हो, उसे छोड़ दो। हे मूर्ख ! तुम कुछ भी नहीं हो, इसलिए क्यों व्यर्थ चंचल हो रहे हो ॥ २९ ॥

संविद्रूपी चैतन्य अनादि और अनन्त है, संविद् से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसलिए हे महामूर्ख ! इस शरीर में चित्तनामवाले तुम कौन हो ? ॥ ३० ॥

हे चित्त ! भोग के बाद क्षण में विष में पर्यवसित होनेवाली और भोगकाल में अमृत के समान उदय यह तुम्हारा कर्तृत्व, भोक्तृत्व का अभिमान व्यर्थ ही है ॥ ३१ ॥

हे मूर्ख चित्त ! चक्षु आदि इन्द्रिय-गणों का आश्रयण कर तुम उपहास के पात्र मत बनो । तुम न कर्ता हो और न भोक्ता हो, जड़ हो । तुम दूसरे साक्षी के द्वारा बोधित हो ज्ञानी बनते हो ॥ ३२ ॥

हे चित्त ! तुम भोगों के कौन हो या भोग तुम्हारा कौन हैं ? जड़स्वरूप तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं है, ऐसी स्थिति में बन्धु, मित्र आदि तुम्हारे कैसे हो सकते हैं ॥३३॥

जड़स्वरूप का अस्तित्व ही नहीं है जैसे जपाकुसुम की लालिमा से स्फटिक में ललिमा दिखाई पड़ती हैं, वैसे ही परमात्मा के अस्तित्व से जड़ में अस्तित्व दिखाई पड़ता है। स्वयं तो असत्ता से समन्वित है। ज्ञातृत्व, कतृत्व, भोक्तृत्व और पूर्वापर अनुसन्धानस्वरूप कर्तृत्व— ये चैतन्य के बिना नहीं हो सकते ॥ ३४ ॥

हे चित्त ! 'प्रत्यक् चेतनास्वरूप ही मैं हूँ' इस प्रकार तुम्हारे द्वारा अपने को प्रत्यक् चेतनरूप मानने पर तुम्हारा स्वरूप आत्मा ही हुआ, तब दुःखप्रद भावाभावमयी तुम्हारी सत्ता कैसी ? निखिल विकल्पों का त्याग हो जाने पर तुम्हारी चित्तस्वरूपता हो ही नहीं सकती ॥ ३५ ॥

हे चित्त ! तुमने जिस तरह जिन मिथ्या कर्तृत्व और भोतृत्व दोनों का ज्ञानकर लिया है, उसका मैं युक्ति से किस प्रकार परिमार्जन कर देता हूँ, उसे धैर्यपूर्वक सुनो ॥ ३६ ॥

स्वयं तावद्भवानेष जडो नाऽस्त्यत्र संशयः ।
जडस्य कीदृक्कर्तृत्वं नृत्यन्तीह कथं शिलाः ॥ ३७ ॥
उपजीव चिरं तस्माच्छुद्धं तद्भागमैश्वरम् ।
जीवसीच्छसि हंसि त्वं वृथा यासि विवल्गसि ॥ ३८ ॥
क्रियते यत्तु यच्छक्त्या तत्तेनैव कृतं भवेत् ।
लुनाति दात्रं पुंशक्त्या लावकः प्रोच्यते पुमान् ॥ ३९ ॥
हन्यते यस्तु यच्छक्त्या स तेनैव हतो भवेत् ।
निहन्ति खड्गः पुंशक्त्या हन्तैव प्रोच्यते पुमान् ॥ ४० ॥
पीयते यस्तु यच्छक्त्या पीतं तेनैव तद्भवेत् ।
पात्रेण पीयते पानं पाता यस्तूच्यते नरः ॥ ४१ ॥
प्रकृत्यैवाऽसि सुजडः समस्तज्ञेन बोध्यसे ।
तेनाऽऽत्मैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं चिनोतीदं हि नो भवत् ।४२।
अनारतं बोधयति त्वामात्मा परमेश्वरः ।

हे चित्त ! तुम स्वयं ही जड़स्वरूप हो, इसमें सन्देह नहीं है। जड़ में कैसे कर्तृत्व रह सकता है। क्या पत्थर की मूर्तियाँ भी यहाँ किसी तरह नाच सकती हैं ॥ ३७ ॥

हे चित्त ! उस ईश्वर के चिदाभासरूपी अंश से दीर्घ काल तक अपना जीवन-निर्वाह करो, स्वतः तुम अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में प्रतिमा के नर्तनरूपी फल का उपभोक्ता जैसे चेतन ही है, प्रतिमा नहीं है, वैसे ही तुम्हारे द्वारा किये गये जीवन आदि फलों का उपभोक्ता चिदात्मा ही है, अतः तुम जीवन, अभिलाष, हनन, गमन और गर्जन के लिए वृथा ही दौड़-धूप करते हो ॥ ३८ ॥

जिसकी शक्ति से जो किया जाता है, वह उसी के द्वारा किया हुआ होता है। पुरुष की शक्ति से हँसुआ काटता है, पर काटने वाला तो पुरुष ही कहा जाता है ॥ ३९ ॥

जिस की शक्ति से जिसका हनन होता है, वह उसी के द्वारा मारा गया कहा जायगा, पुरुष की शक्ति से तलवार हनन करती है, पर हनन करने वाला पुरुष ही कहा जाता है ॥ ४० ॥

जिस की शक्ति से जो पिया जाता है, वह उसी के द्वारा पिया गया कहा जाता है, पात्र के द्वारा जल आदि पिये जाते हैं, पर मनुष्य पीने वाला कहा जाता है, पात्र नहीं ॥ ४१ ॥

तुम स्वभाव से ही जड़ हो, पर उसी सर्वज्ञ साक्षी के द्वारा ज्ञान सम्पन्न होते हो, क्योंकि आत्मा ही स्वयं अपने से भोक्ता, भोग्य, करण, उपकरण आदि जगत् के रूप से स्वप्न की तरह सृष्टि करता है ॥ ४२ ॥

बोधनीया बुधैर्मूढाः किलाऽऽवृत्तिशतैरपि ॥ ४३ ॥
आत्मसत्तैव बोधैकरूपिणी स्फुरतीह हि ।
तयैव चित्तशब्दार्थावङ्गीकृत्य त्वया स्थितम् ॥ ४४ ॥
एवं चित्त त्वमज्ञानादात्मशक्तेरुपागतम् ।
ज्ञाने त्वया विगलितं तीव्रे हिममिवाऽऽतपे ॥ ४५ ॥
तस्मान्मृतं त्वं मूढं त्वं नाऽसि त्वं परमार्थतः ।
तदेवाऽहमिति व्यर्थमतो माऽस्त्वसुखाय ते ॥ ४६ ॥
असत्या चित्तकलना इन्द्रजाललता इव ।
विज्ञानमात्रमेवेह ब्राह्ममङ्गं विजृम्भितम् ॥ ४७ ॥
नरामरजगद्रूपैर्ब्राह्मी शक्तिरुदेत्यलम् ।
सामुद्रकणकल्लोलजालैर्वेलेव वल्गति ॥ ४८ ॥
चिन्मयश्चेद्भवेर्मूढ ! तत्तस्मात् परमात्पदात् ।
नित्यमव्यतिरिक्तं त्वं किमन्यत्परिशोचसि ॥ ४९ ॥

आत्मारूपी परमात्मा ही निरन्तर तुम्हें चिदाभास-व्याप्ति से ज्ञान प्रदान करते हैं, क्योंकि सैकड़ों बार आवृत्ति करते हुए भी पण्डित लोगों के द्वारा मूर्खों को बोध देना ही चाहिए ॥ ४३ ॥

इस ब्रह्माण्ड में केवल बोधमात्रस्वरूप आत्मसत्ता से तुमने नाम और अर्थ की प्राप्त कर अपना अस्तित्व स्थिर किया है ॥ ४४ ॥

हे चित्त ! इस प्रकार तुम अज्ञानरूपी आत्मशक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होने पर तुम वैसे ही विगलित हो जाते हो, जैसे तीव्र आतप में हिम ॥ ४५ ॥

इससे तुम तत्त्वरहित हो, मूढ हो और परमार्थदशा में तुम्हारा अस्तित्व भी नहीं है। इसलिए 'मैं तत्स्वरूप हीं हूँ' ऐसा निरर्थक तादात्म्याध्यास, जन्म आदि दुःख के लिए तुम नहीं हो ॥ ४६ ॥

ऐन्द्रजालिक लता की तरह चित्त की कल्पना मिथ्या है। इस ब्रह्माण्ड में विज्ञानमात्रस्वभाव ब्रह्म का ही स्वरूप सर्वोपरि विराजमान है ॥ ४७ ॥

ब्राह्मीशक्ति से युक्त माया ही मनुष्य, देवता और समस्त जगत् के रूपों से आविर्भूत है। तत्-तत् रूपों से वह वैसे ती गरजती है, जैसे समुद्र के तरङ्गों के कल्लोलों से संवलित तट गरजता हो ॥ ४८ ॥

हे मूढ ! यदि तुम आत्मतत्त्व के परिज्ञान से चिन्मय हो जाने पर चिद्भेद के सम्पादक कारण के न रहने से तुम उस परम पद से निरन्तर अव्यतिरिक्त-स्वरूप वाले ही हो जाओगे। फिर किस के विषय में तुम शोक करते हो ॥ ४९ ॥

सर्वगं सर्वभावस्थं सर्वरूपं हि तत्पदम् ।
तत्प्राप्तौ सर्वमेवाज्ञ ! प्राप्तं भवति सर्वदा ॥ ५० ॥
न त्वमस्ति न देहोऽस्ति ब्रह्माऽस्तीह महत् स्फुरत् ।
अहं त्वमिति निस्पन्दे स्फुरत्यार्तिर्हि कस्य का ॥ ५१ ॥
आत्मा चेत्त्वं तदात्मैव सर्वगोऽस्तीह नेतरः ।
आत्मनोऽन्यज्जडत्वं चेत्तत्त्वं नाऽस्त्यस्ति तद्वपुः ॥५२॥
आत्मैव सर्वं त्रिजगत्तदन्यत्तु न किञ्चन ।
तत्त्वं किञ्चित्त्वमात्माऽन्यद्यदि तत्त्वं न किञ्चन ॥ ५३॥
अहं त्विदमहं तन्म इति व्यर्थं किमीहसे ।
असद्वपुः किं स्फुरति शशशृङ्गेण को हतः ॥ ५४ ॥
तृतीया कलना नाऽस्ति चिज्जडांशेतरा शठ ! ।
छायातपनयोर्मध्ये तृतीयेवाऽनुरञ्जना ॥ ५५ ॥

हे अज्ञानी ! वह परमपद सर्वत्र जाने वाला, अतीत एवं अनागत सब पदार्थों में स्थित कालकृत परिच्छेद से शून्य और सब का स्वरूपभूत है, उसकी प्राप्ति हो जाने पर सर्वदा सभी कुछ प्राप्त हो जाता है ॥ ५० ॥

उस समय ब्रह्म से न तो तुम अलग हो और न देह ही अलग है, व्यापक एवं प्रकाशस्वभाव ब्रह्मरूप ही सब कुछ है। यहाँ 'अहम्, त्वम्' इस प्रकार का व्यवहार क्रिया रहित ब्रह्म में स्फुरित होता है, इसलिए किस को क्या दुःख होगा ॥ ५१ ॥

तुम आत्मस्वरूप हो जाने पर तत्स्वरूप ही रहोगे, क्योंकि इस संसार में सर्वत्र व्यापक केवल आत्मा का ही अस्तित्व है, उससे अतिरिक्त दूसरे किसी का अस्तित्व नहीं है। यदि कहो कि जड़ का अस्तित्व है ? तो वह पृथक् तत्त्व ही नहीं है, परन्तु ब्रह्मरूप ही है ॥ ५२ ॥

समस्त तीनों जगत् आत्मस्वरूप ही हैं, आत्मा से भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है। इसलिए यदि तुम आत्मा से पृथक् किसी वस्तु के रूप में अपने को मानोगे, तो तुम कुछ भी नहीं हो तुम परमार्थरूप हो ही नहीं ॥ ५३ ॥

मैं बालशरीर हूँ, मैं वृद्धशरीर हूँ, बालशरीर के सम्बन्धी क्रीडा के उपकरण आदि और वृद्धशरीर के सम्बन्धी पुत्र-पौत्र आदि मेरे हैं—इस प्रकार निरर्थक इच्छा क्यों करते हो, क्योंकि आत्मस्वरूप हो जाने वाले की दृष्टि में देह पारमार्थिक नहीं रहती, क्या असत्-शरीर कहीं प्रस्फुरित होता है ? यदि कहो कि हां, तो बतलाओ कि कौन शशशृङ्ग के द्वारा मारा गया ॥ ५४ ॥

हे शठ ! चित् और जड़ इन दो अंश-कलनाओं को छोड़ कर भिन्न तीसरी कोई कलना वैसे ही नहीं रहती जैसे इस जगत् में छाया और आतप इन दो के बीच में से किसी एक का ही अनुरञ्जन (सम्बध) सब पदार्थों में रहता है, तीसरे किसी का अनुरञ्जन नहीं रहता है ॥ ५५ ॥

सत्यावलोकनाज्जाते चित्तजाड्यदृशोः क्षये ।
संपद्यते यत्तु तज्जं स्वसंवेदनमात्रकम् ॥ ५६ ॥
तेन मूढ ! न कर्तृत्वं न भोक्तृत्वं तवाऽपि हि ।
तदेवाऽसि परं ब्रह्म त्यज मौर्ख्यं भवाऽऽत्मवान् ॥ ५७ ॥
केवलं ज्ञत्वविषयमुपदेशार्थसिद्धये ।
त्वया कारणभूतेन करोत्यात्मेति कथ्यते ॥ ५८ ॥
असत्स्वरूपं करणं जडं निरवलम्बनम् ।
निःस्पन्दनं न स्पन्देत कर्तृसम्बोधनं विना ॥ ५९ ॥
अकर्तुः करणस्याऽस्य शक्तिः काचिन्न विद्यते ।
दात्रस्य लावकाभावे कर्तुं किमिव शक्तता ॥ ६० ॥
खड्गप्रहारविच्छेदक्रियायां पुंसि शक्तता ।
न खड्गे सुजडे ! चित्त सर्वाङ्गेष्वपि शक्तता ॥ ६१ ॥

त्रिकाल में अबाधित आत्मा के साक्षात्कार से चित्त और उसकी जड़ता का क्षय हो जानेपर चरम यथार्थ साक्षात्कार से आविर्भूत स्वसंवेदन मात्र स्वरूप ही चित्त का तात्त्विक स्वरूप है ॥ ५६ ॥

हे मूढ ! इस कारण तुम में न तो कर्तृत्व है और न भोक्तृत्व भी है। तुम परब्रह्मस्वरूप ही हो, मूर्खता का परित्याग करो और आत्मवान् हो जाओ ॥ ५७ ॥

अज्ञान-दशा में ही आत्मशास्त्र और आचार्य के द्वारा किये गये उपदेशों की सिद्धि के लिए करणरूप से कल्पित तुम्हारे द्वारा आत्मा शुद्धस्वरूप अपने तत्त्व को अन्तिम साक्षात्कार का विषय करता है यह कहा जाता है। जैसे अपने मुख के स्वरूप को देखने की इच्छा करने वाला पुरुष दर्पणरूप उपाधि के द्वारा अपने मुखरूप ही करण से मुख को देखता है ॥ ५८ ॥

स्वतः स्पन्दन-शक्ति से रहित, असत्-स्वरूप वाला तथा अवलम्बन वर्जित जड़रूप करण चैतन्य के द्वारा सम्पादित कर्तव्यार्थ-प्रकाश के बिना स्पन्दन नहीं कर सकता है ॥ ५९ ॥

कर्ता के द्वारा अधिष्ठित हुए विना इस करण में किसी प्रकार की शक्ति नहीं रहती है। काटने वाले के न रहने पर क्या हँसुए में कुछ करने की शक्ति रह सकती है ॥ ६० ॥

हे चित्त ! खड्गप्रहार और छेदन क्रिया के लिए पुरुष ही समर्थ है। अत्यन्त जड़ तलवार में मूल से लेकर

तस्मान्नाऽसि सखे ! कर्तृ मा व्यर्थं दुःखभाग्भव ।
परार्थं क्लेशिता मूर्ख ! प्राकृतेषु न शोभते ॥ ६२ ॥
ईश्वरो नेदृशः शोच्यो यस्त्वया सदृशो भवेत् ।
न च तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ॥ ६३ ॥
गर्वात्तूपकरोम्येनमिति केवलमल्पधीः ।
क्लिश्यते वसतां त्वर्थो न किञ्चिदुपयुज्यते ॥ ६४ ॥
कर्तुर्भोगेश्वरस्यैवमर्थे चेदनुवर्तसे ।
तदस्य काचिन्नेच्छेह तृप्तत्वात् सर्वदैव हि ॥ ६५ ॥
अकृत्रिमावभासेन सर्वगेन चिदात्मना ।
एकेनैवेदमापूर्णं कल्पनैवाऽस्ति नेतरा ॥ ६६ ॥
एकानेकावभासेन समस्तेन तदात्मना ।

समस्त अवयवरूप उपकरणों के रहने पर भी उसमें छेदन की शक्ति नहीं रह सकती है ॥ ६१ ॥

हे सखे ! तुम कर्ता नहीं हो, अतः निरर्थक दुःखभागी मत बनो। हे मूर्ख ! साधारण पुरुष सदृश प्रकृति के कार्यों में दूसरे के लिए क्लेश सहना शोभा नहीं देता है ॥ ६२ ॥

तुम्हारे सदृश के लिए तुम्हें शोक करना चाहिए, ईश्वर तुम्हारे सदृश नहीं है अतः उसके लिए क्या शोक करते हो। क्योंकि उसका न तो कोई कृत कर्म से ही यहाँ प्रयोजन है और न कोई अकृत अकर्म से ही प्रयोजन है ॥ ६३ ॥

हे चित्त ! 'इस आत्मा का कार्यकारणसंघात के अभिमान से मैं उपकार करता हूँ' इस भ्रम से तुम परिच्छिन्न बुद्धि को पीडित कर रहे हो। संघात में रहने वाले पाँच प्राण, मन, बुद्धि और दस इन्द्रिय सभी अचेतन हैं, उनका भोगों से प्रयोजन नहीं है, इसलिए किसी का किसी के लिए कुछ भी उपयोग नहीं है ॥ ६४ ॥

भोग के स्वामी कर्ता परमात्मा के लिए मेरी इस प्रकार की अर्थों में प्रवृत्ति है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भोग के स्वामी परमात्मा की कुछ भी इच्छा नहीं है, क्योंकि वह सदा ही तृप्त है ॥ ६५ ॥

स्वभावतः प्रकाशस्वभाव, व्यापक, अद्वितीय चैतन्यात्मा ने ही इस समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रक्खा है, दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है ॥ ६६ ॥

एक और अनेक के प्रकाशक, समस्त स्वरूप आत्मा ने स्वयं आत्मा के अन्दर जगत् का निर्माण किया है, अतः सब कुछ प्राप्त होने से अन्तरात्मा किस की इच्छा करेगा ॥ ६७ ॥

आत्मन्येवाऽन्तरात्माऽन्तः क्रियते किं किमिष्यते ॥६७॥
त्वादृशस्य तु दृष्ट्यैव क्षुब्धता जायते मुधा ।
आलोक्य राजमहिषीं यूनो मदमयी तथा ॥ ६८ ॥
आत्मना सह सम्बद्धं चेतः कर्त्रसि सुन्दर ! ।
किन्तु नाऽस्याऽसि सम्बन्धि कुसुमस्य यथा फलम् ॥६९॥
द्वितीयेन समं येषा तत्तावद्धुवनैकता ।
सा सम्बन्धगतिः प्रोक्ता प्राग्द्वित्वादधुनैकता ॥ ७० ॥
नानाप्रकाररचना नानारूपक्रियोन्मुखी ।
सुखदुःखदशाऽहेतुर्भवान्नैकविधा स्मृता ॥ ७१ ॥
सम्बन्धः समयोर्दृष्टस्तथाऽर्धसमयोरपि ।
न विलक्षणयोश्चाऽन्यस्तस्मिन् सति जगत्त्रये ॥ ७२ ॥

जिस प्रकार राजा की स्त्री को देखकर मूर्ख युवा को वैसे ही मदमयी अवस्था उत्पन्न होती है। जैसे मूर्खों की दृष्टि से ही इस जगत् में व्यर्थ क्षोभ उस प्रकार उत्पन्न होता है ॥ ६८ ॥

हे सुन्दर चित्त, तुम आत्मा के साथ अपना सम्बन्ध करने की इच्छा रखते हो, किन्तु तुम उसके सम्बन्ध के योग्य वैसे ही नहीं हो सकते, जैसे कुसुम के सम्बन्ध के योग्य फल नहीं हो सकता। आशय यह है कि पुष्प से उत्पन्न फल पुष्प से बहिर्मुख होने के कारण पुष्प में रहने वाले सुगन्ध आदि के उपभोग हेतु सम्बन्ध के योग्य नहीं होता, क्योंकि फल की अभिवृद्धि होने पर पुरुष का तिरोभाव हो जाता है ॥ ६९ ॥

एक पदार्थ की क्रिया से या उभय पदार्थों की क्रियाओं से एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में मिल जाने से एक का दूसरे में जो अन्तर्भाव होता है या उस अन्तर्भाव से जो तादात्म्य होता है, वही सम्बन्ध का लक्षण है, इस प्रकार सम्बन्ध का लक्षण विद्वानों के द्वारा कहा गया है। यह सम्बन्ध द्वैतावस्था में ही हो सकता है, द्वैत के न रहने पर अद्वैत अवस्था में सम्बन्ध कैसे रह सकता है ॥ ७० ॥

तुम स्वतः एक प्रकार के नहीं हो, तुम्हारे कार्य भी अनेक प्रकार के हैं और नाना प्रकार की विहित और निषिद्ध क्रियाओं की ओर झुकी हुई तुम्हारी सुख-दुःख दशाएँ भी चारों ओर से प्रसिद्ध हैं ॥ ७१ ॥

जो सम हैं, उनका अर्थात् क्षीर और क्षीर का, जो अर्धसम हैं, उनका अर्थात् क्षीर-नीर का भी परस्पर सम्बन्ध देखा गया है। परन्तु जो विलक्षण हैं अर्थात् अग्नि और जल की तरह अत्यन्त विरुद्ध उनका सम्बन्ध नहीं

द्रव्यान्तरगुणा द्रव्याण्याश्रयन्ति बहून्यलम् ।
संविदश्च्यवनं दुःखं संविदो मा च्युतो भव ॥ ७३ ॥
एतावतैकध्यानेन नित्यध्यानोऽथवाऽऽत्मदृक् ।
अभावे दुःखदस्याऽन्तर्दृशा दृश्यस्य वस्तुनः ॥ ७४ ॥
सङ्कल्पोन्मुखतां विद्धि दुःखदां संविदश्च्युतिम् ।
जडेषूपलभूतेषु मनोदेहेन्द्रियादिषु ॥ ७५ ॥
कीदृशी कर्तृता चित्त ! पुष्पं व्योम्नि कथं भवेत् ।
निरस्तकलनापङ्के मननध्वंसरूपिणि ॥ ७६ ॥
न चैवाऽऽत्मनि कर्तृत्वं संभवत्यम्बराङ्गवत् ।
अयं केवलमात्मैव नानानानातयाऽऽत्मनि ॥ ७७ ॥

हो सकता, क्योंकि विरोधियों का समूह होने पर एक का विनाश ही देखा जाता, सम्बन्ध का अवस्थान नहीं देखा गया है ॥ ७२ ॥

संस्कृत व्याख्या के अनुसार शब्द, स्पर्श आदि विरुद्ध गुणवान् पदार्थों में परस्पर विरुद्धता नहीं है, क्योंकि दूसरे द्रव्यों के गुण भी परस्पर मेलन में पञ्चीकृत द्रव्यों का आश्रयण करते हैं ।

'शब्दैकगुणमाकाशं शब्दस्पर्शगुणो मरुत् ।
शब्दस्पर्शरूपगुणैस्त्रिगुणं तेज उच्यते ॥
शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः ।
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पञ्चगुणा मही ॥'

(आकाश केवल शब्द गुणवाला है, वायु शब्द और स्पर्श गुणवाला है, तेज शब्द स्पर्श और रूप—इन तीन गुणों से तीन गुण वाला कहा जाता है, जल शब्द, स्पर्श रूप और रस–इन चार गुणों से युक्त है और पृथ्वी शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध—इन पाँच गुणों से युक्त हैं) । संवित् और जड़ता का विरोध होने से जड़रूप तुम्हारे द्वारा यदि संवित् च्युत हो जायगी तो साधक के अभाव से जड़ अंश की सिद्धि ही नहीं होगी, तुम्हारी ही असिद्धि का प्रसङ्ग रूप दुःख प्राप्त हो जायगा । यदि संवित् के द्वारा च्युत हो जाओगे तो तुमने अपने ही विनाश के लिए आत्मसम्बन्ध की इच्छा की, यह होगा । इसलिए आत्मा के साथ सम्बन्ध चाहने वाले तुम को उभयथा संवित् से च्युत न होना चाहिए ॥ ७३ ॥

अथवा आत्मज्ञान से तुम्हारे जैसे दुःखप्रद दृश्यों का उच्छेद हो जाने पर दुःखशून्य निरतिशयानन्दात्ममात्र का ही शेष रह जाता है । यदि इतने से तुम सन्तुष्ट रह सकते हो, तो एकाग्र ध्यान से दीर्घ काल तक अविच्छिन्न समाधि से युक्त होकर आत्मदर्शी हो जाना चाहिए ॥७४॥

स्फुरत्यब्धिरिवाऽम्भोभिः फेनबुद्बुदवीचिभिः ।
आभासमात्रे सर्वस्मिन् स्फुरत्यस्मिश्चिदात्मनि ॥ ७८ ॥

द्वितीया नाऽस्ति कलना तप्ताङ्गार इवाऽम्बुधौ ।
कलनारहिते देवे देहे मनसि वा जडे ॥ ७९ ॥

संवित्संवेद्यनिर्मुक्ता सारं सुन्दर नेतरत् ।
इदमन्यदिदं नाऽन्यच्छुभं वाऽशुभमेव च ॥ ८० ॥

इत्यसत्कल्पना नाऽस्ति यथा नभसि काननम् ।
संवेद्यरहितं संविन्मात्रमेवेदमाततम् ।
तत्राऽयमहमन्योऽयमित्यसत्कलना कथम् ॥ ८१ ॥

पाषण के समान जड़ मन, देह, इन्द्रिय आदि में सङ्कल्पोन्मुखता को तुम दुःखप्रद संवित् का अभाव समझो ॥ ७५ ॥

हे चित्त ! कल्पनारूपी पङ्क से रहित सङ्कल्पादि मनन के ध्वंसरूप आत्मा में कर्तृता कैसे रह सकती है क्या आकाश में पुष्प किसी तरह उत्पन्न हो सकता है ? ॥ ७६ ॥

आत्मा में कर्तृत्व वैसे ही नहीं हो सकता जैसे आकाश में हाथ, पैर आदि अङ्ग हो ही नहीं सकते । हे चित्त, तुम्हारे ही द्वारा कल्पित अनेकरूपता और एकरूपता से यह आत्मा अपने में केवल स्फुरित दीखता है, कल्पना नहीं करता ॥ ७७ ॥

आभासमात्र स्वरूप सर्वात्मक इस चिदात्मा में जगत् वैसे ही स्फुरित होता है जैसे समुद्र अपने अन्दर जलस्वरूप फेन, बुद्बुद और तरङ्गों से स्फुरित होता है ॥ ७८ ॥

आत्मा में दूसरी कोई कल्पना वैसे ही नहीं रह सकती जैसे समुद्र में तप्त अङ्गार नहीं रह सकता, इस प्रकार जब आत्मदेव में कल्पना का अभाव है तथा मन एवं देह जड़ हैं, तब विवेकदृष्टि से 'यह अन्य है, यह अन्य नहीं है, यह शुभ है, यह अशुभ है' इत्यादि असत् कल्पनाएँ कल्पक के अभाव से ही नहीं रह सकती । अतः हे सुन्दर चित्त ! संवेद्य से निर्मुक्त संवित् ही सारभूत वस्तु है, अन्य नहीं ॥ ७९, ८० ॥

हे चित्त ! पूर्वोक्त असत् अल्पनाएँ आत्मा में वैसे ही नहीं है जैसे आकाश में अरण्य नहीं है । संवेद्य से रहित केवल संवित् ही इस जगत् के रूप में विस्तृत है, इसलिए उसमें 'यह मैं हूँ यह अन्य है' इस प्रकार की असत् कल्पनाओं का अवसर ही कैसे आ सकता है ? ॥ ८१ ॥

**अनादिमति नीरूपे सर्वगे विततात्मनि ।
आरोपयेत् कः कलनामृग्वेदं व्योम्नि को लिखेत् ॥८२॥
नित्योदिते सकलवस्तुपदार्थसारे
संविस्थिते भरितनिर्भरभूरिदिक्कम् ।
आत्मन्यसत्यमिव साधुगतेऽमलत्वात्
क्षीणौ सुखासुखलवौ मम वै स मोहः ॥ ८३ ॥**

**इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
इन्द्रियानुशासनयोगोपदेशो नाम द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥**

अनादि, रूप रहित सर्वगामी और व्यापक आत्मा में कल्पनाओं का कौन आरोप कर सकता है ? क्या आकाश में ऋग्वेद आदि लेख्यमात्र को कोई लिपिबद्ध कर सकता है ? ॥ ८२ ॥

अपने स्वच्छ स्वभाव से तुमने जब असंदिग्ध और प्रत्यक्ष रूप से यह अवगत कर लिया कि वस्तुरूप से प्रसिद्ध तथा पद और अर्थों में सारभूत केवल संवित्स्वभाव आत्मा ही समस्त दिशाओं को पूर्ण कर अवस्थित है, तब मेरे सुख-दुःखों के लेश उसी प्रकार क्षीण हो गये, जैसे मृगतृष्णा में प्रतीत उदक, रज्जु में प्रतीत सर्प और शुक्ति में प्रतीत वजत सत्यज्ञान से क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि निश्चय ही पूर्वोक्त सुख-दुःखप्रत्यय भ्रान्तिरूप हैं ॥ ८३ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में
इन्द्रियानुशासनयोगोपदेश नामक कुसुमलता का बयासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८२ ॥

८३

वसिष्ठ उवाच

**भूयो मुनिवरो धीरो धिया धवलमेधया ।
स्वमिन्द्रियगणं गुप्तो बोधयामास साध्विदम् ॥ १ ॥
तच्चेन्द्रियगणस्यार्थे शृणु वक्ष्यामि ते स्फुटम् ।
श्रुत्वा तद्भावनामेत्य परां निर्दुःखतां व्रज ॥ २ ॥
भवतामात्मसत्तैषा दुःखायैवाऽन्तदायिनी ।
असत्यामात्मनः सत्तां तद्भवन्तस्त्यजन्त्विति ॥ ३ ॥
मदीयेनोपदेशेन सत्तैषा भवतां क्षयम् ।
गतैवेति स्फुटं मन्ये यूयं ह्यज्ञानसम्भवाः ॥ ४ ॥
स्वसत्ता स्फुटतां याति दुःखाय तव चित्तक ! ।
तप्तकाञ्चनरुल्लासो दाहायैव स्वपार्श्वयोः ॥ ५ ॥
पश्य त्वयि सति भ्रान्तजलकल्लोलसङ्कुलाः ।
विशन्ति कालजलधिं संसारसरितां गणाः ॥ ६ ॥**

८३

वसिष्ठजीने कहा—मुनियों में श्रेष्ठ धीर उस वीतहव्य मुनि ने विशुद्ध धारणा से समन्वित ज्ञान से एकान्त में स्थित हो पुनः अपने इन्द्रियों को भलीभाँति यह ज्ञात कराया ॥ १ ॥

इन्द्रियों के लिए मुनि वीतहव्य ने एकान्त में स्थित हो किये गये बोध को मैं आप से स्पष्ट कहता हूँ, उसे श्रवण करें। श्रवण करने से आप भावना को प्राप्त होकर मुक्त हो जायेंगे ॥ २ ॥

हे इन्द्रियवृन्द ! आप लोगों की यह अविचारदृष्टि से प्रसिद्ध आत्मसत्ता अपना अस्तित्व है। जीवनकाल में अनर्थ रूप दुःख का साधन है और उसके बाद मृत्यु, नरक आदि को देने वाला है, इसलिए सद्विचार से आप अपनी मिथ्याभूत सत्ता का परित्याग कर दें ॥ ३ ॥

मेरे आत्मतत्त्व के उपदेश से आप लोगों की यह मिथ्याभूत सत्ता विनष्ट हो गई, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि आप अज्ञान से उत्पन्न हैं, अतः उपदेश से अज्ञान का विनाश हो जाने पर सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकेंगे ॥ ४ ॥

हे तुच्छ चित्त, तुम्हारी सत्ता केवल तुम्हारे दुःख के लिए ही स्पष्टरूप को वैसे ही प्राप्त होती है, जैसे जलते समय तप्त कांचन की तरह प्रज्वलित होकर शब्द करने वाली अग्नि में की क्रीड़ा बालक और पक्षियों के पार्श्वभाग के दाह के लिए होती है ॥ ५ ॥

चित्त और इन्द्रियसमुदाय की सत्ता से हुई अनर्थपरम्परा को दिखलाते हैं—'पश्य' इत्यादि से।

तुम देखो तुम्हारा अस्तित्व होने पर भ्रमणशील मूर्खों के राग, द्वेष आदि तरङ्गों से व्याप्त संसाररूपी नदियों का समूह कालरूपी विशाल समुद्र में प्रविष्ट हो रहा है ॥ ६ ॥

पतन्त्यहमहमिकाविहितान्योन्यचिन्तिताः ।
कुतोऽपि दुःखावलयो धारा आसारगा इव ॥ ७ ॥
परिस्फुरत्यपर्यन्ता हृदयोन्मूलनोद्यता ।
आक्रन्दकारिणी क्रूरा भावाभावविषूचिका ॥ ८ ॥
कासश्वासरणद्भृङ्गा कलेवरजरद्द्रुमे ।
विकसत्यमलोद्योता जरामरणमञ्जरी ॥ ९ ॥
कल्लोलव्यालवलिते शरीरश्वभ्रकोटरे ।
घननीहारखे स्वान्तश्चिन्ताचपलमर्कटी ॥ १० ॥
लोभनाटचारटत्पक्षी तीक्ष्णया द्वन्द्वतुण्डया ।
कायजीर्णद्रुमादस्माद्गुणखण्डं निकृन्तति ॥ ११ ॥
हृदयावकरं कीर्णमितश्चेतश्च कर्कशः ।
अपवित्रो दुराचारः कुरुते कामकुक्कुटः ॥ १२ ॥
महत्यां मोहयामिन्यामुल्बणोऽज्ञानकौशिकः ।
श्मशान इव वेतालः परिवल्गति हृद्द्रुमे ॥ १३ ॥

परस्पर एक दूसरों के अहंकारों से होनेवाले एक दूसरों के वध, पराजय, उत्पीड़न आदि की चिन्ताओं से युक्त दुःख की पंक्तियाँ कहीं से वैसे ही गिर रही है, जैसे महावृष्टि की धाराएँ गिर रही हों ॥ ७ ॥

असीम, हृदय का उन्मूलन करने के लिए उद्यत, भीषण क्रन्दन कराने वाली क्रूर संपत्ति-विपत्तिरूपी महामारी चारों ओर से व्याप्त हो रही है ॥ ८ ॥

इस शरीर रूपी जर्जर वृक्ष के ऊपर निर्मल तथा प्रकाशमान जरा-मरणरूपी विकसित मञ्जरी पर कास-श्वासरूपी गुँजायमान भ्रमर विद्यमान हैं ॥ ९ ॥

मनोरथों के तरङ्ग रूपी सर्पों से वेष्टित, निहाररूपी निबिड जड़ता रूपी इन्द्रियों के छिद्र रूपी द्वारों से समन्वित शरीर के हृदय में जाल-निर्माण में व्यग्र, चपल चिन्ता रूपी मकरी अपने भीतर घूम रही है ॥ १० ॥

लोभरूपी विशालों से शब्दायमान चित्त रूपी पक्षी सुख-दुःख रूप तीक्ष्ण चञ्चु से शम, दम, धर्म आदि फलों के पुष्प रूपी गुण समूहों को काट रहा है ॥ ११ ॥

अपवित्र, दुष्ट आचरण करने वाला काम रूपी कर्कश मुरगा राग आदि वासनाओं से व्याप्त मनरूपी कूड़े के ढेर को इधर-उधर विस्तृत कर बार-बार अपने पैरों से फैला रहा है ॥ १२ ॥

मोह रूपी महारात्रि में भयावह अज्ञान रूपी उल्लू हृदय रूपी वृक्ष के ऊपर श्मशान में वेताल की तरह चारों ओर से गरज रहा है ॥ १३ ॥

एताश्चाऽन्याश्च बह्वचोऽपि त्वयीन्द्रियगणे सति ।
पिशाच्य इव शर्वर्यां प्रवल्गन्त्यशुभश्रियः ॥ १४ ॥
त्वयि त्वसति हे साधो ! सर्वा एव शुभश्रियः ।
प्रभात इव पद्मिन्यः सालोकं विलसन्त्यलम् ॥ १५ ॥
प्रशान्तमोहमिहिकं राजते हृदयाम्बरम् ।
निर्मलालोकवलितं नीरजस्कतरान्तरम् ॥ १६ ॥
अशङ्कितनभःकोशपतिताकुलपूरवत् ।
नाऽऽपतन्ति विकल्पौघाश्चिरं वैकल्यकारिणः ॥ १७ ॥
सर्वस्याऽऽह्लादनी शान्ता मैत्री परमपावनी ।
अभ्युदेति हृदो हृद्या सुतरोरिव मञ्जरी ॥ १८ ॥
अन्तश्छिद्रवती जाड्ययुक्तायुक्तगुणा स्वयम् ।
चिन्ता शोषमुपायाति हिमदग्धेव पद्मिनी ॥ १९ ॥
आलोकः स्फुटतामन्तरायात्यज्ञानसंक्षये ।
प्रशाम्यत्यम्बुदे व्योम्नि शरदीवाऽर्कमण्डलम् ॥ २० ॥

आप लोगों की विद्यमानता की स्थिति में और इनसे दूसरी भी बहुत सी अशुभ वैभव रात्रि में पिशाचिनियों की तरह गरजती रहती हैं ॥ १४ ॥

हे साधो ! तुम्हारे विद्यमान न रहने पर सम्पूर्ण गुण लक्ष्मी समूह विवेक रूपी आलोक से समन्वित वैसे ही पूर्ण रूप से विकसित होती हैं, जैसे प्रातःकाल में कमलिनियाँ ॥ १५ ॥

मोह रूपी तुषार से रहित निर्मल विवेकालोक से समन्वित तथा मनरूपी रजो गुण से शून्य अब हृदयाकाश रूप ब्रह्म सुशोभित हो रहा है ॥ १६ ॥

किसी प्रकार की आशङ्का से रहित आकाश-मण्डल में पतित और वायु आदि से आकुलित वृष्टि धाराओं की तरह विक्षेपों के कारण विकल्प-समूह अब नहीं गिरते हैं ॥ १७ ॥

सबको आनन्द देने वाली, शान्त, परम पवित्र सब भूतों में मैत्री, हृदय में इस प्रकार उत्पन्न होती है, जैसे तरुवर में मनोहर मञ्जरी उत्पन्न होती है ॥ १८ ॥

भीतर से छिद्र वाली अपूर्णता से युक्त तथा जड़ता से भरे मूर्खों में विद्या, कौशल आदि गुणों का सम्बन्ध कराने वाली चिन्ता उसी प्रकार सूख रही है, जैसे हिम-दग्ध कमलिनी ॥ १९ ॥

जैसे शरत्काल में मेघों के शान्त हो जानेपर आकाश में सूर्यमण्डल प्रकट रूपता को प्राप्त होता है वैसे ही अज्ञान का विनाश होने पर हृदय में अपने ज्ञान का प्रकाश प्रकटरूपता को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

प्रसन्नं स्फारगाम्भीर्यमक्षुब्धमपराहतम् ।
हृदयं समतामेति शान्तवात इवाऽर्णवः ॥ २१ ॥
अमृतापूरपूर्णेन नित्यानन्दमयेन च ।
स्थीयते पुरुषेणाऽन्तः शीतेन शशिना यथा ॥ २२ ॥
संविदः स्फुटतामन्तरायान्त्यज्ञानसंक्षये ।
संविदंशैकविश्रान्तं समग्रं सचराचरम् ॥ २३ ॥
भाव्यते भरिताकारं वपुरानन्दमन्थरम् ।
न भवत्यसुसङ्गानामाशापाशविधायिनाम् ॥ २४ ॥
दग्धानामिव पर्णानां रसानां पुनरागतिः ।
पुंसां क्षपितसंसारजराजन्ममहाध्वनाम् ॥ २५ ॥
अपुनर्भ्रमणायाऽऽत्मद्रुमे विश्रम्यते चिरम् ।
एवंप्रायास्तथाऽन्याश्च भवन्ति गुणसम्पदः ॥ २६ ॥

जैसे वायु के शान्त होने पर समुद्र समता को प्राप्त करता है, वैसे ही प्रसन्न, विशाल गाम्भीर्य से समन्वित क्षोभशून्य तथा विषमता के सम्पादक हेतुओं से पराजित मन समता को प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

आत्मारामरूपी अमृत-प्रवाह से पूर्ण तथा अविनाशी आनन्दमय पुरुष शीतलता से समन्वित हो भीतर वैसे ही स्थित रहता है, जैसे शीतल चन्द्रमा स्थित रहता है ॥ २२ ॥

अज्ञान का विनाश हो जाने पर आत्माकार वृत्तियाँ भीतर से पूर्णता के सम्पादक विकास को प्राप्त करती हैं और उससे समग्र चराचरयुक्त जगत् बाधित होकर केवल संविदंशमात्र में विश्रान्त हो जाता है ॥ २३ ॥

केवल संविन्मात्र में विश्रान्ति होने पर आत्मस्वरूप निरतिशयानन्द से व्याप्त हो जाता है यह पूर्णरूप से अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव आशारूपी फाँसी को उत्पन्न करने वाले प्राण-सम्बद्ध देह आदि की विद्यमानता दशा में नहीं होता हैं या संविदेक-विश्रान्ति हो जाने पर शरीर ब्रह्मानन्द के आविर्भाव से मन्थर होकर अमृत के प्राशन से पूर्णरूप अनुभूत होता है, परन्तु यह अनुभव अन्न, पान आदि आशारूपी पाशों का निर्माण करने वाले आसक्ति-प्रयोजक प्राण आदि पापों की'विद्यमानता-दशा में नहीं होता ॥ २४ ॥

जैसे दावाग्नि से जिन वृक्षों के पत्ते और रस दग्ध हो गये हैं, उन वृक्षों में वर्षा होने पर पुनः पल्लव और रसों का आविर्भाव हो जाता है, वैसे ही ज्ञान रूपी महामार्ग नष्ट हो गया है, उन तत्त्वज्ञों में भी आरोग्य, हो जाता है ॥ २५ ॥

हे चित्त ! तुम्हारे विनाश से तत्त्वज्ञ पुरुष अपना फिर जन्म न हो, इसलिए आत्मारूपी वृक्ष पर चिरकाल तक विश्रान्ति लाभ करता है । इस तरह की एवं अन्य तरह की अनेक शुभ गुणों की सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ २६ ॥

असति त्वयि सर्वाशिन् ! सर्वाशाक्षयसंक्षये ।
पक्षयोरेतयोश्चित्त सत्तासत्तास्वरूपयोः ।
येनैव पश्यसि श्रेयस्तमेवाऽङ्गीकुरु क्षणम् ॥ २७ ॥
स्वात्मभावस्तव सुखं मन्ये मानवतां वर ! ।
तमेव भावयाऽभावं सुखत्यागो हि मूढता ॥ २८ ॥
यदि त्वस्ति भवेत्सत्यमन्तर्भावितचेतनम् ।
जीवतस्तत्तवाऽत्यन्तमभावं क इवेच्छति ॥ २९ ॥
किन्तु नाऽस्त्यसि सत्येन वदामि तव सुन्दर ! ।
तेन मिथ्यैव जीवामीत्याशया मा सुखी भव ॥ ३० ॥
पूर्वमेवाऽसि नाऽस्त्येव यावद्भ्रान्त्या त्वदस्तिता ।
सैवेदानीं विचारेण भृशं क्षयमुपागता ॥ ३१ ॥

हे सर्वभक्षक चित्त ! समस्त आशारूपी क्षयरोग को आश्रय स्वरूप तुम्हारे अस्तित्व के समाप्त हो जाने पर हे चित्त ! आत्यन्तिक आत्मभाव से स्थिति और आत्यन्तिक निरात्मत्व का स्वीकार—इन दो पक्षों से तुम जिस पत्र से अपना कल्याण देखो, उसी का क्षण भर में आश्रयण कर लो ॥ २७ ॥

हे मानियों में श्रेष्ठ चित्त ! आत्यन्तिक आत्मभाव से स्थिति की प्राप्ति ही तुम्हारे लिए सुखप्रद है । अतः हे चित्त ! तुम उसी अभाव की भावना करो, क्योंकि सुख का त्याग करना महामूर्खता है ॥ २८ ॥

तुम्हारा अन्तर्भावितचेतनस्वरूप प्रसिद्ध है, वह यदि सत्य होता, तो उस रूप से जी रहे तुम्हारा अभाव कौन चाहता है ॥ २९ ॥

हे सुन्दर ! परन्तु तुम उस रूप से नहीं हो, वरन् असत् हो, यह मैं शास्त्र आदि के अनुभव से विचार कर तुम से सत्य कहता हूँ, ऊपर ऊपर से नहीं कहता हूँ; हे चित्त ! इससे 'मैं जीता हूँ' इस प्रकार की मिथ्या आशा से तुम फूलो मत ॥ ३० ॥

जब तुम पहले से ही कल्पित हो, तुम्हारी सत्ता है ही नहीं, तब तुम्हारा अस्तित्व भ्रममूलक ही सिद्ध होता है । हे चित्त ! अब वही भ्रान्ति विचार से आत्यन्तिक विनष्ट हो गई ॥ ३१ ॥

एतावदेव ते रूपं साधो ! यदविचारणम् ।
विचारे विहिते सम्यक्समरूपं समं स्थितम् ॥ ३२ ॥
अविचारात् प्रजातं त्वममालोकात्तमो यथा ।
विचारेणोपशान्तं त्वमालोकेन तमो यथा ॥ ३३ ॥
एतावन्तं सखे ! कालं बभूवाऽल्पविवेकिता ।
तवाऽनेनाऽभिपीनत्वमभूद् दुःखैककारणम् ॥ ३४ ॥
मोहसङ्कल्पमात्रेण बालवेतालवद् भवेत् ।
द्वन्द्वं चाऽद्यन्तसङ्कल्पक्षीणं क्षयि भवे स्थितम् ॥ ३५ ॥
इदानीमुदितं नित्यं स्वप्राग्रूपे क्षयं गते ।
विवेकस्य प्रसादेन विवेकाय नमो नमः ॥ ३६ ॥
बहुधाऽपि प्रबुद्धस्त्वं चित्तकाऽप्यनुबोधितः ।
चित्ततायां प्रनष्टायां स्थितस्त्वं परमेश्वरः ॥ ३७ ॥
प्रावस्वरूपविलासस्ते श्रेयसे स्थितिमागतः ।

हे साधो ! तुम्हारा स्वरूप इतना ही है कि आत्मस्वरूप का विचार न करना। आत्म और अनात्मा का भली प्रकार विचार करने पर तुम्हारे स्वरूप की सन्मात्र रूप तथा विक्षेपात्मक विषमता से शून्य स्थिति हो जाती है ॥ ३२ ॥

हे चित्त ! विचार न करने पर तुम वैसे ही उत्पन्न होते हो, जैसे प्रकाश के न रहने पर अन्धकार वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे आलोक से अन्धकार का स्वरूप ॥ ३३ ॥

हे सखे ! इतने समय तक तुम्हारे स्वरूप के विषय में बहुत कम विवेक रहा, इसलिए तुम्हारे स्वरूप का अल्प विवेक होने के कारण ही दुःख की हेतु तुम्हारी मोटाई उस प्रकार उत्पन्न हुई ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार मोहजनित सङ्कल्पमात्र से बालक के शरीर में वेताल उत्पन्न होता है, तुम्हारे मोटेपन से सुख-दुःख आदि द्वन्द्व, जो ब्रह्माजी के द्वारा किये गये पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश के सङ्कल्प-समय में ही नश्य सिद्ध हो जाने के कारण विनाशी हैं, संसार में अवस्थित हैं ॥३५ ॥

जिस विवेक के प्रसाद से ज्ञानोदयक्षण में अविद्या-जनित प्राक्तन अपने स्वरूप का विनाश होने पर नित्य यानि आदि और अन्त से शून्य आत्मा के स्वरूप का आविर्भाव हुआ, उस विवेक को बार-बार नमस्कार है ॥ ३६ ॥

हे तुच्छ चित्त ! बहुधा तुम स्वयं भी अब प्रबुद्ध हो चुके हो और शास्त्र से भी बोधित हो, चित्तता के विनष्ट होने पर तुम परमेश्वरस्वरूप हो ॥ ३७ ॥

पूर्व में भी परमेश्वर स्वरूप ही थे, वर्तमान काल में

समस्तवासनोन्मुक्तः संप्रत्यसि महेश्वरः ॥ ३८ ॥
यस्याऽविवेकादुत्पत्तिः स विवेकाद्विनश्यति ।
प्रकाशेन प्रयात्यन्तमनालोके भवेत्तमः ॥ ३९ ॥
अनिच्छतोऽपि ते साधो ! विचारे स्थितिमागते ।
सर्वतोऽयमुपायातो विनाशः सुखसिद्धये ॥ ४० ॥
तस्मान्नाऽस्त्यसि निर्णीतमिति सिद्धान्तयुक्तिभिः ।
चित्तेन्द्रियेश्वर ! स्वस्ति भव तेऽस्त्वन्तमागतः ॥ ४१ ॥
नित्यं पूर्वमभूताय नाऽस्तिरूपाय सम्प्रति ।
भविष्यते च नोदर्के स्वमनः स्वस्ति तेऽस्त्विति ॥ ४२ ॥
परिनिर्वामि शान्तोऽस्मि दिष्ट्याऽस्मि विगतज्वरः ।
स्वात्मन्येवाऽवतिष्ठेऽहं तुर्यरूपपदे स्थितः ॥ ४३ ॥
अतो नाऽस्त्येव नाऽस्त्येव संसारे चित्तमस्थिति ।
आत्मा त्वस्त्येव चाऽस्त्येव यस्मादन्यन्न विद्यते ॥ ४४ ॥

भी कल्याण के लिए प्रबोध से तुम्हें अपना वास्तविक स्वरूप विलास (परमेश्वर स्वरूपत्व) प्राप्त हुआ है, इसलिए समस्त वासनाओं से मुक्त तुम साक्षात् महेश्वर ही हो ॥३८॥

अविवेक से जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विवेक से विनाश हो जाता है। अन्धकार प्रकाश से विनष्ट होता है और प्रकाश का अभाव होने पर अन्धकार हो जाता है ॥ ३९ ॥

हे साधो ! तुम्हारी इच्छा न रहने पर भी विचार के दृढ़ होने पर सुख की सिद्धि के लिए तुम्हारा चारों ओर से यह विनाश हुआ है ॥ ४० ॥

इसलिए सिद्धान्त युक्तियों से यह निर्णय हुआ कि तुम असत् ही हो। हे इन्द्रियों के प्रभु चित्त तुम संसार से पार हो जाओ, तुम्हारा कल्याण हो। चित्तेन्द्रिय के स्थान में यदि 'वित्तेन्द्रिय' पाठ मानने पर सिद्धान्तभूत युक्तियों से अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर संसार से पार हो जाओ, यह अर्थ होगा ॥ ४१ ॥

पहले जो कभी भी नहीं था, वर्तमान में भी जो असत् है, उत्तर काल में भी जिसकी होने की सम्भावना नहीं है, इस प्रकार तो हे स्वकीय मन ! तुम्हारा कल्याण हो ॥ ४२ ॥

सौभाग्यवश मैं समस्त चिन्ता-ज्वरों से निर्मुक्त हूँ, शान्त हूँ, और चारों ओर से तृप्त हूँ, तुरीयपद में स्थित मैं अपनी आत्मा में अवस्थित हूँ ॥ ४३ ॥

इसलिए इस संसार में जिसकी स्थिति नहीं हो सकती, वह चित्त नहीं है, नहीं। आत्मा तो अवश्य ही है, आत्मा को छोड़ कर और कुछ भी उससे भिन्न नहीं है ॥ ४४ ॥

अयमात्माऽहमेवाऽसौ नाऽस्त्यन्यन्मदृते क्वचित् ।
स्फुरच्चिदेव बोधात्मा सर्वत्राऽहं स्थितः सदा ॥ ४५ ॥
अयमात्मेति कलना मन्ये नो निर्मलान्तरे ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदकलनैकस्य वै कुतः ॥ ४६ ॥
अहं तेनाऽयमात्मेति कलनामनुदाहरन् ।
मौनी स्वात्मनि तिष्ठामि तरङ्ग इव वारिणि ॥ ४७ ॥
संशान्तवासनमनाश्रितचेतनांश-
मप्राणसञ्चरणमस्तमितांशदोषम् ।
संवेद्यवर्जितमुपेत्य सुसंविदंशं
शाम्यामि मौनमहमेव निरीहमन्तः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
चित्तासत्ताविचारयोगोपदेशो नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

यह आत्मा है, मैं आत्मा स्वरूप ही हूँ, मुझ से अन्य दूसरा कुछ भी कहीं नहीं है। प्रकाशमान चित्स्वरूप बोधात्मा मैं ही सदा सर्वत्र रहता हूँ ॥ ४५ ॥

सर्व-विध मलों से रहित आत्मा के अन्दर 'यह आत्मा है' इस प्रकार की कल्पना ही नहीं हो सकती है यह मैं मानता हूँ, क्योंकि एक अद्वितीय आत्मा में प्रतियोगी के भेद होने वाली अन्य वस्तु की सत्ता से होने वाली कल्पना कैसे हो सकती है ? ॥ ४६ ॥

उसी कारण से या अद्वितीय वस्तु में कोई कल्पना नहीं हो सकती, इस कारण से 'मैं यह आत्मा हूँ' इस प्रकार कल्पना के अभिव्यञ्जक शब्दों का उच्चारण न करता हुआ मैं मौनी होकर वैसे ही अपने स्वरूप में स्थित रहता हूँ, जैसे जल में तरङ्ग स्थित रहता है ॥ ४७ ॥

मैं जड़ अंश से शून्य, जडांश की हेतु अविद्या का भी बाध हो जाने के कारण वासना से रहित, चिदाभास के भी पृथक् न रहने से चेतनांशता के आश्रय से रहित, उसके अधीन क्रियाशक्ति का भी उपराम होने के कारण प्राण-संचरण से शून्य, भेदक का अभाव होने के कारण भेदांश से शून्य, एकरस, चिन्मात्र स्वरूप, जगत् के बाध के आश्रय रूप से परिशिष्ट संविदंश को—प्राप्त कर मन की चेष्टा और वाणी के व्यापार से शून्य होकर विश्रान्त प्राप्त करता हूँ ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के उपशमप्रकरण में चित्तासत्ताविचारयोगोपदेश नामक कुसुमलता का तिरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८३ ॥

८४

वसिष्ठ उवाच

इति निर्णीय स मुनिर्वीतहव्यो विवासनः ।
आसीत् समाधावचलो विन्ध्यकन्दरकोटरे ॥ १ ॥
अपरिस्पन्दिताशेषसंविदानन्दसुन्दरः ।
बभावस्तङ्गतमनाः स्तिमिताम्भोधिशोभनः ॥ २ ॥
अन्तरेव शशामाऽस्य क्रमेण प्राणसन्ततिः ।
ज्वालाजालपरिस्पन्दो दग्धेन्धन इवाऽनलः ॥ ३ ॥
अनन्तर्निष्ठतां याते बाह्यार्थे चाऽप्यसंस्थिते ।
शेषेऽन्तर्लब्धसंस्थाने तस्याऽस्फुरितपक्ष्मणी ॥ ४ ॥

८४

वसिष्ठजी ने कहा—यह निर्णय कर वह मुनि वीतहव्य समस्त वासनाओं को छोड़कर विन्ध्याद्रि के गह्वर कोटर में समाधि लगाकर उसमें स्थिर रहे ॥ १ ॥

उस समय महामुनि वीतहव्य किसी प्रकार के क्षोभ से रहित परिपूर्ण संवित्-प्रकाश रूप आनन्द से युक्त होने के कारण अत्यन्त सुन्दर मालूम पड़ते थे, उनका मन अत्यन्त विलीन हो गया था, अतः वे वैसे ही भले लगते थे, जैसे प्रशान्त समुद्र भला लगता है ॥ २ ॥

इस महामुनि का क्रमशः प्राण-संचार भीतर हृदय में ही वैसे ही शान्त हो गया, जैसे इन्धनों के जल जाने पर अग्नि में ज्वालाओं के समूह का संचरण शान्त हो जाता है ॥ ३ ॥

महामुनि वीतहव्य के चंचलता रहित दो नेत्र अत्यन्त अन्तर्निष्ठ—निमीलित—नहीं थे मानो आधे मूँदे हुए थे। इससे उनके नेत्र बाह्य विषयों में लगे होंगे, यह भी नहीं बाह्य विषयों में भी लगे नहीं थे, शेष अर्थात् उन्मीलित अंश से अतिरिक्त अंशों से उनके नेत्रों ने भीतर स्थिति प्राप्त की थी अर्थात् अन्तर्मुख-स्थिति प्राप्त की थी ॥ ४ ॥

प्राणप्रान्तगताल्पाल्पसमालोके इवेक्षणे ।
अर्धकुड्मलितैः पद्मैः श्रियमाययतुः समाम् ॥ ५ ॥
समकायशिरोग्रीवस्थानकः स महामतिः ।
आसीच्छैलादिवोत्कीर्णश्चित्रार्पित इवाऽथवा ॥ ६ ॥
तथाऽभितिष्ठतस्तस्य संवत्सरशतत्रयम् ।
कोटरे विन्ध्यकच्छस्य ययावर्धमुहूर्तवत् ॥ ७ ॥
एतावन्तमसौ कालं नाऽबुध्यत किलाऽऽत्मवान् ।
जीवन्मुक्ततया ध्यानी न च तत्याज तां तनुम् ॥ ८ ॥
तावत्कालं स सुभगो न प्राबुध्यत योगवित् ।
उदारैरम्बुदारावैरासारभरघर्घरैः ॥ ९ ॥
पर्यन्तमण्डलाधीशमृगयागतबृंहितैः ।
पक्षिवानरनिर्ह्रादैर्मातङ्गस्फोटनिःस्वनैः ॥ १० ॥
सिंहसंरम्भरटितैर्निर्झराराबसीत्कृतैः ।
विषमाशनिसंपातैर्जनकोलाहलैर्घनैः ॥ ११ ॥

महामुनि वीतहव्य के दोनों नेत्र ऐसे लक्षित होते थे मानो उनका स्वल्प से भी स्वल्प प्रकाश नासिका के अग्र-भाग में दोनों ओर बराबर फैला हुआ है। इससे वे आधे विकसित पद्मों के समान शोभा प्राप्त कर रहे थे ॥ ५ ॥

महाबुद्धि वीतहव्य ने अपने आसनबन्ध में शरीर, शिर और ग्रीवा को समानरूप से रक्खा था, इसलिए वे वैसे मालूम पड़ते थे, जैसे पर्वत से खोदी गई अथवा चित्र में लिखी गई मूर्ति हो ॥ ६ ॥

विन्ध्यपर्वत के किसी झरने के समीप प्रदेश के कोटर में उस प्रकार समाधि का अनुष्ठान कर रहे महामुनि के तीन सौ संवत्सर आधे मुहूर्त की तरह व्यतीत हो गये ॥ ७ ॥

आत्मवान् ध्याननिमग्न उस मुनि ने जीवन्मुक्तता के कारण इतने समय को कुछ भी नहीं समझा और अपने उस शरीर का त्याग भी नहीं किया ॥ ८ ॥

योग के रहस्य के ज्ञाता सौभाग्यशाली वह मुनि—महान् मेघों के चारों ओर फैलने वाले शब्दों से भी; वृष्टि की धाराओं के सम्पात से उत्पन्न घर्घर शब्दों से शिकार खेलने के समय आये हुए समीपस्थ प्रदेशों में रहने वाले सामन्तों के मतवाले हाथियों के गर्जनों से पक्षी और वानरों की किलकिलाहटों से जङ्गल के मातङ्गों के परस्पर सङ्घट्टन से जनित अव्यक्त शब्दों से सिंहों के क्रोधपूर्वक गर्जनों से झरनों की दिग्व्यापी घर्घराहट की आबाज भयङ्कर वज्रपातों से मनुष्यों के घन कोलाहलों से प्रमत्त गेंडों के भयङ्कर शब्दों से भूकम्प के द्वारा छिन्न-भिन्न हुए

प्रमत्तशरभास्फोटैर्भूकम्पतटघट्टनैः ।
वनदाहधमध्वानैर्जलौघाहतिवल्गनैः ॥ १२ ॥
महोपलतटाघातैर्धरणीतलमृज्जलैः ।
जलौघान्दोलनायातैस्तापैरनलकर्कशैः ॥ १३ ॥
केवलं वहति स्वैरं काले गलितकारणम् ।
परियान्तीषु वर्षासु लहरीष्विव वारिणि ॥ १४ ॥
स्वल्पेनैव हि कालेन तस्मिन्पर्वतकन्दरे ।
प्रावृडोघविनुन्नेन पङ्केनोर्वीतले कृतः ॥ १५ ॥
तत्राऽसाववसद्भूमौ कोटरे सङ्कटोदरे ।
पङ्कसंपीडितस्कन्धः पर्वतेषु शिला यथा ॥ १६ ॥
शतत्रये स वर्षाणामथ याते स्वयंप्रभुः ।
व्यबुध्यताऽऽत्मरूपात्मा धराकोटरपीडितः ॥ १७ ॥
संविदेवाऽस्य तं देहं जग्राहोर्वीनिपीडितम् ।
तनुः प्राणमयस्पन्दः प्राणसंसरणं विना ॥ १८ ॥

पर्वत-तटों के आस्फालनों से वनदाहों के समय अग्नि के संयोग और उससे उत्पन्न शब्दों से जल-प्रवाहों से आहत पशु आदि के आस्फालनों एवं गर्जनों से बड़े-बड़े पर्वततटों के आघातों से जलप्रवाहों के आन्दोलनों से प्राप्त धरणी-तल से फिसले हुए मिट्टी से मिले जल के शैत्य से तथा अग्नि की तरह कर्कश ग्रीष्म आदि के तापों से भी—उतने समय तक समाधि से जागे नहीं ॥ ९–१३ ॥

प्रयोजन के बिना केवल अपनी इच्छा के अनुसार समय के बीतने पर और जल में तरङ्गों की तरह एक-के पीछे एक अनेक बार वर्षाओं के बरसने पर थोड़े ही समय में पर्वत की कन्दरा में वर्षा के समूह प्राप्त कीचड़ ने इस महामुनि को पृथ्वी के भीतर भूगर्भ में प्रविष्ट कर दिया वर्षा से जनित कीचड़ इनके शरीर के चारों ओर ऐसा घना थम गया जिससे कि वे बाहर से दिखाई नहीं पड़ते थे, पृथ्वी के भीतर प्रविष्ट हो गये थे ॥ १४, १५ ॥

अनेक सङ्कटों से परिपूर्ण कोटर की भूमि में यह मुनि कीचड़ से संश्लिष्ट कन्धे से युक्त वैसे ही रहते थे, जैसे पर्वत के अन्दर शिला ॥ १६ ॥

अनन्तर तीन सौ वर्षों के बीत जाने पर पृथ्वी के कोटर में संश्लिष्ट वे स्वयं ही निग्रहानुग्रहसमर्थ तथा आत्मस्वरूपता को प्राप्त महामुनि समाधि से जगा गये ॥ १७ ॥

महामुनि वीतहव्य की पृथ्वी से दबी हुई देह को जीवनादृष्ट से प्राप्त लिङ्ग शरीर में प्रतिबिम्बित संविद् ने ही ग्रहण कर पालन किया, प्राण-वृत्ति के स्पन्दन ने पालन

उत्पत्तिप्रौढिमासाद्य कलना हृदयान्तरे ।
स्वमनोरूपिणी तस्य हृद्येवाऽनुबभूव सा ॥ १९ ॥
कैलासकानने कान्ते कदम्बस्य तरोस्तले ।
मुनित्वं शतमब्दानां जीवन्मुक्तात्मनिर्मलम् ॥ २० ॥
विद्याधरत्वं वर्षाणां शतमाधिविवर्जितम् ।
युगपञ्चकमिन्द्रत्वं प्रणतं सुरचारणैः ॥ २१ ॥

श्रीराम उवाच

शक्रत्वादिषु तेष्वस्य प्रतिभासेषु भो मुने ! ।
नियमोऽनियमश्चैव दिक्कालनियतेः कथम् ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वात्मिकैषा चिच्छक्तिर्यत्रोदेति यथा यथा ।
तथा तत्राऽऽशु भवति तथाऽऽत्मैकस्वभावतः ॥ २३ ॥
यथा यत्र यदा बुद्धौ नियमः स तदा स्थितः ।
देशकालादिनियमक्रमाणां तन्मयात्मता ॥ २४ ॥

तेन नानाविधान्येष जगन्ति परिदृष्टवान् ।
हृदि संवेदनाकाशे वीतहव्यो विवासनः ॥ २५ ॥
सम्यग्बोधवतामेषा वासनैव न वासना ।
ज्ञानाग्निदग्धादग्धस्य क्वैव बीजस्य बीजता ॥ २६ ॥
कल्पमेकं गणत्वं स चन्द्रमौलेश्चकार ह ।
समस्तविद्यानिपुणं त्रिकालामलदर्शनम् ॥ २७ ॥
यो यादृग्दृढसंस्कारः स तं पश्यति तादृशम् ।
जीवन्मुक्ततयैवैतद्वीतहव्योऽनुभूतवान् ॥ २८ ॥

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते मुनिश्रेष्ठ ! जीवन्मुक्तमतेरपि ।
बन्धमोक्षदृशः सन्ति वीतहव्यात्मनो यथा ॥ २९ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथास्थितमिदं विश्वं शान्तमाकाशनिर्मलम् ।
ब्रह्मैव जीवन्मुक्तानां बन्धमोक्षदृशः कुतः ॥ ३० ॥

नहीं किया, क्योंकि वह सूक्ष्म था, इसलिए प्राण-संसरण नहीं हो सकता था ॥ १८ ॥

तीन सौ वर्षों की समाधि के बाद उसकी जीवरूपा संवित् ने अवशिष्ट प्रारब्ध के भोग के लिए हृदय के भीतर उन्मेष-क्रम से स्थूलता को प्राप्त कर अपने मन की स्वरूपभूत होकर समस्त विषयों की कल्पना के द्वारा हृदय में ही अनुभूति किया ॥ १९ ॥

कमनीय कैलास पर्वत के वन में एक कदम्बवृक्ष के नीचे सौ वर्षों तक उन्होंने अपने हृदय में जीवन्मुक्त आत्मा के कारण विमल मुनित्व का अनुभव किया ॥२०॥

सौ वर्षों तक उन्होंने मानसी व्याधि से रहित विद्याधरत्व का अनुभव किया और पाँच युगों तक देवताओं एवं चारणों से वन्दित देवराजत्व का अनुभव किया ॥ २१ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे मुने ! उन इन्द्रत्व आदि के अनुभवों में देश और काल का नियम और अनियम कैसे हुआ, 'कैलासकानने' इत्यादि से देश का नियम, 'युगपञ्चकम्' इत्यादि से काल का नियम तथा थोड़े ही समय में और हृदय-प्रदेश में ही उक्त अनुभव होने से देशकाल का अनियम—यह कैसे हो सकता है, क्योंकि देश और काल के नियम का उल्लङ्घन कोई नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

महाराज वसिष्ठ ने कहा—यह सर्वात्मक चितिशक्ति जहाँ पर जिस प्रकार से उदित होती है, वहाँ पर उस प्रकार की ही शीघ्र हो जाती है, क्योंकि सर्वात्मकत्व का अनुभव करने वाले अनुभविता की चिति का उस तरह बन जाना स्वभाव ही है ॥ २३ ॥

जहाँ पर जिस समय बुद्धि में जिस प्रकार का अनुभव होता है, वहाँ पर उस समय वैसा नियम रहता है, क्योंकि देश, काल आदि के नियमों के क्रम बुद्धिमय आत्मा में अध्यस्त हैं ॥ २४ ॥

दो हेतुओं से सभी वासनाओं से रहित इस महामुनि वीतहव्य ने हृदयस्थ संविदाकाश में अनेक तरह के लोगों का अनुभव किया ॥ २५ ॥

सम्यक् ज्ञानवान् पुरुषों की यह वासना हेतु वासना ही नहीं है, क्योंकि ज्ञान रूप अग्नि से अपनी शक्ति खो देने के कारण दग्ध और दिखाई पड़ने के कारण अदग्ध—भर्जित—हुए बीज की बीजता ही कैसी होगी ? ॥ २६ ॥

महामुनि वीतहव्य ने एक कल्प तक चन्द्रमौलि अशेष विद्याओं में निपुण और तीनों कालों में ज्ञानपूर्ण शिवजी के गणों की स्वामिता की ॥ २७ ॥

जो जिस विषय के दृढ़ संस्कार से युक्त होता है, वह उस विषय को उसी प्रकार देखता है, क्योंकि उस प्रकार के दृढ़ संस्कार से ही जीवन्मुक्त होकर मुनि वीतहव्य ने उन वस्तुओं का अनुभव किया था ॥ २८ ॥

श्रीराम जी ने कहा:—हे मुनिश्रेष्ठ ! ऐसा होने पर तो जीवन्मुक्त पुरुष के अन्तःकरण में भी बन्ध और मोक्ष की दृष्टियाँ होती हैं, यह मानना पड़ेगा, जैसे कि मुनि वीतहव्य के अन्तःकरण में हुई ॥ २९ ॥

महाराज वसिष्ठ ने कहा—जीवन्मुक्तों की दृष्टि में जिस प्रकार का यह जगत् विद्यमान है, वह प्रशान्त, आकाश की तरह अत्यन्त निर्मल ब्रह्मस्वरूप ही है, पुनः

एतत्संविन्नभो भाति यत्र यत्र यथा यथा ।
तत्र तत्र तथा तावत्तावत्तद्विन्दते ततम् ॥ ३१ ॥
तेनाऽनुभूतानि बहून्यनुभूयन्त एव च ।
जगन्ति सर्वात्मतया ब्रह्मरूपेण राघव ! ॥ ३२ ॥
धराकोटरनिर्मग्नवीतहव्यचिदात्मसु ।
जगत्सु तेष्वसंख्येषु नीरूपेषु महात्मसु ॥ ३३ ॥
यः शक्रोऽनवबुद्धात्मा सोऽद्य दीनेषु पार्थिवः ।
कर्तुं प्रवृत्तो मृगयां क्षणेऽस्मिन्नपि कानने ॥ ३४ ॥
यो हंसोऽनवबुद्धात्मा पाद्मे पैतामहेऽभवत् ।
स्थितः स एव दाशेन्द्रः कैलासवनकुञ्जके ॥ ३५ ॥
यो राजाऽनवबुद्धात्मा भूमेः सौराष्ट्रमण्डले ।
स एषोऽद्य स्थितोऽऽन्ध्राणां ग्रामे बहुलपादपे ॥ ३६ ॥

श्रीराम उवाच

मानसः किल सर्गोऽसौ वीतहव्यस्य तत्र ये ।
देहिनो भ्रान्तिमात्रं चेत्तद्देहाकारिणः कथम् ॥ ३७ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदि भ्रान्त्येकमात्रात्म वीतहव्यस्य तज्जगत् ।
तदिदं नाम ते राम ! किं भूयः परिभासते ॥ ३८ ॥
इदमप्यङ्ग चिन्मात्रं मनोमात्रभ्रमोपमम् ।
तदपि व्योम चिन्मात्रं मनोमात्रं भ्रमोपमम् ॥ ३९ ॥
वस्तुतस्तु न तद्राम ! जगन्नैवं न चेतरत् ।
तवाऽपि न जगत्सत्ता ब्रह्मेदं भाति केवलम् ॥ ४० ॥
भावि भूतं भविष्यच्च यथेदं च तथेतरत् ।
जगत्सर्वमिदं दृश्यं संविन्मात्रमनोमयम् ॥ ४१ ॥
एवंरूपमिदं यावन्न परिज्ञातमीदृशम् ।
वज्रसारदृढं तावज्ज्ञातं सत्परमाम्बरम् ॥ ४२ ॥

उनको बन्ध और मोक्ष की दृष्टियाँ कैसे हो सकती है ? ॥ ३० ॥

जिस स्थल में जिस प्रकार से संविद्रूपी आकाश भासमान होता है, उस स्थल में उस प्रकार से उतने रूपों में व्याप्त होकर वह प्राप्त के समान हो जाता है ॥ ३१ ॥

हे राघव ! महामुनि वीतहव्य ने भूतों में आत्मभाव होने के कारण अनेक लोकों का ब्रह्मरूप से अनुभव किया और वर्तमान समय में भी कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

ब्रह्माण्ड के एक कोने में स्थित महामुनि वीतहव्य की आत्मरूपता को प्राप्त वास्तविक स्वरूपसत्ता से रहित और भ्रान्तिवश अत्यन्त विशालस्वरूप दीखाई पड़ने वाले उन असंख्य भुवनों में, आत्मा के तत्त्वज्ञान से वञ्चित अज्ञानी इन्द्र हुआ था, वही आज 'दीन' नाम के देशों में राजा होकर इस समय भी जंगल में शिकार खेलने में प्रवृत्त है ॥ ३३—३४ ॥

पितामह के पाद्मकल्प के समय, मुनि वीतहव्य शिव जी के गणों के अधिपति थे, उनकी क्रीडा के लिए आत्मबोध से शून्य जो हंस था, वही इस समय निषादों का राजा होकर स्थित है ॥ ३५ ॥

उस समय पृथ्वी के सौराष्ट्र प्रदेश में जो आत्मज्ञान से रहित राजा था, वही आज आन्ध्र देश के एक गाँव में, जहाँ अनेकविध वृक्ष हैं, अवस्थित है ॥ ३६ ॥

श्रीरामजी ने कहा—मुनि वीतहव्य की यह सृष्टि तो मानस सृष्टि हैं, उस सृष्टि में विद्यमान देही यदि भ्रान्तिस्वरूप है, तो वे इन्द्र, हंस आदि देहों के आकार वाले चेतनयुक्त कैसे हुए ? ॥ ३७ ॥

महाराज वसिष्ठ ने कहा—हे श्रीरामजी ! वीतहव्य का वह जगत् यदि केवल भ्रान्तिस्वरूप ही आपको मालूम पड़ता है, तो फिर आपका यह प्रसिद्ध जगत् किस प्रकार यथार्थरूप से भासमान हो सकता है ? (सम्पूर्ण जगत् मन ही का कार्य और केवल भ्रान्तिस्वरूप ही है, यह तत्-तत् स्थल में अनेक बार कहा गया है, इसलिए यह आपका प्रसिद्ध जगत् वीतहव्य की मानसी सृष्टि के सदृश भ्रान्ति मात्रस्वरूप ही है, ऐसी स्थिति में आपका भी यह जगत् चेतनों से भरा कैसे प्रतीत हो रहा है ? ॥ ३८ ॥

आपका यह जगत् भी मनोमय भ्रमतुल्य एवं परमार्थदशा में जैसे चिन्मात्रस्वरूप है, वैसे ही महामुनि वीतहव्य का भी वह जगत् मनोमय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशा में व्योमरूपी चिन्मात्रस्वरूप है ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामजी ! वास्तव में तो मुनि वीतहव्य का जगत् न तो आपके इस जगत् से विलक्षण ही है, क्योंकि वस्तु की समानता और असमानता वस्तु की सिद्धि के बिना नहीं हो सकती, आपके भी जगत् की सत्ता नहीं है, केवल ब्रह्म ही जगत् के रूप में भासमान है ॥ ४० ॥

दूसरा भी जगत् वैसे ही है जैसे यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान जगत् है । समस्त दृश्यभूत संविन्मात्ररूप से अवशिष्ट मन है, तत्स्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है ॥ ४१ ॥

इस प्रकार के जगत् को संविन्मात्रस्वरूप जाने विना वह वज्रसार की तरह अत्यन्त दृढ़ रहता है । और

अज्ञानान्मन एवेदमित्थं संप्रविजृम्भते ।
प्रत्युल्लासविलासाभ्यां जलमम्बुनिधाविव ॥ ४३ ॥
यथास्थितेनैव चिदम्बरेण
स्वचित्तमेवैति मनोऽभिधानम् ।
स्फारं कृतं तेन जगच्च दृश्य-
मेवं ततं नैव ततं च किञ्चित् ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
वीतहव्यमनोजगद्वर्णनं नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

ज्ञात होने पर त्रिकालाबाधित परम चिदाकाश-स्वरूप हो जाता है ॥ ४२ ॥

अज्ञान से यह मन ही उत्पत्ति और वृद्धि आदि परिणामों से जगत् रूप में वैसे ही विकसित होता है, जैसे समुद्र में जल ॥ ४३ ॥

अविकृत चिदाकाशस्वभाव से अवस्थित ब्रह्म माया से 'मैं किसी को मानो चेतन करने वाला हूँ' यह अपनी कल्पना कर चित्तरूप हो जाता है, अनन्तर उसीका पुनः पुनः मनन करने से मन नाम वाला हो जाता है। उसीसे यह विशाल जगत् प्राप्त है, इसीलिए इस प्रकार यह दृश्य जगत् विस्तृत है। वास्तव में कुछ भी विस्तृत नहीं है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामयण के उपशमप्रकरण में
वीतहव्यमनोजगद्वर्णन नामक कुसुमलता का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८४ ॥

८५

श्रीराम उवाच

अथ किं वीतहव्यः स्वं स्थितं तस्मिन् धरोदरे ।
अथमुद्धृतवान् देहं स संपन्नश्च किं कथम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अनन्तरमनन्तात्म वीतहव्याभिधं मनः ।
स्वमेवाऽऽत्मचमत्कारमात्रं समवबुद्धवान् ॥ २ ॥
शार्वस्याऽस्य गणस्याऽभूत् प्राग्ज्योतिःस्मरणे स्वयम् ।
इच्छा कदाचित्सकलप्राग्जन्मालोकनोन्मुखी ॥ ३ ॥
अशेषान् स ददर्शाऽथ नष्टानष्टान् स्वदेहकान् ।
अनष्टानां ततो मध्यात् तत्तत्कोटरसंस्थितम् ।
यदृच्छयैव प्रोद्धर्तुं देहं तस्याऽभवन्मतिः ॥ ४ ॥
अपश्यत्तत्तथा तत्र पङ्के कीटमिव स्थितम् ।
शरीरं वीतहव्याख्यं धराकोटरपीडितम् ॥ ५ ॥
प्रावृडोघोपनीतं तत् पृष्ठस्थं पङ्कमण्डलम् ।
तृणजालावकीर्णत्वग्देहपृष्ठमृदं तथा ॥ ६ ॥

८५

श्रीरामजी ने कहा—महामुनि वीतहव्य ने उस भूगर्भ में स्थित अपनी देह का कैसे उद्धार किया ? उसका प्रकार क्या था ? उसके बाद उनकी दिनचर्या क्या रही और वेदहमुक्ति में अवशिष्ट उनका स्वरूप कैसा था ? ॥ १ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर समाधि में मुनि ने अपने वीतहव्य नामक मन को आत्मा का एक चमत्कारमात्र और अपरिच्छिन्न ब्रह्मस्वरूप समझ लिया ॥ २ ॥

महादेवजी के गण रहने के समय चिदात्मा का ध्यान करते समय उनकी यह इच्छा हुई कि मैं पहले के अपने समस्त जन्मों का अवलोकन करूँ ॥ ३ ॥

अनन्तर उन्होंने कुछ नष्ट और कुछ अनष्ट समस्त देहों को प्रत्यक्ष देखा। देखने के बाद जो देह नष्ट नहीं हुई थी उनके मध्य में कोटर में अवस्थित अनष्ट देहों के हृदयकोटर में जीवट के उपाख्यान में कही जाने वाली रीति के अनुसार अपनी कल्पना से ही अवस्थित वीतहव्य शरीर का उद्धार करने के लिए अकस्मात् ही उनकी इच्छा हुई ॥ ४ ॥

वहाँ पर पृथ्वी के उदर-कोटर में पीड़ित उस वीतहव्यनामक शरीर को कीचड़ में स्थित कोड़े की तरह देखा ॥ ५ ॥

वह वर्षा के प्रवाह से कुछ दूर बहाया गया था, उसके पृष्ठ भाग पर कीचड़ का स्तर जम गया था और उनके त्वचा, हाथ आदि अवयव तथा पीठस्थ मिट्टी—ये सब काश आदि घासों के समूहों से व्याप्त हो गये थे ॥६॥

एतद्दृष्ट्वा महातेजा धराविवरयन्त्रितम् ।
भूयोऽपि चिन्तयामास धिया परमबोधया ।। ७ ।।
सर्वसंपीडिताङ्गत्वात् कायो मे प्राणवायुभिः ।
मुक्तश्चलितुमाकर्तुं शक्नोति न मनागपि ।। ८ ।।
तज्ज्ञात्वा प्रविशाम्याशु देहमेवं विवस्वतः ।
तदीयः पिङ्गलो देहमुद्धरिष्यति मे ततः ।। ९ ।।
अथवा किं ममैतेन शाम्याम्यहमविघ्नतः ।
निर्वामि स्वं पदं यामि कोऽर्थो मे देहलीलया ।। १० ।।
इति संचिन्त्य मनसा वीतहव्यो महामते ! ।
तूष्णीं स्थित्वा क्षणं भूयश्चिन्तयामास भूतले ।। ११ ।।
उपादेयो हि देहस्य न मे त्यागो न संश्रयः ।
यादृशो देहसंत्यागस्तादृशो देहसंश्रयः ।। १२ ।।
तद्यावदस्ति देहोऽयं न यावदणुतां गतः ।
तावदेनमुपारुह्य किञ्चित्प्रविहराम्यहम् ।। १३ ।।

महान् तेजस्वी वीतहव्य ने इस प्रकार धरा के विवर में पीडित अपनी देह को देखकर उत्तम बोध से समन्वित बुद्धि से पुन: विचार किया ।। ७ ।।

सम्पूर्ण अवयवों में पीड़ा होने के कारण प्राण-संचारों से रहित मेरी देह चलने-फिरने में तथा कुछ करने में तनिक भी समर्थ नहीं है ।। ८ ।।

इसलिए उद्धार के उपाय को जानकर मैं परकीय शरीर में प्रवेश के लिए योगशास्त्र में उपदिष्ट मार्ग से सूर्य के शरीर में प्रवेश करता हूँ । उसमें प्रवेश करने से सूर्य का सेवक पिङ्गल नाम का गण उनकी आज्ञा से मेरे शरीर का उद्धार कर देगा ।। ९ ।।

अथवा इस प्रपञ्च से मेरा क्या लाभ है ? मैं इस शरीर से निर्विघ्न विदेहमुक्ति के द्वारा शान्त हो जाता हूँ । मैं निर्वाण को प्राप्त कर लेता हूँ, अपने पद को जाता हूँ । देहलीला से मेरा क्या लाभ है ? ।। १० ।।

हे महामते ! इस प्रकार मन से विचार कर महामुनि वीतहव्य क्षणभर भूतल में चुपचाप बैठकर फिर विचार करने लगे ।। ११ ।।

मुझे न देह का त्याग और न देह का आश्रयण ही उपादेय है, क्योंकि जैसा देह का परित्याग है, वैसे ही देह का समाश्रय है, दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है ।। १२ ।।

इसलिए इस शरीर के रहने तक वह अणु-परमाणु रूप नहीं बन जाता, तब तक मैं इसका आश्रयण कर कुछ विहार कर लूँ ।। १३ ।।

पिङ्गलेन शरीरं स्वमुद्धर्तुं तापनं वपुः ।
प्रविशामि नभःसंस्थं मुकुरं प्रतिबिम्बवत् ।। १४ ।।
इत्यसौ मुनिरादित्यं विवेशाऽनिलरूपधृक् ।
पुर्यष्टकवपुर्भूत्वा भस्त्राखमिव चाऽनिलः ।। १५ ।।
भगवान्मुनिरप्येनं हृद्गतं मुनिनायकम् ।
दृष्ट्वाऽसौ चिन्तयन्कार्यं पौर्वापर्यमुदारधीः ।। १६ ।।
विन्ध्यभूधरभूकोशमन्तर्मुनिकलेवरम् ।
तृणोपलपरिच्छन्नं ददर्श गतसंविदम् ।। १७ ।।
ऋषेश्चिकीर्षितं ज्ञात्वा भानुर्गगनमध्यगः ।
धरातो मुनिमुद्धर्तुमादिदेशाऽग्रगं गणम् ।। १८ ।।
वीतहव्यमुनेः संवित्सा पुर्यष्टकरूपिणी ।
रविं वातमयी पूज्यं प्रणनामाऽऽशु चेतसा ।। १९ ।।
भानुनाऽप्यभ्यनुज्ञातो मानपूर्वकमग्रगम् ।
विवेश पिङ्गलाकारं विन्ध्यकन्दरगामिनम् ।। २० ।।

सूर्य-सेवक पिङ्गलनामक गण के द्वारा अपने शरीर का उद्धार करने के लिए आकाश में स्थित सूर्य के शरीर में मैं वैसे ही प्रवेश करता हूँ, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब ।। १४ ।।

इस प्रकार विचारकर सूक्ष्मस्वरूप मुनि वीतहव्य ने पूर्व में व्याख्यात पुर्यष्टक शरीर होकर सूर्य में वैसे ही प्रवेश किया, जैसे भस्त्राकाश में चमड़े की धौकनी के अन्तर्गत आकाश में वायु प्रवेश करे ।। १५ ।।

उदारबुद्धिसम्पन्न भगवान् मननशील सूर्य ने हृदय में प्रविष्ट उक्त मुनिनायक को देखा और उनके कार्य को तथा पूर्वापर शरीरों को देखा ।। १६ ।।

तदनन्तर विन्ध्यपर्वत के भूगर्भ के अन्तर्गत तृण और पत्थर से चारों ओर ढके हुए तथा मृतप्राय मुनि वीतहव्य के शरीर को देखा ।। १७ ।।

आकाश के मध्य में संचरणशील सूर्य भगवान् ने मुनि वीतहव्य की अभिलाषा को जानकर पृथ्वी से मुनि शरीर का उद्धार करने के लिए अपने अग्रगामी पिङ्गलनाम के गण को आदेश दिया ।। १८ ।।

मुनि वीतहव्य की पुर्यष्टकरूपी वायुमय संवित् ने पूजनीय भगवान् भास्कर को अन्तःकरण से शीघ्र ही प्रणाम किया ।। १९ ।।

सूर्य के द्वारा अत्यन्त मानपूर्वक आज्ञा को प्राप्त वीतहव्य मुनि ने विन्ध्याद्रि की गुफा की ओर जा रहे अग्रगामी पिङ्गलनामक गण के शरीर में प्रवेश किया ।।२०।।

पिङ्गलोऽसौ नभस्त्यक्त्वा कुञ्जकुञ्जरसुन्दरम् ।
प्राप विन्ध्यवनं प्रावृण्मत्ताभ्राम्बरभासुरम् ॥ २१ ॥
उद्धार धराकोशान्नखनिष्कृष्टभूतलः ।
कलेवरं मुनेः पङ्कान्मृणालमिव सारसः ॥ २२ ॥
मौनं पुर्यष्टकमथ स्वं विवेश कलेवरम् ।
नभस्तलपरिभ्रान्तो विहङ्गम इवाऽऽलयम् ॥ २३ ॥
प्रणेमतुर्मिथो मूर्तवीतहव्यनभश्चरौ ।
बभूवतुः स्वकार्यैकतत्परौ तेजसां निधी ॥ २४ ॥
जगाम पिङ्गलो व्योम मुनिश्च विमलं सरः ।
तारकाकारकुमुदं सूर्यांशुकवदाकृति ॥ २५ ॥
वीतहव्यो ममज्जाऽऽशु सरस्युद्भिन्नपङ्कजे ।
पङ्कपल्वललीलान्ते वने कलभको यथा ॥ २६ ॥
तत्र स्नात्वा जपं कृत्वा पूजयित्वा दिवाकरम् ।
मनोभूषितया तन्वा पूर्ववत्पुनराबभौ ॥ २७ ॥
मैत्र्या तया समतया परया च शान्त्या
सत्प्रज्ञया मुदितया कृपया श्रिया च ।
युक्तो मुनिः सकलसङ्गविमुक्तचेता
विन्ध्ये सरित्तटगतो दिनमेव रेमे ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
वीतहव्यसमाधियोगोपदेशो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

सूर्य भगवान् के गण पिङ्गल ने आकाश का परित्याग कर लतागृह और कुंजर से सुन्दर तथा वर्षा काल में मत्त मेघों से युक्त आकाश की तरह देदीप्यमान विन्ध्याचल के वन में किया ॥ २१ ॥

अपने नखों से भूतल को खोदने वाले पिङ्गल ने भूगर्भ से मुनि वीतहव्य के कलेवर को वैसे ही उद्धृत किया, जैसे सारस पक्षी कीचड़ से मृणाल को उद्धृत करता है ॥ २२ ॥

मुनि वीतहव्य-सम्बन्धी पुर्यष्टक शरीर पिङ्गल के शरीर से निकल कर अपने शरीर में वैसे ही प्रविष्ट हुआ, जैसे आकाशतल में चारों ओर परिभ्रमण करने वाला पक्षी अपने घोंसले में प्रवेश करता है ॥ २३ ॥

प्राप्तमूर्ति वीतहव्य तथा आकाशगामी पिङ्गल दोनों ने परस्पर प्रणाम किया। तेज के निधि वे दोनों अपने-अपने कार्यों में ही तत्पर हो गये ॥ २४ ॥

पिङ्गल आकाश की ओर चले गये और मुनि वीतहव्य कुमद रूपी ताराओं से युक्त तथा बालसूर्य के राग से रञ्जित उदक से युक्त निर्मल सरोवर की ओर, स्नानार्थ चले गये ॥ २५ ॥

विकसित कमलों से युक्त उस सरोवर में मुनि वीतहव्य ने शीघ्र ही वैसे ही स्नान किया, जैसे कीचड़ से भरे तालाब में क्रीड़ा के बाद हाथी का बच्चा वन में मज्जन करता हो ॥ २६ ॥

उसमें स्नानकर जपकर और उसके बाद सूर्य की पूजा कर मनन आदि व्यबहारों से युक्त शरीर से पुनः पूर्ववत् सुशोभित हो गये ॥ २७ ॥

समानशीलों में मैत्री, एकरूप सर्वातिशायी शान्ति; सुन्दर प्रज्ञा, मुदित कृपा तथा उत्तम श्री से मुनि वीतहव्य ने, सकल सङ्गों से निर्मुक्त चित्त विन्ध्याचल में नदी के तट पर केवल एक ही दिन रमण किया ॥ २८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में वीतहव्यसमाधियोगोपदेश नामक कुसुमलता का पच्चासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८५ ॥

८६

वसिष्ठ उवाच

दिनान्ते स समाधातुं पुनरेव मनो मुनिः ।
विवेश काञ्चिद्विततां विज्ञातां विन्ध्यकन्दराम् ॥ १ ॥
तदेवाऽऽत्मानुसन्धानमत्यजन्सममिन्द्रियैः ।
चेतसा कलयामास दृष्टलोकपरावरः ॥ २ ॥

८६

महाराज वसिष्ठ ने कहा—दिन की समाप्ति के बाद मुनि ने पुनः मन की एकाग्रता रूप समाधि के लिए किसी अतिविस्तृत पूर्वपरिचित विन्ध्याद्रि की गुफा में प्रवेश किया ॥ १ ॥

लोक में क्या सार है और क्या असार है, इसका भली प्रकार परिज्ञान रखने वाले महामुनि वीतहव्य उसी आत्मा के अनुसन्धान का परित्याग न कर इन्द्रियों के साथ अन्तःकरण से विचार ने लगे ॥ २ ॥

पूर्वमेवेन्द्रियगणो मया परिहृतः स्फुटम् ।
इदानीं चिन्तया नाऽर्थः पुनर्विततया मम ॥ ३ ॥
अस्ति नास्तीति कलनां भङ्क्त्वा मृद्वीं लतामिव ।
शेषं तु बद्धसंस्थानस्तिष्ठाम्यचलशृङ्गवत् ॥ ४ ॥
उदितोऽस्तङ्गत इव स्वस्तङ्गत इवोदितः ।
समः समरसाभासस्तिष्ठामि स्वच्छतां गतः ॥ ५ ॥
प्रबुद्धोऽपि सुषुप्तस्थः सुषुप्तस्थः प्रबुद्धवत् ।
तुर्यमालम्ब्य कायान्तस्तिष्ठामि स्तम्भितस्थितिः ॥ ६ ॥
स्थितः स्थाणुरिवैकान्ते स्वान्तान्ते सर्वतः स्थिते ।
सत्त्वसामान्यसाम्ये हि तिष्ठाम्यपगतामयः ॥ ७ ॥
इति संचिन्त्य स ध्याने पुनस्तस्थौ दिनानि षट् ।
ततः प्रबोधमापन्नः क्षणसुप्त इवाऽध्वगः ॥ ८ ॥

मैंने पहले से ही इन्द्रियों का भलीप्रकार परित्याग कर दिया है, इस समय उनके विषय में अधिक चिन्ता करने से मेरा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होने वाला है ॥ ३ ॥

अस्ति और नास्ति—कल्पनाओं का, कोमल लता की तरह विनाश कर उन दो कल्पनाओं के साक्षी रूप से अवशिष्ट चैतन्यमात्र का अवलम्बन कर शरीर, शिर और ग्रीवा को समानरूप से रखकर दृढासन होकर मैं वैसे ही अचल बैठता हूँ, जैसे पर्वत का शिखर ॥ ४ ॥

मैं सदा प्रकाशस्वभाव होने से अज्ञदृष्टि से अन्धकार को प्राप्त हुआ-सा हूँ, एवं सदा जीवित-स्वभाव जैसे अज्ञ-दृष्टि से मृत-सा हूँ। तत्त्वदृष्टि से तो उससे विपरीत निर्मल स्वभाव को प्राप्त एकरस चिन्मात्रस्वरूप होकर अवस्थित हूँ ॥ ५ ॥

मैं प्रबुद्ध यानी उत्तम ज्ञान से सम्पन्न जाग्रत् अवस्था से युक्त होने पर भी सुषुप्ति में ही स्थित रहता हूँ, क्योंकि घट आदि द्वैत पदार्थों को अब मैं नहीं देख रहा हूँ। इसी प्रकार मैं सुषुप्ति में स्थित रहता हुआ भी जाग्रत् अवस्था से युक्त ही हूँ, क्योंकि मुझे अपने स्वरूप का सदा स्पष्ट रूप से अनुभव हो रहा है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण से निर्मुक्त तुर्य पद का अवलम्बन कर अचल स्थिति वाला हो कर शरीर के भीतर रहता हूँ ॥ ६ ॥

मन के अविषय, चारों ओर अवस्थित, पूर्ण सत्ता-सामान्यरूप परम साम्यभूत परमात्मा में विकारमुक्त हो कर स्थाणु की तरह मैं स्थित हूँ ॥ ७ ॥

इस प्रकार सोच कर छः दिन तक वह ध्यान में फिर बैठ गये। अनन्तर वैसे ही प्रबुद्ध हुए जैसे क्षणभर सोया हुआ पथिक प्रबुद्ध होता है ॥ ८ ॥

ततः सिद्धः स भगवान् वीतहव्यो महातपाः ।
विजहार चिरं कालं जीवन्मुक्ततया तदा ॥ ९ ॥
वस्तु नाऽभिननन्दाऽसौ निनिन्द न कदाचन ।
न जगाम तथोद्वेगं न च हर्षमवाप सः ॥ १० ॥
गच्छतस्तिष्ठतश्चैव तस्यैवमभवद्धृदि ।
विनोदाय विचित्तस्य कथा स्वमनसा सह ॥ ११ ॥
अव्ययेन्द्रियवर्गेश ! मनः शमवता त्वया ।
पश्याऽऽनन्दसुखं कीदृग्विधमासादितं ततम् ॥ १२ ॥
एषैवाऽविरतं तस्मान्नीरागैव दशा त्वया ।
अवलम्ब्य परित्याज्यं चापलं चलतां वर ! ॥ १३ ॥
भो भो इन्द्रियचौरा हे हताशा ! हतनामकाः ।
युष्माकं नाऽयमात्माऽस्ति न भवन्तस्थाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥

तदनन्तर उस समय व्युत्थान-दशा में भी समाहित स्थितिवाले सिद्ध, महान् तपस्वी, भगवान् वीतहव्य ने जीवन्मुक्त स्वरूप में चिरकाल तक यत्र-तत्र विचरण किया ॥ ९ ॥

महामुनि वीतहव्य गुणदृष्टि से किसी वस्तु की स्तुति और दोषदृष्टि से किसी की निन्दा भी कभी नहीं करते थे। वे न तो कभी उद्विग्न होते थे और न कभी हर्षित होते थे ॥ १० ॥

चलते-फिरते उठते-बैठते चित्त शून्य उस वीतहव्य मुनि के हृदय में बाधित-अनुवृत्त मन के साथ विनोद के लिए इस प्रकार की विचारात्मक कथा हुई ॥ ११ ॥

विषयों के उपभोग से सामर्थ्य के व्यय से शून्य इन्द्रियों के स्वामी हे मन, शम से समन्वित तुमने किस प्रकार समस्त जगत् को आनन्द देने वाले व्यापक सुख को अथवा निरतिशयानन्दरूपी सुन्दर ब्रह्मरूप आकाश को प्राप्त किया है ॥ १२ ॥

हे चंचल पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ मन, तुमको आगे भी इस रागशून्य दशा का ही अवलम्बन करना चाहिए और अपनी चंचल वृत्ति का परित्याग कर देना चाहिए ॥ १३ ॥

हे इन्द्रिय नाम को धारण करने वाले चोर ! और हे नष्ट आशावृन्द मेरे द्वारा अनुभूयमान यह आत्मा तुम्हारा नहीं है और आत्मा के तुम लोग भी नहीं हो ॥ १४ ॥

व्रजतां वो विनाशांशमाशा वो विफलीकृताः ।
न समर्थाः समाक्रान्तौ भवन्तो भङ्गुराश्रयाः ॥ १५ ॥
वयमात्मेति येषा वो बभूव किल वासना ।
तत्त्वविस्मृतिजाता हि दृष्टरज्जुभुजङ्गवत् ॥ १६ ॥
अनात्मन्यात्मता सैषा सैषा वस्तुन्यवस्तुता ।
अविचारेण वै जाता विचारेण क्षयं गता ॥ १७ ॥
भवन्तोऽन्ये वयं चाऽन्ये ब्रह्माऽन्यत्कर्तृता परा ।
अन्यो भोक्ताऽन्य आदत्ते को दोषः कस्य कीदृशः ॥१८॥
वनेभ्यो दारु संजातं रज्जवो वेणुचर्मणः ।
वासी चाऽयःफलान्येव तक्षा ग्रासार्थमुद्यतः ॥ १९ ॥
इत्थं यथेह सामग्र्या स्वशक्तिस्थपदार्थया ।
संपन्नाः काकतालीया दृढा वरगृहाकृतिः ॥ २० ॥

आत्मा के साथ सम्बन्ध न होने के कारण अब तुम इन्द्रियगण अवशिष्ट अपने असत्त्व स्वरूप को ही प्राप्त करो। तुम्हारी समग्र अभिलाषाएँ निष्फल कर दी गई हैं। अब विनष्ट आश्रयवाले तुम लोग मेरे ऊपर आक्रमण करने में समर्थ नहीं हो ॥ १५ ॥

'हम आत्मा हैं' इस प्रकार की जो यह तुम लोगों की वासना थी, वह आत्मतत्त्व की विस्मृति से वैसे ही उत्पन्न हुई, जैसे रज्जु की विस्मृति से रज्जु में सर्प की वासना उत्पन्न होती है ॥ १६ ॥

यह वासना अनात्मा में आत्मस्वरूपा भ्रान्ति और वस्तु में अवस्तुत्वरूपा भ्रान्ति थी। आत्मा के अविचार से यह उत्पन्न हुई थी और आत्मा के विचार से विनष्ट हो गई ॥ १७ ॥

हे इन्द्रियगण, करणस्वरूप आप लोग दूसरे हैं, अभिमान करने वाले हम लोग दूसरे हैं, अद्वितीय ब्रह्म दूसरा है, प्राणहेतुक क्रियाकारणता दूसरी है, चिदाभास रूपी भोक्ता दूसरा है और ग्रहण करने वाला मन दूसरा है, ऐसी स्थिति में किस का किस प्रकार कौन-सा दोष हो सकता है ॥ १८ ॥

अरण्य से लकड़ी उत्पन्न हुई, बासों की त्वचा से लकड़ी के बोझ को बांधने की रस्सी हुई, वसुला, कुठार आदि लोहे से उत्पन्न हुए और बढ़ई अपने उदर की पूर्ति के लिए ही प्रवृत्त हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार इस लोक में अपने-अपने भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए क्रिया-कारकरूप पदार्थों की सामग्री से अर्थतः उत्पद्यमान दृढ़ गृहाकृति जैसे काकतालीय ही है यानी काकतालीय न्याय से ही सिद्ध होती है ॥ २० ॥

संपन्नाः काकतालीयात् स्वशक्तिनियतेन्द्रियाः ।
तथैव कलिका लोलं केव कस्याऽत्र खण्डना ॥ २१ ॥
विस्मृतिर्विस्मृता दूरं स्मृतिः स्फुटमनुस्मृता ।
सत्सज्जातमसच्चाऽसत् क्षतं क्षीणं स्थितं स्थितम् ॥२२॥
एवंविधेन भगवान् विचारेण महातपाः ।
सोऽतिष्ठन् मुनिशार्दूलो बहून्वर्षगणानिह ॥ २३ ॥
अपुनर्भवनायैव यत्र चिन्ताऽन्तमागता ।
मूढता च सुदूरस्था तत्राऽसाववसत् सदा ॥ २४ ॥
यथाभूतपदार्थौघदर्शनोत्थमनर्थकम् ।
ध्यानाश्वासनमालम्ब्य सोऽवसत्सुखगः सदा ॥ २५ ॥
हेयादेयसमासङ्गत्यागादानदृशोः क्षये ।
वीतहव्यमुनेरासीदिच्छानिच्छातिगं मनः ॥ २६ ॥

इसी प्रकार प्रकृत कार्यकरणसंघात स्थल में भी काकतालीय न्याय से ही दर्शन, श्रवण, आदान आदि अपनी-अपनी शक्तियों से नियत ज्ञान-कर्मेन्द्रियों से समन्वित उस प्रकार की व्यवहाररूप कार्यकलिका चंचलतापूर्वक उत्पन्न हुई हैं, उसमें किसकी क्या क्षति है ॥ २१ ॥

अविद्या दूर से ही विस्मृत हो गई है, आत्मविद्या विस्पष्टरूप से अनुभूत हो गई है, जो सत् था वही सत् रहा, असत् असत् ही रहा, विघ्न क्षीण हो गया और जो स्थिति के योग्य था, वही स्थित रह गया है ॥ २२ ॥

इस प्रकार के विचार से समन्वित उन महान् तपस्वी मुनिश्रेष्ठ भगवान् वीतहव्य अनेक बरसों तक इस लोक में रहें ॥ २३ ॥

जिस पद के प्राप्त होने पर पुनर्जन्म के लिए चिन्ता विनष्ट हो जाती है और मूढ़ता कोसों दूर भाग जाती है, उस परम पूर्णानन्द स्वप्रकाशरूप पद में सदा मुनि अवस्थित थे ॥ २४ ॥

भ्रान्ति से चित्र-विचित्र पदार्थों के समूह के दर्शन से प्राप्त यथास्थित आत्मभूत वस्तु में अविश्वास का निवारण के लिए बार-बार ध्यान में विश्वास का अवलम्बन कर वह सुखानुभव को प्राप्त कर सदा स्थित रहते थे ॥ २५ ॥

त्यागनेयोग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों की प्राप्ति हो जाने पर भी त्याग और ग्रहण की बुद्धि का क्षय हो जाने के कारण महामुनि वीतहव्य का अन्तःकरण इच्छा और अनिच्छा का अतिक्रमण कर गया था ॥ २६ ॥

विदेहकेवलीभावे सीमान्ते जन्मकर्मणाम् ।
संसारसङ्गसंत्यागरसासवनवेच्छया ।
विवेश स तयैवाऽन्ते सह्याद्रौ हेमकन्दरम् ॥ २७ ॥
अपुनःसङ्गमायाऽऽशु जगज्जालमवेक्ष्य सः ।
बद्धपद्मासनः स्थित्वा तत्रोवाचाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ २८ ॥
राग नीरागतां गच्छ द्वेष निर्द्वेषतां व्रज ।
भवद्भ्यां सुचिरं कालमिह प्रक्रीडितं मया ॥ २९ ॥
भोगा नमोऽस्तु युष्मभ्यं जन्मकोटिशतान्यहम् ।
भवद्भिर्लालितो लोके लालकैरिव बालकः ॥ ३० ॥
इमामपि परां पुण्यां निर्वाणपदवीमहम् ।
येन विस्मारितस्तस्मै सुखायाऽस्तु नमो नमः ॥ ३१ ॥
त्वदुत्तप्तेन हे दुःख ! मयाऽऽत्माऽन्विष्ट आदरात् ।
तस्मात्त्वदुपदिष्टोऽयं मार्गो मम नमोऽस्तु ते ॥ ३२ ॥

देहापगमदशा में एक अद्वितीयरूप से स्थित, जन्म एवं कर्मों की अवधि के अवसानरूप तथा प्रतिभासमात्र से भी अवस्थित देह आदि संसार के सङ्ग का त्याग हो जाने पर परिशेष में रहने वाले ब्रह्मरसरूपी मकरन्द में उनकी उत्कण्ठा हुई और उसके बाद उन्होंने उसी इच्छा के साथ सह्य पर्वत की सुवर्णकन्दरा में प्रवेश किया ॥ २७ ॥

देह आदि के साथ पुनः सङ्गति न हो, इसलिए शीघ्र जगत्रूप जाल का भली-भाँति अवलोकन कर महामुनि पद्मासन लगाकर बैठ गये और अनन्तर वहाँ अपने आप ही अपने अन्दर कहने लगे ॥ २८ ॥

हे राग ! अब तुम नीरागस्वरूप हो जाओ । हे द्वेष ! तुम द्वेषाभावरूप हो जाओ । आप दोनों ने इस लोक में मेरे साथ दीर्घकाल तक क्रीडा की है ॥ २९ ॥

हे भोग ! मैं आप लोगों को प्रणाम करता हूँ, आप लोगों ने मेरा इस लोक में सौ करोड़ वर्ष तक वैसे ही लालन-पालन किया है, जैसे प्यार करने वाले पिता आदि ने बालक का लालन-पालन किया हो ॥ ३० ॥

सबसे पुण्यतम इस मोक्षपद का भी मुझको विस्मरण कराने वाले उस अंशरूप विषय सुख को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥ ३१ ॥

हे दुःख ! तुम्हारे द्वारा सन्तप्त मैंने अत्यन्त आदर से आत्मा का अन्वेषण किया है, इसलिए इस मोक्षमार्ग का तुमने ही मुझको उपदेश दिया । अतः मेरा तुम्हें प्रणाम हो ॥ ३२ ॥

त्वत्प्रसादेन लब्धेयं शीतला पदवी मया ।
दुःखनाम्ने दुःखतत्त्व सुखदाऽऽत्मन्नमोऽस्तु ते ॥ ३३ ॥
कल्याणमस्तु ते मित्र ! संसारासारजीवित ।
देहस्थितिरियं यामो वयमात्मीयमास्पदम् ॥ ३४ ॥
प्रयोजनानां जन्तूनामहो नु विषमा गतिः ।
देहेनाऽपि वियुज्येऽहं भूत्वा जन्मशतान्यपि ॥ ३५ ॥
मित्रकाय मया यत्त्वं त्यज्यसे चिरबान्धवः ।
त्वयैवाऽऽत्मन्युपानीता सात्मज्ञानवशात् क्षतिः ॥ ३६ ॥
अधिगम्याऽऽत्मविज्ञानमात्मनाशः कृतस्त्वया ।
देह नाऽन्येन भग्नोऽसि त्वयैवैतदुपासितम् ॥ ३७ ॥
एकाकिन्याऽपि शुष्यन्त्या प्रशान्ते मयि दीनया ।
त्वया दुःखं न कर्तव्यं मातस्तृष्णे ! व्रजाम्यहम् ॥३८॥

हे दुःख के तत्त्वभूत सुखद आत्मन् ! तुम्हारी ही अनुकम्पा से मैंने यह निरतिशयसुखरूप मोक्षपदवी प्राप्त की है, अतः दुःख नामवाले तुम्हें मेरा प्रणाम हो ॥३३॥

संसार में सारहीन जीवनवाले हे मित्र देह ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारी ही कृपा से हम अपने स्थान को जा रहे हैं। हे देह ! यह अपने लोगों की वियोग की अवस्था आज की नहीं है, किन्तु अनादि नियति का यही स्वभाव है, कारण जो संयोग होता है, उसका अन्त में वियोग में ही पर्यवसान होता है ॥ ३४ ॥

आश्चर्य है कि प्राणियों के स्वार्थों की अत्यन्त विषम गति है, क्योंकि वस्तु की प्राप्ति के लिए घनिष्ठ मित्र आदि स्वजनों को भी छोड़कर पुरुष दूर-दूर दौड़ जाते हैं। सैकड़ों जन्म तक साथी रहकर मैं भी आज अपने प्यारे मित्र शरीर से अलग हो रहा हूँ ॥ ३५ ॥

हे मित्र देह ! चिरकाल से बन्धुरूप तुम मेरे द्वारा जो त्यागे जा रहे हो वह एक स्वार्थ की ही लीला है। हे देह ! तुमने ही अपने लिए आत्मज्ञानवश उस प्रकार की क्षति उठा ली है अर्थात् तुमने अपना नाश करने के लिए मेरा उपकार किया है—मेरा अपराध नहीं है ॥३६॥

तुमने आत्मा के विज्ञान की प्राप्ति से अपना ही विनाश किया है, अतः हे देह ! तुम्हारे द्वारा ही यह तुम्हारा विनाश किया गया है, दूसरे के द्वारा विनाश नहीं किया गया है ॥ ३७ ॥

हे मातृरूप तृष्णे ! मैं अब जा रहा हूँ। मेरे जानेपर तुम अकेली, शुष्क और दीन हो जाओगी, पर दुःख मत करना ॥ ३८ ॥

क्षन्तव्याः काम भगवन्विपरीतापराधजाः ।
दोषा उपशमैकान्तं व्रजाम्यादिश मङ्गलम् ॥ ३९ ॥
चिराच्चिराय चेदानीमम्ब तृष्णे ! किलाऽऽवयोः ।
वियोगो योगदोषेण प्रणामोऽयं स पश्चिमः ॥ ४० ॥
नमः सुकृतदेवाय भवतेऽस्तु त्वया पुरा ।
नरकेभ्यः समुत्तार्य स्वर्गेऽहमभियोजितः ॥ ४१ ॥
कुकार्यक्षेत्ररूढाय नरकस्कन्धवाहिने ।
शासनापुष्पभाराय नमो दुष्कृतशाखिने ॥ ४२ ॥
येन सार्धं चिरं बह्व्यो भुक्ताः प्राकृतयोनयः ।
अद्यप्रभृत्यदृश्याय तस्मै मोहात्मने नमः ॥ ४३ ॥
प्रध्वनद्वंशमधुरवचसे पत्रवाससे ।
नमो गुहातपस्विन्यै वयस्यायै समाधिषु ॥ ४४ ॥
संसाराध्वनि खिन्नस्य त्वं ममाऽऽश्वासकारणम् ।

हे काम भगवन् ! तुम्हारे ऊपर विजय पाने के लिए मैंने तुम्हारे विरोधी वैराग्य-सेवन आदि दोष किये थे, उन दोषों के लिए मुझे क्षमा-प्रदान करें अब मैं उत्तम विश्रान्ति की ओर जा रहा हूँ। मेरी मङ्गलकामना करिए ॥ ३९ ॥

हे मातृरूप तृष्णे ! अब से लेकर अपने दोषों का संयोग के दोष से ही सदा के लिए वियोग हो रहा है। इसलिए मैं तुम्हें यह आखिरी प्रणाम कर रहा हूँ ॥ ४० ॥

हे पुण्यदेव ! आपको मैं प्रणाम करता हूँ, आप ही ने पहले मेरा नरकों से उद्धार कर स्वर्ग के साथ सम्बन्ध करवाया था ॥ ४१ ॥

निषिद्ध आचरणरूपी खेत में उत्पन्न हुए, नरकरूपी बड़ी-बड़ी शाखाओं को धारण करने वाले और यातना-रूपी पुष्प-समूह से युक्त पापरूपी वृक्ष को मेरा नमस्कार है ॥ ४२ ॥

जिसके साथ मैंने दीर्घकाल तक प्राकृत योनियों का उपभोग किया था, आज तक प्रत्यक्ष नहीं हुए उस मोह-स्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४३ ॥

शब्द कर रहे बाँस जिसके मधुर शब्द हैं और शीर्ण पत्ते ही जिसके पहनने के लिए वस्त्र हैं, समाधि में प्रेयसी स्त्री के समान व्यवहार करने वाली उस गुहारूपी तप-स्विनी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४४ ॥

संसाररूपी महामार्ग में खिन्न हुए मेरे लिए तुम ही अकेली आश्वासन देने में समर्थ, अत्यन्त स्नेह से समन्वित, पूर्ण आत्मा में विश्रान्ति-प्रदान द्वारा समस्त लोभों को नाश करनेवाली मित्र हुई ॥ ४५ ॥

आसीर्वयस्या सुस्निग्धा सर्वलोभापहारिणी ॥ ४५ ॥
सर्वसङ्कटखिन्नेन दोषेभ्यो द्रवता मया ।
त्वमेका शोकनाशार्थमाश्रिता परमा सखी ॥ ४६ ॥
सङ्कटावटकुञ्जेषु हस्तालम्बनदायिने ।
वार्धकैकान्तसुहृदे दण्डकाष्ठाय ते नमः ॥ ४७ ॥
अस्थिपञ्जरमात्मीयं तथा रक्तान्त्रतन्तुकम् ।
एतावन्मात्रसारैकं गृहीत्वा गच्छ देहक ॥ ४८ ॥
पयःक्षोभप्रकारेभ्यः स्नानेभ्योऽपि नमोऽस्तु ते ।
नमोऽस्तु व्यवहारेभ्यः संसृतिभ्यो नमोऽस्तु ते ॥ ४९ ॥
एते भवन्तः सहजाः प्राक्तनाः सुहृदो मया ।
क्रमेणाऽद्योत्कृताः प्राणाः स्वस्ति वोऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥५०॥
भवद्भिः सह चित्रासु मया बह्वीषु योनिषु ।
विश्रान्तं गिरिकुञ्जेषु श्रान्तं लोकान्तरेषु च ॥ ५१ ॥

अनेक दुःखों से खिन्न तथा समाधि के विघ्नों से द्रवीभूत हुए मैंने शोक का विनाश करने के लिए उत्तम सखीभूत तुम अकेली का ही आश्रयण किया ॥ ४६ ॥

कुत्ते, सर्प आदि से होनेवाले भयों में, विषमप्रदेशों में तथा गड्ढे और कुञ्जों में हाथ को अवलम्बन देनेवाले, वृद्धावस्था के एकमात्र मित्र दण्डरूप काष्ठ तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४७ ॥

एक अस्थिपञ्जर और दूसरा रक्त तथा आँतरूपी सूत्र—बस इन्हीं दो तत्त्वों से समन्वित तुम्हारा असाधारण विभाग है, इस अपने विभाग को लेकर तुम अपनी प्रकृति की ओर चले जाओ ॥ ४८ ॥

हे शरीर ! तुम्हारे मल, दौर्गन्ध्य, स्वेद आदि के द्वारा दूषित हो जाने के कारण हुए जो जल के अपराध हैं, उनके-विशेष-स्वरूप तुम्हारी विशुद्धि का सम्पादन करने वाले स्नानरूप उपायों को भी मैं प्रणाम करता हूँ तथा तुम्हारे भोजन, शयन, अलंकरण आदि व्यवहारों को एवं भोजनादि सामग्री के सम्पादन के लिए इतस्ततः दौड़धूप करने की प्रवृत्तियों को मैं प्रणाम करता हूँ ॥४९॥

हे पुराने सहज मित्ररूप प्राण ! आज मैंने मित्रों की नमस्कार-परम्परा में आप लोगों को भी ऊँचा बना दिया है, आप लोगों को भी नमस्कार किया है, आप का कल्याण हो, मैं जा रहा हूँ ॥ ५० ॥

हे प्राणवृन्द ! आप लोगों के साथ मैंने विचित्र अनेक योनियों में विश्रान्ति-लाभ किया और पर्वत के कुञ्जों में तथा लोकान्तरों में भी विश्रान्ति का लाभ किया था ॥ ५१ ॥

क्रीडितं पुरपीठान्तरुषितं पर्वतेषु च ।
स्थितं कार्यविलासेषु प्रस्थितं विविधाध्वसु ॥ ५२ ॥
न तदस्ति जगत्कोशे भवद्भिः सह यन्मया ।
न कृतं न हृतं यातं न दत्तं नाऽवलम्बितम् ॥ ५३ ॥
इदानीं स्वां दिशं यान्तु भवन्तो याम्यहं प्रियाः ।
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ॥ ५४ ॥
संयोगा विप्रयोगान्ताः सर्वे संसारवर्त्मनि ।
अयं चाक्षुष आलोको विशत्वादित्यमण्डलम् ॥ ५५ ॥
विशन्तु वनपुष्पाणि सौगन्ध्यानन्दसंविदः ।
प्राणानिलस्तथा स्पन्दं विशत्वद्य प्रभञ्जनम् ॥ ५६ ॥
विशन्त्वाकाशकुहरं शब्दश्रवणशक्तयः ।
इन्दुमण्डलमायान्तु रसनारसशक्तयः ॥ ५७ ॥
निर्मन्दर इवाऽम्भोधिर्गतार्क इव वासरः ।
शरदीव घनः स्वैरं प्राप्तः कल्पान्तसर्गवत् ॥ ५८ ॥
ओंकारान्ते स्वमननं प्रशाम्याम्यात्मनाऽऽत्मनि ।
दग्धेन्धन इवार्चिष्मान्निःस्नेह इव दीपकः ॥ ५९ ॥
व्यपगताखिलकार्यपरम्परः
सकलदृश्यदशातिगतस्थितिः ।
प्रणवशान्त्यनुसंसृतिशान्तधी-
विगतमोहमलोऽयमहं स्थितः ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे इन्द्रियवर्गनिराकरणोपदेशो नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

आप लोगों के साथ ही मैंने नगरों में और सिद्धों के क्षेत्रों में क्रीडा की, पर्वतों में निवास किया, कार्यों के विलासों में स्थिति की और विविध प्रकार के मार्गों में प्रस्थान किया ॥ ५२ ॥

संसार के कोश में ऐसा कोई भी नहीं है, जिसको प्राणवृन्दों के साथ मैंने अपने हाथों से न किया हो, न अपहृत किया हो, न दिया हो, और पैरों से न गत हुआ हो और मन से अवलम्बित न हुआ हो ॥ ५३ ॥

हे प्रियप्राणवृन्द ! आप अपनी प्रकृति में जायें और मैं ब्रह्म में जाता हूँ, [आप लोग यह शङ्का न करें कि हम लोगों का प्रकृति में प्रविलाप क्यों कराते हैं ? कार्यकरणसंघातरूप से ही स्थित हो कर भोग्यसमुदाय को ही पहले के समान क्यों न प्राप्त हो जायँ,] क्योंकि जितने भोग्यसमूह हैं, वे अन्त में क्षयी हैं और जितने उन्नत हैं, वे अन्त में पतनशील हैं ॥ ५४ ॥

संसार-मार्ग में जितने संयोग हैं, वे सब अन्त में वियोग को ही प्राप्त होते हैं । द्वारा यह चक्षु का आलोक आदित्यमण्डल में प्रवेश करे ॥ ५५ ॥

सौगन्ध्यहेतुक आनन्दज्ञानी करण घ्राणेन्द्रिय गन्ध की आश्रय पृथ्वी में प्रविष्ट हो जाय, प्राणवायु तथा उनकी चेष्टा प्रभञ्जननामक वायुतत्त्व में आज प्रविष्ट हो जाय ॥ ५६ ॥

शब्दों की श्रवणशक्ति श्रोत्रेन्द्रिय आकाशकुक्षि में प्रविष्ट हो जाय और रसना की रसग्रहणशक्ति रसनेन्द्रिय चन्द्रमण्डलरूपी जल में प्रविष्ट हो जाय ॥ ५७ ॥

मन्दराचल के अभाव में समुद्र की तरह सूर्य के अभाव में दिन की तरह शरत्काल में अपने उपादान कारण में विलय को प्राप्त हुए मेघ की तरह, इन्धनों के दग्ध होने पर अग्नि की तरह तथा स्नेह के अभाव में दीपक की तरह ओंकार की अन्तिम अर्धमात्रा से लक्षित परब्रह्म स्वरूप अपने में अपने आप से ही मैं आत्यन्तिक मनः-शान्तिपूर्वक विश्रान्ति लेता हूँ ॥ ५८–५९ ॥

सम्पूर्ण कार्यों की परम्परा से शून्य, समस्त दृश्यों की अवस्था को अतिक्रमण कर स्थिति रखने वाला, दीर्घ उच्चारित प्रणव की ब्रह्मरन्ध्र में विश्रान्ति का अनुसरण कर ब्रह्माकारता की प्राप्ति से उपरतबुद्धि तथा प्रारब्ध से प्रतिबद्ध अवशिष्ट अविद्यारूपी मल से रहित यह मैं पूर्ण रूप से अवस्थित हूँ ॥ ६० ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में इन्द्रियवर्गनिराकरणोपदेश नामक कुसुमलता का छियासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८६ ॥

८७

वसिष्ठ उवाच

एवं कलितवानन्तः प्रशान्तमननैषणः ।
शनैरुच्चारयंस्तारं प्रणवं प्राप्तभूमिकः ॥ १ ॥
मात्रादिपादभेदेन प्रणवं संस्मरन् यतिः ।
अध्यारोपापवादेन स्वरूपं शुद्धमव्ययम् ॥ २ ॥
स बाह्याभ्यन्तरान् भागान् स्थूलान्सूक्ष्मतरानपि ।
त्रलोक्यसंभवांस्त्यक्त्वा सङ्कल्पाकल्पकल्पितान् ॥ ३ ॥
तिष्ठन्नक्षुभिताकारश्चिन्तामणिरिवाऽऽत्मनि ।
सम्पूर्ण इव शीतांशुर्विश्रान्त इव मन्दरः ॥ ४ ॥
कुम्भकारगृहे चक्रं संरोधित इव भ्रमात् ।
अम्भोधिरिव सम्पूर्णस्तिमितस्फारनिर्मलः ॥ ५ ॥
शान्ततेजस्तमःपुञ्जं विगतार्केन्दुतारकम् ।
अधूमाभ्ररजः स्वच्छमनन्तं शरदीव खम् ॥ ६ ॥
सह प्रणवपर्यन्तदीर्घनिःस्वनतन्तुना ।
जहाविन्द्रियतन्मात्रजालं गन्धमिवाऽनिलः ॥ ७ ॥
ततो जहौ तमोमात्रं प्रतिभातमिवाऽम्बरे ।
उत्तिष्ठत्प्रस्फुरद्रूपं प्राज्ञः कोपलवं यथा ॥ ८ ॥
प्रतिभातं ततस्तेजो निमेषार्धं विचार्य सः ।
जहौ बभूव च तदा न तमो न प्रकाशकम् ॥ ९ ॥
तामवस्थामथाऽऽसाद्य मनसा तन्मनस्तृणम् ।
मनागपि प्रस्फुरितं निमिषार्धादशातयत् ॥ १० ॥
ततोऽङ्ग संविदं स्वस्थां प्रतिभासमुपागताम् ।
सद्योजातशिशुज्ञानसमानकलनामलम् ॥ ११ ॥

८७

वसिष्ठजी ने कहा—अत्यन्त उच्च स्वर से प्रणव का धीरे-धीरे दीर्घता के सम्पादन द्वारा उच्चारण कर रहे महामुनि वीतहव्य ने मनन सङ्कल्प और एषणाओं से क्रमशः रहित होकर छठी या सप्तम भूमिका को प्राप्त कर अपने हृदय में ब्रह्म की प्राप्ति की ॥ १ ॥

आकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा से कल्पित स्थूल, सूक्ष्म, अव्याकृत और तुरीयरूप पदों के भेद से ॐकार का स्मरण कर रहे महामुनि संन्यासी वीतहव्य पञ्चीकरण-प्रक्रिया में बतलाये गये विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृतरूप पादों का पहले तुर्य में अध्यारोप और अपवाद कर तीन लोकों की रचना के लिए किये गये ब्रह्माजी के सङ्कल्प से कल्पपर्यन्त बाह्य और आभ्यन्तर विभाग से युक्त स्थूल, सूक्ष्म और कारणस्वरूप पदार्थों का भी परित्याग कर अविनाशी विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार कर इन्द्रिय और तन्मात्राओं का परित्याग कर दिया ॥ २–३ ॥

जैसे क्षोभशून्य चिन्तामणि अपने स्वरूप में रहता है, वैसे ही क्षोभशून्य आकार वाले महामुनि वीतहव्य अपने स्वरूप में ही स्थित थे, वे पूर्णचन्द्र की तरह परिपूर्ण थे तथा मन्थनरहित मन्दराचल की तरह स्थित विश्रान्ति से युक्त थे ॥ ४ ॥

भ्रमण से रोकने पर कुम्भकार के घर में चक्र जैसे अक्षुब्ध आकार वाला रहता है, वैसे ही ये मुनि अक्षुब्ध आकारवाले थे और प्रशान्त अत्यन्त निर्मल समुद्र की तरह परिपूर्ण थे ॥ ५ ॥

तेज और तम दोनों के समूह से रहित; सूर्य, चन्द्र और ताराओं से शून्य; धूम, अभ्र और धूली से वर्जित; शरत्कालीन आकाश के समान अत्यन्त स्वच्छ; असीम ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार कर प्रणव के अग्रभाग के दीर्घनादरूपी सूत्र के साथ ही इन्द्रिय और शब्दादि तन्मात्राओं के जाल को वैसे ही त्याग दिया, जैसे वायु ने गन्ध को त्याग दिया हो ॥ ६-७ ॥

अनन्तर आकाश-मण्डल में नेत्र के द्वारा दिखाई पड़ने वाले अन्धकारांश की तरह चिदाकाश में साक्षी के द्वारा सिद्ध तथा प्रकाशित हो रहे अविद्या के तामसवृत्ति-विशेष को वैसे ही त्याग दिया, जैसे बुद्धिमान् क्रोधांश को त्याग देता है ॥ ८ ॥

अनन्तर आधे क्षण विचार कर उक्त मुनि ने प्रकाशित हो रहे अविद्या के सात्त्विकवृत्तिविशेष का भी परित्याग कर दिया। तप और तेज दोनों का परित्याग करने से वे मुनि न तम और न प्रकाशरूप थे अर्थात् तम और प्रकाश दोनों से शून्य अवस्था को प्राप्त थे ॥ ९ ॥

अनन्तर तम और प्रकाश से शून्य अवस्था को प्राप्त कर मुनि वीतहव्य ने कल्पना के कारण किञ्चित् प्रकाशित मनरूपी तृण को, आधे निमेष में मन से ही काट दिया ॥ १० ॥

हे अङ्ग ! अनन्तर वातशून्य प्रदेश में स्थित प्रदीप की तरह विस्पष्ट प्रकाश को प्राप्त अपने स्वरूप में स्थित तत्क्षण उत्पन्न हुए बालक के ज्ञान के सदृश वासनादि से वर्जित संवित् का अवलम्बन कर चिति की चेत्यदशारूप

निमेषार्धार्धभागेन कालेन कलनां प्रभुः ।
जहौ चितश्चेत्यदशां स्पन्दशक्तिमिवाऽनिलः ॥ १२ ॥
पश्यन्तीपदमासाद्य सत्तामात्रात्मकं ततः ।
प्रसुप्तपदमालम्ब्य तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ १३ ॥
ततः सुषुप्तसंस्थानं स्थित्वा स्थित्वा विभुर्मनाक् ।
सुषुप्ते स्थैर्यमासाद्य तुर्यरूपमुपाययौ ॥ १४ ॥
निरानन्दोऽपि सानन्दः सच्चाऽसच्चाऽपि तत्र सः ।
आसीन्न किञ्चित्किञ्चित्तप्रकाशस्तिमिरं यथा ॥ १५ ॥
अचिन्मयं चिन्मयं च नेति नेति यदुच्यते ।
ततस्तत्संबभूवाऽसौ यद्गिरामप्यगोचरः ॥ १६ ॥

कल्पना को उसकी उत्पत्ति के पहले ही समर्थ मुनि वीतहव्य ने निमेष के चतुर्थ भागात्मक काल में ही वैसे ही परित्याग कर दिया, जैसे वायु स्पन्दन शक्ति का परित्याग कर देता है ॥ ११, १२ ॥

अनन्तर साक्षिमात्र के परिशेषस्वरूप 'पश्यन्ती' पद को प्राप्तकर अनन्तर 'पश्यन्ती' पद ही आकाश आदि के बाधाश्रयरूप से अवशिष्ट सत्तामात्रस्वरूप कारणतत्त्व होने के कारण तद्भाव में स्थितिरूप सुषुप्त स्थान को प्राप्त कर मुनि वीतहव्य पर्वत की तरह अचल होकर स्थित हो गये ॥ १३ ॥

अनन्तर समर्थ मुनि वीतहव्य पहले सुषुप्त स्थान में किञ्चित् स्थित होकर अनन्तर उसमें स्थिरता को प्राप्तकर तुर्यरूप में लीन हो गये । ('तुर्यरूपमुपाययौ' इस वाक्य से पहले सदेहावस्थ छठी और सप्तम भूमिका को बतलाकर साक्षी की सदेकरसता सिद्ध हो जानेपर निरतिशय अखण्ड आनन्द के आविर्भाव से अवशिष्ट प्रारब्ध के साथ जगत्-प्रतिभास का आत्यान्तिक विनाश और तदनन्तर विदेह-कैवल्य की प्राप्ति बतलाई गई है) ॥ १४ ॥

उस तुर्य अवस्था में वे मुनि विषयप्रयुक्त आनन्द से वर्जित होते हुए भी स्वरूपभूत आनन्द से वैसे ही युक्त थे, जैसे रात्रि में देखने वाले उलूक आदि को अन्धकार ही प्रकाशरूप होता है, स्वभिन्न सत्ता से शून्य होते हुए भी स्वरूपः सत्तारूप थे, स्वभिन्न वस्तुस्वरूप से अकिञ्चिद्रूप होते हुए भी स्वतः किञ्चिद्रूप थे ॥ १५ ॥

वे चेत्य का अभाव होने से अचिन्मय और स्वतः चित्स्वरूप थे । अनन्तर 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों से बोधित वाणी का भी अगोचर अद्वैततत्त्व को प्राप्त हो गये ॥ १६ ॥

अनन्तर मुनि समस्त पदार्थों में अवस्थित; समस्त

तदसौ सुसमं स्फारं पदं परमपावनम् ।
सर्वभावान्तरगतमभूत्सर्वविवर्जितम् ॥ १७ ॥
यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम् ॥ १८ ॥
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम् ॥ १९ ॥
आत्माऽऽत्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम् ।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम् ॥ २० ॥
यत्सर्वशास्त्रसिद्धान्तो यत्सर्वहृदयानुगम् ।
यत्सर्वं सर्वगं सार्वं यत्तत्तत्सदसौ स्थितः ॥ २१ ॥

भावों से वर्जित, निरतिशय समता से पूर्ण प्रकाशमान परम पवित्र पदस्वरूप हो गये ॥ १७ ॥

शून्यवादी बौद्धों का शून्यरूप प्राप्य पद ब्रह्मज्ञानियों का ब्रह्मरूप श्रेष्ठ प्राप्य पद विज्ञानवादी बौद्धों का विज्ञान-रूप निर्मल प्राप्य पदरूप होकर ही ये मुनि वीतहव्य स्थित थे ॥ १८ ॥

कपिलमुनि-निर्मित सांख्यशास्त्र में प्रतिपादित पुरुष-रूप, पतञ्जलिनिर्मित योगशास्त्र में प्रतिपादित क्लेश आदि से वर्जित पुरुषविशेषात्मक ईश्वररूप, चन्द्रचिह्नवाले महादेवजी के अनुयायी पाशुपत मत में प्रदर्शित शिवरूप और काल ही एक तत्त्व है, इस प्रकार प्रतिपादन करने वाले कालवादियों के मत में प्रदर्शित कालरूप तत्त्वरूप होकर ये महामुनि वीतहव्य अवस्थित थे ॥ १९ ॥

आत्मा के स्वरूप को भलीप्रकार जानने वाले आत्म-वादियों के मत में आत्मतत्त्व सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत में प्रतिपादित स्थायित्व से अभासमान क्षणिकविज्ञान-रूपी नैरात्म्यतत्त्व चित् और अचित् के बीच में शून्यात्मक तत्त्व का अङ्गीकार करने वाले माध्यमिकों के मत में शून्यात्मक तत्त्व जीवन्मुक्त महापुरुषों के मत में परिपूर्ण ब्रह्मात्मक तत्त्वरूप होकर ही ये महामुनि अवस्थित थे । संस्कृत टीका में कहा है—शून्यवादियों से उपक्रम कर सर्ववादियों से उपसंहार इसलिए किया गया है कि उनकी परिच्छिन्नता और अपरिच्छिन्नता-वाद में परम अवधि है और अन्यान्य मध्यपतित मतों में उभय का संमिश्रण है तथा तारतम्य से उनका उत्थान हुआ है, यह द्योतन हो ॥ २० ॥

समस्त शास्त्र का सिद्धान्तभूत हैं, सबके हृदय में अनुगत सर्वात्मक और सबके स्वरूपभूत होकर ये मुनि अवस्थित थे ॥ २१ ॥

यदनुत्तमनिःस्पन्दं दीप्यते तेजसामपि ।
स्वानुभूत्येकमात्रं यद्यत्तत्तत्सदसौ स्थितः ॥ २२ ॥
यदेकं चाऽप्यनेकं च साञ्जनं च निरञ्जनम् ।
यत्सर्वं चाऽप्यसर्वं च यत्तत्तत्सदसौ स्थितः ॥ २३ ॥
अजमजरमनाद्यनेकमेकं
पदममलं सकलं च निष्फलं च ।
स्थित इति स तदा नभःस्वरूपा-
दपि विमलस्थितिरीश्वरः क्षणेन ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
वीतहव्यनिर्वाणो नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

सर्वथा स्पन्दनक्रिया से रहित समस्त प्रकाशमान सूर्य आदि तेजों का भी भासक बनकर प्रकाशित केवल अपने अनुभव के स्वरूपभूत होकर ये मुनि विराजमान थे ॥ २२ ॥

वास्तव में अद्वितीय होने के कारण एक और माया-वश अनेक आचार्य-वाक्य से गम्य होने के कारण व्यवहार में अविद्या से युक्त तथा परमार्थ-दशा में स्वतः प्रकाश होने के कारण अविद्या से रहित सर्वात्मक होने से सर्व-स्वरूप तथा प्रपञ्चातीत होने से असर्वात्मक स्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे ॥ २३ ॥

वह वीतहव्य मुनि मुक्त लोगों की दृष्टि में आकाश के स्वरूप की अपेक्षा निर्मल स्थितिवाले होकर उत्पत्ति-शून्य, जरारहित, कारणवर्जित, अद्वितीय, मल से रहित एवं अवयवरहित पदस्वरूप होकर अवस्थित थे और बद्ध लोगों की दृष्टि में क्षण में ईश्वर होकर अपने कार्यों के भेद से अनेक और अवयवयुक्त होकर अवस्थित थे ॥२४॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
वीतहव्यनिर्वाण नामक कुसुमलता का सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८७ ॥

८८

वसिष्ठ उवाच

प्राप्य संसृतिसीमान्तं दुःखाब्धेः पारमागतः ।
वीतहव्यः शशामैवमपुनर्मनने मुनिः ॥ १ ॥
तस्मिंस्तथोपशान्ते हि परां निर्वृतिमागते ।
पयःकण इवाऽम्भोधौ स्वे पदे परिणामिनि ॥ २ ॥
तथैव तिष्ठन्निःस्पन्दः स कायो म्लानिमाययौ ।
अन्तर्विरसतां प्राप्य मार्गशीर्षान्तपद्मवत् ॥ ३ ॥
तस्य देहद्रुमान्तःस्थं त्यक्त्वा हृन्नीडमाययुः ।
प्रोड्डीय विहगायन्तो यन्त्रोन्मुक्ता इवाऽसवः ॥ ४ ॥
भूतेष्वेव प्रतिष्ठानि भूतानि सकलान्यलम् ।
मांसास्थियन्त्रदेहस्तु वनावनितलेऽवसत् ॥ ५ ॥

८८

वसिष्ठजी ने कहा—संसार की अवधि के अन्तिम स्थानभूत परब्रह्म को प्राप्त दुःखसागर के पार को प्राप्त महामुनि वीतहव्य आत्यन्तिक मनोनाश होने पर परम विश्रान्त हो गये ॥ १ ॥

महामुनि वीतहव्य के उस प्रकार विश्रान्त होनेपर निरतिशयसुखात्मक मोक्ष की प्राप्ति हो जाने पर तथा समुद्र में जलकण की तरह अपने पद में प्रतिष्ठित हो जाने-पर उसी प्रकार अवस्थित हो रहा क्रियाशून्य वह देह भीतरी विरसता को प्राप्त कर वैसे ही म्लान हो गया, जैसे हेमन्त-ऋतु में कमल म्लान हो जाता है ॥ २, ३ ॥

देहरूपी वृक्ष के भीतर अवस्थित, पक्षी की तरह आचरण करने वाले उसके प्राण नाड़ी स्थान का परित्याग कर हृदय रूपी घोंसले की ओर उस प्रकार आ गये, जिस प्रकार यन्त्रों से उन्मुक्त शिलाएँ। संस्कृत व्याख्या में कहा है—'यहाँ देहरूपी वृक्ष के अन्दर अवस्थित हृदय रूपी नीड का परित्याग कर प्राण बाहर आ गये' ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (तत्त्वज्ञ के वाक् आदि प्राण जाते नहीं है, यहीं लीन हो जाते हैं, वह जीवित दशा में ही ब्रह्म रूप होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुति के साथ विरोध होगा और समस्त कर्म और तज्जनित वासनाओं का क्षय हो जाने के कारण उस प्रकार के उत्क्रमण में कोई बीज या प्रयोजन नहीं है ॥ ४ ॥

प्राण से लेकर नामपर्यन्त सोलह कलाओं से युक्त भूत पदार्थ महाभूतों में ही लीन हो गये और जो पिता और माता के मल से उत्पन्न स्थूल अंश स्वरूप मांस, अस्थि और आंत-रूपी देह था, वह अरण्य में पृथ्वीतल में मिल गया ॥ ५ ॥

चिदर्णवप्रतिष्ठा चिद्धातवो धातुषु स्थिताः ।
स्वे स्वरूपे स्थितं सर्वं मुनावुपशमं गते ॥ ६ ॥
एषा ते कथिता राम ! विचारशतशालिनी ।
विश्रान्तिर्वीतहव्यस्य प्रज्ञयैनां विवेचय ॥ ७ ॥
एवंप्रकारया चार्व्या स्वविचारणयेद्धया ।
तत्त्वमालोक्य तत्सारमातिष्ठोत्तिष्ठ राघव ! ॥ ८ ॥
यदेतदखिलं राम ! भवते वर्णितं मया ।
यदिदं वर्णयाम्यद्य वर्णयिष्यामि यच्च वा ॥ ९ ॥
त्रिकालदर्शिना नित्यं चिरं च किल जीवता ।
विचारितं च दृष्टं च मया तदखिलं स्वयम् ॥ १० ॥
तदेताममलां दृष्टिमवलम्ब्य महामते ! ।
ज्ञानमासादय परं ज्ञानान्मुक्तिर्हि लभ्यते ॥ ११ ॥
ज्ञानान्निर्दुःखतामेति ज्ञानादज्ञानसंक्षयः ।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्नान्यस्माद्राम ! वस्तुतः ॥ १२ ॥
ज्ञानेन सकलामाशां विनिकृत्य समन्ततः ।
शातिताशेषचित्ताद्रिर्वीतहव्यो मुनीश्वरः ॥ १३ ॥
वीतहव्यात्मिका संवित् सङ्कल्पजगतीति सा ।
अनुभूतवती दृश्यमिदमेव च तज्जगत् ॥ १४ ॥
वीतहव्यो मनोमात्रं मनोऽहन्त्वमिवेन्द्रियः ।
मनो जगदिदं कृत्स्नमन्यताऽनन्यते तु के ॥ १५ ॥
अधिगतपरमार्थः क्षीणरागादिदोषः
सकलमलविकारोपाधिसङ्गाद्यपेतः ।
चिरमनुसृतमन्तः स्वं स्वभावं विवेकी
पदममलमनन्तं प्राप्तवान् शान्तशोकः ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे वीतहव्यविश्रान्तिर्नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

लिङ्ग शरीर में प्रतिबिम्बित जीवभूता चित् स्वबिम्ब भूत चैतन्य-समुद्र में मिल गया। त्वचा, असृक्, मांस आदि धातु अपने उपादानभूत धातु में मिल गये। महामुनि के विश्रान्ति हो जाने पर सब अपने-अपने उपादानों में ही अवस्थित हो गये ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! महामुनि वीतहव्य की यह सैकड़ों विचारों से समन्वित विश्रान्ति-कथा आप से मैंने कही, अब आप अपनी प्रज्ञा से इसका विवेचन करें ॥ ७ ॥

हे राघव ! इस प्रकार की रमणीय अपनी उत्कृष्ट विचारधारा से तत्त्व का अवलोकन कर उक्त सार का ग्रहण करने को तत्पर हो जाइए ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजी ! जिसका आपके समाने मैने वर्णन किया, जिसका वर्णन कर रहा हूँ और जिसका वर्णन करूँगा, त्रिकाल को प्रत्यक्ष रूप से देख रहे तथा चिरकाल तक जीने वाले हम लोगों ने उसके विषय में विचार किया है और पूर्ण रूप से उसको स्वयं देखा भी है ॥ ९-१० ॥

हे महामते ! इस निर्मल दृष्टि का अवलम्बन कर उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करें, क्योंकि ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त की जाती है ॥ ११ ॥

ज्ञान से ही मनुष्य दुःख से रहित होता है, ज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है, ज्ञान से ही परम सिद्धि मिलती है, वास्तव में वह दूसरे किसी से नहीं मिलती ॥ १२ ॥

ज्ञान से समस्त आशाओं का चारों ओर से खण्डन कर महामुनि वीतहव्य अपने चित्त रूपी पर्वत को निःशेष रूप से खण्डन कर अवस्थित थे ॥ १३ ॥

उस वीतहव्यात्मिका संवित् ने अपने हृदय से उपलक्षित ब्रह्म में हम लोगों के साधारण दृश्य को ही अपने संकल्पमय जगत् के रूप में अनुभव किया इसी जगत् का अनुभव किया, दूसरे अपूर्व जगत् का अनुभव नहीं किया ॥१४॥

हम लोगों के चक्षु आदि से दिखाई पड़ रहे मुनि वीतहव्य हम लोगों के मानोमात्र स्वरूप ही हैं, क्योंकि हम लोगों का मन ही 'अहम्' और 'त्वम्' के रूप में भासमान है, मन ही समस्त जगत् है, अतः उसमें अन्यत्व और अनन्यत्व क्या होगा ॥ १५ ॥

जिन्होंने परम प्रयोजनस्वरूप आत्मतत्त्व का ज्ञान कर क्षीण, राग आदि दोष समस्त अविद्या, काम, कर्म आदि मलों से, तत्प्रयुक्त इन्द्रिय-विकारों से, देहत्रयरूप उपाधियों से तथा इन उपाधियों से होने वाले प्रियादि-सङ्गों से रहित वह विवेकी वीतहव्य मुनि चिरकाल तक चित्तशुद्धि के शोकशून्य उपायों के अनुष्ठानों से श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साक्षात्कारप्रयोजक समाधिभूमिका के अभ्यासों से अपने हृदय में अनुसरण द्वारा साक्षात्कृत अपने स्वभावभूत, निर्मल असीम मोक्षपद को प्राप्त किया ॥ १६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में वीतहव्यविश्रान्ति नामक कुसुमलता का अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८८ ॥

८९

वसिष्ठ उवाच

वीतहव्यवदात्मानं नीत्वा विदितवेद्यताम् ।
वीतरागभयोद्वेगस्तिष्ठ राघव ! सर्वदा ॥ १ ॥
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि विजहार यथासुखम् ।
वीतहव्यो वीतशोकस्तथा विहर राघव ! ॥ २ ॥
अन्ये च राजन् मुनयो ज्ञातज्ञेया महाधियः ।
यथाऽवसन्स्वराष्ट्रे त्वं तथैवाऽऽस्व महामते ! ॥ ३ ॥
सुखदुःखक्रमैरात्मा न कदाचन गृह्यते ।
सर्वगोऽपि महाबाहो ! किं मुधा परिशोचसि ॥ ४ ॥
बहवो विदितात्मानो विहरन्तीह भूतले ।
न केचन वशं यान्ति दुःखस्याऽङ्ग भवानिव ॥ ५ ॥
स्वस्थो भव भवोदारः समो भव सुखी भव ।
सर्वगस्त्वं त्वमात्मैव तव नाऽस्ति पुनर्भवः ॥ ६ ॥
हर्षामर्षविकाराणां जीवन्मुक्ता भवादृशाः ।
न केचन वशं यान्ति मृगेन्द्राः शिखिनामिव ॥ ७ ॥

श्रीराम उवाच

अनेनैव प्रसङ्गेन संशयोऽयं ममोदितः ।
शरत्काल इवाऽम्भोदं तं मे त्वं तनुतां नय ॥ ८ ॥
जीवन्मुक्तशरीराणां कथमात्मविदां वर ।
शक्तयो नेह दृश्यन्ते आकाशगमनादिकाः ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

आकाशगमनादीनि यान्येतानि रघूद्वह ! ।
प्रमाणिताः पदार्थानां सहजाः खलु शक्तयः ॥ १० ॥
यद्विचित्रं क्रियाजालं दृश्यते गम्यते पुनः ।
राम ! वस्तुस्वभावोऽसौ न तदात्मविदां मतम् ॥ ११ ॥
अनात्मविदमुक्तोऽपि नभोविहरणादिकम् ।
द्रव्यकर्मक्रियाकालशक्त्या प्राप्नोति राघव ! ॥ १२ ॥

८९

वसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! महामुनि वीतहव्य की तरह अपने को ज्ञाततत्त्व बनाकर आप राग, भय और उद्वेग से रहित होकर सदा स्थित रहे ॥ १ ॥

हे राघव ! इस ब्रह्माण्ड में तीस हजार वर्षों तक महामुनि वीतहव्य ने शोकरहित होकर सुखपूर्वक विहार किया था, आप भी उसी प्रकार शोकशून्य होकर सुखपूर्वक विहार करें ॥ २ ॥

हे दीप्तिसम्पन्न महामते ! महामति विदितवेद्य मननशील महात्माओं के निवास के समान आप भी अपने राष्ट्र में निवास करें ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! सर्वत्र व्यापक आत्मा सुख-दुःखों की परम्परा से कभी भी वह पराभूत नहीं होता, अतः आप निरर्थक क्यों शोक कर रहे हैं ? ॥ ४ ॥

हे प्रिय ! आत्मस्वरूप को जान लेनेवाले बहुत से महात्मा इस लोक में विचरण कर रहे हैं, परन्तु उनमें से कोई भी आपकी तरह दुःख के अधीन नहीं होते ॥ ५ ॥

आप अपने ही स्वरूप में स्थित हो जाँए, भीतर से सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग करने वाले हो जाँए, सर्वत्र समबुद्धि हो जाँए और सुखी हो जाँए । आप सर्वत्र व्यापक हैं, आप आत्मस्वरूप हैं, आपका पुनः जन्म नहीं है ॥ ६ ॥

आपके सदृश जीवन्मुक्त कोई भी महानुभाव हर्ष, अमर्ष आदि विकारों के वश में वैसे ही नहीं हो जाते जैसे मयूरों के वश में सिंह नहीं हो जाते ॥ ७ ॥

श्रीरामजी ने कहा—इसी प्रसङ्ग से मुझको यह एक संशय हुआ है, उसको आप मेघ को शरत्काल की तरह नष्ट कर दें ॥ ८ ॥

हे आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ! जीवन्मुक्त शरीर वाले महात्माओं की आकाशगमन आदि शक्तियाँ यहाँ क्यों नहीं दीखलाई पड़ती हैं ? ॥ ९ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे रघुकुल श्रेष्ठ ! प्रमाणों से उपलब्ध देवताओं की आकाशसमन आदि सिद्धियाँ अग्नि में ऊर्ध्वज्वलन की तरह स्वभावतः सिद्ध हैं ॥ १० ॥

हे श्रीरामजी ! जो विचित्र दिखाई पड़ने वाला आकाशगमन आदि क्रियाकलाप प्रमाण से उपलब्ध यह तत्-तत् योनियों में उत्पन्न देह का स्वभाव है, क्योंकि मच्छर आदियों में भी आकाशगमन-शक्ति दिखाई पड़ती है, इसलिए वह आत्मतत्त्वज्ञों को वाञ्छित नहीं है ॥११॥

हे राघव ! आत्मतत्त्वज्ञान से शून्य प्राकृत अमुक्त जी—मणि, औषध आदि द्रव्यों की शक्ति से, योगाभ्यास आदि क्रियाओं की शक्ति से, उसके परिपाकप्रयोजक काल की शक्ति से—आकाशगमन आदि किसी समय भी प्राप्त कर सकता है । जैसे चींटी को ग्रीष्म की समाप्ति में काल शक्ति के प्रभाव से पंख-प्रादुर्भाव द्वारा आकाशगमन करती है । (कालशब्द दृष्टान्तार्थकधर्म है) ॥ १२ ॥

नाऽऽत्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो ह्यात्मवान् स्वयम् ।
आत्मनाऽऽत्मनि संतृप्तो नाऽविद्यामनुधावति ॥ १३ ॥
ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान् विदुः ।
कथं तेषु किलाऽऽत्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति ॥ १४ ॥
अविद्यामपि ये युक्त्या साधयन्ति सुखात्मिकाम् ।
ते ह्यविद्यामया एव न त्वात्मज्ञास्तथाक्रमाः ॥ १५ ॥
तत्त्वज्ञो वाऽप्यतत्त्वज्ञो यः कालद्रव्यकर्मभिः ।
यथाक्रमं प्रयतते तस्योर्ध्वत्वादि सिद्ध्यति ॥ १६ ॥
आत्मवानिह सर्वस्मादतीतो विगतैषणः ।
आत्मन्येव हि सन्तुष्टो न करोति न चेहते ॥ १७ ॥
न तस्याऽर्थो नभोगत्या न सिद्ध्या न च भोगकैः ।
न प्रभावेण नो मानैर्नाऽऽशामरणजीवितैः ॥ १८ ॥
नित्यतृप्तः प्रशान्तात्मा वीतरागो विवासनः ।

तुच्छ होने के कारण आकाशगमन आदि सिद्धियाँ आत्मज्ञ विद्वान् के अभिलाषा की विषय नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मस्वरूपज्ञानी स्वयं आत्मा को प्राप्त कर चुका है, इसलिए वह अपनी आत्मा में ही तृप्त रहता है, अतः आविद्यक तुच्छ फल वाले पदार्थों की ओर नहीं दौड़ता ॥ १३ ॥

संसार में जो पदार्थ हैं, उन सबको आत्मज्ञ अविद्यामय ही मानते हैं, इसलिए अविद्या से वर्जित तत्त्वज्ञ उनमें कैसे डूब सकता है ॥ १४ ॥

योगाभ्यास आदि सैकड़ों परिश्रमों से अविद्या को भी आकाशगमन आदि सिद्धियों के द्वारा सुखसाधन बनाने वाले आत्मतत्त्वज्ञ हैं ही नहीं, क्योंकि आकाशगमन आदि सिद्धियाँ अविद्यामय ही हैं ॥ १५ ॥

तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, कोई भी चिरकालिक प्रयत्नपूर्वक द्रव्यकर्मों से शास्त्रोक्त उपाय का अनुष्ठान कर नभोगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है ॥ १६ ॥

यहाँ धन आदि की अभिलाषाओं से रहित आत्मस्वरूपज्ञ पुरुष सबसे अतीत हो जाता है, वह अपने ही स्वरूप में सदा सन्तुष्ट रहता है, इसलिए न कुछ चाहता है, और न कुछ करता है ॥ १७ ॥

आत्मज्ञ पुरुष को न तो कोई आकाशगमन से, न ऋद्धि से, न तुच्छ भोगों से, न निग्रहानुग्रहसामर्थ्य से, न अपने उत्कर्ष के ख्यापक अभिमानों से और न आशा मरण या जीवन से ही प्रयोजन है ॥ १८ ॥

सदा सन्तुष्ट, प्रशान्तस्वरूप, रागरहित, वासनाशून्य तथा आकाश के समान निर्मल आकार वाला तत्त्वज्ञ

आकाशसदृशाकारस्तज्ज्ञ आत्मनि तिष्ठति ॥ १९ ॥
अशङ्कितोपयातेन दुःखेन च सुखेन च ।
तृप्यत्यपगतासङ्गो जीवेन मरणे च ॥ २० ॥
समुद्रः सरितेवाऽन्तः क्रमसंप्राप्तवस्तुना ।
समेन विषमेणाऽपि तिष्ठत्यात्मानमर्चयन् ॥ २१ ॥
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ २२ ॥
यस्तु वाऽभावितात्माऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति ।
स सिद्धिसाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात् ॥ २३ ॥
सिद्ध्यतीत्थमिदं युक्त्यैवेत्ययं नियतेः क्रमः ।
त्र्यक्षादिभिः सुरवरैर्व्यर्थीकर्तुं न शक्यते ॥ २४ ॥
स्वभाव एष वस्तूनां स्वतःसिद्धिर्हि नाऽन्यतः ।
नियतिं न जहात्येव शशाङ्क इव शीतताम् ॥ २५ ॥

विद्वान् अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है ॥ १९ ॥

अपने जीवन और मरण की आसक्ति से रहित तत्त्वज्ञ पुरुष आकस्मिक प्राप्त सुख और दुःख से अपनी स्वाभाविक तृप्ति का परित्याग नहीं करता ॥ २० ॥

तत्त्वज्ञ प्रारब्ध क्रम के अनुसार प्राप्त अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुओं से भी किसी प्रकार की विकृति प्राप्त न कर अपने आत्मा की अखण्डाकारवृत्तिरूपी पुष्पों से पूजा करता हुआ ही अपने स्वरूप में वैसे ही अपने स्वरूप में वैसे ही स्थित रहता है जैसे समुद्र नदी-प्रवाह और नदी-प्रवाह से प्राप्त तृण, काष्ठ आदि के अपने भीतर प्रवेश से उपचयापचयरूप विकृति प्राप्त नहीं करता ॥ २१ ॥

तत्त्वज्ञ को यहाँ न तो विध्युक्तानुष्ठान से ही पुण्य है और न विहिताकरण से ही प्रत्यवाय-प्राप्ति है, क्योंकि विद्वान् को ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सब भूतों में कोई भी पदार्थ प्रयोजन के लिए आश्रयणीय नहीं है ॥ २२ ॥

आत्मज्ञान से शून्य भी आकाशगमन आदि सिद्धियों की अभिलाषा करता है और वह सिद्धियों के साधक द्रव्यों से क्रमशः उन्हें सिद्ध करता है ॥ २३ ॥

मणि, मन्त्र आदि युक्तियों से ही इस प्रकार की आकाशगमन आदि सिद्धि हो सकती हैं। शास्त्रों में प्रसिद्ध नियति के क्रम को नियति का विधान करने वाले त्रिनेत्र आदि श्रेष्ठ देवता भी व्यर्थ नहीं कर सकते ॥ २४ ॥

देवता आदि में आकाशगमन आदि सिद्धियाँ वस्तु स्वभाव ही है। दूसरे किसी से वे नहीं आती। नियति का परित्याग कोई वैसे ही नहीं कर सकता जैसे चन्द्रमा शीतता का परित्याग नहीं करता ॥ २५ ॥

सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि च ।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि ॥ २६ ॥
द्रव्यकालक्रियामन्त्रप्रयोगाणां स्वभावजाः ।
एतास्ताः शक्तयो राम ! यद्व्योमगमनादिकम् ॥ २७ ॥
यथा विषाणि निघ्नन्ति मदयन्ति मधूनि च ।
वमयन्ति च शुक्तानि मदनानि फलानि च ॥ २८ ॥
तथा स्वभाववशतो द्रव्यकालक्रियाक्रमाः ।
नियतं साधयन्त्याशु प्रयोगं युक्तियोजिताः ॥ २९ ॥
एतस्मात् समतीतस्य त्यक्ताविद्यस्य राघव ! ।
आत्मज्ञानस्य नाऽस्त्यत्र कर्तृताऽकर्तृताऽनघ ॥ ३० ॥
द्रव्यदेशक्रियाकालयुक्तयः साधुसंविदः ।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ॥ ३१ ॥
यस्येच्छा विद्यते काचित्स सिद्धिं साधयत्यलम् ।
आत्मज्ञस्य तु पूर्णस्य नेच्छा संभवति क्वचित् ॥ ३२ ॥

सर्वज्ञ हो या बहुज्ञ हो, भगवान् लक्ष्मीपति हों, या उमापति हों, कोई भी नियति को अन्यथा करने में समर्थ नहीं है ॥ २६ ॥

हे श्रीरामजी ! मणि आदि द्रव्य, काल, योगाभ्यास आदि क्रिया और मन्त्रप्रयोगों में उक्त शक्तियाँ, जो आकाशगमन आदि शब्दों से कही जाती है वह स्वभावतः सिद्ध हैं ॥ २७ ॥

योगादि उपायों में कुशल पुरुषों द्वारा प्रयुक्त मण्यादि द्रव्य, काल, क्रिया आदि उपाय स्वभाववश से ही सिद्धियों को वैसे ही अवश्य उत्पन्न करते हैं जैसे विषघ्न मणि, मन्त्र आदि द्रव्य की शक्तियाँ विष का विनाश कर देती हैं, जैसे मदिरा मत्त कर देती है, जैसे माक्षिक मधु अथवा मदनफल खाने पर वमन करा देता है २८, २९ ॥

हे निष्पाप राघव ! द्रव्य-काल-कियाक्रमस्वरूप आविद्यिक विषयों से परे तथा अज्ञान को बाधित कर देनेवाले आत्मज्ञान में आकाशगमन आदि सिद्धियों के प्रति कारणता और विरोधिता नहीं है ॥ ३० ॥

आत्मतत्त्वज्ञान के फलभूत परमात्मा के पद के लाभ में मोक्ष द्रव्य, देश, क्रिया, काल आदि युक्तियाँ कोई भी उपकार नहीं कर सकती ॥ ३१ ॥

आकाशगमन आदि की किसी पुरुष को इच्छा होने पर वह उसकी सिद्धि का साधन पूर्णरूप से करता है। आत्मज्ञानी पूर्ण है, अतः उसको कहीं इच्छा नहीं होती ॥ ३२ ॥

हे निष्पाप श्रीरामजी ! आत्मा की प्राप्ति सब

सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः ।
तद्विरुद्धा कथं कस्मादिच्छा सञ्जायतेऽनघ ! ॥ ३३ ॥
यथोदेति च यस्येच्छा स तया यतते तथा ।
यथाकालं तदाप्नोति ज्ञो वाऽप्यज्ञतरोऽपि वा ॥ ३४ ॥
वीतहव्येन यतितं नो ज्ञानेच्छेन किञ्चन ।
ज्ञानेच्छेनाऽऽशु यतितं प्रोत्थितोऽसौ यथा वने ॥ ३५ ॥
एवं कालक्रियाकर्मद्रव्ययुक्तिस्वभावजाः ।
यथेच्छमेव सिद्धयन्ति सिद्धयः स्वाः क्रमार्जिताः ॥३६॥
याः फलावलयो येन संप्राप्ताः सिद्धिनामिकाः ।
तास्तेनाऽधिगता राम ! निजात्प्रयतनद्रुमात् ॥ ३७ ॥
महतां नित्यतृप्तानां तज्ज्ञानां भावितात्मनाम् ।
ईहितं सम्प्रयातानां नोपकुर्वन्ति सिद्धयः ॥ ३८ ॥

श्रीराम उवाच

अयं मे संशयो ब्रह्मन्वीतहव्यस्य सा तनु ।
क्रव्यादैर्न कथं भुक्ता कथं क्लिन्ना न भूतले ॥ ३९ ॥

इच्छाओं की शान्ति होने पर ही होती है, अतः आत्मज्ञ को आत्मज्ञ की विरोधिनी इच्छा कैसे और किससे हो सकती है ? ॥ ३३ ॥

तत्त्वज्ञ हो या अतत्त्वज्ञ हो, जिसकी जिस प्रकार इच्छा होगी, वह वैसे ही उसी इच्छा से उसके लिए यत्न करता है और समय आने पर वह उस सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

आत्मज्ञान की इच्छावाले वीतहव्य ने सिधियों की इच्छा से किसी प्रकार का यत्न नहीं किया और ज्ञान की इच्छा से तो उसने शीघ्र यत्न किया था। जैसे इसने अरण्य में ज्ञानाभ्यास के लिए उद्योग किया था ॥ ३५ ॥

इन प्रकार क्रिया, कर्म और द्रव्यरूपी युक्तियों के स्वभाव से उत्पन्न होने वाली क्रमप्राप्त सिद्धियाँ अपनी इच्छा के अनुसार सिद्ध हो जाती हैं ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी ! आकाशगमन आदि सिद्धिनामक फलों की पंक्तियाँ जिस पुरुष के द्वारा प्राप्त की गई हैं, वे उस पुरुष के द्वारा अपने प्रयत्नरूपी वृक्ष से ही प्राप्त की गई हैं ॥ ३७ ॥

पवित्र अन्तःकरण सम्पन्न आत्मतत्त्व-ज्ञान से सम्पन्न सदा सन्तुष्ट सब के द्वारा अभिलषित परमप्रेमास्पद आत्म-सुख को प्राप्त महात्माओं के लिए सिद्धियाँ कुछ भी उपकार नहीं करतीं ॥ ३८ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मुझे यह संशय हो रहा है कि महामुनि वीतहव्य की वह देह हिंसक बाघ

तदैव वीतहव्योऽसौ कथं वनगतः प्रभो ।
विदेहमुक्ततां शीघ्रं यथावदिति मे वद ॥ ४० ॥

वसिष्ठ उवाच

या संविद्वलिता साधो ! वासनामलतन्तुना ।
सुखदुःखदशादारभागिनी भवतीह सा ॥ ४१ ॥
निर्मुक्तवासना शुद्धसंविन्मात्रमयी तु सा ।
तनुस्तिष्ठति तच्छेदे शक्ता नेह हि केचन ॥ ४२ ॥
शृणु युक्त्या कया योगी तनुच्छेदादिविभ्रमैः ।
नाऽऽक्रम्यते महाबाहो ! बहुवर्षशतैरपि ॥ ४३ ॥
चेतः पदार्थे पतति यस्मिन् यस्मिन् यदा यदा ।
तन्मयं तद्भवत्याशु तस्मिंस्तस्मिंस्तदा तदा ॥ ४४ ॥
तथा दृष्टारि हि मनो विकारमुपगच्छति ।
दृष्टमित्रं सुहृद्यत्वं स्वयमित्यनुभूयते ॥ ४५ ॥

आदि द्वारा भक्षित क्यों नहीं हुई और पृथ्वी में कीचड़ आदि के क्लेश से विशीर्ण क्यों नहीं हुई ॥ ३९ ॥

अरण्य-स्थित ये वीतहव्य मुनि जब पृथ्वी में ढ़ँक गये थे, उसी समय विदेहमुक्त क्यों नहीं हुए ? इन दो प्रश्नों का यथार्थ उत्तर मुझ से कहें ॥ ४० ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे साधो ! अज्ञानी की संवित् राग आदि मलों से दूषित वासनारूपी ('देह मैं ही हूँ' देह में अहंभाव की वासनारूपी) तन्तु से बँधी हुई रहती है, वही देह के छेदन-भेदन से जनित सुख-दुःख-दशारूपी दाह की आश्रय होती है ॥ ४१ ॥

देहाभिमान-वासना से विमुक्त जीवन्मुक्त महात्मा की देह बाधित होने से अधिष्ठानभूत विशुद्ध संवित्-स्वरूप रहती है, अतः उसके छेदन ये कोई भी हिंसक प्राणी समर्थ नहीं होते ॥ ४२ ॥

हे महाबाहो ! सुनिये किस युक्ति से योगी हजारों बरसों तक भी शरीरच्छेदन आदि विभ्रमों के द्वारा आक्रान्त नहीं होता है॥ ४३ ॥

चित्त जिस पदार्थ में जब गिरता है आसक्त होता है, तब उस उस पदार्थ में आसक्त होकर वह तत्काल ही ही तद्रूप हो जाता है ॥ ४४ ॥

जैसे—जब मन शत्रु को देख लेता है, तब वह शत्रु के द्वेष के प्रतिबिम्ब से युक्त होकर द्वेष आदि विकार को प्राप्त कर लेता है और जब मित्र को देख लेता है, तब वह उसके हृदय के प्रेम के प्रतिबिम्ब से युक्त होकर उत्तम प्रीति प्राप्त कर लेता है, यह विषय सब लोगों को प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत है ॥ ४५ ॥

रागद्वेषविहीने तु पथिके पादपे गिरौ ।
भवत्यरागद्वेषं च स्वयमित्यनुभूयते ॥ ४६ ॥
मृष्टे लौल्यमुपादत्ते दुर्भोज्ये याति निःस्पृहम् ।
वैरस्यं याति कटुनि स्वयमित्यनुभूयते ॥ ४७ ॥
समसंविद्विलासाढ्ये यद्यदा यतिदेहके ।
हिंस्रचेतः पतत्याशु समतामेति तत्तदा ॥ ४८ ॥
समसङ्गविमुक्तत्वाच्छेदादौ न प्रवर्तते ।
पान्थो व्यर्थं पथि ग्रामे यथा ग्रामीणकर्मणि ॥ ४९ ॥
योगिदेहसमीपात्तु गत्वा प्राप्नोति हिंस्रताम् ।
यद्यद्भवति तत्राऽऽशु तथारूपं न संशयः ॥ ५० ॥
इति हिंस्रैर्मृगव्याघ्रसिंहकीटसरीसृपैः ।
न च्छिन्ना वीतहव्यस्य तनुर्भूतलशालिनी ॥ ५१ ॥

राग और द्वेष से शून्य बटोही उदासीन पुरुष का वृक्ष और पर्वत के विषय में तो मन राग और द्वेष से रहित होता है, यह स्वयं अनुभूत है ॥ ४६ ॥

सरस स्वादु पदार्थ के विषय में यह मन लालची बन जाता है, नीरस अस्वादु पदार्थ के विषय में स्पृहारहित हो जाता है और कटु पदार्थ के विषय में विरस हो जाता है, यह स्वयं सब लोग अनुभव करते हैं ॥ ४७ ॥

हिंसक जन्तुओं का मन जब—राग, द्वेष एवं विषमता से रहित संवित् के (चैतन्य के) विलास से नितान्त समन्वित योगी की देह में गिरता है, तब वह तत्काल ही योगी के चैतन्य की समता का प्रतिबिम्ब पड़ने से समता प्राप्त कर लेता है, इसलिए उनके द्वारा हिंसा नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥

हिंसक प्राणी समदर्शी यति के संसर्ग से द्वेष आदि से मुक्त हो जाता है, इसलिए वह किसी की भी हिंसा करने में वैसे ही प्रवृत्त नहीं होता है जैसे बटोही गाँव के समीपस्थ वन में उत्पन्न लता आदि के छेदन में प्रवृत्त नहीं होता है ॥ ४९ ॥

योगी के शरीर के समीप से हिंसक प्राणी जब अन्यत्र चला जाता है, तब वहाँ जाकर द्वेष आदि से भरा जैसा जन्तु समूह मिलता है, वैसा तदनुरूप वह हिंसक भाव को प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

इन्हीं दो कारणों से हिंसक मृग, बाघ, सिंह, कीट और सर्पों ने भूगर्भ में प्रकाशित हो रही महामुनि वीतहव्य की देह को क्षत-विक्षत नहीं किया ॥ ५१ ॥

सर्वत्र विद्यते संवित्काष्ठलोष्टोपलादिके ।
सत्तासामान्यरूपेण संस्थिता मूकबालवत् ॥ ५२ ॥
पोप्लूयमाना तरला केवलं परिदृश्यते ।
तन्वी पुर्यष्टकेष्वेव प्रतिबिम्बजलेष्विव ॥ ५३ ॥
तेन भूजलवाय्वग्निसंवित्त्या समरूपया ।
निर्विकारं तनुर्नीता वीतहव्यस्य राघव ! ॥ ५४ ॥
अन्यच्च शृणु मे राम ! स्पन्दो नाशस्य कारणम् ।
विकारः स च चित्तत्थो वातजो वा जगत्स्थितौ ॥५५॥
प्राणानां प्राणनं स्पन्दस्तच्छान्तौ ते दृषत्समाः ।
यतः स्थिता धारणया तेनाऽनष्टाऽस्य सा तनुः ॥ ५६ ॥
सबाह्याभ्यन्तरे स्पन्दश्चित्तजो वातजोऽथवा ।
न यस्य विद्यते तस्य दूरस्थौ प्रकृतिक्षयौ ॥ ५७ ॥
सबाह्याभ्यन्तरे शान्ते स्पन्दे तत्त्वविदां वर ! ।

काष्ठ, लोष्ट, मिट्टी का ढेला, पत्थर आदि सर्वत्र मूक बालक के समान सामान्यरूप से संवित्-सत्ता अवस्थित रहती है ॥ ५२ ॥

असमाहित चित्त से संयुक्त पुरुषों को वह संवित्-सत्ता केवल पुर्यष्टकों में ही हजारों विषम परिणामों वाली, परिच्छिन्न तथा तैर रहे पदार्थ की तरह वैसे ही चपल दिखाई पड़ती है जैसे जल में सूर्यादि का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है ॥ ५३ ॥

हे राघव ! उस वीतहव्य-सम्बन्धी पुर्यष्टक ने तत्त्वज्ञान और तदनुकूल समाधि से अविषम स्वभाव को प्राप्त पृथ्वी, जल, वायु और तेज की संवित्ति के द्वारा उक्त मुनि-शरीर को समस्त विकारों से शून्य ब्रह्मभाव प्राप्त कराया था, इसलिए वह विकृत नहीं हुआ ॥ ५४ ॥

हे श्रीरामजी ! इस विषय में मुझसे आप दूसरी भी युक्ति सुनें । स्पन्दन ही नाश में कारण है और यह स्पन्द चित्त से जनित अथवा वात से जनित एक प्रकार का विकार है, यह बात लौकिक व्यवहार में प्रसिद्ध है ॥५५॥

प्राणन-वृत्ति ही प्राण-वायुओं का स्पन्द है । वीतहव्य की देह में धारणा द्वारा उक्त प्राणन-वृत्ति के शान्त हो जाने पर वे प्राण पत्थर की तरह दृढ़ होकर स्थित थे, इसलिए मुनि की वह देह नष्ट नहीं हुई ॥ ५६ ॥

जिस महामति के हाथ, पैर तथा प्राण आदि से युक्त शरीर में चित्त जनित अथवा वातजनित स्पन्दन नहीं रहता, उसके शरीर में वृद्धि आदि तथा क्षय आदि विकार उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ ५७ ॥

हे तत्त्वज्ञश्रेष्ठ ! हाथ आदि बाह्य और प्राण आदि

धावतः संस्थितिं देहे न त्यजन्ति कदाचन ॥ ५८ ॥
संशान्ते देहप्रस्पन्दे चित्तवातमये तथा ।
धावतो मेरवं स्थैर्यं यान्ति संस्तम्भितात्मकाः ॥ ५९ ॥
तथा च दृश्यते लोके स्पन्दशान्तौ दृढा स्थितिः ।
दारूणामिव धीराणां शवाङ्गानामचोपता ॥ ६० ॥
इति वर्षसहस्राणि देहा जगति योगिनाम् ।
न क्लिद्यन्ते न भिद्यन्ते मग्नवज्जलदा इव ॥ ६१ ॥
तदैव वीतहव्योऽसौ शृणु किं नोपशान्तवान् ।
देहमुत्सृज्य तत्त्वज्ञो ज्ञातज्ञेयवतां वरः ॥ ६२ ॥
ये हि विज्ञातविज्ञेया वीतरागा महाधियः ।
विच्छिन्नग्रन्थयः सर्वे ते स्वतन्त्रास्तनौ स्थिताः ॥ ६३ ॥
दैवं वाऽपि च कर्माणि प्राक्तनान्यैहिकानि च ।
वासना वा न तेषां तच्चेतो नियमयन्त्यलम् ॥ ६४ ॥

आन्तर अवयवों से समन्वित शरीर में स्पन्दन-वृत्ति के शान्त हो जाने पर त्वचा आदि धातुएँ अपनी पूर्वावस्था कभी-भी परित्याग नहीं करतीं ॥ ५८ ॥

चित्तजनित और वातजनित देह-स्पन्द के शान्त हो जाने पर त्वचा आदि धातुएँ अपने चंचल स्वरूप से भली भाँति स्तम्भित होकर मेरु पर्वत के समान दृढ़ स्थिरता धारण करती हैं ॥ ५९ ॥

इसीलिए प्राणस्पन्द के शान्त हो जाने पर काष्ठ के समान योगियों के शरीरों में दृढ़ स्थिति और शव में कम्पन-शून्यता लोक में देखी जाती है ॥ ६० ॥

इस प्रकार हजारों बरसों तक योगियों के शरीर इस लोक में मेघों की तरह न तो गीले होते हैं और न भूगर्भस्थित शिला की तरह विशीर्ण होते हैं ॥ ६१ ॥

अब यह सुनिये जिस उपायों से ब्रह्म ज्ञात होता है, उन उपायों से समन्वित बड़े-बड़े महात्माओं में सर्वश्रेष्ठ यह महामुनि वीतहव्य उसी समय अपनी देह का उत्सर्जन कर मुक्त क्यों नहीं हो गये ॥ ६२ ॥

विषयाभिलाषाओं से वर्जित, अज्ञान ग्रन्थि से निर्मुक्त तथा विदितवेद्य महामति महात्मा सब अपनी देह के विषय में स्वतन्त्र होकर स्थित रहते हैं देह को रखना या छोड़ना उनको इच्छा की बात है ॥ ६३ ॥

पूर्व के अनुष्ठित कर्मों का फल देनेवाला दैवकर्मों की प्रधानतावाद में प्रतिपादित प्राक्तन या वर्तमान कर्म और वासना उन योगियों के चित्त को, जो अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का उपभोग करने के लिए प्रवृत्त है, अन्यथारूप से प्रवृत्त करने में समर्थ नहीं हैं ॥ ६४ ॥

तेन तत्त्वविदां तात ! काकतालीयवन्मनः ।
यद्यद् भावयति क्षिप्रं तत्तदाशु करोत्यलम् ॥ ६५ ॥
काकतालीययोगेन वीतहव्यस्य संविदा ।
साम्प्रतं जीवितं बुद्धं तदेवाऽऽशु स्थिरीकृतम् ॥ ६६ ॥
यदा तु यस्य प्रतिभा विदेहोन्मुक्ततां गता ।
तदा विदेहमुक्तोऽभूदसौ स्वातन्त्र्यसंस्थितिः ॥ ६७ ॥
विगतवासनमाशु विपाशता-
मुपगतं मन आत्मतयोदितम् ।
यदभिवाञ्छति तद् भवति क्षणात्
सकलशक्तिमयो हि परमेश्वरः ॥ ६८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सद्विलासविचारयोगोपदेशो नामैकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

हे तात ! तत्त्वज्ञों का अन्तःकरण काकतालीय की तरह अकस्मात् जिस क्षण में जिस किसी की प्रारब्ध प्राप्त जीवन या मरण की भावना करता है, उसी क्षण में उसको ठीक रूप से कर लेता है ॥ ६५ ॥

काकतालीय न्याय से वीतहव्य की संवित् ने उस समय जीने की भावना की और उसी को तत्काल स्थिर कर डाला ॥ ६६ ॥

प्रारब्ध समाप्ति होने पर वीतहव्य की प्रतिभा विदेह-मुक्तता की ओर गई उसने विदेहमुक्ति की भावना की, वह विदेहमुक्त हो गये, क्योंकि यह मुनि अपने जीवन आदि में स्वतन्त्र थे ॥ ६७ ॥

समस्त वासनाओं से विनिर्मुक्त तथा अज्ञानरूपी बन्धन से रहित होने के कारण तत्काल ही अन्तःकरणोपाधिक वीतहव्य का जीव पारमार्थिक आत्मस्वभाव से उदित हुआ; क्योंकि वह सभी शक्तियों के विधि महेश्वर ही थे, अतः जो चाहते थे, उसी समय वह हो जाते थे। संस्कृत व्याख्या में उद्धृत हैं—

'तुषेण बद्धो व्रीहीः स्यात् तुषाभावे तु तण्डुलः ।
पाशबद्धः सदा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥'

जैसे छिलकों से युक्त चावल धान कहा जाता है और छिलको के अभाव में यानी शुद्ध तण्डुल कहा जाता है वैसे ही अज्ञानरूपी पाश से युक्त चेतन सदा जीव कहा जाता है और अज्ञानपाश से वर्जित चेतन शुद्ध सदाशिव कहा जाता है ॥ ६८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में सद्विलासविचारोपयोग नामक कुसुमलता का नवासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८९ ॥

९०

वसिष्ठ उवाच

यदा ह्यस्तङ्गतप्रायं जातं चित्तं विचारतः ।
तदा हि वीतहव्यस्य जाता मैत्र्यादयो गुणाः ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

विचाराभ्युदयाच्चित्तस्वरूपेऽन्तर्हिते मुनेः ।
मैत्र्यादयो गुणा जाता इत्युक्तं किं त्वया प्रभो ! ॥ २ ॥

ब्रह्मण्यस्तङ्गते चित्ते कस्य मैत्र्यादयो गुणाः ।
क्व वा परिस्फुरन्तीति वद मे वदतां वर ! ॥ ३ ॥

९०

वसिष्ठ जी ने कहा—वीतहव्य का चित्त जब विचार से, भुँजे बीज की तरह अङ्कुरशक्ति से रहित हो गया था और प्रतिभास से रहित नहीं हुआ था, तब उसमें मैत्री आदि गुणों का आविर्भाव हो गया ॥ १ ॥

श्रीराम जी ने कहा—हे प्रभो ! आत्मा और अनात्मा के विचार की अभ्युन्नति से महामुनि वीतहव्य के बाधित हुए अन्तःकरण-स्वरूप में मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए, आपके इस कथन का क्या अभिप्राय है ? ॥ २ ॥

हे वाग्मियों में श्रेष्ठ ! चित्त का ब्रह्म में बाध हो जाने पर किसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न होंगे और कहाँ वे प्रस्फुरित होंगे, यह आप मुझसे कहें । क्या जिसका बाध हुआ है, उसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए ? या क्या जिस अधिष्ठान में बाध हुआ, उसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए एवं उक्त गुण क्या चिदाभास में प्रस्फुरित होते हैं अथवा बिम्बभूत चैतन्य में ? इनमें से किसी भी पक्ष की उपपत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि बाधित मृगतृष्णानदी में या उसके अधिष्ठान मरुभूमि में शैत्य आदि गुण उत्पन्न होते नहीं देख जाते । इसी प्रकार वहाँ उनका भासक कोई पदार्थ भी उपलब्ध नहीं होता है ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च ।
जीवन्मुक्तः सरूपः स्यादरूपोऽदेहमुक्तिजः ॥ ४ ॥
चित्तसत्तेह दुःखाय चित्तनाशः सुखाय तु ।
चित्तसत्तां क्षयं नीत्वा चित्तं नाशमुपानयेत् ॥ ५ ॥
तामसैर्वासनाजालैर्व्याप्तं यज्जन्मकारणम् ।
विद्यमानं मनो विद्धि तद् दुःखायैव केवलम् ॥ ६ ॥
प्राक्तनं गुणसम्भारं ममेति बहु मन्यते ।
यत्तु चित्तमतत्त्वज्ञं दुःखितं जीव उच्यते ॥ ७ ॥
विद्यमानं मनो यावत्तावद् दुःखक्षयः कुतः ।
मनस्यस्तङ्गते जन्तोः संसारोऽस्तमुपागतः ॥ ८ ॥
दुःखमूलमवष्टब्धमस्मिन्नेव विनिश्चलम् ।
विद्यमानं मनो विद्धि दुःखवृक्षवनाङ्कुरम् ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

नष्टं कस्य मनो ब्रह्मन्नष्टं वा कीदृशं भवेत् ।
कीदृशश्चाऽस्य नाशः स्यात्सत्ता नाशस्य कीदृशी ॥१०॥

वसिष्ठ उवाच

चेतसः कथिता सत्ता मया रघुकुलोद्वह ! ।
अस्य नाशमिदानीं त्वं शृणु प्रश्नविदांवर ! ॥ ११ ॥
सुखदुःखदशा धीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम् ।
निःश्वासा इव शैलेन्द्रं चित्तं तस्य मृतं विदुः ॥ १२ ॥
अयं सोऽहमयं नाऽहमिति चिन्ता नरोत्तमम् ।
खर्वीकरोति यं नाऽन्तर्नष्टं तस्य मनो विदुः ॥ १३ ॥
आपत्कार्पण्यमुत्साहो मदो मान्द्यं महोत्सवः ।
यं नयन्ति न वैरूप्यं तस्य नष्टं विदुर्मनः ॥ १४ ॥

वसिष्ठ ने कहा—चित्त का विनाश दो प्रकार का होता है—एक सरूप विनाश और दूसरा अरूप विनाश, पहला सरूप विनाश तो जीवन्मुक्ति होने से हो जाता है और दूसरा अरूप विनाश विदेहमुक्ति से हो जाता है स्फटिक आदि स्वच्छ पदार्थों में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब में जिस प्रकार पुरुषान्तरत्वभ्रम का आभास होता है, उस प्रकार चित्त में पड़े हुए चित्प्रतिबिम्ब में चिदन्तरत्व आभास होता है, उस भासमानरूप से युक्त एक चित्त विनाश होता है और दूसरा तादृश रूप से शून्य चित्त विनाश होता है ॥ ४ ॥

इस संसार में चित्त का अस्तित्व अर्थात् चित्तदर्शन-पूर्वक आत्मा का अदर्शन दुःख का कारण है और चित्त का विनाश अर्थात् चित्तादर्शनपूर्वक आत्मदर्शन सुख का कारण है। अतः पहले चित्त की अस्तिता का विनाश कर अनन्तर चित्त का विनाश कर देना चाहिए ॥ ५ ॥

बाध न होने पर उस अज्ञान से उत्पन्न हुई वासनाओं से व्याप्त जन्म का कारण मन है, वही विद्यमान मन है, यह आप जानें। वह विद्यमान मन केवल दुःख का ही कारण है ॥ ६ ॥

प्राक्तन अनादि अध्यास से सिद्ध देह, इन्द्रिय, विषय आदि के धर्मों से आत्मा के संसर्गाध्यास से ममता होती है और उससे 'वे मेरे हैं, जीव दृढ़ अभिमान कर लेता है। इसी एकमात्र अभिमान से आत्मतत्त्व को न पहचानने वाला दुःखग्रस्त अज्ञानी चित्त ही जीव कहा जाता है ॥ ७ ॥

मन का अस्तित्व रहने तक दुःख का विनाश कैसे ? जब मन अस्त हो जाता है, तब प्राणी का संसार भी अस्त हो जाता है ॥ ८ ॥

इस अज्ञानी जीव में ही वासनारूपी अङ्कुरों के समूहों से दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित विद्यमान मन ही दुःखरूपी वृक्ष का मूल है, यह आप समझें। दुःखरूपी वृक्षों के जङ्गल के अङ्कुर उसी मन से उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! किस का मन विनष्ट हुआ था ? विनष्ट मन का स्वरूप किस प्रकार का होगा ? चित्त का नाश कैसा है ? और नाश को प्राप्त मन की व्यवहारक्षमता का लक्षण क्या है ? ॥ १० ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे प्रश्नवेत्ताओं में श्रेष्ठ रघुकुल-वाहक ! मैंने 'तामसैर्वासनाजालैः' इत्यादि पूर्व वाक्य से चित्त की सत्ता का स्वरूप कहा है। अब आप इसके विनाश का स्वरूप सुनें ॥ ११ ॥

बाह्य और आभ्यान्तर सुख-दुःख-दशाएँ जिस धीर पुरुष को सम-स्वभाव तथा पूर्णानन्दैकरस स्वात्मनिष्ठा से वैसे ही विचलित नहीं करती जैसे निःश्वासवायु पर्वतराज को अपने स्वरूप से विचलित नहीं करती। उस महात्मा के चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥ १२ ॥

'यह शरीर ही मैं हूँ, 'यह उससे अतिरिक्त घट आदि मैं नहीं हूँ', इस प्रकार की तुच्छ भावना जिस पुरुषश्रेष्ठ को भीतर से संकुचित नहीं करती, उस पुरुष के चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥ १३ ॥

आपत्ति, कार्पण्य, दरिद्रता, उत्साह पुत्रादि प्राप्ति-प्रयुक्त हर्ष, मन्दता और महोत्सव जिस पुरुष को विरूपता की अर्थात् विकार की ओर नहीं ले जाते, विद्वान् उसके चित्त को नष्ट चित्त कहते हैं ॥ १४ ॥

एष साधो ! मनोनाशो नष्टं चेह मनो भवेत् ।
चित्तनाशदशा चैषा जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥ १५ ॥
मनस्तां मूढतां विद्धि यदा नश्यति साऽनघ ! ।
चित्तनाशाभिधानं हि तदा सत्त्वमुदेत्यलम् ॥ १६ ॥
तस्य सत्त्वविलासस्य चित्तनाशस्य राघव ! ।
जीवन्मुक्तस्वभावस्य कैश्चिच्चित्ताभिधा कृता ॥ १७ ॥
मैत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं भवत्युत्तमवासनम् ।
भूयो जन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तमनोऽनघ ! ॥ १८ ॥
व्याप्तं वासनया यत्स्याद् भूयोजननमुक्तया ।
जीवन्मुक्तमनःसत्ता राम ! तत्सत्त्वमुच्यते ॥ १९ ॥
सम्प्रत्येवाऽनुभूतत्वात् सत्त्वाप्त्या तन्वसंयुतः ।
सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥ २० ॥
मैत्र्यादयोऽथ मुदिताः शशाङ्क इव दीप्तयः ।

हे साधो ! इस लोक में यही चित्त का विनाश है और इसी को नष्ट चित्त भी कहते हैं। जीवन्मुक्त यही चित्तनाश-दशा है ॥ १५ ॥

हे निष्पाप ! परमार्थरूपता की भ्रान्ति से घटादि दृश्य पदार्थों का मनन करना ही मूढता है और जब उसका विनाश हो जाता है, तब चित्तविनाशनामक शुद्धसत्स्वभावता का भली-भाँति उदय हो जाता है ॥ १६ ॥

हे राघव ! उस विशुद्ध सत्स्वभावत्व रूप जीवन्मुक्त-स्वभावात्मक चित्तविनाश का, तादृश-व्यवहार रूपी आभास की दृष्टि रखने वाले कतिपय लोगों ने चित्तनाम रक्खा है ॥ १७ ॥

हे निष्पाप ! जीवन्मुक्त मन मैत्री आदि शुभ गुणों से सम्पन्न, उत्तम वासनाओं से युक्त तथा पुनर्जन्म से शून्य होता है ॥ १८ ॥

हे श्रीरामजी ! ब्रह्माकार वासना से ओतप्रोत, पुनर्जनन से निर्मुक्त जीवन्मुक्त मन की सत्ता है वही सत्त्वनाम से व्यवहृत होता है ॥ १९ ॥

व्युत्थानकाल में ही प्रतिभासतः अनुभूत होने से साकार स्वरूप को प्राप्त तथा सन्मात्रस्वभाव की प्राप्ति होने के कारण देह आदि-परिच्छेद के संस्पर्श से शून्य ही जीवन्मुक्त का स्वरूप है, इस मननीय विषय के न रहने से उसका सरूप मनोनाश है। इससे 'सत्ता नाशस्य कीदृशी' इस प्रश्नांश का समाधान हुआ ॥ २० ॥

अनन्तर जीवन्मुक्त मनोविनाश में प्रसन्न मैत्री आदि

जीवन्मुक्तमनोनाशे सर्वदा सर्वथा स्थिताः ॥ २१ ॥
जीवन्मुक्तमनोनाशे सत्त्वनाम्नि हिमालये ।
वसन्त इव मञ्जर्यः स्फुरन्ति गुणसम्पदः ॥ २२ ॥
अरूपस्तु मनोनाशो यो मयोक्तो रघूद्वह ! ।
विदेहमुक्त एवाऽसौ विद्यते निष्कलात्मकः ॥ २३ ॥
समग्राग्र्यगुणाधारमपि सत्त्वं प्रलीयते ।
विदेहमुक्ते विमले पदे परमपावने ॥ २४ ॥
विदेहमुक्तविषये तस्मिन्सत्त्वक्षयात्मके ।
चित्तनाशे विरूपाख्ये न किञ्चिदपि विद्यते ॥ २५ ॥
न गुणा नाऽगुणास्तत्र न श्रीर्नाऽश्रीर्न लोलता ।
न चोदयो नाऽस्तमयो न हर्षामर्षसंविदः ॥ २६ ॥
न तेजो न तमः किञ्चिन्न सन्ध्या दिनरात्रयः ।
न दिशो न च वाऽऽकाशो नाऽधो नाऽनर्थरूपता ॥ २७ ॥

गुण वैसे ही सदा सब तरह से रहते हैं जैसे चन्द्रमा में प्रसन्न ज्योत्स्नाएँ रहती हैं ॥ २१ ॥

संतोषरूपी शीतलता के आश्रय, सत्त्व नामक जीवन्मुक्त स्वरूप मनोनाश-दशा में गुणरूपी सम्पत्तियाँ वैसे ही प्रस्फुरित होती हैं, जैसे हिमालय में बसन्तऋतु में मञ्जरियाँ प्रस्फुरित होती हैं ॥ २२ ॥

हे रघूद्वह ! मैंने जो पहले अरूप मनोनाश कहा है वह विदेहमुक्त का ही विषय है तथा अवयवादि विकारों से शून्य है ॥ २३ ॥

परम पवित्र विदेहमुक्तिरूपी निर्मल पद में समस्त श्रेष्ठ गुणों का आश्रय प्रातिभासिक मन भी विलीन हो जाता है ॥ २४ ॥

विदेहमुक्त अवस्था में सत्त्वविनाशरूप अरूप चित्त-नाशदशा में किसी भी दृश्य पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता है ॥ २५ ॥

अरूपचित्तविनाशदशा में मैत्री आदि गुण हैं, न गुणा-भाव मनोदोष हैं, न गुणसमृद्धि है, न श्री का अभाव दोष समृद्धि है, न चपलता है, न उदय है, न अस्त है, न हर्ष है, न अमर्ष है और न पृथक् तदीय परिज्ञान है यह भूमा अवस्था है 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यद्विजानाति नान्य-च्छृणोति नान्यद्विजानाति समूल की दशा है ॥ २६ ॥

न तेज मायिक सत्त्ववृत्ति है, न कुछ तम मायिक तमोवृत्ति है, न सन्ध्या है, न दिन या रात है, न दिशाएँ हैं, न आकाश है, न नीचा प्रदेश है और न अनर्थरूपता है ॥ २७ ॥

न वासना न रचना नेहानीहे न रञ्जना ।
न सत्ता नाऽपि वाऽसत्ता न च साध्यं हि तत्पदम् ॥ २८॥
अतमस्तेजसा व्योम्ना वितारेन्द्वर्कवायुना ।
तत्समं शरदच्छेन निःसन्ध्येनाऽरजस्त्विषा ॥ २९ ॥
ये हि पारं गता बुद्धेः संसाराचरणस्य च ।
तेषां तदास्पदं स्फारं पवनानामिवाऽम्बरम् ॥ ३० ॥
संशान्तदुःखमजडात्मकमेव सुप्त-
मानन्दमन्थरमपेतरजस्तमो यत् ।
आकाशकोशतनवोऽतनवो महान्त-
स्तस्मिन्पदे गलितचित्तलवा वसन्ति ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
चित्तोपदेशविचारयोगोपदेशो नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

न कोई वासना है, न किसी प्रकार की रचना है, न इच्छा है, न अनिच्छा है, न राग है, न भाव है, न अभाव है और न यह पद साध्य है ॥ २८ ॥

तम और तेज से शून्य; तारे, चन्द्र, सूर्य और वायु से वर्जित; सन्ध्या, रजःकण और सूर्य-कान्ति से रहित शरत्कालीन स्वच्छ आकाश के सदृश यह परम पद अत्यन्त निर्मल है ॥ २९ ॥

जो लोग संसार के कारण चित्त और तज्जनित निरन्तर भ्रमण से परे हो गये हैं उन लोगों के लिए वह विशाल पद उन लोगों का वैसे ही प्रतिष्ठास्थान है जैसे वायु का विशाल आकाश प्रतिष्ठास्थान है ॥ ३० ॥

त्रिविध दुःख से निर्मुक्त, स्वयं चैतन्यरूप सुप्त पुरुष की तरह उन्मेष आदि क्रियाओं से शून्य, ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण तथा रज और तम से रहित उस पद में वे अपुनरावृत्ति से स्थिरतापूर्वक रहते हैं, वहाँ पर वे प्रातिभासिक चित्तांश से भी शून्य, विदेहमुक्त (स्थल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से रहित) एवं आकाशकोश के सदृश सूक्ष्म (इन्द्रिय से अगम्य) हो गये हैं ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
चित्तोपदेशविचारयोगोपदेश नामक कुसुमलता का नब्बेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९० ॥

९१

श्रीराम उवाच

परमाकोशाद्रिरूढलोकान्तरद्रुमम् ।
तारकापुष्पशबलं देवासुरविहङ्गमम् ॥ १ ॥
विद्युन्मञ्जरितोपान्तनीलनीरदपल्लवम् ।
सर्वर्तुरम्यचन्द्रार्कगणरम्यकदन्तुरम् ॥ २ ॥
सप्ताब्धिवापीवलितं सरिच्छतमनोहरम् ।
चतुर्दशविधानन्तभूतजातोपजीवितम् ॥ ३ ॥
जगत्काननमाक्रम्य स्थितायाः कृतजालकम् ।
ब्रह्मन् ! संसृतिमृद्वीकालताया विततकृतेः ॥ ४ ॥
जरामरणपर्वायाः सुखदुःखफलावलेः ।
मायाप्ररूढमूलाया मोहसेकजलाञ्जलेः ॥ ५ ॥

श्रीरामजी ने कहा—यह जगत् एक विशाल वन है, वहाँ पर निर्विशेष परब्रह्म का साक्षात्कार करने में पर्वत की तरह प्रतिबन्धक होने से पर्वततुल्य आव्याकृत में उत्पन्न चित्रविचित्र पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्ड ही वृक्ष हैं, उन वृक्षों पर तारागण ही फूल हैं, देवता और असुर पक्षी हैं । विद्युत्-रूपी मञ्जरियों से समन्वित दिशारूपी शाखाओं के अग्रभागों में नील आदि वर्णवाले मेघ ही पल्लव हैं । सभी ऋतुओं में सुन्दर चन्द्रमा और सूर्यरूपी विकास-रमणीय पुष्पों से उन्नत दाँत से युक्त होकर हँसता हुआ स्थित है, सात समुद्ररूपी बावडियों से परिवेष्टित है, सैकड़ों नदियों से मनोहर है, लोकभेद से चौदह प्रकार के और व्यक्तिशः भूतगणों से उपजीवित है यही उनके जीवन का साधन है ॥ १—३ ॥

हे ब्रह्मन् ! इस जगत्-रूपी महारण्य का आक्रमण कर अर्थात् आसना-प्रतानों से चारों ओर संवेष्टन कर जाल-रचनापूर्वक स्थित विस्मृत आकार, जीवसृष्टिरूपी द्राक्षा-लता का जरा और मरण रूपी पर्व—काण्ड-ग्रन्थियाँ हैं, जिसपर सुख-दुःखरूपी फलों की पंक्तियाँ हैं, माया ही दृढमूल है, मोह ही सिंचन-साधन जलों की अञ्जलियाँ हैं ॥ ४–५ ॥

किं बीजमथ बीजस्य तस्य किं बीजमुच्यते ।
अथ तस्याऽपि किं बीजं बीजं तस्याऽपि किं भवेत् ॥६॥
सर्वमेतत् समासेन पुनर्बोधविवृद्धये ।
सिद्धये ज्ञानसारस्य वद मे वदतां वर ! ॥ ७ ॥

वसिष्ठ उवाच

अन्तर्लीनघनारम्भशुभाशुभमहाङ्कुरम् ।
संसृतिव्रततेर्बीजं शरीरं विद्धि राघव ! ॥ ८ ॥
शाखाप्रतानगहना फलपल्लवशालिनी ।
तेनेयं भवति स्फीता शरदीव वसुन्धरा ॥ ९ ॥
भावाभावदशाकोशं दुःखरत्नसमुद्गकम् ।
बीजमस्य शरीरस्य चित्तमाशावशानुगम् ॥ १० ॥
चित्तादिदमुदेत्युच्चैः सदसच्चाऽङ्गजालकम् ।
तथा चैतत्स्वयं स्वप्नसम्भ्रमेष्वनुभूयते ॥ ११ ॥
यथा गन्धर्वसङ्कल्पात् पुरमेवं हि चेतसः ।
सवातायनमाकारभासुरं जायते वपुः ॥ १२ ॥
यदिदं किञ्चिदाभोगि जागतं दृश्यतां गतम् ।
रूपं तच्चेतसः स्फारं घटादित्वं मृदो यथा ॥ १३ ॥
द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः ।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढभावना ॥ १४ ॥
यदा प्रस्पन्दते प्राणो नाडीसंस्पर्शनोद्यतः ।
तदा संवेदनमयं चित्तमाशु प्रजायते ॥ १५ ॥
यदा न स्पन्दते प्राणः शिरासरणिकोटरे ।
असंविलिवशास्तेन चित्तमन्तर्न जायते ॥ १६ ॥
प्राणस्पन्दनमेवेदं चित्तद्वारेण दृश्यते ।
जगन्नामाऽऽगतं व्योम्नि नीलत्वादिवदीदृशम् ॥ १७ ॥
प्राणस्पन्दनसुप्ता च तच्छान्तिः शान्तिरुच्यते ।
प्राणसंस्पन्दनात्संविद्याति वीटेव चोदिता ॥ १८ ॥
संवित्स्फुरति देहेषु प्राणस्पन्दप्रबोधिता ।
चक्रावर्तैरङ्गणेषु वीटेव करताडिता ॥ १९ ॥

बीज क्या है ? उस बीज का भी बीज क्या है, उस बीज के बीज का बीज क्या है और तृतीय बीज का भी बीज क्या है ? ॥ ६ ॥

हे वक्तओं में श्रेष्ठ ! इन चार प्रश्नों का मुझ को उत्तर संक्षेप से दीजिए, जिससे मुझ में ज्ञान की अभिवृद्धि और ज्ञानरूप तत्त्वांश की सिद्धि हो ॥ ७ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! लिङ्गदेह में छिपे हुए चित्रविचित्र अनन्त कार्यों के उत्पादक शुभाशुभ कर्म रूपी बड़े-बड़े अङ्कुर वाला शरीर ही जीव-सृष्टिरूपी लता का बीज है, वह आप जानें ॥ ८ ॥

यह जीव-संसृतिलता उस शरीर से वैसे ही अत्यन्त बढ़ जाती है जैसे शरत्-काल में शाखाओं के प्रतानों से गहन तथा फल और पल्लवों से शोभित होकर पृथ्वी सस्य-सम्पत्ति से बढ़ जाती है ॥ ९ ॥

वैभव की वृद्धि और क्षति—इन दो दशाओं के निधिभूति तथा अनेक दुःखरूपी रत्नों की पिटारीस्वरूप आशाओं का वश में रहने वाला एक तरह से अनुचरभूत चित्त शरीर का बीज है ॥ १० ॥

एकमात्र तत्रोक्त सर्वोपरि चित्त से ही यह वर्तमान, त और भविष्यत् के शरीरसमूह उत्पन्न हुए हैं। यह प्न के भ्रमों में सब को स्वयं अनुभूत होती है ॥ ११ ॥

तत्-तत् शरीरसङ्कल्प से युक्त चित्त से ही तत्-तत् ोर उत्पन्न होते हैं जैसे मुमूर्षु आसन्नमरण पुरुष के नातदर्शनसङ्कल्प से युक्त चित से ही झरोखे आदि से समन्वित तथा सुन्दर आकार वाला गन्धर्व-नगर उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण उपचारों से परिपूर्ण यह मिथ्या जगत् दृश्यात्मक स्वरूप चित्त से वैसे ही उत्पन्न होता है, जैसे मृत्तिका से घट आदि स्वरूप उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

एक प्राणपरिस्पन्द और दूसरा दृढ़ वासना अनेक तरह की वृत्तियाँ धारण करने वाले चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं ॥ १४ ॥

हृदय की मनोवहार्थी नाडियों में संचरण के लिए उद्यत प्राणवायु जब अपना व्यापार करने लगता है, तब चेतनविकार-प्राय चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है ॥१५॥

जब बाह्य पदार्थों के अनुभव से जनित संस्कारों का उद्बोध न होने के कारण बहत्तर हजार नाडीमार्गों के छिद्रों में प्राण अपना व्यापार छोड़ देता है, तब उससे चित्त अन्दर उत्पन्न नहीं होता ॥ १६ ॥

यह प्राण-प्रस्पन्दन-स्वरूप ही इस प्रकार का जगत्-नामधारी पदार्थ चित्त के द्वारा वैसे ही लक्षित होता है, जैसे आकाश में नीलत्व आदि लक्षित होते हैं ॥ १७ ॥

प्राणस्पन्दन के विषय में उपरत उस चिति की निष्क्रियता ही शान्ति जगत् प्रलय या मोक्ष है, प्राण के स्पन्दन से संवित्, करतल से विताडित गेंद की तरह ऊपर नीचे होती रहती है ॥ १८ ॥

जैसे करतल से विताडित गेंद आँगनों में चक्राकार आवर्तों से प्रस्फुरित होता है वैसे ही प्राण-स्पन्दन से बोध

सती सर्वगता संवित्प्राणस्पन्देन बोध्यते ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतराकारा गन्धलेखेव वायुना ॥ २० ॥
संवित्संरोधने श्रेयः परमं विद्धि राघव ! ।
कारणाक्रमणं यत्र क्षोभस्तत्र न विद्यते ॥ २१ ॥
संवित्समुदितैवाऽऽशु याति संवेद्यमादरात् ।
संवेदनादनन्तानि ततो दुःखानि चेतसः ॥ २२ ॥
संसुप्रान्तरबोधाय संवित् संतिष्ठते यदा ।
लब्धं भवति लब्धव्यं तदा तदमलं पदम् ॥ २३ ॥
तस्मात् प्राणपरिस्पन्दैर्वासनाचोदनैस्तथा ।
नो चेत्संविदमुच्छूनां करोषि तदजो भवान् ॥ २४ ॥
संविदुच्छूनतां चित्तं विद्धि तेनेदमाततम् ।
अनर्थजालमालूनविशीर्णजनजीवकम् ॥ २५ ॥

को प्राप्त संवित् देहों में चक्राकार आवर्तों से प्रस्फुरित होता है ॥ १९ ॥

सूक्ष्म से सूक्ष्मतर आकारवाली सत्स्वरूपिणी सर्वगता संवित् प्राणप्रस्पन्दन से वैसे ही बोधित होती है जैसे सूक्ष्म से सूक्ष्म-स्वरूपवाली गन्धलेखा वायु से बोधित होती है ॥ २० ॥

हे राघव ! संवित् की विक्षिप्तता न होनेपर मोक्षरूप परमश्रेष्ठ कल्याण प्राप्त होता है, यह आप जानें। क्षोभ-हेतु प्राणस्पन्दन का प्राणायाम के अभ्यास से विनाश हो जाने पर क्षोभ होता ही नहीं है ॥ २१ ॥

भली प्रकार उदित हुई संवित् के तत्काल बाह्य विषयों की ओर रागवश चले जाने पर उनके उपभोग के संबेदन से चित्त को अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

संवित् के बाह्य विषयों में संसुप्त उदासीन होकर आत्मबोध के लिए उद्यत होनेपर प्राप्त करने योग्य वह निर्मल मोक्षरूप पद प्राप्त हो जाता है ॥ २३ ॥

इसलिए जैसे मूढ़ पुरुष प्राण-परिस्पन्दों से तथा रागातिशय के द्वारा वासनाओं के उत्पादनों से संवित् को विस्तृत यानी विस्तृततत्वप्रयुक्त मनस्त्व की संपत्ति से युक्त करते हैं, आप संवित् को विस्तृत कर जन्म आदि समस्त विकारों से शून्य होकर संवित् मुक्त ही हो जायँगे ॥२४॥

संवित् की उच्छूनता को = विस्तार का आप चित्त जाने संबित् के उच्छूनतारूपी उसी चित्त ने इस मनुष्य जीवों को खण्डित और जर्जरशील अनर्थजाल का विस्तार किया है ॥ २५ ॥

योगी लोग चित्त की शान्ति के लिए योगशास्त्र में

योगिनश्चित्तशान्त्यर्थं कुर्वन्ति प्राणरोधनम् ।
प्राणायामैस्तथा ध्यानैः प्रयोगैर्युक्तिकल्पितैः ॥ २६ ॥
चित्तोपशान्तिफलदं परमं साम्यकारणम् ।
सुभगं संविदः स्वास्थ्यं प्राणसंरोधनं विदुः ॥ २७ ॥
ज्ञानवद्भिः प्रकटितामनुभूतां च राघव ! ।
चित्तस्योत्पत्तिमपरां वासनाजीवितां शृणु ॥ २८ ॥
दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥ २९ ॥
भावितस्तीव्रसंवेगादात्मना यत्तदेव सः ।
भवत्याशु महाबाहो ! विगतेतरसंस्मृतिः ॥ ३० ॥
तादृग्रूपः स पुरुषो वासनाविवशीकृतः ।
यत्पश्यति तदेतत्तत्सद्वस्त्विति विमुह्यति ॥ ३१ ॥

बताये गये प्राणायाम, ध्यान तथा सद्गुरु के सम्प्रदाय आदि से सिद्ध युक्ति-कल्पित शान्तिकारक उपायों के अभ्यास से प्राण का निरोध करते हैं ॥ २६ ॥

प्राण-निरोध को ही चित्-शान्तिरूप फल का दाता, उत्तम समता का हेतु, छः प्रकार के ऐश्वर्यों से उपेत तथा संवित् की स्वस्थता कहते हैं ॥ २७ ॥

हे राघव ! ज्ञानियों के द्वारा भली प्रकार उपदिष्ट तथा स्वयं अनुभूत वासनाओं से जीवन पर्यन्त उज्जीवित इस चित्त की दूसरे प्रकार से उत्पत्ति सुनें ॥ २८ ॥

पहले जन्मों की दृढ़ भावना से देह आदि जड़ पदार्थों का 'अहम्' 'मम' इत्यादि संस्करण रूप से आदान (ग्रहण) होता है, किन्तु यदि यह पूर्वापर विचार से शून्य हो जाता है तो वह वासना शब्द से व्यवहृत होता है। ('वासयति भावयति इति वासना' इस व्युत्पत्ति से आत्मा को देह आदि भावों में भावित करने वाला संस्कार वासना कहा जाता है। पूर्वापर के विचारों से युक्त जीवन्मुक्त महात्माओं का देह आदि संस्कार वासना नहीं है, क्योंकि विरोधी पूर्वापर विचारों से समन्वित होने के कारण उनको यह संस्कार देहादि भावों में भावित नहीं कर सकता) ॥ २९ ॥

हे महाबाहो ! तीव्र संवेग से जिस पदार्थ की भावना आत्मा के द्वारा आत्मा के द्वारा की जाती है, तत्काल ही वह आत्मा अन्य संस्मरणों को छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है ॥ ३० ॥

वासना के द्वारा अत्यन्त वशीकृत उस भावना से भावित वह पुरुष जिस को देख लेता है, उस को वह यह सत्-वस्तु है, इस प्रकार मोहित कर लेता है ॥ ३१ ॥

वासनावेगवैवश्यात् स्वरूपं प्रजहाति तत् ।
भ्रान्तं पश्यति दुर्दृष्टिः सर्वं मदवशादिव ॥ ३२ ॥
असम्यग्ज्ञानवानेव भवत्याधिपरिप्लुतः ।
अन्तःस्थया वासनया विषेणेव वशीकृतः ॥ ३३ ॥
असम्यग्दर्शनं यस्मादनात्मन्यात्मभावनम् ।
यदवस्तुनि वस्तुत्वं तच्चित्तं विद्धि राघव ! ॥ ३४ ॥
दृढाभ्यासपदार्थैकवासनादतिचञ्चलम् ।
चित्तं संजायते जन्मजरामरणकारणम् ॥ ३५ ॥
यदा न वास्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥ ३६ ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा ॥ ३७ ॥
यदा किंचिन्न संवित्तौ स्फुरत्यभ्रमिवाऽम्बरे ।
तदा पद्म इवाऽऽकाशे चित्तमन्तर्न जायते ॥ ३८ ॥

वासना के वेग से पुरुष अपने रूप को छोड़ देता है और वासना से दुष्टदृष्टि होकर वासना के द्वारा उपस्थापित समस्त भ्रान्त जगत् के रूप को वैसे ही देखता है जैसे मदिरा के मद से दुष्टदृष्टि पुरुष को सब कुछ भ्रमणशील दीख पड़ता है ॥ ३२ ॥

आत्ममिथ्याज्ञान से युक्त ही पुरुष भीतरी वासनाओं से वशीकृत विष से वशीकृत पुरुष की तरह अनेक मानसी आपत्तियों से विकल रहता है ॥ ३३ ॥

हे श्रीराघव ! आनात्म-वस्तु में आत्मत्वबुद्धिरूप अयथार्थ ज्ञान और अवस्तु में वस्तुत्व-रूप अयथार्थ ज्ञान के उत्पादक को आप चित्त जानें ॥ ३४ ॥

दृढ़ अभ्यास के कारण देह आदि पदार्थों में 'अहम्, मम' आदि आत्माध्यास रूप वासना से ही जन्म, जरा और मरण में हेतुभूत अति चपल चित्त की उत्पत्ति होती है ॥ ३५ ॥

हेयस्वरूप और उपादेयस्वरूप सभी वस्तुएँ जब अस्तित्व प्राप्त नहीं करती और सब का परित्याग कर अवस्थित रहती है, तब चित्त उत्पन्न नहीं होता है ॥ ३६ ॥

जब निरन्तर वासना का अभाव होने से मन मनन नहीं करता, तब निरतिशय मोक्षस्वरूप शान्तिस्वरूप अमनस्ता का उदय होता है ॥ ३७ ॥

आकाश में मेघ की तरह संविदाकाश में कुछ भी स्फुरित नहीं होने पर आकाश में कमल की तरह चिदाकाश में चित्त उत्पन्न नहीं होता है ॥ ३८ ॥

यदा न भाव्यते भावः क्वचिज्जगति वस्तुनि ।
तदा हृदम्बरे शून्ये कथं चित्तं प्रजायते ॥ ३९ ॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ! ।
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥ ४० ॥
न किञ्चित्कल्पनायोग्यं दृश्यं भावयतस्ततः ।
आकाशकोशस्वच्छस्य कुतश्चित्तोदयो भवेत् ॥ ४१ ॥
यदभावनमास्थाय यदभावस्य भावनम् ।
यद्यथावस्तुदर्शित्वं तदचित्तत्वमुच्यते ॥ ४२ ॥
सर्वमन्तः परित्यज्य शीतलाशयवर्ति यत् ।
वृत्तिस्थमपि तच्चित्तमसद्रूपमुदाहृतम् ॥ ४३ ॥
वासनाया रसाध्यानाद्रागो यस्य न विद्यते ।
तस्य चित्तमचित्तत्वं गतं सत्त्वं तदुच्यते ॥ ४४ ॥
घना न वासना यस्य पुनर्जननकारिणी ।
जीवन्मुक्तः स सत्त्वस्थश्चक्रभ्रमवदास्थितः ॥ ४५ ॥

जगद्रूप वस्तु में किसी पदार्थ की भावना नहीं होने पर शून्य हृदयाकाश में चित्त कैसे उत्पन्न हो ? ॥ ३९ ॥

हे श्रीराघव ! बस राग से जगत्-रूपी वस्तु के अन्दर आत्मरूप वस्तुत्व से भावना करना इतना ही चित्त का स्वरूप मैं मानता हूँ ॥ ४० ॥

इस कारण युक्तियों से समर्थन करने योग्य कोई भी दृश्य नहीं है, इस प्रकार की भावना से समन्वित तथा आकाशकोश की तरह अति स्वच्छ आत्मपदार्थ में चित्त का उदय कैसे होगा ? ॥ ४१ ॥

बाह्य वस्तुओं के अस्मरण रूप निरोध योग का अवलम्बन करने से समस्त दृश्यों के परिमार्जन-स्वरूप अभाव का सम्पादक पारमार्थिक आत्मदर्शन से आविर्भूत होने वाला स्वरूप अचित्त कहा जाता है ॥ ४२ ॥

भीतर से सब का परित्याग कर सुशीतल ब्रह्मरूपी आशय में लगा हुआ चित्त कदाचित् वृत्ति से युक्त होने पर भी वह असत् स्वरूप ही है । ॥ ४३ ॥

जिस संस्कार से जनित विषयरसास्वाद के संस्मरण से विषयानुरक्ति उत्पन्न नहीं होती है उस महामति पुरुष का चित्त अचित्तरूपता को तथा विशुद्ध सत्त्व को पट-भस्म की तरह अवशिष्ट अधिष्ठानभूत सत्ता को प्राप्त है, ऐसा कहा जाता है ॥ ४४ ॥

जिस महापुरुष में पुनर्जन्म की उत्पादक वासना नहीं है वह चक्र की भ्रमि के सदृश जगत् के व्यवहार में निरत रह कर भी जीवन्मुक्त और सत्त्वस्थ है । अर्थात् जैसे कुम्भकार के व्यापार के अभाव में भी चक्र का भ्रमण तब-

भ्रष्टबीजोपमा येषां पुनर्जननवर्जिता ।
वासना रसनिर्हीना जीवन्मुक्ता हि ते स्थिताः ॥ ४६ ॥
सत्त्वरूपपरिप्राप्तचित्तास्ते ज्ञानपारगाः ।
अचित्ता इति कथ्यन्ते देहान्ते व्योमरूपिणः ॥ ४७ ॥
द्वे बीजे राम ! चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने ।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥ ४८ ॥
मिथः कारणमेते हि बीजे जन्मनि चेतसः ।
जलाङ्गीकरणे राम ! जलाशयघटाविव ॥ ४९ ॥
घना न वासनाऽस्य पुनर्जननकारिणी ।
बीजाङ्कुरवदेते हि संस्थिते तिलतैलवत् ।
अविनाभाविनो नित्यं कालाकाङ्क्षिक्रमे तथा ॥ ५० ॥
सर्वमुत्पादयत्येतच्चित्तकः संविदात्मकः ।
यथा प्राणेन्द्रियानन्दमानन्दपवनावुभौ ॥ ५१ ॥

तक होता रहता है, जबतक कि उसमें संस्कार रहता है, वैसे ही अविद्या के क्षीण होने पर भी संस्कार के अवशिष्ट रहने से जीवन्मुक्तशरीर और उसका व्यवहार—दोनों प्रारब्धभोगपर्यन्त विद्यमान रहते हैं ॥ ४५ ॥

जिन की वासना भुँजे बीज के समान पुनर्जन्म से शून्य और रस से वर्जित अर्थात् विषयानुरक्ति से रहित है, वे जीवन्मुक्त होकर स्थित रहते हैं ॥ ४६ ॥

जिनका चित्त सत्त्वरूपता प्राप्त है, ऐसे ज्ञान के पारङ्गत महात्मा 'अचित्त' शब्द से व्यवहृत होते हैं। प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर वे चिदाकाशस्वरूप हो जाते हैं ॥ ४७ ॥

हे श्रीराम जी ! चित्त के कारण हैं—एक प्राणस्पन्दन और दूसरा वासना । उन दो कारणों में से किसी एक का विनाश हो जाने पर शीघ्र ही दोनों भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामजी ! चित्त की उत्पत्ति में ये दोनों परस्पर मिल कर वैसे ही कारण होते हैं, एक कारण नहीं होता है। जैसे घटाकाश के द्वारा जल का स्वीकार करने में घट और जलशय दोनों मिलकर कारण होते हैं ॥४९॥

केवल एकमात्र घनीभूत वासना ही बलपूर्वक पुनर्जन्म उत्पन्न नहीं करती । ये प्राणस्पन्दन और वासना दोनों, तिलों में तेल की तरह, एक दूसरे के भीतर स्थित हैं और बीजाङ्कुर न्याय से काल की अपेक्षा रखने वाले क्रम से युक्त होकर एक दूसरे के कारण हैं ॥ ५० ॥

संवित्-स्वरूप यह चित्त सब को यथाक्रम से पहले प्राण को, अनन्तर इन्द्रियों को और तत्-प्रयुक्त आनन्द को

चित्तस्योत्पादिके सार्धं यदैते वासने तदा ।
आमोदपुष्पवत्तैलतिलवच्च व्यवस्थिते ॥ ५२ ॥
वासनावशतः प्राणस्पन्दस्ते च वासना ।
जायते चित्तबीजस्य तेन बीजाङ्कुरक्रमः ॥ ५३ ॥
वासनोत्प्लवमानत्वात् संवित्प्रक्षोभकर्मणा ।
प्राणस्पन्दं बोधयति तेन चित्तं प्रजायते ॥ ५४ ॥
प्राणः स्पन्दनधर्मित्वात् स्पन्दते स्पृष्टहृद्गुणः ।
संविदं बोधयंस्तेन चित्तबालः प्रजायते ॥ ५५ ॥
एवं हि वासनाप्राणस्पन्दौ द्वौ तस्य कारणम् ।
तयोरेकक्षये नाशो द्वयोश्चित्तस्य राघव ! ॥ ५६ ॥
सुखदुःखमनःस्पन्दं शारीरकबृहत्फलम् ।
कार्यपल्लविताकारं कृतिव्रततिवेष्टितम् ॥ ५७ ॥

उत्पन्न करता है, इसी प्रकार पूर्व में उपभुक्त विषयानन्द और तात्कालिक जीवन स्वरूप पवन स्पन्द में वासना रूप से भी चित्त की उत्पादकता है ॥ ५१ ॥

जब आनन्द और पवन दोनों वासना स्वरूप हो गये, तब उन्होंने सब मिल कर ही चित्त का उत्पादन किया। वे पुष्प में आमोद तथा तिल में तेल के समान व्यवस्थित हैं, इसलिए एक दूसरे का दूसरा आश्रय और एक दूसरे का दूसरा हेतु हो सकता है, अनवस्था दोष का प्रसङ्ग नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥

चित्तरूप बीज में वासना से ही प्राणस्पन्दन होता है प्राण-स्पन्दन से वासना होती है और उससे बीज का अङ्कुरक्रम उत्पन्न होता है ॥ ५३ ॥

वासना का ऊर्ध्वगतिस्वभाव है, अतः वह संवित् के क्षोभकारक कर्म से प्राण-प्रस्पन्दन का उद्बोधन करती है और उससे चित्त उत्पन्न होता है ॥ ५४ ॥

स्पन्दनधर्मवान् पद हृदयगत राग आदि गुणों की प्रेरणा करने वाला प्राण संवित् का उद्बोधन करता है और क्रम से चित्तरूपी बालक उत्पन्न होता है ॥ ५५ ॥

हे श्रीराघव ! इस तरह वासना और प्राणस्पन्द दोनों चित्त के कारण हैं, उनमें से किसी एक का क्षय हो जाने पर दोनों का और उनके कार्य चित्त का विनाश हो जाता है ॥ ५६ ॥

सुख और दुःख के मननात्मक स्पन्दन से युक्त, शरीररूपी महान् फल से समन्वित, कार्यरूपी पल्लवों से पूर्ण आकार को धारण करने वाला, तृष्णारूपी काले साँपों से वेष्टित, राग तथा रोग रूपी बगुलों का आश्रय, अज्ञान-

तृष्णाकृष्णाहिवलितं रागरोगबकालयम् ।
अज्ञानमूलं सुदृढं लीनेन्द्रियविहङ्गमम् ॥ ५८ ॥
वासना क्षयमानीता चित्तवृक्षं क्षणेन हि ।
प्रपातयति वातौघः कालपक्वफलं यथा ॥ ५९ ॥
पाण्डुरीकृतसर्वाशं स्थगिताखिलदर्शनम् ।
विलोलजलदाकारमज्ञानावकरोत्थितम् ॥ ६० ॥
तृष्णातृणलवव्याप्तं स्तम्भाकृति शरीरकम् ।
स्फुरत्तनुतनुक्षुब्धं सुखमुत्प्लवनं प्रति ॥ ६१ ॥
अन्तःस्थितमहालोकमपश्यत् प्रविलीयते ।
पवनस्पन्दरोधाच्च राम ! चित्तरजः क्षणात् ॥ ६२ ॥
वासनाप्राणपवनस्पन्दयोरनयोर्द्वयोः ।
संवेद्यं बीजमित्युक्तं स्फुरतस्तौ यतस्ततः ॥ ६३ ॥
हृदि संवेद्यमाप्यैव प्राणस्पन्दोऽथ वासना ।
उदेति तस्मात्संवेद्यं कथितं बीजमेतयोः ॥ ६४ ॥

रूपी दृढ़ मूल से संयुक्त, इन्द्रियरूपी पक्षियों से आक्रान्त चित्तरूपी वृक्ष को क्षीणता-प्रापित वासना वैसे ही गिरा देती है, जैसे काल से परिपक्व फल को वायुप्रवाह गिरा देता है ॥ ५७—५९ ॥

हे श्रीरामजी ! समस्त दिशाओं को पाण्डुर म्लान करनेवाली, पूर्ण चैतन्यरूपी (पक्ष में सर्वजननेत्ररूपी) अखिल दर्शन को ढक देनेवाली, चंचल मेघ के सदृश आकार वाली, अज्ञानरूपी उत्कर से उत्थित, तृष्णारूपी तृणखण्डों से व्याप्त, स्तम्भ के सदृश आकारवाली देह से (पक्ष में वात्यासंस्थान से यानी धूलिस्तम्भ से) युक्त, प्रस्फुरित हो रहे स्वल्प स्वल्प वृत्तियों से (पक्ष में विभिन्न दिशाओं से आने वाले वायुओं के झुण्डों से) क्षुब्ध, सब दिशाओं से उत्प्लवन के प्रति अनायास दक्ष और भीतर में स्थित ब्रह्म के (पक्ष में सूर्य के आलोक के) प्रत्यक्षीकरण में असमर्थ पवन से उड़ाई गई चित्तरूपी धूलि प्राणस्पन्दन के निरोध से अनायास क्षण भर में विलीन हो जाता है ॥ ६०—६२ ॥

वासना और प्राणस्पन्दन—इन दोनों का संवेद्य प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषय बीज हैं, क्योंकि उन्हीं से वे दोनों प्रस्फुरित होते हैं ॥ ६३ ॥

प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों का हृदय में संवेदन अर्थात् स्मरण करके ही प्राणस्पन्द और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं, इसलिए संवेद्य ही उन दोनों का बीज है ॥ ६४ ॥

संवेद्य का प्रियाप्रिय विषय का परित्याग करने से

संवेद्यसम्परित्यागात् प्राणस्पन्दनवासने ।
समूलं नश्यतः क्षिप्रं मूलच्छेदादिव द्रुमः ॥ ६५ ॥
संविदं विद्धि संवेद्यं बीजं धीरतया विना ।
न सम्भवति संवेद्यं तैलहीनस्तिलो यथा ॥ ६६ ॥
न बहिर्नाऽऽन्तरे किञ्चित्संवेद्यं विद्यते पृथक् ।
संवित्स्फुरन्ती सङ्कल्पात् संवेद्यं पश्यति स्वतः ॥ ६७ ॥
स्वप्ने यथाऽऽत्ममरणं तथा देशान्तरस्थितिः ।
स्वचमत्कारयोगेन संवेद्यं संविदस्तथा ॥ ६८ ॥
स्ववेदनं स्वसङ्कल्पात् संविदो यत्र वर्तते ।
जगज्जालमतो भाति तदिदं रघुनन्दन ! ॥ ६९ ॥
यथा बालस्य वेतालः स्वसङ्कल्पोद्भवाद्भवेत् ।
पुरुषत्वं यथा स्थाणोः संवेद्यं संविदस्तथा ॥ ७० ॥
यथा चन्द्रार्करश्मीनां दण्डता रेणुता तथा ।
यथा नौस्थाचलस्पन्दः संवेद्यं संविदस्तथा ॥ ७१ ॥

प्राणस्पन्दन और वासना दोनों ही तत्काल वैसे ही समूल नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार मूल के उच्छेद से वृक्ष तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ ६५ ॥

संवित् ही अपनी धीरता के बिना संवेद्यस्वरूप होकर चित्त की बीजरूप हो जाती है, यह आप जानें । वैसे ही संवित् से रहित कोई भी संवेद्य पदार्थ प्रसिद्ध नहीं हैं जैसे तिल तेल से रहित नहीं है ॥ ६६ ॥

न बाहर और न भीतर कोई भी संवेद्य संवित् से अलग रहता है, अपने सङ्कल्प से संवित् ही प्रस्फुरित होती हुई स्वयं संवेद्य को देखती है ॥ ६७ ॥

जाग्रत्कालीन संवेद्य भी संवित् के चमत्कारमात्र से वैसे ही होते हैं जैसे स्वप्न में अपना मरण और भिन्न देश में स्थिति दोनों अपने चमत्कार के योग से होते हैं ॥ ६८ ॥

हे रघुनन्दन ! जिस अवस्था में अपने पारमार्थिक स्वरूप का अनुभव होता है, वह स्वस्वरूपानुभव भी अपने सङ्कल्प से जनित स्वप्न के समान ही है, क्योंकि अद्वय परमात्मा में स्वस्वरूपानुभव और विवेक आदि पारमार्थिक नहीं हो सकते हैं ॥ ६९ ॥

सङ्कल्पजनित भ्रम से ही संवित् की संवेद्यरूपता वैसे ही होती है जैसे बालक को अपने सङ्कल्प से जनित भ्रम से ही बेताल का उद्भव होता है अथवा जैसे स्थाणु में पुरुषरूपता होती है ॥ ७० ॥

संवित् से संवेद्य वैसे ही प्रतीत होता है जैसे खिड़की आदि छिद्रों में से प्रविष्ट चन्द्र या सूर्य की किरणों की

एतन्मिथ्या हि दुर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानाद्विलीयते ।
रज्ज्वामिव भुजङ्गत्वं द्वीन्दुत्वं स्वीक्षितादिव ॥ ७२ ॥
शुद्धैव संवित्त्रिजगत्संवेद्यं नाऽन्यदस्त्यलम् ।
इत्यन्तर्निश्चयो रूढः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ ७३ ॥
पूर्वं दृष्टमदृष्टं वा यदस्याः प्रतिभासते ।
संविदस्तत्प्रयत्नेन मार्जनीयं विजानता ॥ ७४ ॥
तदमार्जनमात्रं हि महासंसारसङ्गतम् ।
तत्प्रमार्जनमात्रं तु मोक्ष इत्यनुभूयते ॥ ७५ ॥
संवेदनमनन्ताय दुःखाय जननात्मने ।
असंवित्तिरजाडचस्था सुखायाऽजननात्मने ॥ ७६ ॥
अजडो गलितानन्दस्त्यक्तसंवेदनो भव ।
असंवेद्यप्रबुद्धात्मा यस्तु स त्वं रघूद्वह ! ॥ ७७ ॥

दण्डाकारता और उसके भीतर घूम रहे त्रसरेणुओं की आकाररूपता प्रतीत होती है अथवा जैसे नौका में अवस्थित पुरुष को पर्वत आदि अचल पदार्थों में स्पन्दन दिखाई पड़ता है ॥ ७१ ॥

जैसे रज्जु और चन्द्र के निर्दोष दर्शन से रज्जु में सर्पभ्रान्ति और एक चन्द्र में दो चन्द्ररूपता की भ्रान्ति का विलय हो जाता है वैसे ही उसका यथार्थ आत्मज्ञान से विलय हो जाता है क्योंकि यह भ्रान्तिज्ञान मिथ्यारूप है ॥ ७२ ॥

ये तीन लोक विशुद्ध संवित्-स्वरूप ही हैं, उससे अन्य नहीं हैं, इस प्रकार का दृढ़ ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, यह पण्डितों का कहना है ॥ ७३ ॥

पहले देखा गया या नहीं देखा गया पदार्थ संवित् से प्रतिभासमान होता है, विद्वान् को उसका इस यथार्थ ज्ञान से परिमार्जन कर देना चाहिए ॥ ७४ ॥

प्रतिभास का मार्जन न करना ही विशाल संसार के साथ आत्मा का संसर्ग है और उसका परिमार्जन करना ही मोक्ष है, यह अनुभवसिद्ध है ॥ ७५ ॥

प्रिय-अप्रिय शब्द आदि विषयों का अनुभव जन्मरूप अनन्त दुःख का साधन है और चिदेकरसस्वभाव में प्रतिष्ठित विषयों का अदर्शन पुनर्जन्म से वर्जित नित्य आत्मस्वरूप सुख का साधन है ॥ ७६ ॥

हे रघूद्वह ! शब्द आदि प्रिय-अप्रिय विषयों के दर्शन से आप विमुख हो जड़ता रहित, एकरसस्वरूप तथा पूर्णानन्दात्मक हो जाए । जो असंवेद्य भी स्वतः प्रबुद्ध आत्मा स्वरूप ही आप हो जायँगे, अन्यरूप नहीं हो जायँगे ॥७७॥

श्रीराम उवाच

अजडश्चाऽप्यसंवित्तिः कीदृशो भवति प्रभो ! ।
असंवित्तौ च जाडचं तत्कथं विनिवर्तते ॥ ७८ ॥

वसिष्ठ उवाच

यः सर्वत्राऽनवस्थास्थो विश्रान्तास्थो न कुत्रचित् ।
जीवो न विन्दते किञ्चिदसंविदजडो हि सः ॥ ७९ ॥
संविद्वस्तुदृशालम्बः स यस्येह न विद्यते ।
सोऽसंविदजडः प्रोक्तः कुर्वन्कार्यशतान्यपि ॥ ८० ॥
संवेद्येन हृदाकाशो मनागपि न लिप्यते ।
यस्याऽसावजडा संविज्जीवन्मुक्तश्च कथ्यते ॥ ८१ ॥
यदा न भाव्यते किञ्चिन्निर्वासनतयाऽऽत्मनि ।
बालमूकादिविज्ञानमिव च स्थीयते स्थिरम् ॥ ८२ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे प्रभो ! एक ही पदार्थ अजड़ भी और असंवित्तिरूप भी कैसे हो सकता है । असंवित्तिरूप होने पर वह जड़ता कैसे निवृत्त होगी ? जड़ता का परित्याग होने पर संवेदन का शेष अवश्य रहेगा और संवेदन का परित्याग होने पर जड़ता का शेष अवश्य रहेगा, ऐसी स्थिति में एक ही पदार्थ अजड़ और असंवित्ति रूप विरुद्ध स्वभाव वाला कैसे हो सकता है ? ॥ ७८ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—जीवन्मुक्त महात्मा समस्त वर्तमान विषयों में आस्था नहीं रखता एवं वासना का क्षय हो जाने के कारण भूत और भविष्यत् की वस्तुओं में भी कहीं आस्था नहीं रखता, इसलिए किसी भी वेद्य को सत्यरूप से न जानने के कारण उतने अंश को लेकर काष्ठ-लोष्ट की नाई असंवित्-रूप और स्वतः तो स्वप्रकाश चिदेकरस से पूर्ण होने के कारण अजड़ रूप कहा जाता है ॥ ७९ ॥

संवित् जिस महापुरुष को नहीं रहती, वह असंवित् अजड़ कहा जाता है, फिर वह सैंकड़ों कार्यों में व्यापृत ही क्यों न हो ? सत्यत्वबुद्धि से चिति का बाह्य अर्थों का अवलम्बन करना ही संवित् कहा जाता है ॥ ८० ॥

जिस महात्मा की बुद्धि प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों से तनिक भी आसक्त नहीं होती, वही अजड़ संवित् और जीवमुक्त कहा जाता है ॥ ८१ ॥

वासनारहित होने पर अपनी आत्मा में जब किसी पदार्थ की भावना नहीं की जाती और बालक एवं मूक के विज्ञान के सदृश स्थिर होकर ऐसी स्थिति स्थिर रहता है ॥ ८२ ॥

तदा जाड्यविनिर्मुक्तमच्छवेदनमाततम् ।
आश्रितं भवति प्राज्ञो यस्माद् भूयो न लिप्यते ॥ ८३ ॥
समस्तवासनात्यागो निर्विकल्पसमाधितः ।
नीलत्वमिव खात्स्फार आनन्दः सम्प्रवर्तते ॥ ८४ ॥
योगिनस्तत्र तिष्ठन्ति संवेदनमसंविदः ।
तन्मयत्वादनाद्यन्तं तदप्यन्तर्विलीयते ॥ ८५ ॥
गच्छंस्तिष्ठन्स्पृशञ्जिघ्रन्नपि तेन स उच्यते ।
अजडोऽगलितानन्दस्त्यक्तसंवेदनः सुखी ॥ ८६ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य कष्टया यत्नचेष्टया ।
तर दुःखाम्बुधेः पारमपारगुणसागर ! ॥ ८७ ॥
यथा बीजाद् बृहद्वृक्षो व्योम व्याप्नोति कालतः ।
तथैवेदं स्वसङ्कल्पात् संवेद्यमसदुत्थितम् ॥ ८८ ॥
यदा सङ्कल्प्य सङ्कल्प्य संवित्संविन्दते वपुः ।
तदाऽस्य जन्मजालस्य सैव गच्छति बीजताम् ॥ ८९ ॥

जड़ता से विनिर्मुक्त, विशाल एवं स्वच्छ विज्ञान का अवलम्बन कर प्राज्ञ पुनः लिप्त नहीं होता ।। ८३ ।।

समस्त वासनाओं का त्याग कर निर्विकल्पात्मक समाधि से असीम आनन्द प्रतीत होता है, जैसे आकाश से असीम नीलापन प्रतीत होता है ।। ८४ ।।

योगी लोग उसी असीम आनन्द में स्थित रहते हैं । आनन्दमय ध्येयरूप होने से अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार वह संवेदन भी अपने द्वारा प्रदीप्त ब्रह्मरूपज्योति से बाधित होकर उसी के अन्दर लीन हो जाता है ॥ ८५ ॥

वृत्तियों का त्याग करने वाला योगी चलते, बैठते, स्पर्श करते और सूँघते इन सब अवस्थाओं में भी अजड़, आनन्द से पूर्ण और सुखी कहा जाता है ॥ ८६ ॥

हे असीम गुणों के सागर ! कष्टसाध्य यत्नपूर्वक चेष्टा से इस जाड्यरहित संविद्रूपी दृष्टि का अवलम्बन कर आप दुःख-सागर के पार तैर जाइए ॥ ८७ ॥

यह अपने सङ्कल्प से ही उत्पन्न हुआ असत् विषय-समूह काल पाकर चिदाकाश को वैसे ही व्याप्त कर लेता है जैसे काल पाकर बीज से महान् वृक्ष होकर आकाश को व्याप्त कर लेता है ॥ ८८ ॥

पुनः पुनः सङ्कल्प करके संवित् के अपना सङ्कल्पमय स्वरूप प्राप्त कर लेने पर वही इस जन्मजाल की बीजता को प्राप्त हो जाती है ।। ८९ ॥

हे राघव ! अपने आप से अपना उत्पादन कर और अपने आप से ही अपने को पुनः पुनः मोहित कर हृदयस्थ आत्मतत्त्व को जान रही संवित् स्वयं अपने को मोक्ष की

जनयित्वाऽऽत्मनाऽऽत्मानं मोहयित्वा पुनः पुनः ।
स्वयं मोक्षं नयत्यन्तः संवित्स्वं विद्धि राघव ! ॥ ९० ॥
यदेव भावयत्येषा तदेव भवति क्षणात् ।
न भवद्भूमिकामुक्ता समायाति चिराद्वपुः ॥ ९१ ॥
देवो नाऽसौ सुरो रक्षो यक्षः किं किन्नरो जनः ।
आत्मैवाऽऽद्यविलासिन्या जगन्नाटचं प्रनृत्यति ॥ ९२ ॥
बध्वाऽऽत्मानं रुदित्वा च कोशकारकृमिर्यथा ।
चिरात् केवलतामेति स्वयं संवित्स्वभावतः ॥ ९३ ॥
जगज्जलधिजालानां संविज्जलमलं गता ।
एषैवाऽपूर्वदिक्चक्रं स्फुरत्यद्‌ध्र्यादितां गता ॥ ९४ ॥
द्यौः क्षमावायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
इत्यस्या वीचयः प्रोक्ताः संवित्सलिलसन्तते ॥ ९५ ॥
संविन्मात्रं जगत्सर्वं द्वितीया नाऽस्ति कल्पना ।
इत्येव सम्यग्ज्ञानेन संविद्गच्छति नाऽन्यताम् ॥ ९६ ॥

ओर ले जाती है, प्रसिद्ध है ॥ ९० ॥

यह संवित् जिस की भावना करती है, उसी समय तद्रूप हो जाती है । राग आदि की भूमिकाओं से मुक्त नहीं हुई संवित् दीर्घ-काल में भी अपना स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकती ॥ ९१ ॥

न यह देव है, न सुर है, न राक्षस है, न यक्ष है, न किन्नर है और न तो मनुष्य ही है, किन्तु मायावी नट की तरह आदिसिद्ध विलासिनी अपनी माया से आत्मा जगत् रूपी नाटक खेलता है ॥ ९२ ॥

संवित् भी अपने आप को संसार में बाँध कर और दुःखभोग कर अनेक समय के बाद स्वभाववश से स्वयं ही वैसे ही बन्धन आदि से निर्मुक्त होकर केवलता प्राप्त करती है जैसे कोवे का निर्माण करने वाला रेशम का कीट अपने आप को स्वभाववश से बाँध कर और दुःखभोग कर दीर्घकाल के अनन्तर केवलता प्राप्त करता है ॥ ९३ ॥

जगत्‌रूपी सागर संवित् ही पर्याप्त जल है, यही अपूर्व दिङ्मण्डल है और यही पर्वत आदि भावों को प्राप्त होकर प्रस्फुरित होती है ॥ ९४ ॥

द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ—ये सब संवित्-रूपी जलसंतति के तरङ्ग हैं ॥ ९५ ॥

केवल संविन्मात्रस्वरूप ही जगत् है, उससे अलग दूसरी कोई कल्पना नहीं है, इस ज्ञान से ही संवित् अद्वय-रूप होती है ॥ ९६ ॥

यदा न विन्दते किञ्चित्स्पन्दते न न वेपते ।
स्वात्मन्येव स्थितिं याति संविन्नो लिप्यते तदा ॥ ९७॥
अथाऽस्याः संविदो राम सन्मात्रं बीजमुच्यते ।
संविन्मात्रादुदेत्येषा प्राकाश्यमिव तेजसः ॥ ९८ ॥
द्वे रूपे तत्र सत्ताया एकं नानाकृति स्थितम् ।
द्वितीयमेकरूपं तु विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ९९ ॥
घटता पटता चैव त्वत्ता मत्तेति कथ्यते ।
सत्तारूपविभागेन यत्तन्नानाकृति स्थितम् ॥१००॥
विभागं तु परित्यज्य सत्तैकात्मतया ततम् ।
सामान्येनैव सत्ताया रूपमेकमुदाहृतम् ॥१०१॥
विशेषं सम्परित्यज्य सन्मात्रं यदलेपकम् ।
एकरूपं महारूपं सत्तायास्तत्पदं विदुः ॥१०२॥
रूपं नानाकृतित्वेन सत्ताया न कदाचन ।
असंवेद्यं सम्भवति तस्मादेतदवस्तुकम् ॥१०३॥
एकरूपं तु यद्रूपं सत्ताया विमलात्मकम् ।
न कदाचन तद्याति नाशं नाऽपि च विस्मृतिम् ॥१०४॥
कालसत्ता कलासत्ता वस्तुसत्तेयमित्यपि ।
विभागकलनां त्यक्त्वा सन्मात्रैकपरो भव ॥१०५॥
कालसत्ता स्वसत्ता च प्रोन्मुक्तकलना सती ।
यद्यप्युत्तमसद्रूपा तथाऽप्येषा न वास्तवी ॥१०६॥
विभागकलना यत्र विभिन्नपददायिनी ।
नानाताकारणं दृष्टा तत्कथं पावनं भवेत् ॥१०७॥

जब संवित् कुछ विषय प्राप्त नहीं करती, जब असाधारण कम्पन नहीं करती एवं जब अपने स्वरूप में अवस्थान करती है, तब वह लिप्त नहीं होती ।। ९७ ॥

हे श्रीरामजी ! इस संवित् का सन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही बीज कहा जाता है । यह प्रतिबिम्बभूत संवित् बिम्बभूत संविन्मात्रस्वरूप ब्रह्म से वैसे ही उदित होती है जैसे जिस प्रकार सूर्य आदि तेज से प्रभा उदित होती है ॥ ९८ ॥

सत्ता के दो रूप हैं—एक अनेक आकार वाला होकर स्थित है और दूसरा एकरूप होकर स्थित है । अब उनका विभाग सुनें ॥ ९९ ॥

घटादि विभागों से घटत्व, पटत्व, त्वत्त्व, मत्त्व आदि उपाधिभूत सत्ता कही जाती है, वह अनेकाकृति सत्ता स्वरूप है ॥ १०० ॥

विभाग का परित्याग कर सत्तारूप से व्याप्त समस्त जगत् के अधिष्ठानस्वरूप साधारण स्वभाव से सत्ता का विद्यमान रूप एक रूप कहा जाता है ॥ १०१ ॥

विशेषांश का परित्याग कर सन्मात्रस्वरूप लिप्त न करने वाला सत्ता का एक रूप है, वही व्यापक रूप और वस्तु तत्व हैं, ऐसा मनीषियों का कथन है ॥ १०२ ॥

नाना आकार के रूप में सत्ता कभी नहीं है, तद्घटत्व आदि रूप कपला, चूर्ण, धूलि आदि अवस्थाओं में असंवेद्य होकर अनुवर्तमान के रूप से दिखाई नहीं पड़ता है, अत: वह सत्यरूप नहीं हो सकता अर्थात् ये सब अवस्तु हैं ॥ १०३ ॥

विमलात्मा सत्ता का स्वरूप है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता है और न कभी विस्मृत होता है, अर्थात् सदा प्रकाशमान-रूप होने से वह नित्य चैतन्यैकरसस्वरूप है ॥ १०४ ॥

यह कालसत्ता है, यह कलासत्ता है और यह वस्तुसत्ता है, इस प्रकार की भी विभागकल्पना का परित्याग कर आप एकमात्र सत्स्वरूप से ही अवस्थित हो जाइए । संस्कृत व्याख्या के अनुसार यह कहा जा सकता है कि कुछ लोग कहते हैं कि अतीत और अनागत वस्तुओं में 'अस्ति' इस प्रकार का व्यवहार न होने के कारण वर्तमान काल ही सब वस्तुओं की सत्ता है, सब पदार्थों की सत्ता वर्तमानकाल-सत्ता है । कुछ लोग कहते हैं कि समूह बन कर अवयव ही अवयवी के रूप में स्फुरित होते हैं अत: कला ही—परमाणुरूप अवयव ही—जगत् की सत्ता है, और कुछ लोग यह कहते हैं कि अवयवी पदार्थों में भी अनुगत सत्ता जाति है, इसी प्रकार अन्यान्य लोग भी अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अन्यान्य सत्ताओं की कल्पना करते हैं, हे श्रीरामजी ! इस तरह की तत्-तत् मत में कल्पित विभाग कल्पना का त्याग कर आप सन्मात्रस्वरूप एकमात्र ब्रह्म का ही अवलम्बन करें इसी से आपके मनोरथों की सिद्धि हो जायगी ॥ १०५ ॥

अध्यस्त भेदकल्पना का परित्याग करने पर यद्यपि कालादि सत्ता भी वैसे ही उत्तम सत्तास्वरूप ही हो जाती है जैसे अध्यस्त भेद का परित्याग करने पर अधिष्ठान सन्मात्र के परिशेष से समस्त जगत् उत्तम सत्तास्वरूप है तथापि वह विभक्तरूप से बाध योग्य होने के कारण पारमार्थिक नहीं है ॥ १०६ ॥

जहाँ विभिन्न-विभिन्न पदों को देनेवाली विभाग कल्पना नानारूप का कारण होने से वह पावन पद कैसे हो सकती है ॥ १०७ ॥

सत्तासामान्यमेवैकं भावयन्सकलं वपुः ।
परिपूर्णपरानन्दी तिष्ठाऽऽभरितदिग्भरः ॥१०८॥
सत्ता सामान्यमात्रस्य या कोटिः कोविदेश्वर ! ।
सैवाऽस्य बीजतां याता तत एव प्रवर्तते ॥१०९॥
सत्ता सामान्यपर्यन्ते यत्तत्कलनयोज्झितम् ।
पदमाद्यमनाद्यन्तं तस्य बीजं न विद्यते ॥११०॥
सत्ता लयं याति यत्र निर्विकारं च तिष्ठति ।
भूयो नाऽऽवर्तते दुःखे तत्र लब्धपदः पुमान् ॥१११॥
तद्धेतुः सर्वहेतूनां तस्य हेतुर्न विद्यते ।
संसारः सर्वसाराणां तस्मात्सारं न विद्यते ॥११२॥
तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः ।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥११३॥
सर्वे भावा इमे तत्र स्वदन्ते स्वादुवारिधेः ।
षड्रसा इव जिह्वायाः प्रकटत्वं प्रयान्ति च ॥११४॥

एकमात्र सामान्य सत्तात्मक ही समस्त जगत् है, इस प्रकार की भावना कर आप परिपूर्ण आनन्द से युक्त तथा सब दिशाओं और उनमें स्थित पदार्थों को व्याप्त करने वाले हो जाएँ ॥ १०८ ॥

हे विज्ञजनों में श्रेष्ठ ! सामान्य सत्तामात्र की परम अवधिभूत सत्ता ही इस जगत् की और प्रतिबिम्ब चित् की बीजरूप है और उसी से यह समस्त जगत् प्रवृत्त है ॥ १०९ ॥

समस्त सत्ताओं की चरम अवधि कल्पनाओं से निर्मुक्त पद ही पद आदि (उत्पत्ति) और विनाश से शून्य हैं, उसका कोई बीज नहीं है ॥ ११० ॥

सद्धर्मता भी जिस पद में लीन हो जाती है और जो निर्विकाररूप से अवस्थित है, उस पद में अपना दृढ़ स्थान कर लेनेवाला पुरुष कभी इस दुःखमय संसार में नहीं आता है और वही वस्तुतः पुरुष है ॥ १११ ॥

वही पद समस्त साधनों का हेतु है, उसका कोई अन्य हेतु नहीं है, वही सम्पूर्ण सारों में सारभूत है, उससे बढ़कर दूसरी सारभूत वस्तु नहीं है ॥ ११२ ॥

उस प्रत्यग्रूप असीम ब्रह्मात्मक दर्पण में ये सब वस्तु दृष्टियाँ वैसे ही प्रतिबिम्बित होती हैं जैसे तालाब में तटस्थ वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं ॥ ११३ ॥

उसी प्रत्यग्रूप ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ये सब पदार्थ इन्द्रियप्रीति उत्पन्न करते हैं। आनन्द के सागर उसी ब्रह्म से सभी प्रकार के आनन्द स्फूर्ति या सत्ता वैसे ही प्राप्त करते हैं जैसे जीभ से छः रस स्फूर्ति या सत्ता प्राप्त करते हैं ॥ ११४ ॥

तस्मादच्छतरस्याऽपि चिदाकाशस्य वै पदम् ।
सर्वेषां स्वादुजातीनामलमास्वादनं च तत् ॥११५॥
जायते वर्तते चैव वर्धते स्पृश्यतेऽथ वा ।
तिष्ठन्ति च गलन्तीह तत्राऽङ्ग जगतां गणाः ॥११६॥
तत्तद्गुरु गरिष्ठानां तत्तल्लघु लघीयसाम् ।
तत्तत्स्थूलं स्थविष्ठानामणीयस्तदणीयसाम् ॥११७॥
दवीयसां दविष्ठं तदन्तिकानां तदन्तिकम् ।
कनीयसां कनीयस्तत्तज्ज्येष्ठं ज्यायसामपि ॥११८॥
तेजसामपि तत्तेजस्तमसामपि तत्तमः ।
वस्तूनामपि तद्वस्तु दिशामप्यङ्ग दिक्परा ॥११९॥
तन्न किञ्चिच्च किञ्चिच्च तत्तदस्तीव नाऽस्ति च ।
तत्तद्दृश्यमदृश्यं च तत्तदस्मि न चाऽस्मि च ॥१२०॥
राम ! सर्वप्रयत्नेन तस्मिन्परमपावने ।
पदे स्थितिमुपायासि यथा कुरु तथाऽनघ ! ॥१२१॥

अस्वादु भी पदार्थ आनन्दसमुद्र ब्रह्म के संसर्ग से इन्द्रिय-प्रीति को उत्पन्न करते हैं, इसलिए वह चिदाकाश का पद यानी स्वरूप स्वादु और प्रिय पदार्थों के बीच में सबसे श्रेष्ठ आनन्दरूप और प्रियतम है ॥ ११५ ॥

हे तात ! उसी असीम आनन्द ब्रह्म में सब जगत् समूह उत्पन्न स्थित और वृद्धिगत हैं, और विपरिणाम से युक्त होते हैं, अपक्षयोन्मुख रहते हैं और लीन हो जाते हैं ॥ ११६ ॥

वह ब्रह्म भारी पदार्थों में अत्यन्त भारी, हलके पदार्थों में अत्यन्त हलका, स्थूलों में अत्यन्त स्थूल और सूक्ष्मों में अत्यन्त सूक्ष्म है ॥ ११७ ॥

दूरवर्त्तियों में अत्यन्त दूरतम, समीपवर्तियों में अत्यन्त समीपतम, छोटों में अत्यन्त छोटा, और बड़ों में अत्यन्त बड़ा भी वही है ॥ ११८ ॥

हे तात ! सूर्य आदि तेजों का भी तेज, अन्धकारों का भी अन्धकार, वस्तुओं का भी वस्तु और दिशाओं का भी पर दिशारूप वही है ॥ ११९ ॥

वह ब्रह्मात्मक पद लोक में प्रसिद्ध कोई वस्तुरूप नहीं है और स्वल्प से भी स्वल्पतर प्रसिद्ध वस्तुरूप भी है, वह सत्ताश्रय भावात्मक और असत्ताश्रय अभावात्मक भी है, वह दृश्यरूप और अदृश्यरूप भी है, वह अहंरूप और अहंरूप नहीं भी है ॥ १२० ॥

हे निष्पाप ! सभी प्रयत्नों से उस परम पावन पद में जैसे आप स्थित हों, वैसा यत्न करें ॥ १२१ ॥

तदमलमजरं तदात्मतत्त्वं
तदवगतावुपशान्तिमेति चेतः ।
अवगतविततैकतत्स्वरूपो
भवभयमुक्तपदोऽसि तच्चिराय ॥१२२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे संसृतिबीजवीचारयोगोपदेशो नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

सत्तासामान्य कोटि में स्थित वह पद निर्मल और विकारशून्य है, वही आत्मा का पारमर्थिक स्वरूप है, उसका साक्षात्कार करने पर चित्त बाधित हो जाता है। इसलिए आप एकमात्र व्यापक उक्त स्वरूप अवगत करे उसके अवगत करने पर चिरकालिक अपुनरावृत्ति के लिए संसाररूप भय से निर्मुक्त परमपदस्वरूप ही हो जायँगे ॥ १२२ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय के उपशमप्रकरण में संसृतिबीजविचारयोग उपदेश नामक कुसुमलता का इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥९१॥

९२

श्रीराम उवाच

एतानि तानि प्रोक्तानि त्वया बीजानि मानद ! ।
कतमस्य प्रयोगेण शीघ्रं तत्प्राप्यते पदम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

एतेषां दुःखबीजानां प्रोक्तं यद्यन्मयोत्तरम् ।
तस्य तस्य प्रयोगेण शीघ्रमासाद्यते पदम् ॥ २ ॥
सत्तासामान्यकोटिस्थे द्रागित्येव पदे यदि ।
पौरुषेण प्रयत्नेन बलात्सन्त्यज्य वासनाम् ॥ ३ ॥
स्थितिं बध्नासि तत्त्वज्ञ ! क्षणमप्यक्षयात्मिकाम् ।
क्षणेऽस्मिन्नेव तत्साधु पदमासादयस्यलम् ॥ ४ ॥
सत्तासामान्यरूपे वा करोषि स्थितिमङ्ग चेत् ।
तत्किञ्चिदधिकेनेह यत्नेनाऽऽप्नोषि तत्पदम् ॥ ५ ॥
संवित्तत्त्वे कृतध्यानो यदि तिष्ठसि चाऽनघ ! ।
तद्यत्नेनाऽधिकेनोच्चैरासादयसि तत्पदम् ॥ ६ ॥
संवेद्ये केवले ध्यानं न सम्भवति राघव ! ।
सर्वत्र सम्भवादस्याः संवित्तेरेव सर्वदा ॥ ७ ॥

८३

श्रीरामजी ने कहा—हे मान देने योग्य आपने ये जो जीव सृष्टि-लता के बीज कहा है, उनमें से किस बीज की निवृत्ति करने परमपद प्राप्त किया जा सकता है, यह तो एक अर्थ हुआ। दूसरा अर्थ इस प्रकार है—हे भगवन्, आपने ये जो अभी मोक्ष के 'अथाऽस्याः संविदो राम' इत्यादि से भूमिका विशेषरूप बीज बतलाये, उनमें से किस बीज का अवलम्बन करने से परमपद प्राप्त किया जा सकता है, यह कृपाकर मुझसे कहें ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—मैंने आप से इन दुःखों के बीजों के विषय में जो उत्तर दिया है उसकी निवृत्ति करने पर तत्काल ही पुरुष परमपद को प्राप्त करता है ॥ २ ॥

शोधित तत्पदार्थरूप सत्तासामान्य की पराकाष्ठा में स्थित पद में यानी चैतन्यरूप शोधित त्वंपदार्थ का अभेद होने के कारण अखण्ड एकरसरूप पद में आप बलपूर्वक वासना का परित्याग करें ॥ ३ ॥

हे तत्त्वज्ञ ! पुरुष-प्रयत्न से क्षणभर के लिए भी स्थिति—चित्त की निश्चलता करें तो आप उसी क्षण में उक्त उत्तम पद को पूर्णरूप से प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

हे प्रिय ! अथवा यदि सत्तासामान्यरूप शोधित जगत्कारणात्मक तत्त्व में चित्त की निश्चलता करते हैं, तो कुछ अधिक प्रयत्न से यहाँ आत्मपद प्राप्त कर लेंगे। अखण्ड ऐक्य के बोध में यत्न की कुछ अधिक आवश्यकता होती है ॥ ५ ॥

हे निष्पाप ! शोधित त्वंपदार्थरूप संवित्-तत्त्व में ध्यानसम्पन्न होकर यदि स्थित रहते हैं तो और कुछ ऊँचे अधिक प्रयत्न से उक्त पद को प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

हे राघव ! केवल विषय में ध्यान ही नहीं हो सकता, विषयों से पहले प्रस्फुरित हो रही संवित्ति का तिरोधान अशक्य है और उसका यदि तिरोधन हो जायगा, तो विषय की स्फूर्ति न होने से उसका ध्यान ही नहीं हो सकेगा ॥ ७ ॥

यच्चिन्तयसि यद्यासि यत्तिष्ठसि करोषि च ।
तत्र तत्र स्थिता संवित्संविदेव तदेव सा ॥ ८ ॥
वासनासम्परित्यागे यदि यत्नं करोषि च ।
तत्ते शिथिलतां यान्ति सर्वाधिव्याधयः क्षणात् ॥ ९ ॥
पूर्वेभ्यस्तु प्रयत्नेभ्यो विषमोऽयं हि संस्मृतः ।
दुःसाध्यो वासनात्यागः सुमेरून्मूलनादपि ॥ १० ॥
यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ।
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ॥ ११ ॥
यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः ।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ॥ १२ ॥
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ।
यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ॥ १३ ॥
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः ॥१४॥

चिन्तन करते हैं, जाते हैं, स्थित रहते हैं और करते हैं, वहाँ स्थित संवित् ही वह सब कुछ करती है, अतः चिन्तन, चिन्तनीय आदि सभी संवित्स्वरूप हैं, क्योंकि सभी का तत्त्व संवित् ही है ॥ ८ ॥

यदि वासना के परित्याग में आप प्रयत्न करते हैं, तो आपकी सम्पूर्ण आधि व्याधियाँ क्षण भर में विनष्ट हो जायँगी ॥ ९ ॥

पूर्व में प्रदर्शित प्रयत्नों की अपेक्षा यह प्रयत्न अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वासना का परित्याग सुमेरु पर्वत के उन्मूलन से भी अधिक दुष्कर है ॥ १० ॥

मन के नष्ट होने पर वासना का विनाश नहीं होता और वासना के विनष्ट होने पर चित्त की शान्ति नहीं होती ॥ ११ ॥

तत्त्वज्ञान होने पर चित्त की शान्ति कहाँ ? और चित्त की शान्ति होने पर तत्त्वज्ञान नहीं होता ॥ १२ ॥

जब तक वासना का नाश नहीं होता, तब तक तत्त्वज्ञान कहाँ से होगा ? और जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब तक वासना का क्षय नहीं होगा ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों ही क दूसरे के प्रति साधन स्वरूप होकर अवस्थित हैं, अतः यन्त दुःसाध्य हैं ॥ १४ ॥

विवेक से समन्वित पौरुष प्रयत्न से भोगेच्छा का से ही परित्याग कर इन तीनों का आश्रयण करना हिए ॥ १५ ॥

तस्माद्राघव ! यत्नेन पौरुषेण विवेकिना ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रयेत् ॥ १५ ॥
सर्वथा ते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः ।
तावन्न पदसम्प्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः ॥ १६ ॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ! ।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने ! ॥ १७ ॥
एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम् ।
तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्राः संकीलिता इव ॥ १८ ॥
चिरकालोपरचिता अप्येते सुधियाऽपि च ।
एकशः परमभ्येतुं न शक्ताः सैनिका इव ॥ १९ ॥
समयुद्योगमानीताः सन्त एते हि धीमता ।
संसाराब्धिं निकृन्तन्ति जलान्यद्रितटानिव ॥ २० ॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशाः प्रयत्नतः ।
समं सेव्यास्तव चिरं तेन तात ! न लिप्यसे ॥ २१ ॥

उन तीन उपायों का साथ में भली प्रकार बार-बार अभ्यास न करने पर सैकड़ों बरसों तक भी परम पद की प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥ १६ ॥

हे महामते ! हे मुने ! वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश—इन तीनों का एक साथ दीर्घकाल तक अभ्यास करने पर वे मननशील महात्मा के लिए फलप्रद होते हैं ॥ १७ ॥

उन तीनों में से एक का चिरकाल तक अभ्यास यद्यपि किया जाय, तो भी वे वैसे ही फलप्रद नहीं हो सकते जैसे मन्त्रशास्त्रोक्त मूर्च्छा, मरण आदि प्रतिबन्धकों से प्रतिबद्ध मन्त्र फलप्रद नहीं होते ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा दीर्घ कालतक सेवा आदि से स्वाधीन कर तत्-तत् कार्यों में योजित भी ये वासनाक्षय आदि एक एक करके अपने स्वामी परमात्मा के पास जाने में वैसे ही समर्थ नहीं होते जैसे पारितोषिक आदि से स्वाधीन बनाकर दीर्घकाल तक तत्-तत् कार्य में प्रेरित भी सेना के वीरयोद्धा लोग एक-एक करके अपने स्वामी राजा के अभिमुख जाने में समर्थ नहीं होते ॥ १९ ॥

जैसे वारिप्रवाह पर्वततट को विशीर्ण कर देते हैं वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा एक साथ तत्-तत् कार्यों में योजित वासनाक्षय आदि संसाररूपी सागर को विशीर्ण कर देते हैं ॥ २० ॥

हे प्रिय ! वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश—इन तीनों का एक साथ प्रयत्नपूर्वक सेवन आपको करना चाहिए, आप उस सेवन से लिप्त नहीं होंगे ॥ २१ ॥

त्रिभिरेतैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः ।
निःशेषमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव ॥ २२ ॥
जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम ! संसारसंस्थितिः ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥ २३ ॥
गच्छन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रंस्तिष्ठन् जाग्रत्स्वपंस्तथा ।
श्रेयसे परमायाऽस्य त्रयस्याऽभ्यासवान् भव ॥ २४ ॥
वासनासम्परित्यागसमं प्राणनिरोधनम् ।
विदुस्तत्त्वविदस्तस्मात् तदप्येवं समाहरेत् ॥ २५ ॥
वासनासम्परित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २६ ॥
प्राणायामचिराभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २७ ॥
यथाभूतार्थदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ।
आदावन्ते च वस्तूनामविसंवादि यत्स्थितम् ।

भलीप्रकार उन तीनों का चिरकाल तक अभ्यास करने से अत्यन्त दृढ़ हृदय-ग्रन्थियाँ (अन्त:करण एवं उसके धर्म आदि के अध्यास) निःशेषरूप से वैसे ही टूट जाती हैं जैसे कमलनाल के उच्छेदन से बिसतन्तु टूट जाते हैं ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी ! सैकड़ों जन्मान्तरों से मनुष्यों के द्वारा संसार की स्थिति अभ्यस्त है, अत: उन उपायों का चिरकाल अभ्यास किये बिना कहीं पर भी वह नष्ट नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

श्रवण, स्पर्श, सूंघते, स्थित, जागते, सोते सभी अवस्थाओं में उत्तम मोक्षरूपी कल्याण के लिए इन तीन उपायों के अभ्यास में ही आप निरत हो जाएँ ॥ २४ ॥

वासनाओं के परित्याग के सदृश प्राणायाम भी उपाय है। इसलिए वासनापरित्याग के साथ-साथ प्राणनिरोध का अभ्यास करना आवश्यक है ॥ २५ ॥

भलीप्रकार वासनाओं का परित्याग करने से चित्त अचित्तरूप हो जाता है और चित्त प्राणवृत्तियों का परित्याग करने से भी अचित्तरूप हो जाता है, इसलिए आप जैसा चाहें वैसा करें ॥ २६ ॥

चिरकाल तक प्राणायाम के अभ्यासों से, योगाभ्यास में कुशल गुरुजी के द्वारा उपदिष्ट युक्ति से तथा स्वस्तिक आदि आसनों के जय और हित, मित एवं मेध्य पदार्थों के अशन से प्राण-स्पन्दन रुक जाता है ॥ २७ ॥

त्रिकाल में बाधित न होनेवाले अर्थ के साक्षात्कार से वासना अपने कार्य के लिए प्रवृत्त नहीं होती। आदि,

रूपं तद्दर्शनं ज्ञानं क्षीयते तेन वासना ॥ २८ ॥
निःसङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥ २९ ॥
वासनाविभवे नष्टे न चित्तं सम्प्रवर्तते ।
संशान्ते पवनस्पन्दे यथा पांसुर्नभस्तले ॥ ३० ॥
यः प्राणपवनस्पन्दः चित्तस्पन्दः स एव हि ।
तस्माज्जगति जायन्ते पांसवोऽवकरादिव ॥ ३१ ॥
प्राणस्पन्दजये यत्नः कर्तव्यो धीमतोच्चकैः ।
उपविश्योपविश्यैकचित्तकेन मुहुर्मुहुः ॥ ३२ ॥
अथवैनं क्रमं त्यक्त्वा चित्ताक्रमणमेव चेत् ।
रोचते तत्तदाप्नोषि कालेन बहुना पदम् ॥ ३३ ॥
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ।
अङ्कुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम् ॥ ३४ ॥

मध्य और अन्त में कभी-भी पृथक् न होनेवाला सत्तामात्रस्वरूप पदार्थ सर्वत्र स्थित रहता है, वही सत्यभूत अर्थ है, उसको भली-भाँति जान लेना ज्ञान है। यही ज्ञान वासना का विनाश कर देता है ॥ २८ ॥

केवल बाह्य विषयों में आसक्ति रखने वाले मनुष्यों का संसर्ग छोड़कर या सङ्कल्प छोड़कर समयानुसार प्राप्त व्यवहारों के अनुष्ठान से सांसारिक मनोरथों के वर्जन से तथा शरीर में विनाशित्वबुद्धि से वासना प्रवृत्त नहीं होती है ॥ २९ ॥

वासनारूपी धनसम्पत्ति का विनाश हो जानेपर लज्जावश चित्त वैसे ही यत्र तत्र उड़ता नहीं है जैसे पवन-स्पन्दन के शान्त हो जानेपर आकाश-तल में धूलि नहीं उड़ती ॥ ३० ॥

प्राणवायु का व्यापार ही चित्तस्पन्दन है, उसी से समस्त जगत् वैसे ही उत्पन्न होते हैं, जैसे धूलि आदि के ढेर से रज उत्पन्न होती है ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान् पुरुष की एकाग्र चित्त से एकान्त में बैठ बैठकर प्राणवायु के स्पन्दन पर विजय पाने के लिए पुन: पुन: यत्न करना चाहिए ॥ ३२ ॥

इस उपाय को छोड़कर अन्य उपाय से यदि आप चित्त के ऊपर आक्रमण करना चाहते हैं, तो बहुत समय के बाद उस पद को प्राप्त करेंगे ॥ ३३ ॥

अध्यात्मविद्या और साधुसङ्गति—इन दो उपायों से प्रदर्शित दो प्रकार के योगों को छोड़कर अन्य किसी उपाय से दुर्दान्त मन का जय वैसे ही नहीं कर सकते,

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥ ३५ ॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ।
याभिस्तज्जीयते क्षिप्रं धाराभिरिव भूरजः ॥ ३६ ॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥ ३७ ॥
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम् ।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥ ३८ ॥
चित्तं चित्तस्य वाऽदूरं संस्थितं स्वशरीरकम् ।
साधयन्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान् हठान् विदुः ॥ ३९॥
भयाद्भयमुपायान्ति क्लेशात्क्लेशं व्रजन्ति ते ।
निर्धृतिं नाऽधिगच्छन्ति दुर्भगा इव जन्तवः ॥ ४० ॥
भ्रमन्ति गिरिकूटेषु फलपल्लवभोजनाः ।
मुग्धमुग्धधियो भीता वराका हरिणा इव ॥ ४१ ॥
मतिरालूनशीर्णाङ्गी तदीया पेलवाङ्गिका ।
न क्वचिद्याति विश्वासं मृगी ग्रामगता यथा ॥ ४२ ॥
कल्लोलकलितं चेतस्तेषां जल इवाऽहिते ।
प्रोह्यते प्रपतद्दूरं तृणं गिरिनदीष्विव ॥ ४३ ॥
कालं यज्ञतपोदानतीर्थदेवार्चनभ्रमैः ।
चिरमाधिशतोपेताः क्षपयन्ति मृगा इव ॥ ४४ ॥
आत्मतत्त्वं विधिवशात् कदाचित्केचिदेव ते ।
दुःखदोषशतादग्धा विदन्ति न विदन्ति वा ॥ ४५ ॥
आगमापायिनोऽनित्या नरकस्वर्गमानुषैः ।
पातोत्पातकराकाराः क्षीयन्ते कन्दुका इव ॥ ४६ ॥
इतो गच्छन्ति नरकं ततः स्वर्गमिहैव च ।
आवृत्तिभिर्निवर्तन्ते सरसीव तरङ्गकाः ॥ ४७ ॥

जैसे मदमत्त दुष्ट हाथी का अंकुश के बिना दूसरे उपाय से जय नहीं कर सकते ॥ ३४ ॥

अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, साधुसङ्गति, वासना का परित्याग और प्राणस्पन्दन का निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्त के ऊपर विजय पाने के निश्चितरूप से पुष्ट उपाय हैं। इनसे तत्काल चित्त वैसे ही विजित हो जाता है, जैसे जलधाराओं से भूमि की धूलि विजित हो जाती है ॥ ३५, ३६ ॥

इन सुन्दर युक्तियों के रहते जो पुरुष हठयोग से चित्त को वशीभूत करना चाहते हैं, वे प्रदीप का परित्याग कर अञ्जनों से अन्धकार का निवारण करना चाहते हैं ॥ ३७ ॥

जो मूढ पुरुष हठयोग से चित्त का जय करने के लिए उद्यत रहते हैं, वे उन्मत्त नागेन्द्र को मानो कमल तन्तुओं से बाँधने के लिये उद्यत हैं ॥ ३८ ॥

इन चार युक्तियों का त्यागकर जो पुरुष चित्त या चित्त के निकटवर्ती अपने शरीर को स्थिर करने के लिए दूसरा यत्न करते हैं, उन पुरुषों को साम्प्रदायिक लोग वृथा परिश्रमी कहते हैं ॥ ३९ ॥

एक भय से दूसरा भय, एक दुःख से दूसरा दुःख प्राप्त करते हैं। भाग्यहीन पापी जन्तुओं की तरह वे कहीं भी उत्तम धैर्यरूपी विश्रान्ति प्राप्त नहीं करते ॥ ४० ॥

पर्वत-प्रान्तों में फल और पत्तों का भक्षण कर रहे वे अत्यन्त मुग्धबुद्धि एवं भीरु होकर बिचारे हरिणों की तरह इतस्ततः परिभ्रमण किया करते हैं ॥ ४१ ॥

उन पुरुषों की चारों ओर से छिन्न, शीर्ण तथा तुच्छ अङ्गवाली बुद्धि किसी पदार्थ में वैसे ही विश्वास नहीं करती जैसे गाँव में आई हुई मृगी किसी का विश्वास नहीं करती ॥ ४२ ॥

उनका तरङ्गसदृश अतिचपल मन, जल में तरङ्गों की तरह भयस्थानों में ही उत्तरोत्तर जाता रहता है उनका विषयानुपातिस्वभाव चित्त राग आदि से बलपूर्वक अतिदूर वैसे ही खिंच जाता है जैसे पर्वत की चोटी से गिर रही प्रबल प्रवाह से युक्त नदियों में निपतित तृण जिस प्रकार अतिदूर बह जाता है ॥ ४३ ॥

यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, देवार्चन आदि भ्रमों के कारण असंख्य मानस पीड़ाओं से युक्त होकर मनुष्य वैसे ही वृथा कालक्षेप करते हैं जैसे मृग कालक्षेप करते हैं ॥ ४४ ॥

राग आदि सैकड़ों दोषों से झुलसे हुए वे आत्मस्वरूप नहीं जान पाते और उनमें से कोई ही कभी दैववश आत्मस्वरूप जान पाते हैं ॥ ४५ ॥

उत्पत्ति एवं विनाशशील, एकत्र स्थिर न रहने वाले तथा स्वर्ग, नरक और मनुष्य के भोगविशेषों के कारण, गेंद की तरह निपतन और उत्पतन कारक शरीर वाले होकर वे मरण आदि से पीड़ित हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

वे इस मृत्युलोक से नरक की ओर वैसे ही जाते हैं जैसे तालाब में तरङ्गें आती जाती रहती हैं। तदनन्तर वहाँ से स्वर्ग की ओर आते हैं और फिर यहीं मृत्युलोक में आते हैं, यों सैकड़ों आवर्तनों से घूमते रहते हैं ॥ ४७ ॥

तस्माच्चैतां परित्यज्य दुर्दृष्टिं रघुनन्दन ! ।
शुद्धां संविदमाश्रित्य वीतरागः स्थिरो भव ॥ ४८ ॥
ज्ञानवानेव सुखवान् ज्ञानवानेव जीवति ।
ज्ञानवानेव बलवांस्तस्माज्ज्ञानमयो भव ॥ ४९ ॥
संवेद्यवर्जितमनुत्तममाद्यमेकं
संवित्पदं विकलनं कलयन्महात्मन् ! ।
हृद्येव तिष्ठ कलनारहितः क्रियां तु
कुर्वन्नकर्तृपदमेत्य शमोदितश्रीः ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे संसृतिनिराकरणक्रमयोगोपदेशो नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

हे रघुनन्दन ! आप वर्णित हठादिरूप दुष्टबुद्धि का परित्याग कर शुद्ध संवित्ति का परिज्ञान कर रागशून्य होकर सुस्थिर हो जाएँ ॥ ४८ ॥

इस संसार में ज्ञानी ही सुखी हैं, ज्ञानी ही जीवित हैं और ज्ञानी ही बलवान् हैं, इसलिए आप ज्ञानी ही बलवान् हैं, इसलिए आप ज्ञानप्रचुर बन जाएँ ॥ ४९ ॥

हे महात्मन् ! विषयों से शून्य, अति-उत्तम, समस्त पदार्थों के हेतु तथा विकल्पों से रहित अद्वितीय संवित्-पद की भावना करते हुए तथा चित्त के संकल्प-विकल्पों से विमुख चित्त की बहिर्मुखता से शून्य होकर आप ब्रह्म-स्वरूप में स्थित हो जाएँ और व्युत्थानकाल में तो विहित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भी असङ्ग एवं शम से प्राप्त जीवन्मुक्त-गुण-सम्पत्ति से विराजमान होकर अकर्तृ पद की प्राप्ति कर स्थित हो जाइए ॥ ५० ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में संसृतिनिराकरणक्रमयोग उपदेश नामक कुसुमलता का बानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९२ ॥

९३

वसिष्ठ उवाच

मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः ।
मनागपि कृतो येन तेनाऽऽप्तं जन्मनः फलम् ॥ १ ॥
विचारकरिणका यैषा हृदि स्फुरति पेलवा ।
एषैवाऽभ्यासयोगेन प्रयाति शतशाखताम् ॥ २ ॥
किञ्चित्प्रौढविचारं तु नरं वैराग्यपूर्वकम् ।
संश्रयन्ति गुणाः शुद्धाः सरः पूर्णमिवाऽण्डजाः ॥ ३ ॥
सम्यग्विचारिणं प्राज्ञं यथाभूतावलोकिनम् ।
आसादयन्त्यपि स्फारा नाऽविद्याविभवा भृशम् ॥ ४ ॥
किं कुर्वन्तीह विषया मानस्यो वृत्तयस्तथा ।
आधयो व्याधयो वाऽपि सम्यग्दर्शनसन्मतेः ॥ ५ ॥
क्व भ्रमत्पवनापूरास्तडित्पटलपाटलाः ।
पुष्करावर्तजलदा गृहीता बालमुष्टिभिः ॥ ६ ॥
क्व नभोमध्यसंस्थेन्दुर्मुग्धैर्मणिसमुद्गकैः ।
मुग्धयाऽङ्गनया बद्धो मुग्धेन्दीवरशङ्कया ॥ ७ ॥

९३

श्री वसिष्ठजी ने कहा—थोड़े विचार से भी जिसने अपने चित्त का कुछ भी निग्रह कर लिया, उसने जन्म का फल पा लिया । अर्थात् आत्म-विचार ही मनुष्य जन्म का फल है ॥ १ ॥

हृदय में इस विचाररूपी कल्पवृक्ष का कोमल अङ्कुर प्रस्फुरित हो जाय, तो वही अङ्कुर अभ्यासयोग से सैकड़ों शाखाओं में फैल जाता है ॥ २ ॥

जिसने वैराग्यपूर्वक कुछ प्रौढ़-विचार करने वाले नररत्न का तो शम, दम आदि शुद्ध गुण वैसे ही आश्रयण करते हैं, जैसे जल से परिपूर्ण सरोवर का पक्षी और मत्स्य आश्रयण करते हैं ॥ ३ ॥

श्रीरामजी, आत्म-विचार से समन्वित तथा अच्छी तरह पारमार्थिक परब्रह्म साक्षात्कारसम्पन्न मेधावी विद्वान् प्रचय और प्रकर्ष से अविद्याकार्यरूप वैभव प्रसिद्ध हिरण्यगर्भपद आदि लुब्ध नहीं करते ॥ ४ ॥

आत्मा के यथार्थ ज्ञान से परिष्कृत बुद्धि महात्मा को यहाँ का विषय, मानसिक वृत्तियाँ, आधि और व्याधि—ये सब क्या कर सकते हैं अर्थात् निर्विकार आत्म-स्वरूप होने से कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते ॥ ५ ॥

खूब चल रहे पवनों से व्याप्त तथा विद्युत्-समूह से श्वेतरक्त प्रलयकाल का पुष्करावर्तनामक मेघ बालकों की मुष्टियों से कहीं निगृहीत होता है ? ॥ ६ ॥

मुग्ध अङ्गनाओं ने सुन्दर मणिमय पिटारियों से कमल-विकास में हेतुभूत गगन-मध्यगत चन्द्रमा कहीं बद्ध किया ? ॥ ७ ॥

क्व कटप्रोच्चलद्भृङ्गमण्डलोत्पलशेखराः ।
मुग्धस्त्रीश्वासमधुरैर्मशकैर्मथिता गजाः ॥ ८ ॥
क्वेभमुक्ताफलोल्लासलसत्सन्नखपञ्जराः ।
सिंहाः समरसंरब्धा हरिणैः प्रविमर्दिताः ॥ ९ ॥
क्व विषोल्लासनिर्यासदग्धोन्नतवनद्रुमाः ।
क्षुधिताजगराः क्षुद्रैर्निगीर्णा बालदर्दुरैः ॥ १० ॥
क्व प्राप्तभूमिको धीरो ज्ञातज्ञेयो विवेकवान् ।
आक्रान्तः किल विक्रान्तो विषयेन्द्रियदस्युभिः ॥ ११ ॥
विचारधियमप्रौढां हरन्ति विषयारयः ।
प्रचण्डपवना मृद्वीं कृत्तवृन्तां लतामिव ॥ १२ ॥
न विवेकलवं प्रौढं भङ्क्तुं शक्ता दुराशयाः ।
कल्पक्षोभमहाधीरं शैलं मन्दानिला इव ॥ १३ ॥
अगृहीतमहापीठं विचारकुसुमद्रुमम् ।

गण्डस्थलों से चलायमान भ्रमरमण्डलरूपी नील कमल जिनके मस्तकों में हैं, ऐसे हाथियों का मुग्ध अङ्गनाओं के श्वासों के द्वारा गजवध के लिए प्रेरित होने के कारण उत्साहरम्य मच्छरों ने कहाँ मन्थन किया ? ॥ ८ ॥

मत्त गजों के मुक्ताफलों की कान्तियों से सुशोभित नखपञ्जर वाले युद्ध में निपुण सिंह हरिणों के द्वारा कहीं मर्दित हुए हैं ? ॥ ९ ॥

विष की अधिकता के कारण स्वयं निकलने वाले रस के समान निःसृत बड़े-बड़े विष-बिन्दुओं से अरण्यवृक्ष को दग्ध करने वाले क्षुधित अजगरों को कहीं क्षुद्र मेढ़कों ने निगल लिया है ॥ १० ॥

चतुर्थ, पञ्चम आदि भूमिका प्राप्त करने वाले हैं और ज्ञेयतत्त्व के ज्ञाता विवेकी वीर विद्वान्, आगे की भूमिकाओं के ऊपर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील विषय तथा इन्द्रियरूपी चोरों के द्वारा कहीं पर अभिभूत हो सकता है ? ॥ ११ ॥

जैसे प्रचण्ड पवन छिन्नवृन्त (छिन्नाश्रय) लता का अपहरण कर डालते हैं वैसे ही विषयरूपी शत्रु अप्रौढ विचारबुद्धि का अपहरण कर डालते हैं ॥ १२ ॥

प्रौढता प्राप्त विवेक के लवमात्र का भी विनाश करने में दुष्ट राग आदि वृत्तियाँ वैसे ही समर्थ नहीं होती जैसे अवान्तर कल्पों के क्षोभों में महान् धीर होकर रहने वाले मेरु आदि पर्वतों का उच्चाटन करने में मन्द पवन समर्थ नहीं होते हैं ॥ १३ ॥

जिसने दृढ़मूल ग्रहण नहीं किया है, ऐसे विचार

चिन्तावात्या विधुन्वन्ति नाऽऽस्थिरस्थितिसुस्थितम् ॥१४॥
गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
न विचारमयं चेतो यस्याऽसौ मृत उच्यते ॥ १५ ॥
किमिदं स्याज्जगत् किं स्याद्देहमित्यनिशं शनैः ।
विचारयाऽध्यात्मदृशा स्वयं वा सज्जनैः सह ॥ १६ ॥
अन्धकारहरेणाऽऽशु विचारेण परं पदम् ।
दृश्यते विमलं वस्तु प्रदीपेनेव भास्वता ॥ १७ ॥
ज्ञानेन सर्वदुःखानां विनाश उपजायते ।
कृतालोकविलासेन तमसामिव भानुना ॥ १८ ॥
ज्ञाने प्रकटतां याते ज्ञेयं स्वयमुदेत्यलम् ।
रवावभ्युदिते भूमावालोक इव निर्मलः ॥ १९ ॥
येन शास्त्रविचारेण ब्रह्मतत्त्वं प्रबुद्ध्यते ।
तज्ज्ञानमुच्यते ज्ञेयादभिन्नमिव संस्थितम् ॥ २० ॥

रूपी पुष्प वृक्ष को चिन्तारूपी झंझावात कँपा देते हैं, परन्तु चारों ओर की सुदृढ़ स्थिति से भली प्रकार सुस्थित हुए विचाररूपी पुष्पवृक्ष को नहीं कँपाते ॥ १४ ॥

जाते या बैठते, जागते या सोते—इन सभी अवस्थाओं में जिस पुरुष का अन्तःकरण आत्मविचार से ओतप्रोत नहीं रहता, वह मृत कहा जाता है ॥ १५ ॥

यह जगत् क्या होगा ? यह देह क्या होगा, इस प्रकार निरन्तर धीरे-धीरे एकान्त में आप स्वयं अकेले या गुरु, सतीर्थ्य आदि के साथ अध्यात्मदृष्टि से विचार करें ॥ १६ ॥

जैसे प्रकाशमान दीपक के घटादि वस्तु दिखाई पड़ती है वैसे ही प्रमादरूपी अन्धकार का अपहरण करनेवाले आत्मविचार से तत्काल सर्वातिशायी निर्मल ब्रह्मरूप पद दिखाई पड़ता है ॥ १७ ॥

जैसे आलोक के द्वारा मनोरञ्जन करने वाले सूर्य से तमोभाग का विनाश हो जाता है वैसे आत्मस्वरूप के विज्ञान से समस्त दुःखों का विनाश हो जाता है ॥ १८ ॥

ज्ञानी अपनी प्रकाशरूपता प्राप्त कर लेने पर ज्ञेय ब्रह्म का पूर्णरूप से उदय वैसे ही स्वतः हो जाता है, जैसे सूर्य का अभ्युदय हो जानेपर भूभाग पर विमल प्रकाश का उदय स्वतः हो जाता है ॥ १९ ॥

शास्त्रीय भाषा में वही ज्ञान कहा जाता है जिस शास्त्रसम्बन्धी विचार से ब्रह्मस्वरूप अवगत हो जाता है, ज्ञेय ब्रह्म का आकार रूप और भेद का बाधरूप होने के कारण ज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न ही बनकर वह दृढ़ प्रतिष्ठित रहता है ॥ २० ॥

विचारोत्थात्मविज्ञानं ज्ञानमङ्ग विदुर्बुधाः ।
ज्ञेयं तस्याऽन्तरेवाऽस्ति माधुर्यं पयसो यथा ॥ २१ ॥

सम्यग्ज्ञानसमालोकः पुमान् ज्ञेयमयः स्वयम् ।
भवत्यापीतमैरेयः सदा मदमयो यथा ॥ २२ ॥

समं स्वरूपममलं ज्ञेयं ब्रह्म परं विदुः ।
ज्ञानाभिगममात्रेण तत्स्वयं सम्प्रसीदति ॥ २३ ॥

ज्ञानवानुदितानन्दो न क्वचित्परिमज्जति ।
जीवन्मुक्तो गतासङ्गः सम्राडात्मेव तिष्ठति ॥ २४ ॥

ज्ञानवान्हृद्यशब्देषु वीणावंशरवादिषु ।
कामिन्याः कान्तगीतेषु सम्भोगमलिनेषु च ॥ २५ ॥

वसन्तमदमत्तानां षट्पदानां स्वनेषु च ।
प्रावृट्सरपुष्पेषु जलदस्तनितेषु च ॥ २६ ॥

उत्ताण्डवशिखण्डेषु केकाकलरवेषु च ।
रणिताम्भोदखण्डेषु सारसक्वणितेषु च ॥ २७ ॥

कर्तर्यादिकरान्तेषु गम्भीरमुरजेषु च ।
ततावनद्धसुषिरचित्रवाद्यस्वनेषु च ॥ २८ ॥

केषुचिन्न निबध्नाति रूक्षेषु मधुरेषु च ।
रणितेषु रतिं राम ! पद्मेष्विव निशाकरः ॥ २९ ॥

ज्ञानवान् बालकदलीस्तम्भपल्लवपालिषु ।
सुरगन्धर्वकन्याङ्गलतानन्दनकेलिषु ॥ ३० ॥

केषु क्वचिन्न बध्नाति स्वायत्तेष्वप्यसक्तधीः ।
राम ! स्पर्शरतिं धीरो हंसो मरुमहीष्विव ॥ ३१ ॥

ज्ञानवान्पिण्डखर्जूरकदम्बपनसादिषु ।
मृद्वीकोर्वारुकाक्षोटबिम्बजम्बीरजातिषु ॥ ३२ ॥

मदिरामधुमैरेयमाध्वीकासवभूमिषु ।
दधिक्षीरघृतामिक्षानवनीतौदनादिषु ॥ ३३ ॥

हे अङ्ग ! पण्डित लोग आत्मविचार से उत्पन्न आत्मविज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं । जैसे दूध के अन्दर माधुर्य प्रच्छन्न रहता है वैसे ही उस ज्ञान के अन्दर ज्ञेय प्रच्छन्न रहता है ॥ २१ ॥

सम्यक् ज्ञान रूपी सुन्दर प्रकाश से युक्त पुरुष स्वयं अनुभूयमान ब्रह्मानन्द से वैसे ही प्रचुर रहता है जैसे मैरेय मदिराविशेष पी लेने वाला पुरुष सदा मदप्रचुर रहता है ॥ २२ ॥

सैन्धवघन की तरह एकरस स्वरूप रहने वाला निर्मल परब्रह्म ही ज्ञेय कहा जाता है । वह ज्ञेयरूप ब्रह्मज्ञान के आविर्भावमात्र से स्वयं समस्त अविद्या और उसके कार्य रूपी मलों से निर्मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

ज्ञान तथा आनन्दप्राप्त विद्वान् किसी भी विषय से लिप्त नहीं होता । समस्त सङ्गों से निर्मुक्त एवं जीवन्मुक्त वह ज्ञानी, राजाधिराज सम्राट् की आत्मा की तरह परिपूर्णमनोरथ होकर स्थित रहता है ॥ २४ ॥

जो ज्ञानी पुरुष है, वह—वीणा, वंशी की मधुर ध्वनि आदि मनोहर शब्दों में, कामिनियों के श्रृङ्गाररसमिश्रित कमनीय गीतों में; वसन्त काल में मदमत्त हुए भ्रमरों की गुंजार ध्वनियों में, वर्षा के विस्तार से जनित पुष्पों में, मेघों के गर्जनों में; मयूरों के ताण्डव नृत्यों तथा उनकी मधुर कूकध्वनियों में, शब्द किये हुए मेघों के खण्डों में, सरोवरस्थ सारस पक्षियों के श्रवणप्रिय शब्दों में; करताल आदि वाद्यविशेषों में, चमड़े से मढ़े गये गम्भीर मृदङ्ग आदि वाद्यों में, तन्त्री से निर्मित वीणा आदि, भीतर के छिद्र से युक्त वंशी आदि तथा चित्र-विचित्र कांस्यताल आदि वाद्यों की ध्वनियों में; कहीं पर भी ज्ञानी पुरुषों का चित्त नहीं लगता है ॥ २५-२८ ॥

हे श्रीराम ! ध्वनि रूक्ष हो चाहे मधुर, कहीं भी यह वैसा प्रेम नहीं करता जैसा कमलों में चन्द्रमा प्रेम नहीं करता ॥ २९ ॥

कोमल कदली के स्तम्भों की पल्लवपङ्क्तियों से युक्त तथा देवता एवं गन्धर्वों की कन्याओं के अङ्गों के सदृश अतिकोमल अवयव वाली लताओं से युक्त नन्दनवन की क्रीडाओं में कहीं आसक्तिवर्जित ज्ञानी पुरुष का किसी समय भी चित्त नहीं लगता ॥ ३० ॥

हे श्रीरामजी ! स्वाधीन विषयों में भी आसक्ति नहीं रखने वाला धीर तत्त्वज्ञ किसी भी विषय में वैसे ही भोग की इच्छा नहीं करता जैसे हंस मरुभूमि में भोग की इच्छा नहीं करता ॥ ३१ ॥

पिण्डखजूर, कदम्ब, कटहर, द्राक्षा, खरबूजा, अखरोट, बिम्ब तथा नारङ्गी आदि जाति के फलों में; मद्य, मधु, मैरेय, माध्वीक, आसव आदि मद्यविशेषों में; दहीं, दूध, घी, आमिक्षा, मक्खन, ओदन आदि भोज्य पदार्थों में; लेह्य, पेय आदि विलास-पूर्ण चित्र-विचित्र छः प्रकार के रसों में; अन्य फल, कन्दमूल शाक एवं मांस आदि पदार्थों में ज्ञानी पुरुष कहीं पर चित्त नहीं लगाता । वह तृप्तस्वरूप एवं असक्तमति है, जिस प्रकार आस्वादन में प्रेम रखने वाला वह ब्राह्मण अपने शरीर के टुकड़ों में प्रवृत्त

षड्रसेषु विचित्रेषु लेह्यपेयविलासिषु ।
फलेष्वन्येषु मूलेषु शाकेष्वप्यामिषेषु च ॥ ३४ ॥
केषुचिन्नाऽनुबध्नाति तृप्तमूर्त्तिरसक्तधीः ।
आस्वादनरतिर्विप्रः स्वशरीरलवेष्विव ॥ ३५ ॥

ज्ञानवान्यमचन्द्रेन्द्ररुद्रार्कानिलसद्मसु ।
मेरुमन्दरकैलाससह्यदर्दुरसानुषु ॥ ३६ ॥

कौशेयदलजालेषु चन्द्रबिम्बकलादिषु ।
कल्पपादपकुञ्जेषु देहशोभाविलासिषु ॥ ३७ ॥

रत्नकाञ्चनकुड्येषु मुक्तामणिमयेषु च ।
तिलोत्तमोर्वशीरम्भामेनकाङ्गलतासु च ॥ ३८ ॥

केषुचिद्दर्शनं श्रीमान्नाऽभिवाञ्छत्यसक्तधीः ।
परिपूर्णमना मानी मौनी शत्रुषु चाऽचलः ॥ ३९ ॥

ज्ञानवान् कुन्दमन्दारकह्लारकमलादिषु ।
कुमुदोत्पलपुन्नागकेतक्यगुरुजातिषु ॥ ४० ॥

कदम्बचूतजम्ब्वाम्रकिंशुकाशोकशाखिषु ।
जपातिमुक्तसौवीरबिम्बपाटलजातिषु ॥ ४१ ॥

चन्दनागुरुकर्पूरलाक्षामृगमदेषु च ।
काश्मीरजलवङ्गैलाकङ्कोलतगरादिषु ॥ ४२ ॥

केषुचिन्न निबध्नाति सौगन्ध्यरतिमेकधीः ।
समबुद्धिरविक्षोभो मद्यामोदेष्विव द्विजः ॥ ४३ ॥

अब्धौ गुडगुडारावे प्रतिश्रुत्खस्वने गिरौ ।
निनादे च मृगेन्द्राणां न क्षुभ्यति मनागपि ॥ ४४ ॥

द्विषड्ढेरीनिनादेन पटहारणितेन च ।
कटुकोदण्डघोषेण न बिभेति मनागपि ॥ ४५ ॥

मत्तवारणबृंहासु वेतालकलनासु च ।
पिशाचरक्षःक्ष्वेडासु मनागपि न कम्पते ॥ ४६ ॥

अशनिस्वनघोषेण नगस्फोटरवेण च ।
ऐरावणनिनादेन सम्यग्ध्यानी न कम्पते ॥ ४७ ॥

वहत्क्रकचकाषेण सितासिदलनेन च ।
शराशनिनिपातेन कम्पते न स्वरूपतः ॥ ४८ ॥

नाऽऽनन्दमेत्युपवने न खेदमुपगच्छति ।
न खेदमेति मरुषु नाऽऽनन्दमुपगच्छति ॥ ४९ ॥

नहीं होता है वैसे ही भोग्य पदार्थों में प्रवृत्त नहीं होता है ॥ ३२-३४ ॥

यमराज, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य और वायु के स्थानों में; मेरु, मन्दराचल, कैलास, सह्याद्रि तथा दर्दुर पर्वत के कौशेयसदृश मृदु एवं चिक्कन पल्लवसमूहों से युक्त शिखरों में; चन्द्रबिम्ब की कला आदि में, दिव्य शरीर सम्पत्ति से क्रियमाण क्रीडाओं से युक्त कल्पवृक्षों के निकुञ्जों में; रत्नयुक्त सुवर्णभित्ति से निर्मित्त मोती और मणिप्रचुर सुन्दर घरों में; तिलोत्तमा, ऊर्वशी, रम्भा मेनका आदि की अङ्गलताओं में ज्ञानी श्रीमान् महात्मा कहीं पर भी असक्त होने के कारण दृष्टिपात नहीं चाहता वह परिपूर्ण, अमानी, मौनी एवं शत्रुओं के विषय में अचल है अतः द्वेष से कम्पित नहीं होता है ॥३५—३९॥

कनेर, मन्दार, कल्हार, कमल आदि में; कई, नील-कमल, चंपा, केतकी, अगर, जाति (मालती) आदि पुष्पों में; कदम्ब, आम्र, जामुन, पलाश एवं अशोक वृक्षों में; जपा, माधवी, बेर, बिम्ब, पाटल तथा चमेली आदि में; चन्दन, अगुरु, कपूर, लाह एवं कस्तुरी में; केसर, लवङ्ग, एला, कङ्कोल शीतल चीनी के वृक्ष का भेद तगर आदि अङ्गारागों में से किसी की सुगन्ध में समबुद्धि, प्रिय, अप्रिय सब स्थानों में समदृष्टि रखने वाला तथा अप्रिय में क्षोभशून्य ज्ञानवान् पुरुष वैसे ही प्रेम नहीं करता, जैसे मदिरा की गन्ध में श्रोत्रिय द्विज प्रेम नहीं करता ॥ ४०-४३ ॥

ज्ञानवान् पुरुष गड़गड़ाहट ध्वनि से युक्त सागर के, प्रतिध्वनिरूप आकाशजनित शब्द के, पर्वत में सिंहों के गर्जनों के होनेपर भी तनिक क्षुब्ध नहीं होता है ॥ ४४ ॥

ज्ञानवान् पुरुष शत्रुओं के नगारे आदि के शब्दों से, डमरू के कर्णकटु धनुष के टङ्कार से तनिक भी भीत नहीं होता है ॥ ४५ ॥

ज्ञानवान् पुरुष मदोन्मत्त हाथियों के चिंघाड़ने के शब्द, बेतालों की कलह आदि ध्वनि तथा पिशाच एवं राक्षसों का सिंहनाद होनेपर भी कम्पित नहीं होता ॥४६॥

व्रज के भयावह शब्द से, पर्वत के विस्फोट से एवं ऐरावत के चिंघाड़ने से परब्रह्म में ध्यान लगने वाला विद्वान् कम्पित नहीं होता है ॥ ४७ ॥

चल रहे आरे के घर्षण से, चमचमाती हुई तलवार के विदलन से, बाण एवं वज्र के सम्पात से अपनी स्वरूप-स्थितिरूप समाधि से ज्ञानवान् पुरुष विचलित नहीं होता है ॥ ४८ ॥

ज्ञानी पुरुष वाटिका में न आनन्द प्राप्त करता है और न खेद एवं मरुभूमि में न खेद प्राप्त करता है और न आनन्द ॥ ४९ ॥

पूताङ्गारसमाकल्पसैकतेष्वपि धन्वसु ।
पुष्पप्रसरसञ्छन्नमृदुशाद्वलभूमिषु ॥ ५० ॥
क्षुरधारासु तीक्ष्णासु शय्यासु च नवोत्पलैः ।
उन्नताचलदेशेषु कूपकोशतलेषु च ॥ ५१ ॥
शिलास्वर्कांशुरूक्षासु मृद्वीषु ललनासु च ।
सम्पत्स्वापत्सु चोग्रासु रमणेषूत्सवेषु च ॥ ५२ ॥
विहरन्नपि नोद्वेगी नाऽऽनन्दमुपगच्छति ।
अन्तर्मुक्तमना नित्यं कर्मकर्तेव तिष्ठति ॥ ५३ ॥
अयःसङ्कुचिताङ्गासु नरकारण्यभूमिषु ।
परस्परेरितानन्तकुन्ततोमरवृष्टिषु ॥ ५४ ॥
न बिभेति न वाऽऽदत्ते वैवश्यं न च दीनताम् ।
समः स्वस्थमना मौनी धीरस्तिष्ठति शैलवत् ॥ ५५ ॥
अपवित्रमपथ्यं च विषसिक्तं मलाद्यपि ।
भुक्त्वा जरयति क्षिप्रं क्लिन्नं नष्टं च मृष्टवत् ॥ ५६ ॥

ज्ञानवान् पुरुष भस्म से रहित उज्ज्वल अङ्गारों के सदृश असह्य बालू से युक्त मरुप्रदेशों में, पुष्पों के समूहों से आच्छादित मृदु घासमय भूमियों में, तीक्ष्ण छुरे की धारों में, नवीन कमलों से निर्मित शय्याओं में, उन्नत पर्वत के प्रदेशों में, कुओं के अन्दर की निम्न भूमियों में, सूर्य-किरणों से प्रतप्त शिलाओं में, लोमल ललनाओं में, संपत्तियों में, उग्र विपत्तियों में क्रीड़ाओं में तथा उत्सवों विहार कर रहा न उद्वेग प्राप्त करता है और न तो आनन्द प्राप्त करता है। वह भीतर से सदा मुक्त और बाहर से कर्मकर्ता की तरह स्थित रहता है ॥ ५०–५३ ॥

ज्ञानी पुरुष महर्षि माण्डव्य की तरह प्रारब्ध कर्मों से प्राप्त अङ्गों को संकुचित करने वाली नरक की अरण्य भूमियों में, जहाँ पर एक दूसरों के द्वारा अनेक बर्छी तोमर आदि शस्त्र विशेषों की वृष्टि हो रही है, न भीत होता है, न व्याकुल होता है और न तो दीन होता है, परन्तु वह सम, स्वस्थमन, मौनी और धीर होकर पर्वत की तरह अटल रहता है ॥ ५४–५५ ॥

वैसे ही ज्ञानी पुरुष अपवित्र, अपथ्य, विषयुक्त, गोमय आदि मल, आर्द्र तथा रसवर्जित पदार्थों को खाकर भी तत्क्षण उस प्रकार पचा देता है, जेसे साधारण मनुष्य परिष्कृत अन्न को खाकर पचा देता है ॥ ५६ ॥

किसी प्रकार की विषया-सक्ति रहने पर तत्त्वज्ञ तत्क्षण बुद्धि का विनाश करने वाला बिम्ब का फल

बिम्बप्रतिविषाकल्कक्षीरेक्षुसलिलान्धसाम् ।
असक्तबुद्धिस्तत्त्वज्ञो भवत्यास्वादने समः ॥ ५७ ॥
मैरेयमदिराक्षीररक्तमेदोरसासवैः ।
रूक्षास्थितृणकेशान्तैर्न हृष्यति न कुप्यति ॥ ५८ ॥
जीवितस्याऽपि हर्तारं दातारं चैकरूपया ।
दृशा प्रसादमाधुर्यशालिन्या परिपश्यति ॥ ५९ ॥
स्थिरास्थिरशरीरेषु रम्यारम्येषु वस्तुषु ।
न हृष्यति ग्लायति वा सदा समतयेद्धया ॥ ६० ॥
मुक्तास्थत्वादनास्थेयरूपत्वाज्जगतः स्थितौ ।
नूनं विदितवेद्यत्वान्नीरागत्वात्स्वचेतसः ॥ ६१ ॥
न कस्यचिन्नो कदाचिदक्षस्य विषयस्थितौ ।
ददाति प्रसरं साधुराधिप्रोज्झिततया धिया ॥ ६२ ॥
अतत्त्वज्ञमविश्रान्तमलब्धात्मानमस्थितम् ।
निगिरन्तीन्द्रियाण्याशु हरिणा इव पल्लवम् ॥ ६३ ॥

(कुन्दरू का फल), विषप्राय सब ओर से कषाय लगने वाला फल, क्षीर, इक्षुरस, जल, ओदन—इन सब विषयों के आस्वादन में तुल्यचित्त रहता है ॥ ५७ ॥

ज्ञानवान् पुरुष मैरेय मद्यविशेष, मदिरा, क्षीर, रक्त, चरबी, आसव, रूक्ष हड्डी, तृण और केश—इन सब से न प्रसन्न होता है और न कुपित ही होता है ॥ ५८ ॥

ज्ञानी पुरुष जीवन का विनाश करने वाला तथा जीवन का दान देने वाला—इन दोनों पुरुषों को प्रसन्नता एवं मधुरता से शोभित समदृष्टि से देखता है ॥ ५९ ॥

समभावना सदा प्रदीप्त रहने पर ज्ञानवान् चिरस्थायी देव शरीर तथा कुछ काल तक स्थायी मर्त्य शरीर एवं उनके भोग्य रमणीय तथा अरमणीय वस्तु—इन सब के विषय में न हर्ष करता है और न ग्लानि करता है ॥६०॥

अपने चित्त में आसक्ति का अभाव तथा विषयस्वरूप का भली-भाँति ज्ञान हो जाने पर जगत् की स्थिति में ज्ञानी आस्था नहीं रखता है। ज्ञानी साधु पुरुष आस्था के आयोग्यरूप होने से किसी भी समय किसी इन्द्रिय को विषय प्रवृत्ति के लिए अवसर नहीं देता, क्योंकि उसकी बुद्धि समस्त मानस पीडाओं से निर्मुक्त हो चुकी है ॥ ६१–६२ ॥

इन्द्रियाँ तत्त्वज्ञान से शून्य, विश्रान्ति से वर्जित, अप्राप्त-आत्मा तथा स्थितिशून्य मनुष्य को वैसे ही तत्काल निगल जाती हैं जैसे हरिण पल्लव निगल जाते हैं ॥ ६३ ॥

उह्यमानं भवाम्भोधौ वासनावीचिवेल्लितम् ।
निगिरन्तीन्द्रियग्राहा महाक्रन्दपरायणम् ॥ ६४ ॥

विचारिणं भव्यपदं विश्रान्तधियमात्मनि ।
न हरन्ति विकल्पौघा जलौघा इव पर्वतम् ॥ ६५ ॥

सर्वसङ्कल्पसीमान्ते विश्रान्ता ये परे पदे ।
तेषां लब्धस्वरूपाणां मेरुरेव तृणायते ॥ ६६ ॥

जगज्जरत्तृणलवो विषं चाऽमृतमेव च ।
क्षणः कल्पसहस्रं च सममाततचेतसाम् ॥ ६७ ॥

संविन्मात्रं जगदिति मत्वा मुदितबुद्धयः ।
संविन्मयत्वादन्तःस्थजगत्का विहरन्त्यमी ॥ ६८ ॥

संविन्मात्रपरिस्पन्दे जागते वस्तुपञ्जरे ।
किं हेयं किमुपादेयमिह तत्त्वविदां मतम् ॥ ६९ ॥

निरन्तर महान् क्रन्दन करने में तत्पर अज्ञानी को संसार-समुद्र में बह रहे, वासनारूपी वीचियों से वेष्टित इन्द्रियरूपी मगर निगल जाते हैं ॥ ६४ ॥

विचारवान्, एकमात्र ब्रह्मरूप पद में समासीन तथा आत्मा में बुद्धि की विश्रान्ति लेने वाला महामति लोभ आदि विकल्पसमूहों से वैसे ही बहाया नहीं जा सकता जैसे जलप्रवाहों से पर्वत बहाया नहीं जा सकता है ॥ ६५ ॥

समस्त संकल्पों की सीमा के अन्तभूत परम पद में विश्रान्ति सम्पन्न प्राप्तस्वरूप महात्माओं की दृष्टि में मेरु-पर्वत भी तृण के सदृश है ॥ ६६ ॥

परिपूर्ण आत्माकार के प्रतिफलन से विशाल चित्त महात्माओं की दृष्टि में जगत्, जीर्ण तिनके का टुकड़ा, विष, अमृत, क्षण और हजारों कल्प सभी समान रूप हैं ॥ ६७ ॥

जगत् को चिन्मात्र रूप जानकर प्रमुदिततमति तथा समस्त जगत् में आन्तर प्रत्यगात्मरूपता के अवलोकन से अन्तःस्थ जगत् वाले महात्मा संविन्मय होकर सर्वत्र विहार करते हैं ॥ ६८ ॥

तत्त्वज्ञों का मत है कि संविन्मात्र के परिस्पन्दनस्वरूप जगत् के पिंजड़े में क्या हेय और क्या उपादेय हो सकता है ? अर्थात् न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय है ॥६९॥

हे निष्पाप राम ! समस्त जगत् संविदात्मक होने से आप अन्यता-भ्रान्ति का परित्याग कर दें, प्रकाशात्मक चित्प्रचुर स्वरूप वाला तत्त्व क्या त्यागेगा और क्या ग्रहण करेगा ?॥ ७० ॥

संविदेवेदमखिलं भ्रान्तिमन्यां त्यजाऽनघ ! ।
संविन्मयवपुः स्फारं किं जहाति किमीहते ॥ ७० ॥

यदेतज्जायते भूमेर्भविष्यत्पल्लवाङ्कुरम् ।
तत्संविदेव प्रथते तथा तत्त्वाङ्कुरस्थितम् ॥ ७१ ॥

आदावन्ते च यन्नाऽस्ति वर्तमानेऽपि तस्य च ।
कञ्चित्काललवं दृष्टा सत्ताऽसौ संविदो भ्रमः ॥ ७२ ॥

इति मत्वा धियं त्यक्त्वा भावाभावानुपातिनीम् ।
निःसङ्गसंविद्रूपो भव भावान्तमागतः ॥ ७३ ॥

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
कर्म कुर्वन्न कुर्वन्वा निःसङ्गः सन्न लिप्यते ॥ ७४ ॥

गतसङ्गेन मनसा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।
सुखदुःखैर्महाबाहो ! मनोरथदशास्विव ॥ ७५ ॥

भूतकालीन पदार्थों में किसी की इच्छा नहीं होती, अतः अज्ञानीरूपी हरिणों के द्वारा वर्तमानकालीन जो कुछ भूमि से पल्लवाङ्कुरप्राय पदार्थ उत्पन्न होते हैं और भविष्यत्कालीन जो कुछ भूमि से पल्लवाङ्कुररूप पदार्थ उत्पन्न होने वाले हैं, ये ही स्पृहणीय हैं, जैसे तत्त्वज्ञ की दृष्टि से उन सब का संविद्रूप से प्रथन होता है, वैसे ही आकाशादि तत्त्वों के अङ्कुर की तरह स्थित शब्द, स्पर्श आदि अन्य विषयों का भी तत्त्वज्ञ की दृष्टि से संविद्रूप से ही प्रथन होता है ॥ ७१ ॥

आदि और अन्त में अस्तित्वहीन यदि वर्तमान काल में कुछ-काल तक सत्ता देखी जाय, तो वह संबित् का एक भ्रम ही है ॥ ७२ ॥

युक्तिपूर्वक मनन से इस विषय को दृढकर तथा 'यह भावरूप है और यह अभावरूप है' इस प्रकार विकल्पयुक्त मति का त्यागकर भाव के बाध स्वरूप ब्रह्म में प्राप्त आप सङ्गशून्य प्रकाशमान संविद्रूप हो जाएँ ॥ ७३ ॥

शरीर, मन; बुद्धि तथा आसक्तिदोष से रहित इन्द्रियों से व्युत्थानकाल में कर्म करे या समाधिकाल में न करे, ज्ञानी असङ्ग होने के कारण कर्म या अकर्म किसी से लिप्त नहीं होता ॥ ७४ ॥

हे महाबाहो ! ज्ञानी पुरुष सङ्ग रहित मन से कर्मानुष्ठान करे, चाहे न करे, तज्जनित सुखदुःखों से वैसे ही लिप्त नहीं होता जैसे मनोराज्य की संपत्तियों के नष्ट होने या न होने पर, तज्जनित सुख-दुःखों से कोई भी लिप्त नहीं होता ॥ ७५ ॥

गतसङ्गां मतिं कुर्वन् कुर्वन्नप्यङ्गयष्टिभिः ।
न लिप्यते सुखैर्दुःखैर्मनोरथदशास्विव ॥ ७६ ॥
गतसङ्गमना दृष्ट्या पश्यन्नपि न पश्यति ।
एतदन्यस्थचित्तत्वाद् बालेनाऽप्यनुभूयते ॥ ७७ ॥
गतसङ्गमना जन्तुः पश्यन्नेव न पश्यति ।
न शृणोत्यपि शृण्वंश्च न स्पृशत्यपि च स्पृशन् ॥ ७८ ॥
न जिघ्रत्यपि संजिघ्रन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
पदार्थे च पतत्येव बलात्पतति नाऽप्ययम् ॥ ७९ ॥
देशान्तरस्थचेतोभिरेतदात्मगृहस्थितैः ।
अप्रौढमतिभिः साधु मूर्खैरप्यनुभूयते ॥ ८० ॥
सङ्गः कारणमर्थानां सङ्गः संसारकारणम् ।
सङ्गः कारणमाशानां सङ्गः कारणमापदाम् ॥ ८१ ॥
सङ्गत्यागं विदुर्मोक्षं सङ्गत्यागादजन्मता ।
सङ्गं त्यज त्वं भावानां जीवन्मुक्तो भवाऽनघ ! ॥८२॥

आत्मा में अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व का अनुभव हो जाने पर बुद्धि को वीतसङ्ग शरीर आदि उपकरणों से व्यवहार निरत भी ज्ञानी सुखदुःखात्मक अनुकूल प्रतिकूल भावों से वैसे ही लिप्त नहीं होता है जैसे मनोराज्य के वैभवों के आगमापायों से अज्ञानी लिप्त नहीं होता ॥ ७६॥

विषयों के साथ संसर्ग से शून्य अन्तःकरण वाला महात्मा चक्षु से विषयों को देख कर भी उन्हें नहीं देखता क्योंकि उसका चित्त अन्यत्र परब्रह्म में लगा हुआ है। अन्यत्र चित्त रहने पर वह विषय नहीं देखता, यह बात बालक को भी अनुभूत है ॥ ७७ ॥

विषयसङ्ग से शून्य मनवाला प्राणी सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता ॥ ७८ ॥

यह अन्यत्रमना योगी भली प्रकार सूँघ कर भी नहीं सूँघता, नेत्र उन्मीलित कर भी उन्मीलित नहीं करता, अपने अपने विषयों में संस्कारवश कर्मेन्द्रियों के संसृष्ट होने पर भी यह संसृष्ट नहीं होता ॥ ७९ ॥

जिन का मन अन्यत्र चला गया है, ऐसे अपने घर में रहने वाले मूर्ख एवं अप्रौढ़मति बालक, पशु आदि विषयों को देख कर भी नहीं देखता आदि अर्थ का अनुभव करते हैं, इस विषय में उनको किसी प्रकार का विवाद नहीं है ॥ ८० ॥

आसक्ति ही संसार की कारण है, आसक्ति ही समस्त पदार्थों की हेतु है, आसक्ति ही रम्य विषयों की अभिलाषाओं की जनक है और आसक्ति ही समस्त विपत्तियों

श्रीराम उवाच
सर्वसंशयनीहारशरन्मारुत हे मुने ! ।
सङ्गः किमुच्यते ब्रूहि समासेन मम प्रभो ! ॥ ८३ ॥
वसिष्ठ उवाच
भावाभावे पदार्थानां हर्षामर्षविकारदा ।
मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥ ८४ ॥
जीवन्मुक्तशरीराणामपुनर्जन्मकारिणी ।
मुक्ता हर्षविषादाभ्यां शुद्धा भवति वासना ॥ ८५ ॥
तामसङ्गाभिधां विद्धि यावद्देहं च भाविनी ।
तया यत्क्रियते कर्म न तद् बन्धाय वै पुनः ॥ ८६ ॥
अजीवन्मुक्तरूपाणां दीनानां मूढचेतसाम् ।
युक्ता हर्षविषादाभ्यां बन्धनी वासना भवेत् ॥ ८७ ॥
सैवोक्ता सङ्गशब्देन पुनर्जननकारिणी ।
तया यत्क्रियते कर्म तद् बन्धायैव केवलम् ॥ ८८ ॥

की उत्पादिका है ॥ ८१ ॥

हे निष्पाप रामजी ! सङ्गपरित्याग मोक्ष वर्तमान देह आदि से सम्बन्ध की निवृत्ति है, यह महर्षियों का मत हैं । सङ्गत्याग से जन्म (भावी देहादिबन्धन) छूट जाता है, अतः आप पदार्थों का संसर्ग छोड़ दें और जीवन्मुक्त हो जाएँ ॥ ८२ ॥

श्रीरामजी ने कहा—हे महामुने ! अखिल संशयरूपी कुहरे के लिए शरत्काल के वायुरूप सङ्ग किसे कहते हैं ? हे प्रभो ! यह मुझ से कहें ॥ ८३ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—मुनियों के मत में इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति तथा अप्राप्ति होने पर हर्ष और विषादरूप विकार उत्पन्न करने वाली मलिन रागादि वासना ही सङ्ग है ॥ ८४ ॥

जीवन्मुक्त शरीर तत्त्ववेत्ताओं को पुनर्जन्म न देने वाली हर्ष एवं विषाद दोनों से निर्मुक्त शुद्ध वासना होती है ॥ ८५ ॥

उस शुद्ध वासना का नाम असङ्ग है, इसे आप जानें। उसके रहने तक किन्तु अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का विनाश नहीं होता है। उस वासना से जो कुछ किया जाता है, वह पुनः संसार का कारण नहीं होता है ॥ ८६ ॥

जीवन्मुक्त स्वरूप से असम्पन्न दीन एवं मूढमति वासना हर्ष तथा विषाद—इन दोनों से मिली हुई रहती है, यह वासना बन्ध संसार देनेवाली होती है ॥ ८७ ॥

बन्धकारक इस वासना का नाम सङ्ग है, यह पुनर्जन्म प्रदान करती है, इस वासना से किया गया केवल बन्धन का ही हेतु होता है ॥ ८८ ॥

एवंरूपं परित्यज्य सङ्गं स्वात्मविकारदम् ।
यदि तिष्ठसि निर्व्यग्रः कुर्वन्नपि न लिप्यसे ॥ ८९ ॥

हर्षामर्षविषादाभ्यां यदि गच्छसि नाऽन्यताम् ।
वीतरागभयक्रोधस्तदसङ्गोऽसि राघव ! ॥ ९० ॥

दुःखैर्न ग्लानिमायासि यदि हृष्यसि नो सुखैः ।
आशावैवश्यमुत्सृज्य तदसङ्गोऽसि राघव ! ॥ ९१ ॥

विहरन्व्यवहारेषु सुखदुःखदशासु च ।
न विमुञ्चसि सत्साम्यं तदसङ्गोऽसि राघव ! ॥ ९२ ॥

संवेद्यो यदि चैवाऽऽत्मा वेदिते लक्ष्यते समः ।
यथाप्राप्तानुवर्ती च तदसङ्गोऽसि राघव ! ॥ ९३ ॥

असङ्गतामनायासाज्जीवन्मुक्तस्थितिं स्थिराम् ।
अवलम्ब्य समः स्वस्थो वीतरागो भवाऽनघ ! ॥ ९४ ॥

जीवन्मुक्तमतिर्मौनी निगृहीतेन्द्रियग्रहः ।
अमानमदमात्सर्यमार्यस्तिष्ठति विज्वरम् ॥ ९५ ॥

अपनी आत्मा में विकार पैदा करने वाले इस स्वरूप के सङ्ग का त्याग कर यदि आप स्वस्थ होकर स्थित रहें, तो व्यवहार निरत होते हुए भी आप उससे लिप्त नहीं होंगे ॥ ८९ ॥

हे राघव यह निश्चित है कि हर्ष, अमर्ष एवं विषाद से अन्य रूपता प्राप्त न करने पर आप राग, भय और क्रोध से रहित होकर असङ्ग रूप हो जायें, यह निश्चित है ॥ ९० ॥

हे राघव ! दुःखों से ग्लानि न होनेपर सुखों से प्रसन्नता न होने पर आशाओं की परवशता का परित्याग कर असङ्ग हो जायेंगे ॥ ९१ ॥

आप व्यवहारों एवं सुख-दुःख की अवस्थाओं में विचरण करते हुए भी यदि ब्रह्मैकरसता परित्याग करें, तो आप असङ्ग ही हैं ॥ ९२ ॥

हे राघव ! संवेद्य पदार्थ चित्तस्वभाव है, ज्ञान होने पर वह आपको एकरूप लक्षित होता है और आप जैसा व्यवहार प्राप्त है, तदनुसार व्यवहार करते हैं, तो आप असङ्ग हैं ॥ ९३ ॥

हे निष्पाप ! बिना परिश्रम से सिद्ध असङ्गता ही सुदृढ जीवन्मुक्त की अवस्था है, उसका अवलम्बन कर आप एकरूप, स्वस्थ और वीतराग हो जाएँ ॥ ९४ ॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी मौनी और इन्द्रियरूपी पाशों को वश में रखनेवाला ज्ञानवान् आर्य पुरुष मान, मद और मात्सर्य से शून्य तथा चिन्ताज्वर से रहित होकर स्थित रहता है ॥ ९५ ॥

सदा समग्रेऽपि हि वस्तुजाले
समाशयोऽप्यन्तरदीनसत्वः ।
व्यापारमात्रात्सहजात्क्रमस्था-
न्न किञ्चिदप्यन्यदसौ करोति ॥ ९६ ॥

यदेव किञ्चित्प्रकृतं क्रमस्थं
कर्तव्यमात्मीयमसौ तदेव ।
संसर्गसम्बन्धविहीनयैव
कुर्वन्नखेदं रमते धियाऽन्तः ॥ ९७ ॥

अथाऽऽपदं प्राप्य सुसम्पदं वा
महामतिः स्वप्रकृतं स्वभावम् ।
जहाति नो मन्दरवेल्लितोऽपि
शौक्ल्यं यथा क्षीरमयाम्बुराशिः ॥ ९८ ॥

सम्प्राप्य साम्राज्यमथाऽऽपदं वा
सरीसृपत्वं सुरनाथतां वा ।
तिष्ठत्यखेदोदयमस्तहर्षं
क्षयोदयेष्विन्दुरिवैकरूपः ॥ ९९ ॥

भोग, विक्षेप आदि के साधन प्रचुर पदार्थों के रहते हुए भी सबमें समान भाव रखने वाला तथा बाहर एवं भीतर इच्छा एवं याच्ञा आदि दीनता से रहित अन्तःकरण वाला महात्मा एकमात्र अपने वर्णाश्रमोचित स्वाभाविक क्रम-प्राप्त व्यापार से पृथक् दूसरा कुछ भी व्यापार नहीं करता है ॥ ९६ ॥

ज्ञानी वर्णाश्रमानुसार परम्परा-प्राप्त कर्तव्य क्रियाभिनिवेश और फलाभिलाषा से रहित बुद्धि से खेद छोड़कर अनुष्ठान कर अपनी आत्मा में रमण करता है ॥ ९७ ॥

आपत्ति पाकर अथवा उत्तम सम्पत्ति पाकर महामति तत्त्वज्ञ अपना पूर्वसिद्ध शम, दम, प्रसन्नता, समदर्शन आदि स्वभाव वैसे ही नहीं छोड़ता है जैसे मन्दराचल पर्वत से मथित क्षीरप्रचुर वारिसमुद्र अपना स्वाभाविक शुक्लपन नहीं छोड़ता ॥ ९८ ॥

ज्ञानी सामाज्य और दरिद्रता आदि आपत्ति तथा सर्पादियोनि अथवा देवताओं की स्वामिता प्राप्तकर खेदशून्य तथा हर्षशून्य होकर वैसे ही एक रूप से स्थित रहता है ॥ ९९ ॥

निरस्तसंरम्भमपास्तभेदं
प्रशान्तनानाफलवल्गुवेषम् ।
विचारयाऽऽत्मानमदीनसत्वो
यथा भवस्युत्तमकार्यनिष्ठः ॥१००॥

तयोदितप्रसरविलासशुद्धया
गतज्वरं पदमवलम्बयाऽलम् ।
धियेद्धया पुनरिह जन्मबन्धनै-
र्न बध्यसे समधिगतात्मदृश्यया ॥१०१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
समदर्शनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

उपशमप्रकरणं सम्पूर्णम् ।

दीनता का परित्याग कर आत्मा और अनात्मा के भेद के तथा नानाफलक तुच्छस्वरूप कर्मों का त्याग कर आत्मा का विचार करे । इस विचार से उत्तम कार्यनिष्ठ हो अवश्य सम्पादन करने योग्य अन्तिम पुरुषार्थ में स्थित हो जायँ ॥ १०० ॥

आत्म-विचार से प्राप्त समाधि के विलास से समस्त वासनाओं का विनाश होने से अतिशय निर्मल समाधिगत आत्मतत्त्वरूप अवश्यद्रष्टव्य पदार्थ से समन्वित तथा अविद्या और अविद्याकार्य के विनाश में समर्थ होने के कारण दीप्त बुद्धि से दुःखवर्जित निरतिशयात्मक सुख-स्वरूप परमपद का अवलम्बन कर स्थित हो जायँ । आप फिर इस संसार में जन्मों के बन्धनों से बद्ध न होंगे । आत्मा का साक्षात्कार ही अविद्या और उसके कार्य तथा अविद्या के संस्कार का शमन करता है ॥ १०१ ॥

इस प्रकार ऋषी-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमाहारामायण के मोक्षोपाय में उपशमप्रकरण में
समदर्शन नामक कुसुमलता का तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९३ ॥

उपशमप्रकरण समाप्त हुआ ॥